**प्यारेलाल रावत**, एम.ए., पी-एच.डी.
प्राध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

# भारतीय शिक्षा का इतिहास

**[ HISTORY OF INDIAN EDUCATION ]**

उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत

रामप्रसाद एण्ड संस : आगरा-3

पहला संस्करण : 1953; दूसरा संस्करण : 1955
तीसरा संस्करण : 1957; चौथा संस्करण : 1959
पाँचवाँ संस्करण : 1961; छठवाँ संस्करण : 1963
सातवाँ संस्करण : 1965; आठवाँ संस्करण : 1968
नवाँ संस्करण : 1969



मूल्य : बारह रुपये मात्र

रामप्रसाद एण्ड संस, अस्पताल रोड, आगरा–3 द्वारा प्रकाशित
तथा मॉडर्न प्रिंटर्स, बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा–2 द्वारा मुद्रित।

शिक्षक व शिक्षा-मर्मज्ञ

मान्यवर

डॉ० रामकरनसिंहजी

के

कर-कमलों में सादर समर्पित

# प्रस्तुत संस्करण की प्रस्तावना

'भारतीय शिक्षा का इतिहास' को प्रस्तुत संस्करण के रूप में पाठकों के समक्ष रखते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। इस पुस्तक की अविच्छिन्न लोकप्रियता तथा शिक्षाशास्त्र के विद्वान शिक्षकों एवं जिज्ञासु विद्यार्थियों द्वारा प्रदान किये गये उदार संरक्षण से मुझे सदा ही अभिनव प्रेरणा मिलती रही है। वास्तव में, यही प्रेरणा इसके प्रत्येक संस्करण में होने वाले सुधारों तथा इसकी स्पर्द्धात्मक शक्ति की अक्षुण्णता का मूल स्रोत रही है।

प्रस्तुत संस्करण में कुछेक उपयोगी परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करके इसे अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। भारतीय शिक्षा पर नियुक्त किये गये कोठारी शिक्षा आयोग तथा चतुर्थ पंचवर्षीय आयोजन के सन्दर्भ में प्रस्तुत संस्करण में पर्याप्त संशोधन की आवश्यकता अनुभव की गयी थी। अतः भारत में आधुनिक शिक्षा-क्षेत्र में होने वाली सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं समकालीन शिक्षा-समस्याओं का तर्कपूर्ण विश्लेषण इस संस्करण की विशेषता है। कुछ विश्वविद्यालयों, विशेषतः आगरा विश्वविद्यालय, के पाठ्यक्रम में होने वाले नवीनतम परिवर्तनों को दृष्टिकोण में रखते हुए प्रस्तुत संस्करण में आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं।

मैं अपने प्रकाशक महोदय का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने पूर्ण उत्साह एवं सचाई के साथ इस पुस्तक को उचित समय पर प्रकाशित करने तथा लोकप्रिय बनाने का सराहनीय प्रयास किया है।

आशा है प्रस्तुत संस्करण अपने लक्ष्यों की पूर्ति में सफल होकर भारतीय शिक्षा के ऐतिहासिक विवेचन एवं शिक्षा-समस्याओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन में सहायक हो सकेगा।

—**प्यारेलाल रावत**

# प्रथम संस्करण की भूमिका

भारत में जनतन्त्र के विकास के साथ ही साथ शिक्षा का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। देश की आर्थिक समस्याओं व योजनाओं के उपरान्त सम्भवतः शिक्षा ही वह प्रमुख विषय है जिस पर आज इतना चिन्तन किया जा रहा है। ऐसी अवस्था में देश की विभिन्न शिक्षा-समस्याओं को उचित रूप से समझाने के लिए वर्तमान शिक्षा का आलोचनात्मक विवेचन तथा भूतकालीन शिक्षा-समस्याओं, परिस्थितियों एवं घटनाओं के क्रमिक विकास के इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक इसी आवश्यकता की आंशिक पूर्ति का एक प्रयास है।

भारतीय शिक्षा पर अंग्रेजी भाषा में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है, किन्तु राष्ट्र-भाषा में इस प्रकार के प्रामाणिक ग्रन्थों का पूर्णतः अभाव है। हिन्दी में अभी तक कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा गया जो भारतीय शिक्षा का अनुसन्धानात्मक विवेचन करता हो और जिसमें प्राचीन काल, मध्ययुग तथा वर्तमान काल की शिक्षा-प्रगति का विवरण एक ही पुस्तक में विस्तृत रूप से दिया गया हो। परिणामतः शिक्षा के विद्यार्थियों एवं भारतीय शिक्षा में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं को दुरूह कठिनाई का सामना करना पड़ता था। 'प्राचीन व आधुनिक भारतीय शिक्षा का इतिहास' इस अभाव को दूर करने का एक लघु प्रयास है।

इस पुस्तक में प्राचीन शिक्षा को दो भागों—ब्राह्मणीय शिक्षा तथा बौद्ध शिक्षा—में विभक्त कर दिया गया है। प्रायः मध्यकालीन शिक्षा का अभिप्राय केवल मुसलिम शिक्षा से ही लिया जाता है, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में तत्कालीन हिन्दू शिक्षा का भी उल्लेख किया गया है। आधुनिक काल की शिक्षा का वर्णन एक भारतीय दृष्टिकोण को लेकर तथा समस्याओं को उनके मूल रूप में समझाते हुए एवं उनके लिए व्यावहारिक व वैज्ञानिक सुझाव रखते हुए अधिक विस्तार से देने की चेष्टा की गयी है। पुस्तक की भाषा को सरलतम हिन्दी रखा गया है, किन्तु कुछ प्रचलित अंग्रेजी शब्दों, जैसे—स्कूल, कॉलेज, रिपोर्ट, कमीशन इत्यादि को भी हिन्दी के क्रम में स्वीकार कर लिया गया है। इस पुस्तक की रचना में मैंने अनेक मूल-ग्रन्थों तथा विभिन्न सरकारी व गैर-सरकारी प्रतिवेदनों की स्वतन्त्रतापूर्वक सहायता ली है, जिनका यथास्थान उल्लेख कर दिया है। ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाले उद्धरणों व कथनों को पुस्तक के प्रवाह के साथ ही प्रसंगानुसार उचित स्थानों पर मिला दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के अस्तित्व का पूर्ण श्रेय मेरे पूज्यनीय गुरुवर डॉ० सरयूप्रसाद चौबे, एम० ए०, एम० एड्० (इलाहाबाद), डी० एड्० (इण्डियाना), संयुक्त राज्य अमरीका, को है जिनकी आत्मिक प्रेरणा, पथ-प्रदर्शन तथा रचनात्मक सुझावों के बिना

मेरा यह तुच्छ प्रयास असम्भव ही था। अतः मैं उनका चिरऋणी हूँ। श्री कपिलदेव-सिंहजी, एम० ए०, प्रधान पुस्तकाध्यक्ष, बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा ने मुझे आवश्यक पुस्तकों की सहायता देकर मेरे कार्य को अत्यन्त सुलभ कर दिया, अतः मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। प्रोफेसर बंशीधरसिंहजी, एम० ए०, बी० टी०, ए० डिप० एड्० (लन्दन), अध्यक्ष, बलवन्त राजपूत ट्रेनिंग कॉलेज, आगरा से मुझे जो प्रेरणा व पुस्तक-सहायता मिली उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। साथ ही उन अगणित सहायक-पुस्तकों के उन अपरिचित रचयिताओं का भी मैं आभारी हूँ जिनकी कृतियों से मैंने निस्संकोच सहायता ली है। अन्त में, अपने मित्र श्री सतीशचन्द्र मीतल तथा अपने प्रकाशक को भी पुस्तक के शीघ्र प्रकाशित कराने के लिए धन्यवाद देता हूँ। यदि शिक्षा के विद्यार्थी तथा अन्य शिक्षा-प्रेमी इस रचना से लाभान्वित हो सके तो मैं अपने इस प्रयास को सार्थक समझूँगा।

—लेखक

# विषय-सूची

**अध्याय** **पृष्ठ**

## प्रथम खण्ड

## प्राचीन शिक्षा

प्रथम खण्ड

# प्राचीन शिक्षा

# 1

# वेदकालीन शिक्षा

**विषय प्रवेश**

वर्तमान की जड़ अतीत में होती है। किसी भी देश का अतीत उसकी वर्तमान व भावी प्रेरणा का मूल स्रोत होता है। प्राचीन भारत की यह विशेषता है कि इसका निर्माण राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक क्षेत्र में न होकर धर्म-क्षेत्र में हुआ था। जीवन के प्रायः सभी अंगों में धर्म का प्राधान्य था। भारतीय संस्कृति धर्म की भावनाओं से ओतप्रोत है। हमारे पूर्वजों ने जीवन की जो व्याख्या की तथा अपने कर्तव्यों का जो विश्लेषण किया वह सभी उनके बृहत्तर अध्यात्म ज्ञान की ओर संकेत करता है। उनकी राजनीतिक तथा सामाजिक वास्तविकताएँ केवल भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत ही बँधकर नहीं रह गयीं, उन्होंने जीवन को एक व्यापक दृष्टिकोण से देखा और 'सर्वभूत हिते रतः' होना ही अपना कर्तव्य समझा। भारत ने केवल भारतीयता का विकास नहीं किया, उसने चिर-मानव को जन्म दिया और मानवता का विकास करना ही उसकी सभ्यता का एकमात्र उद्देश्य हो गया। उसके लिए वसुधा कुटुम्ब थी।

राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में धर्म का प्राधान्य होने से जीवन में एक अलौकिक विचारधारा का समावेश हुआ। प्राचीन हिन्दुओं की राजनीति हिंसा, द्वेष तथा स्वार्थ पर अवलम्बित न होकर प्रेम, सदाचार और परमार्थ पर आधारित थी। व्यक्ति का विकास ही समाज का विकास समझा जाता था। आर्थिक क्षेत्र में भी जीवन की कोमल व पवित्र धार्मिक भावनाएँ क्रियाओं का निर्देशन करती थीं; यहाँ तक कि सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक संगठन मानव की मूलभूत उदात्त भावनाओं तथा जीवन के दिव्य सिद्धान्तों पर आधारित था। जीवन का एक उद्देश्य था, एक आदर्श था और उस आदर्श की प्राप्ति संसार की सभी भौतिक विभूतियों से उच्चतर समझी जाती थी। प्राचीन भारत की शिक्षा का विकास भी इसी आधार पर हुआ। भारत में शिक्षा तथा विज्ञान की खोज केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही नहीं हुई, अपितु वे 'धर्म' के मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त करने का एक क्रमिक प्रयास माने गये। मोक्ष ही जीवन का चरम विकास था। यही कारण है कि जीवन की सम्पूर्ण बहुमुखी क्रियाएँ धर्म के मार्ग पर चलकर ही अपने एकमात्र गंतव्य 'मोक्ष' की ओर अग्रसर

हुई ।[1] भारत के सम्पूर्ण साहित्य, विज्ञान और कला का सृजन ही उसका अभीष्ट पर पहुँचने का प्रयास है । प्राचीन भारतीय साहित्य एक प्रकार से धर्म का वाहन है, जैसा कि मैकडॉनिल ने कहा हैं कि 'प्राचीनतम वैदिक काव्य के सृजन-काल से ही हम भारतीय साहित्य पर एक प्रकार से लगभग एक हजार वर्ष तक धार्मिक छाप लगी हुई पाते हैं, यहाँ तक कि वैदिक काल के वे अन्तिम ग्रन्थ, जिन्हें हम धार्मिक नहीं कह सकते, अपना धर्म-प्रसार का उद्देश्य रखते हैं । यह वास्तव में 'वैदिक' शब्द से प्रकट होता है क्योंकि 'वेद' का अर्थ ज्ञान ('विद्' मूल धातु से) होता है तथा सम्पूर्ण पवित्र ज्ञान का साहित्य की शाखा के रूप में बोध कराता है ।"[2]

प्राचीन भारतीय शिक्षा का विकास भी भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुरूप ही हुआ है । जीवन तथा संसार की क्षण-भंगुरता का अनुमान तथा मृत्यु एवं भौतिक सुखों की सारहीनता के भाव ने उन्हें एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया और वस्तुतः सम्पूर्ण शिक्षा-परम्परा इन्हीं सिद्धान्तों पर विकसित हुई । यही कारण था कि भारतीय ऋषियों ने एक अदृश्य जगत और आध्यात्मिक सत्ता के संगीत गाये और अपने सम्पूर्ण जीवन को भी उसी के अनुरूप ढाला । इस भौतिक जगत को वे कभी गम्भीरतापूर्वक न ले सके और उनकी सभी प्रवृत्तियाँ बाह्य विकास की ओर न होकर आन्तरिक जगत के सृजन और विकास में लग गयीं । यद्यपि मृत्यु उनके भय का कारण नहीं थी तथापि मृत्यु तथा संसार में आवागमन से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने एक अमर और स्थायी जीवन की कल्पना की । जगत उन्हें मिथ्या लगा और जीवन का एकमात्र सत्य प्रतीत हुआ—जीवात्मा का परमात्मा में विलीनीकरण । इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य ही 'चित्तवृत्त निरोध' हो गया, क्योंकि इसी के द्वारा उन्होंने इस एकीकरण की कल्पना की थी ।

प्राचीन काल में विद्यार्थी इस जगत के सम्पूर्ण विप्लव और विद्रोह से परे प्रकृति की रमणीक गोद में अपने गुरु के चरणों में बैठकर जीवन की समस्याओं का श्रवण, मनन और चिन्तन करता था । पर्वत की चोटी पर पड़ी हुई प्रथम हिम कणिकाओं की भाँति उसका जीवन पवित्र था । जीवन उसके लिए प्रयोगशाला था । वह केवल पुस्तकीय शब्द-ज्ञान ही प्राप्त नहीं करता था, अपितु बहुधा जन-समूह के सम्पर्क में आकर भी जगत व समाज का व्यावहारिक ज्ञान उपलब्ध करता था । भारतीयों का यह विश्वास था कि "सत्य की केवल मानसिक अनुभूति, एक तर्कपूर्ण विचारधारा ही पर्याप्त नहीं यद्यपि प्रथम सीढ़ी के रूप में एक उद्देश्य बिन्दु के समान आवश्यक है ।"

*Cf.* "Learning in India through the ages had been prized and pursued not for its own sake, if we may so put it, but for the sake, and as a part, of religion. It was sought as the means of salvation or self-realisation, as the means of the highest end of life, viz., Mukti or Emancipation."—Dr. R. K. Mukerjee : *Ancient Indian Education*, Macmillan & Co., London (1947), Prologue XXI.

Macdonell : *Sanskrit Literature*, p. 39.

अतएव प्राचीन भारतीय विद्यार्थी ने प्रत्यक्ष रूप से महान् सत्य की अनुभूति करने का प्रयास किया और समाज का निर्माण उसी के अनुरूप किया।

विद्यार्थी का गुरु-गृह पर रहना तथा उसकी सेवा करना अनूठी भारतीय परम्परा है। इस प्रकार निकटतम सम्पर्क में आने से विद्यार्थी के अन्दर स्वाभाविक रूप से गुरु के ही गुणों का समावेश हो जाता था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए यह अनिवार्य था, क्योंकि गुरु ही उन आदर्शों, परम्पराओं तथा सामाजिक रीतियों का प्रतीक था जिसके मध्य में रहकर विद्यार्थी का पालन-पोषण होता था। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी का गुरु के पास निकटतम सम्पर्क सम्पूर्ण सामाजिक परम्पराओं से विद्यार्थियों का साक्षात्कार करा देता था।

इसके अतिरिक्त भारतीय शिक्षा-प्रणाली की एक विशेषता यह थी कि शिक्षा जीवनोपयोगी थी। गुरु-गृह में रहते हुए विद्यार्थी समाज के सम्पर्क में आता था। गुरु के लिए ईंधन व पानी लाना तथा अन्य गृह-कार्यों को करना उसका कर्त्तव्य समझा जाता था। इस प्रकार न वह केवल गृहस्थ होने का शिक्षण पाता था, अपितु श्रम का गौरव-पाठ तथा सेवा का पदार्थ-पाठ पढ़ता था। गुरु की गायों को चराना तथा अन्य प्रकार से गुरु की सेवा करने से एक आध्यात्मिक लाभ भी विद्यार्थियों को होता था। विनय अथवा अनुशासन की समस्या जिसने वर्तमान शिक्षा-क्षेत्र में चुनौती सी दे रखी है, स्वतः ही हल हो जाती थी और साथ ही विद्यार्थी कुछ जीवनोपयोगी उद्यम, जैसे, पशु-पालन, कृषि तथा डेरी-फार्म इत्यादि में शिक्षण भी पा लेता था। छान्दोग्य उपनिषद् में महासन्त सत्यकाम की कथा आती है, जो विद्यार्थी-जीवन में गुरु की गायों का पालन करते थे, और जिनके निरीक्षण में गायों की संख्या 400 से 1,000 तक हो गयी थी। उसी प्रकार वृहदारण्यक में भी हमें ऋषि याज्ञवल्क्य की गाथा मिलती है, जिन्हें राजा जनक ने 1,000 गायों का दान दिया जो उनके महान् ज्ञान का पारितोषिक था। इससे प्रमाणित होता है कि शिक्षा केवल सैद्धान्तिक ही नहीं थी, अपितु जीवन की वास्तविकताओं से इसका सम्बन्ध था। ऋग्वेद में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि एक ऋषि स्वयं कवि थे, उनके पिता भिषग अर्थात् चिकित्सक और उनकी माँ उपल-प्रक्षिणी अर्थात् आटा पीसने वाली थी। इस प्रकार उच्चतम शिक्षा में भी श्रम का महत्त्व था। जीवन की गूढ़तम समस्याओं को भारतीय ऋषियों ने जीवन के साधारण कार्य-क्षेत्रों में सुलझा दिया था। जिस पद्धति को वर्तमान काल में 'क्रिया से ज्ञान प्राप्त करना' कहते हैं, और आधुनिक युग में अमेरिका जिसका प्रवर्तक समझा जाता है, भारतीय ऋषियों तथा विद्यार्थियों का एक प्रमुख शिक्षा-सूत्र था। जीवन की प्रयोगशाला शिक्षा-परीक्षणों के लिए थी जिनमें सफलता प्राप्त करके प्राचीन शिक्षाशास्त्रियों ने एक परम्परा का निर्माण किया।

इसी प्रकार विद्यार्थियों का जीवन-निर्वाह तथा गुरु-सेवा के निमित्त भिक्षान्न प्राप्त करना भी प्रधानतः एक भारतीय परम्परा ही है। इसका उद्देश्य विद्यार्थी को परमुखापेक्षी बनाना नहीं था और यह समाज-हित के प्रतिकूल ही समझा जाता था।

वास्तव में भिक्षा-प्रथा प्राचीन काल में एक सम्मानित कार्य समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण में इसके शिक्षा-महत्त्व को स्वीकार किया गया है।[3] यह प्रथा विद्यार्थी में त्याग तथा मानवीय गुणों का विकास करती थी। उसके अहंकार तथा उच्छृंखलता का विनाश करके उसे व्यावहारिक जगत के सम्मुख ला खड़ा करती थी। समाज के सम्पर्क में आने से उसे वास्तविक जीवन का भी ज्ञान होता था। यह विद्यार्थी के लिए स्वावलम्ब तथा समाज के प्रति उसके कर्त्तव्य और कृतज्ञता का पदार्थ-पाठ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का क्रमिक विकास एक स्वाभाविक ढंग से हुआ था। उसकी जड़ें समाज के अन्तराल में थीं और उसका विकास नैसर्गिक था। उसका उद्देश्य था और कुछ सन्देश था। भारत के जंगलों और काननों के मध्य में स्थित, प्रकृति की रमणीक शोभा से घिरे हुए विद्या-केन्द्र सभ्यता और संस्कृति के अगाध स्रोत थे, जहाँ से मानवता का विकास हुआ। राजनीति तथा आर्थिक सिद्धान्त-क्षेत्र में भारत ने चाहे अधिक उन्नति न की हो, क्योंकि उसका उद्देश्य सांसारिक पदार्थ-सम्पन्नता की ओर इतना नहीं रहा, किन्तु शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय देन अद्वितीय है। जब संसार की अन्य जातियाँ सभ्यता की बोली में केवल बड़बड़ाना ही सीख रही थीं, भारत ने उच्च तत्त्व-ज्ञान की मीमांसा की। उसने अपने ज्ञान से विश्व को आलोकित किया और मानव-सभ्यता के एक मानदण्ड की स्थापना की। भारत के प्राचीन शिक्षकों ने शिक्षा के एक विशिष्ट रूप का विकास किया, जिसके द्वारा लौकिक व पारलौकिक विभूतियों के समन्वय की स्थापना हुई, और इस प्रकार मानवीय जीवन पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ।

## चार वेद

ब्राह्मणीय शिक्षा का विस्तृत वर्णन करने से पूर्व वेदों का परिचय आवश्यक है, क्योंकि तत्कालीन शिक्षा का आधार वेदों पर ही आश्रित है। अतः नीचे हम संक्षेप में वेदों का परिचय कराते हैं।

**ऋग्वेद**—यह हिन्दू धर्म की सर्वप्रथम और प्राचीनतम रचना है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि ऋग्वेद से पूर्व हमें भारतीय शिक्षा और सभ्यता का कोई क्रमिक विकास-इतिहास नहीं मिलता। यद्यपि ऋग्वेद से पूर्व भी भारत में द्रविड़ सभ्यता का विकास हो चुका था, किन्तु उसके अन्तर्गत शिक्षा-प्रणाली का कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं है। भारतीय आर्य-सभ्यता का प्रारम्भ तो एक प्रकार से ऋग्वेद से ही माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बिना एक उच्च सभ्यता की पृष्ठभूमि के भारत के लिए ऋग्वेद जैसी कृति का सहसा सृजन कर देना सम्भव नहीं। अवश्य ही ऋग्वेद की सभ्यता तक पहुँचने में भारत को क्रमिक विकास की अनेक सीढ़ियों को पार करना पड़ा होगा। मैक्समूलर का कथन है कि "एक बात सत्य है कि भारत में अथवा सम्पूर्ण आर्य जगत में ऋग्वेद के मन्त्रों से अधिक प्रारम्भिक और प्राचीनतम कुछ भी

---

[3] शतपथ ब्राह्मण (१०, ३, ३, ५)

नहीं है; तथापि ऋग्वेद भारतीय संस्कृति का प्रभात नहीं, अपितु उसका मध्यान्ह है, जहाँ हम भारतीय सभ्यता और दर्शन को अपनी पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँचा हुआ पाते हैं।"

भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार ऋग्वेद वह महान् ज्ञान-भण्डार है, जिसमें तत्कालीन ज्ञान और विचारधारा बीज रूप में निहित हैं। वस्तुतः हिन्दू सभ्यता का शिलान्यास ही ऋग्वेद के द्वारा हुआ है जिसमें जीवन की भौतिक विभूतियों को तुच्छ समझते हुए एक महान् और दिव्य आनन्द की प्राप्ति के लिए जीवन की प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी करने का आदेश है।

ऋग्वेद के विकास का इतिहास ही तत्कालीन संस्कृति और सभ्यता के विकास का इतिहास है। यह 1,017 मन्त्रों का समूह है जिसे संहिता कहते हैं। ये मन्त्र क्रमशः एक दीर्घकाल में इकट्ठे किये गये थे। भिन्न-भिन्न कालों से सम्बन्ध रखने वाले इस विशाल साहित्य को संकलित करने के लिए ऋग्वेद संहिताकारों को उच्च-कोटि के सिद्धान्तों का विकास करना पड़ा होगा। संहिता भिन्न-भिन्न प्रकार के मन्त्रों का संग्रह है, जिसमें कुछ मन्त्र शुद्ध साहित्य, कुछ धर्म और संस्कारों और कुछ यज्ञ-संगीत तथा यज्ञ-विधि इत्यादि से सम्बन्ध रखते हैं। इन मन्त्रों द्वारा इन्द्र, वरुण, अग्नि, मारुत, उषा, सूर्य और परजन्य इत्यादि की आराधना की गयी है। जन्म, विवाह, दान, यज्ञ और मृत्यु इत्यादि जीवन-संस्कारों पर भी श्लोक हैं। अन्त में सृष्टि और दर्शन के ऊपर भी मन्त्र हैं जिसमें विराट् पुरुष के द्वारा सृष्टि-सृजन का उल्लेख है (मण्डल 10, 90)। इस प्रकार संहिता में जीवन के सांस्कृतिक चरम विकास तथा उसके विभिन्न रूपों का विशद् चित्रण किया गया है।

ऋग्वेद दस मण्डलों में विभाजित है जिसमें मण्डल 2 से 7 तक उसका मौलिक भाग है जिसका सृजन छह प्रमुख ऋषियों ने किया है। वे ऋषि हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ। मण्डलों का विकास ऋषियों तथा उनके परिवार के द्वारा क्रमशः हुआ। प्रत्येक परिवार अपनी पैतृक सम्पत्ति की रक्षा करके उन्हें सुरक्षित रखता था। मौलिक प्रमुख भाग में मण्डल 1, 8, 9 व 10 के जुड़ जाने से सम्पूर्ण ऋग्वेद संहिता का अस्तित्व हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण रचना में 1,028 श्लोक और 10,580 मन्त्र, 70,000 पंक्तियाँ तथा 1,53,826 शब्द हैं। इन 70,000 पंक्तियों में 5,000 पंक्तियाँ पुनरावृत्ति मात्र हैं।[4] इससे प्रकट होता है कि कालान्तर में जोड़े हुए श्लोकों के रचयिता केवल पूर्वस्थित श्लोकों से ही सार ग्रहण कर रहे थे जिनका प्रचार देश में पहले ही से था।

**अन्य वेद**—ऋग्वेद के उपरान्त क्रमशः सामवेद संहिता, यजुर्वेद संहिता और अथर्ववेद संहिता का प्रादुर्भाव हुआ। इन वेदों ने एक नये प्रकार के साहित्य का सूत्रपात किया। ऋग्वेद में आये हुए मन्त्रों के क्रम का यज्ञ के क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है; यहाँ तक कि ऐसे मन्त्र भी हैं जिनका यज्ञ या बलि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

[4] Dr. R.K. Mukerjee : *Ancient Indian Education*, Macmillan & Co., London (1947), p. 22.

किन्तु साम, यजु: और अथर्व में यज्ञ सम्बन्धी मंत्रों का एक क्रम है। साम और यजु: के काल में ही ऋग्वेदकालीन धर्म में पर्याप्त विकास होने लगा था और पुरोहितवाद का प्रचार अधिक बढ़ गया था। इन पुरोहितों की तीन प्रधान शाखाएँ थीं। (1) होतृ, (2) उद्‌गातृ, और (3) अध्वर्यु। इनके अतिरिक्त एक चौथा वर्ग भी था जो 'ब्राह्मण' कहलाता था। इन चारों प्रकार के पुरोहितों के क्रमश: तीन-तीन प्रकार के सहायक पुरोहित और होते थे। सम्पूर्ण पुरोहित-समाज सोलह भागों में विभाजित था। ये सभी पुरोहित 'ऋत्विज' कहलाते थे। कालान्तर में एक सत्रहवाँ ऋत्विज और सम्मिलित कर दिया गया जो 'सदस्यु' कहलाता था और सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण करता था।

सम्पूर्ण पुरोहित-समाज का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

- (1) होतृ
  - मैत्रावरुण
  - अचावक्
  - ग्रावस्तुत
- (2) उद्‌गातृ
  - प्रस्तोतृ
  - प्रतिहातृ
  - सुब्राह्मण्य
- (3) अध्वर्यु
  - प्रतिष्ठातृ
  - नेस्तृ
  - उन्नेतृ
- (4) ब्राह्मण
  - ब्राह्मणच्छामसिन्
  - अग्निधक
  - पोतृ

आगे चलकर उच्च शिक्षा का सम्बन्ध पुरोहितवाद तथा धर्म के क्रियात्मक रूप (कर्मकाण्ड) से हो गया। पूजा तथा यज्ञ के बाह्य उपकरणों का इतना प्रचार हो गया कि पुरोहितों को इन क्रियाओं का नियमित शिक्षण लेकर उनमें विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी। यहाँ तक कि पुरोहितों में भी क्रियाओं का श्रम-विभाग हो गया। प्रारम्भ में पुरोहितों में कोई वर्ग भेद नहीं था तथा प्रत्येक पुरोहित यज्ञ सम्बन्धी प्रत्येक कार्य को करने के योग्य समझा जाता था। प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए एकसा शिक्षा-विधान था और प्रत्येक को यज्ञ का मन्त्र, उच्चारण तथा क्रिया-विधि इत्यादि सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। कालान्तर में कर्मकाण्ड और बलिदान विधि के अधिक जटिल हो जाने पर यह अनिवार्य हो गया कि उनमें कुछ श्रम-विभाजन किया जाय, क्योंकि एक पुरोहित के लिए यह कार्य असम्भव समझा गया कि वह यज्ञ की त्रिविधियों में विशेषज्ञ हो जाय। अत: पुरोहित विद्यार्थी प्रारम्भ में तो त्रिविधियों में ही शिक्षण प्राप्त करते थे, किन्तु तत्पश्चात उनमें से किसी एक में विशेषता प्राप्त कर लेते थे। अन्त में पुरोहितों में प्रमुख तीन विभाग हो गये जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। ये पुरोहित क्रमश: एक-एक वेद के प्रतिनिधि थे। इन लोगों की शिक्षण संस्थाएँ भी भिन्न-भिन्न थीं। यह सम्भवत: सन् 1000 ई० पू० से 800 ई० पू० के मध्य में हुआ।[6]

---

[6] F.E. Keay : *Indian Education, Ancient and Later Times*, Humphrey Milford, Oxford University Press (1942), p. 5.

(1) **होतृ**—यह प्रथम वर्ग का पुरोहित होता था जो यज्ञ के समय मन्त्रों का गान करता था । ये मन्त्र किसी देवता, जैसे इन्द्र, अग्नि या वायु इत्यादि की प्रशंसा में गाये जाते थे । इस कार्य में होतृ को विशेषता प्राप्त होती थी । वह प्रमुख पुरोहित माना जाता था ।

(2) **उद्गातृ**—यज्ञ-विधि का दूसरा भाग सोमयज्ञ से सम्बन्ध रखता था । सोम एक प्रकार का रस होता था जिसे एक लता को कुचलकर निकाला जाता था । यह रस मादक होता था । अतः इसकी मादकता को आर्यों ने एक दिव्य शक्ति समझकर देवता की भाँति उसकी पूजा करना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि उनके मतानुसार यह उन्हें अमरत्व प्रदान करता था। इस प्रकार एक नयी संस्कार विधि का प्रादुर्भाव हुआ जिसके अनुसार मन्त्र-गान गाये जाने लगे । जो पुरोहित इन मन्त्रों का गान करते थे उन्हें 'उद्गातृ' कहा जाता था ।

(3) **अध्वर्यु**—इन पुरोहितों का यज्ञ के प्रमुख भाग से सम्बन्ध होता था । यज्ञ की क्रिया-विधि तथा वास्तविक कार्य-प्रणाली में ये लोग विशेषता प्राप्त करते थे ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'ब्राह्मण नामक एक चौथा वर्ग भी था जो सम्पूर्ण पूजा-कार्य का निरीक्षण और निर्देशन करता था । यह वर्ग तीनों वेदों में शिक्षा प्राप्त करता था, प्रत्येक सन्देहात्मक बात पर इसी की अनुमति अन्तिम मानी जाती थी, यज्ञ-विधि के भिन्न-भिन्न भागों पर यह अपनी निर्णयात्मक अनुमति देता था ।

**सामवेद**—सोम संस्कार के लिए उद्गातृ को गान की सभी ध्वनियों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था । सोम यज्ञ पर गायी जाने वाली क्रियाओं का संग्रह सामवेद के नाम से हुआ । इसमें 1,549 छन्दों में से केवल 78 मन्त्र उद्गातृ पुरोहितों के प्रदान किये हुए हैं । शेष या उनमें से अधिकतर प्रधानतः ऋग्वेद के 8 वें या 9 वें मण्डल से लिये गये हैं । सामवेद के मन्त्रों को दो भागों में विभाजित किया गया है, जिन्हें 'अर्चिकाएँ' कहते हैं । प्रथम अर्चिका में 585 ऋक हैं, जिनमें से प्रत्येक किसी न किसी ध्वनि से सम्बन्ध रखता है । सामवेद का दूसरा भाग जो 'उत्तरार्चिका' कहलाता है, अधिकतर तीन-तीन छन्दों का 440 मन्त्रों का संग्रह है । इस प्रकार सम्पूर्ण वेद का उद्देश्य संगीत-ज्ञान कराना है । यह संगीत के एक पाठ्य-ग्रन्थ के समान है, जिसमें संगीतों के पूर्ण पाठ दिये हुए हैं ।

**यजुर्वेद**—यद्यपि यज्ञ के समय मन्त्र-गान करने का कार्य प्रधानतः होतृ को करना होता था, तथापि अध्वर्यु, जो यज्ञ की क्रिया-विधि से सम्बन्धित था, कुछ मन्त्र, प्रार्थनाएँ अथवा आह्वान-मन्त्र उच्चारण करता था । इन पुरोहितों की शिक्षा के लिए भी एक शिक्षा-सकुल (स्कूल) विकसित होने लगा । इनका विशेष वेद यजुर्वेद हुआ । इस प्रकार यजुर्वेद अध्वर्यु पुरोहितों का प्रार्थना ग्रन्थ है ।

यजुर्वेद गद्य मन्त्रों का संग्रह है, जिनमें से अधिकतर ऋग्वेद से लिये हुए क्षेपक हैं । यजुर्वेद के 'कृष्ण' और 'शुक्ल' दो भाग हैं । गद्य के अतिरिक्त कृष्ण यजुर्वेद में

कुछ मन्त्र पद्य में भी हैं। भारत का प्रारम्भिक गद्य, जो उपनिषदों में जाकर विकसित हुआ, अपनी प्रारम्भिक अवस्था में यजुर्वेद में मिलता है। भारतीय प्राचीन साहित्य के लिए यह गद्य की अनुपम देन है। शुक्ल यजुर्वेद में वे ही मन्त्र, प्रार्थनाएँ तथा विधियाँ हैं जिनका पुरोहित उच्चारण करते थे। यजुर्वेद में भारतीय धार्मिक तथा भौतिक जीवन की झाँकी मिलती है। इसमें बहुत से यज्ञों का विधान है, जैसे पिण्ड-यज्ञ, पितृज्ञ, अग्नि-होतृ चातुर्मास्य, राजसूय-यज्ञ, अश्वमेध और अग्नि-चयन इत्यादि। देश की भौतिक उन्नति के लिए भी यजुर्वेद में मन्त्र हैं, जैसे 'ब्रह्म वर्चसि जायताम् अस्मिन् राष्ट्रे' इत्यादि।

**अथर्ववेद**—प्रारम्भ में तीन वेदों का ही प्रचलन था। कुछ समय उपरान्त एक चतुर्थ वेद स्वीकार किया गया जिसका नाम अथर्ववेद था। इसमें बहुत कुछ मौलिकता है। पूर्व वेदों की भाँति इसके अधिकतर मन्त्र ऋग्वेद से नहीं लिये गये हैं। 6,000 मन्त्रों में से केवल 1,200 ऋग्वेद से लिये गये हैं। सम्पूर्ण वेद में 731 गान हैं जो 20 भागों में विभक्त हैं। अथर्ववेद चिकित्साशास्त्र का भारत में सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसमें बहुत-सी जड़ी-बूटियों का भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग-निवारण के लिए उल्लेख है। ज्वर, पाण्डु, सन्निपात, शोथ, क्लैव्य क्षय, सर्पदंश, विषकोढ़ तथा रक्तविकार इत्यादि भयंकर रोगों की चिकित्सा जड़ी-बूटियों द्वारा किये जाने का विषय अथर्ववेद में मिलता है। 9 वें भाग में ज्योतिष विद्या का भी उल्लेख है। एक भाग में गृहस्थ-जीवन के जन्म, विवाह तथा मृत्यु इत्यादि के संस्कारों का भी इसमें कथन है। अथर्व-वेद को बहुत-से विद्वान् तांत्रिक ग्रन्थ मानते हैं, क्योंकि इसमें उन मन्त्रों का समावेश है जिनके द्वारा पुरोहित लोग रोग, शत्रु, हिंसक पशु तथा प्राकृतिक उत्पातों के विरुद्ध उनके विनाश के लिए आह्वान करते थे। कुछ मन्त्रों के द्वारा भौतिक सम्पन्नता तथा सांसारिक विभूतियों के पाने के लिए भी प्रार्थना करते थे। कुछ ऐसे गान भी हैं जो राजाओं तथा राजपरिषदों एवं आर्थिक, राजनीतिक तथा दार्शनिक अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार अथर्ववेद पूर्णतः भौतिक ग्रन्थ है। सांसारिक ज्ञान-विज्ञानों का इसमें विशद् वर्णन है।

### ऋग्वेद में शिक्षा

ऋग्वेद में मन्त्रों के प्रारम्भ का युग प्रधानतः रचना-युग था, जिसके उपरान्त आलोचना तथा संग्रह का युग आया। प्रथम युग में ऋषियों का प्रादुर्भाव हुआ जो सत्यद्रष्टा थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अपने तप और योग के बल से ये ऋषि भूत, भविष्यत् और वर्तमान को देख सकते थे। इनके उपरान्त दूसरे युग में श्रुतर्षि उत्पन्न हुए। ऋषि लोग अपने मन्त्रों का दान इन श्रुतर्षियों को उपदेशों द्वारा देते थे। 'तप' आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने का प्रमुख साधन था। ऋषि और मुनि वनों में तपस्या करके परमानन्द तथा अलौकिक ज्ञान प्राप्त करते थे। ऋग्वेद में सात महर्षियों तथा उनकी तपस्या की उस महान् शक्ति का, जो निम्न-स्तर से उच्च-स्तर को उठा देने में समर्थ थी, उल्लेख है। ऋत् और सत्य (विचार और वाणी का सत्य)

तप के ही फल कहे जाते हैं। यहाँ तक कि सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ही ब्रह्मा के तप से उत्पन्न मानी गयी है।

ऋषियों के तप तथा योग द्वारा महत् ज्ञान के प्राप्त कर लेने तथा उनके छन्दों और मन्त्रों के रूप में संकलित होने के उपरान्त ऐसे साधनों का विकास हुआ जिनके द्वारा यह ज्ञान रक्षित किया जा सके अथवा आगे की सन्तति को हस्तान्तरित किया जा सके। अतः प्रत्येक ऋषि अपने पुत्र अथवा शिष्य को यह ज्ञान प्रदान करता था जिसे उसने स्वयं प्राप्त किया था। इस प्रकार यह ज्ञान उस परिवार की वंशगत-निधि समझा जाता था। वैदिककालीन परिवार-स्कूलों का इसी प्रकार सूत्रपात हुआ। शिक्षक अपने ज्ञान को विद्यार्थियों से कंठाग्र कराता था। अपनी व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त करता था। सायण ने तीन प्रकार के विद्यार्थियों का उल्लेख किया है—महाप्रज्ञ, मध्यमज्ञ और अल्पज्ञ। यह वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार के विद्यार्थियों की मानसिक शक्ति के अनुसार था। ये विद्यार्थी गायक के रूप में वेद के छन्दों को रटते थे। इनके एक साथ वेद-मन्त्रों के गायन से वायुमण्डल गूंज उठता था। वेद के एक मन्त्र के अनुसार इस गायन की मेंढकों की ध्वनि से भी उपमा दी गयी है।

**शिक्षा-प्रणाली**—प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में पक्षियों के जागने से पूर्व ही विद्यार्थी वेद-पाठ प्रारम्भ कर देते थे। मन्त्र-गान एक ललित कला के रूप में विकसित हो गया था। इसमें शब्दों, पदों तथा अक्षरों के शुद्ध उच्चारण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। श्लोक की रचना पदों से तथा पदों की अक्षरों द्वारा होती थी। वैदिक ज्ञान शिक्षक के द्वारा एक निश्चित व नियमित उच्चारण के साथ शिष्य को प्रदान किया जाता था, जिसे शिष्य सुनकर कंठाग्र करता था। गुरु के अधरों से प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही शुद्ध वैदिक समझा जाता था, अर्थात् पद्धति मौखिक थी। इससे प्रतीत होता है कि वर्णमाला और लेखन-कला का अभी तक विकास नहीं हुआ था। ऐसा भी कहा गया है कि श्रुति अर्थात् वेद चक्षुओं को नहीं अपितु कानों को रुचिकर होना चाहिए। महाभारत तो ऐसे व्यक्तियों को नरक जाने का दण्ड देता है जो वेद को लिखने का प्रयास करें।[6] लेकिन ऐसे साक्ष्य भी मिलते हैं कि ऋग्वेद के समय में भी लेखन-कला का सूत्रपात हो गया था।

वैदिक मन्त्रों में एक दैविक शक्ति का आरोपण माना जाता था। ऐसा विश्वास था कि यदि वेद-मन्त्रों का ठीक-ठीक तथा शुद्ध रूप में उच्चारण किया जाय तो उनका आध्यात्मिक व दैविक प्रभाव प्रकट होता है। जो मंत्र अशुद्ध उच्चारण किया जाता था उसका प्रभाव नष्ट हो जाता था; और ऐसा विश्वास था कि वह अशुद्ध उच्चारण करने वाले का नाश कर देगा।[7] किन्तु एकमात्र उच्चारण ही प्रधान नहीं था। बिना समझे हुए वेद-मंत्रों की तोत-रटन्त व्यर्थ समझी जाती थी।[8] उनके यंत्रवत् उच्चारण से अधिक महत्त्व

---

6 वेदनां लेखकाश्चैव ते वै निरय गामिनः।  —महाभारत आ० पर्व १०६/६२

7 मन्त्री हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यमजानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरोऽपरात्॥

8 नानुवाहकता बुद्धिर्व्यवहार क्षमातभवेत्।
अनुवाहकता या तु न सा सर्वत्रगामिनी॥  —शुक्र, ३,२६१

दिया जाता था वेद-मन्त्रों के चिन्तन और समझने को। "जो व्यक्ति ऋक् और अक्षर में अन्तर्निहित चरम सत्य का अनुभव नहीं करता, जिनमें सम्पूर्ण देवों का निकास है, वह ऋकों के केवल उच्चारण तथा पुनरावृत्ति करने से क्या कर सकता है ?" जो वेद के अध्ययन के उपरान्त भी उसका अर्थ नहीं समझता था वह उस गधे के समान माना जाता था जिस पर चन्दन के गट्ठे लदे हुए हैं, जो केवल बोझ का ही अनुभव कर रहा है और उसकी सुगन्धि से लाभान्वित नहीं हो सकता है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में जिस शिक्षा-पद्धति का विकास हुआ, वह 'महत् ज्ञान'[9] के सम्पादन तथा धर्म और ब्रह्म से सम्बन्ध रखती है। भौतिक ज्ञान तथा निम्न-कोटि की सांसारिक समस्याओं का हल ऋग्वेद में नहीं मिलता। 'परमब्रह्म ज्ञान' को प्राप्त करना साधारण भौतिक विज्ञानों, कलाओं और हस्तकलाओं के ज्ञान प्राप्त करने के सदृश नहीं था। वेद का उद्देश्य तो केवल चरम सत्य का अनुभव तथा सम्पूर्ण 'परमब्रह्म ज्ञान' को प्राप्त करना ही था। ऋग्वेद में तप इसका साधन बताया गया है। सर्वसाधारण की भाषा विकसित होकर वैदिक मन्त्रों के रूप में प्रस्फुटित हुई। यह संस्कृति का प्रारम्भिक स्वरूप था। इस प्रकार उसके द्वारा महानतम् और चरम सत्य का अनुभव करने वाले ऋषि, मनीषी और मुनियों ने तप और योग के द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त करके वैदिक भाषा में प्रकट किया। प्रायः यज्ञ के अवसर पर ये ऋषि लोग पारस्परिक तर्क-वितर्कों द्वारा वेद-ज्ञान तथा वेद-भाषा का विकास करके उसके स्वरूप को स्थिर करते थे। इस प्रकार के संघ के सदस्यों को 'शाखा' शब्द से वर्णित किया गया है।

ऋग्वेद-युग में छोटे-छोटे पारिवारिक विद्यालय थे, जिनका संचालन शिक्षक स्वयं ही करता था। विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था भी गुरु-गृह पर ही होती थी। रहन-सहन तथा सदाचार के नियम निश्चित थे। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्यतः सभी ब्राह्मणों को दी जाती थी। उच्च शिक्षा केवल उन्हीं को दी जाती थी जो इसके योग्य होते थे। जो विद्यार्थी इसके योग्य नहीं थे वे कृषि, उद्योग या व्यापार में भेज दिये जाते थे। उनके लिए आध्यात्मिक जीवन वर्जित था।

**विशेषताएँ**—संक्षेप में, ऋग्वेदकालीन शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :

(1) गुरु-गृह ही विद्यालय था। उपनयन के उपरान्त विद्यार्थी जीवनपर्यन्त वहीं रहता था। शिक्षक पिता के रूप में उसका संरक्षक होता था और उसके खान-पान की स्वयं व्यवस्था करता था।

(2) गुरु-गृह में विद्यार्थी का प्रवेश केवल उसके नैतिक बल और सदाचार के आधार पर ही हो सकता था। सदाचार के दृष्टिकोण से जो विद्यार्थी निम्न स्तर का समझा जाता उसके लिए गुरु-आश्रम में रहना वर्जित था।

Supreme Knowledge.

(3) ब्रह्मचर्य का जीवन अनिवार्य था। यद्यपि विवाहित युवक भी विद्याध्ययन कर सकता था तथापि उसको आश्रम में रहने का निषेध था। ब्रह्मचर्य से इन्द्रिह-निग्रह, सात्विकता तथा ब्रह्म में स्थित रहने का अभिप्राय समझा जाता था।

(4) गुरु-सेवा करना विद्यार्थी का परम कर्तव्य माना जाता था। आश्रम में रहते हुए विद्यार्थी हर समय गुरु-सेवा के लिए तत्पर रहता था। प्रायः उनके गृह-कार्य का भार विद्यार्थी पर ही रहता था। वह मन, वाणी और कर्म से गुरु-भक्त होता था तथा गुरु को पिता या ईश्वर समझकर उनकी उपासना करता था।

(5) ऐसे विद्यार्थियों के लिए जो गुरु-सेवा करने में असमर्थ थे अथवा किसी अन्य प्रकार से सदाचार के प्रतिकूल अपना आचरण प्रदर्शित करते थे, विद्याध्ययन निषिद्ध था तथा उन्हें विद्यालयों से निकाल दिया जाता था।

यह बात उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के समय में वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु इसके नियम अधिक जटिल नहीं थे। यद्यपि ऋषि व मुनि प्रायः ब्राह्मण ही हुआ करते थे, तथापि सदा ऐसा नहीं होता था। 'महत् ज्ञान' वर्ण तक ही सीमित नहीं था, यह व्यक्ति की तपस्या और योग-शक्ति पर निर्भर था। अम्बरीष, त्रसदस्यु, सिन्धुद्वीप, मान्धाता तथा शिवि इत्यादि राजा जो क्षत्रिय थे, अपनी तपस्या के बल से ही ऋषि हुए। साथ ही स्त्रियों को भी यज्ञ में भाग लेने की स्वतन्त्रता थी। स्त्री सन्तों को 'ऋषिका' और 'ब्रह्मवादिनी' कहकर पुकारा जाता था। रोमसा, लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, कद्रु, कामायनी, श्रद्धा, सावित्री, उर्वशी, सारंगा, देवयानी तथा गोपयानी इत्यादि स्त्री-ऋषिकाओं के नाम चारों वेदों में मिलते हैं। ऋग्वेद में अनार्यों को भी शिक्षा देने की व्यवस्था है। उन्हें कृष्णगर्भ, अनास, पिशाच, असुर तथा दस्यु इत्यादि नामों से पुकारा गया है। किन्तु शीघ्र ही ये आर्य जाति में मिल गये। आर्यों ने इन्हें 'शूद्र' की संज्ञा दे दी तथा इनकी शिक्षा-व्यवस्था भी स्थिर कर दी।

**भौतिक शिक्षा**—यद्यपि ऋग्वेदकालीन शिक्षा प्रधानतः धार्मिक व दार्शनिक थी और केवल उन्हीं लोगों के लिए थी जो 'चिरन्तन सत्य' और 'महत् ज्ञान' के प्राप्त करने के योग्य होते थे, तथापि साधारण जनता के लिए लौकिक व लाभदायक शिक्षा की व्यवस्था भी थी। तत्कालीन आर्थिक, राजनीतिक तथा औद्योगिक विकास को देखने से तथा देश के सब प्रकार से धन-धान्य से परिपूर्ण होने से प्रतीत होता है कि इन विद्याओं का पर्याप्त चलन रहा होगा। देश के कृषि, विनिमय और व्यापार उन्नत दशा में थे। अतः प्रतीत होता है कि देश की इस सम्पन्नता का कारण भौतिक विज्ञान और कलाओं में सर्वसाधारण को शिक्षा का दिया जाना था। आर्थिक लाभों के लिए लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाओं में शिक्षा पाते थे। चरागाहों, पशु-पालन व कृषि विज्ञान ने भी अच्छी उन्नति की। हस्त-कला की शिक्षा भी दी जाती थी। वस्तु-विनिमय, ऋण, साहूकारी तथा ब्याज इत्यादि का भी प्रचलन था। समुद्री व्यापार भी होता था। प्रस्तर-निर्मित नगर (पुर) का भी ऋग्वेद में उल्लेख है। इस

प्रकार हम कह सकते हैं कि ऋग्वेदकाल में शिक्षा का सांसारिक, सामाजिक व व्यावहारिक रूप भी था।

**अन्य वेदों में शिक्षा**

प्राचीनकाल में भारत में विद्यार्थी-जीवन एक वैज्ञानिक कला के आधार पर विकसित हुआ। वह एक नियमित, सुचालित तथा स्थिर आधार पर टिका हुआ था जिसमें समय तथा राज्य के परिवर्तन से कोई परिवर्तन नहीं होता था। 'विद्यार्थी' शब्द के लिए अधिक उपयुक्त शब्द 'ब्रह्मचारी' था। 'ब्रह्मचर्य' हिन्दू धर्म के विशाल भवन की वह आधारशिला है जिसका निर्माण युगों ने अपने स्थायी करों द्वारा किया है।

अथर्ववेद में ब्रह्मचारी के लिए पूर्ण व्यवस्था मिलती है। उपनयन संस्कार के सम्पादन पर ही विद्यार्थी-जीवन का सूत्रपात होता है। इस समय विद्यार्थी अपने आचार्य के पास तीन दिन तक निवास करता है और तीन दिन के उपरान्त एक नवीन जीवन धारण करके द्विज के रूप में प्रकट होता है। उसका यह द्वितीय जीवन आध्यात्मिक जीवन है जिसका जन्मदाता उसका गुरु माना जाता है। उपनयन के बाद ही वह 'ब्रह्म-चारी' कहलाता है तथा उसके जीवन का रूप बदल जाता है। वेशभूषा तथा आचरण के दृष्टिकोण से वह अन्य सामाजिक व्यक्तियों से भिन्न होता है। कुशमेखला, मृगछाला, हाथ में ईंधन (समिधा) लेकर वह दोनों समय अग्नि को अर्पित करता है। आन्तरिक अनुशासन के लिए श्रम, तप और दीक्षा इत्यादि नियम हैं जो उसके जीवन में कुछ स्थायी गुणों का विकास करते हैं। इस प्रकार प्राचीन भारतीय विद्यार्थी त्याग, तपस्या, विनय और सात्विकता की प्रतिमूर्ति है। उसे शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के अनुशासन का पालन करना होता है। शारीरिक अनुशासन के लिए उसे एक निय-मित व सात्विक जीवन बिताना होता है, जिसमें कुश, मृगछाला और दीर्घ बाल इत्यादि बाह्य उपकरण धारण करके विद्यार्थी भिक्षा के द्वारा अपना जीवनयापन करता है। इन्द्रिय-निग्रह, तपस्या, गुरु-सेवा तथा त्याग के द्वारा वह आध्यात्मिक अनुशासन प्राप्त करता है और 'आचार्यकुलवासी' हो जाता है।

प्राचीनकाल में ब्रह्मचर्य का पालन स्त्रियाँ भी करती थीं। वे अपने विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य से रहकर युवकों को विवाह में जीतती थीं और तत्पश्चात गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करके राष्ट्रनिर्माणक कार्य करती थीं, जैसा कि 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' नामक श्लोक खण्ड से प्रतीत होता है।

विद्यार्थी-काल में छुट्टियों की भी व्यवस्था थी। पर्वों पर, वर्षाकाल में आकाश मेघाच्छन्न होने पर तथा आँधी के समय शिक्षण-कार्य बन्द रहता था।[10]

[10] कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांशु समूहने,
एतौ स्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते।
विद्युत स्तनित वर्षायु महोल्का नाश्च संप्लवे।
आकालिक मनध्याय मेतेषु मनुरब्रवत
× × ×
एतान्ना कालिकान् विद्यादनध्याया नतावपि।

**उपसंहार**

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदकालीन शिक्षा का उद्देश्य महान् था। व्यक्ति के विकास के लिए पूर्ण सुअवसर दिया जाता था। शिक्षक विद्यार्थियों की व्यक्तिगत देख-भाल करते थे। अतः विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता था। जीवन के तीन ऋण—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण को क्रमशः ब्रह्मचर्य, यज्ञ और सन्तानोत्पत्ति के द्वारा चुकाये जाने की व्यवस्था का उल्लेख यजुर्वेद में मिलता है। ब्रह्मचर्यावस्था में गुरु-गृह पर रहकर विद्यार्थी अपने शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्नशील रहते थे। वैदिक युग की शिक्षा-पद्धति चरित्र निर्माण करने, व्यक्तित्व के विकास, ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में प्रगति करने तथा सामाजिक समृद्धि व सम्पन्नता प्राप्त करने में पूर्णतः सफल रही। यद्यपि इस युग की साहित्यिक व वैज्ञानिक प्रगति इतनी सौष्ठवपूर्ण और परिपक्व नहीं थी जैसी कि बाद में जाकर उपनिषद् युग में हो गयी तथापि ज्ञान-क्षेत्र में बढ़ने की अभिलाषा इस युग में पायी जाती है। उन्होंने अनुभव कर लिया था कि केवल वेद-मन्त्रों के गा लेने से ही उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जायेगी, अपितु उनका समझना और उनके गूढ़ार्थों की सराहना व व्याख्या करने की क्षमता प्राप्त करना आवश्यक है। जो वेद का अर्थ नहीं समझता था वह शूद्र के समान समझा जाता था।[11] वेदकालीन शिक्षा प्रधानतः आध्यात्मिक व धर्म-प्रधान थी तथापि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भौतिक समृद्धि की इसमें उपेक्षा नहीं की गयी है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसका साक्ष्य उपलब्ध है। इस प्रकार वेदकालीन शिक्षा में भारतीय संस्कृति के भावी विकास का संकेत है।

## सारांश

**प्राचीन भारतीय सभ्यता का मूल-आधार धर्म था। साहित्य, कला, शिक्षा, राजनीति तथा आर्थिक प्रयास सभी की जड़ में धर्म-साधना थी।**

**वेदकालीन शिक्षा-प्रणाली का विवरण हमें वेदों में वर्णित साहित्य से उपलब्ध होता है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद चार प्रसिद्ध वेद हैं। इनमें ऋग्वेद भारत की प्राचीनतम रचना है। यह 1,017 मन्त्रों का समूह है। सम्पूर्ण वेद दस मण्डलों में विभाजित हैं, जिनमें मण्डल 2 से 7 तक ऋग्वेद का मौलिक प्रमुख भाग है। ऋग्वेद के मन्त्रों में कुछ मन्त्र साहित्य, कुछ धर्म और संस्कारों और कुछ यज्ञ-संगीत तथा यज्ञ-विधि इत्यादि से सम्बन्ध रखते हैं।**

**सामवेद सोम-यज्ञ पर गायी जाने वाली क्रियाओं का संग्रह है। सामवेद के मन्त्रों को दो भागों में विभाजित किया गया है जिन्हें 'अर्चिका' कहते हैं। सम्पूर्ण वेद का उद्देश्य संगीत का ज्ञान कराना है। यह संगीत के एक पाठ्य-ग्रन्थ के समान है।**

11 योऽधीत्य विधिवद्वेदं वेदार्थं न विचारयेत
स संमूढ शूद्रकल्प पात्रतां न प्रपद्यते। —पद्म पुराण, आदिखण्ड ५३, ८६

यजुर्वेद पुरोहितों का विशेष वेद है। इसमें गद्य मन्त्रों का संग्रह है। इसके कृष्ण और शुक्ल दो भाग हैं। यजुर्वेद में भारतीय धार्मिक तथा लौकिक दोनों जीवनों की झाँकी मिलती है। इसमें अधिकांश भाग में यज्ञों का वर्णन है।

अथर्ववेद में बहुत कुछ मौलिकता है। सामवेद व यजुर्वेद की भाँति इसके अधिकतर मन्त्र ऋग्वेद से नहीं लिये गये हैं। इसमें चिकित्सा, ज्योतिष संस्कार, राजनीति तथा लोकाचार का वर्णन है।

वेदकालीन शिक्षा भारत में शिक्षा का सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप माना जा सकता है। उस समय तक लेखन-कला का विकास नहीं हुआ था, अतः प्रत्येक ऋषि या गुरु अपने शिष्य या पुत्र को मौखिक ज्ञान प्रदान करता था। यह ज्ञान उस परिवार की वंशगत निधि बनने से वेदकालीन परिवार-स्कूलों का जन्म हुआ। विद्यार्थी गुरु के पास रहकर विद्याध्ययन करता था। गुरु विद्यार्थियों को मन्त्र देते थे जिन्हें वे कंठाग्र करके आगे बढ़ते जाते थे। उच्चारण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था। वेदकालीन शिक्षा का उद्देश्य 'महत् ज्ञान' की प्राप्ति माना जाता था जिसका उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति था। शिक्षालय का संचालन स्वयं शिक्षक करता था। गुरु-गृह ही शिक्षालय था। ब्रह्मचर्य विद्यार्थी के लिए अनिवार्य था। गुरु-गृह पर रहकर गुरु-सेवा करना विद्यार्थी का परम कर्तव्य समझा जाता था। उपनयन संस्कार के सम्पादन होने पर ही विद्यार्थी-जीवन का सूत्रपात होता था। ब्रह्मचारी को कठोर अनुशासन का पालन करना होता था। बालक व बालिकाओं के लिए शिक्षा अनिवार्य थी।

# 2

## उत्तर वैदिककालीन शिक्षा

### (1000 ई० पू० से 200 ई० पू०)

**साधन**

वैदिक युग में शिक्षा-क्षेत्र में पुरोहितवाद का प्रभाव बहुत बढ़ गया था और यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान का अत्यन्त विस्तार हो गया था। किन्तु ऐसे जिज्ञासु भी थे जो जीवन के ऊपर रहस्यमयी दृष्टि रखते थे और ईश्वर, आत्मा, जीव और सृष्टि इत्यादि गम्भीर तत्त्वों पर चिन्तन करते थे। जन्म व मरण के सिद्धान्तों का भी विश्लेषण किया जा रहा था। उत्तर-वैदिक युग में यह प्रवृत्ति अधिक वेगवती हो उठी। दार्शनिक लोग जंगलों की छाया में शून्य एकान्त में बैठकर आत्मानुभव करते थे। उनके अनुभवों का प्रकटीकरण 'ब्राह्मण' तथा 'आरण्यक' नामक रचनाओं के रूप में हुआ। आरण्यक वाणप्रस्थ ऋषियों के ब्राह्मण-ग्रन्थों के समान थे। इनके उपरान्त उपनिषदों का सृजन हुआ। उपनिषद् भारतीय प्राचीन सभ्यता की महान निधि हैं। जिस महान् दार्शनिक रहस्य का उद्घाटन उपनिषदों में हुआ वह 'वेदान्त' कहलाया। यह वैदिक ज्ञान का चरम विकास था। आत्मा और ब्रह्म के रहस्य का उपनिषदों में अत्यन्त सूक्ष्मता से विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वे प्रमुख साधन हैं जिनसे हमें उत्तर वैदिक काल की सभ्यता व शिक्षा का हाल ज्ञात होता है। उत्तर वैदिक शिक्षा का प्रसार शाखा, चरण, परिषद्, कुल और गोत्र इत्यादि संस्थाओं के द्वारा हुआ। ये संस्थाएँ धार्मिक तथा साहित्यिक संस्थाएँ थीं जो वैदिक काल में स्कूलों का कार्य कर रही थीं।

**प्रसार**

इस प्रकार वेद संहिताओं तथा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होने लगा। यहाँ तक कि यह देश के सम्पूर्ण कोनों में फैल गया। वैदिक पाठशालाओं का देश भर में जाल-सा फैल गया तथा भिन्न-भिन्न वेदों में भिन्न-भिन्न स्कूल विशेषता प्राप्त करने लगे। इन ज्ञान-केन्द्रों में भारतीय प्राचीन जीवन का वास्तविक रूप झलकता है। यहाँ शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य—जीवन का सर्वांगीण चरम विकास—हमें देखने को मिलता है। आधुनिक शिक्षा हमें

केवल भौतिक विकास की ओर ले जाती है, किन्तु वैदिक शिक्षा ने हमें जीवन में साम्य का पाठ पढ़ाया ।

यह शिक्षा केवल धर्म-पाठ पढ़ाने के लिए ही नहीं थी, अपितु जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों का पदार्थ-पाठ पढ़ाती थी । तत्कालीन शिक्षा-केन्द्र ही धर्म, पवित्रता, कला, सभ्यता तथा जीवन के वह केन्द्र थे जहाँ से ऐसी भारतीय सभ्यता विकीर्ण हुई जो शताब्दियों के भयंकर परिवर्तन के झंझावात को सहन करके आज भी अपनी ज्योति से मानव-हृदय को प्रकाशित कर रही है । यह वेदकालीन शिक्षा की विशेषता है । आर्य सभ्यता के ये केन्द्र इस प्रकार एक विकसित मानवता तथा उन्नत जीवन का पाठ जाति को पढ़ा रहे थे ।

**शिक्षा-पद्धति और स्वाध्याय**

इस समय 'शिक्षा केवल शिक्षा के लिए' नहीं अपितु 'शिक्षा जीवन के लिए' थी । शिक्षा का उद्देश्य 'पूर्णब्रह्म या ब्रह्मवर्चस' को प्राप्त करना था । यज्ञ तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं का उद्देश्य भी पूर्णब्रह्म की प्राप्ति था, किन्तु धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन पर भी अधिक जोर दिया गया । यह अध्ययन 'स्वाध्याय' कहलाता था । स्वाध्याय को ब्रह्म के लिए किये उस त्याग-समान माना जाता था जिसके सम्पादन से एक अखण्ड जगत की प्राप्ति होती है । आरण्यकों में स्वाध्याय का बड़ा महत्त्व माना गया है । ऐसा विश्वास किया जाता था कि स्वाध्याय के द्वारा ही मनुष्य ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके ब्रह्म में लीन हो सकता है । यह स्वाध्याय प्रत्येक स्थान पर सम्भव नहीं था । इसके लिए प्राय: जल-कोलाहल-शून्य किसी प्राकृतिक रमणीक स्थान में बैठकर एकाग्र मन होकर ब्रह्मचारी लोग वेद, वेदांग, आरण्यक, ब्राह्मण, इतिहास, पुराण तथा उपनिषदों का अध्ययन करते थे । वेदकालीन शिक्षा की भाँति इस युग में भी विद्यार्थी वर्षा के बादलों के समय, तूफान या आँधी में वृक्ष-छाया तले तथा पशुओं के मध्य में पढ़ने से अवकाश पाते थे ।

**गुरु का महत्त्व**

यद्यपि स्वाध्याय या आत्म-अध्ययन का विशेष प्रचलन था, तथापि विद्यार्थी के लिए शिक्षक की आवश्यकता भी प्रतीत होती थी । कठोपनिषद् में शिक्षण का अस्तित्व अनिवार्य बताया गया है । गुरु का पूर्ण ज्ञानी, सर्वद्रष्टा तथा ब्रह्म में निवास करने वाला होना आवश्यक था । गुरु विद्यार्थी को अन्तर्चक्षु प्रदान करता तथा आध्यात्मिक जीवन देता था । गुरु समाज का पथ-प्रदर्शक, नेता तथा निर्माणक माना जाता था । उसके द्वारा विद्या-दान केवल पुत्र या शिष्य को ही दिया जा सकता था । उपनयन संस्कार के उपरान्त शिष्य गुरु के पुत्र के समान माना जाता था और उनका आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता था । गुरु केवल उसी शिष्य को शिक्षा देते थे जो अपनी व्यक्तिगत योग्यताओं तथा सेवाओं द्वारा पात्रता प्राप्त कर लेता था । उपनिषदों में ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जहाँ शिष्यों के द्वारा गुरु के समक्ष ईंधन हाथ में लेकर उपस्थित होने का उल्लेख है । इसके अतिरिक्त अनियमित शिक्षक भी थे जो

बिना दीक्षा संस्कार सम्पादित किये हुए साधारणतया ज्ञान प्रदान करते थे । याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी तथा गार्गी को इस प्रकार ज्ञान-उपदेश दिया था। इतना ही नहीं, वरन् पिता के द्वारा पुत्रों को दीक्षित तथा शिक्षित करने के भी उदाहरण हैं । श्वेतकेतु ने अपने पिता से उच्च ज्ञान प्राप्त किया था । भृगु ने अपने पिता वरुण से शिक्षा पायी थी । इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा-पद्धति में स्वाध्याय का महत्त्व होते हुए भी गुरु की आवश्यकता थी ।

**प्रवेश**

वस्तुत: उपनयन संस्कार के उपरान्त ही बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था और वह प्राय: 25 वर्ष (अविवाहित रहने तक) की अवस्था तक 'ब्रह्मचारी' कहलाता था । उपनयन विद्यार्थी का द्वितीय जन्म माना जाता था । यहाँ से गुरु के द्वारा दीक्षित होने पर उसका आध्यात्मिक जीवन आरम्भ होता था । वंश, व्यक्तिगत योग्यता तथा सेवा-भाव इत्यादि गुणों को देखकर ही गुरु बालकों को दीक्षित करते थे। यह विद्यार्थी-जीवन प्राय: 12 वर्ष तक माना जाता था । श्वेतकेतु तथा उपकौशल कमलायन प्रभृति व्यक्ति प्राय: 12 वर्ष तक गुरु-गृह में रहे थे । विद्यारम्भ भी प्राय: 12 वर्ष की अवस्था से ही होता था । बहुत से विद्यार्थी अध्ययन की अवधि 12 वर्ष से अधिक भी रखते थे, यहाँ तक कि ऐसे उदाहरण भी हैं कि विद्यार्थियों ने 101 वर्ष तक नियमित अध्ययन किया[1] किन्तु यह 'महान् ज्ञान' या उच्चतम शिक्षा के लिए ही था ।

**विद्यार्थी का कर्तव्य**

प्रथमत: विद्यार्थी 'आचार्यकुलवासी' होता था । दूसरे, उसे अपने पालन-पोषण तथा गुरु के लिए भिक्षान्न माँगकर लाना होता था । इस प्रथा का पालन निर्धन, धनवान, राजकुमार तथा कृषक सभी विद्यार्थियों को करना पड़ता था । इससे उसके अन्दर विनय का प्रादुर्भाव होता था और वह समाज के द्वारा किये गये उपकार तथा उसके प्रति किये जाने वाले अपने कर्तव्य का एक पदार्थ-पाठ पढ़ता था । विनय का यह अद्वितीय उदाहरण कदाचित् विश्व-इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है ।

ब्रह्मचारी का तीसरा कर्तव्य माना जाता था गुरु-गृह की पवित्र अग्नि को सदा प्रज्वलित रखना । ब्रह्मचारी वनों से समिधाएँ लाकर उस अग्नि को जागृत रखते थे । इस पवित्र ज्योति का आध्यात्मिक अर्थ था मस्तिष्क और आत्मा को प्रकाशित करना ।

गुरु की गाय इत्यादि पशुओं को जंगल में ले जाकर चराना विद्यार्थी का चौथा कर्तव्य था । इस तरह विद्यार्थी के समय का एक दीर्घ अंश गुरु-सेवा में ही व्यतीत होता था । ये सेवाएँ प्राय: निर्धन विद्यार्थी ही करते थे । धन-सम्पन्न बालक गुरुओं को दक्षिणा देते थे ।

इन बाह्य गुरु-सेवाओं के अतिरिक्त विद्यार्थी का प्रमुख कर्तव्य विद्याध्ययन था । प्रारम्भ में वेद-पाठन से अध्ययन आरम्भ किया जाता था, अर्थात् अक्षर, शब्द,

---

1 छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है कि इन्द्र 101 वर्ष तक प्रजापति के यहाँ शिष्य के रूप में पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए रहा था ।

उच्चारण, छन्द तथा प्रारम्भिक व्याकरण का ज्ञान पहले कराया जाता था। इसमें व्याकरण तथा शुद्ध उच्चारण का विशेष महत्त्व था, क्योंकि इनकी शुद्धता पर ही वेदों की भावी शुद्धता निर्भर थी।

इस प्रकार बाह्य प्रतिबन्ध विद्यार्थी में एक आन्तरिक संस्कार उत्पन्न करते थे। इन्द्रियों, इच्छाओं, यशलिप्सा, निद्रा, क्रोध, गन्ध और शारीरिक सौन्दर्य इत्यादि पर उसे विजय प्राप्त करनी होती थी। विद्यार्थी को विद्या-प्राप्ति से पूर्व प्रमाणित करना होता था कि वह शान्त, संयमी, धीरवान् तथा एकाग्रचित्त है।[2] संक्षेप में, 'सादा जीवन उच्च विचार' ही उसका आदर्श था।

यहाँ यह स्मरणीय है कि विद्यार्थी उच्च ज्ञान प्राप्त करना अपना कर्तव्य समझते थे। विद्यार्थी-जीवन की कठोरता उन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाती थी। इसमें उन्हें जीवन के एक थोड़े-से अंश को नहीं, अपितु सम्पूर्ण जीवन का बलिदान करना होता था। श्वेतकेतु बारह वर्ष तक विद्याध्ययन करने के उपरान्त भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में असफल रहा और इसके लिए उसे बाद में अधिक समय देना पड़ा। यहाँ तक कि बहुत से व्यक्ति तो आजीवन ब्रह्मचारी रहकर ज्ञानोपार्जन करते थे। वे 'नैष्ठिक' ब्रह्मचारी कहलाते थे।

विद्या-काल की समाप्ति पर गुरुजन विद्यार्थियों को दीक्षान्त भाषण देते थे जिसमें उनके भावी व्यावहारिक जीवन के कर्तव्यों का उन्हें स्मरण दिलाकर संसार में भेजा जाता था। इस प्रथा को 'समावर्तन संस्कार' कहते हैं। इन कर्तव्यों में प्रधानतः सत्य बोलना, कर्तव्य-पालन, वेद-अध्ययन, स्वास्थ्य-रक्षा, यज्ञ, माता-पिता तथा गुरु की सेवा, दान तथा इसी प्रकार के उत्तम कर्म[3] करने के लिए आदेश थे। प्राचीन काल के भारत के इन गुरुओं के ये अन्तिम उपदेश आधुनिक विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त भाषण[4] के समान थे। अन्तर केवल इतना प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अन्तिम

[2] "सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
नान्योद्योगवता न चाप्रवसता नात्मानमुत्कर्षता ॥
नालस्योपहतेन नामयवता नाचार्यविद्वेषिणा।
लज्जाशीलविनम्र सुन्दरमुखी सीमन्तिनी नेच्छता ॥
लोके ख्यातिकरः सतमभिमतो विद्यागुणः प्राप्यते ॥"

— सुभाषित

[3] सत्यंवद। धर्मंचर। स्वाध्यान्मा प्रमदः।
आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी.।
सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्
कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्
स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्

.... .... ....

एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवम् चैतदुपास्यम्।

[4] Convocation Address.

उपदेश की आत्मा—उसके धार्मिक तथा नैतिक रूप—पर अधिक जोर दिया जाता था, जबकि आजकल बाह्याडम्बर तथा शुष्क प्रथा-पालन पर।

**शिक्षक के कर्तव्य**

प्राचीन भारत की सम्पूर्ण सभ्यता का प्रकाश तत्कालीन शिक्षकों ही की आध्यात्मिक तथा नैतिक ज्योति-छाया थी। शिक्षक के अन्दर उच्चतम आध्यात्मिक व चरित्र सम्बन्धी गुणों का होना अनिवार्य था। गुरु प्रायः ब्रह्मनिष्ठ तथा सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का ज्ञाता होता था। अपने आन्तरिक प्रकाश से ही वह अपने शिष्यों की अन्तर्ज्योति को जागृत करता था।

प्राचीन काल में ऐसे ही व्यक्ति को गुरु-पद के योग्य समझा जाता था जो स्वयं अपने विद्यार्थी-जीवन में आदर्श विद्यार्थी रहा हो। जो व्यक्ति समाज व जाति का पथ-प्रदर्शन कर सकें अथवा जो पूर्ण विद्वान हों, उन्हें ही शिक्षक का पद मिलता था। योग्य शिष्य के पहुँचने पर उसे उच्चतम शिक्षा देना प्रत्येक गुरु का कर्तव्य था। गुरु जो कुछ जानता था, बिना भेद-भाव व छिपाव के सभी कुछ शिष्य को सिखाता था; यद्यपि ऐसे भी उदाहरण हैं कि कुछ गुप्त विद्याओं का दान विशेष शिष्य को ही दिया जाता था। साधारण शिष्य इसके योग्य नहीं समझा जाता था। किसी विशेष विषय में अपने आपको योग्य व समर्थ न पाने पर गुरु अपनी असमर्थता को शिष्य से प्रकट कर देना पवित्र कर्तव्य समझता था।

इस प्रकार गुरुओं द्वारा शिष्यों में ज्ञान हस्तान्तरित करने की एक गुरु-परम्परा पड़ गयी थी। गुरुओं की भी यही इच्छा रहती थी कि उनके सिद्धान्त, ज्ञान व अनुभव उनके उपरान्त भी जीवित रहकर लोक-कल्याण करें। गुरु का जीवन एक आदर्श होता था; शिष्य उसका अनुकरण करते थे। 'अन्धकार से प्रकाश में लाना'[5] गुरु का कर्तव्य था। गुरु ही विद्यार्थी का आध्यात्मिक व मानसिक पिता होता था। किसी विद्यार्थी के नैतिक पतन अथवा दोषों का पूर्ण उत्तरदायित्व शिक्षक पर ही था। प्रत्येक विद्यार्थी की व्यक्तिगत देखभाल, निर्धन विद्यार्थी की आर्थिक सहायता, अस्वस्थ होने पर विद्यार्थी की सुश्रूषा तथा अन्य आवश्यकताओं के समय पर गुरु को उसी प्रकार अपने कर्तव्य का पालन करना होता था जैसे एक पिता अपने पुत्र के लिए करता है।

**शिक्षा-प्रणाली**

वेदकालीन शिक्षा में शिष्य को ज्ञान सीधा प्रदान किया जाता था। इस प्रणाली में 'शिक्षक' प्रमुख था। किन्तु उत्तर वैदिक काल की शिक्षा-प्रणाली में 'शिष्य' प्रमुख था। गुरु और शिष्य में प्रश्न और उत्तर होते थे। गुरु शिष्यों के समक्ष समस्याएँ रखते थे अथवा शिष्य भी प्रश्न पूछकर गुरुओं से उत्तर पाकर शंका-समाधान या ज्ञानवर्धन करते थे। इसी प्रकार समस्याओं के हल और प्रश्नों के उत्तर

5 तमसो मा ज्योतिर्गमय

द्वारा विद्यार्थी को ज्ञान दिया जाता था । उपनिषदों की प्रधान प्रणाली तो वाद-विवाद की ही है। गूढ़ व जटिल प्रश्नों के द्वारा रहस्यमय विषयों को सुलझाया जाता था। अधिकतर शिक्षा वाणी द्वारा ही दी जाती थी, यद्यपि लेखन-कला का भी प्रचार बढ़ रहा था। प्रश्न-उत्तर, कथा, अन्योक्ति एवं सूक्ति इत्यादि प्रमुख शिक्षा-प्रणालियों का प्रयोग होता था । तर्कशास्त्र का विकास उपनिषद् काल में खूब हुआ। आगे चलकर न्यायशास्त्र के विकास में इससे पर्याप्त सहायता मिली ।

गुरु और शिष्य के वाद-विवाद में शिष्य केवल निष्क्रिय श्रोता ही नहीं रहता था, अपितु उसे हर क्षण जागरूक व क्रियाशील रहना पड़ता था । उसे मनन और चिन्तन करके प्रश्नों के उत्तर सोचने पड़ते थे। इस प्रकार उसकी मानसिक व कल्पना शक्ति को श्रम व शिक्षण मिलता था। किसी गूढ़ विषय का सूत्रपात करके गुरु शिष्य को आगे ले जाकर छोड़ देता था। उसके आगे शिष्य स्वतः अपने स्वाध्याय, मनन और चिन्तन द्वारा अभीष्ट पर पहुँचता था। तैत्रीय-उपनिषद् में वरुण के द्वारा अपने पुत्र भृगु के पढ़ाये जाने की कथा है जहाँ वरुण उसे चार बार संकेत के रूप में प्रारम्भिक सहायता देकर आगे बढ़ने के लिए छोड़ देता है । अन्त में पाँचवीं बार जाकर भृगु को स्वयं ब्रह्म का आभास हो जाता है। श्वेतकेतु ने भी इसी प्रकार अपने पिता से मन तथा इसके गुणों एवं मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक परिस्थितियों के मन पर प्रभाव इत्यादि के विषय में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार शिक्षा में प्रमुख भाग विद्यार्थी का ही होता था। शिक्षक केवल उसका पथ-प्रदर्शन करता था।

वृहदारण्यक उपनिषद् में तीन प्रमुख पद्धतियों का उल्लेख है, जैसे—(1) श्रवण, (2) मनन, और (3) निदिध्यासन। श्रवण को छह भागों में बाँटा गया था—(1) उपकर्म, जो वेद पढ़ने से पूर्व किया जाता था; (2) अभ्यास, (3) अपूर्वता—अर्थ का तत्काल समझ लेना; (4) फल; (5) अर्थवाद; तथा (6) उपपत्ति, परिणाम व सार का ज्ञान। इसी प्रकार मनन के द्वारा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त योग व तपस्या से भी परम ज्ञान प्राप्त किया जाता था ।

**शिक्षा-संस्थाओं के रूप**

गुरु-गृह, परिषद् एवं सम्मेलन, इन तीन प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं का उस समय प्रचलन था ।

(1) **गुरु-गृह**—गुरु-गृह अथवा गुरुकुल में विद्यार्थी को रखने का मूल कारण यह था कि योग्य व चरित्रवान् गुरुओं के साक्षात् सम्पर्क में रहकर विद्यार्थी अपने चरित्र और जीवन को उसी के अनुरूप ढालने का सुअवसर पाये । बालक के लिए शिक्षक प्रायः आदर्श होता है। यदि उसे अधिक से अधिक समय के लिए शिक्षक के निकटतम सम्पर्क में रखा जाता है तो उसमें क्रमशः उन सभी गुणों के समावेश की सम्भावना बढ़ जाती है जिनसे स्वयं शिक्षक का जीवन प्रेरित होता है । इन गुरु-गृहों पर विद्यार्थी को गुरु के प्रत्यक्ष सम्पर्क के साथ ही साथ पारिवारिक जीवन का भी अनुभव होता था, क्योंकि अधिकांशतः ये शिक्षक गृहस्थ होते थे। यही कारण है कि

गुरु-गृह पर ही शिक्षा प्राप्त करने की प्रथा साधारणतः उस समय प्रचलित थी । बालक प्रारम्भिक अवस्था में अपने माता-पिता को छोड़कर अपने आध्यात्मिक पिता के घर जाता था । वहाँ उपनयन-संस्कार के उपरान्त उसका ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्रवेश कर लिया जाता था । गुरु-गृह में गुरु की सेवा करते हुए, जैसे पशु चराना तथा यज्ञाग्नि प्रज्वलित रखना इत्यादि कार्य करते हुए वह लगभग बारह वर्ष तक विद्यालाभ करता था । तदुपरान्त वह पूर्ण विद्वान होकर वहाँ से विदा होता था ।

(2) **परिषद्**—यहाँ उच्च शिक्षा के विद्यार्थी इकट्ठे होकर तर्क-वितर्क तथा भाषणों द्वारा अपनी ज्ञानक्षुधा को मिटाते थे । जो विद्यार्थी अपना शिक्षण प्रारम्भिक अवस्था में ही समाप्त नहीं कर लेते थे तथा सत्य और ज्ञान की खोज में रहते थे, वे इन परिषदों द्वारा ज्ञानार्जन करते थे । पारस्परिक वाद-विवाद के अतिरिक्त विद्यार्थी योग्य विद्वानों व महान् शिक्षकों को भी इन वार्ताओं में निमन्त्रित करते तथा स्वयं देश-भ्रमण करते थे । ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरण मिलते हैं । उपनिषदों की रचना तो प्रायः ऐसे ही तर्कों तथा वाद-विवादों के परिणामस्वरूप हुई । इनमें उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के द्वारा 'सत्य' तथा 'आत्मा' के अनुसन्धान का वर्णन है ।

(3) **सम्मेलन**—स्थानीय परिषदों के अतिरिक्त कभी-कभी बड़े-बड़े राजा अपने यहाँ सम्पूर्ण देश के विद्वानों, ऋषियों तथा आध्यात्मिक व मानसिक नेताओं को आमन्त्रित करते थे । योग्य या सर्वोत्तम विद्वानों, वक्ताओं, दार्शनिकों और ज्ञानियों को विशेष पुरस्कार भी दिये जाते थे ।[6] ब्राह्मण ऋषियों के साथ प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए उनकी विदुषी स्त्रियाँ भी जाती और शास्त्रार्थ करती थीं ।

उपर्युक्त प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त राजाओं के दरबार भी शिक्षा-संस्थाओं का कार्य करते थे, जहाँ समय-समय पर उद्भट विद्वानों के समूह देश-देशान्तरों से आकर रहस्यमय विषयों पर भाषण करते थे । कुछ शिक्षा-संस्थाएँ जंगलों में भी थीं, जहाँ निर्जन स्थान में प्रकृति की रमणीक व नीरव गोद में ऋषियों के आश्रम बने थे । विद्यार्थी इन आश्रमों में एकत्रित होकर वेद-पाठ करते थे । उत्तर वैदिक काल के आरण्यक ग्रन्थों का सूत्रपात यहीं से है, जैसा कि 'आरण्यक' शब्द से प्रतीत होता है । ये वनों में गाये हुए ज्ञान-संगीत हैं । वास्तव में, भारतीय सभ्यता का उद्गम इन्हीं वनों में मिलता है । यहीं पर प्राचीन भारतीय सभ्यता का सृजन हुआ था । यहाँ यह बात कहना भी समीचीन होगा कि सभी विद्या केन्द्र वनों में नहीं थे । निस्सन्देह ऋषि लोग वनों के निर्जन एकान्त में तपस्या करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे, जहाँ उनकी साधना के लिए अनुकूल वातावरण होता था, तथापि उत्तर

'शतपथ ब्राह्मण' में विदेह जनक के द्वारा कुरु-पांचाल देश के सम्पूर्ण ब्राह्मणों के निमन्त्रित करने की कथा है, जिसमें राजा ने एक योग्यतम् विद्वान के लिए एक हजार गायें, जिनके सींग स्वर्ण से मढ़े थे, पारितोषिक के रूप में देने की प्रतिज्ञा की थी । इस पारितोषिक को याज्ञवल्क्य ने प्राप्त किया था ।

वैदिक काल में हम ऐसे गृहस्थ शिक्षकों को भी शिक्षण-कार्य करते हुए पाते हैं जो ग्रामों या नगरों में रहकर अपने घरों पर ही शिक्षा देते थे । यही स्थान गुरुकुलों के रूप में विकसित हो जाते थे, जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है । आगे चलकर तो हम देखते हैं कि प्रमुख नगरों में ही शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना हुई ।

**पाठ्यक्रम**

वैदिक साहित्य के उपरान्त सूत्र-साहित्य का युग आता है । इस समय तक ब्राह्मणीय शिक्षा पूर्णतः सुसंगठित हो चुकी थी । सूत्र-साहित्य युग 600 ई० पू० से 200 ई० पू० है । इस समय तक वेदों तथा उपनिषदों का बहुत विस्तार हो गया था । अतएव यह आवश्यक हो गया था कि किसी ऐसे साधन का आविष्कार किया जाय जिससे उस वृहत् ज्ञानराशि को संक्षिप्त रूप दिया जा सके । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सूत्रों की रचना हुई । इन सूत्रों के द्वारा महान् सिद्धान्तों और सत्यों को थोड़े शब्दों में संकेत रूप में कह दिया जाता था । बिना व्याख्या और विश्लेषण के सूत्रों को समझना कठिन था । प्रायः इनके अर्थ गूढ़ हुआ करते थे । सूत्रों की रचना करते समय एक शब्द की मितव्ययिता करने में सूत्रकार उसी सुख का अनुभव करते थे जो एक पुत्र के जन्म के समय होता था ।

इस युग में शिक्षा के नियमों का उल्लेख धर्म-सूत्रों के रूप में हुआ । इन धर्म-सूत्रों में सामाजिक जीवन के नियम तथा विद्यार्थियों और शिक्षकों के कर्तव्यों का वर्णन है । सूत्रकारों में मौलिकता नहीं थी, उन्होंने तो पूर्वस्थित् वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन करने के पश्चात स्वरचित साहित्य को जनसाधारण की पहुँच के अन्तर्गत लाने का प्रयास किया था । अतः सूत्र-साहित्य में साहित्यिक काव्य और कल्पना का अभाव है । उसमें तो केवल संक्षिप्तता और शब्द-लाघव का ध्यान रखा गया था । इस प्रकार इन सूत्रों में 'गागर में सागर' भरने का कार्य सूत्रकारों ने किया । बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव ने भी ब्राह्मणों को विवश कर दिया कि वे अपने धर्म की सुरक्षा करें तथा जनसाधारण तक अपने धर्म-सिद्धान्तों को पहुँचाने और उसे सरल एवं सर्व-प्रिय बनाने के लिए ऐसे उपाय का आविष्कार करें जिससे उनके धर्म-सिद्धान्त अमर होकर घर-घर तक पहुँच सकें । इस प्रयत्न का परिणाम हुआ सूत्र-साहित्य की रचना ।

सर्वप्रथम 'श्रोत सूत्र' की रचना हुई । इनमें ब्राह्मणों की धार्मिक क्रियाओं का उल्लेख है । दूसरे प्रकार के सूत्र 'गृह्य सूत्र' कहलाते हैं जिनमें गृहस्थ-जीवन, जैसे जन्म, विवाह तथा मरण इत्यादि रीति-अनुरीतियों का वर्णन है । इन्हें 'स्मृति' भी कहते हैं । तीसरी शाखा का नाम 'धर्म सूत्र' है जिसमें दिन-प्रतिदिन के सामाजिक जीवन के नियमों का वर्णन है । सूर-साहित्य का अन्तिम रूप 'सुल्व सूत्र' है जो धार्मिक कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है । सुल्व सूत्रों में वेदी बनाने के नियम, उनकी नाप और आकृति इत्यादि के विषय में बताया गया है । वस्तुतः भारत में ज्यामिति और भारतीय बीजगणित का बीजारोपण भी यहीं से होता है ।

सूत्र-युग में अध्ययन के प्रमुख विषय वेदांग थे । वेदों को समझाने के लिए

शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्ति, कल्प तथा ज्योतिष का पूर्व-ज्ञान आवश्यक था। यही 'वेदांग' कहलाते थे। इस युग की विशेषता है विद्यार्थियों का भिन्न-भिन्न विज्ञानों में विशेष योग्यता प्राप्त करना। वास्तव में यह युग प्राचीन भारतीय शिक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व रचनात्मक युग है। रेखागणित, बीजगणित, ज्योतिष, नक्षत्रशास्त्र, व्याकरण तथा भाषा का विकास इस युग में पर्याप्त रूप से हुआ। यज्ञ के लिए उपयुक्त ऋतु तथा काल का निरीक्षण करने में ज्योतिष-शास्त्र का विकास तथा बलि के लिए पशुओं के शरीर को चीरकर विश्लेषण करने से शरीरशास्त्र तथा शल्य चिकित्सा का विकास हुआ। पाणिनि का विश्वविख्यात व्याकरण इसी युग की रचना है। वस्तुतः पाणिनि से ही सूत्र-युग का सूत्रपात हुआ। कात्यायन व पातंजलि इसी युग के साहित्यकार हैं।

पातंजलि का भाष्य प्राचीन भारत की एक अमर रचना है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र, जिसे सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री चाणक्य या कौटिल्य की रचना माना जाता है और जो तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और शिक्षा सम्बन्धी नीतियों का उल्लेख करता है, इसी युग की देन है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ को चार भागों में विभाजित किया था—(1) अन्विक्षकी, (2) त्रयी, (3) वार्ता, और (4) दण्डनीति। वह तीन प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख करता है; जैसे संख्या, योग और लोकायत। त्रयी के अन्तर्गत ऋक्, साम और यजुः तीन वेदों का उल्लेख है। विद्यार्थी के लिए चाणक्य ने एक सुसंगठित व्यवस्था की कल्पना की है। प्रथम तीन वर्णों के लिए शिक्षा अनिवार्य थी। विद्यार्थियों के लिए वेद-पाठ, अग्नि-पूजा, भिक्षा तथा गुरु-सेवा की व्यवस्था थी। इसी प्रकार राजा के कर्तव्य, भिन्न-भिन्न वर्णों के कर्तव्य तथा प्रजा के कर्तव्य इत्यादि का वर्णन भी हमें कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में मिलता है।

न्यायशास्त्र व मीमांसा का विकास भी इसी युग से हुआ। जीवन को भली-भाँति सुचालित करने के लिए स्मृतियों की रचना हुई। मनुस्मृति आज भी असंख्य भारतवासियों के लिए अन्तिम शब्द प्रदान करती है। धर्म इस काल में भी साहित्य का गठन और सृजन कर रहा था, यद्यपि लोगों की विचारधारा स्वच्छन्द हो चुकी थी। आध्यात्मिक जीवन के समान्तर ही मानसिक जीवन चल रहा था। नृत्यकला, अभिनय, संगीत, अर्थशास्त्र तथा अन्य सांसारिक विज्ञानों का भी विकास हो रहा था, जिनका अध्ययन प्रधानतः स्त्रियाँ और शूद्र करते थे। ये ज्ञान 'उपवेद' कहलाते थे। इन उपवेदों के द्वारा सभी ज्ञान-शाखाओं का सम्बन्ध वेदों से जोड़ दिया गया था।

### शिक्षा-पद्धति

सूत्र-युग में शिक्षा-पद्धति प्रधानतः वही थी जो उपनिषद्-युग में प्रचलित थी। सूत्र-साहित्य किसी नवीन विचारधारा को जन्म तो देता ही नहीं था। इसमें तो पुरातन धर्म के सर्वमान्य सिद्धान्तों को छोटे-छोटे, ठोस व संक्षिप्त सूत्रों में पिरो दिया गया था। इस प्रकार अलिखित कानूनों, सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजों एवं

पूर्वस्थित परम्पराओं को सुव्यवस्थित तथा संकलित कर दिया गया था। यही नया साहित्य विद्यार्थियों के अध्ययन का विषय बन गया। विद्यारम्भ के समय विद्यार्थियों से कुछ प्रचलित रीति-रिवाजों का पालन कराया जाता था, जैसे गायत्री-पाठ इत्यादि। विद्यारम्भ के उपरान्त चूड़ाकर्म और फिर उपनयन-संस्कार का पालन होता था। उपनयन-संस्कार सम्पूर्ण आर्य जाति के लिए अनिवार्य कर दिया गया। इससे शिक्षा-प्रसार में पर्याप्त सहायता मिली। उच्च विद्या के लिए नियमित विद्यालयों की स्थापना होने लगी। ब्रह्मचर्य का अनुशासन अभी अत्यन्त जटिल था, किन्तु कालान्तर में बालिकाओं के विवाह की अवस्था घट जाने से स्त्री-शिक्षा को बहुत आघात लगा। अधिकतर स्त्रियाँ अपने घरों पर ही शिक्षा प्राप्त करती थीं। उनके पिता या भ्राता उन्हें शिक्षा देते थे। व्यवसाय जाति और वंशगत होने लगे थे, तथापि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी रुचि-अनुकूल पेशा ग्रहण करने के लिए प्रचलित थी। हस्तकला, चिकित्सा, शिल्पकला, वास्तुकला इत्यादि सांसारिक उपयोगी विद्याओं का प्रचार बढ़ गया था। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास तथा प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा करना था।

दर्शनशास्त्र का चरम विकास सूत्रकालीन साहित्य की विशेषता है। दर्शन सिद्धान्तों का अस्तित्व भारत में वेदकालीन युग से ही चला आ रहा था। उपनिषद् काल इसका मध्यान्ह था। किन्तु सूत्रकाल में यह ज्ञान अपनी उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच गया। इस युग में दर्शन की छह शाखाएँ विकसित हुईं—(1) कपिल का सांख्य, (2) पातंजलि का योग, (3) गौतम का न्याय, (4) कणाद का वैशेषिक, (5) जैमिनि का कर्म या पूर्वमीमांसा, और (6) वादरायण का उत्तरमीमांसा या वेदान्त। इतना अवश्य है कि इन छह पद्धतियों के रचयिता यही ऋषि नहीं थे बल्कि इनका अस्तित्व तो पहले से ही था। इन ऋषियों ने तो केवल इन भिन्न-भिन्न पद्धतियों का विश्लेषण करके इन्हें अन्तिम रूप प्रदान किया। अधिकारी विद्यार्थियों को ही दर्शनशास्त्र के अध्ययन की आज्ञा थी अन्यथा सर्वसाधारण तो सांसारिक विद्याओं का ही अध्ययन करते थे। "जिस व्यक्ति की वासनाओं का पूर्ण शमन नहीं हो गया था वह सच्चे दर्शनशास्त्र के अध्ययन के लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता था।"[7]

इस प्रकार दर्शनशास्त्र का अध्ययन अपने स्वयं के अन्दर पूर्ण था। इसने अनुशासन या विनय और उच्च ज्ञान की समस्या को सुलझा दिया। भारतीय दर्शन मानवता के लिए इस देश की एक अनुपम देन है। यह वह व्यावहारिक व बोधगम्य विचारधारा थी जिसने भारत की संस्कृति को युग-युगों के भयंकर परिवर्तनों में भी जीवित रखा।

Maxmullar : *Lectures on Vedanta Philosophy.*

## महाकाव्यों में शिक्षा

### पाठ्यक्रम एवं विधि

रामायण और महाभारत प्राचीन भारत के प्रमुख महाकाव्य हैं। ये काव्य प्रधानतः उस युग के सैनिकवाद की झलक हैं, तथापि इनमें ऐसे साक्ष्य हैं जिनके द्वारा हमें उस युग की शिक्षा का हाल भी विदित होता है। उदाहरण के लिए, वर्ण और आश्रमों के सिद्धान्तों का उल्लेख, आदर्श विद्यार्थियों तथा मठों की परिभाषा, तत्कालीन विद्या-केन्द्र का वर्णन तथा राजकुमारों और क्षत्रिय बालकों की सैनिक शिक्षा का वर्णन हमें इन महाकाव्यों में मिलता है।

ब्राह्मणों की शिक्षा के लिए धर्म-सूत्र के अनुसार कुछ नियम थे। उन्हें कुछ विशेष योग्यताओं को प्राप्त करना तथा कुछ शर्तों का पालन करना होता था। उदाहरणतः आत्मा की स्वच्छता, चरित्र की पवित्रता, वैदिक अध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह और विनय ब्राह्मण के लक्षण समझे जाते थे। गुरु-सेवा, ब्रह्मचर्य व भिक्षा इत्यादि ब्राह्मण विद्यार्थी के कर्तव्य थे। गुरु से पूर्व आहार, विहार और शयन करने का अधिकार शिष्य को नहीं था। इस प्रकार पच्चीस वर्ष की अवस्था तक वेदों का अध्ययन समाप्त करके विद्यार्थी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। विद्यार्थी अपनी शक्ति के अनुसार गुरु को शुल्क भी देता था। अरुण तथा उपमन्यु इत्यादि कुछ गुरुभक्त व आदर्श विद्यार्थियों के नाम भी इस युग में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कण्व, व्यास, वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा द्रोण इत्यादि महान् गुरुओं का भी उल्लेख रामायण व महाभारत में है। द्रोणाचार्य महाभारत युग के एक प्रसिद्ध सैनिक-शिक्षक थे। इतना अवश्य है कि इस युग में जातियों का विभाजन अत्यन्त जटिल हो चुका था। शूद्रों के वेद-अध्ययन अथवा उच्च सैनिक-शिक्षा के अधिकार छिन चुके थे। एकलव्य, एक शूद्र बालक को द्रोणाचार्य ने राजकुमारों के साथ सैनिक-शिक्षा देने से मना कर दिया था। द्विज कहलाने वाली तीन जातियों के लिए विद्याध्ययन, यज्ञ तथा दान ये तीनों कर्म एक-समान थे। इसके अतिरिक्त चारों वर्णों के कुछ विशेष कर्तव्य भी थे। जैसे, विद्यादान, भिक्षा तथा दान लेना ब्राह्मण का कर्तव्य; देश-रक्षा तथा आन्तरिक सुव्यवस्था क्षत्रिय का कर्म; व्यापार व कृषि वैश्य का विशेष कर्म एवं सेवा शूद्र का प्रमुख कर्म माना गया था।[8] इन चारों वर्णों की शिक्षा का पाठ्यक्रम भी अपने-अपने उद्यमों के अनुसार था। क्षत्रियों के लिए धनुर्वेद का अध्ययन अनिवार्य था।[9] 'धनुर्वेद' से अभिप्राय सम्पूर्ण सैनिक विज्ञान व कला से समझा जाता था। राम, परशुराम, भीष्म, द्रोण, अर्जुन

---

8 वेदोऽभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणाम्
वार्ता कर्मेव वैशस्य विशिष्टानि स्वकर्मषु
कृषि गोरक्षामास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम्।　　　　—मनुस्मृति १०।१८०

9 ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च
द्रोणः संकीर्ण युध्ये च शिक्षयाम स कौरवान्।　　　　—महाभारत आ० प० ११८

तथा कर्ण महाकाव्य-युग के कुछ प्रसिद्ध धनुर्धारी थे । साथ ही प्रयाग, काशी, अयोध्या तथा तक्षशिला इत्यादि तत्कालीन महान् विद्या-केन्द्र थे । प्रयाग में उस युग का सर्वविख्यात आश्रम ऋषि भारद्वाज का था जो उत्तरी भारत में शिक्षा का एक वृहत् केन्द्र था ।

**स्त्री-शिक्षा**

उत्तर वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा की वही परम्परा है जो वैदिक काल में थी । प्राचीन भारत के समाज की यह विशेषता रही है कि यहाँ की नारी समाज का एक सभ्य, शिक्षित और सम्मानित अंग रही है । ऋग्वेद काल में स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी । वे पुरुषों के साथ यज्ञ करती थीं, यहाँ तक कि वह यज्ञ पूर्ण नहीं माना जाता था जो बिना स्त्री (अर्द्धांगिनी) के सम्पादित किया गया हो । ऋग्वेद की बहुत-सी ऋचाओं की रचयिता स्त्री कवयित्रियाँ मानी जाती हैं । विश्वतारा, घोषा, रोमांसा, लोपामुद्रा, उर्वशी और अपाला इत्यादि ऋग्वेदकालीन बहुत विदुषी स्त्रियाँ हैं । उपनिषद्-युग में भी स्त्रियों को शिक्षा की पूर्ण स्वतन्त्रता थी । याज्ञवल्क्य की दोनों पत्नियाँ—गार्गी और मैत्रेयी—परम विदुषी स्त्रियाँ थीं । मैत्रेयी का अपने पति के साथ ब्रह्म, सृष्टि तथा आत्मा इत्यादि गूढ़ रहस्यों पर विवाद भी हुआ था । उपनिषदों में ऐसी स्त्रियों का भी वर्णन है जो 'शिक्षिका' का कार्य करती थीं । स्त्रियों को 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था । कोई-कोई विद्वान उन्हें दो शाखाओं में बाँटते हैं—(1) ब्रह्मवादिनी, और (2) सद्योवधू । प्रथम प्रकार की स्त्रियाँ उपनयन, अग्नि-पूजा, वेद-पाठ तथा शिक्षा के उपयुक्त मानी जाती थीं और शिक्षा के समाप्त होने पर ही विवाह करती थीं । सद्योवधू विवाह से पूर्व ही उपनयन को पूर्ण कर लेती थीं । उनके अध्ययन का विषय आवश्यक वेद मन्त्र, संगीत, नृत्य तथा अन्य प्रचलित ललित कलाओं का अध्ययन था । गृह्य सूत्रों में भी वर्णन है कि पत्नी को इतनी शिक्षिता होना चाहिए कि वह पति के साथ यज्ञ इत्यादि धार्मिक कार्यों में हाथ बँटा सके । वस्तुत: स्त्री-पुरुषों को यज्ञ-सम्पादन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी । डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने हेमाद्री का उद्धरण देते हुए लिखा है, "कुमारी अर्थात् अविवाहित कन्या को विद्या और धर्मनीति का अध्ययन करना चाहिए । एक शिक्षिता कुमारी अपने पिता तथा पति दोनों का कल्याण करती है । अत: उसका विवाह एक विद्वान पति अथवा मनीषी से करना चाहिए, क्योंकि वह विदुषी है ।"

सूत्र-युग में भी हम पाते हैं कि स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का निषेध नहीं था । वे वैदिक साहित्य का अध्ययन करती थीं । इस युग में स्त्री शिक्षिकाएँ 'उपाध्याया' या 'आचार्या' कहलाती थीं । पिता की यह अभिलाषा रहती थी कि उसकी पुत्री पण्डिता हो । "स्त्रियों को सैनिक-शिक्षा दिये जाने का भी उदाहरण मिलता है, जैसा कि 'शक्तिकी' शब्द से प्रतीत होता है जिसका उल्लेख पातंजलि ने किया है, जिसका अभिप्राय भाला धारण किये हुए स्त्री से है ।" महाकाव्य-युग में भी हमें अत्यन्त विदुषी और चरित्रवान स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं । उस समय तक पति की प्रधानता हो गयी थी और स्त्री उसे भगवान की तरह पूजने लगी थी । रामायण

में सीता का ऐसा ही उदाहरण है । ये स्त्रियाँ वैदिक ज्ञान में भी मंत्रविद होती थीं । कुन्ती के विषय में कहा जाता है कि वह अथर्ववेद की प्रकाण्ड पण्डिता थी ।

शिक्षा की प्रणाली स्त्रियों के लिए भी प्राय: वही थी जो पुरुषों के लिए थी । उपनयन-संस्कार के बिना वेद मन्त्र उच्चारण निषिद्ध था । अत: स्त्रियों का भी उपनयन होता था । स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य से रहकर विद्याध्ययन करती थीं । मनुस्मृति में भी स्त्रियों के लिए उपनयन की व्यवस्था है । स्त्रियों के लिए शिक्षा का विषय वेद-पाठ था, किन्तु इसके वही मन्त्र थे जो यज्ञ तथा अन्य संस्कारों के लिए उपयोगी थे । वेद के अतिरिक्त स्त्रियाँ मीमांसा का अध्ययन करके इसमें विशेषता प्राप्त करती थीं । उपनिषद्-युग में तो मैत्रेयी और गार्गी जैसी विदुषी दार्शनिक स्त्रियों का प्रादुर्भाव हुआ जो राजा जनक के दरबार में ऋषियों से शास्त्रार्थ करती थी । उत्तर-रामचरित में अत्रेयी की कथा है, जो बाल्मीकि तथा अगस्त्य मुनि के आश्रम में लव और कुश के साथ वेदान्त का अध्ययन करती थी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों का समाज में पर्याप्त सम्मान था । उन्हें व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता थी । बालिकाओं के लिए उपनयन उतना ही अनिवार्य था जितना बालकों के लिए । अत: स्त्री-शिक्षा अनिवार्य थी । प्रधानत: अच्छे व सम्पन्न परिवारों की बालिकाएँ अनिवार्यत: वैदिक व साहित्यिक शिक्षा प्राप्त करती थीं । कालान्तर में पुरुष की प्रधानता होने पर स्त्रियों के सामाजिक स्तर पर प्रभाव पड़ने लगा । यह विश्वास जड़ पकड़ता जा रहा था कि स्त्रियाँ वैदिक शिक्षा के उपयुक्त नहीं हैं । वैदिक युग में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी, और कोई-कोई स्त्री तो आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर विद्याध्ययन करती थी; किन्तु उत्तर वैदिककाल के अन्तिम चरण में बाल-विवाह की प्रथा का प्रचलन हो गया । स्त्रियों में उपनयन के बन्धन भी शिथिल होते जा रहे थे । अत: स्त्री-शिक्षा का अनुपात भी कम होता जा रहा था । अब इस बात पर अधिक ध्यान दिया जा रहा था कि स्त्री को गृहलक्ष्मी होना चाहिए । गृहस्थ-कला में पटु अपने पति को सम्पन्न तथा सुखी बनाने के लिए ही स्त्री-जन्म का उद्देश्य समझा जाने लगा । इस विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों का प्रभाव घटने लगा । यह उचित समझा गया कि स्त्रियों के लिए वेद-अध्ययन और वेद-पाठ निषिद्ध कर दिया जाय, क्योंकि यह भय था कि वे वेद मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकतीं । अत: वेद मन्त्रों को अशुद्ध होने से बचाने के लिए यह अनिवार्य था कि स्त्रियाँ वेद न पढ़ें । साथ ही यह विश्वास भी लोगों के हृदयों में संस्कार जमाये हुए था कि यदि वेद मन्त्रों का किसी के द्वारा अशुद्ध उच्चारण किया जायगा तो वह परिवार या व्यक्ति नष्ट हो जायगा अथवा कोई अन्य दुर्भाग्य उस पर टूट पड़ेगा । अब तक तो संस्कृत भाषा ही साधारण बोलचाल की भाषा थी, जिसका वेदों तथा धर्म-ग्रन्थों में प्रयोग हुआ था, किन्तु इससे आगे दोनों भाषाओं में विभिन्नता आ गयी । साधारण जनता की भाषा पूर्णत: अपभ्रंश या 'प्राकृत' होती जा रही थी । ऐसी

अवस्था में शुद्ध उच्चारण की कठिनाई अवश्य ही उपस्थित हुई होगी। यही कारण था कि स्त्रियों का वेद-पाठ निषिद्ध कर दिया गया। किन्तु इसे समाज की उदासीनता ही कहा जा सकता है, क्योंकि यदि स्त्रियाँ उसी प्रकार से शिक्षा प्राप्त करती आतीं जैसा कि वैदिक अथवा उत्तर वैदिक काल के प्रारम्भ में था तो अवश्य ही वे शुद्ध उच्चारण में समर्थ हो सकती थीं, क्योंकि पुरुष और स्त्री की मानसिक योग्यता में समान सुअवसर मिलने पर कोई अन्तर नहीं आता। स्त्रियाँ अपनी प्रखर और कुशाग्र बुद्धि के लिए प्रारम्भ से ही विख्यात थीं। किन्तु इस भावना के विकसित हो जाने से कि स्त्रियाँ मानसिक योग्यताओं में पुरुषों की अपेक्षा हेय होती हैं, स्त्रियों की शिक्षा को बहुत आघात लगा और वे आगे आने वाली शताब्दियों के लिए भी अपने व्यक्तित्व के विकास से वंचित कर दी गयीं।

## औद्योगिक शिक्षा

**वर्णानुसार व्यवस्था**

प्रारम्भ से ही आर्यों ने यह अनुभव कर लिया था कि बिना कार्य का विभाजन किये हुए समाज का संतुलित विकास नहीं हो सकता। अतः उन्होंने सम्पूर्ण जाति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित कर दिया था। इन वर्णों का अस्तित्व श्रम-विभाजन के आधार पर हुआ और प्रत्येक वर्ण का कार्य निश्चित हो गया। यद्यपि प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था अधिक जटिल नहीं थी और एक वर्ण से दूसरे वर्ण में क्रमानुसार परिवर्तन भी हो सकता था, किन्तु आगे चलकर इनके कार्य नियत हो गये और वर्ण-व्यवस्था केवल रूढ़िवाद बनकर रह गयी।

(1) **ब्राह्मण**—जो वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना तथा कराना एवं विद्या का दान करते थे वे ब्राह्मण कहलाये। यद्यपि प्रारम्भ में तो ज्ञान ही ब्राह्मण होने का प्रतीक था और जन्म से ब्राह्मण नहीं होते थे, किन्तु ज्ञानी पुरोहितों द्वारा अपने पुत्रों को वैदिक शिक्षा देने की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार पिता के उपरान्त पुत्र के पुरोहित बनने से धीरे-धीरे पुरोहितवाद एक जाति के रूप में परिवर्तित हो गया, यद्यपि ऐसे ज्ञानी क्षत्रिय भी हुए जिन्होंने ऋषि या ब्राह्मणों की पदवी पायी। विदेह जनक, राजा अजात-शत्रु इत्यादि ऐसे ही उदाहरण हैं। ब्राह्मणों के वैदिक ज्ञान प्राप्त करने की परम्परा ने क्षत्रिय और वैश्यों की शिक्षा का उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर डाल दिया। इस उत्तरदायित्व के कारण समाज में उन्हें एक उच्च स्थान प्राप्त हो गया। वे सम्पूर्ण जाति के पथ-प्रदर्शक और प्रमुख शिक्षक बन गये। आगे चलकर इसी प्रमुखता ने ब्राह्मणों को समाज में प्रथम स्थान दिया और उनकी उपमा मस्तिष्क से दी जाने लगी। धर्म-कार्यों, जैसे, जन्म, उपनयन, विवाह व मृत्यु इत्यादि में पुरोहितों की उपस्थिति अनिवार्य हो गयी। इस प्रकार पुरोहितवाद एक पेशे या उद्यम के रूप में प्रस्फुटित हुआ। पुरोहित लोग अपनी सन्तान को पुरोहित-कार्य में निपुण व दीक्षित करने लगे और यही कर्म शताब्दियों तक ब्राह्मणों का प्रमुख उद्यम रहा। आधुनिक युग में भी इसके भग्नावशेष विद्यमान हैं।

(2) **क्षत्रिय**—यह कहा जा चुका है कि समय के साथ ही साथ क्षत्रियों और वैश्यों के लिए वेद का अध्ययन एक गौण बात हो गयी। वेद-वेदांगों तथा उपनिषदों से उनका साधारण परिचय भर उनके लिए पर्याप्त समझा गया। 500 ई० पू० में ही वेदांगों का विकास होने लगा और कानून व व्याकरण के स्कूल स्थापित होने लगे थे। सूत्र-युग में धर्मसूत्र और धर्मशास्त्र की रचना हुई जिनमें क्षत्रिय राजाओं के कर्तव्यों और अधिकारों का उल्लेख है। ये धर्मशास्त्र ही कानून ग्रन्थ एवं राजनीतिक ग्रन्थ थे। आगे चलकर नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र की रचना भी इन्हीं के आधार पर हुई। यद्यपि आपस्तम्भ, बुद्धायण एवं वशिष्ठ के धर्मसूत्रों में क्षत्रिय राजकुमारों के लिए अध्ययन-विषयों का उल्लेख नहीं है, किन्तु गौतम ने बताया है कि राजकुमार को 'तीन वेद तथा तर्कशास्त्र' का ज्ञाता होना चाहिए। वास्तव में क्षत्रियों का प्रमुख कर्म तो देश की सुरक्षा, आन्तरिक व्यवस्था और शासन-कार्य था। इस कार्य को योग्यतापूर्वक सम्पादित करने के लिए मानसिक शिक्षा की तो आवश्यकता थी ही किन्तु इससे भी अधिक आवश्यकता थी सैनिक-शिक्षा की। यही कारण था कि वैदिक शिक्षा के साथ ही साथ क्षत्रिय बालकों को अस्त्र-शस्त्र एवं युद्धकला की शिक्षा भी दी जाती थी। उनके जीवन का एक बड़ा भाग युद्धकला की ही शिक्षा में व्यतीत होता था। रामायण में दशरथ के पुत्रों को विद्यार्थी काल में सैनिक-शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है।[10] राम का कर्तव्य ही दुष्टों का दमन और दीनों का संरक्षण माना गया है। उन्होंने समय-समय पर बाली, कुम्भकर्ण व रावण इत्यादि का अपनी सैनिक योग्यता के द्वारा बध किया और धर्मराज्य की स्थापना की। महाभारत में तो हमें प्राचीन भारतीय युद्धकला अपने चरम विकास को पहुँची हुई मिलती है। यह महायुद्ध सम्भवतः संसार का सर्वप्रथम महायुद्ध था जिसमें इतने विशाल स्तर पर युद्ध किया गया हो। कौरवों व पाण्डवों को द्रोणाचार्य द्वारा सैनिक-शिक्षा दिये जाने का उल्लेख महाभारत में मिलता है। यह स्मरणीय है कि ब्राह्मण न केवल बौद्धिक शिक्षा में ही सिद्धहस्त थे, अपितु सैनिक-शिक्षा में भी बहुत से ब्राह्मण निपुण थे, जैसा कि परशुराम व गुरु द्रोणाचार्य के उदाहरणों से प्रतीत होता है। सैनिक-शिक्षा शूद्रों के लिए वर्जित थी, अथवा कम से कम इतना तो अवश्य था कि उच्च वर्ण के कहे जाने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय बालकों के साथ शूद्र बालकों को शिक्षा नहीं दी जाती थी।

सूत्र-युग में क्षत्रियों के कर्तव्य और अधिकारों का अच्छा विकास हुआ। फलतः क्षत्रिय शिक्षा भी विकसित हुई। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की रचना भी इसी काल में हुई जिसमें क्षत्रियों की शिक्षा के विषय में बहुत विशद् वर्णन है। चाणक्य ही तो नन्दवंश के उन्मूलन का कारण था। उसने चन्द्रगुप्त मौर्य नामक क्षत्रिय राजकुमार

10 पिता दशरथो दृष्ठो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा
ते चापि मनुज व्याघ्रा वैदिकाध्ययने रतः
पित शुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः।                    —बालकाण्ड अ० १८

को राजनीति, युद्धकला तथा शासन-कला में निपुण करके नन्द साम्राज्य के स्थान पर एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने के लिए उत्साहित किया था ।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में राजकुमारों की शिक्षा के लिए चार विज्ञानों का उल्लेख है—(1) अन्विक्षकी, अर्थात् सांख्य, योग तथा लोकायत का ज्ञान, (2) तीन वेद, (3) वार्ता, और (4) दण्डनीति । वार्ता में कृषि, पशु-पालन तथा व्यापार का ज्ञान कराया जाता था । उसी प्रकार दण्डनीति में शासन, कानून तथा राजनीति का ज्ञान सम्मिलित था । विशेष विद्याओं की शिक्षा के लिए विशेष समय भी नियुक्त थे, जैसे दोपहर से पूर्व सैनिक-शिक्षा, हाथी व घोड़े की सवारी, रथ चलाना तथा हथियार चलाना और दोपहर के उपरान्त इतिहास व पुराणों का अध्ययन व श्रवण । इतिहास में पुराण, आख्यायिका, इतिवृत्त, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सम्मिलित थे । कहानियों के रूप में राजनीतिक शिक्षा भी दी जाती थी जैसा कि पंचतन्त्र और हितोपदेश की आख्यायिकाओं से प्रकट होता है, अथवा आगे चलकर जातक कहानियों से स्पष्ट है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षत्रिय राजकुमार को व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता था जिसका उसके भावी जीवन के प्रमुख उद्यम से सम्बन्ध था । एक क्षत्रिय राजा के लिए अन्य तीन वर्णों के ज्ञान, उद्यम तथा शिक्षा-पद्धति से भी विज्ञ होना अनिवार्य था । राजकुमारों के अतिरिक्त साधारण क्षत्रिय जनता के लिए भी उपनयन आवश्यक था । वेद तथा उपनिषदों का अध्ययन उनके लिए उतना आवश्यक नहीं था जितना कि एक ब्राह्मण बालक के लिए था । सैनिक-शिक्षा अवश्य क्षत्रिय जनता के लिए अनिवार्य थी । अधिकतर क्षत्रियों का उद्यम सैनिक-उद्यम ही था, राजदरबारों में तथा सेनाओं में प्रविष्ट होकर ये लोग सुरक्षा तथा शासन-कार्य में क्षत्रिय राजाओं की सहायता करते थे । शिक्षा देने का कार्य तो ब्राह्मणों ने अपने लिए ही सुरक्षित कर लिया था और क्षत्रिय इत्यादि अन्य वर्णों के लिए उसे निषिद्ध कर दिया था । इस प्रकार समाज में उन्हीं का बौद्धिक एकाधिकार रहा; यहाँ तक कि क्षत्रिय कुमार के सिंहासनारूढ़ होने के उपरान्त भी उसे ब्राह्मणों का दास रहना पड़ता था और समय-समय पर ब्राह्मण उसकी शासन सम्बन्धी, धार्मिक, सामाजिक, आन्तरिक व व्यक्तिगत बातों में हस्तक्षेप करते देखे जाते थे । किन्तु साथ ही ऐसा देखने को भी मिलता है कि वैदिक शिक्षा के प्रारम्भिक दिनों में, जब तक कि वर्ण-व्यवस्था जटिल नहीं हुई थी, अब्राह्मण भी वैदिक विषयों का शिक्षण देते थे । ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में क्षत्रिय ऋषि विश्वामित्र के वंशजों द्वारा रचित मन्त्र पाये जाते हैं । इसी प्रकार उपनिषदों के दर्शन के विस्तार और व्याख्या करने में क्षत्रिय शिक्षकों का बड़ा हाथ था। यहाँ तक कि बहुत से ब्राह्मण-शिष्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय शिक्षकों या दार्शनिकों के पास जाया करते थे । इन शिक्षकों में अश्वपति, जनक तथा प्रवाहूरण, जैबलि के नाम उल्लेखनीय हैं । इसी प्रकार कुछ ब्राह्मणों द्वारा अवैदिक विषय के शिक्षक बनने

की प्रथा भी प्रचलित थी। अवैदिक विषयों में अधिकांशतः सैनिक-शिक्षा, औद्योगिक व व्यापारिक शिक्षा, चिकित्सा व सर्पदंश-चिकित्सा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(3) **वैश्य**—क्षत्रिय-शिक्षा के उपरान्त वैश्य तथा शूद्रों की शिक्षा का प्रश्न आता है। यह तो निर्विवाद है कि शिक्षा ही किसी व्यक्ति या वर्ग के भावी उद्यम का प्रश्न हल करती है। वैश्यों का प्रमुख उद्यम कृषि तथा व्यापार था, अतः उन्हें कृषि, पशु-पालन और व्यापार की शिक्षा दी जाती थी। वैश्यों की शिक्षा भी ब्राह्मणों के नियन्त्रण के अन्तर्गत थी। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की भाँति वैश्यों का भी उपनयन-संस्कार होता था। इसी के उपरान्त विद्यारम्भ होता था। उन्हें भी वेदों का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करना होता था; किन्तु जैसा कहा जा चुका है, उनका तो प्रधान उद्यम कृषि, पशु-पालन तथा व्यापार था, अतः उन्हें इनके व्यावहारिक ज्ञान की अधिक आवश्यकता थी। वेदाध्ययन उनके लिए गौण था। उन्हें तो अपने व्यवसाय के अनुरूप ही शिक्षण मिलना चाहिए था। अतः उनके लिए उसी की व्यवस्था थी। यह कहा गया है कि एक वैश्य को यह अभिलाषा कभी नहीं करनी चाहिए कि वह पशु कभी नहीं रखेगा। उसे हीरा-जवाहिरात का मूल्य, उनकी परख, सूत का ज्ञान, मसालों तथा सुगन्धियों का ज्ञान, खेत बोना, अच्छे-बुरे खेतों का ज्ञान, खाद का ज्ञान, नाप-तोल के बाँटों का ज्ञान तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में वस्तुओं में लाभ व हानि का ज्ञान अनिवार्य था। इस सम्बन्ध में उसे आर्थिक भूगोल एवं व्यापारिक भूगोल का भी अध्ययन करना होता था, तथा भिन्न-भिन्न देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए वहाँ की माँग व उत्पादित वस्तुओं की पूर्ति से परिचित होना पड़ता था। भिन्न-भिन्न भाषाओं का ज्ञान, मजदूरी देने के नियम तथा क्रय-विक्रय के नियम का ज्ञान एक वैश्य के लिए आवश्यक माना गया था। इस सम्पूर्ण ज्ञान के लिए गणित, साधारण भूगोल, आर्थिक तथा व्यापारिक भूगोल, कृषि विज्ञान तथा व्यापार-पद्धति का अध्ययन आवश्यक था। अधिकतर बालक यह ज्ञान व्यावहारिक रूप में अपने पिताओं से प्राप्त करते थे। वैदिक अध्ययन के लिए उन्हें पूर्वस्थित नियमित ब्राह्मण स्कूलों में ही अध्ययन करना पड़ता था। कृषि और व्यापार प्रायः अनुभव व अभ्यास से सीखे जाते थे।

(4) **शूद्र**—शूद्रों के लिए किसी उच्च शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। उनका तो प्रमुख उद्यम सेवा करना ही था तथापि उनकी शिक्षा बहुत कुछ वैश्यों से मिलती-जुलती थी। कृषि, गौ-पालन, पशु चराना, डेरी व्यवसाय तथा भिन्न-भिन्न कला-कौशल व हस्तकलाएँ इत्यादि शूद्र लोग भी सीखते थे। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास में शूद्रों का एक प्रमुख हाथ था। 'देवजन-विद्या' जिसमें आचार्य शंकर के अनुसार नृत्य, संगीत, वाद्य, सुगन्धि तथा वस्त्रों का रँगना इत्यादि विषय सम्मिलित थे, शूद्रों को पढ़ायी जाती थी। इसके अतिरिक्त कताई, बुनाई तथा वस्त्रों की छपाई का कार्य भी शूद्र ही करते थे। इन कार्यों के सीखने के लिए नियमित व्यावसायिक विद्यालय नहीं थे। ये तो घरेलू रूप से वंश-परम्पराओं द्वारा ही सीखी जाने वाली विद्याएँ

थीं। अस्त्र-शस्त्र बनाना, रथ बनाना, शिल्पकला, वास्तुकला तथा चित्रकला का कार्य भी अधिकतर वही वर्ग करता था जो शूद्र कहलाता था। इनको सिखाने वाले शिक्षकों का भी उल्लेख मिलता है। नारद स्वयं एक ऐसे शिक्षक थे। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ब्राह्मण भी लौकिक विषयों की शिक्षा देते हुए पाये जाते हैं। मछुए, सँपेरे तथा चिड़ीमार भी शूद्र कहलाते थे और वंश-परम्परागत पद्धति से अपनी कला को अपने पूर्वजों से प्राप्त करते थे।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्णों की भिन्न-भिन्न कार्य-व्यवस्थाएँ थीं। अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए सभी वर्ग राष्ट्र का निर्माण कर रहे थे। समाज के सर्वांगीण विकास के लिए आर्यों ने इस व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ माना था। इनके अतिरिक्त भी प्राचीन भारत में कुछ ऐसी विद्याएँ थीं जो तत्कालीन विश्व-इतिहास में अद्वितीय मानी जा सकती हैं। इनमें से कुछ प्रमुख विद्याओं का हम नीचे संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

**आयुर्वेद अथवा चिकित्साशास्त्र**

प्राचीन भारतीय विद्याओं में चिकित्साशास्त्र प्रमुख विद्या है। ऋग्वेद काल से ही इसका क्रमिक विकास प्रारम्भ हो गया था और सिकन्दर के आक्रमण के समय तक हम देखते हैं कि यह विद्या अपने चरम को पहुँच चुकी थी। जातक कथाओं में भी हमें चिकित्सा विज्ञान का उल्लेख मिलता है। तक्षशिला विश्वविद्यालय में बड़े-बड़े गम्भीर चीर-फाड़ सम्बन्धी कार्य तक किये जाते थे। यह शिक्षा प्रायः व्यक्तिगत शिक्षकों द्वारा दी जाती थी। संस्कृत का ज्ञान विद्यार्थी के लिए अनिवार्य था, क्योंकि आयुर्वेद के सभी ग्रन्थ इसी भाषा में थे। इस विज्ञान के विद्यार्थी का उपनयन भी अलग होता था, भले ही उसने अपने वर्ण के अनुसार पहले उपनयन करा लिया हो। यह उपनयन केवल उसी छात्र का हो सकता था जो पूर्ण स्वस्थ व उच्च चरित्र का हो; शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों, जैसे आँख, नाक, जिह्वा तथा दाँत इत्यादि स्वस्थ हों; नैतिक साहस, धैर्य, विनय, बुद्धि, उदारता, लगन, अध्यवसाय तथा कष्ट-सहिष्णुता इत्यादि अन्य गुण आयुर्वेद के एक विद्यार्थी के लिए आवश्यक थे। आधुनिक काल में भी एक पूर्व-परीक्षा (प्री-मेडीकल एक्जामिनेशन) होती है जिसके अनुसार चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थी के अन्दर इस व्यवसाय सम्बन्धी योग्यताओं के अस्तित्व की परीक्षा करने की चेष्टा की जाती है। किन्तु जब हम अपनी प्राचीन प्रणाली को देखते हैं तो हमें केवल आश्चर्य होता है कि किस प्रकार उन लोगों का ज्ञान पूर्णता को प्राप्त हो गया था। उन्होंने भलीभाँति जान लिया था कि एक चिकित्सक को पूर्ण स्वस्थ, सुन्दर तथा चरित्रवान् होना चाहिए। पीड़ित मानवता की सेवा के लिए उसके अन्दर सच्चाई, निर्लोभ, निष्काम सेवा तथा विनय होनी चाहिए। अपने विज्ञान में अनुसन्धान करने की क्षमता के लिए उसके अन्दर बुद्धि, अदम्य उत्साह, कल्पना, धैर्य तथा अध्यवसाय होना चाहिए। यही कारण था कि प्राचीन आयुर्वेद का इतना विकास हुआ। आधुनिक चिकित्साशास्त्र का विद्यार्थी केवल अपनी बुद्धि की परीक्षा देता है और अपने अन्य साथियों की अपेक्षा कुछ अंक अधिक पाने पर ही एक चिकित्सक बनने के योग्य समझा

लिया जाता है। इसका जीवन से क्या सम्बन्ध है ? इसमें आत्मा का पूर्ण अभाव है। केवल शास्त्र-ज्ञान को ही प्रधानता दी गयी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज हम बहुत से चिकित्सकों को पीड़ित मानवता की सेवा करते हुए नहीं, अपितु उसका शोषण करते हुए पाते हैं।

आयुर्वेद-उपनयन में चारों वर्णों के बालकों को दीक्षित किया जा सकता था। इस प्रकार दीक्षित विद्यार्थी को कुछ मर्यादाओं के लिए वचनबद्ध होना पड़ता था। उपनयन के उपरान्त विद्यारम्भ होता था। शिक्षक के द्वारा पदों और श्लोकों का धीरे-धीरे अध्ययन करके विद्यार्थी सम्पूर्ण आयुर्वेद ग्रन्थों को समाप्त कर डालते थे। इन ग्रन्थों को उन्हें न केवल कंठाग्र ही करना पड़ता था, अपितु उनका अर्थ भी समझना पड़ता था। केवल रटने वाले विद्यार्थी की सराहना नहीं की जाती थी।

आयुर्वेद का अध्ययन चिकित्सा विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं, जैसे रोग-निदान, औषधि, शल्य (सर्जरी), विष, सर्पदंश, रक्त-परीक्षा तथा अस्थि इत्यादि में होता था। एक विभाग के विद्यार्थी परामर्श तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य विभाग के आचार्यों के पास जाते थे। एक चिकित्सक के लिए 'बहुश्रुता' होना आवश्यक था; अर्थात् जब तक उसे अनेक विज्ञानों का बोध नहीं होता था तब तक उसे सफलता मिलना असम्भव था। सम्पूर्ण विज्ञानों को प्रधानतः 'शास्त्र' और 'प्रयोग' अर्थात् थ्योरी और प्रैक्टिस में विभाजित कर दिया गया था। दोनों का ज्ञान अनिवार्य था। केवल एक का ज्ञान रखने वाला तथा उसके द्वारा जनता में अपने अधूरे ज्ञान के द्वारा अभ्यास करने वाला व्यक्ति राज्य की ओर से दण्डित किया जाता था।

प्रोफेसर अलतेकर ने बताया है कि शल्य (सर्जरी) का शिक्षण किस प्रकार दिया जाता था। "प्रारम्भ करने वाले विद्यार्थियों को पहले तो यन्त्र और औजारों को पकड़ना और उनका प्रयोग बताया जाता था, जिनका प्रयोग वह खीरा, खरबूज तथा तरबूज पर शिक्षक के निरीक्षण के अन्तर्गत करते थे। 'छेदन-कार्य' मृतक पशुओं की रक्त-शिराओं पर करके विद्यार्थियों को दिखाया जाता था; छुरी पकड़ना सूखे अलाबू के फलों पर; चर्म-छीलन खाल के बालदार सूखे टुकड़ों पर; सीना चमड़े तथा कपड़े के पतले टुकड़ों पर; पट्टी बाँधना भूसा भरी हुई मनुष्य की आकृतियों पर तथा जलाने वाली रसायन का प्रयोग मांस के कोमल टुकड़ों पर करके सिखाया जाता था। इस प्रकार नवीन विद्यार्थी को वास्तविक रोगों तक धीरे-धीरे लाया जाता था और घाव में से छुरी खींचने, घाव साफ करने तथा शरीर के रुग्ण भाग को चाकू द्वारा छेदने या काटने की आज्ञा दी जाती थी।"[11] केवल पुस्तक के द्वारा ही शल्य-शास्त्र का ज्ञान पर्याप्त नहीं था, अतः मृतक मानव-शरीरों को चीर-फाड़कर देखा जाता था। सुश्रुता में इसका वर्णन देखने को मिलता है। कालान्तर में बौद्ध तथा जैन धर्म का भारत में प्रचार हो जाने से शल्य विद्या को बहुत आघात लगा और क्रमशः

[11] Dr. A. S. Altekar : *Education in Ancient India*, Nand Kishore & Bros., Varanasi (1948), p. 186.

इसका पतन हो गया, क्योंकि अहिंसा धर्म के अनुयायी इस कार्य से घृणा करते थे। वैसे तो इसका अध्ययन विद्यार्थी व्यक्तिगत शिक्षकों के साथ करते थे, किन्तु कुछ ऐसे शिक्षा केन्द्रों के भी उदाहरण हैं जहाँ आयुर्वेद तथा चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी और जिनसे बड़े-बड़े चिकित्सालय सम्बन्धित थे। पाटलिपुत्र में एक ऐसा चिकित्सालय था जहाँ विद्यार्थी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते थे। तक्षशिला का उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है।

आयुर्वेद का शिक्षा-काल प्रायः दीर्घ था। अधिकतर विद्यार्थी आयुर्वेद का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते थे, किन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ कुछ विद्यार्थी विशेष रोगों में विशेष योग्यता प्राप्त करके प्रधानतः उन्हीं के चिकित्सक बनते थे, शिक्षा-काल के उपरान्त परीक्षा होती थी। अयोग्य चिकित्सकों को राज्य की ओर से चिकित्सा करने का निषेध था। इसके लिए जिसके पास सम्राट की ओर से आज्ञापत्र होता था वही व्यक्ति उस उद्यम को कर सकता था।

इस प्रकार प्राचीन भारत में चिकित्साशास्त्र की पर्याप्त उन्नति हुई। विद्यार्थी के समक्ष निष्काम सेवा का महान् आदर्श था। दीक्षान्त भाषण या 'समावर्तन' के समय आचार्य अपने शिष्यों को इसी उद्यम सम्बन्धी महान् आदर्शों से प्रेरित करके समाज के समक्ष भेजते थे। चिकित्सकों का ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। विदेशों तक में उनकी कीर्ति थी। 8 वीं शताब्दी में तो अरब के खलीफा ने भारतीय चिकित्सकों को अपने यहाँ निमन्त्रित किया था और वहाँ के राज्य चिकित्सालय में शिक्षण-कार्य के लिए रखा था। "खलीफा हारून ने हिन्दू चिकित्सा और औषधि का अध्ययन करने के लिए अनेक विद्यार्थियों को भारत भेजा था तथा लगभग 20 चिकित्सकों को बगदाद जाने के लिए और वहाँ जाकर राज्य चिकित्सालयों में प्रमुख चिकित्सा अधिकारी के पदों पर कार्य करने और संस्कृत के आयुर्वेद ग्रन्थों को अरबी भाषा में अनुवाद करने के लिए आमन्त्रित किया था।"[12] माणिक्य इनमें सर्वविख्यात था।

चरक, सुश्रुता तथा धन्वन्तरि अन्य महान् आयुर्वेदाचार्य थे जिनके विषय में यह ख्याति थी कि ऐसा कोई रोग नहीं था जिसकी चिकित्सा ये न कर सकते थे। संक्षेप में, प्राचीन भारतीय चिकित्साशास्त्र एक विकसित उपयोगी विज्ञान था जिसके लिए भारत अभिमान कर सकता है।

**पशु-चिकित्सा**

मनुष्य-चिकित्सा के अतिरिक्त भारत में पशु-चिकित्सा की शिक्षा का भी विकास हुआ। सालिहोत्र को इसका जन्मदाता माना जाता है। अश्व-रोगों तथा चिकित्सा में पाण्डव-बन्धु नकुल और सहदेव भी दक्ष माने जाते थे। भारत प्राचीन काल से ही एक कृषि-प्रधान देश रहा है और कृषि भी यहाँ छोटे स्तर पर पशुओं के द्वारा होती रही है; अतः पशुओं के रोगों और उनके निवारण का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य था। इतना ही

[12] *Ibid*, p. 89.

नहीं, सम्राटों के यहाँ अश्व व गज सेनाएँ रहती थीं। इन पशुओं के रोगों की चिकित्सा करने के लिए कुछ पशु-चिकित्सकों को शिक्षण देना भी आवश्यक हो गया। अतः इस विज्ञान का विकास हुआ। किन्तु इनकी शिक्षा देने के नियमित विद्यालयों का उल्लेख नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि परम्परागत ज्ञान को व्यावहारिक शिक्षा द्वारा निपुण व्यक्तियों की शिष्यता में रहकर ही विद्यार्थी इसे सीखते होंगे।

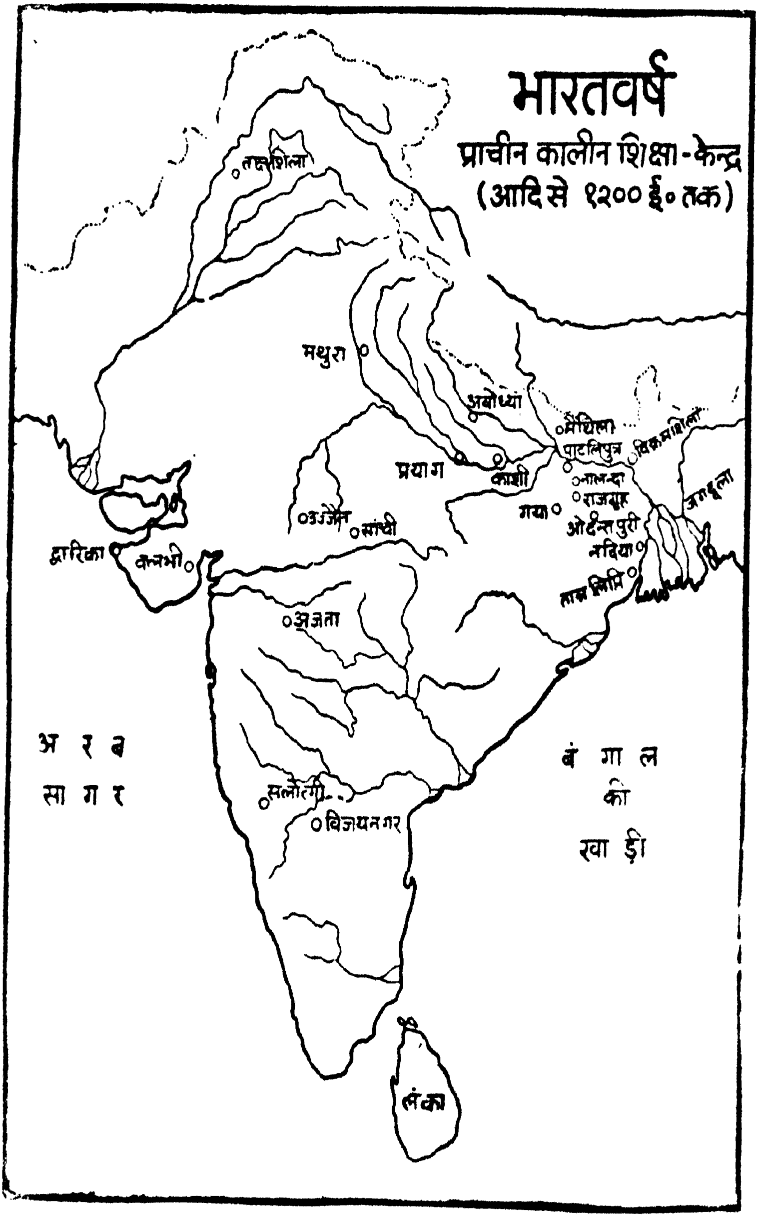
### सैनिक-शिक्षा

सैनिक विज्ञान 'धनुर्वेद' के नाम से पुकारा जाता था। वशिष्ठ-रचित धनुर्वेद-संहिता के अनुसार एक सैनिक विद्यार्थी द्वारा उपनयन-संस्कार सम्पादित किया जाता था जिसे एक अस्त्र दिया जाता था; उसी समय एक वेद-मन्त्र का उच्चारण किया जाता था। विशेषतः क्षत्रिय लोग ही इस विद्या में निपुण किये जाते थे, यद्यपि ब्राह्मण और शूद्रों के द्वारा इसे सीखे जाने के उदाहरण भी हैं। आचार्य का कार्य तो प्रायः ब्राह्मण ही करते थे, किन्तु अब्राह्मण भी सैनिक-शास्त्र के शिक्षक थे। प्रारम्भिक वैदिक काल में युद्ध विज्ञान व युद्धकला की अच्छी उन्नति हुई, क्योंकि जब आर्यों को द्रविणों से युद्ध करना पड़ा था उस समय युद्ध में प्रयोग होने वाले अस्त्र-शस्त्र प्रायः धनुष-बाण, तलवार, गदा, ढाल तथा भाला इत्यादि थे। रथ-युद्ध का बहुत प्रचार था। महाभारत काल में तो युद्धकला के विकास की पराकाष्ठा ही हो गयी। महाभारत में ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन मिलता है जो आधुनिक काल के विश्व-विनाशकारी अणुबम इत्यादि से मिलते-जुलते हैं। राम-रावण युद्ध में भी अनेक विचित्र अस्त्रों के उपयोग का उल्लेख है। उपनिषदों में युद्ध-पोत का भी वर्णन मिलता है।

प्राचीन काल में सैनिक-शिक्षा न केवल राज्य के द्वारा ही दी जाती थी, अपितु व्यक्तिगत रूप से भी दी जाती थी। प्रायः प्रत्येक गाँव में इसके शिक्षण-शिविर होते थे जहाँ ग्रामीणों को आत्मरक्षा के लिए शिक्षित किया जाता था। ऐसा भारत के विभिन्न भागों में होता था। इसके अतिरिक्त कुछ नियमित केन्द्र भी थे जहाँ सैनिक-शिक्षा दी जाती थी। भारत की सीमा पर स्थित तक्षशिला एक ऐसा नगर था जहाँ भिन्न-भिन्न भागों से एकत्रित होकर विद्यार्थी सैनिक-शिक्षा प्राप्त करते थे। सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त देश में सैनिक-शिक्षा का एक नया रूप प्रारम्भ हुआ। कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से संगठित सैनिक शिक्षालय चलाने लगे। वे राजाओं को आवश्यकतानुसार युद्ध में सैनिक देते थे और भेंट में भूमि, धन तथा अश्व प्राप्त करते थे। राजा लोग अपने राजकुमारों को सुदूर-केन्द्रों में शिक्षा के लिए भेजते थे। वहाँ शिक्षकों द्वारा, जो भिन्न-भिन्न भागों से निमन्त्रित किये जाते थे, सैनिक-शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार प्राचीन काल में सैनिक-शिक्षा का आदर्श बहुत ऊँचा था। एक सुसंगठित उद्यम तथा देश-रक्षा के एक शक्तिवान् साधन के रूप में प्राचीनकालीन सैनिक-शिक्षा देश के लिए अत्यन्त हितकारी थी।

### ललित कलाएँ एवं हस्तकलाएँ

नृत्य, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, शिल्पकला, लकड़ी का काम तथा लोहारी


भारतवर्ष
प्राचीन कालीन शिक्षा-केन्द्र
(आदि से १२०० ई० तक)
तक्षशिला
मथुरा
अयोध्या
मैथिला
पाटलिपुत्र
विक्रमशिला
प्रयाग
काशी
नालन्दा
राजगृह
गया
ओदन्तपुरी
नदिया
जगद्दला
ताम्रलिप्ति
उज्जैन
सांची
द्वारिका
वल्लभी
अजन्ता
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
सल्लोतगी
विजयनगर
लंका

इत्यादि कुछ ऐसी कलाएँ थीं जिनके द्वारा देश की जनसंख्या का बड़ा भाग जीविका कमाता था। प्राचीन भारत की ये कलाएँ आज भी विश्वविख्यात हैं। प्रारम्भिक वैदिक युग में हस्तकलाओं और कृषि का बड़ा सम्मान होता था। आर्यों का प्रमुख उद्यम कृषि ही था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में ऐसे मन्त्र हैं जिनके द्वारा कृषि के सम्पन्न होने, उचित जल-वृष्टि होने तथा अनुकूल ऋतुएँ होने की प्रार्थना की गयी है। कालान्तर में जातिवाद के जटिल हो जाने से ये कलाएँ हेय समझी जाने लगीं और इनकी शिक्षा केवल शूद्रों को ही दी गयी। वैश्य और शूद्र जो इन कलाओं को सीखते तथा इनके द्वारा जीविकोपार्जन करते थे, निम्न वर्ण के माने जाने लगे। उच्च वर्ग के लोग इनके कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे और हाथ से कार्य करना भी हेय समझा जाने लगा, यहाँ तक कि उचित संरक्षण के अभाव में भारतीय ललित कलाओं तथा जनोपयोगी हस्तकार्यों का पतन होने लगा।

इन कलाओं की शिक्षा प्रायः सुसंगठित व नियमित विद्यालयों द्वारा नहीं दी जाती थी। विद्यार्थी किसी ऐसे व्यक्ति के पास, जो इस उद्यम को करता चला आ रहा है, कुछ दिनों तक शिष्यता स्वीकार करता था और इस प्रकार व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करके कुशलता प्राप्त करता था। अधिकांश में ये कलाएँ जातिगत हो गयीं और इनकी शिक्षा पिता के द्वारा पुत्र को दी जाने लगी। गाँव-गाँव में शिल्पकार, चर्मकार, बढ़ई, लोहार व स्वर्णकार रहते थे जो समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। आज भी भारतीय गाँवों में ये सामाजिक संगठन जीवित हैं, क्योंकि वर्तमान काल में भी ग्राम प्रायः कृषि पर उतने ही अवलम्बित हैं जितने प्राचीन काल में थे। बढ़ई, चमार, लोहार, कुम्हार व धोबी इत्यादि के उद्यम तो कृषि-कार्य के सहायक उद्यम थे, अतः ये परम्परागत शताब्दियों से जीवित हैं, यद्यपि अब इनके अन्दर कला व निपुणता की इतनी उत्तमता नहीं रही जितनी प्राचीन भारत में थी।

ऋग्वेद काल में उद्यम जाति या वर्ण के ऊपर निर्भर नहीं थे। उस समय तो शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक था, किन्तु यह धार्मिक या दार्शनिक स्वरूप केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए था जो वास्तविक संसार की समस्याओं से ऊँचे उठकर एक दिव्य कल्पना लोक में निवास कर सकते थे; किन्तु जनसाधारण के लिए शिक्षा का उद्देश्य यह नहीं था। जनसाधारण तो उस समय भी समाज की भौतिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील था। आर्थिक जीवन के निर्माण के लिए उस समय भी पर्याप्त लौकिक शिक्षा थी। ऋग्वेद युग "राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों, जैसे आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक उन्नति के लिए विख्यात है, तथा सभ्य जीवन की कला, कारीगरी, कृषि, व्यवसाय तथा व्यापार के लिए प्रसिद्ध है।" इससे प्रकट होता है कि अवश्य उस समय सब प्रकार की औद्योगिक, वैज्ञानिक और व्यापारिक शिक्षा की व्यवस्था रही होगी। वास्तव में, इन कलाओं और व्यवसायों के विकास के फलस्वरूप ही वर्ण-व्यवस्था का श्रम-विभाजन के रूप में जन्म हुआ। यहाँ तक कि उच्च अवस्था पर पहुंचे हुए ऋषि भी यह नहीं चाहते थे कि अपने सम्पूर्ण परिवार को धार्मिक वृत्ति अपनाने को बाध्य

करें। केवल अधिकारी ही धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके समाज का पथ-प्रदर्शन करते थे। शेष जो उसमें अयोग्य होते, वे हल तथा करघा पर कार्य करने भेज दिये जाते थे। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में 'वणिज' और 'वाणिज्य' शब्द भी मिलते हैं। इससे आभास होता है कि उस समय देश के आर्थिक निर्माण के लिए वाणिज्य की शिक्षा भी दी जाती थी, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

उत्तर वैदिक काल में कलाओं और हस्तकलाओं के चुनने का कार्य स्वतन्त्र था, यदि बालक के अभिभावक अपनी अनुमति दे दें। भारतीय शिक्षा का आधार उसकी दार्शनिक उच्चता है और प्रधानतः आर्थिक या भौतिक उन्नति को कभी भी अन्तिम उद्देश्य नहीं माना गया, अपितु उसे अन्तिम उद्देश्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने में एक साधन माना गया। अतएव उत्तर वैदिक काल में भी लोगों की अन्तर्प्रवृत्ति आध्यात्मिक बनी रही। इसका प्रभाव तत्कालीन शिल्पकला तथा मूर्तिकला पर भी पड़ा। धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर कलाकारों ने उच्च कोटि की कला का प्रदर्शन किया और कला की वह अमर सृष्टि की जिसके लिए भारत प्राचीन काल से सभ्य संसार की ईर्ष्या का कारण बना रहा। कलाकारों ने कला को भी आराधना के रूप में माना था।

इन कलाओं की शिक्षा का कार्य, जैसा कहा जा चुका है, अधिकतर कारीगरों के कार्यालयों में उन्हीं के संरक्षण में होता था। इसके अतिरिक्त सामूहिक रूप से भी 'श्रेणी' नामक संस्थाओं द्वारा कलाएँ सिखायी जाती थीं। भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लिए भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ थीं।[13] स्मृतियों में कृषक श्रेणी, ग्वाल श्रेणी, व्यापारी महाजन श्रेणी, कारीगर श्रेणी, जिसमें वृहस्पति ने कलाकार अथवा चित्रकार श्रेणी को भी सम्मिलित कर लिया है, तथा नृत्यकार श्रेणी का उल्लेख है। ये ही सब मिलाकर कला और कारीगरी के विद्यालय थे और कुटीर-उद्योगों के रूप में कार्य करते थे। इन्हीं श्रेणियों में कारीगरी के विद्यार्थियों को प्रारम्भिक ज्ञान प्रदान किया जाता था।

इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्य में 64 कलाओं का भी उल्लेख है। भागवत पुराण, रामायण, महाभाष्य तथा कामसूत्र इत्यादि ग्रन्थों में इन 64 कलाओं के नाम आये हैं। इसके अतिरिक्त माघ, वामन और भवभूति ने भी इनका उल्लेख किया है। जैन और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में भी ललित-विस्तार, जातक माला, कल्पसूत्र, औपपातिक सूत्र अर्थात् प्रश्न-व्याकरण सूत्र में भी इन कलाओं के विषय में कहा गया है। इन कलाओं में प्रमुख नृत्य, संगीत, शृंगार, चित्रकला, अभिनय तथा मूर्तिकला इत्यादि एवं बहुत-सी हस्तकलाएँ; जैसे, कातना, बुनना, नौका-निर्माण, रथ-निर्माण, स्वर्ण-कार्य, चर्म-कार्य, काष्ठ-कार्य, सीना, धोना, हल चलाना इत्यादि हैं।

पाली साहित्य के अनुसार 18 कलाएँ (सिप्प) मानी गयी हैं। मिलिन्दपान्ह के अनुसार "पवित्र ज्ञान, कानून, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, गणित, संगीत, भिषग, चार वेद, पुराण, इतिहास, ज्योतिष, तन्त्र, हेतुविद्या, सैनिक-शिक्षा तथा काव्य इत्यादि 19 सिप्पों

13 "एकेनशिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहाः श्रेणी" —पाणिनि।

(शिल्पों) का उल्लेख है।" मौर्यकालीन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी तत्कालीन कलाओं का प्रामाणिक उल्लेख है। चाणक्य ने बताया है कि भिन्न-भिन्न व्यवसायों के विभागों के अध्यक्ष होते थे। सभी कलाओं और हस्तकलाओं के लिए केन्द्रीय नियन्त्रण की व्यवस्था थी। एक कोषाध्यक्ष होता था जो 'रत्न-परीक्षा' नामक कला से सम्बन्धित था। यह मोती, मूंगा, सीप, शंख, हीरा तथा जवाहिरात का कार्य करता था। इसके अतिरिक्त चन्दन की लकड़ी का व्यापार, चमड़े का व्यापार, ऊन का व्यापार तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के सूती और रेशमी वस्त्रों, जैसे "दुकूल क्षौम (मोटा कपड़ा), कौसेय (रेशम) तथा चीन पट्ट" इत्यादि का व्यापार भी होता था। धातु-व्यवसाय का नियन्त्रण खानों के अध्यक्ष 'आकराध्यक्ष' द्वारा होता था। यह व्यक्ति धातु, जैसे ताँबा, पारद इत्यादि सुलभ धातु-शास्त्र का विशेषज्ञ होता था। इस अध्यक्ष की सहायता के लिए उपकरण-सम्पन्न निपुण सहायक होते थे। धातु तथा खान की इस युग में बहुत उन्नति हुई। इसके अतिरिक्त 'लोहाध्यक्ष' होता था जो ताँबा, सीसा, लोहा, टीन, पारद, पीतल, जस्ता तथा काँसा इत्यादि धातुओं का निरीक्षण करता था। यह आकराध्यक्ष के नीचे कार्य करता था। समुद्री खानों से मोती, मूंगा तथा मूल्यवान पत्थर और नमक निकालने का कार्य भी इस युग में होता था। नमक के लिए एक अलग विभाग राज्य के अन्तर्गत था। स्वर्ण तथा चाँदी के व्यवसाय के लिए भी राज्य की ओर से निरीक्षक होता था। इसके अतिरिक्त कृषि संचालक या नौकाध्यक्ष जल-यातायात के मार्गों का नियन्त्रण करता था तथा राज्य की ओर से कर इत्यादि वसूल करने, जलयानों को किराये पर उठाने, मछली पकड़ने इत्यादि की व्यवस्था करता था। जुआ भी एक कला समझा जाता था जो सीधा राज्य के नियन्त्रण में था, जिसका निरीक्षण 'द्यूताध्यक्ष' करता था। इस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तत्कालीन आर्थिक विकास तथा कलाओं और हस्तकलाओं का विशद् चित्रण मिलता है। इससे हमें यह भी ज्ञात होता है कि जनोपयोगी व्यवसायों में राज्य का नियन्त्रण बढ़ गया था।

**उपसंहार**

इस प्रकार कलाकौशल की शिक्षा प्राचीन भारत में एक लाभदायक और उपयोगी व्यावसायिक शिक्षा थी। पिता के द्वारा पुत्र को व्यावहारिक व प्रत्यक्ष शिक्षा दिये जाने में शुष्क कृत्रिमता और कक्षा का आडम्बर नहीं था। अपने सम्पूर्ण उत्साह और स्नेह के साथ पिता, जो कुछ उसे आता था, अपने पुत्र को बिना छिपाये बताता था। इसके अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति कलाकौशल में भी लोग धार्मिक व आध्यात्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करते थे। उस कार्य के साथ न केवल उनके आर्थिक स्वार्थ ही रहते थे अपितु हृदय की अनुभूति भी रहती थी। वस्तुतः कला में कलाकार अपनी आत्मा की झलक देखता था। यही कारण है कि भारतीय कला का अतीत आज भी इतिहास के पृष्ठों में जगमगा रहा है। भारतीय कलाकारों व शिल्पकारों ने संसार को वह अमर कृतियाँ भेंट की हैं जो विश्व के अतीत, वर्तमान व भविष्य की अमूल्य निधि-स्वरूप हैं। कालान्तर में जो सांस्कृतिक

उन्नति भारत ने की उसकी आधारशिला उत्तर वैदिक शिक्षा-कला में रखी जा चुकी थी।

## सारांश

**उत्तर वैदिककालीन शिक्षा—वैदिक काल में तो पुरोहितवाद का जोर बढ़ रहा था किन्तु उत्तर वैदिक काल में जीवन-दर्शन के सूक्ष्म व गहनतम तत्त्वों का विश्लेषण किया जाने लगा। उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण इत्यादि रचनाएँ इसी युग की उपज हैं। इस युग में शिक्षा का प्रचार शाखा, चरण, परिषद्, कुल व गोत्र इत्यादि संस्थाओं के द्वारा हुआ।**

**उत्तर वैदिक काल में शिक्षा का प्रसार और भी अधिक हुआ। देश भर में ये संस्थाएँ फैल गयीं। प्रमुख स्थानों, प्रायः वनों में प्रसिद्ध आश्रम स्थापित हो गये, जो कालान्तर में शिक्षा केन्द्र बन गये।**

**शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा प्राप्त करना ही नहीं था अपितु शिक्षा के द्वारा पूर्ण-ब्रह्म या 'ब्रह्मवर्चस' को प्राप्त करना था। अब यज्ञ के स्थान पर 'स्वाध्याय' पर अधिक बल दिया जाने लगा। एकान्त स्थान में बैठकर विद्यार्थी वेद, वेदांग, आरण्यक, उपनिषद्, इतिहास व पुराण इत्यादि का अध्ययन करते थे।**

**शिक्षक का महत्त्व प्रायः उतना ही था जितना कि वेद काल में था। गुरु विद्यार्थी का आध्यात्मिक पिता माना जाता था। उपनयन-संस्कार के उपरान्त विद्यार्थी गुरु-गृह पर उसकी सेवा करते हुए विद्याध्ययन करता था। विद्यारम्भ 12 वर्ष की आयु में होता था, उस समय ही उपनयन-संस्कार पूर्ण किया जाता था। लगभग 25 वर्ष की आयु तक विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए विद्याध्ययन करना होता था। अध्ययन की समाप्ति पर 'समावर्तन' संस्कार की रस्म पूरी की जाती थी।**

**शिष्य-गुरु सम्बन्धों की पवित्रता वैसी ही थी जैसी वेद काल में थी। विद्यार्थी 'आचार्यकुलवासी' कहलाता था। गुरु के लिए भिक्षान्न, ईंधन तथा जल लाना, गुरु की गायें चराना, सफाई तथा अन्य सेवा करना उसका कर्तव्य था और विद्या प्राप्त कर सकने की उसकी पात्रता का द्योतक था। राजकुमार अथवा धनिक विद्यार्थी गुरुओं की आर्थिक सहायता भी करते थे।**

**इसी प्रकार गुरु भी शिष्यों के प्रति पितृ-तुल्य स्नेहमय व्यवहार करते थे।**

**उत्तर वैदिक शिक्षा-प्रणाली में शिष्य प्रमुख था। स्वाध्याय, शास्त्रार्थ, प्रश्नोत्तर, उपदेश या भाषण, मनन व चिन्तन इत्यादि शिक्षण की विधियाँ थीं। श्रवण, मनन व निदिध्यासन तीन प्रमुख पद्धतियों का वर्णन बृहदारण्यक में मिलता है।**

**गुरु-गृह, परिषद व सम्मेलन तीन प्रमुख शिक्षा-संस्थाओं के रूप थे जिनके द्वारा ज्ञान विकीर्ण किया जाता था।**

**सूत्रकालीन शिक्षा—उत्तर वैदिककालीन शिक्षा-प्रणाली में सूत्र-साहित्य की भी अपनी विशेषता है। यह युग 600 ई० पू० से 200 ई० पू० तक रहा। उपनिषद् इत्यादि में वर्णित विशाल ज्ञान-राशि को संक्षिप्त रूप में कंठस्थ करने योग्य बनाने के**

लिए छोटे-छोटे सूत्रों की रचना की गयी और बड़े-बड़े गूढ़ विषयों को इन्हीं सूत्रों में पिरो दिया गया। तत्कालीन शिक्षा का उल्लेख धर्म-सूत्रों में किया गया। श्रौत सूत्र, गृह सूत्र, धर्म सूत्र तथा सुल्व सूत्र के रूप में इस साहित्य का सृजन हुआ। इस युग की शिक्षा की विशेषता है विभिन्न विषयों में विद्यार्थियों का विशिष्टीकरण प्राप्त करना। रेखागणित, बीजगणित, ज्योतिष, व्याकरण एवं न्यायशास्त्र व मीमांसा का इस युग में पर्याप्त विकास हुआ। आध्यात्मिक जीवन के साथ ही साथ भौतिक जीवन भी विकसित करने की व्यवस्था तत्कालीन शिक्षा-पद्धति में थी। नृत्य, संगीत व अर्थशास्त्र एवं कलाकौशल का विकास भी इस युग की शिक्षा-प्रणाली की एक विशेष देन है।

दर्शनशास्त्र का चरम विकास भी सूत्रकालीन साहित्य की विशेषता है। दर्शन की इस युग में छह प्रमुख शाखाएँ विकसित हुईं—(1) सांख्य, (2) योग, (3) न्याय, (4) वैशेषिक, (5) कर्म या पूर्व-मीमांसा, तथा (6) वेदान्त या उत्तर-मीमांसा।

महाकाव्यों में शिक्षा—रामायण व महाभारत प्रमुख महाकाव्य हैं। इस युग में शिक्षा-व्यवस्था का वर्णानुसार विकास हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी वर्णों के लिए विशिष्ट शिक्षा पाठ्यक्रम की व्यवस्था की गयी। सम्पूर्ण उत्तर वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा वैदिक काल की अपेक्षा कम हो गयी, क्योंकि इस युग में आकर शूद्र व स्त्रियों के लिए वेद-पाठ का उत्तरोत्तर निषेध किया जाने लगा था। जो स्त्रियाँ 'शिक्षिका' का कार्य करती थीं उन्हें ब्रह्मवादिनी व सद्योवधू के नाम से पुकारा जाता था। वे उपाध्याया व आचार्या कहलाती थीं। शिक्षा-प्रणाली में पुरुषों व स्त्रियों के लिए कोई भेद नहीं था।

औद्योगिक शिक्षा का भी इस युग में पर्याप्त विकास हुआ जिसकी व्यवस्था अधिकांशतः शूद्रों के लिए थी। आयुर्वेद, पशु-चिकित्सा, सैनिक-शिक्षा, ललित कलाएँ व हस्तकलाएँ भी धार्मिक शिक्षा के साथ ही साथ विशिष्ट विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-क्रम में सम्मिलित थीं। कलाकौशल की शिक्षा अधिकांश में कारीगर लोग अपने पुत्रों को देते थे, जो उनकी एक वंश-परम्परा बन गयी। इस प्रकार उत्तर वैदिक शिक्षा में आध्यात्मिक व लौकिक शिक्षा का समन्वय स्थापित करके उसे जीवन के लिए अधिक उपयुक्त बनाने का प्रयास किया गया था।

# 3

# ब्राह्मणीय शिक्षा का सिंहावलोकन

**उद्देश्य**

शिक्षा ही किसी राष्ट्र की आन्तरिक उन्नति का दर्पण है। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्राचीन संस्कृति की द्योतक है। भारत के वनों और काननों में जिस संस्कृति का सृजन हुआ, आज भी उसका प्रतिबिम्ब विश्व के समक्ष आलोक-स्तम्भ की भाँति दीप्त हो रहा है। शिक्षा का उद्देश्य यहाँ सदा से 'आलोक का साधन' रहा है, जो हमें जीवन के पथ पर आगे ले जाता है। आध्यात्मिक मुक्ति और सांसारिक सम्पन्नता दोनों के लिए ही ब्राह्मणीय शिक्षा का विकास हुआ था। वैदिक आचार्यों ने बहुत पहले ही इस बात को जान लिया था कि 'विद्यातु वैदुष्वमुपार्जयन्ती जागर्ति लोकद्वय साधनाय' अथवा 'विद्याविहीनः पशुः' होता है।[1] अतएव उन्होंने शिक्षा को व्यापक बनाया और जीवन के प्रत्येक अंग से उसे सम्बन्धित कर दिया। वस्तुतः शिक्षा का पूर्ण उद्देश्य मानव-जीवन का सर्वांगीण अर्थात् शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास था। यद्यपि ब्राह्मणीय शिक्षा प्रधानतः धार्मिक थी, किन्तु इसमें लौकिक पक्ष की भी अवहेलना नहीं की गयी थी। अथर्ववेद तो ऐसी शिक्षा के उदाहरणों से पूर्ण है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि पवित्रता का प्रसार, हृदय-शोधन, चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिकता तथा सामाजिकता का ज्ञान, राष्ट्रीय संस्कृति की सुरक्षा तथा भौतिक उन्नति—यही ब्राह्मणीय शिक्षा के मुख्य उद्देश्य थे। ब्राह्मणीय शिक्षा की विशेषताओं को भलीभाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके सिद्धान्त, शिक्षा-पद्धति, शिष्य-गुरु सम्बन्ध, पाठ्य-वस्तु तथा सफलता और असफलताओं पर क्रमशः संक्षेप में एक विहंगम दृष्टि और डाल लें।

**शिक्षा-सिद्धान्त**

प्राचीन शिक्षा के सिद्धान्त नियमित रूप से किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलते। बिखरे हुए विशाल साहित्य-समूह से छाँटकर केवल उनसे निष्कर्ष निकालकर ही हम

1 शुनः पुच्छमिव व्यर्थंजीवितं विद्यया विना।
न गुह्य गोपने शक्तं न च दंश निवारणे॥ —सुभाषित-रत्न-भण्डार ३१।१८

उन्हें सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित कर सकते हैं। संक्षेप में, हम उन्हें इस प्रकार दे सकते हैं :

(1) प्रथमतः, शिक्षा बालक को पूर्ण जीवन के लिए तैयार करती थी। सामूहिक शिक्षा का अधिक प्रचार नहीं था, अतएव विद्यार्थी पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। इससे उसके सम्पूर्ण अन्तर्निहित गुणों का विकास हो जाता था और इस प्रकार शिक्षा जीवन के लिए उपयोगी प्रमाणित होती थी। शिक्षा-प्रणाली केवल पुस्तकीय ही नहीं थी, अपितु वह भावी जीवन के संघर्ष के लिए व्यावहारिक और प्रयोगात्मक ज्ञान प्रदान करती थी।

(2) दूसरे, जो व्यक्ति शिक्षा के अधिकारी होते थे वे अपनी रुचि और योग्यतानुसार शिक्षित किये जाते थे। उपनयन-संस्कार स्त्री-पुरुष सभी के लिए अनिवार्य था। अतः शिक्षा का रूप व्यापक था। ऋषियों के ऋण से मुक्त होने का एकमात्र साधन विद्या प्राप्त करना था। अतएव विद्या प्राप्त करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य था।

(3) इसके अतिरिक्त बाह्याभ्यान्तर विनय का सिद्धान्त शिक्षा की योग्यता के लिए एक ब्रह्मचारी के अन्दर होना आवश्यक था। विद्यार्थी-काल में बालक को कठिन ब्रह्मचर्य से रहना पड़ता था। विद्यार्थी-जीवन वास्तव में एक कठिन तपस्या-काल था जिसमें विद्यार्थी के लिए सुख का पूर्ण निषेध था। वह एक कठोर जीवन बिताने के लिए बाध्य था। इस इन्द्रिय-निग्रह और कठोर नैतिक संयम से उसके व्यक्तित्व का विकास और भी अधिक होता था।

(4) प्राचीन शिक्षाशास्त्री इस बात से भलीभाँति परिचित थे कि विद्यारम्भ उचित समय पर करा देना चाहिए, अतः पाँचवें और आठवें वर्ष में ही उपनयन करा दिया जाता था। विद्यार्थी-जीवन के उपरान्त भी अध्ययन समाप्त नहीं होता था। जो कुछ भी विद्यार्थी-काल में कंठस्थ किया जाता उसको भावी जीवन में भूल जाना पाप समझा जाता था। पुराने अध्ययन को दुहराने के लिए एक वर्ष में नियमित अध्ययन करने का आदेश था।

(5) ब्राह्मणीय शिक्षा में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा देने की प्रवृत्ति हम पाते हैं। विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड देना अपराध समझा जाता था। आपस्तम्ब, मनु, गौतम व विष्णु सभी आचार्यों ने शारीरिक दण्ड का विरोध किया है। हाँ, याज्ञवल्क्य, मनु और गौतम ने कुछ साधारण दण्ड का आदेश भी दिया है, किन्तु इसे अन्तिम उपाय बताया है।[2] गौतम के अनुसार ऐसे शिक्षक पर जो शारीरिक दण्ड देता है, राज्य की ओर से अभियोग चलाया जाना चाहिए।

(6) बालक गुरुकुल में गुरु के सीधे सम्पर्क में रहता था। अतः गुरु को बालक की शक्तियों और मस्तिष्क के अध्ययन का पर्याप्त अवसर मिलता था। गुरु बालक के अन्दर उचित व अच्छी आदतों का बीजारोपण करता था। आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी

2 अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्ततौ। —मनुस्मति ४।१६४
न निन्दा ताडने कुर्यात् पुत्रम शिष्यं च ताडयेत। —याज्ञवल्क्य १।११५

आदर्श के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। बाल्यावस्था में निर्मित हुई आदतें जीवनपर्यन्त मनुष्य के साथ रहती हैं। अतएव उषा-जागरण, शीघ्र शयन, सादा जीवन और उच्च विचार इत्यादि अनुशासन में रखने के लिए अनिवार्य थे। विद्यार्थियों की दिनचर्या नियमित थी और यह एक आदत में परिवर्तित हो जाती थी। इससे उनके व्यक्तित्व के विकास में पर्याप्त सहायता मिलती थी। स्नान, यज्ञ, पूजन, भिक्षा, गुरु-सेवा, वेद-पाठ इत्यादि कार्य नियमित दिनचर्या में सम्मिलित थे और ये स्वभावतः होते चलते थे।

(7) इसके अतिरिक्त शिक्षा-जगत में यह बात सदा विवादप्रद रही है कि विद्यार्थी के निर्माण में स्वभाव या संस्कार का अधिक महत्त्व है अथवा पालन-पोषण व परिस्थिति का। वास्तव में आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी इस पर एकमत नहीं हैं। यद्यपि ब्राह्मणीय शिक्षाशास्त्री भी इस प्रश्न पर एकमत नहीं थे, तथापि वे पालन-पोषण और परिस्थिति पर अधिक जोर देते थे। अथर्ववेद में यह बात स्पष्टतः बतायी गयी है कि उचित पालन-पोषण, शिक्षा तथा अनुकूल परिस्थितियों के उपलब्ध कर देने से बालक को प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। इन्द्र का उदाहरण भी इसी विषय में दिया जाता है। ('इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभवत्') किन्तु आगे चलकर 'कर्म-सिद्धान्त' एवं 'पुनर्जन्म-सिद्धान्त' का विकास होने पर आचार्यों का मत बदल गया। वे पुरातन संस्कार में विश्वास करने लगे। अतः उनकी दृष्टि में संस्कार व स्वभाव का महत्त्व बढ़ गया और वे समझने लगे कि परिस्थितियाँ बालक का निर्माण नहीं करतीं, क्योंकि 'मलयेपि स्थितो वेणुर्वेणुरेव न चन्दनः'। जातिवाद के जटिल हो जाने पर तो यह सिद्धान्त और भी अधिक दृढ़ हो गया और लोग जातियों अथवा वर्णों के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र बालकों की शिक्षा-व्यवस्था करने लगे। वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव पाठ्यक्रम पर भी पड़ा। इस प्रकार ब्राह्मणीय शिक्षा में कर्म-सिद्धान्त व जातिवाद रूढ़ि मात्र बन गये।

**शिक्षा-पद्धति**

ऋग्वेद काल में लेखन-कला का विकास नहीं हुआ था, अतः सम्पूर्ण कार्य मौखिक ही कराया जाता था। विद्यार्थियों को वेद-मन्त्र रटाये जाते थे। लेखन-कला के विकसित होने के उपरान्त भी यही धारणा बनी रही कि वैदिक साहित्य को लेखबद्ध करना पाप है। मुद्रण-यन्त्र तथा कागज की अनुपस्थिति में पुस्तकें केवल तालपत्र या भोजपत्र पर हाथ द्वारा लिखी जाती थीं, अतः वे जनसाधारण के लिए अलभ्य थीं। कालान्तर में ताम्रपत्र का भी उपयोग होने लगा। ऐसी अवस्था में यह सम्भव नहीं था कि प्रत्येक विद्यार्थी को पुस्तकों द्वारा शिक्षा दी जाय। यही कारण था कि प्राचीन गुरु लोग विद्यार्थियों को वेद-मन्त्र इत्यादि मौखिक प्रणाली द्वारा कंठस्थ कराते थे और इसी प्रकार ज्ञान का एक विशाल भण्डार पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होता चला जाता था। नियमित व सुसंगठित स्कूलों के अभाव में वैदिक काल में शिक्षा व्यक्तिगत रूप से दी जाती थी। गुरु के आसपास एक या दो विद्यार्थी बैठ जाते थे। पाठ-प्रारम्भ से पूर्व विद्यार्थी गुरु के चरणों का स्पर्श करके कार्य आरम्भ करते थे। तदुपरान्त गुरु द्वारा

उच्चारित मन्त्रों का अनुकरण करके विद्यार्थी कार्य आरम्भ करते थे। इस प्रकार पूरा पद कंठस्थ किया जाता था। विद्यार्थी उच्च स्वर से पाठ करते थे और उनके उच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसी प्रकार क्रमशः पंक्ति, पद और अध्याय समाप्त किये जाते थे। वेद-मन्त्रों के कंठस्थ कराने के अतिरिक्त विद्यार्थियों के प्रार्थना करने पर गुरु व्याख्या भी करते थे। विद्यार्थी के द्वारा अर्थ का समझना अत्यन्त आवश्यक था। वेदों के अतिरिक्त सूत्रों का भी अध्ययन किया जाता था, जिनके पढ़ाते समय शिक्षक को विशद् व्याख्या की आवश्यकता होती थी, क्योंकि सूत्र का अर्थ गूढ़ होता था। इसी प्रकार पाणिनि के व्याकरण, मनु का न्यायशास्त्र और स्मृति एवं ज्योतिष इत्यादि विद्याओं के सूत्रों को भी विद्यार्थी कंठस्थ करते थे। विद्यार्थियों को घर पर कार्य करने को भी दिया जाता था जो केवल गुरु द्वारा बताये हुए मन्त्रों अथवा पदों की पुनरावृत्ति या दुहराना अथवा उन पर मनन करना था।

प्राचीन शिक्षाशास्त्रियों ने कंठस्थ करने के कार्य को सरल बनाने के भी उपाय किये। यही कारण था कि उन्होंने सभी विषयों को पद्य में रचा। यहाँ तक कि व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, न्यायशास्त्र आदि जनोपयोगी और क्लिष्ट तथा शुष्क विषय भी पद्य में रचे गये। इससे कंठस्थ करने का कार्य बहुत सरल हो गया।

इसके अतिरिक्त शास्त्रार्थ अर्थात् वाद-विवाद के द्वारा भी शिक्षा दी जाती थी। सामूहिक परिषदों का आयोजन होता था जहाँ विद्वान् शिक्षक दर्शन के गूढ़ रहस्यों पर भाषण इत्यादि करते थे। हितोपदेश में आगे चलकर एक नवीन शिक्षण-पद्धति का आविष्कार हुआ, जिसके अनुसार अन्योक्ति और लोकोक्तियों द्वारा गूढ़ व महान् नैतिक सत्यों को विद्यार्थियों के लिए सुलभ और बोधगम्य बना दिया जाता था। व्यक्तिगत सम्पर्क की पद्धति भी बहुत लाभदायक प्रमाणित हुई। आधुनिक युग की भाँति जहाँ शिक्षक अपने समक्ष बैठे हुए असंख्य विद्यार्थियों को भाषण देकर चला जाता है, चाहे वे समझें अथवा नहीं—यहाँ तक कि अधिकतर विद्यार्थियों से उसका परिचय भी नहीं हो पाता, प्राचीन काल में ऐसा नहीं था। गुरु से शिष्य का सीधा आध्यात्मिक सम्पर्क होता था, जहाँ नित्य-प्रति गुरु-चरणों में बैठकर वह विद्यालाभ करता था। परीक्षा प्रायः प्रतिदिन होती थी। इससे विद्यार्थी सजग रहता था। कुशल विद्यार्थी अपनी कुशाग्रता तथा श्रम के कारण आगे बढ़ने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र थे। अतः उनके व्यक्तिगत विकास में कोई बाधा नहीं होती थी। अन्त में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ पिता के अनुपस्थित होने पर उसका योग्य पुत्र शिक्षण-कार्य करता था और अपने पिता की पद्धति का, जिसके अनुसार वह स्वयं शिक्षित हुआ था, अनुकरण करता था।

## शिष्य-गुरु सम्बन्ध

ब्राह्मणीय शिक्षा की सर्वश्रेष्ठ विशेषता उसके अन्तर्गत गुरु-शिष्य सम्बन्ध की उत्तमता है। आधुनिक काल में विद्यार्थी प्रवेश के लिए प्रवेश-पत्र भरकर अपरिचित शिक्षक के समक्ष जा बैठता है और उसका सम्बन्ध अधिकांश में रुपये-पैसे के माध्यम से जुड़ता है, जिसमें आन्तरिक विनय, प्रेम व श्रद्धा का बहुत कुछ अभाव रहता है।

किन्तु प्राचीन काल में शिष्य गुरु के समक्ष हाथ में समिधा लेकर उपस्थित होता था। इसका अभिप्राय यह था कि वह गुरु की सेवा करने के लिए उद्यत है और जिस प्रकार समिधा यज्ञ में जलकर प्रकाश में परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार विद्यार्थी भी गुरु के समक्ष उसमें मिलकर प्रकाश में परिवर्तित होने को सन्नद्ध है। गुरु भी विद्यार्थी को अपना पुत्र समझ कर, जो कुछ उसे आता था, बिना भेद के बता देता था। कुछ पिता अपने पुत्रों को स्वयं ही शिक्षा देते थे। श्वेतकेतु को उसके पिता द्वारा महान् ज्ञान देने की कथा विख्यात है। अधिकतर विद्यार्थी अपने आपको गुरु-सेवा में अर्पण करते थे। ऐसे उदाहरण भी हैं कि जो विद्यार्थी गुरु को अन्य भेंट देने में असमर्थ थे वे रात-दिन उन्हीं की सेवा में लगे रहते थे और अवकाश मिलने पर रात को विद्याध्ययन करते थे। यहाँ तक कि सम्पन्न घरानों के विद्यार्थी भी गाय चराना, ईंधन लाना, अग्नि जलाना, भिक्षा माँगना तथा अन्य गृहस्थी के कार्य करके गुरु-सेवा करते थे। गुरु-सेवा आध्यात्मिक उन्नति का एक शक्तिशाली साधन माना जाता था।

गुरुकुल-प्रथा ब्राह्मणीय शिक्षा की एक अनूठी देन है। उपनयन-संस्कार से लेकर 'समावर्तन' अर्थात् दीक्षान्त तक विद्यार्थी गुरु-गृह पर ही विद्याध्ययन करता था। अतः शिक्षक को अपने शिष्य की मनोवैज्ञानिक अवस्था तथा अन्य योग्यताओं को समझने का पर्याप्त अवसर मिलता था और फिर उसी के अनुसार वह शिक्षण-कार्य संचालित करता था। शिष्य उषाकाल में गुरु-जागरण से पूर्व उठता था और रात को गुरु-शयन के पश्चात सोता था। इस प्रकार हर समय शिक्षक और शिष्य का सीधा व्यक्तिगत सम्पर्क रहता था, जिसमें पारस्परिक परिचय के लिए पर्याप्त सुअवसर उपलब्ध होते थे। प्रायः 12 वर्ष तक गुरुकुल में रहकर विद्या समाप्त होने पर शिष्य अपने घर के लिए विदा होता था। विदा होते समय भी गुरु अपना दीक्षान्त उपदेश उसे देता था; यथा 'सत्य बोलो', 'कर्तव्य का पालन करो', 'वेदाध्ययन में प्रमाद मत करो' इत्यादि; किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि विद्या-समाप्ति के उपरान्त भी गुरु-शिष्य के सम्बन्ध उसी प्रकार रहते थे।

**पाठ्यक्रम**

प्रारम्भिक वैदिक युग में लेखन-कला का विकास नहीं हुआ था। शिक्षक द्वारा शिष्य को अधिकतर ज्ञान मौखिक दिया जाता था। उस समय शिक्षा का आधार धार्मिक था। प्रारम्भ ही से बालक को वेद-मन्त्र, यज्ञविधि तथा अन्य धार्मिक मन्त्र मौखिक रटाये जाते थे। ह्रस्व और दीर्घ पदों का भेद, सन्धि, स्वर व व्यंजन तथा शुद्ध उच्चारण का ज्ञान प्रारम्भिक अवस्था में ही करा दिया जाता था। यह ज्ञान बालक को वैदिक साहित्य के अध्ययन में सहायक होता था। यद्यपि ईसा से 1500 वर्ष पूर्व तक वैदिक साहित्य की ही धूम रही, तथापि इतिहास, पुराण तथा वीर-गाथाओं का भी अस्तित्व था। इनका उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। विद्यार्थियों को पिंगल के नियम रटने के लिए उत्साहित किया जाता था। इससे वेद-मन्त्रों के कण्ठस्थ करने में सहायता मिलती थी। आगे चलकर ब्राह्मण-साहित्य का सृजन हुआ। वैदिक साहित्य

को संकलित करके संहिताओं का स्वरूप दे दिया गया। पुरोहितवाद एक उद्यम के रूप में प्रकट हुआ। यज्ञ सम्बन्धी साहित्य की रचना इस युग में अधिक हुई। साथ ही यज्ञ-वेदी के बनाने में रेखागणित का विकास हुआ। यज्ञ के लिए उचित व शुभ समय देखना आवश्यक था, अतः इसका विकास ज्योतिष या खगोल-विज्ञान के रूप में हुआ। पिंगलशास्त्र दिन-प्रतिदिन उन्नति करता जाता था। व्याकरण और शब्द-विज्ञान का बीजारोपण भी इस युग में हो गया था।

उत्तर वैदिक काल में पाठ्य-विषयों का बहुत विस्तार हुआ। धार्मिक साहित्य का तो अध्ययन आवश्यक ही था; इसके अतिरिक्त व्याकरण, गणित, रेखागणित, ज्योतिष, काव्य, इतिहास, आख्यायिका, दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति, कृषि-विज्ञान, वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला, सैनिक-विज्ञान, पशु-विज्ञान, आयुर्वेद तथा शिल्प-विज्ञान, न्याय-शास्त्र तथा गृहकला की भी इस युग में अत्यन्त उन्नति हुई। ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् इत्यादि शास्त्र इसी काल की देन हैं जो प्राचीन भारत के दार्शनिक ज्ञान के भण्डार हैं, जिनसे भारत युग-युगों से दार्शनिक प्रेरणा लेता चला आ रहा है। इस युग में वर्ण-व्यवस्था जटिल हो चली थी, अतः प्रत्येक वर्ण के लिए पाठ्य-विषय भी वर्णानुसार थे। धार्मिक तथा वैदिक अध्ययन के साथ ही साथ सांसारिक उपयोगी विद्याएँ व कलाएँ भी वर्णानुसार पाठ्य-वस्तु में सम्मिलित कर दी जाती थीं। इस प्रकार ब्राह्मणीय शिक्षा एकांगी नहीं थी, अपितु वह समाज का सर्वाङ्गीण विकास करने में सहायक होती थी।

ब्राह्मणीय शिक्षा के पाठ्य-विषय की सूची छान्दोग्य उपनिषद् (7/1/1/2) में सनतकुमार के समक्ष नारद ऋषि ने दी है। नारदजी सनतकुमार के निकट विद्याध्ययन के लिए जाते हैं। सनतकुमार के पूछने पर कि आप पहले से क्या जानते हैं, नारदजी वर्णन करते हैं कि "मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद तथा पाँचवा इतिहास-पुराण जानता हूँ। वेदों के वेद व्याकरण, पितृ, राशि, दैव, निधि, वाक्योवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, शिक्षा, कल्प, छन्द, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजन विद्या यह सब जानता हूँ···।" इस सूची से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणीय शिक्षा कितनी विकसित होती जा रही थी। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को सम्पन्न और समुन्नत बनाने में इस शिक्षा का विशेष हाथ था।

## गुण-दोष विवेचन

(1) **सफलताएँ**—ब्राह्मणीय शिक्षा का विस्तृत विवेचन करते समय उसके अंग-प्रत्यंग पर दृष्टिपात किया जा चुका है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार प्राचीन भारत का निर्माण उसकी शिक्षा-पद्धति के द्वारा हुआ। तत्कालीन शिक्षा-पद्धति का ही परिणाम है कि भारतीय संस्कृति की आलोक-शिखा युग-युगों से प्रदीप्त है। अनेक विप्लव हुए, परिवर्तन की आँधियाँ आयीं और विशाल साम्राज्य विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो गये, किन्तु वह आलोक-शिखा प्रज्वलित ही रही और आज

भी, जबकि विश्व के ऊपर विनाश की भयंकर घटाएँ मँडरा रही हैं, भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति भयभीत मानवता को विश्व-शान्ति का संदेश दे रही है।

वैदिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य जीवन में बाह्याभ्यान्तर पवित्रता उत्पन्न करके जीवन को चरम विकास अर्थात् मोक्ष की ओर ले जाना था। अपने इस महान् उद्देश्य में इस शिक्षा-पद्धति को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। ब्राह्मणीय शिक्षा चरित्र-निर्माण करने में पर्याप्तत: सफल हुई। गुरु आश्रमों में रहने वाले बालक प्रकृति की गोद तथा गुरु-चरणों में बैठकर धर्म, दर्शन तथा जीवनोपयोगी विद्याओं का अध्ययन करते थे। आन्तरिक अनुशासन का विशेष महत्त्व था। अनुशासन का अभिप्राय केवल यन्त्रवत् व भावनाशून्य नियमितता तथा आडम्बरपूर्ण भय नहीं था। इसका बालक की आत्मा से सम्बन्ध था। अनुशासन या विनय वह आन्तरिक प्रेरणा थी जो जीवन की सभी क्रियाओं में प्रतिबिम्बित होती थी। इसके अतिरिक्त नैतिक अनुशासन तथा चरित्र-विकास के लिए बाह्य साधन भी थे। आधुनिक युग की भाँति विद्यार्थियों को विलास में निमग्न रहने की आज्ञा नहीं थी। उनके जीवन व्यतीत करने के कठिन नियम थे। उनके लिए शीघ्र जागरण, स्नान, भूमिशयन, नग्नपद तथा विशेष व अल्प वस्त्र और अल्पाहार की व्यवस्था थी। मधु, मांस, सुगन्धि, पुष्प, पदत्राण, प्रेम, क्रोध, लालच, नृत्य तथा विलास के अन्य उपकरणों के प्रयोग करने का निषेध था। विद्यार्थी को नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आदेश था। इन्द्रिय-निग्रह तथा इच्छा-दमन तत्कालीन ब्रह्मचारियों की विशेषता थी। इन सभी व्यवस्थाओं का प्रत्यक्ष लाभ हुआ। चरित्र तथा व्यक्तित्व एवं शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के विकास में इस व्यवस्था से बहुत सहायता मिली। यहाँ तक कि इसी कठोर व सात्विक जीवन व नैतिक अनुशासन का परिणाम था कि तत्कालीन समाज एक महान् साहित्य का सृजन कर सका। जीवन दिव्यता, पवित्रता तथा सहायता से ओतप्रोत हो गया। जीवन को महान् व जीवन की विभूतियों को हितकारी बनाने में ब्राह्मणीय शिक्षा पूर्ण रूप से सफल हुई।

इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृति व साहित्य की सुरक्षा एवं उसका प्रजनन भी ब्राह्मणीय शिक्षा का उद्देश्य था। "जब हम प्राचीन धर्म साहित्य की विशालता तथा स्थूलता पर विचार करते हैं तो उसके इतनी शताब्दियों तक सुरक्षित रहने पर महान् आश्चर्य होता है तथापि हम यह देखते हैं कि यह हुआ और वर्तमान समय तक होता चला आ रहा है।"[3] प्रारम्भिक वैदिक युग से अथवा उत्तर वैदिक काल में भी, जबकि लेखन-कला का विकास नहीं हुआ था, मुद्रण-कला, कागज इत्यादि का अस्तित्व नहीं था तथा पुस्तकें अलभ्य थीं, ऐसी अवस्था में प्राचीन संस्कृति और साहित्य निरन्तर रूप से जीवित रहे। प्राचीन ऋषियों ने इतने विशाल साहित्य को अपने मस्तिष्क के भीतर ही सुरक्षित रखकर भावी सन्तान को मौखिक रूप से ही हस्तान्तरित किया। जिस प्रकार प्राचीन काल में उसी प्रकार बहुत सीमा तक आधुनिक युग में भी सांस्कृतिक ऐक्य व समानता का प्रधान कारण भारत की विशिष्ट शिक्षा-प्रणाली है।

F. E. Keay : *Indian Education in Ancient and Later Times*, Humphrey Milford (1942), p. 34.

सामाजिक सम्पन्नता की दृष्टि से भी यह शिक्षा बहुत सफल हुई। जैसा हम देख चुके हैं, इसका पाठ्य-विषय केवल धर्मशास्त्र ही नहीं था। धार्मिक साहित्य की प्रचुरता तथा प्रधानता होते हुए भी हमारे वैदिककालीन पूर्वज सांसारिक उन्नति की ओर उदासीन नहीं थे। सामाजिक सम्पन्नता तथा सुख एवं नागरिक उत्तरदायित्व की ओर इस शिक्षा का विशेष रुख था और इस उद्देश्य में इसे पर्याप्त सफलता मिली।

(2) **असफलताएँ**—यद्यपि जीवन का सर्वांगीण विकास करने में ब्राह्मणीय शिक्षा का प्रमुख हाथ रहा तथापि आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि इसमें कुछ दोष अथवा अभाव भी थे जिनका उल्लेख करना न्यायसंगत होगा। यूरोप के प्राचीन शिक्षाशास्त्रियों की भाँति भारत में शिक्षाशास्त्रियों ने धर्म पर अधिक जोर दिया। उनके प्रत्येक कार्य का आधार धार्मिक था, यहाँ तक कि साधारण सांसारिक कार्यों में भी धार्मिकता की झलक आती थी। इससे एक प्रकार का पण्डिताऊ रंग प्रत्येक कार्य को मिल जाता था। अधिकतर शिक्षक ब्राह्मण पुरोहित थे, अतः शिक्षा में यज्ञ तथा अन्य धार्मिक कर्मकाण्ड की धूम रही। इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, गणित तथा भौतिक विज्ञान का विकास अवश्य हुआ, किन्तु इतना नहीं हुआ जितना धर्म, दर्शन तथा धार्मिक कर्मकाण्ड आदि का। यद्यपि इसकी प्रतिक्रिया उस समय नहीं हुई तथापि कालान्तर में धर्म का जीवन के ऊपर अधिक प्रभाव हो गया और लोग अपने दम्भ में सांसारिक उन्नति को भूलने लगे। पूर्ण ज्ञानियों के लिए 'धर्म' कर्म तथा संघर्ष का प्रेरक था, किन्तु साधारण जनता इतनी ऊँची नहीं उठ सकी। वह तो 'ब्रह्म' को सत्य और 'जगत' को मिथ्या मानने लगी। इससे सांसारिक उन्नति को बड़ा आघात लगा।

कुछ आलोचकों का कहना है कि ब्राह्मणीय शिक्षा मनुष्य को केवल परलोकद्रष्टा अथवा असांसारिक बनाने में सहायक हुई, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं। वैदिक साहित्य में संघर्ष और कर्तव्यपालन को बहुत प्रधानता दी गयी। साथ ही वह रचनात्मक तथा क्रियात्मक युग था। उस समय एक महान् साहित्य का सृजन हुआ। ऋषियों ने व्यावहारिक जीवन के ठोस नियम बनाये, जिन पर चलकर समाज समृद्धि प्राप्त कर सकता था। इतना अवश्य है कि यज्ञ इत्यादि कर्मकाण्डों की प्रचुरता से जीवन भर गया था और चारों ओर एक धार्मिक वातावरण ही दृष्टिगोचर होता था। सांसारिक उन्नति उद्देश्य न होकर केवल साधन था, उद्देश्य तो 'मोक्ष' था। यही विचारधारा भारत की आत्मा में समा गयी, जिसकी प्रतिच्छाया आधुनिक युग में भी देखने को मिलती है।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणीय शिक्षा में शास्त्र को बहुत महत्त्व दिया गया। स्मृतियाँ और पुराण एक प्रकार से उदाहरण के रूप में कहे जाने लगे। जनसाधारण की धारणा हो गयी कि जो शास्त्र में लिखा है वह सभी मिथ्या नहीं हो सकता, अथवा जिसे शास्त्र में मिथ्या कह दिया गया वह कभी सत्य नहीं हो सकता। इस प्रवृत्ति से जनसाधारण के तर्क व कल्पना-शक्ति दुर्बल हो गयी। शास्त्र के प्रमाण ही पर्याप्त समझे गये और परिस्थिति से उत्पन्न उचित और अनुचित होने की कसौटी का पूर्ण

अभाव रहा । किन्तु ऐसा हुआ केवल भविष्य में जाकर ही, अन्यथा वैदिक व उपनिषद् युग में तर्कवाद अपनी चरम उन्नति पर था । प्रधानतः उपनिषदों में मानसिक उन्नति एवं बौद्धिक चमत्कार और तर्क-वैचित्र्य ही देखने को मिलता है । सूत्र-साहित्य भी मानसिक शक्ति के विकास का प्रमाण है ।

इसके अतिरिक्त कला व हस्तकार्य अर्थात् 'देवजन विद्या' को ब्राह्मणों के प्रभुत्व और वर्ण-व्यवस्था के जटिल होने से हेय समझा जाता था । मानसिक कार्य करने वाले श्रेष्ठ तथा हाथ से शारीरिक कार्य करने वाले निम्न समझे जाते थे । इसका परिणाम यह हुआ कि उच्च वर्ण के लोगों ने कला को संरक्षण नहीं दिया । हस्तकला का कार्य प्रधानतः शूद्र तथा नर्तन, गायन व चित्रकला का कार्य शूद्र व स्त्रियों का प्रमुख कर्म माना गया । ये जटिलताएँ व रूढ़ियाँ आगे चलकर और भी अधिक बढ़ गयीं । इस प्रकार जो वास्तविक रूप से देश के आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिए उत्तरदायी थे उन्हें समाज ने 'शूद्र' की संज्ञा देकर उनके विकास को सदा के लिए अवरुद्ध कर दिया ।

ब्राह्मणीय शिक्षा पर एक आरोप यह भी लगाया जाता है कि इसमें विभिन्न विषयों का पारस्परिक सामंजस्य अथवा समन्वय नहीं था । प्रत्येक विषय में प्रारम्भ से ही विशेषता प्राप्त करने की चेष्टा की गयी थी । परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक विषय गहरा तो हो गया, किन्तु विशाल या व्यापक न हो पाया ।

इसके अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा की अवहेलना, जनसाधारण की शिक्षा का अभाव तथा सार्वजनिक भाषा की अवहेलना इत्यादि अभियोग ब्राह्मणीय शिक्षा पर और लगाये जाते हैं, किन्तु जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं, ये अभियोग पूर्णतः सत्य नहीं हैं । स्त्रियों का उचित सम्मान था और वे बड़ी विदुषी होती थीं । सार्वजनिक भाषा संस्कृत थी और उसी में समस्त वैदिक, पौराणिक, उपनिषद् व सूत्र साहित्य का सृजन हुआ । सार्वजनिक शिक्षा अनिवार्य थी, जैसा कि उपनयन-संस्कार सब वर्णों के लिए अनिवार्य होने से प्रतीत होता है । हाँ, ऐसा अवश्य है कि जब जनसाधारण की भाषा संस्कृत से भिन्न होने लगी अथवा उपनयन की अनिवार्यता शिथिल होने लगी एवं स्त्रियों की विवाह-अवस्था घटा दी गयी तो अवश्य ही उपर्युक्त दोष आ गये; किन्तु ऐसा ब्राह्मणीय शिक्षा के युग में नहीं हुआ । उस समय तो बौद्ध धर्म का जोर बढ़ता जा रहा था । उसका वर्णन हम आगे के अध्यायों में करेंगे ।

## उपसंहार

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मानव-जीवन के सभी अंगों का ब्राह्मणीय शिक्षा में विकास हुआ । शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन के समविकास में वह शिक्षा अपना विशेष महत्त्व रखती थी । चरित्र तथा व्यक्तित्व के विकास में इससे बहुत सहायता मिली । साथ ही सांसारिक उन्नति में भी इस शिक्षा की देन अनुपम है । इसकी कुछ विशेषताएँ जैसे गुरु-शिष्य सम्बन्ध, नैतिक अनुशासन, व्यक्तिगत ध्यान, मानसिक स्वतन्त्रता, सर्वव्यापी उपनयन प्रथा, स्त्री-शिक्षा एवं गुरुकुल-प्रथा इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं जो शिक्षा-सिद्धान्तों के अनुकूल हैं और सदा लाभकारी प्रमाणित हुई हैं ।

# 4

# बौद्ध शिक्षा-प्रणाली

**वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म**

ब्राह्मणीय शिक्षा राष्ट्र के जीवन का एक प्रधान अंग बन चुकी थी, अत: बौद्ध धर्म का प्रचार होने पर भी भारतीय शिक्षा पर ब्राह्मणीय शिक्षा की छाप बनी रही। बौद्ध धर्म भी वास्तव में हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं माना गया है। हिन्दू धर्म के बहुत-से मौलिक सिद्धान्त बौद्ध धर्म में भी अक्षुण्ण बने रहे। हिन्दू धर्म के अन्दर कुछ दोष आ जाने से बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध धर्म तो केवल परिस्थितियों की उपज था। महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व ही हिन्दू धर्म में एक प्रकार का दम्भ प्रवेश कर चुका था। कर्मकाण्ड की धूम थी। इसमें वास्तविक धर्म के मूल सिद्धान्तों का लोप हो रहा था। यज्ञ के नाम पर पशु-बलि का बोलबाला था। तपस्या के नाम पर अनेक पुरुष गृह त्यागकर वनों में मारे-मारे फिरते थे, तथा तपस्या के साधनों के नाम पर भिन्न-भिन्न शारीरिक यातनाओं के आविष्कार हो चुके थे। बुद्ध ने वह सब व्यर्थ समझा। अत: उन्होंने ऐसे धर्म-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो प्रत्यक्ष जीवन की वास्तविक समस्याओं का विश्लेषण करके धर्म का एक नवीन रूप प्रस्तुत करें। महात्मा बुद्ध समझते थे कि संसार दुखमय है, अत: इसका त्याग करके मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। ऐसा होते हुए भी आत्मा, दुख, मोक्ष, कर्म तथा पुनर्जन्म इत्यादि के सिद्धान्त दोनों धर्मों में पाये जाते हैं। इस प्रकार वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म के सम्मिश्रण से एक विशेष भारतीय दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध धर्म ने पूर्वस्थित प्रश्न 'मोक्ष किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है' का अपने प्रकार से उत्तर दिया है। अनेक साधनों में एक यह भी साधन महात्मा बुद्ध ने बताया है। अत: इसे विशाल हिन्दू धर्म का एक स्वरूप ही माना जा सकता है। जो कुछ भी विरोध दोनों धर्मों में मिलता है वह यही है कि महात्मा बुद्ध ने बताया था कि यदि बलि और यज्ञ से जीव-हिंसा होती है तथा व्यर्थ धन व्यय होता है तो इसे बन्द कर दो। दूसरे, यदि वेद अपौरुषेय नहीं हैं, तो उन्हें भी अन्य पुस्तकों की भाँति समझा जाय। साथ ही बुद्ध ने बताया कि अपने सम्पूर्ण यौवन को वेदों के कंठाग्र करने में ही नष्ट कर देना मूर्खता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि यदि हिन्दू देवी-देवता केवल नाम या प्रतीक मात्र हैं तो हमें किसी ऐसी वस्तु की खोज करनी चाहिए

जो कल्पित न होकर वास्तविक हो। अन्त में तपस्या के द्वारा शरीर को सुखाना एवं सांसारिक भोग-विलासों और गृहस्थ जीवन का भी बुद्ध ने निषेध किया।

इस प्रकार बौद्ध धर्म ने ब्राह्मणीय धर्म से अपनी प्रेरणा ली। दोनों में वाह्य विषमता होते हुए भी एक आन्तरिक साम्य है। बुद्ध ब्राह्मणों का आदर करते थे। अपने प्रारम्भिक जीवन में उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा ही शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी। ललित विस्तार में कहा गया है कि ब्राह्मण या क्षत्रिय ही बौद्ध हो सकता है और चाण्डाल अथवा शूद्र नहीं। यद्यपि बौद्ध धर्म में जाति-पाँति का भेद नहीं था, तथापि निम्न कही जाने वाली जातियों में से भी केवल जिज्ञासुओं अथवा ब्राह्मणीय मानसिक प्रतिभा रखने वालों को ही संघ में प्रविष्ट किया जाता था। केवल जन्मतः ब्राह्मण होने के बुद्ध प्रतिकूल थे, तथापि उन्होंने अपने आपको एक समाज सुधारक के रूप में कभी भी प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने तो सादा और सात्विक जीवन व्यतीत करने वाले भिक्षुओं के समाज की रचना की जो बाल्यावस्था में ही गृह-त्याग करके शिक्षा और संयम के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके 'निर्वाण' प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। यह क्रम भी वास्तव में ब्राह्मणीय पद्धति के ब्रह्मचर्य, वाणप्रस्थ और संन्यास आश्रम की भाँति था। केवल गृहस्थ आश्रम का ही बहिष्कार बुद्ध ने किया। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि बौद्ध धर्म विशाल हिन्दू धर्म का ही एक परिवर्तित स्वरूप था।

बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में 600 ई० पू० ही हो गया था। बौद्ध-शिक्षा के प्रमुख केन्द्र विहार या मठ थे। वास्तव में बौद्धकालीन शिक्षा-प्रणाली का इतिहास ही बौद्ध-संघ का इतिहास है। शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था ही भिक्षुओं के हाथों में थी। इसमें धार्मिक व भौतिक दोनों प्रकार की शिक्षाएँ सम्मिलित थीं। ब्राह्मणीय शिक्षा की भाँति इसमें भी विद्यार्थी की प्रारम्भिक दीक्षा होती थी। इसी का वर्णन अब हम आगे करेंगे।

**प्रव्रज्या**

विद्यारम्भ प्रव्रज्या या 'पब्बज्जा' बौद्ध शिक्षा-प्रणाली का प्रथम संस्कार था। छोटी अवस्था में बालक प्रव्रज्या के उपरान्त 'श्रमण' बनकर मठ में उपस्थित होता था। संघ में प्रवेश करने से पूर्व नवागन्तुक को 'शरणत्रयी' लेनी पड़ती थी अर्थात् 'बुद्धं शरणम् गच्छामि, धम्मं शरणम् गच्छामि, संघं शरणम् गच्छामि' का उच्चारण करना पड़ता था। प्रवेश के लिए जाति-भेद नहीं था। महात्मा बुद्ध का स्वयं ही कहना था कि जैसे नदियाँ समुद्र में विलीन होकर एकरस हो जाती हैं उसी प्रकार भिन्न-भिन्न जातियाँ संघ में मिलकर एकरूप हो जाती हैं। प्रव्रज्या 8 वर्ष के बालक को दी जाती थी। उसके पश्चात ही मठ की अनुशासन प्रणाली उसके ऊपर लागू हो जाती थी और उसे घरबार छोड़कर अपने उपाध्याय के अन्तर्गत रहना पड़ता था। हिंसा, असत्य, मादक पदार्थ, मांस, नृत्य तथा संगीत इत्यादि का श्रमण के लिए निषेध था। यह स्मरणीय है कि बिना माँ-बाप की आज्ञा के बालक का संघ में प्रवेश नहीं कराया जाता था। छूत के रोगों, जैसे कोढ़, खुजली तथा क्षय इत्यादि से पीड़ित रोगियों को

तथा अन्य शारीरिक दोष रखने वाले नवागन्तुक को प्रव्रज्या का निषेध था। इसके अतिरिक्त दास, अभियुक्त तथा राज-कर्मचारियों, जैसे सैनिक इत्यादि के लिए भी प्रवेश निषिद्ध था।

**उपसम्पदा**

यह बौद्ध-पद्धति का द्वितीय एवं अन्तिम संस्कार था। 20 वर्ष की उम्र से पूर्व इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता था। इसके उपरान्त भिक्षु द्वारा अपनी सदस्यता को प्राप्त किया हुआ समझा जाता था। जैसा कि ब्राह्मणीय शिक्षा में बताया गया था कि स्नातक होने के उपरान्त ब्रह्मचारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था, ठीक उसके प्रतिकूल बौद्ध धर्म के अनुसार उपसम्पदा संस्कार होने पर श्रमण पक्का भिक्षु बन जाता था और उसका गृहस्थी अथवा संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। प्रव्रज्या तो केवल अल्पकाल के लिए होती थी, उपसम्पदा संस्कार सम्पूर्ण जीवन के लिए था। यद्यपि ब्राह्मणीय शिक्षा के अनुसार भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी या आजन्म ब्रह्मचारी होते थे किन्तु ऐसे व्यक्ति बिरले ही थे। बौद्ध धर्म में तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य भिक्षु के लिए अनिवार्य था। कालान्तर में जब स्त्रियों का भी भिक्षुणी के रूप में प्रवेश हो गया तो उनके लिए भी यह अनुशासन पूर्ण रूप से आवश्यक समझा गया।

'पब्बज्जा' संस्कार में तो बालक उपाध्याय के निकट जाकर हाथ जोड़कर कहता था कि "आप मेरे उपाध्याय हैं" और एक-पक्षीय सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। किन्तु 'उपसम्पदा' समस्त भिक्षुओं के सम्मुख एक उत्सव के रूप में होता था। इसके सम्पादन की प्रणाली पूर्ण जनतन्त्रवादी थी और बहुमत से इसका सम्पादन होता था। श्रमण भिक्षु का भेष धारण करके, हाथ में कमण्डल, एक कन्धे पर चीवर लेकर अन्य भिक्षुओं को प्रणाम करके, हाथ जोड़कर बैठ जाता था। वहीं वह अपने उपाध्याय (उपाज्झाय) को चुनता और इस प्रकार उपसम्पदा संस्कार समाप्त हो जाता। इसके अतिरिक्त यदि कोई भिक्षु संघ से हटना चाहता, तो यह भी सरल कार्य था। प्रतिज्ञा भंग करने पर या सांसारिकता का आकर्षण बढ़ने पर कोई भी भिक्षु संघ से हटाया जा सकता था। ऐसे भिक्षु को अपनी असमर्थता की घोषणा करनी होती थी।

**गुरु-शिष्य सम्बन्ध**

बौद्ध काल में भी गुरु-शिष्य के सम्बन्धों में वही पवित्रता रही जो वैदिक-कालीन शिक्षा में थी। विद्यार्थी का दूसरा नाम 'सिद्धविहारक भी था। सिद्धविहारक उपाध्याय की सेवा करते हुए विद्यालाभ करता था। वह उपाध्याय से पूर्व उठता और बाद में सोता था। प्रातःकाल गुरु के लिए उसे जल, मिट्टी तथा दातुन इत्यादि की व्यवस्था करके बैठने की चौकी लगानी होती थी और खाने को खीर परसनी होती थी। महावग्ग में गुरु-शिष्य के सम्बन्धों का अत्यन्त विशद् वर्णन मिलता है। "भिक्षुओं! सिद्धविहारक को उपाध्याय के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए। समय से उठकर जूता पोंछकर उत्तरा-संग को एक कंधे पर रख, दातून देनी चाहिए। मुख धोने का जल तथा आसन की व्यवस्था करनी चाहिए। खाने को खीर देनी चाहिए। झाड़ू देना

तथा सफाई करनी चाहिए। शिक्षा के लिए उपाध्याय के साथ जाना चाहिए··· इत्यादि।" इसके अतिरिक्त उपाध्याय से कुछ दूरी पर चलना, उनके लिए भिक्षा लाना, पैर धोना, वस्त्र-प्रक्षालन करना तथा रोगी होने पर उनकी सुश्रूषा करना इत्यादि भी शिष्य के कर्तव्य थे।

इसके विपरीत, शिष्य के प्रति उपाध्याय या आचार्य के कर्तव्यों का भी उल्लेख है। उपाध्याय को शिष्य को पुत्र की भाँति रखना होता था। वह शिष्य को अभाव होने पर पात्र तथा चीर देता था। रोगी होने पर उपाध्याय को वही सेवाएँ करनी होती थीं जो शिष्य उसकी करता था। इसके अतिरिक्त उपाध्याय का यह परम कर्तव्य माना जाता था कि वह शिष्य को उच्च कोटि की मानसिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करे।

इस प्रकार गुरु और शिष्य के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर और सम थे। यह भारतीय परम्परा के अनुकूल ही था। गुरु लोग बड़ी सादगी में जीवन व्यतीत करते और शिष्य के समक्ष अपना आदर्श उपस्थित करते थे। गुरु की आवश्यकताएँ न्यूनतम होती थीं। नालन्दा के प्रसिद्ध शिक्षकों को साधारण विद्यार्थियों की अपेक्षा केवल तीन गुना अधिक व्यय करने को मिलता था। सेवा ग्रहण करना एक प्रकार से गुरु का अधिकार हो गया था। यदि कोई शिष्य गुरु का आदर करने में असफल होता तो वह अयोग्य समझा जाता था और संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता था। शिष्यों से यह उच्च सम्मान प्राप्त करने के लिए गुरु को एक महान् उच्च-चरित्र, आत्मसंयमी तथा आत्मदर्शी होने की आवश्यकता थी। ह्वेनसांग के लेखों से प्रतीत होता है कि नालन्दा इत्यादि विहारों में अत्यन्त उद्भट विद्वान आचार्य रहते थे, जो शिष्यों के समक्ष एक जीवित आदर्श प्रस्तुत करते थे।

**विद्यार्थियों का विकास**

ब्राह्मणीय शिक्षा की भाँति इस शिक्षा में गुरुकुल की व्यवस्था नहीं थी। विद्यार्थी श्रमण अथवा पूर्ण भिक्षु के रूप में मठों या विहारों में रहते थे। ये विहार सम्पूर्ण बौद्ध धर्म की शृंखला के खण्डों के रूप में थे। इस प्रकार इन विहारों और मठों के मिलने से संघ का अस्तित्व था। इन मठों में विद्यार्थी और उपाध्याय साथ-साथ रहते थे। वहाँ स्थान का अभाव नहीं था। नालन्दा इत्यादि विश्वविद्यालयों के भग्नावशेषों से विदित होता है कि वहाँ हजारों विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था रहती थी।

बौद्ध धर्म के प्रचार के प्रारम्भ में भिक्षु लोग वनों, गुफाओं में तथा पेड़ों के नीचे रहते थे, किन्तु महात्मा बुद्ध ने उन्हें मठों या विहारों में रहने की आज्ञा प्रदान कर दी थी। यह आज्ञा केवल उसी समय के लिए थी जबकि खुले में रहना सम्भव नहीं था, जैसे वर्षा, आँधी, ओला या हिमपात और तीव्र धूप इत्यादि। बरसात में रहने के लिए वर्षावास थे जो अधिकतर धनिकों द्वारा बनवा दिये जाते थे। बौद्ध विहार तो प्रासादों के समान विशाल, सुन्दर और सुखदायक होते थे। राजा बिम्बसार द्वारा संघ के लिए एक प्रासाद बनवाये जाने की कथा है। इन विहारों के विषय में चीनी

यात्रियों ने बहुत विशद् और आँखों-देखा वर्णन लिखा है। जेतवन विहार, जिसे राजकुमार अनाथ पिंडिक ने निर्मित कराया था, उस समय का एक प्रसिद्ध विहार था। इसमें भिन्न-भिन्न कार्यों, जैसे, भोजन, स्नान, शयन, वाचन, अध्ययन, शास्त्रार्थ तथा अतिथि इत्यादि के लिए अलग-अलग सुन्दर कमरे बने हुए थे; जो विभिन्न सज्जा इत्यादि से भलीभाँति सुसज्जित थे। इसके अतिरिक्त और भी कुछ प्रसिद्ध विहार थे जैसे यास्टिवन, वेणुवन, राजगृह में सीतवन इत्यादि।

ये बौद्धकालीन विहार शिक्षा के केन्द्र थे। इनका उपयोग केवल धार्मिक कार्यों में ही न होकर लौकिक विद्याओं के केन्द्रों के रूप में भी होता था। कलाकौशल, वास्तुकला तथा चित्रकला का शिक्षण भी इन स्थानों पर होता था।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्यार्थी इन विहारों में गुरु के साथ न रहकर अपने स्वयं के घरों में भी रहते थे और विद्याध्ययन के लिए विहार में जाते थे। बनारस के राजकुमार जुन्ह की कथा इसी प्रकार के जातकों में मिलती है। बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में छात्रावास का प्रबन्ध भी था।

**भोजन**

बौद्ध भिक्षुओं तथा विद्यार्थियों का भोजन बहुत सादा था। श्रमण अपने उपाध्याय के साथ निकटस्थ गाँवों में भिक्षा के लिए जाते थे और जो कुछ मिल जाता उसी पर निर्वाह करते थे। आवश्यकता से अधिक भिक्षा लेना निषिद्ध था। भिक्षु तथा विद्यार्थियों को नागरिकों की ओर से भोजन का निमन्त्रण भी मिलता था। उनके भोजन में प्रधानतः फल, दूध, खीर, दही तथा गुड़ और गन्ना थे।

**पाठ्यक्रम**

बौद्ध भिक्षा निवृत्ति-प्रधान थी। इसका उद्देश्य जीवन में 'निर्वाण' प्राप्त करना था, अतः शिक्षा भी धर्म-प्रधान थी। अधिकांश बौद्ध भिक्षु धर्मशास्त्रों का ही अवलोकन करते थे। उनका जीवन ही धर्ममय था। सुत्तन्त, विनय, साहित्य तथा धर्म इत्यादि ही उनके शिक्षा के विषय थे।

इससे यह न समझना चाहिए कि सम्पूर्ण समाज ही धर्म का अध्ययन करता था और देश में जीवनोपयोगी शिक्षा का अभाव था। वास्तव में ऐसा नहीं था। भारत में मौर्यकाल तथा गुप्तकाल स्वर्णयुग के नाम से पुकारे जाते हैं, जबकि प्राचीन भारत साहित्य, दर्शन, कला, व्यापार, कृषि तथा सैनिक उन्नति की दृष्टि से अपने वैभव की पराकाष्ठा पर था। आर्थिक दृष्टिकोण से भी भारत धनधान्य से परिपूर्ण था। ऐसी अवस्था में हम यह नहीं कह सकते कि यहाँ भौतिक विषयों की शिक्षा का अभाव था, क्योंकि बिना इन विज्ञानों की उन्नति हुए देश का सर्वांगीण विकास असम्भव था। बौद्धकालीन लौकिक शिक्षा के प्रमुख विषय, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, कलाकौशल—जैसे कातना, बुनना, छपाई, दर्जी का कार्य अर्थात् सिलाई, लेखन, गणना, चित्रकला, चिकित्सा व आयुर्वेद, शल्य अर्थात् सजरी तथा मुद्रा इत्यादि थे।

शिक्षा दो भागों में विभक्त थी—प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा। प्रारम्भिक

शिक्षा में लिखना, पढ़ना तथा साधारण गणित[1] का अध्ययन कराया जाता था। उच्च शिक्षा में धर्म, दर्शन, आयुर्वेद, सैनिक-शिक्षा आदि सभी सम्मिलित थे। अध्ययन विषय चुनने में जाति-पाँति का कोई भेद नहीं था। तक्षशिला के लिए विद्यार्थी भिन्न-भिन्न स्थानों से आते थे। तुलनात्मक ज्ञान के लिए वेदों का अध्ययन किया जाता था, तथापि जातक युग में अथर्ववेद पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं था। वेद-मन्त्रों के कंठाग्र करने की प्रणाली इस समय भी प्रचलित थी। बोधिसत्व ने भी वेदों का ज्ञान प्राप्त किया था।

विज्ञान, ललित एवं शिल्पकलाओं के नामों का उल्लेख जातकों में तो नहीं मिलता, किन्तु मिलिन्दपान्ह में 18 सिप्पों का वर्णन है, जो पाठ्यक्रम में सम्मिलित थे। तक्षशिला के कुछ विद्यालयों में हत्ती-सुत्त (हाथी-विद्या) तन्त्र, मृगया, पशुविद्या, धनुर्विद्या, सामुद्रिक विद्या, सर्पविद्या और आयुर्वेद का शिक्षण होता था। इनमें से केवल एक-एक विषय में ही विद्यार्थी विशेष योग्यता प्राप्त कर सकते थे। इन सभी विद्याओं की सैद्धान्तिक व व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। आयुर्वेद तथा शल्य की व्यावहारिक शिक्षा का भी प्रवन्ध इन विद्यालयों में था। जीवक के उदाहरण से प्रतीत होता है कि उसने शल्य विद्या की व्यावहारिक शिक्षा पायी थी। यही कारण था कि ठीक अपने विद्यार्थी जीवन के पश्चात ही उसने दो सफल ऑपरेशन किये जो अत्यन्त ही कठिन थे। यात्रा व देशाटन भी व्यावहारिक शिक्षा के अंग समझे जाते थे। इनके अतिरिक्त प्रकृति-निरीक्षण, कानून और सैनिक-प्रशिक्षण भी पाठ्य-वस्तु में सम्मिलित थे। तक्षशिला इन विद्याओं का प्रधान केन्द्र था।

मिलिन्दपान्ह से प्रतीत होता है कि बौद्ध युग में ब्राह्मणीय शिक्षा का भी प्रचार था। वास्तव में दोनों प्रकार की शिक्षाएँ एक-दूसरे की पूरक थीं। ब्राह्मणीय शिक्षा के चार वेद, इतिहास, पुराण, काव्य, शब्द-विद्या, व्याकरण, ज्योतिष, वेदांग, सामुद्रिक विद्या, शकुन-विद्या, सांख्य-योग, न्याय, वैशेषिक, संगीत, चिकित्साशास्त्र तथा तन्त्र-विद्या इत्यादि सभी विषय भिन्न-भिन्न बौद्धकालीन विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाते थे। पाँचवीं शताब्दी में फाह्यान ने भी यही लिखा था कि उस समय ब्राह्मणीय शिक्षा का भी जोर था। विनय ग्रन्थ बौद्ध भिक्षुओं के प्रधान अध्ययन ग्रन्थ थे। उच्च शिक्षा के लिए संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य था। स्वयं फाह्यान ने 3 वर्ष तक पाटलिपुत्र में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त स्थानीय भाषाओं और पाली का भी प्रचार हो चुका था। यहाँ तक कि अधिकांश बौद्ध ग्रन्थ पाली में थे। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने भी यही लिखा था कि ब्राह्मणीय शिक्षा का जोर था। चार वेदों का अध्ययन अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त बौद्ध पाठ्यक्रम का उल्लेख करते हुए उसने लिखा है कि मठों और विहारों में उपाध्यायों और आचार्यों के द्वारा शिक्षा दी जाती है। प्रारम्भिक शिक्षा में लिखना, पढ़ना, गणित तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का

---

[1] 3 R's.

अध्ययन कराया जाता है। व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। बालक को संस्कृत की वर्णमाला से प्रारम्भ कराके स्वर, सन्धि, समास इत्यादि व्याकरण के नियमों का अध्ययन कराया जाता है। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा में ही लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा का समावेश था।

उच्च शिक्षा के विषय में ह्वेनसांग ने नालन्दा का वर्णन किया है कि उसमें बौद्ध दर्शन, विनय-साहित्य, योग तथा अन्य सभी विद्याएँ पढ़ायी जाती थीं। विक्रमशिला तर्कशास्त्र व न्यायशास्त्र का केन्द्र था। इत्सिंग ने भी इन्हीं पाठ्यक्रम और शिक्षा-विषयों का वर्णन किया है। उसने यह लिखा है कि भिक्षु लोग वेदों की भाँति 'त्रिपिटक' का भी अध्ययन करते थे।

**औद्योगिक शिक्षा**

बौद्ध शिक्षा प्रधानत: धार्मिक थी, उसका प्रमुख उद्देश्य संघ के भिक्षुओं को शिक्षित करना तथा जनता के उन व्यक्तियों को शिक्षित करना था जो संघ में सहानुभूति रखते थे। किन्तु हम देखते हैं कि बौद्ध काल में औद्योगिक तथा जीवनोपयोगी शिक्षा की अवहेलना नहीं की गयी थी। महावग्ग में कातने, बुनने तथा सिलाई करने का साक्ष्य मिलता है। मठ में भिक्षुओं को भी इन शिल्पों के सीखने की आज्ञा थी। उन्नीस सिप्पों (शिल्पों) का उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद व शल्य विज्ञान की इस युग में बहुत उन्नति हुई है। जीवक कुमार भच्च उस युग का प्रसिद्ध चिकित्सक और शल्य विद्या-विशेषज्ञ था। वह तक्षशिला का विद्यार्थी था। सात वर्ष तक चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने के उपरान्त उसने देशाटन करके जड़ी-बूटियों का ज्ञान प्राप्त किया; तदुपरान्त देश के भिन्न-भिन्न भागों, जैसे उज्जयिनी इत्यादि में गया। जीवक के द्वारा मस्तिष्क व पेट की आँतों के ऑपरेशन करने का भी उल्लेख है। इसी प्रकार प्रसिद्ध आयुर्वेद-पिता चरक भी इसी युग में अवतीर्ण हुआ। चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र तक्षशिला था जहाँ राजगृह इत्यादि सुदूर स्थानों से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने आते थे। मिलिन्दपान्ह में भी प्राचीन चिकित्साशास्त्रियों के नाम मिलते हैं, जैसे—नारद, धन्वन्तरि, अंगरिक, कपिल, अतुल और पुब्बकच्छायन इत्यादि।[2] शल्य-विद्या के अतिरिक्त सर्पदंश-चिकित्सा का भी इस युग में आश्चर्यजनक विकास हुआ, यहाँ तक कि मन्त्रों द्वारा विष-शमन और सर्प को पकड़ कर विष चुसवाने का भी उल्लेख मिलता है।

आयुर्वेद के अतिरिक्त जीवनोपयोगी कलाकौशल में वास्तुकला भी प्रमुख थी। नालन्दा तथा विक्रमशिला के विश्वविद्यालय और उनके विशाल भवन, तत्कालीन चित्रकला व मूर्तिकला तथा अन्य बौद्ध विहार, स्तूप व चैत्य इसके प्रमाण हैं। कृषि, व्यापार, कुटीर-उद्योग तथा पशु-पालन इत्यादि लौकिक उद्योगों में जनसाधारण उसी प्रकार प्रशिक्षण पा रहे तथा उन्नति कर रहे थे जैसा कि उन्हें ब्राह्मणीय शिक्षा काल में तत्सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं।

राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा उद्धृत

**शिक्षा-पद्धति**

बौद्ध काल तक लेखन-कला का पर्याप्त प्रचार हो चुका था, किन्तु जनसाधारण में इसका व्यवहार अधिक नहीं होता था। अत: वैदिक शिक्षा की भाँति बौद्ध शिक्षा भी मौखिक दी जाती थी। सिद्धविहारक व्याकरण के धातु व रूप इत्यादि कंठाग्र करते थे। आचार्य और सिद्धविहारक दोनों ही मठों में साथ-साथ रहते थे। अत: आचार्य प्रत्यक्ष रूप से ही विद्या प्रदान करता था। वह विद्यार्थियों को पाठ देता और वे उसे कंठाग्र करते थे। विद्यार्थियों द्वारा पाठ के भलीभाँति बोधगम्य होने पर ही आचार्य आगे बढ़ता था। जो व्यक्ति बौद्ध धर्म में साधारणत: श्रद्धा रखते थे उन्हें 'उपासक' कहते थे। ये उपासक भिक्षुओं को अपने घरों पर निमन्त्रित करके उनके द्वारा उपदेश सुनते थे। विहारों तथा मठों में हेतु-विद्या अर्थात् तर्क-पद्धति को अपनाया जाता था और उसके द्वारा विद्यार्थी का मानसिक विकास किया जाता था। शिक्षण-पद्धति में तर्क-प्रणाली का अधिक महत्त्व था। मठों और विहारों में भिन्न-भिन्न धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर नित्य वाद-विवाद हुआ करते थे। विक्रमशिला तो इनमें सर्वोत्तम था। हिन्दू या वैदिक धर्म अथवा जैन धर्म का खण्डन करने के लिए बौद्ध भिक्षु बाल की खाल निकाला करते थे। भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी समय-समय पर शास्त्रार्थ किया करते थे, अत: विद्यार्थियों को अपने प्रारम्भिक विद्या-काल से ही वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में प्रशिक्षण मिल जाता था। कभी-कभी मठों में विशेषज्ञों को आमन्त्रित किया जाता था और भिन्न-भिन्न विषयों पर विद्यार्थियों के लिए उनके भाषण होते थे। इस प्रकार भाषण और वाद-विवाद ने शिक्षा-पद्धति में एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया था। इससे विद्यार्थी की मानसिक शक्तियों का पर्याप्त विकास होता था। उसकी ज्ञान-परिधि का विस्तार होता था तथा जीवन से उसे एक क्रियात्मक रुचि हो जाती थी। जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं के विषय में वह वाद-विवाद करके अपने विचारों को सुलझाता था। कालान्तर में तो यह प्रणाली यहाँ तक बढ़ी कि विद्वान् लोग केवल 'तर्क, तर्क के लिए' करने लगे। वास्तविक ज्ञान और गम्भीर अध्ययन को इससे बड़ा धक्का लगा। ऐसे तर्कशास्त्रियों में वाचालता अधिक आ गयी।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विशेष आचार्य भी थे जो देशाटन करके विद्या-प्रचार करते थे, जैसे सारीपुत्ता, महामुगल्लन, अनुरुद्ध, आनन्द और राहुल इत्यादि। विद्यार्थियों के लिए उच्च शिक्षा की समाप्ति पर देशाटन के द्वारा ज्ञान को वास्तविक व व्यावहारिक रूप देने की पद्धति का प्रचलन था। इससे उनका ज्ञान अधिक पूर्ण, ठोस व प्रत्यक्ष हो जाता था। जीवन का उदाहरण हम इस विषय में दे चुके हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों से आने वाले भिक्षुओं के सम्मेलन भी होते थे जहाँ शास्त्रार्थ और भाषण होते थे। विद्यार्थियों को इन सम्मेलनों में आने का पूर्ण अवसर दिया जाता था। इनके द्वारा विद्यार्थियों का ज्ञान बढ़ता था। कुछ बौद्ध भिक्षु निर्जन वनों में भी समाधिस्थ होकर चिन्तन व मनन करके अन्तर्ज्ञान प्राप्त करते थे, किन्तु सर्वसाधारण विद्यार्थियों के लिए ऐसी कोई पद्धति प्रचलित नहीं थी।

जीवनोपयोगी विद्वानों और कलाकौशलों की शिक्षण-पद्धति वही थी जो ब्राह्मणीय शिक्षा में थी, अर्थात् विद्यार्थियों को शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों प्रकार की पद्धतियों के द्वारा शिक्षा दी जाती थी। कलाकौशलों में विशेषतः विद्यार्थी कुछ समय तक कुशल कारीगरों के साथ रहते थे और धीरे-धीरे उनकी शिष्यता में कार्य सीखते थे। कातना, बुनना, सिलाई, शिल्पकला, वास्तुकला तथा अन्य दस्तकारियाँ इसी प्रकार सीखी जाती थीं।

**स्त्री-शिक्षा**

बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार स्त्री को त्याज्य व हेय समझा जाता था। भिक्षु आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहते थे। अतः स्त्रियों के सम्पर्क में आने से वे डरते थे। किन्तु दिन-प्रतिदिन के जीवन में यह असम्भव था, विशेषतः उस अवस्था में जब उन्हें अपने शिष्यों के साथ गृहस्थों के यहाँ भिक्षान्न के लिए जाना होता था। अतः महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को सम्मिलित होने की आज्ञा प्रदान कर दी थी और बौद्ध भिक्षुणियाँ इन्हीं मठों और विहारों में रहकर पवित्र जीवन व्यतीत करती थीं। बौद्ध शिक्षा के प्रारम्भिक दिनों में तो स्त्री-शिक्षा को बहुत प्रोत्साहन मिला और स्त्रियों के लिए अलग मठों का भी निर्माण हो गया; किन्तु चौथी शताब्दी में भिक्षुणियों के विचारों का ह्रास होने लगा, क्योंकि बौद्ध विहारों का शिक्षा के दृष्टिकोण से इतना महत्त्व बढ़ गया था कि वहाँ अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा प्रदान की जाने लगी थी। अतः स्त्रियाँ उन विद्यालयों से कोई लाभ नहीं उठा सकीं तथापि जो कुछ भी शिक्षा स्त्रियों को मिली उसने न केवल जनसाधारण की स्त्रियों का ही चरित्र-निर्माण व मानसिक विकास किया, अपितु कुछ ऐसी उच्च कोटि की विदुषी महिलाओं को भी उत्पन्न किया जिन्होंने धार्मिक व दार्शनिक क्षेत्र में समाज का नेतृत्व किया। बहुत-सी स्त्रियाँ दर्शनशास्त्र का गहन अध्ययन करती थीं और कुछ उच्च कोटि की कवयित्रियाँ भी थीं। कुछ समाज-सेवा का भार भी लेती थीं और उसी में शिक्षा भी प्राप्त करती थीं। बौद्ध काल में कुछ स्त्रियों के धर्म-प्रचार के लिए विदेश जाने का भी उल्लेख मिलता है। सम्राट अशोक की बहन संघमित्रा लंका इत्यादि देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने गयी थी। शुभा, अनुपमा और सुमेधा नामक ऐसी बौद्ध भिक्षुणियों का भी उल्लेख मिलता है, जो आजीवन ब्रह्मचारिणी रही थीं। उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियाँ शिक्षण का कार्य भी करती थीं और 'उपाध्याया' कहलाती थीं। छात्राओं के लिए छात्रिशालाओं का उल्लेख भी पाणिनि ने किया है। शीलभट्टारिका, प्रभुदेवी तथा विजयांका इत्यादि उच्च कोटि की कवयित्रियाँ थीं। विजयांका को तो कालिदास के उपरान्त द्वितीय श्रेणी की कवयित्री बताया जाता है। स्त्रियाँ राजनीति का भी अध्ययन करती थीं। पति की मृत्यु के उपरान्त शासकों की रानियाँ राज्य-भार ग्रहण करती और प्रबन्ध को सुचारु रूप से चलाती थीं। उस समय कई ऐसे राज्य विद्यमान थे जहाँ शासन का कार्य स्त्रियों के हाथ में रहा। शतवाहन राज्य में नायनिका, चौथी शताब्दी में वाकाटक में प्रभावती गुप्ता तथा चालुक्य वंश में (बादामी) विजय

महारिका के नाम से प्रसिद्ध हैं। इससे प्रमाणित होता है कि राजनीति का शास्त्रीय व व्यावहारिक ज्ञान स्त्रियाँ भी प्राप्त करती थीं। इसके अतिरिक्त स्त्रियाँ आलोचना, मीमांसा, वेदान्त, आयुर्वेद तथा उच्च साहित्य का अध्ययन भी करती थीं। शंकराचार्य और मण्डन मिश्र के बीच में हुए शास्त्रार्थ में निर्णायिका का कार्य मण्डन मिश्र की पत्नी ने किया था। इससे सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि स्त्रियों की प्रतिभा किस कोटि को पहुँच गयी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियों को अपने आत्म-विकास का अवसर प्राप्त होता था, किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यह स्त्री-शिक्षा केवल उच्च वर्ग की महिलाओं को ही उपलब्ध हो सकी। वर्तमान समय में स्त्री-शिक्षा का जो व्यापक अर्थ समझा जाता है उसके अनुसार यह स्त्री-शिक्षा अपर्याप्त थी। साधारण जनता में कृषक, मजदूर, कारीगर तथा साधारण व्यापारियों और शिल्पियों के घरों में स्त्री-शिक्षा का प्रचार शून्य के बराबर था। वैदिक शिक्षा में स्त्रियों का जो अनिवार्य उपनयन-संस्कार होता था, अब बहुत कम हो गया था अथवा पूर्णतः विलीन हो गया था। इसका प्रभाव यह पड़ा कि बालिकाओं के विवाह की अवस्था कम हो गयी और उनके विवाह बाल्यावस्था में ही होने लगे। परिणाम यह हुआ कि स्त्री-शिक्षा को इससे बहुत आघात पहुँचा। नवीं और दसवीं शताब्दी में तो अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गयी। बालिकाओं का विवाह 10 या 11 वर्ष की अवस्था में होने लगा। इस काल में स्त्रियों का धार्मिक व सामाजिक सम्मान-स्तर भी गिर गया। इससे भी स्त्री-शिक्षा को बड़ी क्षति पहुँची।

**बौद्ध शिक्षा और ब्राह्मणीय शिक्षा में विभिन्नता**

विद्यार्थी प्रायः अपना अध्ययन प्रातःकाल में प्रारम्भ करते थे। बहुत-से स्थानों पर तो कौआ पाल लिया जाता था जो समय की सूचना विद्यार्थियों को देता था। इसके उपरान्त विद्यार्थियों की दिनचर्या प्रायः वही थी जैसी कि वैदिक काल में थी। वास्तव में सम्पूर्ण शिक्षण-पद्धति ही दोनों युगों में प्रधानतः एकसी थी। भेद केवल यही था कि ब्राह्मणीय शिक्षा गुरु-गृह पर पारिवारिक रूप में दी जाती थी, जबकि बौद्ध शिक्षा मठों या सुसंगठित शिक्षा-संस्थाओं में दी जाती थी। प्रथम में व्यक्ति पर अधिक जोर दिया जाता था; द्वितीय में व्यक्ति समूह की एक इकाई था, अतएव शिक्षा सामूहिक रूप में दी जाती थी। ब्राह्मणीय शिक्षा में पारिवारिक जीवन एक महत्त्वपूर्ण अंग था, जबकि बौद्ध धर्म का आधार ही गृह-त्याग था। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में परिवार के कोमल व प्राकृतिक सम्बन्धों का विच्छेद करके धार्मिक आधार पर 'बन्धु समाज' स्थापित किया जाता था। एक बौद्ध-बन्धु अपने सम्पूर्ण बन्धु समाज पर निर्भर रहता था और बन्धु समाज स्वयं साधारण उपासक या जनता पर निर्भर रहता था। इसमें व्यक्तिगत उत्साह, योग्यता, क्षमता और क्रिया का लोप हो जाने की सम्भावना रहती थी।

दूसरा अन्तर यह था कि ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति में विद्यार्थी कठोर शारीरिक व

मानसिक अनुशासन में रहता था। उसके लिए सुख तथा सुख सामग्रियों का निषेध था। विद्यार्थी-जीवन एक तपश्चर्या थी। 'सुखार्थिनः कुतो-विद्या, नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्' के आदर्श को कार्यान्वित करने की चेष्टा की जाती थी। किन्तु बौद्ध शिक्षा-प्रणाली के अनुसार "शरीर को सुन्दरता से सजाया, स्वच्छ किया और मला जाना था; नियम से भोजन दिया जाता; वर्षाकाल में सुरक्षित स्थान पर रखा जाता था; मध्यान्ह की गर्मी में विश्राम किया जाता और अस्वस्थ होने पर सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक द्वारा चिकित्सा करायी जाती थी।"[3]

तीसरा अन्तर यह था कि ब्राह्मणीय शिक्षा एक प्रकार से एकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी, जबकि बौद्ध शिक्षा जनतन्त्रवाद के सिद्धान्तों से मेल खाती थी। अर्थात् प्रथम में गुरु का 'प्राधान्य' और 'उच्चता' जीवन-पर्यन्त स्थिर रहते थे; किन्तु दूसरी पद्धति के अनुसार शिष्य कुछ समय के उपरान्त संघ में सम्मिलित होने पर समान मत देने का अधिकारी हो जाता था। गुरु और शिष्य में भेद आध्यात्मिक ज्ञान के स्तर का रहता था।

अन्त में ब्राह्मणीय शिक्षा-प्रणाली के अनुसार केवल वे ही व्यक्ति तपस्या या वैराग्य का जीवन ग्रहण करते थे जो अनेक प्रकार से उसके समर्थ होते थे। बौद्ध शिक्षा-प्रणाली के अनुसार भगवान बुद्ध के जीवन-काल तक तो केवल निखरे हुए मनस्वी ही संघ के सदस्य थे, परन्तु कालान्तर में उसमें कुछ अवांछनीय बातें आ गयीं। जन-तन्त्रवाद के सिद्धान्तों का दुरुपयोग हुआ और संघ में भिक्षु-भिक्षुणी भ्रष्टाचार में लीन हो गये। छोटे-छोटे स्थानीय संघों के विकास से केन्द्रीय संघ का नियन्त्रण शिथिल पड़ गया। परिणामतः धीरे-धीरे बौद्ध धर्म भारत से उठ गया और उसके स्थान पर शंकराचार्य व माधवाचार्य इत्यादि ब्राह्मण आचार्यों के प्रयत्नों से शिक्षा-जगत में पुनः ब्राह्मणीय पद्धति का अनुसरण होने लगा।

**बौद्ध शिक्षा के दोष**

बौद्ध शिक्षा दोषों से सर्वथा मुक्त न थी। हिन्दू शिक्षा की भाँति इसमें भी धार्मिक शिक्षा का प्राधान्य था। अन्त में जाकर तो कलाकौशल को हेय समझा जाने लगा और उच्च वर्ग के लोगों ने तो इसे पूर्णतः छोड़ ही दिया। इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण की शिक्षा का भी अनुपात उतना नहीं रहा जितना कि ब्राह्मणीय शिक्षा के अन्तर्गत था। एक भयंकर दोष इस पद्धति का यह रहा है कि इसमें जनतन्त्र के नाम पर स्वेच्छाचार का प्रवेश हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि संघीय नियन्त्रण शिथिल होने पर मठ भिक्षु-भिक्षुणियों के क्रीड़ा-स्थलों में परिवर्तित होने लगे। जिस 'संघ' की स्थापना में ही बौद्ध धर्म की सफलता का रहस्य था, वही इसके पतन का कारण बना। इसके अतिरिक्त बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में सैनिक विज्ञान, अस्त्र-शस्त्र निर्माण-कला एवं युद्धकला का अधिक विकास न हो सका। कारण यह था कि बौद्ध शिक्षा अहिंसा-प्रधान और निवृत्ति-मूलक थी। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार

[3] Dr. R. K. Mukerjee : *Ancient Indian Education*, p. 46.

संसार दुखमय था। अतः इसे छोड़कर तथा इच्छाओं का दमन करके निर्वाण प्राप्त करना ही जीवन का उद्देश्य समझा जाता था। फलतः जीवन में आडम्बर आ गया, भिक्षुओं का बाह्य जीवन निरा बनावटी प्रतीत होने लगा। जीवन-संघर्ष का अभिप्राय केवल आध्यात्मिक चिन्तन ही समझा गया। इससे उसकी सर्वतोन्मुखी प्रगति अवरुद्ध हो गयी; और जब विदेशियों ने देश पर आक्रमण किया तो भारत सैनिक शक्ति से उनका सामना न कर सका।

इतना होते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि बौद्ध शिक्षा में दोषों की अपेक्षा गुणों का ही अधिक समावेश था, यद्यपि अपने दोषों के कारण ही इसका पतन हो गया और देश में पुनः ब्राह्मणीय शिक्षा की तूती बोलने लगी।

**उपसंहार**

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि बौद्ध शिक्षा ने भारत में एक उच्च संस्कृति का शिलारोपण किया। बौद्ध शिक्षा-पद्धति तत्कालीन आर्य-जीवन में एक नूतनता और परिवर्तन लायी। यद्यपि भारतीय दृष्टिकोण सदा से ही पवित्र व सात्विक जीवन के पक्ष में रहा था, बौद्ध धर्म-शिक्षा ने इसे और भी अधिक पवित्र और महान् बना दिया। मठों और महाविहारों में श्रमण और भिक्षुओं का उच्च जीवन व्यतीत करना भारतीय जनता के लिए अनुकरणीय रहा; यहाँ तक कि बौद्धकालीन विद्यालयों ने चीन, जापान, कोरिया, जावा, ब्रह्मा, लंका और तिब्बत आदि देशों से विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं को आकर्षित किया। इन विदेशी विद्यार्थियों ने आकर भारत के धर्म, साहित्य और शिक्षा-प्रणाली का गहन अध्ययन किया और यहाँ की संस्कृति को अपने देशों में विकसित किया। बौद्ध विहारों में जाति-पाँति और धनी-निर्धन का भेद मिट गया जो ब्राह्मणीय शिक्षा में जड़ पकड़ गया था। बौद्ध विद्यालय सभी के लिए खुले थे। वहाँ सभी वर्ग के विद्यार्थियों को अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार चरित्र-विकास का समान सुअवसर प्रदान किया जाता था। धार्मिक और दार्शनिक शिक्षा के अतिरिक्त बौद्धकालीन शिक्षा सांसारिक भी थी। तत्कालीन शिक्षा-पद्धति ने नालन्दा, तक्षशिला तथा विक्रमशिला इत्यादि महान् अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं को जन्म दिया, जहाँ धार्मिक व लौकिक सभी प्रकार की उच्च शिक्षा दी जाती थी। देश की तत्कालीन भौतिक सम्पन्नता तथा आध्यात्मिक गुरुता का श्रेय तत्कालीन शिक्षा-पद्धति को ही है। शिक्षा जीवन की वास्तविक समस्याओं के साथ मेल रखती थी और उन्हें हल करने का प्रयास करती थी जिस प्रकार भारत की आधुनिक शिक्षा अधिकांश में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का अनुकरण मात्र है, उस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा नहीं थी। उसका विकास तो भारत भूमि में, शुद्ध भारतीय परिस्थितियों में तथा भारतवासियों द्वारा ही हुआ था। यही कारण था कि वह शिक्षा-प्रणाली देश और काल के अधिक अनुकूल थी। उस समय शिक्षा का सार्वजनिक प्रचार था। बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक शताब्दियों में स्त्री-शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म से सहानुभूति रखने वाले जनसाधारण की शिक्षा की भी व्यवस्था थी,

क्योंकि वे संघ की भावी निधि समझे जाते थे तथा इन्हीं उपासकों में से बौद्ध भिक्षुओं और आचार्यों का चुनाव होता था।

जीवन में संयम व अनुशासन का संचार करने में भी बौद्ध शिक्षा को पर्याप्त सफलता मिली। आचार्य तथा शिष्य सभी संयम का जीवन व्यतीत करते थे। स्त्रियों का सम्पर्क निषिद्ध था। किन्तु एक बात उल्लेखनीय है कि शरीर को कृश करने अथवा यातना देने में बौद्ध विश्वास नहीं रखते थे। फाह्यान, ह्वेनसांग तथा इत्सिग नामक चीनी यात्रियों ने बौद्ध विहारों तथा शिक्षा का आँखोंदेखा वर्णन लिखा है जिसे पढ़कर हम बौद्ध शिक्षा की महानता का अनुमान कर सकते हैं। बौद्ध शिक्षा की हमारी पृष्ठभूमि हमें आज भी चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत, स्याम, कम्बोडिया तथा अन्य सुदूरपूर्व देशों में अपने सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध बनाये रखने में सहायक है।

## सारांश

**बौद्ध धर्म परम्परागत हिन्दू धर्म के विरुद्ध एक विद्रोह था। दोनों में मतभेद होते हुए भी उनकी मूल प्रवृत्तियाँ एक थीं। अतः बौद्ध धर्म पर आधारित शिक्षा-प्रणाली में ब्राह्मणीय शिक्षा से मौलिक मतभेद नहीं था। बौद्ध शिक्षा ब्राह्मणीय शिक्षा का एक अधिक सुव्यवस्थित, व्यापक व अधिक वैज्ञानिक परिवर्द्धित रूप था।**

**बौद्ध शिक्षा-प्रणाली के अनुसार विद्यारम्भ के समय 'पब्बज्जा' नामक प्रथम संस्कार का प्रतिपादन किया जाता था। प्रायः ८ वर्ष की आयु होने पर बालक का पब्बज्जा संस्कार होता था। उस समय उसे बुद्ध, धम्म तथा संघ की शरण में आने की शपथ लेनी पड़ती थी। उसके उपरान्त ही मठ का कठोर अनुशासन उसके ऊपर लागू हो जाता था। बौद्ध शिक्षा-प्रणाली का दूसरा संस्कार था उपसम्पदा। उसे 20 वर्ष की आयु होने पर स्वीकार किया जाता था। इसके उपरान्त ही श्रमण भिक्षु होने का अन्तिम प्रमाण पाता था। स्त्रियाँ भी इन संस्कारों की अधिकारिणी थीं।**

**गुरु-शिष्य सम्बन्धों में वही पवित्रता बनी रही जो ब्राह्मणीय शिक्षा के अन्तर्गत थी। दोनों के लिए चरित्र तथा सादगी पर बल दिया जाता था।**

**विद्यार्थियों के निवास तथा विद्यालयों के लिए गुरुकुलों के स्थान पर सुसंगठित मठों पर विहारों का निर्माण हो गया था जहाँ विद्यार्थियों के लिए उपाध्याय के साथ रहने की व्यवस्था थी। ये ही मठ व विहार तत्कालीन विश्वविद्यालय थे जहाँ देश-देशान्तरों से जिज्ञासु विद्यार्थी उच्च अध्ययन के लिए आकर रहते थे। विद्यार्थियों व अध्यापकों के खर्चे के लिए भिक्षान्न के अतिरिक्त राज्य तथा धनिक लोगों की ओर से स्थायी आर्थिक सहायता की भी व्यवस्था थी।**

**पाठ्यक्रम—बौद्ध शिक्षा निवृत्ति-प्रधान थी जिसका प्रमुख उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना था। अतः शिक्षा धर्म-प्रधान थी। पाठ्यक्रम दो स्तरों में विभक्त था—प्रारम्भिक व उच्च शिक्षा।**

**प्रारम्भिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में लिखना-पढ़ना, साधारण गणित तथा धार्मिक आचार की शिक्षण-व्यवस्था थी और उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में धर्म, दर्शन, आयुर्वेद,**

वेद, इतिहास, पुराण, काव्य, शब्द-विद्या, व्याकरण, ज्योतिष, सामुद्रिक विद्या, शकुन-विद्या, योग, न्याय तथा तन्त्र-विद्या इत्यादि प्रमुख थे।

शास्त्रीय शिक्षा के अतिरिक्त औद्योगिक व व्यावसायिक शिक्षा की इस युग में विशेष उन्नति हुई। कातने, बुनने व सिलाई के प्रशिक्षण की व्यवस्था तो मठों में भिक्षुओं के लिए भी थी। चिकित्साशास्त्र के विकास को इस युग में चरम कोटि तक पहुँचा दिया गया।

शिक्षा-पद्धति—बौद्ध काल तक लेखन-कला का पर्याप्त प्रचार हो चुका था; किन्तु इसका प्रचार जनसाधारण में पर्याप्त न होने के कारण अब भी अधिकांश में मौखिक शिक्षा दी जाती थी। आचार्य व विद्यार्थी दोनों साथ-साथ रहते थे। अतः आचार्य प्रत्यक्ष रूप से ही शिक्षा प्रदान करता था। पाठों को कंठाग्र करने की प्रथा यथावत् बनी हुई थी।

शिक्षण-पद्धति में तर्क-प्रणाली का विकास बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत और भी अधिक हुआ। मठों व विहारों में विभिन्न गूढ़ तत्त्वों पर प्रायः तर्क-वितर्क के द्वारा विषयों को समझाया जाता था। विद्वानों के द्वारा प्रमुख विषयों पर भाषण देने की भी प्रथा थी। देशाटन को भी शिक्षा का साधन समझा जाता था। कला-कौशल सम्बन्धी एवं अन्य व्यावसायिक विषयों में शास्त्रीय शिक्षा प्रदान करने के साथ ही साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण प्राप्त करने की भी व्यवस्था थी।

स्त्री-शिक्षा को इस युग में धक्का लगा। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार यद्यपि नारी को त्याज्य व हेय समझा जाता था तथापि उनके लिए शिक्षा वर्जित नहीं थी। बौद्ध काल में भारत में कई उच्च कोटि की विदुषी महिलाएँ उत्पन्न हुईं। कुछ महिलाएँ भिक्षुणी बनकर धर्म-प्रचार के लिए विदेशों तक में गयीं। उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्री 'उपाध्याया' कहलाती थीं। छात्राओं के लिए निवासस्थानों का वर्णन भी मिलता है।

किन्तु जो कुछ भी स्त्री-शिक्षा का प्रचार था वह अधिकांश में उच्च वर्ग की महिलाओं में था। वैदिक शिक्षा के अन्तर्गत जो उपनयन की अनिवार्य व्यवस्था थ वह अब टूट चुकी थी, अतः लड़कियों की शिक्षा को इससे बहुत आघात लगा। स्त्री का सामाजिक स्तर गिर जाने से भी उसकी शिक्षा को इस युग में क्षति पहुँची।

ब्राह्मणीय व बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में बहुत-सी समानता होते हुए भी कुछ मौलिक भेद थे। प्रथम में व्यक्ति पर बल दिया जाता था, द्वितीय में व्यक्ति-समूह पर। एक में पारिवारिक जीवन एक महत्त्वपूर्ण अंग था जबकि दूसरे का आधार ही गृह-त्याग था। ब्राह्मणीय शिक्षा में अनुशासन अधिक कठोर था और शिक्षा एकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर आधारित थी, किन्तु बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत कठोर जीवन को अधिक श्लाघ्य नहीं समझा जाता था एवं शिक्षा का जनतन्त्रीकरण हो चुका था।

# 5

# प्राचीनकालीन प्रमुख शिक्षा-केन्द्र

**पृष्ठभूमि**

प्राचीन काल में शिक्षा की यह विशेषता थी कि गुरु और शिष्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था और दोनों एक ही स्थान पर मिलकर रहते थे। ब्राह्मणीय शिक्षा के सम्बन्ध में हमने देख लिया है कि किस प्रकार ब्रह्मचारी गुरु-गृह पर रहकर ही विद्याध्ययन करते थे। गुरु-गृह ही उनका शिक्षालय था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के विकास पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। वास्तव में आध्यात्मिक या दार्शनिक विकास के लिए, जैसा कि प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य था, यह आवश्यक भी था कि शिक्षा के बाह्य उपकरणों पर अधिक ध्यान न देकर विद्यार्थी की आन्तरिक उन्नति की जाय। शिक्षा की इस व्यवस्था के कारण प्राचीन काल में सुसंगठित शिक्षा-केन्द्र, जैसे बौद्ध काल अथवा वर्तमान काल में मिलते हैं, स्थापित न हो सके; यद्यपि उस युग में भी कुछ मठ अथवा विशाल तीर्थ-क्षेत्रों का निर्माण हो गया था। किन्तु उन क्षेत्रों में सामूहिक रूप से आराधना इत्यादि नहीं की जाती थी। ये तीर्थ शिक्षा-केन्द्र अथवा शिक्षा-संस्थाएँ नहीं कहला सकते थे तथापि वैदिक काल में संघ, परिषद्, चरण, मठ और गुरुकुल अवश्य स्थापित हो गये थे। वैदिक तथा उपनिषद् साहित्य में हमें ऐसे संघों और परिषदों का उल्लेख मिलता है जहाँ भिन्न-भिन्न स्थानों से विद्वान् आकर एकत्र होते थे और उच्च कोटि के शास्त्रार्थ करते थे। जिन स्थानों में गुरुकुल की स्थापना हो गयी थी, वहाँ अवश्य सामूहिक रूप से विद्याध्ययन होता था। ये गुरुकुल बहुधा गाँवों में ही स्थापित हुए। इसके अतिरिक्त वनों में भी गुरुकुलों की स्थापना हुई। किन्तु ये गुरुकुल भी इस प्रकार संगठित और संचालित न थे जैसे आगे चलकर जैन और बौद्ध शिक्षा-संस्थाएँ बनीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के सम्पर्क में आने पर हिन्दुओं ने संगठित शिक्षा-संस्थाएँ निर्मित करने में उनका अनुकरण किया और विशाल मठों या मन्दिरों में शिक्षा दी जाने लगी। हिन्दू राजाओं तथा प्रजा ने शिक्षा-प्रचार के लिए इन मन्दिरों को दान दिये, अतः ये स्थान शिक्षा-केन्द्र बन गये। वहाँ क्रमानुसार प्रारम्भिक व उच्च शिक्षा प्रदान की जाने लगी। इसके अतिरिक्त कुछ स्थान ऐसे भी बन गये जहाँ विशेष प्रकार की शिक्षा के केन्द्र स्थापित हो गये,

जैसे तक्षशिला में आयुर्वेद, धनुर्वेद तथा राजनियम (कानून) का अध्ययन करने के लिए दूर-दूर से राजपुत्र आया करते थे। उज्जयिनी में ज्योतिष तथा काशी में दर्शन व संगीत इत्यादि के केन्द्र थे। दक्षिणी भारत में कुछ शिक्षा-केन्द्र स्थापित हो गये जैसे बीजापुर जिले में सलोत्गी गाँव में एक विशाल संस्कृत विद्यालय था। आगे चलकर इसकी इतनी उन्नति हुई कि इसमें सत्ताइस विशाल छात्रावासों का निर्माण करना पड़ा। इसके अतिरिक्त दूसरा हिन्दू शिक्षा का केन्द्र एन्नायरम में था जो ग्यारहवीं शताब्दी में स्थापित हुआ था। तीरुमुक्कुदल, मालकापुरम, धारा, पाण्डिचेरी अन्य केन्द्र थे। 'अग्रहार' ग्राम भी प्राचीन हिन्दू शिक्षा के विशाल केन्द्र थे जिनकी स्थापना दक्षिणी भारत में राजाओं द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों के उपनिवेशों के रूप में हुई थी। बंगाल के 'टोल' भी इसमें उल्लेखनीय हैं। किन्तु यह स्मरणीय है कि इन हिन्दू शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना बौद्ध केन्द्रों के अनुकरण के फलस्वरूप ही हुई।

**सुसंगठित शिक्षा-संस्थाएँ**

ऐसी संस्थाओं का प्रारम्भ बौद्ध काल में हुआ। बौद्ध धर्म की स्थापना जनतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर हुई थी जिसमें सर्वसाधारण को उन्हीं की बोलचाल की भाषा में 'धम्म' का उपदेश दिया गया था। अतः प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पाली और उच्चतम शिक्षा के लिए संस्कृत की सुसंचालित शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित की गयीं। साधारण उपासकों के लिए भी बुद्ध ने संस्थाओं की आवश्यकता का अनुभव किया। अतः मठों की स्थापना हुई। ये मठ बड़े-बड़े शिक्षा-विहारों के रूप में परिवर्तित हो गये। इन केन्द्रों में भिक्षु, भिक्षुणी एवं साधारण जनता सभी को विद्याध्ययन के लिए अवसर प्रदान किया जाता था। दूर-दूर जनपदों से सभी वर्गों के विद्यार्थी आ-आकर यहाँ निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते थे—यहाँ तक कि चीन, जापान, तिब्बत तथा अन्य पूर्वी द्वीपों से भी विद्यार्थी बौद्ध धर्म का अध्ययन करने यहाँ आते और यहाँ से अन्य ग्रन्थों का अनुवाद करके अपने देशों को ले जाते थे। नालन्दा और तक्षशिला तो विश्वविद्यालयों के रूप में विकसित हो गये थे। बौद्धकालीन शिक्षा-केन्द्रों का प्रबन्ध जनतन्त्र के सिद्धान्तों पर होता था। प्रायः कोई विद्वान भिक्षु ही उसका प्रधान होता था। प्रत्येक विभाग, जैसे प्रवेश-परीक्षा, पाठ्यक्रम, छात्रावास, भोजन-व्यवस्था, भवन-निर्माण, चिकित्सा, पुस्तकालय तथा भिन्न-भिन्न पाठ्य-विषयों के लिए अलग-अलग अध्यक्ष होते थे। नवीं शताब्दी में एक भिक्षु छात्र जो जलालाबाद (अफगानिस्तान) का निवासी था और बिहार में तीर्थयात्रा के लिए आया था, विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया गया। इसका अभिप्राय यह है कि स्थानीय या प्रान्तीय भेदभाव की भावना लोगों के हृदय में नहीं थी। इस प्रकार ये बौद्धकालीन सुसंगठित शिक्षा-संस्थाएँ जो देश में मठ, विहार और विश्वविद्यालयों के रूप में स्थित थीं, देश की सभ्यता की रीढ़ थीं। आज भारत के जो सांस्कृतिक सम्बन्ध एशिया के विभिन्न देशों से स्थापित हैं उनका बहुत कुछ श्रेय इन्हीं शिक्षा-संस्थाओं को है।

अब हम नीचे बौद्धकालीन कुछ प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों का वर्णन करेंगे। इनमें

तक्षशिला, नालन्दा, वलभी, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, नदिया, मिथिला तथा जगद्दला विशेष उल्लेखनीय हैं ।

(1) **तक्षशिला**—अत्यन्त प्राचीन काल से तक्षशिला ब्राह्मणीय शिक्षा का केन्द्र रहा था । बौद्ध काल में भी उत्तरी भारत में यह प्रमुख शिक्षा का केन्द्र था । किन्तु पाँचवीं शताब्दी में जब फाह्यान ने तक्षशिला को देखा तो उस समय तक वहाँ विश्वविद्यालय के कोई चिन्ह शेष नहीं थे, और सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग इस विद्याकेन्द्र को देखकर बहुत निराश हुआ था ।

तक्षशिला प्राचीन काल में गान्धार प्रान्त की राजधानी था । किन्तु इसकी स्थापना का इतिहास उससे भी अधिक प्राचीन है । रामायण में लिखा है कि राजा भरत ने इसे अपने पुत्र 'तक्ष' के नाम पर बसाया था । तक्षशिला के भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित होने के कारण इस पर अनेक आक्रमण हुए । इन आक्रमणों के परिणामस्वरूप समय-समय पर इसका राजनीतिक स्वरूप बदलता रहा । ईरानी, यूनानी तथा कुषाणों ने इस पर आक्रमण किये और अपने-अपने राज्य स्थापित किये । अतः यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि इन राज्य-परिवर्तनों के साथ ही साथ शिक्षा का स्वरूप भी अवश्य बदला होगा ।

तक्षशिला में कोई एक सुसंगठित विद्यालय या विश्वविद्यालय नहीं बना था । शिक्षण का आधार परिवार-प्रणाली था । यहाँ अनेक विद्वान् आचार्य सैकड़ों विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे । इस प्रकार उत्तर भारत के लिए यह एक दीर्घ शिक्षा-केन्द्र हो गया था । बनारस, मिथिला तथा राजगृह इत्यादि स्थानों से विद्यार्थियों के तक्षशिला जाने का वर्णन जातकों में मिलता है । तक्षशिला में प्रधानतः उच्च शिक्षा दी जाती थी । लगभग सोलह वर्ष की अवस्था के विद्यार्थी तक्षशिला पहुँचते थे । वेदत्रयी, वेदान्त, व्याकरण, आयुर्वेद, अठारह सिप्प, सैनिक-विद्या, ज्योतिष-विद्या, कृषि, व्यापार, सर्पदंश-चिकित्सा तथा तन्त्र यहाँ के विशेष अध्ययन के विषय थे । व्याकरण-पिता पाणिनि तथा प्रसिद्ध चिकित्सा और शल्य-विशेषज्ञ जीवक यहीं की उपज थे । इन विद्याओं के सीखने के लिए जाति-पाँति का कोई बन्धन नहीं था, जैसा काशी से एक ब्राह्मण पुत्र के सैनिक-विज्ञान सीखने के लिए आने के कथानक से प्रतीत होता है । तक्षशिला यवनों की संस्कृति से भी प्रभावित हुआ था । कुछ आचार्य वहाँ पर ग्रीक भाषा का शिक्षण करते थे । ग्रीक-युद्ध का प्रशिक्षण भी यहाँ होता था । वास्तव में भारतीय युद्ध-कला के लिए तो तक्षशिला अत्यन्त प्रसिद्ध था । चिकित्साशास्त्र का अध्ययन-काल सात वर्ष था । जीवक सात वर्ष तक तक्षशिला में रहा था । 'अर्थशास्त्र' के रचयिता कौटिल्य ने भी अपनी उच्च शिक्षा यहीं प्राप्त की थी ।

इस प्रकार कई शताब्दियों तक तक्षशिला ने अपनी ज्ञान-ज्योति देश में विकीर्ण की । भाग्य के अनेक उतार-चढ़ावों की अपेक्षा परिवर्तन के भयानक झंझा में भी यह ज्ञान-शिखा आलोकित होती रही । अन्त में बर्बर हूणों ने इसे पदाक्रान्त कर डाला और इस प्रभा को सदा के लिए बुझा दिया ।

(2) **नालन्दा**—बिहार प्रान्त में पटना से 40 मील दक्षिण-पश्चिम तथा राजगृह से 7 मील उत्तर की ओर नालन्दा नामक प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षा-केन्द्र था । प्रारम्भ में यह एक छोटा-सा गाँव था और इसका शिक्षा-महत्त्व कुछ भी नहीं था, किन्तु धीरे-धीरे इसका महत्त्व बढ़ता गया । महात्मा बुद्ध के प्रिय शिष्य सारीपुत्त की जन्म-भूमि होने के कारण इस स्थान का महत्त्व बौद्ध भिक्षुओं के लिए अधिक हो गया । सम्राट् अशोक जब सारीपुत्त का चैत्य देखने आये तो उन्होंने एक विहार यहाँ बनवाया । "इस प्रकार नालन्दा विहार का प्रथम संस्थापक अशोक था ।" ईसा की प्रथम शताब्दी में महायान के विकास के समय से इस स्थान का महत्त्व बढ़ने लगा । चौथी शताब्दी तक यह स्थान शिक्षा की दृष्टि से भी प्रसिद्ध हो गया । नागार्जुन तथा उनके शिष्य आर्यदेव, जो अनुमानतः चौथी शताब्दी में ही उत्पन्न हुए थे, दोनों ही विद्वानों के उस समय नालन्दा में रहने से भी यह प्रतीत होता है कि उस समय तक यह स्थान ख्याति प्राप्त करता जा रहा था; किन्तु लगभग पाँचवीं शताब्दी तक भी हम यह नहीं कह सकते कि नालन्दा भारत का सर्वप्रथम शिक्षा-केन्द्र था, क्योंकि जब सन् 410 में फाह्यान यहाँ आया तो नालन्दा शिक्षा की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रखता था । इसका वास्तविक उत्थान तो सन् 450 से प्रारम्भ होता है । तत्पश्चात लगभग तीन शताब्दियों तक यह उन्नति के शिखर पर रहा । सातवीं शताब्दी में जब ह्वेनसांग यहाँ आया तो उसने नालन्दा को उन्नति की पराकाष्ठा पर पाया । ह्वेनसांग के लेखों में हमें नालन्दा के महत्त्व और वैभव का वर्णन मिलता है ।

नालन्दा का वास्तविक उत्थान गुप्त सम्राटों के द्वारा हुआ । कुमारगुप्त प्रथम (414–455 ई०) ने यहाँ एक मठ बनवाया । इसके उपरान्त तथागत गुप्त, नरसिंह गुप्त, बालादित्य, बुद्धगुप्त, बज्र तथा हर्ष ने भी वहाँ मठों की स्थापना की । इन मठों के निर्मित हो जाने से नालन्दा का विस्तार बहुत बढ़ गया । ये ही मठ विश्व-विद्यालय के प्रमुख भवन में सम्मिलित थे । सम्पूर्ण क्षेत्र एक विशाल व दृढ़ दीवार से घिरा था जिसमें एक प्रवेश-द्वार था । इस द्वार पर ही द्वार-पण्डित का निवासस्थान था जो प्रवेश परीक्षा लेता था । द्वार में प्रवेश करते ही आठ बड़े सभा-मण्डप मिलते थे, जहाँ विद्यार्थियों को सामूहिक भाषण दिये जाते थे । ये भवन संघाराम के मध्य में स्थित थे । इसके अतिरिक्त 300 अध्ययन-कक्ष थे, जहाँ विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे । विश्वविद्यालय के भवन-निर्माण की कला अत्यन्त उच्च कोटि की थी । इस समय भारत वास्तुकला में अद्वितीय था जिसकी प्रतिच्छाया नालन्दा विहार में देखने को मिलती थी । मुख्य भवन इतना ऊँचा था कि "विहारावली की शिखर-श्रेणी अम्बुधरों (बादलों) को चूमती थी ।"[1] ये भवन कई खण्डों के थे और इनकी मीनारें अथवा मन्दिरों के गुम्बद तो अवश्य ही अत्यन्त ऊँचे थे । सम्पूर्ण भवन एक योजना के

यस्यामम्बुधरावलेहि शिखर श्रेणी विहरावली ।
मालेवोर्ध्व विराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञाभुवः ।

—*Epigraphia Indica* से अलतेकर द्वारा उद्धृत

अनुसार बनाया गया था । आज भी जो नालन्दा के भग्नावशेष विद्यमान हैं उन्हें देखने से प्रतीत होता है कि उस समय इंजीनियरी का कार्य कितनी उच्च कोटि का था । इन भवनों के अतिरिक्त नीचे मैदान में सुन्दर व विशाल सरोवर बने हुए थे जिनमें नीलकमल कनक पुष्पों में मिलकर सौन्दर्य बढ़ाते थे । इत्सिंग ने लिखा है कि वहाँ 10 से अधिक सरोवर थे जिनमें विद्यार्थी जलक्रीड़ा करते थे । इसके अतिरिक्त उसी क्षेत्र में एक विशाल पुस्तकालय भी था जो नौ मंजिलों का था । इस पुस्तकालय के तीन विभाग थे जो क्रमशः 'रत्न सागर', 'रत्नोदधि' और 'रत्न रंजक' के नाम से प्रसिद्ध थे । सम्पूर्ण पुस्तकालय को 'धर्मगंज' कहते थे । इस पुस्तकालय में सभी धर्मों, विषयों, कलाओं, विज्ञानों तथा कौशलों की अलभ्य पुस्तकों का संग्रह था ।

नालन्दा में छात्रावास का भी समुचित प्रबन्ध था । तेरह मठ इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बने हुए थे जिनमें विद्यार्थियों के निवास के लिए कमरे बने हुए थे । इन कमरों में विद्यार्थियों के सोने के लिए पत्थर की चौकी, पुस्तक रखने को पटिया और दीपक रखने को दीवट का स्थान बना हुआ था । प्रत्येक चौक के कोने में एक कुआँ बना था । भोजन के लिए बड़े-बड़े चौके बने हुए थे जिनमें भोजन पकाने के लिए विहार की ओर से सेवकों का प्रबन्ध था । इन सब के भग्नावशेष खुदाई में मिले हैं ।

नालन्दा में विद्यार्थियों के भोजन, वस्त्र व शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था निःशुल्क की जाती थी । आज के विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के व्यय और उनके शुल्क इत्यादि को देखते हैं तो बुद्धि हैरान रह जाती है कि किस प्रकार प्राचीन काल में नालन्दा में 10,000 विद्यार्थी निःशुल्क उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे । वास्तव में प्राचीन काल में शिक्षा का उत्तरदायित्व राजाओं और प्रजा दोनों पर ही था और दोनों ही मिलकर शिक्षा के निमित्त दान देते थे । नालन्दा को 200 गाँव दान में मिले हुए थे । उनकी आय से वहाँ का कार्य चलता था । इसके अतिरिक्त भवन, भूमि और भोजन की कुछ व्यवस्था राजा लोग व्यक्तिगत रूप से भी करते चले आये थे ।

इत्सिंग ने, जो नालन्दा में लगभग दस वर्ष रहा, वहाँ की शिक्षा-पद्धति तथा पाठ्यक्रम का प्रत्यक्ष वर्णन लिखा है । नालन्दा महायान बौद्ध शिक्षा का प्रधान क्षेत्र होते हुए भी वहाँ हीनयान, वैदिक शिक्षा तथा जैन धर्म की शिक्षा दी जाती थी । शास्त्रार्थ में विजयी होने के लिए यह आवश्यक था कि सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय । वाद-विवाद या शास्त्रार्थ वहाँ की शिक्षा-प्रणाली का एक विशेष अंग था । एक सच्चे जिज्ञासु के लिए भी यह आवश्यक था कि वह सभी धर्मों का गहन अध्ययन करने के उपरान्त ही दार्शनिक अनुसन्धान करे । ये सभी सुविधाएँ वहाँ उपलब्ध थीं । इसके अतिरिक्त वेद, वेदांग, व्याकरण, ज्योतिष, दर्शनशास्त्र, पुराण और चिकित्साशास्त्र का भी अध्ययन किया जाता था । नालन्दा वास्तव में दार्शनिक शिक्षा का केन्द्र था ।

विहार के अन्दर भिक्षुओं, आचार्यों और विद्यार्थियों का जीवन पूर्ण संयमित और सात्विक रहता था । यहाँ के विद्यार्थियों का सम्पूर्ण देश में सम्मान होता था ।

प्रवेश के समय न केवल भारत के विभिन्न कोनों से ही अपितु विदेशों से भी विद्यार्थी यहाँ आ-आकर इकट्ठे होते थे। चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत, सुमात्रा तथा जावा एवं लंका से असंख्य विद्यार्थी बौद्ध धर्म का अध्ययन करने नालन्दा आते थे। विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए लगभग 1,500 विद्वान शिक्षकों का प्रबन्ध था। विद्यार्थियों के व्यक्तिगत विकास का ध्यान रखा जाता था। शिक्षा-पद्धति प्रायः वही थी जो ब्राह्मणीय शिक्षा में प्रचलित थी। लेखन-कला इस समय तक पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। ग्रन्थावलोकन के अतिरिक्त विद्यार्थी शिक्षकों तथा विद्वानों के भाषण सुनकर भी ज्ञानवर्द्धन करते थे। वाद-विवाद-प्रणाली का उल्लेख हम ऊपर कर ही आये हैं। प्रतिदिन लगभग 100 भाषणों की व्यवस्था की जाती थी जिन्हें सुनना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य था। आचार्यों की प्रसिद्धि सर्वविदित थी। ह्वेनसांग कुछ शिक्षकों के नामों का उल्लेख करता है जिनमें चन्द्रपाल, धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, ज्ञानचन्द्र तथा शीलभद्र इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। इस विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर जावा के सम्राट् बलपुत्रदेव ने भी यहाँ एक मठ बनवाया।

इस प्रकार नालन्दा विद्या का एक प्रसिद्ध केन्द्र था जो कई शताब्दियों तक भारत में ज्ञान का प्रकाश फैलाता रहा। भारत की प्राचीन संस्कृति को विकीर्ण, विकसित तथा सुदृढ़ करने में इसका बड़ा हाथ रहा। भारतीय दर्शनकला तथा सभ्यता का यह प्रतीक लगभग 800 वर्ष तक एक गौरवशाली जीवन व्यतीत करने के उपरान्त 12 वीं शताब्दी के अन्त में मुसलमान विजेता बख्तियार खिलजी की बर्बरता का शिकार हुआ। यहाँ के विशाल भवन तथा अमूल्य पुस्तकालय अग्नि में भस्म कर दिये गये तथा भिक्षुओं और विद्यार्थियों का बध कर डाला गया। इस प्रकार एक दीर्घकाल से जलने वाला ज्ञानप्रदीप, जिसे मानव ने अपने जीवन-स्नेह से युग-युगों से प्रज्वलित रखा था, सदा के लिए बुझ गया।

(3) **वलभी**—वलभी बौद्धकालीन भारत का एक प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था। यह काठियावाड़ में मैत्रक सम्राटों की सन् 475 से 775 ई० तक राजधानी रहा। वलभी को प्रसिद्धि तथा शिक्षा-महत्त्व के दृष्टिकोण से नालन्दा का प्रतिद्वन्दी कहा जा सकता है। यहाँ पर विशाल मठ और विहार बने हुए थे। ह्वेनसांग जब यहाँ आया था उस समय वलभी में लगभग 100 संघाराम बने हुए थे। इत्सिग ने भी वलभी को भारत के पश्चिमी किनारे पर नालन्दा के समान ही महत्त्वशाली पाया था, जहाँ भारत के प्रत्येक कोने से विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए आते थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त ये विद्यार्थी राजदरबारों में उच्च पदों पर नियुक्त किये जाते थे। इससे विदित होता है कि वलभी केवल धार्मिक शिक्षा-केन्द्र ही नहीं था, अपितु वहाँ अर्थशास्त्र, राजनियम, नीति तथा चिकित्साशास्त्र का भी अध्ययन किया जाता था। यहाँ बौद्ध धर्म की दूसरी शाखा हीनयान के भी भिक्षुक अध्ययन करते थे।

ईसा की 7वीं शताब्दी में वलभी अपनी शिक्षा के लिए पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था, यद्यपि इससे पूर्व इसका समुद्री व्यापार के लिए बड़ा महत्त्व था। यहाँ

बड़े-बड़े धनवान व्यापारी रहते थे। ये ही व्यापारी शिक्षा के संरक्षकों की भाँति कार्य करते थे। मैत्रकों ने भी विश्वविद्यालयों को प्रधानतः पुस्तकालय के लिए समय-समय पर अनुदान दिये। इस प्रकार शिक्षा का प्रचार करते हुए यह विश्वविद्यालय लगभग 12वीं शताब्दी तक स्थापित रहा। तदुपरान्त विदेशियों के आक्रमण से इसका विध्वंस हो गया।

(4) **विक्रमशिला**—विक्रमशिला विहार की स्थापना सम्राट् धर्मपाल ने 8वीं शताब्दी में की थी। यह एक पहाड़ी चट्टान के ऊपर गंगा नदी के तट पर मगध में बसा हुआ था। कला की दृष्टि से विक्रमशिला विहार अत्यन्त उच्च कोटि का था। इसके चारों ओर एक सुदृढ़ प्राचीर थी। मध्य में महाबोधि का मन्दिर था तथा इसके अतिरिक्त 108 मन्दिर और थे।[2] विक्रमशिला में धर्मपाल ने कई विशाल कक्ष बनवाये थे जहाँ शिक्षण-कार्य होता था। इनकी प्राचीरों पर सुन्दर चित्र बने हुए थे।

विक्रमशिला की ख्याति शीघ्र ही फैल गयी। यहाँ के शिक्षक अत्यन्त विद्वान् और उच्च कोटि के दार्शनिक थे। विक्रमशिला की ख्याति तिब्बत तक पहुँची। लगभग चार शताब्दियों तक तिब्बत के विद्यार्थी विक्रमशिला में उच्च शिक्षा लिए आते रहे। उन्होंने यहाँ के संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किये और अपने देश में यहाँ की संस्कृति का प्रसार किया। विक्रमशिला का प्रसिद्ध विद्वान दीपशंकर श्रीज्ञान भी तिब्बत गया था। वहाँ जाकर उसने धर्म-प्रचार का भी कार्य किया था।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय का प्रबन्ध उच्च कोटि का था। शिक्षा-कार्य विद्वानों के एक बोर्ड के सुपुर्द था। ऐसा कहा जाता है कि यही बोर्ड नालन्दा के शासन को भी चलाता था। शासन-प्रबन्ध का अधिष्ठाता एक विद्वान् भिक्षु होता था। कार्य के भिन्न-भिन्न विभाग विभिन्न अधिकारियों के नियन्त्रण में थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश के समय विद्यार्थी की परीक्षा ली जाती थी। प्रमुख भवन की प्रत्येक दिशा में द्वार थे और इन्हीं द्वारों पर द्वार-पण्डित नियुक्त थे। ये ही द्वार-पण्डित प्रवेश-परीक्षा लेते थे, जिसमें उत्तीर्ण होने पर ही विश्वविद्यालय में प्रवेश हो सकता था। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने सन् 955-983 के मध्य में होने वाले इन पण्डितों के नामों का भी उल्लेख किया है[3] :

(i) रत्नाकर शान्ति—पूर्व द्वार,
(ii) बनारस का बागीश्वर कीर्ति—पश्चिम द्वार,
(iii) नरोह—उत्तर द्वार,
(iv) प्रज्ञकमंति—दक्षिण द्वार,
(v) काश्मीर का रत्नवज्र—प्रथम मध्य द्वार, और
(vi) ज्ञान श्री मित्र—द्वितीय मध्य द्वार।

इसके अतिरिक्त विक्रमशिला का ऐतिहासिक वर्णन हमें तिब्बत के विद्यार्थियों और इत्सिंग के लेखों से मिलता है। यहाँ प्रधानतः सांसारिक विद्याओं का अध्ययन

[2] Dr. R. K. Mukerjee : *Ancient Indian Education*, p. 587.
[3] *Ibid*, p. 538.

किया जाता था। व्याकरण, तर्कशास्त्र, तन्त्रवाद तथा दर्शनशास्त्र अध्ययन के प्रमुख विषय थे। अधिक कौतूहल की बात तो यह है कि इस विश्वविद्यालय में परीक्षा के प्रमाणपत्र भी मिलते थे जैसा कि अन्य किसी प्राचीनकालीन भारतीय विश्वविद्यालय में नहीं होता था। इससे प्रमाणित होता है कि इस विश्वविद्यालय का संगठन अधिक सुव्यवस्थित था।

इस प्रकार एक दीर्घकाल तक विक्रमशिला "विद्या साम्राज्ञी" रही। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बख्तियार खिलजी ने आक्रमण किया और इसको युद्ध सम्बन्धी गढ़ समझकर इस पर आक्रमण कर दिया। समस्त भिक्षुओं और ब्राह्मणों के सर कटवा डाले गये। पुस्तकालय की सभी पुस्तकें एकत्र करके जला दी गयीं। जलाने से पूर्व जब उन्हें पढ़वाया गया तब आततायियों को विदित हुआ कि यह तो एक विद्या-केन्द्र था। यहाँ का अधिष्ठाता भिक्षु श्रीभद्र जगद्दला होता हुआ तिब्बत पहुँचा जहाँ उसने धर्म-प्रचार का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

(5) **ओदन्तपुरी**—मगध में पाल सम्राटों के अस्तित्व में आने से पूर्व ही इस विश्वविद्यालय की स्थापना हो चुकी थी। पाल सम्राटों ने इसका और भी अधिक विस्तार किया। उन्होंने यहाँ एक पुस्तकालय की स्थापना की जिसमें ब्राह्मणीय और बौद्ध-साहित्य की पुस्तकों का संग्रह था। ओदन्तपुरी की इतनी ख्याति नहीं थी जितनी विक्रमशिला या नालन्दा की थी तथापि यहाँ लगभग 1,000 भिक्षु निवास करते व शिक्षा पाते थे। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने में ओदन्तपुरी को भी पर्याप्त श्रेय रहा है। तिब्बत से भी विद्यार्थी यहाँ आकर विद्याध्ययन करते थे। इसी के आधार पर तिब्बत को प्रथम बौद्ध विहार बनाया गया।

(6) **मिथिला**—मिथिला का प्राचीन नाम विदेह था। अनन्तकाल से यह ब्राह्मणीय शिक्षा का केन्द्र था। राजा जनक यहाँ उपनिषद् युग में धार्मिक शास्त्रार्थ किया करते थे जहाँ देश के भिन्न-भिन्न भागों से विद्वान् ऋषि आकर शास्त्रार्थ करते थे। बौद्ध युग में भी मिथिला ने अपनी परम्परा का निर्वाह किया। जगद्धर नामक विद्वान् जिसने 'गीता टीका', 'देवी माहात्म्य', 'मेघदूत', 'गीत गोविन्द' तथा 'मालती माधव' इत्यादि रचनाओं पर टीका की है, तथा कवि विद्यापति जिनकी सरस कविताओं से बंगाल और बिहार के कवियों ने युगों से प्रेरणा ली है, यहीं पर उत्पन्न हुए थे। 12वीं शताब्दी से लेकर 15वीं शताब्दी तक मिथिला विद्या का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। साहित्य व ललित कलाओं के अतिरिक्त वहाँ वैज्ञानिक विषयों का भी अध्ययन होता था। न्याय का एक प्रसिद्ध विद्यालय मिथिला में था। गंगेश उपाध्याय ने 'नव्य न्याय' के स्कूल को जन्म दिया। यहाँ पर उसकी युग-निर्माणक रचना 'तत्त्व चिन्तामणि' लिखी गयी। मिथिला में अनेक विद्वानों ने जन्म लिया। यहाँ तक कि मुगल सम्राट अकबर के समय में भी मिथिला विद्या का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। मिथिला अखिल भारतीय ख्याति का शिक्षा-केन्द्र था। न्याय तथा तर्कशास्त्र के लिए यह विशेष प्रसिद्ध था। अध्ययन समाप्त होने पर यहाँ विद्यार्थी की अन्तिम परीक्षा लिये जाने

की प्रथा थी जो 'गलाका परीक्षा' के नाम से विख्यात थी। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही स्नातक को उपाधि दी जाती थी।

(7) **नदिया**—नदिया या नवद्वीप बंगाल के सेन सम्राटों द्वारा 11वीं शताब्दी के मध्य में बसाया गया था। पूर्वी बंगाल में भागीरथी तथा जलांगी के संगम पर प्रकृति की शोभा में यह स्थान बसा हुआ था। आज भी इसके प्राचीन भग्नावशेष देखे जा सकते हैं जो इसके अतीत के इतिहास की गौरव-गाथा कहते हैं। समय-समय पर यहाँ विद्वानों ने जन्म लिया है। जयदेव के 'गीत गोविन्द' की वाणी अब भी लोगों के कानों में गूँजती है। उमापति की कविताएँ तथा शूलपाणि का 'स्मृति-विवेक' अमर रचनाएँ हैं। मुसलमान शासकों के युग में भी नदिया हिन्दू शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा था; तर्कशास्त्र, व्याकरण, नीति और कानून के लिए यह विशेष उल्लेखनीय है। नालन्दा तथा विक्रमशिला का पतन होने से नदिया का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया और वहाँ हिन्दू शिक्षा का एक विशाल केन्द्र स्थापित हो गया। रघुनाथ शिरोमणि ने वहाँ तर्कशास्त्र का एक स्कूल स्थापित किया था। वासुदेव सार्वभौम नामक विद्यार्थी, जो मिथिला में न्याय व तर्कशास्त्र में विशेषता प्राप्त करने गया था, वहाँ से तत्त्व-चिन्तामणि को कंठाग्र कर लाया, क्योंकि मिथिला की यह जटिल परम्परा थी कि वहाँ से किसी विद्यार्थी को न पुस्तकें हटाने की और न उनकी प्रतिलिपि और अनुवाद करने की आज्ञा थी। इस वासुदेव सार्वभौम ने ही नदिया में तर्कशास्त्र का सूत्रपात किया था। आगे चलकर उसके शिष्य रघुनाथ शिरोमणि ने न्याय की एक नवीन विचारधारा चलायी जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

इस प्रकार नदिया देश में शिक्षा का प्रसार करता रहा। मध्य युग में भी इसका महत्त्व रहा। आजकल वहाँ टोल-पद्धति से प्राचीन शिक्षा दी जाती है। "सन् 1816 में वहाँ 46 स्कूल और 380 विद्यार्थी थे। किन्तु सन् 1818 में 31 स्कूल तथा विद्यार्थियों की संख्या 747 का अनुमान वार्ड ने किया था·······वार्ड ने जो 31 स्कूल पाये उनमें से 17 में तर्कशास्त्र, 11 में कानून तथा शेष 3 में क्रमशः काव्य, ज्योतिष, एवं व्याकरण का शिक्षण होता था।"[4]

(8) **जगद्दला**—बंगाल के सम्राट् रामपाल ने 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गंगा के तट पर रामवती नामक नगर बसाया जहाँ उसने एक विहार बनवाया जिसे उसने जगद्दला के नाम से पुकारा। यह जगद्दला लगभग 100 वर्ष तक बौद्ध शिक्षा का केन्द्र रहा और सन् 1203 ई० में मुसलमानों ने इसे नष्ट कर दिया। तिब्बत के विद्यार्थियों ने यहाँ आकर संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद किया। यहाँ अनेक पण्डित, महापण्डित, उपाध्याय और आचार्य रहते थे। इनमें विभूतिचन्द्र दानशील, शुभकर तथा मोक्षाकर गुप्त अधिक प्रसिद्ध हैं। जगद्दला भी तर्कशास्त्र तथा तन्त्रवाद के लिए उल्लेखनीय है।

[4] F. E. Keay : *Indian Education in Ancient and Later Times*, pp. 146-47 (1942).

इन प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों के अतिरिक्त देश में अन्य भी छोटे-छोटे विद्या-केन्द्र थे जिनका प्रादुर्भाव बौद्ध काल में हुआ । ह्वेनसांग और इत्सिग नामक चीनी यात्रियों ने उत्तरी भारत का दौरा किया और स्थान-स्थान पर मठ और विहार पाये । यही विहार और मठ शिक्षा के केन्द्र थे और सम्पूर्ण देश में विस्तृत थे। बिहार और बंगाल इनके प्रमुख क्षेत्र थे ।

## सारांश

**ब्राह्मणीय शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थी गुरु-आश्रम में रहकर ही शिक्षा प्राप्त करता था । अतः उस काल में शिक्षा के सुसंगठित विशाल केन्द्र स्थापित न हो सके । किन्तु बौद्धकालीन शिक्षा में व्यक्ति के स्थान पर समूह का अधिक महत्त्व था, अतः बड़े-बड़े मठ एवं विहार शिक्षा के महान् केन्द्रों के रूप में विकसित हो गये, जिनकी उच्च कोटि की सुसंगठित व्यवस्था थी । इतना अवश्य है कि बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों की देखा-देखी ब्राह्मणीय शिक्षा-केन्द्र व गुरुकुल भी देश के विभिन्न भागों में स्थापित हो गये, परन्तु वे अधिक विशाल रूप धारण न कर सके ।**

**बौद्ध काल में जो शिक्षा-विहार स्थापित हुए वे बड़े विश्वविद्यालय बन गये जहाँ विभिन्न देशों से विद्यार्थी आकर रहते और विद्याध्ययन करते थे । इन प्राचीन शिक्षा-केन्द्रों में तक्षशिला, नालन्दा, वलभी, विक्रमशिला, ओवन्तपुरी, मिथिला, नदिया व जगद्दला अधिक प्रमुख हैं ।**

**इन विश्वविद्यालयों में सहस्रों विद्यार्थियों को छात्रावास तथा उच्च अध्ययन की सुविधाएँ प्राप्त थीं । शिक्षा प्रायः निःशुल्क थी और विद्यार्थियों के रहन-सहन, भोजन एवं वस्त्र इत्यादि तक मुफ्त प्रदान किये जाते थे । इनका भार राज्य तथा समाज पर था । तक्षशिला सैनिक, आयुर्वेद तथा ज्योतिष का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था । नालन्दा भारतीय दर्शन, धर्म तथा तर्कशास्त्र का केन्द्र था । वलभी में अर्थशास्त्र, राजनीति तथा चिकित्साशास्त्र का अध्ययन होता था । विक्रमशिला व्याकरण, तर्कशास्त्र, तंत्र तथा दर्शनशास्त्र का प्रमुख केन्द्र था । इसी प्रकार अन्य शिक्षा-केन्द्रों में भी इसी प्रकार के उच्च ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था थी ।**

द्वितीय खण्ड

# मध्यकालीन शिक्षा

# 6

# इस्लामी शिक्षा

### भूमिका

ईसा की आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गये थे। महमूद गजनवी ने भारत की लूट करके उस रुपये से गजनी में मदरसे व पुस्तकालय खोले। उसके उपरान्त जब से मुसलमान शासक भारत में स्थायी रूप से शासन करने लगे, उन्होंने यहाँ एक नवीन शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया। जैसा कि पिछले अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है, उस समय भारत में प्राचीन ब्राह्मणीय तथा बौद्ध शिक्षा का प्रचलन था। समय-समय पर बख्तियार, अलाउद्दीन, फीरोज तथा औरंगजेब जैसे शासकों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति व शिक्षा को विध्वंस करने के प्रयास किये। बख्तियार ने बौद्ध विश्वविद्यालयों को नष्ट करके उनके स्थान पर इस्लामी शिक्षा का प्रचार किया।

इस प्रकार शाही प्रयत्नों तथा कुछ व्यक्तिगत धनिकों के प्रयत्नों के कारण भारतीय शिक्षा का रूप बदलने लगा। तत्कालीन हिन्दू शिक्षा भी इस नवीन शिक्षा-प्रणाली से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी; यहाँ तक कि बहुत से हिन्दू भी अरबी व फारसी के प्रकाण्ड पण्डित होकर मुसलमान शासकों के दरबारों में उच्च पदों पर आसीन होने लगे। मुसलमानी शिक्षा भी प्रधानत: दर्शन, चिकित्सा तथा औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दू शिक्षा से प्रभावित हुई। इस्लामी शिक्षा को एक प्रकार से तीन भागों में विभाजित कर दिया गया—(1) मकतब (प्रारम्भिक शिक्षा), (2) उच्चतर मकतब, और (3) मदरसा (उच्च शिक्षा)। इस प्रकार के क्षेत्रों में विभाजित होकर सम्पूर्ण देश में इस शिक्षा-पद्धति का जाल-सा बिछने लगा। इसी की क्रमिक प्रगति का वर्णन आगे के पृष्ठों में किया जायगा।

### उद्देश्य

भारत में इस्लामी शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य रहे हैं। इन्हीं उद्देश्यों को लेकर यहाँ पर शिक्षा का प्रसार किया गया। इतना अवश्य रहा है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा शिक्षा-प्रसार के उद्देश्यों में परिवर्तन अवश्य हुआ, यथा अकबर और औरंगजेब

के शिक्षा-प्रसार के उद्देश्य सर्वथा भिन्न थे। जबकि अकबर का उद्देश्य देश में राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक साम्य उत्पन्न करके एक नवीन राष्ट्र का संगठन करना था, वहाँ औरंगजेब का एकमात्र उद्देश्य हिन्दू संस्कृति व शिक्षा को नष्ट करके इस्लामी शिक्षा व सिद्धान्तों का प्रचार करना था। संक्षेप में, इस्लामी शिक्षा के उद्देश्यों को हम इस प्रकार लिख सकते हैं :

(1) इस्लामी शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य इस्लाम के बन्दों में **ज्ञान का आलोक फैलाना** था। पैगम्बरों के अनुसार ज्ञान अमृत है और इसके बिना मुक्ति नहीं। यही कारण था कि हजरत मोहम्मद ने ज्ञानार्जन अनिवार्य बताया और शिक्षा के द्वारा धर्म और अधर्म तथा कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद जानने का आदेश दिया; और शिक्षा प्रत्येक सच्चे मुसलमान के लिए अनिवार्य कर दी।

(2) शिक्षा का द्वितीय उद्देश्य **धर्म का प्रचार** करना था। इस्लाम का प्रचार एक धार्मिक कर्तव्य माना गया है और इसका प्रचार करने वाला ही गाजी होता है, ऐसा विश्वास इनमें था। अतः शिक्षा के द्वारा एक विशाल स्तर पर भारत में धर्म-प्रचार किया गया। मकतबों में प्रारम्भ से ही कुरान का अध्ययन होता था तथा इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्तों से परिचित कराया जाता था। मदरसों में भी धर्म, दर्शन, साहित्य तथा इतिहास के रूप में इस्लाम की शिक्षा दी जाती थी। मुसलमान शासकों ने इसी धार्मिक भावना से प्रेरित होकर भारत में शिक्षा को संरक्षण दिया और उसे पूर्ण रूप से अपना लिया। हजरत मुहम्मद के अनुसार : "माँ-बाप के द्वारा बच्चों को दी जाने वाली सभी भेंटों में उदार शिक्षा की भेंट सर्वोत्तम है।" उन्होंने यह भी कहा कि "विद्यार्थियों के कलम की स्याही शहीदों के खून से भी अधिक पवित्र है।" अतः स्कूलों का बनवाना उतना ही पवित्र कार्य हो गया जितना कि मसजिदों का निर्माण। यहाँ तक कि मसजिद और उसके साथ एक मकतब अनिवार्यतः बनने लगा। मुसलमान फकीरों और धार्मिक प्रवृत्ति वाले शासकों व नागरिकों सभी ने विद्यार्थियों और गुरुओं को पवित्र माना, यहाँ तक कि कुछ ने मृत्योपरान्त मदरसों में अपने मजार बनवाने की इच्छाएँ प्रकट कीं।[1] साधारण शिक्षा को वे इस्लामी धार्मिक शिक्षा का अभिन्न अंग मानते थे। इस धार्मिक भावना की तीव्रता के कारण ही उन्होंने प्राचीन बौद्ध तथा अन्य हिन्दू मन्दिरों, विद्यालयों और शिक्षा-केन्द्रों को नष्ट किया और उनके स्थान पर मसजिदें तथा मदरसे बनवाये।

(3) तीसरा उद्देश्य था लोगों में इस्लाम के अनुसार एक विशेष प्रकार की **नैतिकता का विस्तार** करना तथा प्राचीन इस्लामी कानून, सामाजिक प्रथाओं और विशेष राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना।

[1] इस सम्बन्ध में हजरत शेख ईसा दहलवी का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने मरते समय अपनी यह इच्छा प्रकट की थी कि उन्हें उस स्थान पर दफनाया जाय जहाँ उनके मदरसे के विद्यार्थी उतारते थे।

(4) इनके अतिरिक्त इस्लामी शिक्षा का उद्देश्य था **सांसारिक वैभव** प्राप्त करना। इस्लामी शिक्षा की यह दुर्बलता थी कि इसे प्रोत्साहन देने के लिए अथवा उसमें विद्यार्थियों की रुचि बनाये रखने के लिए उन्हें उच्च पद, सम्मान, तमगे तथा जागीरें इत्यादि प्रदान की जायँ। अतः समय-समय पर मुसलमान शासकों ने विद्यार्थियों को सेना में सेनापति या सिपहसालार इत्यादि अथवा नागरिक शासन में काजी या राज्य-संचालन में वजीर इत्यादि पदों पर नियुक्त करके उन्हें प्रोत्साहित किया,[2] यहाँ तक कि इन बातों का लाभ उठाने के लिए बहुत से हिन्दू भी इस्लामी शिक्षा पाने लगे और फारसी भाषा में प्रकाण्ड विद्वान होकर राज्य में उच्च पदों पर नियुक्त किये गये। इस प्रकार भावी जीवन के लिए तैयार करना इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था।

(5) अन्त में इस्लामी शिक्षा का उद्देश्य एक प्रकार से **राजनीतिक** भी था। मुसलमान एक ऐसे देश में आये थे जिसकी सभ्यता, संस्कृति तथा राजनीतिक ज्ञान उनसे कहीं अधिक उच्च कोटि का था। अतः उन्हें एक ऐसी राजनीतिक अवस्था उत्पन्न करना आवश्यक हो गया जिसके द्वारा उनका शासन स्थायी रूप से सम्भव हो सके। अकबर को हम इसी उद्देश्य को लेकर शिक्षा-क्षेत्र में आगे बढ़ते हुए पाते हैं।

**राज्य-संरक्षण और शिक्षा-प्रसार**

आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ था। उस समय देश में बौद्धकालीन शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी तथा ब्राह्मणीय शिक्षा भी भिन्न-भिन्न स्थानों में विद्यमान थी। देश में उस समय शिक्षा-प्रचार पर्याप्त था, जैसा पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है। बिहार में नालन्दा तथा पश्चिम में वलभी प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र थे जो सम्पूर्ण देश में उच्च कोटि की शिक्षा विकीरित कर रहे थे। इसके अतिरिक्त उत्तरी भारत में काशी और विक्रमशिला में भी प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय थे जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। मालवा प्रान्त में धार एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था। किन्तु प्रारम्भिक मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारतीय शिक्षा के लिए कोई प्रयास नहीं किया। महमूद गजनवी यद्यपि शिक्षा व कला का प्रेमी था और उसने भारतीय धन से गजनी में विद्या की उन्नति की, किन्तु भारतीय शिक्षा के लिए उसने कोई प्रयत्न नहीं किया। वह तो वास्तव में भारतीय धन-सम्पत्ति की लूट के लिए आया था। उसके उपरान्त सन् 1192 में मुहम्मद गोरी ने भारत में मुसलमान साम्राज्य की नींव डाली। उसने अजमेर में मन्दिर तुड़वाकर मस्जिद और मदरसे

[2] *Cf.* "Learning was held in high esteem and the learned were loved and respected all over the country. The state also encouraged them in every possible way. Judges, lawyers and ministers of religion were taken from these classes." —Jaffar : *Education in Muslim India,* p. 4.

बनवाये। उसके एक प्रमुख सिपहसालार बख्तियार ने दक्षिणी भारत पर आक्रमण किया और विक्रमशिला इत्यादि बौद्ध विश्वविद्यालयों को विध्वंस करके भारतीय शिक्षा व संस्कृति को महान् क्षति पहुँचायी। बख्तियार ने कुछ मदरसों का निर्माण भी कराया। उसके उपरान्त गुलाम वंश के शासकों में इल्तुतमिश, रजिया तथा बलबन ने भी शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। इन सुल्तानों में से कुछ साहित्य, शिक्षा तथा कला के संरक्षक थे और अपने दरबार में धर्माचार्यों, कलाकारों, इतिहासकारों और कवियों को संरक्षण देते थे। बलबन स्वयं ऐसा शासक था। प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो और अमीर हसन दहलवी जो अपनी फारसी कृतियों के लिए भारत के बाहर भी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, उसी के समकालीन थे। इस प्रकार 13वीं शताब्दी में धर्म, साहित्य तथा इतिहास और कथा-साहित्य की पर्याप्त रचना हुई। दिल्ली के सुल्तानों ने मुसलमान जनता की शिक्षा का प्रबन्ध भी किया। प्रायः सभी मुसलमानों की बस्तियों में दो मकतबों की व्यवस्था थी। इन सुल्तानों ने मदरसों की स्थापना भी करायी और उदारतापूर्वक उनके लिए अनुदान दिया। इल्तुतमिश ने एक मदरसा दिल्ली और मुल्तान में बनवाया। नासिरुद्दीन के द्वारा बनवाया हुआ 'नसीरिया मदरसा' अपने समय की बड़ी प्रसिद्ध शिक्षा-संस्थाओं में से था। एक बात स्मरणीय है कि सांस्कृतिक उन्नति की व्यवस्था प्रधानतः उच्च वग के लोगों के लिए थी और जनसाधारण का मानदण्ड गिरता जा रहा था।

खिलजी साम्राज्य में जलालुद्दीन स्वयं विद्वान था। उसने शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। किन्तु अलाउद्दीन खिलजी के समय में शिक्षा को बहुत आघात लगा। उसने राज्य की ओर से शिक्षा-संस्थाओं को दिया जाने वाला अनुदान बन्द करा दिया। तथापि बरनी ने उल्लेख किया है कि "सबसे आश्चर्यजनक बात जो लोगों ने अलाउद्दीन की सल्तनत में देखी वह थी भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के महान् पुरुषों, विज्ञानवेत्ताओं तथा पारंगत व कुशल कलाकारों का राजधानी में जमघट। दिल्ली राजधानी इन अद्वितीय विद्वानों की उपस्थिति के कारण बगदाद की ईर्ष्या, काहिरा की प्रतिद्वन्द्वी और कुस्तुनतुनियाँ के समकक्ष बन गयी थी।" आगे चलकर अलाउद्दीन शिक्षा-केन्द्रों तथा धर्मस्थानों एवं मदरसों व मस्जिदों के निर्माणकर्ता के रूप में विख्यात हुआ। फरिश्ता के अनुसार उसके राज्य में 45 उच्च कोटि के आलिम थे जो विश्वविद्यालयों में कला तथा विज्ञानों के प्राध्यापक थे। अब्दुल हक हकी के अनुसार भी "अलाउद्दीन के शासन काल में दिल्ली अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वानों तथा साहित्यिकों का मिलन-स्थान थी।"[3]

तुगलक वंश ने शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। गयासुद्दीन और मुहम्मद तुगलक शिक्षा-प्रेमी तथा स्वयं विद्वान थे। मुहम्मद तुगलक के दरबार में कवि, दार्शनिक, चिकित्सक तथा तर्कशास्त्री रहते थे। वह उनसे शास्त्रार्थ करता था। मौलाना मुईउद्दीन उमरानी उसके समय का सर्वप्रसिद्ध साहित्यकार था। उन्होंने व्यक्तिगत रूप से विद्यार्थियों

[3] Quoted by Jaffar in *Education in Muslim India*, p. 46.

को वजीफे दिये तथा मकतब निर्मित कराये। फीरोज के समय में दिल्ली विद्या का एक केन्द्र बन गयी। वह विद्वानों को आर्थिक सहायता द्वारा प्रोत्साहन देता था, यहाँ तक कि उसके यहाँ 180 हजार दास बालक शिक्षा पाते थे।[4] उसने लगभग तीस मदरसे बनवाये जहाँ शिक्षक और विद्यार्थी साथ-साथ रहते थे; प्रत्येक मदरसे में, जो मस्जिद के साथ जुड़ा होता था, स्थायी रूप से एक शिक्षक नियुक्त कर दिया और उदारता-पूर्वक इन संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान की। जियाउद्दीन बरनी और शम्सेशिराज ने अपनी रचनाएँ फीरोज के संरक्षण में ही कीं। सुल्तान ने स्वयं अपनी आत्मकथा 'फतूहाते फीरोजशाही' लिखी। काँगड़ा-विजय के उपरान्त उसके हाथ एक पुस्तकालय लग गया था जिसमें संस्कृत की अमूल्य पुस्तकों का विशाल संग्रह था। फीरोज ने उस पुस्तकालय की असंख्य पुस्तकों का अनुवाद फारसी में कराया। इस प्रकार उसके व्यक्तिगत विद्यानुराग के कारण उस समय मुसलमानी शिक्षा, नीति, धर्म तथा साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई।

फीरोज की मृत्यु के उपरान्त बहुत-से सूबेदार स्वाधीन हो गये। उन्होंने भी अपने छोटे-छोटे राज्यों में शिक्षा-प्रसार के लिए सराहनीय प्रयत्न किये। दक्षिण में बहमनी वंश के सुल्तानों ने बहुत-से मकतब और मदरसे बनवाये। महमूद गावाँ ने बीदर में एक विशाल मदरसे का निर्माण कराया जिसमें सहस्रों पुस्तकों से मुसज्जित एक पुस्तकालय भी था। इस्लामी शिक्षा का प्रचार करने के लिए गाँवों में भी मकतब खोले गये। बहमनी राज्य में शिक्षा का मानदण्ड भी पर्याप्त ऊँचा हो गया। इसके अतिरिक्त बीजापुर, गोलकुण्डा, मालवा, खानदेश, जौनपुर, मुल्तान, गुजरात और बंगाल भी विद्या के प्रमुख केन्द्र बन गये। जौनपुर उस युग में अपनी कला, साहित्य, और उच्च कोटि की विद्या के लिए सर्वप्रसिद्ध था, कुछ सरदार तथा सम्पत्तिवान व्यक्तियों ने भी प्रारम्भिक अथवा धार्मिक शिक्षा के प्रचार के लिए मदरसे खुलवाये। कुछ विद्वान शिक्षक अपने घरों पर भी बालकों को शिक्षा देते थे।

बाबर के आक्रमण के समय उत्तरी भारत में शिक्षा का ह्रास हो चुका था। बाबर यद्यपि स्वयं विद्वान एवं कवि था, तथापि अपने अल्प शासन काल में शिक्षा के लिए कुछ भी न कर सका। सैयद मकबरअली की, जो बाबर का एक वजीर था, तवारीख के द्वारा विदित होता है कि जन-निर्माण विभाग (शहराते आम) का एक प्रमुख कार्य मकतब और मदरसे निर्मित कराना था। हुमायूँ ने अवश्य दिल्ली में एक विशाल मदरसा निर्मित कराया और शेख हुसेन को इसका प्रधानाचार्य नियुक्त किया। सम्राट् ने दिल्ली में एक पुस्तकालय भी खुलवाया तथा शेरशाह के विलास-भवन को एक पुस्तकालय के रूप में बदल दिया। हुमायूँ के मकबरे में भी एक मदरसा खोला गया। "यह मदरसा, जो मकबरे की छत पर था, एक समय में कुछ महत्त्व की संस्था था तथा विद्वान और प्रभावशाली व्यक्ति वहाँ पर शिक्षण-कार्य के लिए नियुक्त किये जाते

---

[4] F. E. Keay : *Indian Education in Ancient and Later Times*, p. 114.

थे ।" हुमायूँ स्वयं विद्याध्ययन में रुचि रखता था और उसके प्रिय विषय भूगोल और ज्योतिष थे ।

शेरशाह सूरी ने नारनौल में एक मदरसा खुलवाया तथा जनसाधारण की शिक्षा का प्रबन्ध किया। प्रधानत: उस समय भारत में शिक्षा का अर्थ इन शासकों द्वारा मुसलमानी शिक्षा से लिया जाता था जिसमें कुरान का अध्ययन तथा थोड़ा लिखना-पढ़ना और व्यावहारिक हिसाब-किताब होता था ।

हुमायूँ की मृत्यु के उपरान्त अकबर भारत का सम्राट् हुआ। अकबर के शासन काल से मध्यकालीन शिक्षा में एक नये युग का सूत्रपात होता है । यद्यपि वह स्वयं निरक्षर था, किन्तु एक कुशाग्र बुद्धि व्यक्ति था। उसके समय में भारत में शिक्षा, ललित कला, साहित्य, दर्शन और इतिहास की बहुत उन्नति हुई । उसके दरबार में विद्वान रहते थे जिनसे अकबर शास्त्रार्थ करता था । उसने भिन्न-भिन्न धर्मों के विद्वानों को संरक्षण दिया और इस प्रकार ज्ञान-प्रसार में एक महान् सहयोग दिया। अकबर ने अबुल फजल जैसे विद्वान मन्त्रियों की सलाह से जनसाधारण की शिक्षा के नियम व पाठ्यक्रम बनाये। परम्परागत शिक्षा-विधि में भी अकबर ने राजाज्ञा द्वारा सुधार किये तथा मुसलमान जनता के सुधार के लिए पाठ्यक्रम में भी परिवर्तन कराया। उसने राजधानी में एक विशाल पुस्तकालय का निर्माण भी कराया जिसमें भिन्न-भिन्न धर्मों, साहित्यों और दर्शनशास्त्र के उच्च कोटि के ग्रन्थों का संग्रह था; तथा आगरा, फतहपुर सीकरी एवं अन्य स्थानों पर मदरसे बनवाये । उसने संस्कृत के कई ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद भी कराया जिन्हें वह स्वयं पढ़वाकर सुनता था । हिन्दुओं ने राज्य-सेवा का लाभ लेने के लिए फारसी तथा अरबी भाषाओं का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था, यहाँ तक कि अकबर के समय में उसकी धर्म-सहिष्णुता की नीति के कारण हिन्दुओं ने फारसी पढ़ने में विशेष रुचि दिखायी । हिन्दू बालकों की शिक्षा के लिए भी अकबर ने विद्यालय खुलवाये । जहाँगीर यद्यपि अकबर के समान शिक्षा-प्रेमी नहीं था तथापि वह विद्वान था और विद्वानों को प्रोत्साहन देता था। पुस्तकों से उसे बड़ा प्रेम था । जहाँगीर चित्रकला का संरक्षक था । उसने शिक्षा-प्रसार के लिए राजाज्ञा जारी की थी कि किसी भी धनवान नागरिक अथवा यात्री के बिना उत्तराधिकारी छोड़े हुए मरने पर उसकी सम्पत्ति राज्य में मिला दी जाय और वह धनराशि शिक्षा की उन्नति, मदरसों के निर्माण तथा उनकी मरम्मत में व्यय की जाय । गद्दी पर बैठते ही जहाँगीर ने "ऐसे मदरसों की मरम्मत भी करवायी जो तीस वर्षों से पशुओं और चिड़ियों के निवासस्थान बने हुए थे । उसने उन्हें विद्यार्थियों एवं आचार्यों से भर दिया ।"

शाहजहाँ यद्यपि ललित कलाओं, जैसे संगीत, चित्रकला तथा वास्तुकला का महान् संरक्षक था तथापि उसके समय में शिक्षा-सुधार व प्रसार के लिए कोई सराहनीय प्रयत्न नहीं हुए । उसने केवल अपने पूर्वजों की नीति को जारी रखा । दिल्ली में उसने एक बड़ा मदरसा बनवाया तथा दूसरा मदरसा जिसका नाम 'दारुल बकी' (अनन्त निवास) था, उसकी मरम्मत करायी । शाहजहाँ स्वयं तुर्की का विद्वान था और रात

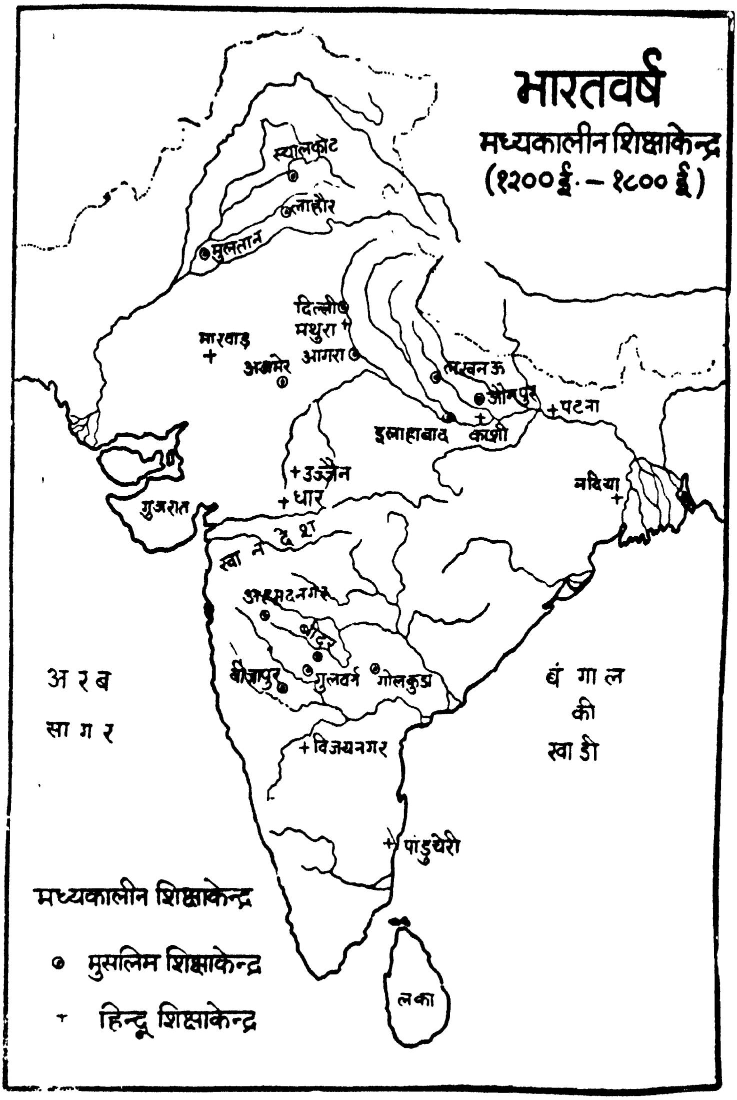
का कुछ समय ग्रन्थावलोकन में व्यतीत करता था। उसका पुत्र दाराशिकोह तो उच्च कोटि का विद्वान तथा हिन्दू दर्शनशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था। वह अरबी, फारसी तथा संस्कृत का ज्ञाता था। उसने उपनिषदों, भगवद्‌गीता तथा योग-वाशिष्ठ व रामायण का अनुवाद किया। उसने सूफी दर्शन पर भी अपनी मीमांसा लिखी। ऐसा कहा जाता है कि यदि दारा को राजगद्दी मिल जाती तो अवश्य ही भारतीय शिक्षा और भारत का भाग्य कुछ और ही होता।

इतना अवश्य है कि इस्लामी शिक्षा का व्यापक रूप उस समय नहीं था। आधुनिक शिक्षा विभाग जैसी कोई सुसंगठित व्यवस्था शिक्षा-प्रसार व प्रबन्ध के लिए उस समय नहीं थी। शिक्षा-प्रसार को एक प्रकार से धर्म-कार्य समझा जाता था और राज्य की ओर से शिक्षा के लिए व्यय होने वाली धनराशि भी धर्मादा-खाते समझी जाती थी। शाहजहाँ के समय में फ्रांसीसी यात्री बर्नियर आया। उसने तो तत्कालीन शिक्षा का बड़ा ही निराशाजनक चित्र उपस्थित किया है। वह लिखता है—

"जिस समय का वर्णन मैंने किया है उसमें घोर व सर्वव्यापी अज्ञान स्वाभाविक है। क्या हिन्दुस्तान में उचित रूप से आर्थिक सहायता प्राप्त विद्या-केन्द्र तथा कॉलेज स्थापित करना सम्भव है? हम संस्थापक कहाँ से लायेंगे? और यदि वे मिल भी गये तो फिर विद्यार्थी कहाँ हैं? ऐसे व्यक्ति भी कहाँ हैं जिनकी सम्पत्ति विद्यार्थियों को कालेजों में सहायता देने के लिए पर्याप्त हो? और यदि ऐसे व्यक्तियों का अस्तित्व भी हो तो उस सम्पत्ति को बाहर निकालने का साहस किसमें है? अन्त में यदि कोई व्यक्ति यह मूर्खता करने का लालच भी करे, तो फिर ऐसे धर्मस्थान, ऐसे उद्यम तथा सम्मानप्रद कार्यालय कहाँ हैं जहाँ योग्यता व विज्ञान की खपत हो सके तथा जो युवकों में, विद्यार्थियों में प्रतिस्पर्द्धा तथा आशाओं का संचार कर सकें?"

वस्तुतः यदि हम तत्कालीन शासकों और व्यक्तिगत संरक्षकों द्वारा किये गये शिक्षा-प्रयत्नों पर दृष्टिपात करते हैं तो बर्नियर का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। उसने प्राचीन भारतीय शिक्षा के उन केन्द्रों का कोई उल्लेख नहीं किया है जहाँ उस समय भी बिना राज्य की सहायता के केवल व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा विशाल पैमाने पर उच्च कोटि की आर्थिक व पारमार्थिक शिक्षा प्रदान की जा रही थी और निर्जन स्थानों में वृहत् शिक्षा-केन्द्र स्थापित हो गये थे। किन्तु इतना अवश्य है कि 'कॉलेज' का अर्थ उस समय किसी विशाल शिक्षा-केन्द्र, जहाँ असंख्य विद्यार्थी उच्च ज्ञान प्राप्त करते हों इत्यादि, से नहीं था। निस्सन्देह बर्नियर ने तत्कालीन यूरोपीय शिक्षा-संस्थाओं के मापदण्ड को समक्ष रखते हुए यहाँ का चित्र उपस्थित किया है। वास्तव में यहाँ के विद्यालय या मदरसे उस समय इतने विख्यात न रहे होंगे जो लोगों का ध्यान स्थायी रूप से अपनी ओर आकर्षित कर सकें। प्रायः मसजिदों के साथ कुछ ऐसा स्थान निर्मित करा दिया जाता था जहाँ धर्माचार्य विद्यार्थियों को बैठाकर शिक्षा देते थे। अधिकतर तो पुराने मदरसों की मरम्मत का उल्लेख मिलता है।

औरंगजेब हिन्दू शिक्षा का शत्रु था। उसने हिन्दुओं के अनेक मन्दिर और


भारतवर्ष
मध्यकालीन शिक्षाकेन्द्र
(१२०० ई. – १८०० ई.)
स्यालकोट
लाहौर
मुलतान
दिल्ली
मथुरा
आगरा
मारवाड़
अजमेर
लखनऊ
जौनपुर
पटना
इलाहाबाद
काशी
उज्जैन
धार
गुजरात
नदिया
खानदेश
अहमदनगर
बीदर
बीजापुर
गुलबर्गा
गोलकुंडा
विजयनगर
पांडुचेरी
लंका
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
मध्यकालीन शिक्षाकेन्द्र
मुसलिम शिक्षाकेन्द्र
हिन्दू शिक्षाकेन्द्र

विद्या-केन्द्रों को नष्ट करवाकर उनके स्थान पर मसजिदें, मकतब व मदरसे बनवा दिये थे। अकबर के प्रतिकूल औरंगजेब ने केवल इस्लामी शिक्षा को ही वास्तविक शिक्षा समझा और उसी के लिए उसने प्रयत्न किये। 'मीराते आलम' का उल्लेख करते हुए इलियट ने उद्धरण दिया है कि "जनता के धन से सभी मसजिदों की मरम्मत होती है। प्रत्येक में इमामों और खुतबा पढ़ने वाले मुल्लाओं की नियुक्ति हो गयी है जिसके परिणाम-स्वरूप एक विशाल धनराशि इन पर व्यय हुई है और अब भी होती है। इस विशाल देश के प्रायः प्रत्येक नगर व कस्बे में विद्वानों तथा आचार्यों को धनदान, भूमिदान तथा भत्ता दिया जाता है तथा योग्यता के आधार पर विद्यार्थियों के लिए भी छात्रवृत्ति की व्यवस्था कर दी गयी है।"

वास्तव में औरंगजेब कट्टर व संकीर्ण विचारों का होते हुए भी तुर्की, अरबी व फारसी का ज्ञाता था तथा कुरान एवं हदीस उसे कंठाग्र थीं। शाहजहाँ के समय में जो शिक्षा की अवनति प्रारम्भ हो गयी थी वह औरंगजेब के काल में कुछ समय के लिए रुक गयी। औरंगजेब ने शिक्षा के प्रसार के साथ ही साथ शिक्षा का सुधार भी किया जैसा कि उसके अपने गुरु के साथ हुई वार्ता से सिद्ध होता है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। उसने पाठ्यक्रम में सुधार करके शिक्षा को अधिक जीवनोपयोगी बनाया। उसने राज्य की ओर से मकतबों और मदरसों का निर्माण कराया और उनके द्वारा इस्लामी धर्म-सिद्धान्तों व शिक्षा का प्रसार किया। राजकीय पुस्तकालय में भी उसने इस्लाम की असंख्य पुस्तकों का संग्रह कराया। बीजापुर के पुस्तकालय से भी औरंगजेब गाड़ियों में भरवाकर पुस्तकें लाया था।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, औरंगजेब ने केवल मुसलमानों की शिक्षा के लिए ही प्रयत्न किये। सन् 1669 ई० में उसने सूबेदारों के लिए राजाज्ञा जारी की कि हिन्दुओं के शिक्षा-केन्द्रों तथा मन्दिरों को नष्ट करके उनके स्थान पर मसजिदों तथा मकतबों की स्थापना की जाय। उसने यह भी फरमान जारी किये कि मुसलमानों की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध गुजरात तथा अवध इत्यादि सूबों में भी किया जाय जो शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए थे। सन् 1678 ई० में गुजरात के बौहरों की शिक्षा के लिए उसने विशेष व्यवस्था की और राज्य की ओर से शिक्षक नियुक्त किये तथा उनकी शिक्षा को अनिवार्य करके आदेश दिया कि उनकी मासिक परीक्षाओं की प्रगति से उसे सूचित किया जाय।

**औरंगजेब के उपरान्त शिक्षा की दशा**

औरंगजेब के समय में मुगल साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया था। सूबेदारों के विद्रोह तथा मराठों के उत्कर्ष ने मुगल साम्राज्य की जड़ें हिला दीं। अतः ऐसी अवस्था में जबकि देश में युद्ध, अव्यवस्था, लूट तथा विप्लव का अखण्ड साम्राज्य हो, शासकों से शिक्षा तथा साहित्य की उन्नति की आशा करना निर्मूल है। इतना अवश्य है कि प्रान्तों में अमीरों ने कुछ मदरसे स्थापित कर दिये थे। दिल्ली में गाजीउद्दीन का मदरसा इनमें उल्लेखन ,। है। "सुदूर गाँवों में हिन्दू और मुसलमानों के लिए

प्रारम्भिक जीवनोपयोगी शिक्षा किसी भी प्रकार जीवित थी, किन्तु अधिकांश मकतब और मदरसे, जो मसजिदों से लगे हुए थे और अब तक राज्य की ओर से आर्थिक अनुदान पा रहे थे, बन्द हो गये और उनके विद्यार्थी तथा शिक्षक छिन्न-भिन्न हो गये। औरंगजेब के कुछ उत्तराधिकारियों ने शिक्षा-दीप को प्रज्वलित रखने के कुछ क्षीण प्रयत्न किये किन्तु वे अठारहवीं शताब्दी में अपना कुछ भी प्रभाव प्रकट करने में असमर्थ रहे।"[5] मराठों व अंग्रेजों की विजय ने देश के मुसलिम शिक्षा-केन्द्रों को नष्ट कर दिया।

हाँ, इतना निश्चित है कि जो शिक्षा इन मकतबों अथवा मदरसों के द्वारा दी जा रही थी वह जनसाधारण के लिए न होकर केवल उसी वर्ग विशेष के लिए थी जो इससे लाभान्वित होना चाहता था। इस प्रकार मुसलमान शासकों के शासन काल में देश में शिक्षा का विकास हुआ। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक-दूसरे की शिक्षा-पद्धति से प्रभावित हुए और अन्त में एक समान शिक्षा-पद्धति का विकास हुआ।

जो मकतब या मदरसे मसजिदों से लगे हुए थे वे अपने संस्थापक के साथ ही समाप्त हो जाते थे और शिक्षक तथा विद्यार्थी उन भवनों को छोड़कर चले जाते थे। मुसलमानों के 700 वर्ष के शासन काल में युद्ध इत्यादि जारी रहे। इससे बादशाहों का शिक्षा-सुधार अथवा विकास की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं जा सका। शाही प्रयासों के अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रयत्नों से भी इस युग में शिक्षा का पर्याप्त पोषण हुआ। वास्तव में देश के अमीर व धनवान व्यक्तियों ने अपनी दानशीलता द्वारा शिक्षा का खूब प्रसार किया। व्यक्तियों के द्वारा बनाये हुए विद्यालय शाही मदरसों से अधिक स्थायी सिद्ध हुए क्योंकि शाही मदरसे संरक्षण उठते ही नष्ट हो जाते थे। "अठारहवीं शताब्दी में जबकि देश में मराठा, मुसलमान, सिक्ख, अंग्रेज और फ्रांसीसियों द्वारा एक अव्यवस्था तथा विप्लव फैल रहा था, सर्वव्यापी अज्ञान एक स्वाभाविक बात हो गयी।" व्यवसाय और उच्च पदों के अभाव में तरुण विद्यार्थियों में आशा व उत्साह-संचार के लिए कोई उद्देश्य नहीं रह गया था। देश का व्यापार, कलाकौशल तथा कृषि सभी की अवस्था जर्जरित हो गयी। परिणामतः इस युग में शिक्षा का घोर पतन हुआ और देशव्यापी अज्ञान व अशिक्षा के बादल जनसाधारण पर छा गये। अंग्रेजों तथा ईसाइयों ने हिन्दू तथा मुसलमानों के लिए कुछ पाठशालाएँ तथा बंगाल में टोल व मकतब और मदरसे खोले किन्तु यह प्रयास नगण्य था। कुछ मसजिदों में तो आधुनिक काल में भी मकतब स्थापित हैं जहाँ इमाम और मौलवियों द्वारा कुरान की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है तथा राज्य शिक्षा विभाग द्वारा इनका निरीक्षण इत्यादि होता है।

## शिक्षा का संगठन

**प्रारम्भिक शिक्षा (मकतब)**

इस्लामी प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य बालक को शब्द-ज्ञान कराना तथा धार्मिक प्रार्थनाएँ सिखाना था। यह कार्य मकतब में सम्पादित कराया जाता था। 'मकतब'

---

[5] J. N. Sen : *History of Elementary Education in India*, p. 34.

का अर्थ उस स्थान से है जहाँ लिखने की शिक्षा प्रदान की जाती हो । ये मकतब मसजिदों से जुड़े रहते थे। प्रायः मसजिद का निर्माण कराते समय उसके साथ में मकतब अवश्य बनवाया जाता था। यही मकतब प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने का प्रमुख स्थान था। यद्यपि कुछ धनी लोग अपने बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए घर पर भी शिक्षक रख लेते थे, तथापि मुहल्ले की साधारण जनता के बालक इन्हीं मकतबों में इकट्ठे होकर नियमानुसार विद्याध्ययन करते थे। मकतबों के अतिरिक्त खानकाह व दरगाह भी बनाये जाते थे जहाँ मुसलमान बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। प्रायः इन स्थानों पर खानकाह व दरगाह के निर्माताओं व संरक्षकों द्वारा एक मौलवी की नियुक्ति कर दी जाती थी जो बालकों को पढ़ाता था।

**प्रवेश**

मकतब प्रवेश की एक विशेष विधि थी । जिस प्रकार ब्राह्मणीय शिक्षा में 'विद्यारम्भ' विधि थी उसी प्रकार इस्लामी शिक्षा में भी 'बिस्मिल्लाह' रस्म थी। "जब बालक चार वर्ष, चार माह और चार दिन का हो जाता था तो मकतब-प्रवेश अथवा बिस्मिल्लाह की रस्म मनायी जाती थी। नियत समय पर बालक को सम्बन्धियों के समक्ष नवीन वस्त्र पहनाकर बिठाया जाता था; फिर उसके सामने लिपि, कुरान की भूमिका तथा उसका 55 वाँ और 87 वाँ अध्याय रखा जाता था और बालक को क्रम से पढ़ना सिखाया जाता था। सब न दोहराने पर केवल बिस्मिल्लाह कह देना ही पर्याप्त समझा जाता था। इस प्रकार बालक का विद्यारम्भ प्रारम्भ हो जाता था।"

**पाठ्यक्रम**

शाहजादों के विषय में उल्लेख मिलता है कि "जब शाहजादे अपने पिता के संरक्षण में हरम में रहते थे, एक नपुंसक व्यक्ति को हरम में उनकी शिक्षा के लिए रख दिया जाता था। तब उन्हें अरबी और फारसी में कुछ लिखना व पढ़ना सिखाया जाता था। उनके शरीर को सैनिक-शिक्षा के लिए तैयार किया जाता था तथा उन्हें समानता व इन्साफ के सिद्धान्त सिखाये जाते थे । झगड़ों का योग्यतापूर्वक निर्णय किया जाता था तथा कानून का अध्ययन भी कराया जाता था। अन्त में उन्हें इस्लाम धर्म की शिक्षा दी जाती तथा राष्ट्र-कल्याण के विषय में शिक्षित किया जाता, जिसकी सेवा का भार एक दिन उन पर आने वाला है।"[6]

शाहजादों के अतिरिक्त जनसाधारण के बालकों के लिए मकतब में प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था थी। मुसलमान बालकों के अतिरिक्त कुछ हिन्दू बालक भी इन मकतबों में फारसी पढ़ते थे। प्रारम्भ में बालक को लिपि का ज्ञान आँख तथा कान के मार्ग से कराया जाता था। इस प्रकार लिपि का ज्ञान होने पर कुरान का तीसवाँ भाग पढ़ाया जाता था, जिसमें दैनिक प्रार्थनाएँ तथा फातिहा हैं। उच्चारण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसी उद्देश्य से सादी का पन्दनामा भी पढ़ाया जाता था।

---

[6] Quoted by F. E. Keay in *Indian Education in Ancient and Later Times*, p. 130 (1942).

प्रायः बालक को इन्हें समझने की आवश्यकता नहीं थी। इसके उपरान्त लिखने की शिक्षा दी जाती थी और फारसी का व्याकरण रटाया जाता था। इसके बाद सादी का गुलिस्तां तथा बोस्तां समझाकर पढ़ाये जाते थे जिनसे नैतिक शिक्षा भी मिलती थी। साथ ही लेखन-कला में प्रतिदिन चार-पाँच घण्टे लगाये जाते थे। फिर यूसुफ-जुलेखा, लैला-मजनू, सिकन्दरनामा आदि काव्य पढ़ाये जाते थे। अबजद अथवा अक्षरों की संख्या से गणना (और शकुन विचार) भी सिखाया जाता था। अंकगणित, बातचीत का ढंग, पत्र-कला, अर्जीनवीसी आदि के उपरान्त फारसी की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त हो जाती थी।

जैसा कहा जा चुका है कि वर्णमाला की लिपि फारसी ही थी तथापि उर्दू उस समय अध्यापन का प्रमुख विषय थी। कुरान के अतिरिक्त खालिकबारी, करीमा, मामकीमा भी पढ़ायी जाती थी। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी साधारणतः शिक्षित होकर कुछ व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेते थे।

**उच्च शिक्षा (मदरसा)**

मध्यकाल में भारत में इस्लामी उच्च शिक्षा मदरसों में दी जाती थी। ये वे स्थान थे जहाँ शिक्षक आकर भाषण करते थे। भिन्न-भिन्न विषयों के विद्वान शिक्षक इन मदरसों में नियमित रूप से अध्यापन कार्य करते थे। बहुधा इन शिक्षकों की नियुक्ति राज्य अथवा कुछ दानशील धनवानों की ओर से होती थी। मकतब की शिक्षा समाप्त करके विद्यार्थी मदरसा में प्रविष्ट होता था। उस समय कोई विशेष रस्म अदा नहीं करनी होती थी।

बहुधा इन मदरसों का प्रबन्ध वैयक्तिक प्रबन्ध-समितियों अथवा सम्मानित व दानशील नागरिकों द्वारा होता था। राज्य की ओर से आर्थिक सहायता अवश्य मिलती थी, किन्तु राजकीय शिक्षा विभाग के अभाव में प्रबन्ध सरकार के हाथ में नहीं था। प्रायः इन मकतब और मदरसों से जागीरें लगा दी जाती थीं अथवा कुछ नियमित वृत्ति राज्य की ओर से नियत हो जाती थी। कहीं-कहीं पर विद्यार्थियों के रहने तथा भोजन के लिए भी छात्रावासों में राज्य की ओर से व्यवस्था कर दी जाती थी। किन्तु यह सब शासक अपनी प्रतिष्ठा के लिए अथवा धार्मिक भावना से प्रेरित होकर ही करते थे। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को राज्य में उच्च पद अथवा सम्मान देकर भी उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाता था।

**पाठ्यक्रम**

मदरसों में उच्च शिक्षा दो भागों में विभाजित थी—(1) लौकिक, और (2) धार्मिक। यह शिक्षा प्रायः दस या बारह वर्ष में समाप्त हो जाती थी। लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत अरबी व्याकरण, गद्य साहित्य, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र, कानून, ज्योतिष, गणित, इतिहास, भूगोल, चिकित्सा, कृषि तथा रचना आदि विषय थे। शिक्षा का माध्यम अरबी था। यद्यपि औरंगजेब ने अरबी के स्थान पर मातृभाषा के माध्यम पर जोर दिया, क्योंकि उसका अनुभव था कि अरबी और फारसी के सीखने में दस-बारह

वर्ष के उपरान्त भी बालक निपुण नहीं हो पाता है, तथा जहाँ तक प्रार्थनाओं का सम्बन्ध है, "मातृभाषा द्वारा भी प्रार्थनाएँ की जा सकती हैं, तथा ज्ञान का आसानी से प्रसार हो सकता है।" धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत कुरान का गहन एवं विस्तृत अध्ययन तथा कुरान के भाष्य, मुहम्मद साहब की परम्परा, इस्लामी कानून तथा कभी-कभी सूफी धर्म के सिद्धान्त भी सम्मिलित थे। प्रारम्भ में मुसलमानों ने लौकिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया था, किन्तु भारत में आकर उन्हें अपनी संख्या बढ़ानी पड़ी, अतएव असंख्य हिन्दुओं का धर्म-परिवर्तन करके उन्हें इस्लाम में दीक्षित किया। इन परिवर्तित मुसलमानों के लिए धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता पड़ी। अतः कुछ समय उपरान्त इसका प्राधान्य हो गया। सम्राट् अकबर के समय में पुनः पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया गया। सम्राट् की नीति धार्मिक सहिष्णुता की थी, अतः भारतीय जनता को केवल इस्लामी शिक्षा देने में उसने अपनी सल्तनत के लिए कुछ खतरा देखा, साथ ही यह शिक्षा भी उसे व्यावहारिक जीवन के लिए अनुपयोगी प्रतीत हुई। उसने हिन्दू प्रजा के बालकों के लिए भी मदरसे खुलवाये जहाँ फारसी के साथ ही साथ हिन्दू धर्म, दर्शन व साहित्य का अध्ययन कराया जाता था। राज्य-सेवा का लाभ उठाने के लिए हिन्दुओं ने फारसी का अध्ययन आरम्भ कर दिया था जिसमें मन्त्री टोडरमल ने विशेष सहायता की। किन्तु सम्राट् अकबर तत्कालीन प्रचलित शिक्षा-पद्धति तथा पाठ्यक्रम से सन्तुष्ट नहीं था। उसने पद्धति में सुधार किया तथा पाठ्यक्रम को भी विस्तृत करके अधिक उपयोगी बनाया। 'आईने अकबरी' में अबुल फजल ने तत्कालीन शिक्षा के विषय में इस प्रकार लिखा है—

"प्रत्येक बालक के द्वारा नीतिशास्त्र, अंकगणित, अंकगणित-समस्याएँ, कृषिशास्त्र, क्षेत्रमिति, ज्यामिति, ज्योतिष विद्या, मुखाकृति विद्या, गृहशास्त्र, राजतन्त्र और ओषधि-ज्ञान, तर्कशास्त्र, तिबी (चिकित्सा तथा शरीर-विज्ञान), रियाजी (गणित, ज्योतिष, संगीत तथा शिल्प-ज्ञान), इलाही (धर्म-ज्ञान तथा दर्शन), और इतिहास; ये सभी ज्ञान क्रमशः प्राप्त किये जा सकते हैं। संस्कृत पढ़ने वाले विद्यार्थियों को व्याकरण, न्याय, वेदान्त और पातंजलि का अध्ययन करना चाहिए। किसी को भी उन बातों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए जिनकी वर्तमान देश व काल को माँग है।"[7]

औरंगजेब के समय की घटना का वर्णन करते हुए बर्नियर ने लिखा है कि औरंगजेब का गुरु मुल्ला शाह सलेह जब शहशाह के सिंहासनारूढ़ होने के उपरान्त कुछ तमन्नाएँ लेकर उससे मिलने गया तो औरंगजेब ने लगातार तीन माह तक उससे मिलने से इनकार कर दिया और जब अन्त में मिला भी तो उससे कहा, "कहिये मुल्लाजी आप मुझसे क्या चाहते हैं ? क्या आप यह दम्भ करना चाहते हैं कि राज्य में मैं आपको सर्वोच्च पद पर आसीन कर दूँ ? जरा इसके लिए अपनी काबिलियत पर तो गौर फरमाइये।······तुमने हमें सिखाया कि सम्पूर्ण फिरंगिस्तान (यूरोप) एक

[7] Nadvi : *Muslim Thought and Its Source*, p. 117.

छोटा-सा द्वीप है, जिसका सर्वशक्तिमान सम्राट् सर्वप्रथम पुर्तगाल का, फिर हालैण्ड और फिर इंगलैण्ड का है।········ए प्रशंसनीय भूगोलवेत्ता ! विद्वान इतिहास मर्मज्ञ !! क्या मेरे शिक्षक का यह कर्तव्य नहीं था कि वह मुझे भूमण्डल के सभी प्रमुख राष्ट्रों से परिचित कराता; उनके प्राकृतिक साधन, उनकी शक्ति, उनकी युद्ध-प्रणाली, सभ्यता, धर्म, राज्य-प्रणाली और मेरे विशेष हित की शिक्षा देता; इतिहास का क्रमशः अध्ययन कराके मुझे राज्यों के प्रादुर्भाव, उत्थान व पतन के विषय में बतलाता; तथा वह घटनाएँ एवं भूलें बतलाता जिनके कारण वे विशाल परिवर्तन व महान् क्रान्तियाँ हुईं ?········इतिहास के स्थान पर मैंने केवल अपने पूर्वजों के नाम रटे। तुमने मुझे उनके जीवन के विषय में घोर अज्ञान में रखा। एक बादशाह के लिए पड़ोसी राष्ट्रों की भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य होता है; किन्तु तुमने मुझे केवल अरबी सिखायी।···
······इस सत्य को भुलाकर कि एक राजकुमार की शिक्षा में कितने आवश्यक विषय सम्मिलित किये जाने चाहिए, तुमने मुझे तो केवल व्याकरण से सन्तुष्ट रखा।······इस प्रकार तुमने मेरे यौवन के अमूल्य वर्ष एक शुष्क, निरर्थक व अनन्त 'शब्द' सिखाने में ही नष्ट किये······यदि तुमने मुझे उस दर्शन का ज्ञान कराया होता जो मस्तिष्क को तर्क के उपयुक्त बनाता है·········यदि तुमने मुझे वे पाठ पढ़ाये होते जो आत्मा का उत्थान करते हैं और उसे दुर्भाग्य व मुसीबतें झेलने के उपयुक्त बनाते हैं·········यदि तुमने मुझे मानव-प्रकृति से परिचित कराया होता···
······तो मैं तुम्हारा उससे भी अधिक सम्मान करता जितना कि सिकन्दर अरस्तू का करता था। हे चाटुकार ! मुझे उत्तर दे, क्या तुझको मुझे कम से कम यह बात नहीं सिखानी चाहिए थी, जो एक शहंशाह के लिए इतनी अनिवार्य होती है, कि राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं ? क्या यह बात तुम नहीं जान सके कि मुझे किसी दिन हाथ में तलवार लेकर अपने भाइयों से ही ताज तथा अपने अस्तित्व के लिए युद्ध करना पड़ेगा ? तुम्हें जानना चाहिए कि हिन्दुस्तान के असंख्य शहजादों का बहुधा यही भाग्य होता है। क्या तुमने मुझे कभी युद्ध-शिक्षा दी कि किस प्रकार एक नगर का घेरा डालना चाहिए या युद्ध-क्षेत्र में किस प्रकार सैन्य-संचालन करना चाहिए ? यह मेरा सौभाग्य था कि मैंने इस विषय में तुझसे अधिक बुद्धिमान व्यक्तियों से सलाह ली। तू जा, अपने गाँव लौट जा। भविष्य में कभी भी किसी को यह विदित न होने पावे कि तू जिन्दा है अथवा तेरा क्या हुआ ?"[8]

हो सकता है कि यह वर्णन कुछ अतिरंजित हो; किन्तु जैसा भी यह है, तत्कालीन शिक्षा के पाठ्यक्रम तथा उसके उद्देश्यों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। यद्यपि शिक्षा अथवा धर्म के विषय में औरंगजेब इतना उदार नहीं था जितना कि अकबर, तथापि अपनी स्वाभाविक संकीर्णता की अपेक्षा भी यह एक समर्थ व योग्य शासक था। उसने शिक्षा-प्रणाली के दोषों को समझा और उनमें सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया।

[8] Bernier : *Travels*, p. 155.

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि उसने इस बात का अनुभव किया कि विद्यार्थियों का अधिकांश समय केवल शब्द तथा व्याकरण सीखने में ही व्यतीत होता है। धार्मिक शिक्षा के अनुकूल होते हुए भी उसे दम्भ व आडम्बर से अरुचि थी। वह ऐसी शिक्षा-पद्धति में विश्वास करता था जो बालक को व्यावहारिक जगत के अधिक उपयुक्त बना दे। केवल प्राचीन भाषाओं के साहित्य के अध्ययन में ही वह विद्यार्थियों के यौवन को नष्ट नहीं करना चाहता था। वस्तुतः शिक्षा के पाठ्य-विषय में वह सच्चा इतिहास, भूगोल, दर्शन, युद्धकला, राजनीति व कूटनीति इत्यादि को सम्मिलित करके उच्च शिक्षा को अधिक उपादेय बनाने के पक्ष में था। अकबर ने भी यही प्रयास किया था कि शिक्षा को अधिक वास्तविक तथा उपयोगी बना दिया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर के उपरान्त पुनः पाठ्यक्रम तथा शिक्षा-प्रणाली का पतन हो गया था; यही कारण है कि औरंगजेब को हम उसे सुधारने के लिए इतना व्यग्र पाते हैं। किन्तु इतना सत्य है कि औरंगजेब का ध्यान अधिकतर राजकुमारों की शिक्षा की ओर ही रहा और साधारण जनता की शिक्षा में व्यावहारिक पाठ्यक्रम का समावेश न हो सका। वर्तमान भारत में भी हम शिक्षाशास्त्रियों को यही प्रयास करते हुए पाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मदरसों में शिक्षा के विषय विभिन्न थे। इन मदरसों की तुलना वर्तमान कालेजों से की जाती है। अरबी व फारसी के उच्च साहित्य, व्याकरण छन्द व पिंगल और काव्य की प्रमुखता होने के कारण मध्यकालीन भारत में भी तत्कालीन यूरोप की भाँति विद्यार्थियों के पुस्तकीय व शास्त्रीय ज्ञान पर ही अधिक जोर दिया जाता था जिसमें शुद्ध साहित्य व काव्य, तर्क व दर्शन और शुष्क व्याकरण इत्यादि के सिद्धान्त प्रमुख थे। 'शिक्षा जीवन के लिए' न होकर केवल 'शिक्षा शिक्षा के लिए' रह गयी थी और प्रधानतः आडम्बरयुक्त पाण्डित्य-प्रदर्शन का एक साधन बन गयी थी। विद्यार्थी और शासकों का अधिकतर समय या तो शब्दजालयुक्त शुष्क दार्शनिक तर्कों में व्यतीत होता था अथवा साहित्य के विभिन्न अंगों की सराहना करने में।

इतिहास अवश्य इस युग की विशेषता रहा है। प्राचीन भारतीय परम्परा में तुलनात्मक दृष्टि से अवश्य ही सच्चे इतिहास का अभाव है किन्तु मध्य युग में हम प्रायः सभी मुसलमान सुल्तानों के दरबारों में इतिहासकार पाते हैं। स्वयं सुल्तानों ने भी अपनी आत्मकथाओं के रूप में ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण किया है।

कानून का अध्ययन भी इन मदरसों में कराया जाता था। ब्राह्मणीय व बौद्ध शिक्षा की भाँति इस्लामी शिक्षा का आधार भी धार्मिक था तथा इस युग में कानून भी कुरान इत्यादि धर्म-ग्रन्थों तथा परम्परागत रीति-रिवाजों पर आधारित था। चिकित्साशास्त्र में इस युग में प्रायः यूनानी विधि का अनुसरण किया जाता था, किन्तु इस दृष्टि से मुसलमानी शिक्षा प्राचीन भारतीय शिक्षा की अपेक्षा कुछ कम विकसित और निम्न प्रकार की रही। संगीत यद्यपि सर्वप्रिय विषय नहीं था, तथापि बहुधा पढ़ाया जाता था। राजधानियों में तो कुछ मदरसे केवल संगीत के ही चलते थे। राजदरबारों में संगीतज्ञों का विशेष सम्मान होता था। तानसेन अकबर के दरबार का एक उच्च कोटि

का कलाकार था। शिल्पकला व हस्तकला की दृष्टि से मुसलमानों ने परम्परागत प्रचलित भारतीय पद्धति को ही अपनाया और उसी में प्रशिक्षण भी दिया तथापि इस पर तुर्किस्तान और फारस इत्यादि इस्लामी देशों के शिल्प की छाप भी स्पष्ट थी। तुर्क लोग अच्छे भवनों के बड़े शौकीन थे। अतः उन्होंने मध्य एशिया से मुसलमान शिल्पकारों को भी बुलाया। शिल्पकला व वास्तुकला की शिक्षा भारत में इस समय परम्परा के रूप में ही दी जाती थी।

**शिक्षण-विधि**

मकतब में शिक्षण-विधि अत्यन्त सादी थी। जब से बालक ठीक प्रकार से बोलना सीखता था, उसे 'कलाम' कंठाग्र करा दिया जाता था। तदुपरान्त उसे कुरान की कुछ आयतें याद करायी जाती थीं। लगभग सात वर्ष की अवस्था में उसे नियमित रूप से कुरान आरम्भ कराकर धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। कुछ लिखना-पढ़ना तथा साधारण हिसाब-किताब भी सिखा दिये जाते थे। आधुनिक समय में भी जो मकतब विद्यमान हैं उनमें यही शिक्षण-पद्धति चल रही है।

कंठस्थ करने तथा रटने की विधि का अनुसरण इस काल में किया जाता था। मकतब में प्रधानतः शिक्षण-विधि मौखिक थी। सम्राट् अकबर ने इस बात का अनुभव किया कि विद्यार्थियों का अधिकांश समय केवल निरर्थक शब्दों के सीखने में व्यतीत हो जाता है, अतः उसने शिक्षण-विधि में सुधार किये। 'आईने अकबरी' में लिखा है, "प्रत्येक देश में, प्रधानतः हिन्दुस्तान में, बालक बहुत समय तक (प्रारम्भिक) स्कूलों में रखे जाते हैं जहाँ वे स्वर और व्यंजन का ज्ञान प्राप्त करते हैं। बालकों के जीवन का एक दीर्घांश केवल पुस्तक का पढ़ना सीखने में ही व्यतीत हो जाता है। अतः सम्राट् आज्ञा देते हैं कि स्कूल का प्रत्येक बालक सर्वप्रथम वर्णमाला के अक्षर लिखना सीखे तथा उनकी बनावट का अभ्यास करे। प्रत्येक अक्षर का नाम व बनावट दो दिन में सीखना चाहिए, तत्पश्चात उसे संयुक्ताक्षर सीखने चाहिए। इसका अभ्यास एक सप्ताह तक होना चाहिए; और तब बालक को कुछ गद्य और पद्य कण्ठाग्र कराना चाहिए तथा प्रार्थना के लिए कुछ छन्द और नीति-वाक्य याद कराना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक स्वयं सीखने का प्रयास करे किन्तु शिक्षक भी थोड़ा पथ-प्रदर्शन कर सकता है। इस प्रकार बालक को प्रतिदिन के अभ्यास के द्वारा लिखना-पढ़ना खूब अच्छी प्रकार सीख लेना चाहिए। शिक्षक को विशेषतः पाँच बातों का ध्यान रखना चाहिए—अक्षर-ज्ञान, शब्दार्थ, आधा-काफिया[9], छन्द और पूर्वपाठ। यदि इस शिक्षा-पद्धति का अनुकरण किया गया तो बालक एक माह किंवा एक दिन में भी उतना ज्ञान प्राप्त कर लेगा जितना कि अन्य लोगों को समझने में वर्षों नष्ट हो जाया करते हैं, यहाँ तक कि लोग आश्चर्यचकित रह जायेंगे।"[10]

[9] Semi-Stich.

[10] Quoted by Nadvi in *Muslim Thought and Its Source*, p. 117.

इस प्रकार हम देखते हैं कि अकबर ने शिक्षण की एक वैज्ञानिक विधि चलायी। किन्तु यह विधि अधिक समय तक न रह सकी और क्रमशः इसका पतन हो गया, क्योंकि औरंगजेब को पुनः हम अरबी और फारसी की वर्णमाला सीखने तथा 'एक दीर्घ व अनन्त कार्य शब्द' सीखने में समय नष्ट होने की शिकायत करते हुए पाते हैं ।

जैसा कि कहा जा चुका है, उच्च शिक्षा मदरसों में दी जाती थी । वहाँ पर भी अधिकांशतः शिक्षण-विधि मौखिक थी । शिक्षक भाषण-विधि को अपनाते थे जैसा कि 'मदरसा' शब्द के अर्थ से प्रतीत होता है । साथ ही विद्यार्थियों में ग्रन्थावलोकन की आदत को भी प्रोत्साहन दिया जाता था। 'तिब्बी, रियाजी और इलाही' तथा संगीत, चिकित्सा तथा हस्तकला की व्यावहारिक व प्रायोगिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक विद्यार्थी को अपना अलग-अलग पाठ्य-विषय तथा पाठ दे दिया जाता था, जिससे वह व्यक्तिगत तथा स्वतन्त्र रूप से प्रगति करता था । कमजोर विद्यार्थियों के साथ उसकी प्रगति अवरुद्ध नहीं हो पाती थी । यद्यपि शिक्षण-कार्य प्रधानतः कुशल शिक्षकों द्वारा किया जाता था तथापि बौद्धकालीन शिक्षा की भाँति 'मानीटर प्रथा' भी थी अर्थात् गुरु की अनुपस्थिति में अथवा गुरु की आज्ञा से उसका कार्य-भार हल्का करने के उद्देश्य से उच्च कक्षाओं के कुशल विद्यार्थी छोटी कक्षाओं को पढ़ाने का कार्य करते थे । पढ़ने और लिखने का कार्य अलग-अलग सिखाया जाता था अर्थात् एक में कार्य पूरा होने पर ही कुछ दिनों पश्चात दूसरे को प्रारम्भ कराया जाता था । इससे विद्यार्थियों की गति मन्द होने के कारण पर्याप्त समय नष्ट हो जाता था । अकबर ने इसके लिए प्राचीन भारतीय परम्परा को अपनाकर लेखन और पाठन को एक ही साथ कर दिया।

मदरसों में जहाँ उच्च शिक्षा के लिए धर्म, तर्कशास्त्र, दर्शन तथा राजतन्त्र इत्यादि विषयों की व्यवस्था थी, तर्क विधि को भी अपनाया जाता था । राजदरबारों में तो बहुधा महत्त्वपूर्ण विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ करता था । फीरोज तुगलक तथा अकबर के दरबार इस प्रकार के शास्त्रार्थों के लिए प्रसिद्ध हैं ।

स्वाध्याय अथवा विद्यार्थी द्वारा स्वतन्त्र अध्ययन भी मध्य युग में एक प्रमुख विधि थी । अध्यापकों के यत्र-तत्र सहायता करने के उपरान्त विद्यार्थी एकान्त में स्वाध्याय करते थे । इसमें रटने से भी काम लिया जाता था ।

**दण्ड-विधान**

इतना अवश्य है कि मध्य युग में इस्लामी शिक्षा में बालक की मनोवैज्ञानिक अवस्था का पता लगाने का विशेष प्रयास नहीं किया जाता था । अपराध करने वाले विद्यार्थियों के लिए कठिन शारीरिक दण्ड की व्यवस्था थी । राज्य की ओर से स्थायी नियमों के अभाव में शिक्षक बालकों को स्वेच्छा से दण्ड देने के लिए स्वतन्त्र थे । अनुशासन, साधारण, नैतिक व व्यावहारिक शिष्टाचार तथा विनयशीलता विद्यार्थियों में अनिवार्यतः देखे जाते थे । इन्हें भंग करने वाले विद्यार्थी को बेंत, कोड़ा तथा घूँसों द्वारा दण्ड दिया जाता था । आधुनिक काल तक चली आने वाली निर्दय व हास्यास्पद

'मुर्गा' बनाने की प्रथा का भी सम्भवतः इसी युग में आविष्कार हुआ था। कुछ अपराधों के लिए बालक को गठरी बाँधकर खूँटी पर भी लटका दिया जाता था।

**पारितोषिक**

इतना अवश्य है कि इस युग के शिक्षक जहाँ अनुशासन तथा अध्ययन के नाम पर कठोर दण्ड प्रदान करते थे वहाँ योग्य, कुशल तथा चरित्रवान् विद्यार्थियों को पारितोषिक देकर प्रोत्साहित भी करते थे। किसी विशेष अध्ययन के समाप्त कर लेने पर विद्यार्थियों को तमगे तथा सनदें अर्थात् प्रमाणपत्र देने की प्रथा थी। राजदरबारों से विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान की जाती थीं तथा इन मदरसों के स्नातकों को राज्य में न्यायालय, सचिवालय तथा सेना में उच्च पदों पर भी आसीन किया जाता था।[11] कुछ सम्मानित अमीर अथवा नागरिक भी विद्यार्थियों को पारितोषिक देकर प्रोत्साहित करते थे।

## कुछ विशिष्ट शिक्षाएँ

**स्त्री-शिक्षा**

मुसलमान स्त्रियाँ बहुधा पर्दा-प्रथा में विश्वास रखती थीं, अतः वे नियमानुसार लड़कों की भाँति मकतब और मदरसों में नहीं जाती थीं। कुछ बालिकाएँ मुहल्ले से एकत्रित होकर कभी-कभी मसजिद में लगे हुए मकतब में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पहुँच जाती थीं जहाँ केवल लिखना-पढ़ना भर सीख लेना ही उनका उद्देश्य रहता था। स्त्री-शिक्षा का व्यापक रूप प्रचलित नहीं था, जो कुछ भी शिक्षा थी वह बड़े नगरों तक ही सीमित थी। जनसाधारण की बालिकाओं के लिए पृथक् शिक्षा-व्यवस्था नहीं थी। अतः उनमें शिक्षा भी अपेक्षाकृत कम ही थी। मुगल काल में भी स्त्री-शिक्षा किसी न किसी रूप में प्रचलित थी। शाही घरानों तथा अमीर-उमरावों की पुत्रियों को घरों पर व्यक्तिगत रूप से शिक्षा दी जाती थी। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मध्य वर्ग के हिन्दुओं की बालिकाएँ भी लड़कों के साथ अथवा घरों पर प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर लेती होंगी। बालिकाओं की शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम प्रधानतः धर्म-ग्रन्थों का अवलोकन तथा गृहशास्त्र था। कुछ राजकुमारियाँ साहित्य व संगीत में भी विदुषी होती थीं। बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम ने 'हुमायूँनामा' लिखा। सुल्ताना रजिया एक विदुषी व योग्य महिला थी। वह राजतन्त्र, युद्धकला तथा शासन में पारंगत थी। सुल्ताना सलीमा, नूरजहाँ, मुमताज महल तथा जहाँनारा बेगम ने भी कला और साहित्य का अध्ययन किया। नूरजहाँ तो एक अत्यन्त ही योग्य साम्राज्ञी थी जो अपने

11 "The appointment was made by a Board of examiners, who were the distinguished members of their class, best suited to ascertain the learning and suitability of a candidade, who, if declared successful, was formally invested by them with his new character by tying an *Amamah* (turban) round his head." —Jaffar : *Education in Muslim India*, p. 4.

पति के राजकाज का भी संचालन करती थी। औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा अरबी और फारसी की एक स्वाभाविक कवयित्री थी। 'दीवाने मरवफी' उसके काव्य की एक एक अमर कृति है।

**ललित कला और हस्तकला**

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, यद्यपि भारत में मुसलमानी राज्य प्राय: युद्धों और विप्लवों में ही व्यतीत हुए, तथापि इस युग में भी ऐसे समय आये जब देश में पूर्ण शान्ति रही तथा कलाकौशल व साहित्य की पर्याप्ति उन्नति हुई। साधारण कोटि की कारीगरी में मुसलमानों ने प्रचलित हिन्दू हस्तकलाओं को ही अपनाया। कुछ हस्तकलाएँ तो कला व उच्चता की चरमसीमा तक पहुँच गयीं। हाथी-दाँत का काम, आभूषण-निर्माण, रेशम व जरी का काम, मलमल, जलयान-निर्माण, रथ-निर्माण तथा युद्ध-सामग्री का निर्माण इत्यादि प्रमुख शिल्प थे जिनका अनुसरण जीविका तथा कला दोनों के लिए किया जाता था। राजदरबारों तथा अमीर-उमरावों ने हस्तकलाओं को पर्याप्त संरक्षण दिया, परिणामत: इनकी और भी अधिक उन्नति हुई। इन शिल्पों का प्रशिक्षण प्राय: परम्परागत विधि से घरों अथवा कारखानों में ही होता था। इनके लिए आधुनिक प्रकार के औद्योगिक स्कूल नहीं थे।[12]

ललित कला की दृष्टि से तो मुसलमान काल स्वर्णयुग कहा जाता है। वास्तव में अधिकांश सुल्तान व शहंशाह विलासी थे और सांसारिक पदार्थों की चकाचौंध में ही अपने ऐश्वर्य में जीवन बिताते थे। अत: ऐसी अवस्था में ललित कलाओं को संरक्षण तथा उनकी उन्नति स्वाभाविक ही है। इस युग में संगीत और चित्रकला की पर्याप्त उन्नति हुई। राजदरबारों में उच्च कोटि के गायक व चित्रकार रहते थे। मुगल काल के चित्र वर्तमान संसार के लिए भी एक आश्चर्य की वस्तु हैं। राजदरबारों में नृत्यकला का भी प्रचार था। जनसाधारण में भी जल-नृत्य की प्रथा थी। नृत्यकला व संगीत सिखाने के लिए उस्ताद भी रखे जाते थे। मुसलमान शासकों को भवन-निर्माण का शौक था, अत: वास्तुकला की इस युग में बहुत उन्नति हुई। आगरे का ताजमहल तथा अन्य स्थानों पर बनी हुई विशाल व आश्चर्यजनक इमारतें आज भी अतीत के गौरव की स्मृति दिला रही हैं।

**सैनिक-शिक्षा**

मुसलमानों को भारत में आकर अपना राज्य स्थापित करने के लिए निरन्तर युद्ध लड़ने पड़े। अत: इस युग में युद्धकला का खूब विकास हुआ। प्रारम्भिक सुल्तानों

[12] "Technical training or Vocational knowledge was diffused by the system of apprenticeship. There were thousands of *Karkhanas* or workshops wherein boys were often apprenticed with theartisan to the trade for receiving instructions in particular Arts and Crafts."
—*Ibid*, pp. 12-13.

के समय में भारत में सैनिक-शिक्षा का अच्छा प्रचार था। शहज़ादों को प्रारम्भ से ही सैनिक-शिक्षा दी जाती थी। यह निर्विवाद सत्य है कि मुसलमानों की युद्धकला हिन्दुओं से उत्तम कोटि की थी। यद्यपि शारीरिक बल और व्यक्तिगत निपुणता में हिन्दू सैनिक किसी भी प्रकार से निम्न नहीं थे, तथापि मुसलमानों की प्रणाली अपनी एक विशेष थी। मुगल काल में युद्धकला का और भी अधिक विकास हुआ।

सैनिक-शिक्षण में बहुधा राजकुमारों को अश्वारोहण, भाला, तीर व तलवार चलाना, किले का घेरा डालना व अन्य प्रकार से सैनिक विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। साधारण सैनिकों का भी प्रायः यही पाठ्यक्रम था।

**साहित्य का उत्कर्ष**

'साहित्य समाज का दर्पण है' कथन के अनुसार मध्यकालीन साहित्य के द्वारा हम उस समय की शिक्षा-व्यवस्था का अनुमान भी सहज ही लगा सकते हैं। तत्कालीन साहित्य का सृजन इस बात का प्रमाण है कि उस युग में शिक्षा का पर्याप्त प्रचलन था और वह उच्च कोटि की थी।

वास्तव में राजदरबारों के संरक्षण में फारसी साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। अमीर खुसरो जो खिलजी और तुगलक सुल्तानों के दरबार में रहा, एक उच्च कोटि का कवि था। उसकी रचनाएँ आज भी चाव के साथ पढ़ी जाती हैं। मीरहसन दहलवी ने मुहम्मद तुगलक के समय में उच्च कोटि की कविता की। उसने एक दीवान की रचना की तथा शेख निजामुद्दीन औलिया के संस्मरण लिखे। इन दोनों महाकवियों की रचनाएँ भारत से बाहर भी पढ़ी जाती थीं। 13वीं शताब्दी में इतिहास, काव्य तथा कथा साहित्य की खूब रचना हुई।

राजदरबार में रहने वाले इतिहासकारों ने बहुत-सी रचनाएँ कीं। जियाउद्दीन बरनी का 'तारीखे फीरोजशाही' तथा शम्सेशिराज अफीफ का 'तारीखे फीरोजशाही' और यहिया बिन अब्दुल्ला का 'तारीखे मुबारकशाही' कुछ प्रसिद्ध रचनाओं के उदाहरण हैं।

बहुधा ये मुसलमान साहित्यकार संस्कृत के भी विद्वान होते थे। अलबरूनी, जो 10वीं शताब्दी में भारत आया, संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था। उसने दर्शन तथा ज्योतिष के संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया। उसकी 'तारीखे हिन्द' भारतीय संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। चौदहवीं शताब्दी में फीरोज तुगलक ने दर्शन-तन्त्र तथा शकुन-विचार के एक प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद कराया और इसका नाम 'दलायल फीरोजशाही' रखा। सिकन्दर लोदी के समय में भी चिकित्सा-शास्त्र की एक रचना का संस्कृत से फारसी में अनुवाद हुआ था।

मुगल काल में तो साहित्य की और भी अधिक उन्नति हुई। स्वयं बाबर अरबी, फारसी और तुर्की भाषा का विद्वान तथा कवि था। उसने तुर्की भाषा में अपने संस्मरण लिखे हैं। मुगलों की धर्म-सहिष्णुता की नीति ने देश में एक ऐसे वातावरण को उत्पन्न कर दिया था जिसमें उच्च कोटि के साहित्य तथा कला का सृजन होता है।

अकबर के समय में फारसी तथा हिन्दी दोनों की बड़ी उन्नति हुई। एक नयी भाषा 'उर्दू' के नाम से भी चल पड़ी थी और उसमें भी कुछ रचना प्रारम्भ हो गयी थी।

अकबर के समय में कुछ इतिहास भी लिखे गये। इनमें से मुल्ला दाऊद की 'तारीखे अलफी', अबुल फजल की 'आईने अकबरी' और 'अकबरनामा' तथा बदायूँनी की 'मुन्तखब-उत तवारीख' अधिक प्रसिद्ध हैं। अबुल फजल उस समय का सबसे महान् लेखक, कवि, इतिहासकार, प्रबन्धक तथा तर्कशास्त्री था। सम्राट् अकबर की आज्ञा से बहुत-सी संस्कृत रचनाओं के फारसी में अनुवाद भी हुए। बदायूँनी ने रामायण तथा महाभारत के कुछ भाग फारसी में अनुवादित किये। हाजी इब्राहीम सरहन्दी ने अथर्ववेद का अनुवाद किया तथा फैजी ने गणित का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लीलावती' फारसी में अनुवादित किया। गिजाली तथा फैजी इस युग के प्रसिद्ध फारसी कवि थे।

फारसी साहित्य तथा मुस्लिम शिक्षा के साथ ही साथ हिन्दी साहित्य और भारतीय प्राचीन शिक्षा-पद्धति भी फल-फूल रही थी जिसका वर्णन आगे किया जायगा। इस प्रकार गद्य और पद्य साहित्य, इतिहास तथा दर्शन साहित्य का सृजन इस बात के द्योतक हैं कि तत्कालीन शिक्षा-पद्धति में उच्च कोटि के विद्वान, कवि, साहित्यकार तथा इतिहासकार उत्पन्न करने की क्षमता थी।

**शिष्य-गुरु सम्बन्ध**

मध्य काल में इस्लामी शिक्षा के अन्तर्गत गुरु का समाज में एक विशेष स्थान होता था। शिष्य गुरुओं का आदर करते थे और उनकी सेवा भी करते थे।[13] प्राचीन भारतीय शिक्षा के आदर्शों की भाँति इस युग में भी गुरु अपने शिष्यों को पुत्रवत् समझता था। मकतबों में पढ़ने वाले बालक तो प्रायः दिन में जब पढ़ने जाते थे तभी अपने शिक्षक के सम्पर्क में आते थे, किन्तु कुछ मदरसों में जिनमें छात्रावासों की व्यवस्था थी, शिक्षक और विद्यार्थी एक ही छत के नीचे निवास करते थे और परस्पर एक-दूसरे के अधिक निकट आने का लाभ उठाते थे। अनुशासन की समस्या अध्यापक के समक्ष अधिक नहीं थी। समाज में शिक्षक का आदर होने के कारण विद्यार्थी स्वाभाविक रूप से विनयशील और आज्ञाकारी होते थे। गुरु-सेवा विद्यार्थी का कर्तव्य माना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि गुरु की कृपा तथा सम्पर्क से ही सच्चा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव था। किन्तु इतना मानना पड़ेगा कि गुरु-भक्ति का आदर्श अब इतना उच्च नहीं रहा था जितना प्राचीन काल में था। गुरुओं के लिए शिष्यों में त्याग की भावना का बहुत कुछ ह्रास हो चला था। औरंगजेब के द्वारा उसके गुरु मुल्ला शाह सलेह की दुर्दशा का उल्लेख पीछे किया जा चुका है जिसमें सिंहासन पर बैठने के बाद औरंगजेब ने उससे मिलने से मना कर दिया था और अन्त में मिलने पर उससे अत्यन्त कठोरता से व्यवहार किया तथा उसे अज्ञातवास की आज्ञा दी।

---

[13] "Their integrity was absolutely unshakeable. They occupied a high position in society, and though their emoluments were small they commanded universal respect and confidence." —*Ibid*, p. 4.

**छात्रावास**

मकतबों के विद्यार्थियों के लिए छात्रावास की कोई व्यवस्था नहीं रहती थी। अधिकतर मदरसों के साथ ही छात्रावास की व्यवस्था थी। इन मदरसों तथा छात्रावासों को बड़ी-बड़ी जागीरें मिली होती थीं जिनसे इनका दैनिक व्यय चलता था। ख्याति व प्रतिष्ठा के लाभ को प्राप्त करने के लिए अमीर लोग छात्रावासों का निर्माण कराते थे। अल्लामा शिवली ने एक छात्रावास का वर्णन करते हुए लिखा है कि "इस संस्था के अहाते में एक अस्पताल और एक मजबला (तालाब) था। मदरसा खुलने पर 240 लड़के छात्रावास में भरती किये जाते थे, जिन्हें रहने के लिए कमरा, कालीन, भोजन, तेल, कागज और कलम मदरसे की ओर से दिया जाता था। विद्यार्थियों को दैनिक भोजन में मिठाई और फल दिये जाते थे तथा प्रत्येक विद्यार्थी को प्रति मास एक अशर्फी मिलती थी।" जफर ने भी फीरोज के समय के एक मदरसे का वर्णन करते हुए लिखा है कि "एक ऊँची मीनारयुक्त इमारत एक उपवन के बीच में निर्मित थी जो प्राकृतिक वातावरण और मानवीय कलाओं द्वारा आकर्षक बन गयी थी। विशाल सरोवर में जो उसके किनारे बना हुआ था, भवन का प्रतिबिम्ब झिलमिलाता था। वह दृश्य बड़ा ही भव्य और चित्ताकर्षक रहा होगा जब सैकड़ों विद्यार्थी इस विद्यालय में भाषणों को सुनते अथवा इधर-उधर व्यस्त घूमते रहे होंगे।" एक अन्य संस्था फीरोजशाही मदरसा का उल्लेख करते हुए जफर ने लिखा है कि "यह एक भव्य व विशाल भवन था जो पूर्ण नियोजित बगीचों के मध्य में निर्मित था; इसमें विदेशी यात्रियों के लिए जो वहाँ बहुधा आया करते थे, स्वागत तथा सम्मान के लिए अलग-अलग प्रकोष्ठ बने हुए थे। यह एक ऐसा मदरसा था जहाँ निर्धन विद्यार्थी तथा उनके अध्यापकों के निवास के लिए समुचित व्यवस्था थी जो वहाँ निरन्तर रूप से मानसिक साम्य का जीवन व्यतीत करते थे। इसमें एक मसजिद तथा एक सरोवर था। मसजिद अपनी उदारता के लिए विख्यात थी जिसका लाभ वहाँ रहने वाले शिक्षक तथा विद्यार्थी उठाते थे।[14] इसी प्रकार एक मदरसे का वर्णन करते हुए इब्नबतूता लिखता है कि "यह बड़ा विशाल और भव्य मदरसा है जिसमें लड़कों के रहने के लिए 300 कमरे हैं। वे यहाँ कुरान पढ़ते हैं और उन्हें दैनिक भोजन तथा सालाना कपड़े का खर्च दिया जाता है।" एक अन्य मदरसे का वर्णन करते हुए इब्नबतूता ने लिखा है कि "मैं यहाँ 16 दिन ठहरा और विद्यार्थियों के सुन्दर एवं बहुमूल्य भोजन को देखकर मैं स्तब्ध रह गया। चार प्रकार के भोजन मुर्गी, रोटी, पुलाव और कोरमा तथा एक तश्तरी मिठाई विद्यार्थियों को प्रतिदिन खिलायी जाती है।" इब्नबतूता यात्रा करते समय इन्हीं छात्रावासों में ठहरता था। उसके कथनानुसार उस समय सम्पूर्ण भारत में इस प्रकार के मदरसे तथा छात्रावास बने हुए थे।

प्राचीन वैदिक तथा बौद्धकालीन छात्रावासों (आश्रमों) की अपेक्षा इन छात्रावासों का जीवन अधिक सुखदायक तथा सुविधाजनक था। रहन-सहन की दुरूहता पर

[11] *Ibid*, 1936 Edn., p. 51.

अधिक जोर नहीं दिया जाता था । विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के आदर्शों में भी परिवर्तन हो गया था । कालीन, कोरमा, तेल और तश्तरी-मिष्ठान्न इत्यादि जो प्राचीन काल में विद्यार्थी के लिए वर्जित थे, इस युग में उसके लिए प्रदान किये जाने लगे । प्राचीन काल के आश्रम प्राय: निर्जन वनों में स्थित होते थे जहाँ विद्यार्थियों को स्वावलम्बन तथा ब्रह्मचर्य का कठोर पाठ पढ़ाया जाता था, किन्तु मुसलमानी शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थियों के लिए छात्रावास नगर के मध्य में स्थित होते थे जहाँ यथा-सम्भव संरक्षकों द्वारा विद्यार्थियों के लिए आराम के सभी उचित उपकरणों को जुटा दिया जाता था । जीवन में अनुशासन और कठोरता की इस युग में कमी हो चली थी ।

**गुण-दोष विवेचन**

अपने सम्पूर्ण वैभव और गुण-दोषों के साथ मुसलमानी शिक्षा-पद्धति भारत में लगभग 600 वर्ष तक रही । यद्यपि आज भी यत्र-तत्र कुछ मकतब अवशेष हैं और कुछ सीमा तक मुसलमानी धार्मिक शिक्षा की पूर्ति कर रहे हैं, तथापि जनोपयोगी शिक्षा प्रदान करने में आज के युग में उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है । मुसलमानी शिक्षा में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिनके कारण वह भयंकर विप्लव और राजनीतिक संघर्षों की अपेक्षाकृत भी पर्याप्त समय तक जीवित रही । इसके प्रसार में राज्य व शासकों का हाथ था । एक शासक जाति की शिक्षा-प्रणाली भारत जैसे प्राचीन व सभ्य देश में राज्यसत्ता की समाप्ति पर अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकती थी, तथापि इसने भारतीय जीवन पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ी है जिसका आभास हमें भारतीय दैनिक जीवन में प्रत्येक स्थल पर मिलता है । यहाँ संक्षेप में हम उसकी विशेषताओं का वर्णन करते हैं ।

**विशेषताएँ**

(1) **धार्मिक एवं सांसारिक शिक्षा का समन्वय**—इस्लामी शिक्षा की सब से बड़ी विशेषता उसकी धार्मिक व सांसारिक शिक्षा का एकीकरण है । इस्लाम परलोक अथवा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को नहीं मानता । अतः इसमें सांसारिक वैभव अथवा इसी लोक की सम्पदाओं का विशेष महत्त्व है । इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा-शास्त्रियों ने जीवनोपयोगी शिक्षा पर अधिक जोर दिया और साथ ही एक नये देश में उन्होंने धार्मिक कट्टरता व उग्रता को भी अपने लिए अनिवार्य समझा । अत: शिक्षा पर भी उनके धार्मिक दृष्टिकोण की छाप पड़ना अनिवार्य था। समय-समय पर धार्मिक गुरुओं ने ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन किया और उसे व्यावहारिक जीवन के लिए आवश्यक बताया । पैगम्बर मुहम्मद ने ज्ञानोपार्जन करना प्रत्येक सच्चे मुसलमान के लिए अनिवार्य बताया है । फीरोज, अकबर और औरंगजेब ने सांसारिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया । राजकार्य के संचालन हेतु काजी, वजीर, सेनापति तथा अन्य कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती थी । इन सब की नियुक्ति तत्कालीन मदरसों से निकले हुए कुशल स्नातकों में से होती थी । इसके अतिरिक्त कलाकौशल, शिल्प, कृषि, चिकित्सा तथा वाणिज्य इत्यादि अन्य जीवनोपयोगी विषयों का पढ़ाया जाना

भी इस बात का द्योतक है कि धार्मिक शिक्षा के साथ ही सांसारिक शिक्षा का एक सुन्दर समन्वय शिक्षा का उद्देश्य था। मकतबों में जहाँ कुरान व हदीस इत्यादि का अध्ययन कराया जाता था और ईश-प्रार्थनाएँ होती थीं, वहाँ सांसारिक शिक्षा प्रदान करके जीवन में एक साम्य लाने का भी प्रयास तत्कालीन शिक्षा ने किया।

(2) **व्यावहारिकता**—शिक्षा केवल शिक्षा के लिए ही नहीं थी, अपितु वह जीवन के लिए थी। आध्यात्मिक शून्यवाद की ओर मुसलमानों की अभिरुचि नहीं थी। वे इसी संसार में अपने जीवन काल में ही अधिक से अधिक कर्म कर जाना चाहते थे। अतः शिक्षा का भी ऐसा रूप रहा जो विद्यार्थियों को भविष्य के लिए तैयार करता था। राजकुमारों की शिक्षा को अधिक सजीव और व्यावहारिक रूप देने के लिए सम्राट् औरंगजेब को हम प्रयत्नशील पाते हैं। उसने शाब्दिक व शास्त्रीय शिक्षा की अपेक्षा राजकुमारों के लिए राजतन्त्र, इतिहास व भूगोल, सैनिक-शिक्षा व नागरिक-शास्त्र का शिक्षण अधिक व्यावहारिक समझा। अतः पाठ्यक्रम को भी तदनुसार परिवर्तित करने के आदेश दिये गये।

(3) **शिक्षा की अनिवार्यता**—मुसलमानी शिक्षा को जीवन के लिए अनिवार्य समझा जाता था, क्योंकि कुरान के आदेशों के अनुसार जो मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है वही ईश्वर की भक्ति करता है। ज्ञान को रेगिस्तान में मित्र, एकान्त में साथी, दुख में सहानुभूति देने वाला सुख का द्वार, मित्रों के मध्य में शोभा बढ़ाने वाला तथा शत्रुओं से रक्षक माना गया है।[15] इससे सांसारिक तथा स्वर्गीय सुख मिलते हैं। हजरत मुहम्मद ने ज्ञान को अमरत्व प्रदान करने वाला बताया है। अतएव इस प्रकार की धार्मिक पृष्ठभूमि के कारण विद्या की प्राप्ति या शिक्षा की आवश्यकता बढ़ गयी। सांसारिक सम्पन्नता के लिए भी शिक्षा को अनिवार्य समझा गया। यही कारण था कि बहुत-से धर्मप्रेमी नागरिकों तथा सुल्तानों व शहजादों ने मुसलमान जनता को शिक्षित बनाना अपना धार्मिक कर्तव्य समझा।

विद्यार्थी भी विद्या प्राप्त करना आवश्यक समझते थे। मुहम्मद की आज्ञानुसार यह विश्वास किया जाता था कि "जो विद्यार्थी ज्ञान की खोज में जाता है, ईश्वर उसे स्वर्ग में उच्च स्थान प्रदान करेगा; प्रत्येक कदम जो वह उठाता है वह धन्य है और प्रत्येक पाठ जो वह पढ़ता है, उसका पारितोषिक है।"

15 *Cf.* "...........acquire knowledge because he who acquires it in the way of Lord, performs an act of piety; who speaks of it, praises the Lord; who seeks it, adores God......who imparts it to its fitting objects, performs an act of devotion to God. Knowledge enables its possessor to distinguish what is forbidden from what is not; it lights the way to heaven, it is our friend in the desert, our society in solitude, our companion where bereft of friends, it guides us to happiness......With knowledge the servant of God rises to the heights of godness." —Amir Ali : *Spirit of Islam*, Ch. IX, p. 360.

(4) **सरस साहित्य एवं इतिहास का विकास**—मुसलमानी शिक्षा की एक विशेषता यह भी रही कि इसमें सरस साहित्य व इतिहास का पर्याप्त विकास हुआ। अब तक प्राचीन भारतीय शिक्षा के अन्तर्गत सच्चे इतिहास लिखने की प्रवृत्ति का विकास नहीं हो सका था। जो कुछ भी प्राचीन इतिहास हमें मिलता है वह पौराणिक गाथाओं के रूप में है। सच्ची सांसारिक व ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमिक वर्णन हमें मुसलमानों से पूर्व बहुत कम मिलता है। कल्हण की 'राज-तरंगिणी' अवश्य इतिहास की कोटि में आती है। किन्तु मुसलमान शासकों ने स्वयं अपने संस्मरणों के रूप में इतिहास लिखे तथा दरबारों में प्रसिद्ध इतिहासकारों को संरक्षण दिया जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। मुसलमानों के सौन्दर्यप्रेमी होने तथा उनकी प्रवृत्तियाँ सांसारिक भोग-विलास की ओर होने के कारण सरस साहित्य का भी उस युग में सृजन हुआ। अतः तत्कालीन शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी साहित्य के विभिन्न अंग, जैसे गद्य, पद्य तथा काव्य को सम्मिलित किया गया।

(5) **व्यक्तिगत सम्पर्क**—प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति की भाँति मुसलमानी शिक्षा-पद्धति की भी यह विशेषता है कि इसमें गुरु और शिष्य का व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित हो जाता था। मकतब तथा मदरसों में अध्यापक प्रत्येक विद्यार्थी पर अलग-अलग ध्यान देते थे। प्रत्येक विद्यार्थी का पाठ स्वतन्त्र रूप से उसकी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार चलता था। स्मरण रहे कि इस युग में कक्षा-प्रणाली नहीं थी। इसका परिणाम यह होता था कि योग्य व कुशल विद्यार्थियों को अपनी प्रतिभा दिखाने का पूर्ण सुअवसर मिलता था।

### इस्लामी शिक्षा के दोष

उपर्युक्त गुणों की अपेक्षा इस शिक्षा-पद्धति में कुछ दोष भी थे। यद्यपि समय-समय पर देश की राजनीतिक अस्थिरता तथा युद्धों के कारण इस शिक्षा-पद्धति को हम कभी-कभी पूर्णतः विश्रृङ्खल भी पाते हैं; किन्तु जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, अकबर तथा औरंगजेब इत्यादि बादशाहों ने इस स्थिति को सँभालकर एक नये ढंग से शिक्षा का संगठन किया। आगे चलकर मुगल साम्राज्य की अवनति, नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण और मराठों तथा अंग्रेजों के बढ़ते हुए वैभव ने मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली को प्राणघातक आघात पहुँचाये। प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली की जड़ जनसाधारण के अन्तस्थल तक पहुँच गयी थी। अतः मुसलमान शासकों के महान् प्रयत्न करने की अपेक्षाकृत भी वह शिक्षा-प्रणाली जीवित बनी रही। किन्तु मुसलमानी शिक्षा में यह बात नहीं थी। वह जीवन के आभ्यान्तर में इतनी व्याप्त न हो सकी। परिणामतः कुछ राजनीतिक उथल-पुथल ने इसे विघटित कर दिया।

इस्लामी शिक्षा-पद्धति के निम्नलिखित प्रमुख दोष थे :

(1) **दृष्टिकोण अधिक सांसारिक**—इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तों के कारण मुसलमानों ने इस लोक की सम्पदा पर ही अधिक जोर दिया। परिणामतः शिक्षा में आध्यात्मिकता का अभाव रहा। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्थाओं में धार्मिक शिक्षा भी दी

जाती थी और कुरान-पाठ अनिवार्य था, तथापि मुसलमानी शिक्षा आध्यात्मिक उन्नति की उस सीमा तक न पहुँच सकी जहाँ प्राचीन भारतीय शिक्षा पहुँच सकी थी। शिक्षा का उद्देश्य राज्य में मान, पद व नौकरी पाना मात्र रह गया। इस लालच में पड़े हुए विद्यार्थी जीवन-दर्शन की उस गहराई तक न पहुँच सके जो प्राचीन भारत की विशेषता थी। इस प्रकार यह शिक्षा समय और परिस्थितियों की माँग के अनुसार एक स्थायी व्यवस्था थी। यह जीवन के शाश्वत नियम के रूप में विकसित नहीं हुई।

(2) **शिक्षालय अस्थायी**—मुसलमानी शिक्षा का दूसरा दोष यह था कि मकतब और मदरसे आर्थिक सहायता के अभाव में बहुधा बन्द हो जाया करते थे और कुछ ही दिनों में जंगली जानवरों और चिड़ियों के निवासस्थान बन जाते थे।

(3) **अरबी एवं फारसी भाषाओं का आधिपत्य**—प्रारम्भ से ही मकतब में फारसी की वर्णमाला रटायी जाती थी। उच्च शिक्षा का माध्यम भी फारसी था। राजभाषा फारसी होने के कारण इसका अध्ययन अनिवार्य हो गया था। यहाँ तक कि हिन्दुओं को भी राज्य में पद पाने की इच्छा से फारसी का अध्ययन करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रान्तीय भाषाओं का विकास न हो सका। अकबर ने इस बात का प्रयत्न किया कि फारसी के साथ ही साथ हिन्दी का भी उत्थान किया जाय, किन्तु वह केवल नीति तक ही सीमित रहा। औरंगजेब ने भी फारसी और अरबी के शब्द तथा व्याकरण के रटने में समय नष्ट होने की शिकायत की है। उसने प्रान्तीय भाषाओं, प्रधानतः उर्दू में शिक्षण तथा रचना करने को प्रोत्साहन भी दिया। वस्तुतः फारसी और अरबी का ही प्राधान्य रहा। इससे होने वाली हानियों का वर्णन किया जा चुका है।

(4) **शिक्षा की व्यापकता का अभाव**—इस्लाम धर्म में शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य बताया गया है और यह एक सर्वमान्य धारणा थी कि "ज्ञान की खोज करने वाले का स्वागत स्वर्ग में फरिश्ते करते हैं" किन्तु इसके बावजूद भी मुसलमानी शिक्षा व्यापक न हो सकी। नगरों में जहाँ पर मुसलमानों के उपनिवेश बने हुए थे, वहीं शिक्षा-केन्द्र बन गये। जनसाधारण की शिक्षा की अवहेलना रही। वस्तुतः सरकार के द्वारा कोई सुसंगठित तथा नियमित शिक्षा विभाग जैसी वस्तु की स्थापना नहीं की गयी थी जिसका एकमात्र उद्देश्य जनता को शिक्षित करना तथा शिक्षा-सिद्धान्तों का विकास करना रहा हो। शासकों तथा अमीर-उमरावों ने धार्मिक भावना से प्रेरित होकर अथवा कीर्ति व सम्मान के लालच से मकतब और मदरसों की स्थापना करायी थी। उन शासकों की मृत्यु के उपरान्त वे मदरसे प्रायः नष्ट हो जाया करते थे। इसके अतिरिक्त मुसलमान शासकों का धार्मिक दृष्टिकोण कट्टर होने के कारण हिन्दू जनता की शिक्षा की अवहेलना की गयी। उन्होंने केवल अपनी मुसलमान प्रजा की शिक्षा का ही प्रबन्ध किया। इतना ही नहीं, औरंगजेब इत्यादि कट्टरपंथी शासकों ने तो हिन्दू मन्दिरों तथा विश्वविद्यालयों को विध्वंस करके उनके स्थान पर इस्लामी शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार एक विशेष वर्ग ही इस शिक्षा से लाभान्वित होता रहा।

(5) **स्त्री-शिक्षा की अवहेलना**—मुसलमानों में पर्दा-प्रथा के कारण स्त्रियाँ शिक्षा

से बहुधा वंचित रहीं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि शाहजादियों तथा अमीर सरदारों की पुत्रियों की शिक्षा-व्यवस्था उनके महलों में ही हो जाया करती थी और उनमें से कुछ तो विदुषी भी हुईं, किन्तु सर्वसाधारण की लड़कियों के लिए शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी । मुहल्ले की मसजिद में ही दो-चार बालिकाएँ लड़कों के साथ बैठकर लिखना-पढ़ना भर सीख लेती थीं । कुछ लेखकों के अनुसार स्त्री-शिक्षा की अवहेलना का कारण परिस्थितियों की विषमता थी, न कि शिक्षा-प्रणाली का कोई स्वाभाविक दोष ।[16]

(6) **लेखन एवं पाठन की असमानता**—मुसलमानी शिक्षा-पद्धति के अनुसार सर्वप्रथम शब्दों के पढ़ने का अभ्यास कराया जाता था और उसकी समाप्ति पर लिखने का। इससे बालक का सन्तुलित विकास नहीं हो पाता था और व्यर्थ ही पर्याप्त समय नष्ट हो जाया करता था । अकबर ने लेखन व पाठन को साथ ही साथ करके समय बचाने के लिए व्यवस्था की और इसके लिए राज्यादेश भी जारी किये, किन्तु यह दोष अन्त तक दूर न हो सका ।

(7) **अन्य दोष**—इसके अतिरिक्त स्वाध्याय का अभाव, रटने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने से मौलिकता का अभाव, विद्यार्थियों में आराम व विलास की प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव तथा उच्चादर्शों का अभाव, कठिन शारीरिक दण्ड-व्यवस्था तथा विद्यार्थियों में शुद्ध तार्किक अभिरुचि उत्पन्न करने की प्रवृत्ति इत्यादि मुसलमानी शिक्षा के अन्य दोष हैं ।

इतना होते हुए भी इस्लामी शिक्षा की अपनी एक विशेषता भी थी जिसने सम्पूर्ण मुस्लिम समाज को एक सूत्र में बाँधकर उनके समक्ष जीवन का एक नवीन रूप रखा । मुस्लिम संस्कृति की एकता का एकमात्र श्रेय उनकी शिक्षा-प्रणाली को ही है । इस शिक्षा-प्रणाली के द्वारा जनता न केवल अपना सम्बन्ध मध्य एशिया के अन्य इस्लामी देशों से बनाये रखने में सफल हो सकी, अपितु भारतीय धर्म-परिवर्तित मुसलमानों में भी एक साम्य व भ्रातृत्व-भावना का समावेश कर सकी ।

## प्रमुख शिक्षा-केन्द्र

मुसलमानों ने भारत में आकर अपनी बस्तियाँ बसा लीं । ये बस्तियाँ धीरे-धीरे बड़े-बड़े नगरों के रूप में बदल गयीं । प्राय: ये ही नगर इस्लामी शिक्षा व संस्कृति के केन्द्र बन गये । प्रारम्भिक शिक्षा मकतबों में दी जाती थी, जो मसजिदों से लगे होते थे । ये मसजिदें प्राय: प्रत्येक नगर, ग्राम और मुहल्ले में बनी होती थीं । अत: प्रारम्भिक शिक्षा इन्हीं मसजिदों में विकसित हुई । देश के प्राय: सभी भागों में इन मसजिदों का

---

16 "In India, daughters of Islam could not rise to the standard of perfection their preceptors had attained in *belles-letters* yet when allowance is made for the age they lived in and the circumstances that obtained, then it will be evident that they had made a fair advance in the sphere of intellect and it will be wrong to suppose that their education was neglected."—Jaffar : *Education in Muslim India*, p. 8.

निर्माण हो चुका था। उच्च शिक्षा मदरसों में दी जाती थी। ये मदरसे केवल बड़े-बड़े नगरों में ही बने जहाँ पर मुसलमान जनसंख्या का बाहुल्य था अथवा कोई मुसलमान शासक रहता था। प्रायः प्रत्येक नगर में एक या अधिक मदरसा होता था। मुसलमान शासकों की राजधानी होने, किसी अमीर अथवा सूबेदार का निवासस्थान होने अथवा किसी प्रकार से धार्मिक महत्त्व रखने अर्थात् दरगाह या खानकाह इत्यादि पर ही कोई भी नगर शिक्षा का केन्द्र बन जाता था। इस प्रकार आगरा, दिल्ली, जौनपुर, लाहौर, अजमेर, बीदर, लखनऊ, फीरोजाबाद, जालन्धर, मुल्तान, बीजापुर इत्यादि प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बन गये। नीचे हम इन केन्द्रों में से कुछ प्रमुख केन्द्रों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

**आगरा**

आगरा नगर की नींव सिकन्दर लोदी ने डाली थी। सिकन्दर ने आगरा को एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बनाया तथा सैकड़ों मदरसे बनवाये। यह नगर एक विश्वविद्यालय-सा बन गया, जहाँ विदेशी विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे।[17] सिकन्दर के उपरान्त बाबर ने भी यहाँ कुछ मदरसों का निर्माण कराया। अकबर के समय में पुनः आगरा इस्लामी शिक्षा, संस्कृति व कलाकौशल का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। देश के भिन्न-भिन्न कोनों से आकर विद्वान, दार्शनिक, कवि तथा कलाकार आगरा में एकत्रित होने लगे।[18] स्वयं सम्राट् इन विद्वानों के साथ उच्च कोटि के शास्त्रार्थों में भाग लेता था। अकबर ने आगरा तथा आगरा से कुछ मील दूर फतहपुरसीकरी में कई मदरसे बनवाये। इन मदरसों में साहित्य, गणित, दर्शन, चिकित्सा, कृषि, ज्योतिष तथा वाणिज्य इत्यादि सभी विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती थी। यहाँ छात्रावासों की भी व्यवस्था थी जहाँ विदेशों, प्रधानतः मध्य एशिया के देशों से विद्यार्थी आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। अकबर का राज्यकाल आगरा नगर की उन्नति का स्वर्णयुग था। इसके उपरान्त जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने भी कुछ मदरसे बनवाये। औरंगजेब ने यहाँ प्रारम्भिक तथा धार्मिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार मुगल साम्राज्य

[17] *Cf.* "In course of time a splendid city sprang upon the selected site and took the name of Agra, which played a prominent part in shaping the destinies of India in her future history. Once founded, the new capital launched upon a career which was characterised by a rich aflorescence of learning and literature. It became a radiant centre of Islamic culture and civilization." —*Ibid*, p. 57.

[18] "Men of learning and erudition from Arabia, Persia and Bokhara poured into it in ever increasing numbers at the prospect of receiving better patronage from the rulers of India, who were remarkable for their munificence...The result was that in course of time Agra grew into a great University, containing several schools and colleges, where people flocked from far and wide for higher education." —*Ibid*, pp. 57-58.

की अवनति के साथ आगरे का वैभव भी नष्ट होने लगा। आधुनिक युग में कुछ मकतब अपनी जीर्णावस्था में मसजिदों में विद्यमान हैं।

**दिल्ली**

यह मुसलमानी शिक्षा का प्रारम्भ से ही एक प्रमुख केन्द्र रही है। वास्तव में दिल्ली ही सुल्तानों की राजधानी रही और मुगल सम्राटों ने भी दिल्ली की शान-शौकत को बढ़ाया। नासिरुद्दीन ने दिल्ली में मिनहाजे-शिराज की अध्यक्षता में नसीरिया मदरसा की स्थापना की। इसके उपरान्त गुलाम वंश के अन्य शासकों के समय में भी दिल्ली शिक्षा का केन्द्र बनी रही। अलाउद्दीन खिलजी के समय में दिल्ली में विद्वानों का जमघट लग गया। फरिश्ता के अनुसार उस समय दिल्ली में तैंतालीस बड़े धर्माचार्य जो इस्लामी धर्म तथा कानून के पण्डित थे, उन मदरसों में पढ़ाते थे जिनकी स्थापना अलाउद्दीन ने करायी। फीरोज तुगलक के समय में तो दिल्ली शिक्षा का प्रमुख केन्द्र बन गयी। उसने 30 नये मदरसे बनवाये तथा पुराने मदरसों की मरम्मत करायी। अपने गुलामों की शिक्षा का भी उसने प्रबन्ध किया। इसके उपरान्त मुगल काल में दिल्ली की पर्याप्त उन्नति हुई और उत्तरी भारत में वह शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र बन गयी। हुमायूँ ने दिल्ली में ज्योतिष तथा भूगोल का एक मदरसा खोला। अकबर ने भी दिल्ली में कुछ मदरसे खोले तथा उसकी आया, माहमअनगा ने भी 1561 में एक विशाल मदरसे का निर्माण कराया। बदायूँनी ने इसी मदरसे में शिक्षा पायी थी। जहाँगीर ने वहाँ पुराने मदरसों की मरम्मत करायी। शाहजहाँ ने जामा मस्जिद के पास एक मदरसे की स्थापना की। औरंगजेब ने भी अपना प्रयास जारी रखा। उसके उपरान्त गाजीउद्दीन ने भी एक मदरसा बनवाया। मुगल साम्राज्य के बाद नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने दिल्ली की शान-शौकत को मिट्टी में मिला दिया तथा उत्तरी भारत के अन्य शिक्षा-केन्द्रों के साथ दिल्ली को भी विध्वंस कर दिया। एक दीर्घकाल तक दिल्ली इस्लामी शिक्षा का केन्द्र रही, जहाँ से इस्लामी संस्कृति सारे देश में विकीरित हुई।

**जौनपुर**

सुल्तानों के शासन काल में जौनपुर शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। फीरोज के समय में यहाँ बहुत से मकतब और मदरसे बने। उस समय अपनी कला, साहित्य तथा उच्च कोटि की विद्या के लिए जौनपुर बहुत प्रसिद्ध हो गया था। यही कारण है कि उसे शीराजे-हिन्द कहकर पुकारा गया। शर्कियों ने जौनपुर में बहुत-से मदरसे खुलवाये। पन्द्रहवीं शताब्दी में इब्राहीम शर्की ने यहाँ शिक्षा की बहुत उन्नति की। उसने मदरसों के साथ में जागीरें लगा दीं तथा सफल विद्यार्थियों को उच्च पद तथा जागीरें देकर सम्मानित व प्रोत्साहित किया। शेरशाह सूरी यहीं का विद्यार्थी था। जौनपुर में इतिहास, दर्शन, राजनीति तथा सैनिक-शिक्षा इत्यादि विशेष रूप से पढ़ाये जाते थे। हस्तकला व शिल्प के लिए भी जौनपुर कई शताब्दियों तक प्रसिद्ध रहा। मुगल काल के अन्तिम दिनों तक यह विद्या का एक प्रमुख केन्द्र बना रहा। मुगल साम्राज्य के

पतन के कारण उत्पन्न होने वाले राजनीतिक विप्लव के समय में जौनपुर के विश्व-विद्यालय-नगर का यश फीका पड़ गया। वहाँ का सूबेदार अब अधिक दिनों तक उस महान् शिक्षा-व्यवस्था की रक्षा व संरक्षण नहीं कर सका, फलतः अन्य प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों की भाँति जौनपुर का भी क्रमशः पतन हो गया। इतिहासकारों ने कहीं-कहीं इस पतन का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है।[19]

**बीदर**

बीदर शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। महमूद गावाँ ने वहाँ एक विशाल मदरसा बनवाया जिसमें सहस्रों पुस्तकों से सुसज्जित एक पुस्तकालय भी था। कुछ समय उपरान्त औरंगजेब ने इसे नष्ट करा दिया। इसके पूर्व अलाउद्दीन अहमद ने भी यहाँ बहुत-से मकतब और मदरसों का निर्माण कराया था। इस प्रकार बीदर के एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र हो जाने के कारण बहमनी राज्य में शिक्षा का मानदण्ड पर्याप्त ऊँचा हो गया। यहाँ पर ग्रामीण मकतबों के द्वारा फारसी और अरबी का खूब प्रचार किया गया। ये मकतब मसजिदों से लगे हुए थे तथा इनके खर्चे के लिए जागीरें लगा दी गयी थीं। कोई ऐसा छोटे से छोटा गाँव भी नहीं रह गया था जहाँ कम से कम एक मकतब न हो। इनमें प्रायः शिक्षा-पद्धति एक ही प्रकार की थी, जिसका उद्देश्य जितना शिक्षा व साहित्य का प्रसार था उतना ही शासकों के धार्मिक विश्वासों और सिद्धान्तों का प्रचार भी था, जिसके चिन्ह आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।[20]

इसके अतिरिक्त बीजापुर गोलकुण्डा, मालवा, खानदेश, मुलतान, गुजरात, लखनऊ, स्यालकोट तथा बंगाल इत्यादि अन्य स्थान थे जो मुस्लिम शिक्षा के समय-समय पर प्रमुख केन्द्र रहे हैं।

**उपसंहार**

इस प्रकार लगभग 700 वर्ष के दीर्घ और क्रमिक इतिहास में हम पाते हैं कि भारत में मुस्लिम शिक्षा का बहुत प्रचार हो गया था। इस शिक्षा ने न केवल ज्ञान-पिपासा को ही शान्त किया, अपितु लोगों की आर्थिक समस्याओं को भी सुलझाया और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों का भारत में प्रचार। शासितों को अपने धर्म, सभ्यता तथा भाषा से परिचित कराना शासन करने की दृष्टि से शासकों के लिए आवश्यक था। साथ ही धर्म-परिवर्तित हिन्दुओं के लिए भी

[19] "Like Jaunpur many a great Muslim University has now ceased to exist, leaving behind only a memory of its former glory. The days are past when the Indian Musalman Universities, as also those of Damascus, Baghdad, Nishapur, Cairo, Kairawan Seville Cordava, were thronged by thousands of students, when a professor had often hundreds of hearers, and when vast estates set apart for the purpose maintained both students and professors."
—N. N. Law : *Promotion of Learning in India*, pp. 104-105.

[20] J. M. Sen : *History of Elementary Education in India*, p. 27.

आवश्यक हो गया कि उन्हें मुसलमानी धार्मिक शिक्षा के द्वारा पूर्णतः नये धर्म में रँग दिया जाय जिससे वे अपने पूर्व-धर्म को भुला सकें।

हाँ, इतना अवश्य है कि मुसलमानी शिक्षा अधिक सर्वप्रिय न हो सकी, जैसा कि बाबर तथा बर्नियर के वर्णनों से प्रतीत होता है। यही कारण था कि यह शिक्षा जीवन में उतनी गहराई तक न पहुँच सकी जितनी कि प्राचीन हिन्दू शिक्षा। इस्लामी शिक्षा राज्य-संरक्षण की अपेक्षाकृत भी भारत की आत्मा में प्रवेश न कर सकी, जबकि प्राचीन शिक्षा बिना राज्य-संरक्षण के ही देश के कोने-कोने में व्याप्त हो गयी। इतना ही नहीं, मध्य काल में भी इस्लामी शिक्षा के साथ ही साथ हिन्दू शिक्षा-व्यवस्था राज्य-संरक्षण के अभाव में भी जीवित बनी रही। जिस प्रकार बौद्धकालीन विश्व-विद्यालयों की प्रसिद्धि न केवल भारत के कोने-कोने में ही थी अपितु चीन, जापान, तिब्बत व पूर्वी द्वीपपुंजों तक में थी, उसी भाँति मुस्लिम विद्यालय प्रसिद्ध न हो सके। उनमें से अधिकांश अपना स्थानीय प्रभाव रखते थे, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। आगरा, दिल्ली तथा जौनपुर अवश्य ऐसे केन्द्र थे जहाँ उच्च शिक्षा के लिए कुछ परम्परा स्थापित हो गयी थी।

## मध्य काल में हिन्दू शिक्षा

**भूमिका**

मुसलमानों के आक्रमण के समय भारत में पर्याप्त शिक्षा-प्रचार था। अधिकांश शिक्षा-केद्रों को आक्रमणकारियों अथवा मुसलमान शासकों द्वारा नष्ट कर दिये जाने के अपेक्षाकृत भी यहाँ हिन्दू शिक्षा की धारा अजस्र रूप में बहती रही। हिन्दुओं का सामाजिक संगठन ऐसा था कि प्रयत्न करने पर भी मुसलमान प्राचीन भारतीय संस्कृति को पूर्णतः नष्ट नहीं कर सके, यहाँ तक कि प्रचलित शिक्षा-प्रणाली पर भी उसका प्रभाव नगण्य रहा। राजनीतिक परिवर्तन अधिकतर बड़े-बड़े नगरों तक ही सीमित रहे। वस्तुतः सुदूर ग्रामों में जहाँ एक विशिष्ट धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा जनतन्त्रीय शिक्षा-प्रणाली विकसित हो चली थी, उसकी परम्परा अधिक प्रभावित न हो सकी। सुसंगठित शिक्षा-केन्द्रों को अवश्य नष्ट किया जा चुका था, किन्तु गुरुओं के आश्रम निर्जन वनों तथा ग्रामों में सुचारु रूप से चलते रहे; साथ ही कुछ ऐसे साधु, सन्त व योद्धा भी उत्पन्न हुए जो प्राचीन भारतीय शिक्षा व संस्कृति की रक्षा करते रहे और विदेशी अत्याचारों के विरुद्ध सदा अपनी आवाज उठाते रहे। इस विप्लव व अशान्ति के युग में भी हिन्दुओं ने विशाल व उच्च कोटि के साहित्य का सृजन किया और अपनी विशेष शिक्षा-पद्धति को भी जारी रखा।

**शिक्षा का रूप**

शिक्षा का स्वरूप प्रधानतः वही चलता रहा जो परम्परागत था। गुरु लोग अपने आश्रमों में ब्रह्मचारियों को वेद, पुराण, स्मृति, उपनिषद् और दर्शन, तर्कशास्त्र, भेषज इत्यादि विषयों को पढ़ाते थे। शिक्षा-केन्द्रों के नष्ट हो जाने से हिन्दू शिक्षा अब उतनी सामूहिक रूप से नहीं दी जाती थी जितनी कि व्यक्तिगत रूप से। विद्यार्थी

संयम से रहते हुए गुरुओं के व्यक्तिगत सम्पर्क में रहते थे । हाँ, संयम अब इतना कठोर व उच्च कोटि का नहीं रह गया था जितना प्राचीन काल में था ।

इस युग की हिन्दू शिक्षा की एक विशेषता यह रही कि इसमें प्रान्तीय भाषाओं में रचनाएँ खूब हुईं । हिन्दी जनसाधारण के बोलचाल की भाषा हो गयी थी जो प्राकृत से बनी थी । आत्मरक्षा के भाव से हिन्दुओं में मध्य काल में एक प्रकार की राष्ट्रीयता ने जन्म लिया तथा हिन्दू धर्म पर धार्मिक व सामाजिक नेताओं ने अधिक ध्यान दिया। इसकी झलक हम तत्कालीन कवियों की रचनाओं में देख सकते हैं । कुछ सन्तों, जैसे कबीर, दादू, नानक, तुलसी इत्यादि ने सभी धर्मों को समान बताया और लोगों को सभी धर्मों का आदर करने का उपदेश दिया ।

इसी प्रकार पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि और उद्देश्यों की दृष्टि से मध्य युग में भी हिन्दू शिक्षा प्रधानतः वही रही जो परम्परागत चली आ रही थी । हाँ बौद्ध धर्म का इस युग में पूर्णतः लोप हो चुका था, अतः बौद्ध शिक्षा का भी ह्रास हो गया था और उसके स्थान पर ब्राह्मणीय शिक्षा का पुनः प्रचार हो गया था । शिक्षा जीवनोपयोगी होते हुए भी उसका स्वरूप प्रधानतः धार्मिक ही बना रहा । साहित्य की इस युग में बहुत उन्नति हुई । अधिकांश शिक्षा-केन्द्र उन्हीं स्थानों पर बन सके जो मुसलमानों के प्रभाव से दूर थे ।

यद्यपि हिन्दू शिक्षा को मध्य युग में राज्य-संरक्षण प्राप्त नहीं था, तथापि यह मानना भूल होगी कि इस युग में हिन्दू शिक्षा का स्तर गिर गया था अथवा उसमें उच्च कोटि के साहित्य का सृजन नहीं हुआ । वस्तुतः हिन्दू भी मुसलमानों से साहित्य-क्षेत्र में पीछे नहीं रहे तथा संस्कृति व प्रान्तीय भाषाओं में उन्होंने अपनी रचनाएँ कीं । साहित्य व कला के क्षेत्र में हिन्दू कभी मुसलमानों की उत्तमता को स्वीकार न कर सके, परिणामतः इस युग में भक्ति, धर्म तथा दर्शन साहित्य की खूब रचना हुई ।

दर्शनशास्त्र की शाखाओं, जैसे योग, वैशेषिक तथा न्याय इत्यादि पर टीकाएँ लिखी गयीं । बौद्ध और जैन तर्कशास्त्रियों ने तर्कशास्त्र की बहुत-सी रचनाएँ कीं । उस युग का सर्वप्रसिद्ध जैन तर्कशास्त्री देवसुरी था । 12वीं शताब्दी के मध्य में एकमात्र ऐतिहासिक ग्रन्थ कल्हण कृत 'राज तरंगिणी' की रचना हुई । इस सम्पूर्ण साहित्य का सृजन तत्कालीन शिक्षा-पद्धति पर तीव्र प्रकाश डालता है । विभिन्न विषयों में उच्च कोटि के साहित्य की रचना तत्कालीन शिक्षा-पद्धति की उच्चता का द्योतक है ।

इस युग में हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी विकसित होना प्रारम्भ हो गयी थीं । हिन्दू शिक्षा का माध्यम अब यही भाषाएँ होने लगीं । धर्मग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए विद्यार्थी संस्कृत भाषा सीखते थे । पाली तथा प्राकृत भाषाएँ विकसित होकर हिन्दी का रूप धारण कर रही थीं । राजस्थानी, मराठी, गुजराती तथा बंगला आदि भाषाएँ भी शिक्षा का माध्यम होने लगी थीं । मध्य काल में प्रायः इन सभी भाषाओं में उच्च कोटि की रचनाएँ हुईं । उत्तर भारत की भाँति दक्षिण भारत में भी मध्य काल में हिन्दू शिक्षा का पर्याप्त प्रचार था । विजयनगर उस समय शिक्षा का एक

प्रमुख केन्द्र था। वहाँ के राजा कृष्णदेव राय ने शिक्षा तथा साहित्य के विकास के लिए प्रशंसनीय प्रयास किये और कवियों तथा कलाकारों को अपने राज्य में संरक्षण दिया। उसके समय में संगीत, नृत्य, नाटक, व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन तथा अन्य ज्ञान-शाखाओं पर ग्रन्थ-रचनाएँ हुईं तथा चित्रकला और वास्तुकला को उदार संरक्षण दिया गया। मध्य युग के आरम्भ में जैन लेखकों ने तमिल तथा कन्नड़ भाषाओं में रचनाएँ कीं। 13वीं व 14वीं शताब्दी में शैव आन्दोलन ने दक्षिण में जोर पकड़ा जिससे साहित्यिक रचनाओं की पर्याप्त प्रगति हुई। यहाँ संस्कृत तथा तेलगू भाषाओं में भी रचनाएँ हुईं। इस युग में वेदों का व्याख्याता सायण तथा उसके भाई माधव विद्यारण्य ने भी संस्कृत में महान् रचनाएँ कीं। इन दोनों भाइयों ने वेदों पर टीकाएँ लिखीं तथा दर्शनशास्त्र पर भी ग्रन्थ रचे।

**उपसंहार**

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्य युग में जबकि भारत में इस्लाम की दुन्दुभी बज रही थी, भारतीय संस्कृति को पैरों तले रौंदकर उसके स्थान पर एक विदेशी संस्कृति का आरोपण किया जा रहा था, उस समय भी भारतीय प्राचीन शिक्षा चुपचाप अपनी प्रगति करती रही। राज्य-संरक्षण के अभाव में केवल अपने विशेष सामाजिक संगठन तथा कुछ धनिक नागरिकों के संरक्षण के कारण ही वह न केवल जीवित ही बनी रही, अपितु उसने एक अमर साहित्य को जन्म दिया। शिक्षा-प्रणाली वस्तुत: ब्राह्मणीय ही रही और प्राचीन आदर्शों एवं उद्देश्यों का ही प्राधान्य रहा। भारत में अंग्रेजों के आगमन, उनकी नवीन शिक्षा-प्रणाली, अंग्रेजी भाषा की अनिवार्यता तथा भारत की राजनीतिक दासता और सामाजिक छिन्न-भिन्नता के कारण धीरे-धीरे इस शिक्षा-प्रणाली का भारत से लोप-सा हो गया। दासत्व तथा देश के आर्थिक शोषण ने लोगों का विश्वास आध्यात्मवाद और धर्म की ओर से हटाकर भौतिकवाद तथा पदार्थवाद की ओर आकर्षित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत भाषा तथा अन्य प्राचीन विषयों की उपयोगिता कम हो गयी। वैज्ञानिक आविष्कारों ने संसार के सुदूर देशों को निकट ला रखा। अत: एक प्रकार से एक अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति का विकास हुआ। इसकी चकाचौंध में प्राचीन शिक्षा-पद्धति छिन्न-भिन्न हो गयी। महर्षि दयानन्द तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर इत्यादि कुछ नेताओं ने प्राचीन शिक्षा-पद्धति का आधुनिक से सम्मिश्रण करके उसके पुनरुद्धार के लिए कुछ प्रयत्न भी किये; किन्तु उसका रूप पूर्णत: बदल गया; और अब तो एक प्रकार से प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति के चिह्न भी समाप्त होते जा रहे हैं।

## सारांश

**मुसलमान आक्रमणकारियों ने पूर्वस्थित ब्राह्मणीय तथा बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों का विध्वंस करके इस्लामी शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की। इस नवीन शिक्षा-प्रणाली को मुसलमान शासकों ने सदा राजकीय प्रश्रय दिया और उसके विकास के लिए मकतब व मदरसों एवं छात्रावासों का निर्माण कराया, विद्यार्थियों एवं शिक्षकों की आर्थिक**

सहायता के लिए जागीरें प्रदान कीं, यहाँ तक कि कुछ शासकों ने तलवार की सहायता से भी इस्लामी शिक्षा का प्रसार किया।

शिक्षा का संगठन—प्राचीन हिन्दू शिक्षा की भाँति मध्यकालीन इस्लामी शिक्षा भी दो स्तरों में दी जाती थी—प्राथमिक शिक्षा (मकतब) और उच्च शिक्षा (मदरसा)।

मकतब प्रायः मसजिदों में स्थापित होते थे। यहाँ विद्यार्थी को लिखने-पढ़ने इत्यादि की प्राथमिक शिक्षा दी जाती थी। विद्यारम्भ 'बिस्मिल्लाह' की रस्म से होता था। जब बालक 4 वर्ष, 4 माह व 4 दिन का होता था उस दिन एक मौलवी के समक्ष मकतब में ले जाकर इस रस्म की अदायगी कर दी जाती थी।

प्राथमिक पाठ्यक्रम में प्रारम्भ में बालक को फारसी लिपि का ज्ञान आँख तथा कान के मार्ग से कराया जाता था। इसके बाद कुरान का तीसवाँ भाग पढ़ाया जाता था जिसमें प्रार्थनाएँ व फातिहा सम्मिलित होते थे। इसके उपरान्त पन्दनामा, सिकन्दर-नामा, गुलिस्तां व बोस्तां पढ़ाये जाते थे। लेखन कला पर विशेष बल दिया जाता था। इसके अतिरिक्त अंकगणित, पत्रकला व अर्जीनवीसी का ज्ञान भी कराया जाता था।

मदरसा अर्थात् उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक लौकिक और दूसरा धार्मिक। मदरसे की शिक्षा दस या बारह वर्ष में समाप्त हो सकती थी। लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत अरबी, व्याकरण, गद्य, साहित्य, तर्कशास्त्र, दर्शन, कानून, ज्योतिष, गणित, भूगोल, इतिहास, चिकित्सा तथा कृषि इत्यादि विषयों का समावेश था। धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत कुरान, कुरान का भाष्य, मुहम्मद साहब की परम्परा तथा सूफी दर्शन का अध्ययन कराया जाता था।

इतिहास इस युग की विशेषता रहा है।

शिक्षण-विधि—शिक्षण-विधि मौखिक व पुस्तकीय दोनों प्रकार की थी। जब से बालक बोलना सीखता, उसे कलमा कंठस्थ करा दिया जाता था। 7 वर्ष की अवस्था होने पर उसे नियमित रूप से कुरान का अध्ययन कराना आरम्भ कर दिया जाता था। शिक्षक लिखने तथा पढ़ने के पाठ विद्यार्थी को देता था जिन्हें वह अभ्यास के द्वारा याद करता था।

उच्च शिक्षा की विधि भी अधिकांशतः मौखिक थी। शिक्षक भाषण-विधि को अपनाते थे और शिष्य उन भाषणों को सुनकर ज्ञान-लाभ करते थे। पुस्तकीय अध्ययन को भी प्रोत्साहन दिया जाता था। संगीत, चिकित्सा तथा हस्तकलाओं में प्रायोगिक व व्यावहारिक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था थी। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से पाठ दिया जाता था और वह उसे अपनी क्षमता व रुचि के अनुकूल तैयार करता था। मानीटर प्रथा भी चालू थी। धर्म, तर्कशास्त्र, दर्शन तथा राजनीति इत्यादि विषयों के शिक्षण के लिए तर्क-विधि को भी अपनाया जाता था। स्वाध्याय के द्वारा विद्यार्थी अपने ज्ञान को स्थायी व गहन करते थे।

अनुशासन भंग करने पर विद्यार्थी के लिए कठोर शारीरिक दण्ड की व्यवस्था थी। अच्छे विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से पारितोषिक भी प्रदान किये जाते थे।

स्त्री-शिक्षा को इस युग में पर्दा-प्रथा के कारण बहुत धक्का लगा। केवल उच्च वर्ग के घरानों में ही स्त्री-शिक्षा शेष रह गयी। पिछड़ी हुई जातियाँ तथा पिछड़े हुए वर्गों में मध्य काल में स्त्री-शिक्षा एकदम समाप्त हो गयी। इस युग में भी कुछ विदुषी स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं।

कलाकौशल व व्यावसायिक शिक्षा की दृष्टि से मध्यकालीन शिक्षा में प्राचीन परम्पराओं का न केवल निर्वाह ही किया गया, वरन् इसके प्रशिक्षण को राजकीय सहायता से और भी अधिक प्रोत्साहन दिया गया। मुसलमानी राजदरबारों में संगीत, नृत्य, चित्रकला तथा अन्य विकास-सामग्रियों के उत्पादन इत्यादि को भी प्रोत्साहन दिया गया। फलतः इनके प्रशिक्षण के लिए देश भर में नियमित व संगठित प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थापित हो गयीं। इस प्रकार सैनिक-शिक्षा का भी इस युग में पर्याप्त विकास हुआ।

मध्य काल में इस्लामी शिक्षा के अन्तर्गत भी प्राचीन काल की भाँति शिष्य-गुरु सम्बन्ध मधुर बने रहे। गुरु का समाज में यथोचित मान था किन्तु गुरु-भक्ति का आदर्श उतने उच्च कोटि का नहीं रह गया था जितना प्राचीन काल में था।

गुण-दोष विवेचन–(अ) गुण—(1) धार्मिक एवं सांसारिक शिक्षा का समन्वय, (2) शिक्षा की व्यावहारिकता, (3) शिक्षा की अनिवार्यता, (4) सरस साहित्य एवं इतिहास का विकास, (5) शिक्षक तथा विद्यार्थी में व्यक्तिगत सम्पर्क।

(ब) दोष—(1) दृष्टिकोण अधिक भौतिक, (2) शिक्षालय अस्थायी, (3) अरबी तथा फारसी भाषाओं का आधिपत्य, (4) शिक्षा की व्यापकता का अभाव, (5) स्त्री-शिक्षा की अवहेलना, (6) लेखन तथा पाठन की असमानता, इत्यादि।

प्रमुख शिक्षा-केन्द्र—आगरा, दिल्ली, जौनपुर, बीदर इत्यादि शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। वैसे मसजिदों में प्रायः मकतब जुड़े होते थे। गाँवों में भी पाठशालाएँ थीं। इस्लामी शिक्षा के साथ-साथ हिन्दू शिक्षा भी अपने परम्परागत रूप में साथ ही साथ चल रही थी।

तृतीय खण्ड

# आधुनिक शिक्षा

# 7

# प्रारम्भिक यूरोपीय शिक्षा-प्रयत्न

( सन् 1813 तक )

**भूमिका**

अंग्रेजों के पदार्पण करने से पूर्व भारत में देशी शिक्षा प्रचलित थी। मुसलमानों के मकतब और मदरसे तथा हिन्दुओं की पाठशालाएँ, बंगाल में टोल तथा दक्षिणी भारत में अग्रहार नामक शिक्षालय यद्यपि उत्तरोत्तर अवनति को प्राप्त हो रहे थे, तथापि तत्कालीन भारतीय जनता की शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में उनका एक विशेष महत्त्व था।

15वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में यूरोप के धर्म-प्रचारकों ने भारत में आना प्रारम्भ कर दिया था। सन् 1498 में सर्वप्रथम पुर्तगाल निवासी वास्कोडिगामा कालीकट में उतरा। तदुपरान्त डच, डेन, फ्रांसीसी तथा अंग्रेज इत्यादि यूरोप-निवासियों ने भारत में आना प्रारम्भ कर दिया। ये जातियाँ भारत में व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आयी थीं, किन्तु पारस्परिक संघर्ष के कारण एक-एक करके इनका पतन होता गया और अन्त में अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की।

भारत में यूरोपीय मिशनरियों के आने से शिक्षा को एक नया रूप व प्रगति मिली। इन मिशनरियों का उद्देश्य भारत में यूरोपीय शिक्षा द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार करना था, इन धर्म-प्रचारकों के लिए शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा न होकर ईसाई धर्म का प्रचार करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए उन्होंने प्रारम्भिक स्कूलों की स्थापना की, भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया तथा इन भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद करके धर्म-प्रचार किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक संचालकों के कर्तव्यों में धर्म-प्रचार भी एक प्रमुख कर्तव्य था, अतः उन्होंने भी धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए भारत में शिक्षा-प्रचार किया। आगे चलकर कम्पनी ने इस नीति को राजनीतिक हितों की दृष्टि से घातक समझकर त्याग दिया और धार्मिक तटस्थता की नीति को अपनाया। अन्त में सन् 1813 में इंगलैण्ड की संसद ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समक्ष स्पष्ट शिक्षा-नीति तथा उत्तरदायित्व को रखकर भारत की शिक्षा को राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य बना दिया।

**तत्कालीन देशी शिक्षा की अवस्था**

भारत में यूरोपीय शिक्षा-प्रयत्नों के पूर्व देशी शिक्षा की अवस्था तथा पद्धति का एक संक्षिप्त विवरण आवश्यक है, क्योंकि इसी शिक्षा को आधार मानकर विदेशियों ने अपने प्रयत्न आरम्भ किये थे। किन्तु तत्कालीन शिक्षा के विषय में ठीक-ठीक आँकड़े उपलब्ध करने के साधन अपर्याप्त तथा कभी-कभी संदिग्ध भी हैं। वास्तव में 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जबकि भारत में अंग्रेजी शासन की जड़ें मजबूत होती जा रही थीं, विदेशी शासकों ने इस कार्य-भार को अपने ऊपर लिया और तत्कालीन ब्रिटिश भारत के क्षेत्रों में देशी शिक्षा के रूप, विशेषताओं तथा विस्तार की जाँच-पड़ताल करायी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस क्षेत्र के अन्तर्गत जाँच की गयी वह सम्पूर्ण देश का एक अल्पांश था। किन्तु उदाहरणों के रूप में अवश्य ही वह इतिहास के एक विद्यार्थी के लिए सूचनाप्रद हो सकता है। जाँच के प्रमुख क्षेत्र मद्रास, बम्बई तथा बंगाल थे। यहाँ हम संक्षेप में प्रत्येक का वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

**मद्रास**—सन् 1882 में सर टॉमस मुनरो ने मद्रास में देशी शिक्षा की जाँच करायी। मुनरो का कथन था कि अंग्रेजी शासन के हित में आवश्यक है कि भारत की शिक्षा में कुछ रुचि प्रदर्शित की जाय। "हमने अपने प्रान्तों का भौगोलिक व कृषि सम्बन्धी निरीक्षण कर लिया है, उसके प्राकृतिक साधनों की खोज कर ली है तथा उनकी जनसंख्या निश्चित करने के प्रयत्न किये हैं; किन्तु शिक्षा की अवस्था जानने का कुछ प्रयत्न नहीं किया है।"[1] अतः मद्रास प्रान्त की तत्कालीन शिक्षा के विषय में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न जिलों के जिलाधीशों को आदेश दिये गये। ऐसे स्कूलों की सूचियाँ तैयार करायी गयीं जहाँ लिखना-पढ़ना तथा हिसाब-किताब सिखाया जाता था। इन सूचियों में विद्यार्थियों की संख्या, जाति, कक्षा, स्कूल आने-जाने का समय, पाठ्य-पुस्तकें, शुल्क तथा स्कूलों के आय के साधन इत्यादि का पूर्ण विवरण था।

श्री मुनरो ने स्थिर किया कि "सवा करोड़ की आबादी में 1,88,000 अर्थात् 67 में 1 के अनुपात में लोग शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। यह विवरण सम्पूर्ण जनसंख्या के विषय में है, न कि केवल पुरुषों के लिए ही जिनमें शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत कहीं अधिक है क्योंकि यदि हम सारी जनसंख्या को रिपोर्ट के अनुसार 1,28,50,000 मान लें तथा आधी संख्या इनमें स्त्रियों की मान लें तो शेष पुरुषों की जनसंख्या 64,25,000 रह जायगी। यदि हम पुरुषों की शिक्षा की उम्र 5 और 10 वर्ष के बीच में गिनें जो साधारणतः लड़कों के स्कूल में पढ़ने की उम्र है तो उसका 1/3 हुआ 7,13,000। यह उन समस्त लड़कों की संख्या हुई जो 10 वर्ष तक की अवस्था के हैं और शिक्षा के लिए भेजे जाते हैं। लेकिन स्कूल जाने वालों की वास्तविक संख्या

[1] *Selections from the Records of the Government of Madras*, quoted by Nurullah and Naik.

1,84,110 है, अर्थात् उस संख्या के चौथाई से कुछ अधिक।.........किन्तु मैं शिक्षित पुरुषों की संख्या एक-चौथाई के स्थान पर एक-तिहाई मानने को तैयार हूँ; क्योंकि व्यक्तिगत रूप से घर पर पढ़ने वालों की संख्या प्रान्त से प्राप्त नहीं हुई। मद्रास (नगर) में घर पर शिक्षा पाने वालों की संख्या 26,903 अर्थात् स्कूलों में पढ़ने वालों की अपेक्षा पाँच गुने से भी अधिक है। सम्भवतः इस संख्या में कुछ भूल हो और यद्यपि घर पर पढ़ने वालों की संख्या इतनी अधिक न हो तथापि यह बहुत बड़ी संख्या है, क्योंकि घर पर सम्बन्धियों तथा व्यक्तिगत अध्यापकों द्वारा बच्चों को शिक्षा इस देश के किसी भी भाग में प्रचुर मात्रा में है।"[2]

श्री मुनरो का यह भी कथन है कि यद्यपि शिक्षा का यह प्रतिशत इंगलैण्ड की अपेक्षा कम है, तथापि यूरोप के बहुत से देशों की अपेक्षा अधिक है और भूतकाल में तो इससे भी अधिक था। यह वक्तव्य इस बात का प्रमाण है कि 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में देशी शिक्षा-प्रणाली विद्यमान थी।[3]

बिलारी तथा कनाड़ा के जिलों से प्राप्त सूचनाएँ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। बिलारी के जिलाधीश ने लिखा था कि लगभग 10 लाख प्राणियों के लिए 533 स्कूल थे, जहाँ 6,641 विद्यार्थी थे अर्थात् लगभग 12 विद्यार्थी प्रत्येक स्कूल में थे। इन स्कूलों में 60 हिन्दू बालिकाएँ भी थीं। हिन्दू बालकों की संख्या 6,398 तथा मुसलमानों की 243 थी। एक स्कूल अंग्रेजी भाषा के लिए भी था तथा 4 तमिल के लिए, 21 फारसी, 23 मराठी, 226 तेलगू और 235 कर्नाटकी के लिए थे। 23 स्कूल संस्कृत में उच्च शिक्षा के लिए भी थे। तत्कालीन शिक्षा-संगठन तथा व्यवस्था के विषय में भी उसने वर्णन किया है। शिक्षा के अल्पव्ययी होने की विशेष सराहना की है। प्रारम्भिक शिक्षा प्रायः 5 से 10 वर्ष तक रहती थी, यद्यपि 12 और 14 वर्ष की आयु के भी कुछ विद्यार्थी पाये जाते थे। विद्यारम्भ के समय गणेशजी की स्तुति करके पढ़ना प्रारम्भ कर दिया जाता था। उस अवसर पर माँ-बाप तथा सम्बन्धी एकत्र होते थे।

शिक्षा की व्यवस्था साधारण किन्तु प्रभावशाली थी। प्रायः सवेरे 6 बजे बालक स्कूल आते थे। प्रथम बालक के हाथ पर विद्या की देवी सरस्वती का नाम लिखकर उसे सम्मानित किया जाता था। फिर एक-एक करके सभी बालक इकट्ठे हो जाते थे

---

2 *Selections from the Records of the Government of Madras*, No. II, Appendix E, quoted by Nurullah and Naik in *A History of Education in India*, p. 4, Second Edition (1951).

3 "The state of education here exhibited, low as it is compared with that of our own country, is higher than it was in most European countries as no very distant period. It has, no doubt, been better in earlier times, but for the last century, it does not appear to have undergone any other change than what arose from the number of schools diminishing in one place and increasing in another in consequence of the shifting of the population from war or other cause." —*Ibid.*

और सरस्वती-वन्दना करते थे। देर से आने वाले विद्यार्थियों को कोई स्वास्थ्यवर्धक शारीरिक दण्ड मिलता था। दण्ड में बेंत लगाना, छत से लटका देना तथा बैठक कराना भी सम्मिलित थे। इसके उपरान्त बालक अपनी योग्यता तथा संख्या के अनुसार समूहों में बँट जाते थे। बड़े तथा योग्य विद्यार्थी छोटे बालकों को पढ़ाते थे तथा बड़े विद्यार्थियों को शिक्षक स्वयं पढ़ाता था। शिक्षक के अधिकार में प्रायः चार कक्षाएँ रहती थीं। इस प्रकार मानीटरों की सहायता से अकेला शिक्षक सम्पूर्ण स्कूल के शिक्षण व व्यवस्था पर अपनी दृष्टि रखता था। डा० बेल ने इस 'मानीटर पद्धति' की प्रशंसा की। उन्होंने इस पर एक पुस्तक लिखी और स्कॉटलैण्ड तथा इंगलैण्ड में इस प्रथा का अनुकरण किया गया। बालक स्कूल में आकर प्रथमतः बालू पर उँगली से लिखना सीखते थे और इसके उपरान्त वे बड़े-बड़े पत्तों पर भी लिखना सीखते थे। लकड़ी की पट्टी का प्रयोग किया जाता था। लिखने के उपरान्त बालक स्वर, व्यंजन और आवश्यक गणित का ज्ञान प्राप्त करते थे। पहाड़े, पौवे, अद्धे और सवैया इत्यादि भी गा-गाकर याद किये जाते थे।

इस प्रकार यह व्यवस्था अल्पव्ययी, सादी तथा उच्च कोटि की थी। मानीटर प्रथा एक सराहनीय साधन था, किन्तु साथ ही पुस्तकें अत्यन्त निम्न कोटि की थीं।[4] शिक्षक भी बहुधा अयोग्य और अदीक्षित होते थे। उनके वेतन इतने अल्प होते थे कि योग्य आदमी शिक्षक बनना पसन्द नहीं करते थे।[5]

बिलारी की भाँति कनाड़ा के जिलाधीश ने अपनी जाँच प्रस्तुत की और व्यक्तिगत शिक्षा के प्रचार का वर्णन करते हुए इस आशय की बात लिखी कि "जिले में शिक्षा इतनी अधिक घरेलू रूप में होती है कि शिक्षालयों और उनके विद्यार्थियों का लेखा देना व्यर्थ ही नहीं, वरन् जनसंख्या के अनुसार शिक्षा पाने वालों का अनुपात निकालना भ्रमात्मक होगा।"

---

4 "The economy with which children are taught to write in the native schools, and the system by which the most advanced scholars are caused to teach the less advanced and at the same time to confirm their own knowledge, is certainly admirable, and well deserves the imitation it has received in England. The chief defects in the native schools are the nature of the books and learning taught and the want of competent masters." *Selections*, Appendix D.

5 "Teachers in general do not earn more than six or seven rupees monthly, which is not an allowance sufficient to induce men properly qualified to follow the profession. It may also be said that the general ignorance of the teachers themselves is one cause why none of them draw a large body of scholars together; but the main causes of the low state of education are the little encouragement which it receives, from there being but little demand for it, and the poverty of the people."—*Selections*, Appendix E.

**बम्बई**—सन् 1829 में बम्बई प्रान्त के गवर्नर श्री एलफिन्स्टन ने शिक्षा की जाँच करायी। इस जाँच की रूपरेखा प्रायः वही थी जो मद्रास में मुनरो की थी। इस रिपोर्ट के अनुसार स्कूलों की संख्या 1,705 थी जिनमें 35,143 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। प्रान्त की जनसंख्या 46,81,735 थी। आँकड़ों से सिद्ध होता है कि बम्बई में मद्रास की अपेक्षा शिक्षा 1/3 थी। किन्तु इस संख्या को अन्तिम रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसमें उस समय घर-घर प्रचलित व्यक्तिगत शिक्षा के आँकड़े सम्मिलित नहीं थे। तत्कालीन सरकारी अफसरों का भी अनुभव था कि उस समय देशी प्रारम्भिक शिक्षा बम्बई में अधिक व्यापक रूप में थी। सन् 1821 में बम्बई के गवर्नर की कार्यकारिणी के एक सदस्य श्री प्रेण्डरगास्ट के मतानुसार "कठिनाई से राज्य भर में ऐसा कोई छोटा-बड़ा गाँव होगा, जहाँ एक न एक स्कूल न हो। बड़े गाँवों में अधिक तथा नगरों में बहुत-से स्कूल हैं जहाँ भारतीय बच्चों को लिपि तथा गणित की शिक्षा इतनी सस्ती, अर्थात् एक-दो मुट्ठी अनाज से लेकर एक रुपया प्रति मास पर दी जाती है, किन्तु साथ ही वह इतनी प्रभावोत्पादक होती है कि ऐसा कोई किसान या छोटा व्यापारी नहीं है जो हमारे देश के छोटे लोगों से अधिक कुशलता से हिसाब न रखता हो। बड़े व्यापारी तथा साहूकार तो किसी अंग्रेज व्यापारी के समान स्पष्ट तथा सुविधाजनक हिसाब रखते हैं।[6]

अतः इस विवरण से प्रकट होता है कि उस समय शिक्षा का प्रचार अच्छा रहा होगा। सन् 1829 की रिपोर्ट भी कुछ भ्रान्तिपूर्ण है। वास्तव में बम्बई का शिक्षा विभाग देशी स्कूलों तथा शिक्षा की खुले रूप में अवहेलना करता था। इसके फलस्वरूप बम्बई की प्रारम्भिक देशी शिक्षा को बड़ा आघात लगा और सन् 1882 तक उसका बहुत पतन हो गया। एलफिन्स्टन के आँकड़ों की व्यर्थता इसी बात से प्रकट हो जाती है कि सन् 1882 में 'भारतीय शिक्षा आयोग' ने वहाँ स्कूलों की संख्या 3,954 पायी थी, जिनमें 78,205 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। इससे यह प्रकट होता है कि सरकारी आँकड़ों को हम आदर्श रूप नहीं मान सकते और न इन्हें शेष भारत की शिक्षा के लिए मानदण्ड ही मान सकते हैं।

बम्बई प्रान्त में देशी शिक्षा की शिक्षण-पद्धति का भी उल्लेख मिलता है। प्रधानतः शिक्षक ही विद्यार्थियों को पढ़ाता था। मानीटर-प्रथा यहाँ भी प्रचलित थी। एक अन्य पद्धति भी बम्बई में चल रही थी जिसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—"जब एक बालक स्कूल आता है, तत्काल ही वह अधिक योग्य विद्यार्थी के संरक्षण में रख दिया जाता है। उसका यह कर्तव्य होता है कि वह नये बालक को पाठ पढ़ाये और उसकी शिक्षा-प्रगति तथा आचरण की सूचना शिक्षक को दे। बालकों का विभाजन कक्षानुसार न होकर दो-दो के जोड़ों में कर दिया जाता है। प्रत्येक जोड़े में एक छोटा

G. L. Prendergast's Evidence (1832), quoted by Nurullah and Naik in *A History of Education in India*, pp. 17-18.

विद्यार्थी तथा एक बड़ा व योग्य विद्यार्थी शिक्षक के रूप में होता है। इन जोड़ों के बैठने की व्यवस्था भी इस प्रकार की जाती है कि कुशल विद्यार्थी के पास ही नये विद्यार्थी को बैठाया जाता है। इस प्रकार जब बहुत-से विद्यार्थी समान रूप से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो उन्हें एक साथ इकट्ठा बैठाया जाता है और वे सीधे शिक्षक के द्वारा पढ़ाये जाते हैं। इस प्रकार शिक्षक के पास पर्याप्त अवकाश स्कूल के निरीक्षण तथा प्रत्येक विद्यार्थी को व्यक्तिगत रूप से देखने को मिल जाता है।"[7]

इस पद्धति के द्वारा शिक्षक अधिक से अधिक विद्यार्थियों की देखभाल अकेला ही कर सकता है। साथ ही यह बड़ी अल्पव्ययी प्रथा भी है। यही कारण है कि डा० बेल के प्रयत्नों के द्वारा इंगलैण्ड ने भी 19वीं शताब्दी में इस प्रथा को अपनाया और इसका प्रसार किया।

**बंगाल**—निम्नतर गंगा घाटी की शिक्षा के विषय में जानकारी प्राप्त करना विशेष महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि वहाँ प्राचीन तथा मध्य युग में भी शिक्षा के बड़े केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त विदेशियों ने भी 18वीं और 19वीं शताब्दी में यहीं पर अपने प्रारम्भिक प्रयत्न प्रारम्भ किये थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन से पूर्व भी बंगाल में देशी शिक्षा पर्याप्त रूप से प्रचलित थी। "यह प्रारम्भिक शिक्षा जनसाधारण के लिए थी। यह एक ऐसा विशाल आयोजन था जिसमें असंख्य प्रारम्भिक पाठशालाएँ देश भर में फैली हुई थीं। व्यावहारिक रूप से प्रत्येक गाँव में अपना स्कूल या पाठशाला थी। अकेले बंगाल में, ऐसा कहा जाता है कि, एक लाख ऐसी पाठशालाएँ थीं।"[8]

वस्तुतः ये आँकड़े विलियम ऐडम के दिये हुए हैं। ऐडम 1818 में भारत में एक धर्म-प्रचारक के रूप में आये थे। यहाँ आकर उन्होंने संस्कृत और बंगला भाषाओं का विस्तृत अध्ययन किया। शीघ्र ही राजा राममोहन राय के सम्पर्क से इनमें भारतीय शिक्षा के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। उन्होंने सन् 1829 में लॉर्ड विलियम बैण्टिक से देशी शिक्षा-व्यवस्था की जाँच कराने के लिए प्रार्थना की। किन्तु कोई परिणाम न होने पर उन्होंने 1834 में पुनः प्रार्थना की; और इस प्रकार लॉर्ड बैण्टिक की प्रार्थना पर ऐडम ने स्वयं ही जाँच प्रारम्भ कर दी और सन् 1835-38 में अपनी तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं। उनकी प्रथम रिपोर्ट तो केवल उनकी प्रथम जाँच का सार मात्र थी। दूसरी रिपोर्ट अधिक विस्तृत थी। यह जिला राजशाही में थाना नत्तौर की शिक्षा का पूर्ण विवरण देती है। ऐडम की तीसरी रिपोर्ट मुर्शिदाबाद, बर्दवान, वीरभूम, तिरहुत और दक्षिण बिहार की शिक्षा के विषय में आँकड़े प्रस्तुत करती है।

नत्तौर थाना के विषय में संख्या देते हुए ऐडम ने बताया है कि वहाँ की जनसंख्या 1,95,296 थी, जिसके लिए 27 स्कूल थे। इनमें 262 विद्यार्थी पढ़ते थे।

7 Parulekar, R.V. : *Literacy in India in Pre-British Days*, p. XIII, Aryabhusan Press, Poona (1940).

8 Basu, A. N. : *Education in Modern India*, p. 5.

इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से दी जाने वाली शिक्षा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 238 गाँवों में 1,588 ऐसे परिवार थे जो 2,382 बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा देते थे। इस प्रकार व्यक्तिगत शिक्षा का प्रचार पाठशालाओं से अधिक था। शिक्षा बहुत सस्ती थी। स्त्री-शिक्षा का कोई अस्तित्व नहीं था। शिक्षकों को 5 रु० से 8 रु० तक मासिक वेतन मिलता था। अपनी तीसरी रिपोर्ट के आँकड़े देते हुए उन्होंने बताया है कि बंगाल व बिहार के पाँच जिलों में 2,567 स्कूल थे जिनमें 6 बालिकाओं के थे। उनमें 30,915 विद्यार्थी पढ़ते थे जिनमें 214 लड़कियाँ थीं तथा 242 विद्यार्थी 8 स्कूलों में अंग्रेजी में पढ़ते थे। शिक्षा का प्रतिशत, ऐडम के अनुसार, उस समय 4·4 था।

इस प्रकार ऐडम के अनुसार सम्पूर्ण बंगाल-बिहार में 4 करोड़ की जनसंख्या थी और स्कूलों की संख्या एक लाख थी, अर्थात् 450 व्यक्तियों के पीछे एक स्कूल था। सर फिलिप हार्टोग ने ऐडम के इन आँकड़ों को 'काल्पनिक' व 'पौराणिक' और एक लाख संख्या को बिलकुल अतिशयोक्तिपूर्ण बताया है। वास्तव में यह भ्रम 'स्कूल' शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ करने से उत्पन्न होता है। ऐडम ने घरेलू रूप से परिवारों में दी जाने वाली शिक्षा के स्थानों को भी 'स्कूल' में सम्मिलित कर लिया है। वास्तव में श्री ऐडम की संख्याओं को लेकर एक वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ था। किन्तु हम उनकी सच्चाई में सन्देह नहीं कर सकते। श्री परांजपे के कथनानुसार "19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के अधिकतर भागों में प्राथमिक शिक्षा व्यापक रूप में विद्यमान थी। मद्रास प्रान्त में सर टामस मुनरो ने 'प्रत्येक गाँव' में एक प्राथमिक स्कूल पाया था। बंगाल में वार्ड ने खोज की कि प्रायः सभी गाँवों में लिखने-पढ़ने और प्रारम्भिक गणित के स्कूल विद्यमान थे। मालवा में जहाँ लगभग अर्द्ध-शताब्दी से लगातार अराजकता फैली हुई थी, मैल्कम ने देखा कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत आने के समय प्रत्येक गाँव में जिसमें 100 घर हों, एक प्रारम्भिक शिक्षा का स्कूल था।"[9]

ऐडम के अनुसार इन पाठशालाओं में शिक्षकों की आय बहुत कम होती थी। अधिकांश में इनका व्यय कुछ धनी नागरिकों, जमींदार तथा ताल्लुकेदारों द्वारा उठाया जाता था। धनी लोग अपनी जगह देकर घर पर ही पाठशाला खुलवा देते थे। मुसलमानों में फारसी व अरबी का प्रचार था तथा हिन्दुओं में बंगला, संस्कृत व हिन्दुस्तानी भी पढ़ते थे। उर्दू का प्रचलन स्कूल के पाठ्यक्रम में नहीं था, यद्यपि यह शिक्षित मुसलमानों की बोलचाल की भाषा थी। स्त्री-शिक्षा के नाम से लोग डरते थे। मुसलमानों में लड़कियों को शिक्षित करना अशुभ समझा जाता था। बहुत-से हिन्दू परिवारों में भी यह भ्रान्ति थी कि पढ़ी-लिखी लड़की विवाहोपरान्त शीघ्र विधवा हो जाती है। लड़कियों की शिक्षा से लोग इतना डरते थे कि यदि कोई बालिका अपने पढ़ते हुए भाई के पास खेलते-खेलते पहुँच जाती थी तो उसका ध्यान

---

[9] *Progress of Education*, Poona, July 1940, p. 38, quoted by Nurullah and Naik in *A History of Education in India*, p. 22.

शीघ्र ही उधर से हटाकर अन्य कार्यों में लगा दिया जाता था।[10] इतना अवश्य था कि कुछ धनी जमींदार अवश्य छिपाकर थोड़ा बहुत ज्ञान बालिकाओं को करा देते थे।

**आगरा प्रान्त**—मध्य युग में आगरा शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र रहा था। इसके ध्वंसावशेष 19वीं शताब्दी में भी विद्यमान थे। प्रान्त के प्रत्येक घर में अपने स्कूल थे। प्रत्येक परगने में दो या अधिक स्कूल थे और अधिकांश गाँवों में भी अध्यापक रहते थे। इस प्रान्त में प्रधानत: लौकिक व उपयोगी शिक्षा प्रदान की जाती थी। लिपि का लिखना-पढ़ना, व्यवहार गणित, महाजनी हिसाब-किताब तथा उर्दू-फारसी और हिन्दी के स्कूल यहाँ पर थे। फारसी स्कूल घरेलू रूप से चलते थे। हिन्दी, कैथी तथा मुड़िया की पाठशालाएँ भी थीं। हिन्दू और मुसलमान दोनों अध्यापन कार्य करते थे। फारसी का प्रयोग बहुधा कचहरी के लिए किया जाता था। गणित, पहाड़े तथा सिक्के और वजन इत्यादि का ज्ञान कराया जाता था। पटवारी लोग कैथी स्कूलों में पैमाइश इत्यादि सीखते थे। लिखने इत्यादि का अभ्यास भी पट्टी पर कराया जाता था, जिस पर काले रंग से रँगकर सफेद खड़िया से लिखा जाता था। जनसाधारण में कृषकों की संख्या अधिक थी। कृषक-बालकों में शिक्षा का प्रचार बहुधा कम था। व्यापारी वर्ग तथा राज-कर्मचारियों में शिक्षा अधिक थी।

**देशी शिक्षा की अवनति**

19वीं शताब्दी में भारत में अंग्रेजों का राज्य पूर्णत: स्थापित हो चुका था। अत: अब यहाँ विदेशी शिक्षा-पद्धति को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। परिणामत: देशी शिक्षा की अवनति होने लगी। इसके कई कारण थे।

**कारण**—प्रथमत: देश की बढ़ती हुई निर्धनता इसका कारण थी। जनसाधारण इतने निर्धन हो चले थे कि शिक्षक के वेतन के लिए वे बालकों की नाममात्र की फीस तक नहीं दे सकते थे। दूसरा कारण था राज्य की उदासीनता। प्रारम्भिक शिक्षा का जो विशाल जाल देश में फैला हुआ था, सरकार ने उसकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया। ऐडम और एलफिन्स्टन जैसे विचारकों के प्रयत्नों, सन् 1854 की शिक्षा घोषणा तथा 'भारतीय शिक्षा आयोग' की सिफारिशों की अपेक्षाकृत भी देशी प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूलों का या तो सुधार की भ्रमात्मक योजनाएँ बनाकर बध कर डाला गया अथवा अवहेलना के द्वारा उन्हें अपनी मौत मरने को छोड़ दिया गया।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी के प्रचलन ने देशी भाषाओं की उपयोगिता को कम कर दिया। राज्य में पद पाने के लिए अंग्रेजी पढ़ना आवश्यक हो गया। परिणामत: देशी शिक्षा की अवहेलना कर दी गयी। सरकारी अधिकृत प्राथमिक स्कूलों के खुल जाने से सरकार का ध्यान देशी प्रारम्भिक स्कूल व पाठशालाओं से बिलकुल हट गया। उत्तर प्रदेश में यह बात विशेष रूप से की गयी।

बिलारी के जिलाधीश श्री कैम्बेल ने सन् 1823 में लिखा था कि भारतीय जनता में

*Adam's Report*, pp. 187-8

सस्ती शिक्षा दिलाने की भी शक्ति नहीं थी जिसका प्रमुख कारण था उसकी निर्धनता। यूरोपीय देशों में औद्योगिक क्रान्ति के बाद भारत के लोगों के घरेलू धन्धे नष्ट हो गये। देशी राज्यों की समाप्ति के बाद कुछ काल तक देश में अराजकता रही । इससे शिक्षा का संरक्षण उठ गया । भारत का रुपया विदेशों में भी जाने लगा । अतः जनसाधारण की अवस्था और भी अधिक खराब हो गयी । अतः "उन अधिकांश गाँवों में जहाँ पहले स्कूल थे, अब नहीं हैं और जहाँ बड़े स्कूल थे वहाँ धनियों के बच्चे शिक्षा पाते हैं । अन्य बालक गरीबी के कारण नहीं आ सकते ।"

इसके अतिरिक्त, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अध्यापकों के वेतन इतने कम थे कि योग्य व्यक्तियों को शिक्षण-कार्य के लिए आकर्षित करना कठिन था । शिक्षक बहुधा निम्न ज्ञान-स्तर के तथा अदीक्षित होते थे । उनका अज्ञान भी देशी शिक्षा के ह्रास का एक कारण बन गया ।

इसी प्रकार देशी शिक्षा-पद्धति, जो 18वीं शताब्दी में भारत में प्रचलित थी, प्रायः समाप्त हो गयी । इतना अवश्य है कि उस समय इस शिक्षा का देश के लिए बड़ा महत्त्व था । यह प्रणाली भारत की तत्कालीन अवस्था को देखते हुए पूर्ण उपयुक्त थी । यदि वर्तमान शिक्षा-पद्धति को देशी शिक्षा के आधार पर ही विकसित किया जाता तथा शिक्षा विभाग के प्रयत्न उस पद्धति के विकास में लग जाते तो आज भारत में हमें अधिक सच्ची, सस्ती व उपयुक्त शिक्षा देखने को मिलती, किन्तु ऐसा न हो सका । इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में साक्षरता के प्रतिशत में कोई सराहनीय वृद्धि न हुई । अतः महात्मा गांधी को भी सन् 1931 में यह बात स्वीकार करनी पड़ी थी कि भारत में आधुनिक काल में साक्षरता 100 वर्ष पूर्व की अपेक्षा कम है ।

**प्रारम्भिक मिशनरी प्रयत्न**

17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही भारत में पश्चिमी देशों के लोगों की सरगर्मियाँ बढ़ने लगी थीं । पुर्तगालियों के भारत में आने के उपरान्त ही डच, फ्रांसीसी, स्पेन निवासी तथा अंग्रेज आने लगे । उन्होंने यहाँ अपनी व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित कीं तथा मुगल काल के अन्त में भारत के सुदूर बन्दरगाहों में आकर अपनी कोठियाँ बना लीं । शीघ्र ही उनका व्यापार बढ़ने लगा । भारत की तत्कालीन राजनीतिक दुर्बल अवस्था से लाभ उठाकर ये कम्पनियाँ हाथ में शस्त्र लेकर यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए संघर्ष करने लगीं । सन् 1601 में स्थापित हुई ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी इस संघर्ष में भाग लिया और अन्त में भारत में अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुई ।

इन यूरोपीय व्यापारियों के भारत में बस जाने का उद्देश्य न केवल व्यापारिक ही था वरन् वे धर्म-प्रचार भी करना चाहते थे । वे कहते थे कि हम भारत में "ईसाइयों तथा मसालों की खोज में आये हैं ।" अतः उन्होंने यहाँ आते ही अपने स्कूल भी स्थापित कर दिये जिनका उद्देश्य था अपने अधगोरे ईसाई कर्मचारियों के बालकों को शिक्षा देना तथा ईसाई धर्म का इस देश में प्रचार करना । प्रारम्भ में उन्होंने प्राथमिक शिक्षा को ही अपने हाथ में लिया । ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी प्रारम्भ में शिक्षा को

धर्म-प्रचार का साधन बनाया था किन्तु कालान्तर में राजनीतिक तथा शासन सम्बन्धी कारणों से उसे यह विचार छोड़कर धार्मिक निरपेक्षता की नीति का प्रश्रय लेना पड़ा और सन् 1813 तक इस नीति को यथावत् रखा । इस प्रकार यथार्थ में अपनी स्थापना से लगभग 100 वर्ष तक कम्पनी ने देश की शिक्षा के लिए कोई प्रयत्न ही नही किया ।

**पुर्तगाल**—सन् 1498 में पहला पुर्तगाली यात्री वास्कोडिगामा कालीकट आकर उतरा था । उसके उपरान्त भिन्न-भिन्न प्रकार की ईसाई मिशनरी टोलियाँ भारत के पश्चिमी समुद्री किनारे पर आकर रोमन कैथोलिक धर्म के प्रचार में कार्यशील हो गयीं। अत: उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप इस भाग में एक नवीन शिक्षा-पद्धति का आविर्भाव हुआ । शिक्षा द्वारा धर्म-प्रचार करने के लिए तथा पुर्तगाली, यूरेशियन और भारतीय धर्म-परिवर्तित बच्चों की शिक्षा के लिए इन्होंने स्कूलों की स्थापना भी की । बम्बई, गोआ, डामन और ड्यू तथा लंका, चिटगाँव और हुगली इनके प्रमुख केन्द्र थे ।

वास्तव में पुर्तगालियों को भारत में आधुनिक शिक्षा-पद्धति की नींव डालने वाला कहा जा सकता है । इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा के लिए स्कूल खोले जिनमें धर्म, स्थानीय भाषा, पुर्तगाली गणित तथा कुछ कारीगरी की शिक्षा दी जाती थी । उच्च शिक्षा के लिए इन्होंने जेसुएट कालेजों की स्थापना की । इनमें लैटिन, धर्म, तर्कशास्त्र और संगीत की शिक्षा तथा पादरियों को ट्रेनिंग दी जाती थी ।

भारत में आने वाले प्रथम धर्म-प्रचारकों में सन्त जैवियर प्रमुख था । यह जेसुएट धर्म-शाखा का मानने वाला था । जेसुएट पादरी अपने शिक्षा-कार्यों के लिए सर्वविख्यात थे । जैवियर ने भारत में इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। सन् 1542 में वह गाँवों तथा गलियों में पैदल घूम-घूमकर ईसाई धर्म का प्रचार करता था । ईसाई धर्म की कुछ पुस्तकें भी उसने प्रत्येक गाँव में रखवा दी थीं । सन् 1575 में उसने बम्बई के निकट बांदरा में सेण्ट ऐनी विश्वविद्यालय तथा सन् 1577 में कोचीन में एक प्रेस स्थापित किया । दूसरा धर्म-प्रचारक राबर्ट डी० नोबीली था, जो अपने आपको पाश्चात्य ब्राह्मण कहता था तथा भारतीय संन्यासियों की भाँति वेशभूषा और भोजन पकाने के लिए ब्राह्मण रसोइये इत्यादि रखता था । उसने ईसाई धर्म का खूब प्रचार किया ।

पुर्तगालियों ने भारत में प्रथम जेसुएट कालेज सन् 1575 में गोआ में स्थापित किया, जिसमें 3000 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे । 1580 में गोआ तथा अन्य स्थानों में अन्य कालेज भी खुले । बर्नियर ने आगरा में भी एक जेसुएट कालेज का उल्लेख किया है जिसे सम्राट् अकबर ने जेसुएट पादरियों के प्रभाव में आकर बनवाया था । इसमें लगभग 30 परिवारों के बालक शिक्षा पाते थे । सत्रहवीं शताब्दी में पुर्तगालियों का पतन हो गया । उनके शिक्षा सम्बन्धी प्रयत्न भी समाप्त हो गये । उनके पतन के अन्य कारणों में धार्मिक बातों में अधिक हस्तक्षेप करना भी एक प्रमुख कारण था, जिसका भारतीयों ने तीव्र विरोध किया । वास्तव में उनके शिक्षा-प्रयत्नों का एकमात्र कारण धर्म-प्रचार था । यह एक निर्विवाद सत्य है कि इन प्रारम्भिक धर्म-प्रचारकों के शिक्षा-कार्य बहुत साधारण कोटि के थे और भारत की वर्तमान शिक्षा-पद्धति के निर्माण

में उन्होंने अकिंचन योग दिया था । इनकी धार्मिक नीति के परिणामों से अंग्रेज भी चौकन्ने हो गये । पुर्तगालियों के उपरान्त कुछ भारतीय ईसाइयों ने कुछ समय तक इनके शिक्षा-कार्य को जीवित रखने का प्रयत्न किया, किन्तु उसमें अधिक प्रगति न हो सकी ।

**डच**—सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में हालैण्ड-वासियों ने भी अपनी कम्पनी स्थापित की । उस समय ये लोग संसार की सर्वप्रथम समुद्री शक्तियों में से थे। बंगाल में चिनसुरा और हुगली नामक स्थानों पर इन्होंने अपने कारखाने खोले । यह बात ध्यान देने योग्य है कि डचों ने प्रारम्भ से ही अपनी नीति कठोर धार्मिक निरपेक्षता की रखी । भारतवासियों में धर्म-प्रचार का भूत इन पर सवार नहीं था। इन्होंने केवल व्यापारिक हितों को ही अपनाया । अपने कर्मचारियों के बालकों के लिए इन्होंने कुछ स्कूल अवश्य खोले जिनमें भारतीय बालकों को पढ़ने की स्वतन्त्रता थी । इन्होंने रोमन कैथोलिक ईसाइयों को प्रोटेस्टेण्ट बनाने का थोड़ा प्रयास अवश्य किया। शिक्षा द्वारा ईसाइयों में प्रोटेस्टेण्ट धर्म के गुणों का गान किया । लंका भी इनका केन्द्र था ।

**फ्रांसीसी**—सन् 1664 ई० में फ्रांसीसियों ने यहाँ अपनी व्यापारिक कम्पनी स्थापित की तथा माही, यनाम, कारीकल, चन्द्रनगर और पाण्डिचेरी में अपनी फैक्ट-रियाँ चालू कीं । इन्ही स्थानों पर इन्होंने प्राथमिक स्कूल खोले । पाण्डिचेरी में एक माध्यमिक शिक्षा का स्कूल भी खोला जहाँ फ्रेंच भाषा सिखायी जाती थी। प्रारम्भिक स्कूलों में भारतीय शिक्षकों द्वारा स्थानीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। प्रत्येक स्कूल में एक धर्म-प्रचारक शिक्षा देता था । गैर-ईसाई बालक भी इन स्कूलों में प्रवेश पाते थे । उन्हें बहुधा भोजन, वस्त्र, पुस्तकें तथा अन्य आवश्यक सामग्री देकर स्कूलों में आने के लिए प्रोत्साहित भी किया जाता था । फ्रांसीसी मिशनरी पुर्तगालियों की भाँति रोमन कैथोलिक थे । जिन स्कूलों में धर्म की शिक्षा दी जाती थी वहाँ उनका कार्य महत्त्वपूर्ण रहा । फ्रांसीसियों के उपरान्त इनकी बस्तियाँ अंग्रेजों के अधिकार में आ गयीं और वहाँ की शिक्षा-व्यवस्था भी बदल गयी ।

**डेन**—सत्रहवीं शताब्दी में डेनों ने तंजौर के निकट तरंगमपाड़ि तथा बंगाल में सीरामपुर में अपने कारखाने स्थापित किये । राजनीतिक दृष्टिकोण से इस जाति का भारत में कोई महत्त्व न बढ़ सका, किन्तु इनके धर्म तथा शिक्षा-प्रचार के कार्य अवश्य महत्त्वपूर्ण हैं । वास्तव में, डेन ही भारत में आधुनिक शिक्षा के अग्रणी समझे जाते हैं । आगे चलकर डेन मिशनरियों ने अपने आपको अंग्रेजों में मिला दिया ।

सन् 1706 में डेनों ने अपने उपनिवेश तरंगमपाड़ि (Trancubar) में जीगेनबल्ग तथा प्लूशो नामक दो जर्मन पादरियों को भेजा । सन् 1719 में जीगेनबल्ग की मृत्यु के उपरान्त उसका कार्य प्लूशो तथा श्वार्ज ने जारी रखा । डेनमार्क से आर्थिक सहायता के अभाव में इनकी सहायता 'ईसाई धर्म-प्रचारक समिति' ने की । डेनों ने वस्तुतः "अपने आपको दक्षिणी भारत में अंग्रेजी उपनिवेशों में, जहाँ वे ठहरे, वहीं ठहरकर तथा जहाँ वे आगे बढ़े वहाँ आगे बढ़कर उनमें मिला दिया ।"[11]

[11] Richter : *A History of Missions in India*, p. 12.

जीगेनबल्ग तथा प्लूशो ने आते ही तमिल तथा पुर्तगाली भाषाएँ सीखीं और अपने कार्य को तंजौर, मद्रास, तिनेवली और त्रिचनापल्ली तक विस्तृत कर दिया । इन्होंने शिक्षा द्वारा धर्म-परिवर्तन करके लगभग 50,000 लोगों को बैप्टिस्ट बनाया [2] । किन्तु इतना अवश्य था कि इन धर्म-परिवर्तित भारतीयों को अपनी-अपनी जातियों में बने रहने की आज्ञा दे दी ।

डेनों ने मुसलमानों के लिए बहुत-से प्राथमिक स्कूल खोले । शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषाएँ ही रखा । जीगेनबल्ग ने शुल्ज की सहायता से तमिल भाषा में वाइबिल का अनुवाद किया तथा तमिल व्याकरण की रचना की । शुल्ज ने तेलगू में बाइबिल का रूपान्तर किया । एक तमिल शब्द-कोष भी छापा गया । छापे को ये लोग धर्म-प्रचार में खूब प्रयोग करते थे । सन् 1712-13 में तमिल तथा रोमन लिपि का प्रेस स्थापित किया गया । सन् 1716 में अध्यापकों की दीक्षा के लिए एक कालेज खोला और दीक्षित शिक्षकों की नियुक्ति मद्रास में तमिल बच्चों को अंग्रेजी तथा बाइबिल पढ़ाने के लिए की । इन मिशनरियों के शिक्षा-प्रयत्नों का वर्णन अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक किया जायगा ।

**ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक शिक्षा-प्रयत्न**

यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना केवल व्यापार के लिए हुई थी, तथापि उस समय देश की राजनीतिक अवस्था तथा अन्य प्रतिद्वन्द्वी यूरोपीय कम्पनियों के कारण उसे अपनी प्रारम्भिक नीति कुछ सीमा तक धार्मिक भी रखनी पड़ी । पुर्तगालियों के प्रभाव को कम करने के लिए अंग्रेजों ने धार्मिक नीति को भी अपनाया । कम्पनी के ये प्रयास ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए थे । अपने ईसाई कर्मचारियों के आध्यात्मिक कल्याण तथा भारतीयों में बाइबिल के सन्देश को फैलाने के लिए कम्पनी ने भारत में पादरियों को भेजा एवं कुछ भारतीय ईसाइयों को धार्मिक शिक्षा के लिए इंगलैण्ड भी भेजा, जिससे देश लौटने पर वे ईसाई धर्म का प्रचार करके लोगों का धर्म-परिवर्तन कर सकें । पीटर नामक एक ईसाई युवक कम्पनी के खर्चे से ईसाई धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैण्ड भेजा गया था ।[13] ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भारत के हेतु प्रचारक तैयार करने के उद्देश्य से अरबी विभाग खोला गया । सन् 1659 में कम्पनी के डाइरेक्टरों ने भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने की 'सच्ची व शुद्ध भावना' से प्रेरित होकर प्रत्येक जहाज में ईसाई धर्म-प्रचारकों के भेजने की इच्छा प्रकट की । किन्तु कम्पनी ने इस नीति को न अपनाकर धार्मिक तटस्थता की नीति को अपनाने की चेष्टा की । अतः विशाल पैमाने पर धार्मिक नीति के अपनाने के मोह को छोड़ दिया गया । मद्रास में सन् 1670 में पुर्तगाली, अंग्रेज तथा यूरेशियन बच्चों के लिए प्रथम स्कूल खोला गया तथा शिक्षा-कर लगाकर अंग्रेजी शिक्षा का प्रबन्ध किया

[12] Mukerjee, S. N. : *History of Education in India*, p. 18.
[13] Law, N. N. : *Promotion of Learning in India*, p. 7.

गया। सन् 1698 के आज्ञापत्र में इंगलैण्ड की संसद ने एक वाक्यांश जोड़ दिया जिसके फलस्वरूप कम्पनी को भारत में अपने कारखानों में धर्मगुरु तथा अध्यापक रखने का आदेश दिया गया तथा 500 टन अथवा इससे अधिक वजन के प्रत्येक जहाज में एक पादरी लाने की आज्ञा हुई। इस घोषणापत्र में सैनिकों तथा कारखाने के कर्मचारियों के लिए स्कूल खोले जाने की बात भी कही गयी। परिणामतः कुछ निःशुल्क दातव्य शिक्षालयों की स्थापना की गयी। सन् 1715 में ऐसे स्कूल मद्रास में, सन् 1718 में बम्बई और सन् 1731 में कलकत्ता में भी खुले। बाद में तंजौर तथा कानपुर में भी दातव्य स्कूल खोले गये, जिनमें भारतीय ईसाइयों को प्राथमिकता दी जाती थी। इनका उद्देश्य अंग्रेज सिपाहियों, एंग्लो-इण्डियन बच्चों तथा अन्य गरीब बालकों को लिखना-पढ़ना तथा हिसाब सिखाया जाना था। साथ ही ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा भी दी जाती थी। इन शिक्षालयों का व्यय बहुधा चन्दे, दान व कम्पनी के अनुदान से चलता था।

यह माना जा सकता है कि इस समय तक कम्पनी ने शिक्षा का कोई स्पष्ट उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया था। जो कुछ भी प्रयास इस ओर हुआ था वह अत्यन्त अपर्याप्त था। 18वीं शताब्दी के अन्त में कम्पनी ने अपनी नीति में परिवर्तन करके मिशनरियों पर प्रतिबन्ध लगा दिये और कम से कम उत्तरी भारत में इनका कठोरता से पालन किया।

संक्षेप में, कम्पनी के शिक्षा-प्रयत्न इस काल में बहुत अपर्याप्त रहे। मद्रास अंग्रेजों का प्रमुख उपनिवेश था। सन् 1673 में वहाँ एक माध्यमिक स्कूल श्री प्रिंगल की देखरेख में खोला गया। फ्रेंच, अंग्रेजी तथा स्थानीय भाषाओं के अतिरिक्त 'फिरंगी' भाषा भी शिक्षा का माध्यम थी। आगे चलकर कम्पनी ने सन् 1800 में कलकत्ते में फोर्ट विलियम तथा मद्रास में सन् 1818 में फोर्ट सेंट जार्ज नामक कॉलेज अपने कर्मचारियों की आवश्यकताओं के लिए खोले, जहाँ अंग्रेज अफसर भारतीय भाषाएँ सीखते थे। श्री बसु के अनुसार इन कालेजों पर सन् 1827 में सवा दो लाख रुपये व्यय हुए। इनके अतिरिक्त डेन मिशनरी शुल्ज ने मद्रास में कुछ पुराने स्कूलों का पुनर्संगठन किया तथा नये स्कूल भी खोले।

मद्रास प्रान्त में शिक्षा-प्रचार के कार्य में श्वार्ज, एक जर्मन मिशनरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने इस प्रान्त की शिक्षा में अपने जीवन को लगा दिया। श्वार्ज ने तंजौर तथा मेवाड़ के राजाओं को भी प्रभावित करके उनसे तंजौर, रामेन्द्रपुरम तथा शिवगंगा नामक नगरों में अंग्रेजी के प्रचार के लिए स्कूल खुलवा लिये। इसके अतिरिक्त उसने देशी भाषाओं के लिए भी दो स्कूल खोले। आगे चलकर श्री जॉन सलीवन ने श्वार्ज की नीति में परिवर्तन करके मातृभाषा के स्थान पर शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी करा दिया। इस योजना का समर्थन कम्पनी के संचालकों ने भी किया तथा प्रत्येक स्कूल को आर्थिक सहायता का वचन दिया। भारतीय धनिकों ने भी इसके लिए रुपया दिया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि मद्रास प्रान्त में

तेजी से नये स्कूल बनने लगे। इस तरह् फ्रेडरिक श्वार्ज के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही 18वीं शताब्दी के मध्य इस प्रान्त की शिक्षा-नीति एक नये साँचे में ढल गयी। अंग्रेजी स्कूलों का भारत में यह् प्रारम्भ था। इनमें अंग्रेजी, हिसाब, तमिल, हिन्दी तथा ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। सरकारी निरीक्षकों द्वारा इनका नियमित निरीक्षण भी होता था।

इनके अतिरिक्त मद्रास में सन् 1786 में श्रीमती कैम्पबेल ने एक महिला अनाथालय भी खोला जिसके लिए भवन का दान अर्काट के नवाब ने किया था। जनता और सरकार दोनों ने इसके खर्चे को चलाया। डा० एण्ड्र्यू बेल के नाम से ऐसा ही एक आश्रम लड़कों के लिए भी खोला गया जहाँ उन्होंने 'मानीटर-प्रथा' का परीक्षण प्रथम बार किया। ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों से मद्रास की शिक्षा को बहुत प्रगति मिली। जिस कार्य का कम्पनी के संचालकों ने सूत्रपात किया था उसकी पूर्ति मिशनरियों ने की।

इसी प्रकार बम्बई तथा बंगाल प्रान्तों में भी शिक्षा ने प्रगति की। बम्बई में सन् 1719 में रिचार्ड कौब ने निर्धन यूरोपीय प्रोटेस्टेण्ट बालकों के लिए एक स्कूल खोला। शिक्षा की दृष्टि से बंगाल ने पर्याप्त प्रगति की। वास्तव में सन् 1757 में प्लासी-विजय के उपरान्त कम्पनी ने बंगाल का सम्पूर्ण शासन-कार्य सँभाल लिया, किन्तु कम्पनी ने बंगाल की शिक्षा का प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं किया। वहाँ जो कुछ प्रगति हुई वह सब वैयक्तिक प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई। पुराने देशी स्कूलों को कम्पनी ने न तो सहयोग ही दिया और न उन्हें अन्य प्रकार से ही छेड़ा। एक प्रकार से उसकी नीति पूर्ण तटस्थता की थी। पाठशालाओं के लिए पुराने चले आने वाले भूमिदान को उसने अवश्य यथावत् छोड़ दिया। "यह् बात स्पष्ट है कि बंगाल में जनता की शिक्षा के लिए सबसे पहले और बड़े से बड़े प्रयत्न न केवल सरकार के द्वारा ही किये गये, अपितु स्वयं जनता के द्वारा भी किये गये।"[14] हॉवेल ने भी इसी आशय की बात कही है, "भारत में ब्रिटिश शासन काल में प्रथमतः शिक्षा की अवहेलना हुई, फिर उग्रता और सफलता के साथ उसका विरोध हुआ, तत्पश्चात एक ऐसी प्रणाली चलायी गयी जो सर्वमान्य रूप से हानिकर थी और अन्त में वह् अपने वर्तमान स्तर (1854) पर रख दी गयी।

इस प्रकार बंगाल में व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा कुछ स्कूलों की स्थापना की गयी। वारेन हेस्टिंग्स ने जो स्वयं बंगला और फारसी भाषाओं का ज्ञाता था, शिक्षा की उन्नति में योग दिया। सन् 1781 में कलकत्ता मदरसा की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य "मुसलमानों की सन्तानों को राज्य में उत्तरदायी और लाभदायक पदों के लिए योग्य बनाना था, जो उस समय भी अधिकांश में एकमात्र हिन्दुओं के अधिकार में

[14] Syed Mahmud : *History of English Education in India.*

थे।"[15] अतः कलकत्ता मदरसा का उद्देश्य अदालतों के लिए अंग्रेजी जजों के सलाहकार बनाने का था। सन् 1780 में संसद ने भारतीय न्यायालयों में अंग्रेजी कानून के स्थान पर भारतीय कानून लागू कर दिया था, जिसकी व्याख्या करने के लिए मुसलमान मौलवियों तथा हिन्दू पण्डितों की आवश्यकता थी।

कलकत्ता मदरसा ने शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली और वहाँ काश्मीर, गुजरात तथा कर्नाटक से विद्यार्थी आकर विद्याध्ययन करने लगे। विद्यार्थियों को सरकार की ओर से छात्रवृत्ति दी जाती थी। दर्शन, कुरान के धर्म-सिद्धान्त, कानून, ज्यामिति, गणित, तर्कशास्त्र तथा व्याकरण इत्यादि विषय यहाँ पढ़ाये जाते थे। शिक्षा का माध्यम अरबी तथा शिक्षा काल 7 वर्ष था।

कलकत्ता मदरसा की भाँति हिन्दुओं के लिए बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना भी सन् 1791 में श्री जोनाथन डंकन के द्वारा हुई। इसके उद्देश्य भी वही थे जो कलकत्ता मदरसा के थे। यह हिन्दुओं को हिन्दू कानून की शिक्षा देकर उन्हें अंग्रेजी जजों के लिए सलाहकार या सहायक जज के रूप में हिन्दू कानून की व्याख्या करने के हेतु तैयार करता था।

इन दोनों शिक्षा-संस्थाओं के खुलने से जहाँ शिक्षा-प्रचार हुआ, वहाँ कम्पनी को योग्य राजभक्त भी मिलने लगे। देश के शिक्षित तथा विद्वान उच्च और मध्यम वर्ग के लोग कम्पनी के विश्वासपात्र स्तम्भ बन गये। इस प्रकार कम्पनी का यह प्रयास देश की दो प्रमुख जातियों, हिन्दू और मुसलमानों को प्रसन्न करने का भी एक साधन रहा।

फोर्ट विलियम कालेज (सन् 1800) जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, सराहनीय कार्य कर रहा था। यहाँ हिन्दू व मुसलमान कानूनों, इतिहास, अरबी, फारसी, संस्कृत तथा हिन्दुस्तानी की शिक्षा दी जाती थी। बंगला साहित्य को भी इस कालेज ने बड़ा प्रोत्साहन दिया। डा० कैरे, कोलब्रुक, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा श्री गिलक्राइस्ट जैसे विद्वान शिक्षक यहाँ नियुक्त किये गये थे।

इसके अतिरिक्त बहुत-से अंग्रेजी स्कूल इस समय बढ़ने लगे। अब भारतीय लोग अंग्रेजी में रुचि दिखाने लगे थे। ब्राउन ने हिन्दुओं के लिए सन् 1788 में एक कालेज कलकत्ता में खोला। इसी समय बहुत-सी महिलाओं ने भी शिक्षा में रुचि दिखायी और उन्होंने लगभग 6 स्कूल बालिकाओं के लिए भी खुलवाये। इनमें श्रीमती पिट, श्रीमती लोसन और श्रीमती कपलैण्ड के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि बंगाल में मिशनरियों का प्रभाव कम था, तथापि जो कार्य शिखा-क्षेत्र में बैप्टिस्ट मिशन ने किया है उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इनके प्रमुख नेता वार्ड, कैरे तथा मार्शमैन थे। इन्हें "सीरामपुर त्रिमूर्ति" के नाम से पुकारा जाता है। इन्होंने कलकत्ता के उत्तर में 13 मील की दूरी पर एक गाँव सीरामपुर को अपना कार्य-क्षेत्र चुना। सन् 1800 में यहाँ एक छापाखाना

[15] Howell : *Education in India*, p. 1.

खोला और बंगला भाषा में बाइबिल छापी और शीघ्र ही इसका अनुवाद भारत की लगभग 3 दर्जन भाषाओं में कर दिया। इनका धार्मिक जोश इन्हें यहाँ तक ले गया कि ये हिन्दू-मुसलमानों के अवतारों और देवताओं को गाली देने लगे। 'हिन्दू और मुसलमानों के नाम संदेश' नाम से इन्होंने पर्चे छापे जिनका काफी विरोध हुआ। सरकार ने इनकी नीति को अपने राज्य-हित में घातक समझकर इनके प्रेस को जब्त कर लिया तथा इन धर्म-प्रचारकों को नजरबन्द करके कलकत्ता भेज दिया। यह लार्ड मिण्टो का शासन काल था।

इस घटना के उपरान्त भी बैप्टिस्टों ने अपना कार्य चालू रखा। 1794 में कैरे ने दीनाजपुर में एक स्कूल खोला तथा जैसौर में भी अपना प्रयत्न किया। सन् 1810 में मार्शमैन की सहायता से उसने 'कलकत्ता जनहितकारी संस्था' के नाम से एक स्कूल गरीब ईसाइयों के लिए खोला। इस प्रकार सन् 1817 तक इन लोगों ने लगभग 115 स्कूल खोले, जो प्रायः कलकत्ता के आसपास ही स्थित थे। बैप्टिस्ट मिशन के धर्म-प्रचार में सरकार के बाधा डालने से इंगलैण्ड में उसकी निन्दा की गयी। किन्तु वास्तव में सरकार डर रही थी और वह भारतीयों को सब भाँति सन्तुष्ट रखना चाहती थी। इस मिशन के कार्यों में उसने राज्य के लिए आपत्ति देखकर ही यह कड़ा कदम उठाया था। कम्पनी के संचालकों ने 7 सितम्बर, 1808 को पुनः एक घोषणा करके स्पष्ट कर दिया कि उनकी नीति कठिन धार्मिक तटस्थता की है। उनकी राय में "यह बात न केवल सरकार के ही हित में है, वरन् स्वयं मिशनरियों के लाभ की भी है कि उनके धार्मिक जोश को अवरुद्ध कर दिया जाय, अतएव उनके कार्यों पर सरकार का नियन्त्रण और निरीक्षण हितकर व आवश्यक है।"

भारत में सरकार की इस नीति की इंगलैण्ड में तो निन्दा हो ही रही थी। वहाँ कहा गया कि कम्पनी की नीति ईसामसीह के धर्मादेशों के प्रतिकूल है तथा यह भारतीयों की शिक्षा की भी अवहेलना कर रही है। परिणामतः सन् 1813 के आज्ञापत्र में शिक्षा सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण वाक्यांश जोड़ दिये गये, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

**संसद में आन्दोलन**

सन् 1791 से 1813 तक का काल इंगलैण्ड के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण काल है। यह वह युग था जबकि देश में औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हो गयी थी और पूँजीवादी तथा मजदूर दो दल स्पष्ट बनते चले जा रहे थे। मजदूरों की दीन दशा पर दया दिखाने वाले कुछ धार्मिक तथा परोपकारी सज्जनों ने उनकी दशा सुधारने के लिए अपनी आवाज उठायी और सुझाव रखे कि लोगों में शिक्षा तथा सदाचार का प्रचार करने और उद्यम के साधन उपलब्ध करने से उनकी हीनावस्था में सुधार हो सकता है। परिणामतः कुछ ऐसी जनहितकारी व्यक्तिगत संस्थाएँ बन गयीं जो इस महान् उद्देश्य को पूरा करने में लग गयीं। साथ ही संसद में भी यह आन्दोलन चलाया गया कि वह जनता की शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले। सन् 1807 में इस

आशय का एक विधेयक भी प्रस्तुत किया गया, जिसके अनुसार 7 वर्ष से 14 वर्ष तक के बालकों को 2 वर्ष नि:शुल्क शिक्षा देने का प्रस्ताव किया गया। किन्तु यह विधेयक पास न हो सका। सन् 1815 में एक जाँच समिति देश में निर्धन बालकों की शिक्षा के विषय में स्थापित की गयी। इस समिति ने भी इंगलैण्ड तथा वेल्स में निर्धनों की शिक्षा के लिए एक विधेयक तथा कुछ सुधार प्रस्तावित किये, किन्तु वे भी वापस ले लिये गये।

इस प्रकार जब इंगलैण्ड में शिक्षा-सुधार के लिए ये आन्दोलन चल रहे थे, भारत में भी कम्पनी को भारतीयों की शिक्षा को अपने हाथ में लेने के लिए विवश होना पड़ा। उन दिनों इंगलैण्ड में भी राज्य का शिक्षा के प्रति उत्तरदायित्व न होने, कुछ आर्थिक हितों को दृष्टि में रखने और भारत में अराजकता तथा भारतीयों के शिक्षा के विषय में उदासीन होने के कारण कम्पनी यहाँ शिक्षा का प्रत्यक्ष भार नहीं लेना चाहती थी। किन्तु ब्रिटिश संसद में बर्क, ग्राण्ट और विल्वरफोर्स तथा भारत में लॉर्ड मिण्टो के प्रयत्नों के फलस्वरूप कम्पनी को शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना पड़ा।

उसी समय ब्रिटिश संसद में भी भारतीय शिक्षा में रुचि दिखायी जा रही थी। सन् 1792 में चार्ल्स ग्राण्ट ने 'ग्रेट ब्रिटेन की एशियाई प्रजा की सामाजिक दशा का निरीक्षण' नामक रचना में बताया कि "प्रकाश की उत्पत्ति ही अन्धकार के विनाश का साधन है। हिन्दू भूलें इसलिए करते हैं क्योंकि वे अज्ञानी हैं।" उसने अंग्रेजी भाषा, विज्ञान, मशीनरी और भाषा-शक्ति आदि द्वारा भारतीयों की दशा सुधारने के सुझाव रखे और इसका उत्तरदायित्व ग्रेट ब्रिटेन के ऊपर रखा। ग्राण्ट ने अनुभव किया कि भारत में लोगों का नैतिक स्तर बहुत गिर गया है जिसे शिक्षा और ईसाई धर्म के उपदेशों द्वारा ही सुधारा जा सकता है। "यूरोप के गये-बीते भागों में भी सच्चे, ईमानदार और शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति निकल आयेंगे। बंगाल में तो सच्चा और ईमानदार आदमी एक अलभ्य वस्तु है; और मुझे भय है कि जीवन में सर्वांगरूपेण विशुद्ध आचरण वाला चरित्रवान् व्यक्ति तो दुष्प्राप्य है।.......... भारतीयों के हाथ में दी हुई शक्ति अत्याचार और अन्याय द्वारा प्रयुक्त होती है। सभी प्रकार के पदों का रुपया कमाने में दुरुपयोग किया जाता है।..........न्याय रुपये से खरीदा जा सकता है। रुपये की शक्ति इतनी प्रबल है कि यहाँ धोखेबाजी से बढ़कर न कोई अपराध है और न सोचा जा सकता है। जिस तिरस्कार या अवहेलना की दृष्टि से हिन्दू उन व्यक्तियों या हितों को देखते हैं जिनसे उनका कोई स्वार्थ नहीं होता, वह यूरोपवासियों को उनके प्रति एक अपमानपूर्ण घृणा व क्रोध से भर देता है। भारत में देशप्रेम तो अज्ञात है।"[16]

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उन दिनों भारत की अवस्था अच्छी नहीं थी और प्रधानत: राज्य-कर्मचारियों में नैतिक भ्रष्टाचार बढ़ रहा था। किन्तु ग्राण्ट का यह विवरण उग्र व अतिशयोक्तिपूर्ण है। उसके इतना कटु होने पर भी उसका कथन इसलिए क्षम्य है कि उसका एकमात्र उद्देश्य भारतवासियों में शिक्षा-प्रचार द्वारा नैतिक

---

16 Quoted by M. R. Paranjape in *A Source Book of Modern Indian Education*, pp. VIII-IX.

जागृति करना था और इसी सद्भावना से प्रेरित होकर उसने यह सब लिखा था। "हिन्दुओं की गलतियाँ कभी उनके समक्ष नहीं रखी गयीं। हमारे ज्ञान तथा प्रकाश ही उनके लिए उचित ओषधि हैं जो उचित ढंग से तथा धैर्यपूर्वक प्रयोग करने से बड़े आनन्ददायक फल देंगे। ये फल हमारे लिए गर्वस्पद तथा लाभदायक होंगे।" ये विचार उसकी आन्तरिक भावना का स्पष्टीकरण करते हैं। ग्राण्ट ने इस ज्ञान को देने के लिए दो साधन बताये—एक तो देशी भाषा द्वारा, और दूसरा अंग्रेजी द्वारा। किन्तु उसने अंग्रेजी माध्यम को ही चुना। उसका कहना था कि चरित्रवान् शिक्षकों के नेतृत्व में अंग्रेजी कलाएँ, साहित्य, दर्शन तथा धर्म भारतीयों की विचारधारा को परिवर्तित कर देंगे। विज्ञान द्वारा देश की औद्योगिक व आर्थिक उन्नति होगी। इस प्रकार लोगों में "बाह्य सम्पन्नता तथा सामाजिक शान्ति" का प्रादुर्भाव होगा। इन भावनाओं से प्रेरित ग्राण्ट की प्राय: सभी सिफारिशें आगे चलकर मान ली गयीं। सन् 1813 के आज्ञापत्र के निर्णय पर उसकी विशेष छाप है। इतना अवश्य है कि ग्राण्ट के प्रयत्न शुद्ध परोपकार की दृष्टि से नहीं थे। उनके पीछे उसकी धर्म-प्रचार तथा भारतीयों का धर्म-परिवर्तन करने की मनोवृत्ति भी काम कर रही थी।

इसके पूर्व सन् 1793 में विल्वरफोर्स ने कम्पनी के चार्टर में शिक्षा-सुधार की एक धारा जोड़नी चाही थी, अत: ब्रिटिश संसद के समक्ष निम्नलिखित प्रस्ताव रखा :

"ब्रिटिश संसद का यह विशेष तथा अनिवार्य कर्तव्य है कि प्रत्येक उचित तथा बुद्धिमत्तापूर्ण साधन द्वारा भारत में अंग्रेजी राज्य के हित और समृद्धि को बढ़ावे; और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऐसे साधनों को अपनाया जाय जो क्रमश: लाभ-दायक ज्ञान प्राप्त करने में उनकी उन्नति करें तथा उनके धार्मिक तथा नैतिक स्तर को ऊँचा उठावें।"[17]

किन्तु कम्पनी के संचालकों ने उसे यह कहकर गिरा दिया कि "स्कूल और कालेजों की स्थापना की मूर्खता द्वारा हमने अभी अमरीका को खोया है। अत: भारत में भी वही मूर्खतापूर्ण कार्य ठीक न होगा।" लार्योनिक स्मिथ ने भी यही कहा था कि "शिक्षा जाति तथा धर्म के उन कुसंस्कारों को दूर कर देगी जिनके द्वारा हमने हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध करके भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा है। शिक्षा उनके मस्तिष्कों को विकसित करके उनकी अपार शक्ति का उन्हें बोध करा देगी।"[18] कम्पनी के संचालकों ने यह कहा कि "हिन्दुओं की अपनी धर्म तथा नैतिकता की अनुपम प्रणाली है। अतएव यह एक नितान्त पागलपन होगा कि या तो उनके धर्म-परिवर्तन की चेष्टा की जाय अथवा उन्हें इससे अधिक ज्ञान अथवा अन्य कोई ज्ञान का वर्णन दिया जाय जितना कि वे स्वयं जानते हैं।"[9]

[17] H. Sharp : *Selections from Educational Records*, p. 81.

[18] Quoted by M. R. Paranjape in *A Source Book of Modern Indian Education.*

[19] H. Sharp : *Selections from Educational Records*, p. 17.

इस प्रकार भारतीय शिक्षा के भाग्य का निर्णय इंगलैण्ड की संसद में किया जा रहा था। भारत में लार्ड मिण्टो ने सन् 1811 में संचालकों को भारतीय शिक्षा के पतन की दुख-गाथा लिखकर भेजी। उसने लिखा कि "भारतवासियों में विज्ञान तथा साहित्य का उत्तरोत्तर पतन हो रहा है। विद्वानों की संख्या घटने के साथ ही साथ उनके ज्ञान की परिधि भी संकीर्ण होती जा रही है। विज्ञान तथा साहित्य त्याग दिये गये हैं, केवल धार्मिक शिक्षा ही शेष बची है। इसका तत्कालीन परिणाम हुआ है कई ग्रन्थों का विनाश। यदि सरकार ने शीघ्र ही सहायता प्रदान नहीं की तो भय है कि ग्रन्थों तथा उनकी व्याख्या करने वालों के अभाव में शिक्षा का पुनरुद्धार भी असम्भव हो जायगा।"[20]

**सन् 1813 का आज्ञापत्र**

इस प्रकार के आन्दोलन ने भारतीय शिक्षा के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण तथा वाद-विवाद का प्रश्न बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जब सन् 1813 में कम्पनी का आज्ञापत्र जारी हुआ तो उसमें भारतीय शिक्षा के लिए विशेष धाराएँ जोड़ दी गयीं। इस आज्ञापत्र से मिशनरियों को भी भारत में जाकर शिक्षा-प्रचार की स्वतन्त्रता दे दी। यह उनकी बड़ी भारी विजय थी। आज्ञापत्र में एक धारा यह जोड़ दी गयी कि "कम से कम एक लाख रुपये की धन-राशि प्रति वर्ष अलग रख दी जायगी जिसका उपयोग साहित्य के पुनरुद्धार तथा उन्नति एवं भारतीय विज्ञानों के प्रोत्साहन के लिए तथा ब्रिटिश भारतीय क्षेत्रों में भारतवासियों के अन्तर्गत विज्ञानों का आरम्भ करने तथा उनकी उन्नति करने में लगाया जायगा।" इस धारा ने भारत में राज्य शिक्षा-पद्धति की नींव डाल दी। मिशनरियों के शिक्षा क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक उतर आने के कारण भारतवासियों में भी स्पर्द्धा जागृत हुई और इस प्रकार देश में राजकीय तथा व्यक्तिगत दोनों प्रकार के शिक्षा-संगठनों का बीजारोपण हुआ तथा भारत में आधुनिक शिक्षा का एक व्यवस्थित रूप प्रारम्भ हो गया।

## सारांश

**देशी शिक्षा—भारत में यूरोपीय शिक्षा-प्रयत्नों के पूर्व देशी शिक्षा की एक अच्छी व्यवस्था कायम थी। यद्यपि उनके सम्बन्ध में ठीक-ठीक आँकड़े प्रस्तुत नहीं किये जा सकते, तथापि यह निर्विवाद है कि उस समय देश के विभिन्न भागों में, गाँव तथा नगरों में देशी शिक्षा के प्रचार के लिए पाठशालाओं, मकतब एवं मदरसों का जाल-सा बिछा हुआ था।**

**मद्रास प्रान्त में मुनरो ने शिक्षा का सर्वेक्षण करके तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डाला है। इसी प्रकार के सर्वेक्षण बम्बई में वहाँ के गवर्नर श्री एलफिन्स्टन तथा बंगाल में विलियम ऐडम ने कराये थे। इन अध्ययनों के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि अधिकांश में शिक्षा का अर्थ प्राथमिक शिक्षा से ही था। प्रत्येक पाठशाला में एक शिक्षक पास-पड़ोस के बच्चों को एकत्र करके बैठता था और कक्षा में होशियार**

[20] *Ibid*, p. 19.

विद्यार्थियों की सहायता से अध्यापन-कार्य चलता था। पाठ्यक्रम में लिखना-पढ़ना व गणित प्रमुख थे। इस प्रकार मानीटर प्रथा सर्वव्यापी थी।

जनसाधारण की बढ़ती हुई निर्धनता, राज्य की उदासीनता, अंग्रेजी तथा पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली की लोकप्रियता इत्यादि कारणों से देशी शिक्षा की अवनति होने लगी। शिक्षकों को वेतन न मिलने से वे अध्यापन-कार्य छोड़ बैठे। पाठशालाओं के भवन टूटने लगे। सरकारी नौकरी पाने के आकर्षण से लोगों ने देशी भाषाओं का पढ़ना छोड़कर अंग्रेजी पढ़ना प्रारम्भ कर दिया।

प्रारम्भिक मिशनरी प्रयत्न—17वीं शताब्दी में ही भारत में पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस, हालैण्ड, इंगलैण्ड एवं जर्मनी इत्यादि यूरोपीय देशों से ईसाई धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से मिशनरी आये। उन्होंने आते ही अपने स्कूल स्थापित कर दिये। प्रारम्भ में उन्होंने प्राथमिक शिक्षा को ही हाथ में लिया। उन्होंने अपने कर्मचारियों के बच्चों तथा ईसाई धर्म में परिवर्तित बच्चों को शिक्षा देना आरम्भ कर दिया।

पुर्तगालियों ने इसका भारत में सूत्रपात किया। इन्होंने प्राथमिक व उच्च शिक्षा के स्कूल खोले। प्राथमिक स्कूलों में धर्म, स्थानीय भाषा, पुर्तगाली भाषा, गणित तथा कुछ हस्तकला पढ़ायी जाती थी। उच्च शिक्षा के लिए जेसुएट कालेजों की स्थापना की गयी जिनमें लैटिन, धर्मशास्त्र, तर्कशास्त्र, संगीत इत्यादि की व्यवस्था थी। 17वीं शताब्दी के अन्त तक भारत में पुर्तगालियों का पतन होने से उनके शिक्षा-प्रयत्न भी समाप्त हो गये।

17वीं शताब्दी के आरम्भ में हालैण्डवासियों ने अपनी कम्पनियाँ स्थापित कीं किन्तु इनके शिक्षा-प्रयत्न अधिक व्यापक रूप धारण न कर सके।

फ्रांसीसियों ने 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपने व्यापारिक, राजनीतिक एवं धार्मिक प्रयत्न प्रारम्भ किये। उन्होंने फ्रांसीसी बस्तियों में प्राथमिक स्कूल आते ही खोल डाले। इसी प्रकार डेनमार्क के मिशनरियों ने भी अपने शिक्षा-प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। धर्म-प्रचार के मामले में डेनों के प्रयत्न सबसे अधिक रहे। इन लोगों ने देश की विभिन्न भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया और व्याकरण व शब्दकोष छापे।

इसी प्रकार इंगलैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी शिक्षा के क्षेत्र में कुछ प्रयत्न किये। कुछ समय तक तो अंग्रेजों ने धार्मिक तटस्थता की नीति अपनायी, परन्तु आगे चलकर ईसाई धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया। अतः उन्होंने बहुत-से प्राथमिक स्कूल खोले। किन्तु 18वीं शताब्दी के अन्त में कम्पनी ने पुनः धार्मिक निरपेक्षता की नीति अपनायी और ईसाई धर्म-प्रचारकों पर प्रतिबन्ध लगा दिये। कम्पनी ने सरकारी तौर पर अपने शिक्षा-प्रयत्नों को साधारण रूप से जारी रखा। बंगाल, बम्बई व मद्रास प्रान्तों में कम्पनी का राज्य स्थापित हो चुका था। वहाँ कुछ प्राथमिक व माध्यमिक स्कूल खोले गये। सन् 1781 में मुसलमानों की शिक्षा के लिए कलकत्ता मदरसा स्थापित किया गया जहाँ दर्शन, कुरान, कानून, ज्यामिति, गणित, तर्कशास्त्र तथा व्याकरण आदि अरबी भाषा के माध्यम से पढ़ाये जाते थे।

इसी भाँति हिन्दुओं के लिए बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना 1791 में जोनाथन डंकन ने की। इसके उद्देश्य वही थे जो कलकत्ता मदरसा के थे। इधर अंग्रेजी भाषा का भी प्रचार राजनीतिक उद्देश्यों से तेजी से होने लगा। बंगाल में अंग्रेजों के प्रारम्भिक प्रयत्न अधिक सराहनीय हैं।

इधर कम्पनी सरकार की धार्मिक तटस्थता की नीति से ईसाई धर्म-प्रचारक असन्तुष्ट हो गये। उन्होंने सरकार के विरुद्ध भारत तथा इंगलैण्ड में आवाज उठायी। इंगलैण्ड में जनता की शिक्षा का उत्तरदायित्व वहाँ की सरकार ने स्वीकार कर लिया था। अतः भारत के सम्बन्ध में भी यह कहा जाने लगा कि सरकार शिक्षा-प्रचार का कर्तव्य अपने हाथ में ले।

इन सभी प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1813 में कम्पनी ने एक आज्ञापत्र जारी किया। इसके अनुसार मिशनरियों को भारत में आकर धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता दे दी गयी और साहित्य के पुनरुद्धार तथा उन्नति एवं भारतवासियों में शिक्षा के प्रचार के लिए एक लाख रुपये वार्षिक धन-राशि की व्यवस्था कर दी गयी। यह सरकार के द्वारा शिक्षा के कर्तव्य को प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करने का प्रथम प्रयास था।

# 8

# संघर्ष का प्रारम्भ

## (सन् 1813–33 तक)

**संघर्ष का कारण**

सन् 1813 के आज्ञापत्र के अनुसार कम्पनी ने भारत में अपने के शिक्षा-उत्तरदायित्व को आंशिक रूप में स्वीकार तो कर लिया था और "भारतवासियों की शिक्षा तथा उनमें विज्ञान का प्रारम्भ तथा उन्नति के लिए" एवं "साहित्य के पुनरुत्थान एवं विकास" के लिए एक लाख रुपये की धन-राशि भी अलग सुरक्षित कर दी थी, किन्तु उसने इस रुपये को व्यय करने की विधि निश्चित नहीं की, परिणामत: भारत में शिक्षा की समस्या को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ जिसका अन्त वुड के शिक्षा घोषणापत्र के साथ सन् 1854 में ही जाकर हुआ। सन् 1813 से 1833 तक 20 वर्ष का युग तो शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त ही अनिश्चित युग था। वास्तव में कम्पनी के संचालक स्वयं शिक्षा के विषय में अनभिज्ञ तथा उदासीन थे और अधिकांश में भारत स्थित अंग्रेज अफसरों की नीतियों का समर्थन करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ निम्नलिखित विषयों पर विवाद उठ खड़े हुए :

(1) **उद्देश्य**—पहला विवाद शिक्षा के उद्देश्य के विषय में था कि यहाँ थोड़े से लोगों में उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय अथवा जनसाधारण में प्रारम्भिक शिक्षा का प्रसार किया जाय। इसी में एक उद्देश्य और सम्मिलित था कि प्राच्य शिक्षा और संस्कृति की सुरक्षा की जाय अथवा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानों को प्रारम्भ करके उसकी उन्नति की जाय।

(2) **माध्यम**—शिक्षा का माध्यम प्राच्य भाषाएँ—संस्कृत, अरबी और फारसी रखा जाय अथवा देशी भाषाएँ, या अंग्रेजी भाषा।

(3) **साधन**—शिक्षा सरकार का उत्तरदायित्व है अथवा इसे वैयक्तिक प्रयासों पर छोड़ दिया जाय। इसी में मिशनरियों को शिक्षा-प्रसार या धर्म-प्रचार की छूट देने की बात भी उठ खड़ी हुई।

उपर्युक्त प्रश्नों को लेकर देश में प्रमुख तीन विचारधाराएँ बहने लगीं। एक विचारधारा के समर्थकों का यह दृष्टिकोण रहा कि संस्कृत और अरबी भाषा के द्वारा

भारतवासियों की प्राचीन सभ्यता की रक्षा की जाय तथा उन्हें इन्हीं भाषाओं के माध्यम से यूरोप के नवीन विज्ञानों का भी बोध कराया जाय। इस विचारधारा के समर्थकों में कम्पनी के पुराने अधिकारी सम्मिलित थे जो लार्ड हेस्टिंग्स तथा मिण्टो के अनुगामी थे। इस विचारधारा का जोर बंगाल में रहा।

दूसरी विचारधारा के मानने वालों के अनुसार भारत में शिक्षा का माध्यम देशी व प्रान्तीय भाषाएँ होना चाहिए था। इनमें मद्रास में मुनरो और बम्बई में माउण्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन थे। मुनरो के अनुसार भारतीय सभ्यता उच्च कोटि की थी जिससे इंगलैण्ड को भी बहुत कुछ सीखना था। उसने लोकसभा (हाउस ऑव कामन्स) में घोषणा की कि "यदि सभ्यता को ऐसा पदार्थ मान लिया जाय, जिसका व्यापार दोनों देशों के मध्य होने लगे, तो मुझे विश्वास है कि इंगलैण्ड इस पदार्थ के आयात में महान् लाभ उठा सकेगा।"

तीसरा दल ऐसे लोगों का था—यद्यपि यह इस समय अल्पमत में था, जिसमें प्रधानतः कम्पनी के नवयुवक अधिकारी थे—जिनके अनुसार भारत में शिक्षा तथा पाश्चात्य विज्ञानों के प्रचार के लिए शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होना चाहिए था। ये लोग ग्राण्ट के मत के अनुगामी थे। मिशनरी लोग भी इसी नीति के समर्थक थे, यद्यपि वे देशी भाषाओं द्वारा भी धर्म-प्रचार कर रहे थे और अपने समय को व्यर्थ के विवाद में नष्ट नहीं कर रहे थे।

उस समय सरकारी मामलों में भारतीय मत का कोई मूल्य नहीं था, तथापि बंगाल में राजा राममोहन राय जैसे सुधारक भी अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का प्रसार करने के पक्ष में थे।

अंग्रेजी माध्यम के समर्थक सभी प्रान्तों में थे, किन्तु बंगाल में उनका प्राधान्य था। आगे चलकर इसी दल की विजय हुई और इन्होंने शिक्षा को अन्तिम रूप दिया, जिसका फल यह हुआ कि भारत में शिक्षा की तीव्र प्रगति को बड़ा आघात लगा। प्रान्तीय भाषाओं के विकास की गति रुक गयी और भारत की प्राचीन सभ्यता को एक भयानक धक्का लगा। वास्तव में वे एक ऐसे समाज का निर्माण करने में सफल हो सके जो अंग्रेजों तथा "उन करोड़ों प्राणियों के, जिनके वे शासक थे, बीच विचार-वाहक (मध्यस्थ) बने—अर्थात् एक ऐसा वर्ग जो रंग तथा रक्त में भारतीय किन्तु विचारों, रुचियों, नैतिक आदर्शों तथा बुद्धि में अंग्रेज हो।" इस प्रकार प्राचीन भारतीय सभ्यता पर विजय पाकर भारत में अपनी सभ्यता का बीजारोपण करने में यह दल सफल न हुआ और इसमें सहायता दी राजा राममोहन राय जैसे उच्च वर्ग के भारतीयों ने, जिनका अंग्रेजों से व्यक्तिगत सम्पर्क था और जो भारत के करोड़ों जन-साधारण से अधिक सम्पर्क नहीं रखते थे। इन प्रयत्नों का वर्णन हम आगे करेंगे।

यहाँ दो शब्द मिशनरियों के विषय में कह देना भी वांछनीय होगा। सन् 1813 के आज्ञापत्र के द्वारा भारत का द्वार इंगलैण्ड की सभी मिशनरियों के लिए उन्मुक्त हो गया था। इन लोगों ने अंग्रेजी भाषा के माध्यम का ही आश्रय लिया।

इन्होंने अंग्रेजी आदर्श के असंख्य स्कूल और कॉलेज खोले, जिनके द्वारा शिक्षा के नाम पर ईसाई धर्म का प्रचार किया तथा भारतीयों के धर्म-परिवर्तन के कार्यक्रम को जारी रखा। सन् 1813 से 1833 तक के इनके शिक्षा-प्रयत्नों का वर्णन हम इसी अध्याय में आगे करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुतः यह एक परीक्षण-युग था। कम्पनी के संचालक भारतीय शिक्षा के विषय में अनभिज्ञ तथा तटस्थ होते हुए भी एक प्रकार से इन भिन्न-भिन्न विचारधाराओं की उपादेयता का परीक्षण कर रहे थे।

**राजकीय प्रयत्न (सन्** 1813–33)

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, कम्पनी के संचालकों ने ग्राण्ट और विल्वर-फोर्स के प्रस्तावों का विरोध किया था, किन्तु उनके विरोध की अपेक्षाकृत भी सन् 1813 के आज्ञापत्र में शिक्षा के लिए एक लाख रुपये का अनुदान नियत कर दिया गया। इसके लिए 3 जून, 1814 को उन्होंने अपना प्रथम शिक्षा-आदेश जारी किया जिसके द्वारा वे शिक्षा की उन्नति करना चाहते थे। उन्होंने कहा कि "यह धारा दो प्रमुख विचारणीय समस्याएँ उपस्थित करती है—प्रथम, भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन तथा साहित्य का पुनरुत्थान व उन्नति; और द्वितीय, भारतीयों में विज्ञानों का प्रचार व उन्नति।" किन्तु संचालकों ने अंग्रेजी प्रकार के स्कूलों व कालेजों की स्थापना का विरोध किया और देशी शिक्षा तथा प्राच्य भाषाओं की उन्नति पर जोर दिया। वास्तव में अपने राजनीतिक हितों के लिए वे भारत के प्रभावशाली वर्गों को प्रसन्न रखना चाहते थे। उन्हें भय था कि "सम्मानित तथा सवर्ण हिन्दू उनके शासन और अनुशासन के समक्ष आत्म-समर्पण न करेंगे।"

अतः इस समय उनका उद्देश्य प्राच्य शिक्षा-पद्धति की उन्नति करना था। उन्होंने लिखा, "हम समझते हैं कि विद्वान हिन्दुओं को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तथा अपनी विधि से सहमत कराने के लिए उन्हें अपनी चिरकालीन परम्परा द्वारा अपने घरों पर शिक्षा प्राप्त करने दिया जाय तथा उनके गुणों का विकास करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जाय और इस प्रकार के प्रोत्साहन के लिए उन्हें सम्मानसूचक उपाधियाँ तथा कभी-कभी आर्थिक अनुदान भी दिये जायँ।"

कम्पनी के संचालकों ने भारतीय शिक्षण-विधि तथा उनके साहित्य की सराहना की। उन्होंने लिखा कि "हमें विदित हुआ है कि संस्कृत भाषा में कई उत्तम ग्रन्थ ज्योतिष तथा गणित के हैं जिसमें ज्यामिति व बीजगणित भी सम्मिलित हैं। सम्भव है कि इनका ज्ञान यूरोपीय विज्ञानों में वृद्धि न कर सके, किन्तु इनके द्वारा भारतीयों और हमारे उन कर्मचारियों में सम्पर्क स्थापित हो जायगा जो हमारी वेधशालाओं या इन्जीनियरी विभाग में कार्य करते हैं। इस प्रकार के सम्पर्क के द्वारा भारतीय इन तथा अन्य आधुनिक विज्ञानों में प्रगति कर सकते हैं।"

इस प्रकार प्राच्य शिक्षा को प्रोत्साहन देकर वे भारतीयों तथा अपने कर्मचारियों की घनिष्ठता को बढ़ाना चाहते थे। ब्रिटिश अफसरों में उन्होंने प्राच्य शिक्षा के

प्रचार पर जोर दिया और यह भी कहा कि जो अफसर संस्कृत पढ़ने के लिए उद्यत हों उन्हें हर प्रकार की प्राथमिकता दी जाय। गाँव के स्कूलों के अध्यापकों की दशा पर द्रवित होकर उनके सुधार के लिए भी इन्होंने संकेत किया। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसी शिक्षा-पद्धति को प्रोत्साहन दिया जिसमें शिक्षण-विधि पूर्णत: प्राच्य थी। अंग्रेजी शिक्षा तथा मुसलमानों की शिक्षा के विषय में भी सन् 1813 के आज्ञापत्र में कोई उल्लेख नहीं था। किन्तु यह सब सामयिक राजनीतिक चालें थीं। वस्तुत: वे केवल सम्मानसूचक उपाधियों तथा थोड़ी बहुत आर्थिक सहायता से आगे और कुछ नहीं करना चाहते थे। उनके इस आज्ञापत्र से कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति की आशा नहीं की जा सकती थी। "इस आज्ञापत्र से अधिक निराशाजनक लेख की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी; और यह एक करुणाजनक ऐतिहासिक सत्य है कि सन् 1813 के आज्ञापत्र की धारा 43 सन् 1833 तक बिलकुल निष्क्रिय रही।"[1]

**शिक्षा-प्रगति**

यह बात स्मरणीय है कि कम्पनी के कर्मचारियों ने संचालकों की इस नीति को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भारत में शिक्षा-प्रसार के अपने कर्तव्य को समझा। लार्ड मोइरा (हेस्टिंग्स) ने, जो भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल थे, 2 अक्टूबर, 1815 को अपने विवरण में स्वीकार किया कि एक लाख रुपये की धन-राशि जनसाधारण में शिक्षा-प्रचार करने में व्यय की जायगी। उन्हें शिक्षा के विषय में एक अधिक उदार नीति की आवश्यकता प्रतीत हुई। "अंग्रेजों के लिए यह श्रेय की बात होगी कि यह लाभदायक क्रान्ति उनके शासन काल में हो। भारत की विशाल जनसंख्या के लिए वरदानों का साधन होना एक ऐसी महत्त्वाकांक्षा है जो हमारे देश को शोभा देती है।"[2] लार्ड मोइरा ने स्पष्ट कर दिया था कि जनता के शिक्षित होने पर ही हम एक दृढ़ शासन की आशा कर सकते हैं। गाँव के अध्यापकों के विषय में उनका विचार था कि किसी भी शिक्षा-योजना में उनके सुधार को प्रथम स्थान देना चाहिए। लार्ड मोइरा ने यह भी प्रस्ताव रखा कि शिक्षा को सर्वप्रिय बनाने के लिए प्रत्येक जिले में एक हिन्दुओं तथा एक मुसलमानों के लिए स्कूल खोला जाय।

इस क्षेत्र में सर चार्ल्स मैट्कॉफ का नाम भारत में सदा आदर के साथ लिया जायगा। उन्होंने 4 सितम्बर, 1815 को एक उत्तर देते हुए लिखा था—

"भारतीयों को शिक्षित बनाने के विरुद्ध तर्क दिये गये हैं, पर एक उदार सरकार के लिए उन पर ध्यान देना कितनी अयोग्यता की बात होगी! ईश्वर ही साम्राज्य देता तथा छीनता है। शासक तो प्रजा के हित-साधन द्वारा शासन के योग्य बनते हैं। अत: यदि हम अपना कर्तव्य पालन करें तो भविष्य में चाहे जो परिवर्तन हों, हमें भारतीयों से कृतज्ञता तथा भूमण्डल पर प्रशंसा मिलेगी। किन्तु यदि हम अपने स्वार्थ तथा भावी

Nurullah and Naik : *History of Education in India*, p. 88 (1951).
H. Sharp : *Selections from Educational Records*, Vol. I, pp. 28-29.

विपत्तियों के सम्भावित डर से अपनी प्रजा को अच्छी बातों से वंचित रखेंगे, तो हमें अपना राज्य रखने का कोई अधिकार नहीं है, हमें अपनी इच्छाओं का फल विपरीत ही मिलेगा जो सम्भवत: हमारे भाग्य में भी है······और हमें पतन के साथ ही साथ मानव-जाति की घृणा भी मिलेगी। ······मेरा स्वयं का विचार है कि हम भारतीयों के लिए जितनी अधिक अच्छी बातें करेंगे उतना ही अधिक वे हमसे स्नेह करेंगे और परिणामत: साम्राज्य की शक्ति तथा आयु बढ़ेगी। अब यह भारत सरकार की बुद्धि पर निर्भर है कि वह निर्णय करे कि यह सलाह केवल काल्पनिक है अथवा सत्य पर आधारित है।"[3]

इसी बीच में इंगलैण्ड में समाज-सुधार कानून जोर पकड़ रहे थे। वहाँ अपराध-विधान तथा फैक्टरी कानून में सुधार हुए। सारे देश में सामाजिक उदारता की लहर दौड़ने लगी। शिक्षा में भी महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। फलत: उस भावना का भारत-स्थित अंग्रेजी शासकों पर भी प्रभाव पड़ा और वे भारत में उदारतापूर्वक शिक्षा तथा मानव-सुख की वृद्धि में जुट गये। मुनरो, एलफिन्स्टन तथा बैण्टिक इत्यादि महानुभावों ने भी उसी भावना से प्रेरणा लेकर भारत में शिक्षा-सुधार तथा उन्नति के प्रयास किये। कम्पनी के संचालकों के विचारों में भी परिवर्तन हो गया और उन्होंने उदारता तथा उत्साह-पूर्वक शिक्षा-प्रसार करने के आदेश दिये। इन सभी परिस्थितियों पर दृष्टि रखते हुए अब हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस काल की शिक्षा-प्रगति का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

**बंगाल**—यहाँ सन् 1813 से 1823 तक कोई सराहनीय शिक्षा-प्रयत्न नहीं हो सका। सन् 1823 में जाकर ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने कर्तव्य की सुधि ली। फलत: 17 जुलाई, 1823 के एक प्रस्ताव के अनुसार बंगाल में गवर्नर जनरल ने एक 'लोक शिक्षा समिति'[4] नियुक्त की, जिसके उद्देश्य "जनता की शिक्षा में सुधार, उनके हितकारी ज्ञान का प्रचार तथा उनके नैतिक चरित्र को ऊँचा उठाना" इत्यादि थे। कम्पनी ने सारा उत्तरदायित्व व शिक्षा-सम्बन्धित अनुदान इसी समिति को हस्तान्तरित कर दिया तथा उसकी सहायता के लिए कुछ स्थानीय समितियाँ भी बनायीं। इस प्रमुख 'लोक शिक्षा समिति' में दस सदस्य थे जिनमें प्रिंसेप तथा विलसन भी, जो प्राच्य शिक्षा के समर्थक थे, सम्मिलित थे। वास्तव में बहुमत भी प्राच्य शिक्षा-प्रणाली के समर्थकों का ही था।

इस समिति ने अपना कार्य प्राच्य शिक्षा को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से ही प्रारम्भ कर दिया। इसके लिए प्रथमत: इसने कलकत्ता मदरसा तथा बनारस संस्कृत कालेज का पुनर्संगठन किया तथा सन् 1824 में कलकत्ता, आगरा और दिल्ली में प्राच्य शिक्षा के लिए कालेजों का निर्माण कराया। इसके अतिरिक्त सन् 1824 में कलकत्ता में 'कलकत्ता शिक्षा प्रेस' भी स्थापित किया और कई संस्कृत, अरबी तथा फारसी के

*Adam's Report*, p. 406.
General Committee of Public Instructions.

ग्रन्थ छापे तथा विज्ञान सम्बन्धी बहुत-से यूरोपीय ग्रन्थों का अरबी, फारसी तथा संस्कृत में अनुवाद कराकर छपवाया। ये पुस्तकें स्कूलों में भी पढ़ायी जाने लगीं। समिति ने प्राच्य भाषाओं के विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ भी दीं।

'लोक शिक्षा समिति' अपनी इस नीति पर अधिक दिनों तक न चल सकी। शीघ्र ही इसकी नीति का कड़ा विरोध होने लगा। कम्पनी के संचालकों ने भी इस नीति का समर्थन नहीं किया और 18 फरवरी, 1924 के आदेश के अनुसार समिति की कार्यवाहियों पर एक प्रकार से रोक लगा दी। उनकी राय में ऐसे पुस्तकालय अथवा विद्यालय खोलकर जिनका उद्देश्य "केवल हिन्दू या केवल मुसलमान साहित्य का ही पढ़ाना है" समिति अपने आपको उस साहित्य के पढ़ाने के लिए बाध्य कर रही है "जिसका अधिकांश भाग मूर्खताओं से भरा है तथा एक बड़ा भाग शरारतपूर्ण है और बचा हुआ एक थोड़ा-सा भाग अवश्य ऐसा है जिससे थोड़ी बहुत उपयोगिता प्राप्त हो सकती है।" समिति की राय यह थी कि हिन्दू व मुसलमान यूरोपवासियों से घृणा करते हैं, अतः उनके साहित्य को पढ़ने के लिए तैयार भी नहीं होंगे और जनता की राय भी यूरोपीय ज्ञान-विज्ञानों के शिक्षण के प्रतिकूल है। किन्तु यह कथन सर्वांश में सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि बंगाल में राजा राममोहन राय ने 11 दिसम्बर, 1823 को एक स्मरणपत्र लार्ड एम्हर्स्ट के लिए लिखा, जिसमें उन्होंने कलकत्ता संस्कृत कालेज के खुलने का विरोध किया। उन्होंने भारत में यूरोपीय विज्ञानों तथा गणित इत्यादि के पढ़ाये जाने पर जोर दिया और कहा कि सरकार को "एक अधिक उदार और बुद्धिमत्तापूर्ण शिक्षा-पद्धति को उन्नत करना चाहिए, जिसमें गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीर विज्ञान तथा अन्य लाभदायक विज्ञान सम्मिलित हों, जिनका शिक्षण निश्चित धन-राशि के द्वारा रखे हुए ऐसे सज्जनों के द्वारा होना चाहिए जो गुणवान् हों तथा यूरोप में शिक्षा पाये हुए हों।"[5] उनकी राय में संस्कृत की शिक्षा देश की शिक्षा-प्रगति को रोककर उसे अज्ञान के अन्धकार में रखने की एक राजनीतिक चाल थी। किन्तु उनके इस विरोध की कोई परवाह नहीं की गयी और संस्कृत कालेज का निर्माण हो गया। आगे चलकर इसी विचारधारा ने 'प्राच्य-आंग्ल विवाद' का रूप धारण कर लिया।

वास्तव में यह वह युग था जब भारतीयों में राजनीतिक चेतना का बीजारोपण हो चुका था। उनमें अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य ज्ञान के लिए एक तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी थी, जिसके प्रमुख कारण थे मिशनरियों द्वारा अंग्रेजी की माँग तथा अंग्रेजी भाषा शासकों की भाषा होने से उससे उत्पन्न होने वाले आर्थिक तथा राजनीतिक लाभ। अतः इन बातों को ध्यान में रखते हुए 'लोक शिक्षा समिति' ने आगरा कालेज तथा कलकत्ता मदरसा में अंग्रेजी की कक्षाएँ खुलवा दीं और दिल्ली तथा बनारस में जिला अंग्रेजी स्कूल खुलवा दिये। किन्तु ये प्रयत्न अपर्याप्त थे।

H. Sharp : *Selections from Educational Records*, Vol. I, p. 101.

**बम्बई**—सन् 1818 में बम्बई प्रेसीडेंसी बनी और पूना के श्री एलफिन्स्टन को सन् 1819 में वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया गया। श्री एलफिन्स्टन ने अपना पद सँभालते ही अपना ध्यान प्रान्त की शिक्षा की ओर दिया। उन्होंने पेशवा के दक्षिणा-फण्ड में से जो 5,00,000 रुपये वार्षिक था, ब्राह्मणीय शिक्षा के प्रसार के लिए पूना संस्कृत कालेज खोला। यह कालेज प्रधानतः बम्बई की प्रभावशाली जाति, ब्राह्मणों को प्रसन्न करने के लिए राजनीतिक उद्देश्यों से खोला गया था। सन् 1823 तक बम्बई सरकार शिक्षा के लिए और कुछ न कर सकी। 'बम्बई भारतीय शिक्षा समिति'[6] के शिक्षा-अनुदान के लिए प्रार्थना करने पर श्री एलफिन्स्टन ने 13 दिसम्बर, 1823 को अपना प्रसिद्ध शिक्षा-विवरणपत्र लिखा जिसके अनुसार उसने निम्नलिखित सात सुझाव[7] रखे :

(1) भारतीय स्कूलों में शिक्षण-विधि का सुधार तथा स्कूलों की संख्या में वृद्धि;

(2) पाठ्य-पुस्तकों की पूर्ति;

(3) निम्न वर्ग के भारतीयों को इस शिक्षा से लाभ उठाने के लिए आकर्षित करना;

(4) यूरोपीय विद्वानों तथा उच्च शिक्षा के शिक्षण के लिए स्कूल स्थापित करना;

(5) भारतीय भाषाओं में नैतिक तथा भौतिक विज्ञान पर पुस्तकें लिखवाना तथा उनका प्रकाशन कराना;

(6) ऐसे लोगों के लिए अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना करना जो अंग्रेजी भाषा का उच्च अध्ययन करने के इच्छुक हैं तथा यूरोपीय अनुसन्धानों को करने के लिए अंग्रेजी को साधन के रूप में प्रयोग करना चाहते हैं; तथा

(7) भारतीयों को ज्ञान की अन्तिम शाखाओं में अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एलफिन्स्टन जन-शिक्षा के एक प्रमुख समर्थक थे। उनकी राय में निर्धनों की शिक्षा का भार सरकार पर होना चाहिए। "यह बात सर्वमान्य है कि प्रत्येक देश में गरीबों की समृद्धि अधिकांश में उनकी शिक्षा पर निर्भर है। केवल शिक्षा के ही द्वारा वे लोग बुद्धिमान हो सकते हैं और उनमें उस आत्मसम्मान की भावना प्रस्फुटित हो सकती है जो अन्य सद्गुणों की जन्मदात्री है; और किसी भी देश में उन गुणों की आवश्यकता है तो वह यही देश (भारत) है।"[8] यह एलफिन्स्टन की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का ही परिणाम था कि बम्बई प्रान्त में प्रान्तीय भाषा की बहुत उन्नति हुई और यह प्रान्त सदा देशी भाषाओं द्वारा ही शिक्षा पर जोर देता रहा।

---

6 The Bombay Native Education Society.

7 Elphinston : *Minutes on Education*, Part 7, quoted by S. N. Mukerjee.

8 Elphinston : *Minutes on Education*, para 43, quoted by Nurullah and Naik.

एलफिन्स्टन ने शिक्षा के संगठन के लिए सरकारी प्रयत्नों के साथ ही साथ वैयक्तिक प्रयत्नों को भी प्रोत्साहित किया क्योंकि सरकार शिक्षा के पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती थी। यही कारण था कि उन्होंने सरकार और वैयक्तिक प्रयासों के बीच सहकारिता की भावना पर जोर दिया। 'बम्बई भारतीय शिक्षा समिति' जैसी व्यक्तिगत संस्थाओं के लिए उन्होंने शिक्षा-अनुदान की व्यवस्था की और 'ग्राण्ट-इन-एड' प्रथा को चालू किया। परीक्षा-प्रणाली भी चालू कर दी गयी तथा सफल विद्यार्थियों को प्रमाणपत्र, पारितोषिक और छात्रवृत्तियाँ प्रदान की गयीं।

किन्तु एलफिन्स्टन के विवरणपत्र का उनकी काउन्सिल में ही घोर विरोध हुआ। वार्डन ने, जो काउन्सिल का सदस्य था, एलफिन्स्टन का विरोध किया। वार्डन अंग्रेजी द्वारा केवल उच्च वर्ग के कुछ लोगों को शिक्षित करने के पक्ष में था। अतः उसने प्रान्तीय भाषा द्वारा जनसाधारण को शिक्षा देने का विरोध किया। गाँव के देशी प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूलों को यह निरर्थक समझता था और इनके स्थान पर प्रत्येक जिले में उच्च वर्ग तथा मध्य वर्ग के बालकों के लिए अंग्रेजी शिक्षा के स्कूल खोलने के पक्ष में था। इन्हीं बातों को लेकर आगे चलकर 'एंग्लो-वर्नाक्यूलर विवाद' उठ खड़ा हुआ, जो मैकॉले के प्रसिद्ध विवरणपत्र प्रस्तुत करने पर ही समाप्त हुआ। एलफिन्स्टन ने बम्बई प्रान्त की शिक्षा में ऐतिहासिक उन्नति की, यद्यपि उसे अपनी नीति में पूर्ण सफलता न मिल सकी। एलफिन्स्टन-वार्डन विवाद को देखते हुए कम्पनी के संचालकों ने एलफिन्स्टन की सभी सिफारिशों को नहीं माना। सरकार ने 'बम्बई भारतीय शिक्षा समिति' को बम्बई प्रान्त में शिक्षा-संगठन के लिए प्रमुख संस्था स्वीकार कर लिया तथा कोई अन्य सरकारी समिति इस कार्य के लिए नियुक्त नहीं की। 'बम्बई भारतीय शिक्षा समिति' को 600 रुपये प्रति माह की आर्थिक सहायता भी स्वीकार कर ली गयी। इसके अतिरिक्त बम्बई प्रान्त में अन्य कोई शिक्षा-कार्य सन् 1813-33 के मध्य न हो सका।

**मद्रास**—पिछले अध्याय में मुनरो द्वारा मद्रास की शिक्षा की जाँच का उल्लेख हो चुका है। अपनी जाँच के दौरान मुनरो इसी निष्कर्ष पर पहुँचा था कि शिक्षा के पतन का प्रमुख कारण सरकार की अवहेलना तथा जनता की निर्धनता है, अतः इनको दूर करने के लिए उसने स्कूलों को आर्थिक सहायता दी तथा नये स्कूल खुलवाये। शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा उनके लिए आकर्षक वेतनों का भी मुनरो ने प्रबन्ध किया। 10 मई, 1826 के अपने विवरणपत्र में उसने स्कूलों के लिए पाठ्य-पुस्तकें छापने तथा शिक्षकों की दीक्षा के लिए प्रस्ताव किये। ये दोनों कार्य 'मद्रास स्कूल बुक सोसाइटी' को दे दिये गये और 700 रुपये मासिक का अनुदान भी उसके लिए देना निश्चय किया गया। उसने 20 जिलों में उच्च कोटि के दो स्कूल—एक हिन्दुओं तथा दूसरा मुसलमानों के लिए—खुलवाने पर जोर दिया। बाद में 300 तहसीलों में क्रमशः एक-एक वर्नाक्यूलर स्कूल हिन्दुओं के लिए खोलने की योजना

बनायी। इस प्रकार सम्पूर्ण योजना को लागू करने के लिए उसने 48,000 रुपये वार्षिक की सहायता माँगी। यह धन-राशि सन् 1827 में स्वीकृत हो गयी, किन्तु दुर्भाग्यवश उसी वर्ष मुनरो की मृत्यु हो जाने से उसके उपरान्त यह योजना अच्छी प्रकार से कार्यान्वित न की जा सकी।

इस शिक्षा-योजना के कार्यान्वित करने के लिए मुनरो ने अपने जीवन-काल में ही जून 1826 में 'लोक शिक्षा समिति' की स्थापना कर ली थी। इस समिति ने मद्रास में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए एक नार्मल स्कूल खोला। तहसीली स्कूलों की प्रगति भी निराशाजनक रही। सन् 1830 तक केवल 14 जिलों में 70 तहसीली स्कूल खोले जा सके। इनमें न तो शिक्षकों को वेतन ही ठीक प्रकार से मिल पाता था और न इनका निरीक्षण ही नियमित रूप से होता था।

यद्यपि मुनरो की मृत्यु से उसकी योजना सफल न हो सकी, तथापि इसका एक प्रमुख कारण दूसरा भी है। वास्तव में मुनरो का उद्देश्य शिक्षा द्वारा जनता के नैतिक, मानसिक तथा आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाकर सरकार के कर्तव्य को पूरा करना था। "हमें सदा साम्राज्य बनाये रखने का ही स्वप्न न देखना चाहिए, बल्कि भारतीयों को ऐसा बना देना चाहिए कि वे अपना शासन इस प्रकार कर सकें कि उससे उनका, हमारा तथा विश्व का कल्याण हो। हमें अपने प्रयासों के फलस्वरूप अपना कर्तव्य पूरा करने की भावना तथा इसकी सफलता का श्रेय ही प्राप्त करना चाहिए।"[9] किन्तु मुनरो अपनी योजना को भलीभाँति लागू नहीं कर पाया था कि कम्पनी के संचालकों ने अपना 29 सितम्बर, 1830 का आज्ञापत्र भेजा जिसके अनुसार कहा गया कि मद्रास में प्रारम्भिक जन-शिक्षा पर पर्याप्त कार्य किया जा चुका है, किन्तु उच्च शिक्षा पाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किये गये हैं। अतः ऐसी अवस्था में मद्रास सरकार को अपनी नीति बदल देनी चाहिए। आज्ञापत्र में कहा गया कि "तुम्हारी सरकार के प्रथम प्रस्तावों में जनता के किसी भी भाग की उच्च शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। प्रारम्भिक शिक्षा का सुधार ही उनका उद्देश्य है··· परन्तु जनता की नैतिक तथा मानसिक दशा सुधारने में वही शिक्षा-सुधार अत्यन्त सफल होते हैं जिनका सम्बन्ध उच्चतर वर्गों से होता है, जिनके पास पर्याप्त अवसर तथा अपने देशवासियों के मस्तिष्कों पर पर्याप्त प्रभाव होता है। बहुसंख्यक वर्गों पर सीधे प्रभाव डालने के स्थान पर इन्हीं उच्च वर्गों के शिक्षा-स्तर को ऊँचा करके जनता के विचारों तथा भावनाओं में अधिक व्यापक तथा हितकारी परिवर्तन करना सम्भव है। साथ ही तुम्हें ज्ञात है कि हमारी यह उत्कट इच्छा है कि हमें ऐसे भारतीयों की आवश्यकता है जो अपने स्वभाव तथा विद्या द्वारा अपने देश के शासन में उच्चतर पदों पर रखने योग्य हों। तुम्हारे प्रान्त की शिक्षा में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने की क्षमता नहीं। प्रधान प्रान्त (बंगाल) में भारतीय उच्च वर्गों को अंग्रेजी भाषा तथा यूरोपीय

---

[9] Quoted by K. S. Vakil in *Education in India.*

साहित्य और विज्ञानों की शिक्षा देने का प्रयास किया गया था । वहाँ इन प्रयासों को इतनी सफलता मिली कि उनकी कार्य-अवधि के थोड़ा होते हुए भी वह अत्यन्त सन्तोषजनक है तथा ये प्रयास भारतीयों में सभ्य यूरोपीय भावना के फैलाने की व्यावहारिकता की आशा का पुष्टीकरण करते हैं । हमारी अभिलाषा है कि इसी प्रकार के प्रयत्न तुम्हारे प्रान्त में भी हों ।"[10]

वास्तव में अंग्रेज शासकों का भारत में प्रमुख हित राजनीतिक था । वे नहीं चाहते थे कि यहाँ के जनसाधारण में उपयोगी शिक्षा का शीघ्र प्रचार किया जाय तथा उनके अन्दर राजनीतिक जागृति उत्पन्न करके उन्हें उनके अधिकारों तथा क्षमताओं से परिचित करा दिया जाय । यही कारण था कि उन्होंने उच्च वर्ग के लोगों को शिक्षित करने का निश्चय किया था । उच्च वर्ग के लोग बहुधा प्रत्येक देश में निम्न स्तर की कही जाने वाली जनता का शोषण करके उसके ऊपर अपना जीवन निर्भर करते हैं । भारत में भी यही अवस्था थी । उन उच्च वर्ग के लोगों के आर्थिक स्वार्थ भी इसी में थे कि वे अंग्रेजों के इस षड्यंत्र के कार्यवाहक बनकर उनकी नीतियों का समर्थन करें । वस्तुत: ब्रिटिश सरकार एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना चाहती थी, जैसा कि कम्पनी के संचालकों के उपयुक्त विवरण से प्रकट होता है, जो उनके शासन-भवन के स्तम्भ बनकर जनता के शोषण में उन्हें सहायता दें । सरकार इस स्वामिभक्ति के लिए अपने इन 'उच्च वर्ग' के दासों के समक्ष कुछ प्रलोभन रख देती थी और इस प्रकार इन्हें देश पर शासन करने तथा उसका शोषण करने का अस्त्र बनाती थी । इस नीति को उसने बंगाल में भी अपनाया था, जहाँ उसे पर्याप्त सफलता मिली । अपनी इस सफलता से उत्साहित होकर उसने अपने इस सिद्धान्त को सम्पूर्ण देश मे लागू किया और यही कारण था कि टॉमस मुनरो को जिसने जन-शिक्षा के लिए एक उदार योजना बनायी थी, कम्पनी ने आदेश दिया कि वह बंगाल की भाँति, जहाँ राजा राममोहन राय जैसे 'देशसेवी' भारतीय शिक्षा के स्थान पर पाश्चात्य 'लाभदायक' शिक्षा को स्थानापन्न करने के लिए संघर्ष कर रहे थे, मद्रास में भी उच्च वर्ग में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानों का प्रसार करें । इस प्रकार उच्च वर्ग को शिक्षा देकर यह धारणा करना कि शिक्षा उच्च वर्ग से छनकर निम्न वर्गों तक पहुँच जायगी, भारतीय शिक्षा के इतिहास में 'शिक्षा छनाई का सिद्धान्त'[11] के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा ।

**गैर-सरकारी प्रयत्न**

देश में 1813–33 तक की शिक्षा-प्रगति में राजकीय प्रयत्न अधिक सराहनीय नहीं रहे । शिक्षा एक परीक्षण काल में होकर गुजर रही थी, अत: यह स्वाभाविक ही था कि प्रगति मन्द रहती । किन्तु इन सरकारी प्रयासों के समान्तर गैर-सरकारी प्रयास भी जारी थे, जिन्हें प्रधानत: दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(1) मिशनरी, और (2) गैर-मिशनरी । आगे की पंक्तियों में हम इन्हीं का उल्लेख करेंगे ।

10 H. Sharp : *Selections from Educational Records*, Vol. I, pp. 179-80.
11 Downward Infiltration Theory of Education.

### (1) मिशनरी शिक्षा-प्रयत्न (सन् 1813–33)

सन् 1823 तक भारत में कम्पनी-सरकार अपने राज्य को दृढ़ और स्थायी करने में इस प्रकार फँसी रही कि शिक्षा की समस्या उसके समक्ष गौण रही । इधर भारत में आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा की माँग उत्तरोत्तर बढ़ रही थी । सन् 1813 के आज्ञापत्र ने अंग्रेजी मिशनरियों के लिए भारत के द्वार खोल दिये थे । फलतः यहाँ कई धर्म-प्रचारक मण्डलियाँ आयीं और इन्हीं धर्म-प्रचारकों ने अपने धार्मिक उद्देश्यों से भारत में शिक्षा का कार्य अपने हाथ में लिया जिससे जनता की माँग की भी पूर्ति हुई और ईसाई धर्म का प्रचार बढ़ा । यह निर्विवाद है कि शिक्षा-प्रचार उनका प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं था, वे तो धर्म-परिवर्तन करना चाहते थे, अतः शिक्षा के द्वारा ही वे निम्न तथा उच्च वर्गों के सम्पर्क में आकर उन्हें प्रभावित कर सकते थे । इसके अतिरिक्त धर्म-परिवर्तित लोगों के साथ अपना सम्बन्ध स्थायी करने के लिए भी उनका शिक्षा-प्रबन्ध आवश्यक था । साथ ही उन्हें ऐसे सहायक धर्म-प्रचारक भी तैयार करने थे जो भारतीय जनता में से ही हों । इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्हें शिक्षा सम्बन्धी कार्यों को अपनाना पड़ा, किन्तु इतना अवश्य है कि उनके इस प्रयत्न से देश में शिक्षा की बहुत उन्नति हुई । उनकी प्रारम्भिक नीति देशी भाषाओं में शिक्षा देने की थी । देशी भाषाओं में उन्होंने पाठ्य-पुस्तकें, शब्दकोष तथा व्याकरणों की रचना करके एक ऐसा सराहनीय कार्य किया जिसके लिए भारत उनका चिर-ऋणी रहेगा । धर्म-प्रचार के उनके जोश ने शिक्षा-उन्नति में भी उन्हें उसी जोश के साथ लगा दिया । यह बात भी सर्वमान्य है कि उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1831 के आज्ञापत्र में शिक्षा सम्बन्धी धारा जोड़ी गयी थी । इस प्रकार सन् 1813 के बाद जो मिशनरियाँ भारत में आयीं उनमें 'जनरल बैप्टिस्ट मिशन सोसाइटी', 'लन्दन मिशनरी सोसाइटी', 'चर्च मिशनरी सोसाइटी', 'वैसलियन मिशन' तथा 'स्कॉच मिशनरी सोसाइटी' प्रमुख हैं । उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अपने कार्य को प्रसारित किया ।

**बंगाल**—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, बंगाल में सीरामपुर में बैप्टिस्ट मिशन ने धर्म-प्रचार बड़े जोरों से प्रारम्भ किया था । सन् 1815 में लगभग 15 स्कूल खोले । सीरामपुर का छापाखाना सराहनीय कार्य कर रहा था । 'समाचार दर्पण' नामक एक समाचार-पत्र भी उन्होंने निकाला । सन् 1817 में सीरामपुर कॉलेज की नींव डाली जिसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय तथा अर्द्धगोरों को धर्म-प्रचार की दीक्षा देना था । भारत में यह प्रथम मिशन कॉलेज था । इसके अतिरिक्त 'लन्दन मिशनरी सोसाइटी' के प्रमुख कार्यकर्ता ने चिनसुरा में प्रारम्भिक शिक्षा के 36 स्कूल खोले जिनमें 3,000 बच्चे पढ़ते थे । 'चर्च मिशनरी सोसाइटी' के कप्तान स्टीवर्ट ने बर्दवान में 10 वर्नाक्यूलर स्कूल खोले जिनमें लगभग 1,000 बच्चे पढ़ते थे । भवानीपुर तथा बरहमपुर में भी स्कूल खोले गये । सन् 1820 में शिवपुर में विशप कॉलेज की स्थापना हुई । बंगाल में मिशनरियों के कार्यों को सन् 1830 में स्कॉटलैण्ड के मिशनरी अलैक्जेण्डर डफ के आगमन से बड़ा प्रोत्साहन मिला । उसके अथक प्रयासों से बंगाल में अंग्रेजी

शिक्षा का प्रचार भी हुआ। डफ जगद्गुरु भारत को 'मुक्ति' का पाठ पढ़ाने आया था। उसके मतानुसार भारतीयों का मोक्ष 'पश्चिम तथा बाइबिल' की कृपा पर ही अवलम्बित था। सन् 1835 में एक भाषण में उसने कहा था कि "पाश्चात्य ज्ञान की प्रत्येक शाखा हिन्दू धर्म के किसी न किसी भाग को विध्वंस करेगी, इस प्रकार हिन्दू धर्म के विशाल किन्तु भद्दे भवन में से एक-एक ईंट नीचे गिर जायगी और जब तक हमारी शिक्षा की विशाल योजना पूर्ण होगी, सम्पूर्ण भवन खण्ड-खण्ड होकर धराशायी हो जायगा; यहाँ तक कि एक खण्डित टुकड़ा भी शेष नहीं बचेगा।"[12] डफ ने कलकत्ता में स्कॉटिश चर्च कॉलेज भी स्थापित किया, जहाँ शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था तथा बाइबिल अनिवार्य थी।

डफ का उल्लेख करते हुए एक अमरीकन विद्वान ने लिखा है कि "भारत में निम्न गंगाघाटी में शिक्षा-रूप के विकास में सन् 1830 एक महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष अलैक्जेण्डर डफ, एक उत्साही मिशनरी, भारत आया। बंगाल में उसके मिशनरी स्कूलों के कार्य व प्रयास विशाल थे। उसके अनुगामी उग्र थे तथा शिक्षा को, विशेपत: उच्च शिक्षा को, वह धर्म-प्रचार का यन्त्र समझता था।"[13]

**बम्बई**—सन् 1815 में अमरीकन मिशन ने बम्बई में एक स्कूल लड़कों के लिए तथा 1824 में लड़कियों के लिए खोला। कोंकड़ में 1822 में 'स्कॉटिश मिशन' ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। 1829 में डॉ० विल्सन ने लड़कियों के लिए एक स्कूल बम्बई में खोला। इसके अतिरिक्त सूरत में भी स्कूल खोले गये। इस प्रकार बम्बई में मिशनरियों का शिक्षा-कार्य इतना व्यापक नहीं था जितना बंगाल में था।

**मद्रास**—'चर्च मिशन सोसाइटी' ने मद्रास में 1815 से 1835 तक बहुत-से स्कूल खोले। अकेले तिनेवली में 107 स्कूल थे जिनमें 2,882 विद्यार्थी पढ़ते थे। सन् 1817 में हग ने 9 स्कूल खोले जिनमें 283 विद्यार्थी पढ़ते थे। 'वैसलियन मिशन' ने भी 1819 में मद्रास में कुछ स्कूल खोले। इसके अतिरिक्त कुम्भकोणम, चित्तूर, सेलम, कोयम्बटूर, विशाखापटनम, कड़पा तथा बिलारी आदि अन्य स्थान मद्रास प्रान्त में और थे जहाँ मिशनरियों ने अपने स्कूल स्थापित किये। डफ (1830) तथा जॉन विल्सन (1829) ने भी मद्रास में अपने शिक्षा-केन्द्र स्थापित करके ईसाई धर्म का प्रचार किया।

इनके अतिरिक्त अजमेर भी एक प्रमुख केन्द्र था, जहाँ ईसाइयों ने 'लंकास्ट्रियन प्रणाली' पर स्कूल खोले। सन् 1823 में वहाँ चार स्कूल थे जिनमें 100 विद्यार्थी थे। चार वर्ष उपरान्त चारों स्कूल मिलाकर एक स्कूल बना दिया गया। इसी प्रकार 'चर्च मिशनरी सोसाइटी' ने बर्दवान, आगरा, मेरठ, बनारस, आजमगढ़ तथा जौनपुर में भी अपने प्रचार-केन्द्र स्थापित करके वहाँ स्कूलों की व्यवस्था की। बम्बई प्रान्त में नासिक भी एक केन्द्र था।

[12] L. S. S. O., Mally : *Modern India and the West*, p. 671, quoted by S. N. Mukerjee in *Education in India*, p. 55.

[13] Dr. Zellner Aubrey : *Education in India*, p. 56, New York (1951).

इस प्रकार धर्म-प्रचार के लिए मिशनरियों ने शिक्षा को साधन बनाया। उन्होंने पाठ्य-पुस्तकें छापीं, स्कूलों में घण्टे नियत कर दिये। इतवार छुट्टी का दिन था। इससे पूर्व प्रत्येक स्कूल में देशी शिक्षा-पद्धति के अनुसार सम्पूर्ण विषयों तथा कक्षाओं के लिए एक ही शिक्षक रहता था, किन्तु इन्होंने आधुनिक ढंग पर एक से अधिक शिक्षकों के रखने की व्यवस्था की। इस प्रकार इस काल में एक नये शिक्षा-संगठन को स्वरूप दिया गया, जिसका श्रेय अधिकांश में मिशनरियों को है।

(2) **गैर-मिशनरी प्रयास** (1813–33)

**बंगाल**—बंगाल में सरकारी तथा मिशनरी प्रयत्नों के साथ ही साथ जनता का व्यक्तिगत प्रयत्न भी शिक्षा-प्रसार में लगा हुआ था। ब्रह्म समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय, डेविड हेयर, राधाकान्त देव और सर एडवर्ड हाइड ईस्ट इत्यादि महानुभावों के नाम इस क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने पाश्चात्य सभ्यता, ज्ञान तथा विज्ञानों की सराहना की। इन विज्ञानों के द्वारा वे भारत में भी सांस्कृतिक जागरण लाना चाहते थे। यद्यपि वे संस्कृत तथा बंगला के भी ज्ञाता थे, किन्तु प्राच्य साहित्य तथा प्राच्य भाषाओं को देश के लिए वर्तमान परिस्थितियों में अधिक हितकर समझते थे। राजा राममोहन राय उन प्रथम भारतीयों में से थे जो प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान व संस्कृतियों का समन्वय व सामंजस्य चाहते थे। यद्यपि उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं तथापि उन्होंने यह भी अनुभव कर लिया था कि इस समय भारतीय ज्ञान-विज्ञानों तथा संस्कृत भाषा के अध्ययन से देश का कल्याण नहीं हो सकेगा। उन्होंने प्राच्य संस्कृति की निन्दा नहीं की और न उसके उन्मूलन की ही इच्छा प्रकट की। उन्होंने तो प्राच्य व पाश्चात्य संस्कृति के सामंजस्य के लिए ही प्रयास किये और साथ ही भारतवासियों में व्याप्त अज्ञान, अन्धविश्वासों तथा प्रतिक्रियावादी परम्पराओंको तोड़कर उन्हें पश्चिम के वैज्ञानिक व यथार्थवादी संसार के सम्पर्क में लाने के यत्न किये।

डेविड हेयर एक धनी घड़ीसाज था। कलकत्ता के निकट वह एक प्राइमरी स्कूल भी चला रहा था। अपने अनुभव के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि अधिकतर भारतीय बालकों में अंग्रेजी पढ़ने की माँग है। सर एडवर्ड हाइड ईस्ट बंगाल के चीफ जस्टिस तथा राजा राममोहन राय के मित्र थे। 14 मार्च, 1816 को इन लोगों ने एक सभा की जिसमें एक अंग्रेजी स्कूल खोलने की योजना पर विचार किया गया, जिसका उद्देश्य 'हिन्दुओं के पुत्रों को यूरोपीय तथा एशियाई भाषाओं तथा विज्ञानों की शिक्षा देना' था। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए तत्काल ही 50,000 रुपये चन्दा कर लिया गया। इस प्रकार 20 जनवरी, 1817 को महाविद्यालय (हिन्दू कॉलेज) की नींव पड़ी। सन् 1824 में जाकर इसे सरकारी सहायता भी मिलने लगी। इसमें अंग्रेजी, नीतिशास्त्र, व्याकरण, हिन्दुस्तानी, बंगला, गणित, इतिहास, भूगोल तथा ज्योतिष पढ़ाये जाते थे। कुछ ही दिनों में हिन्दू कॉलेज ने आशातीत उन्नति कर ली। 1826 में इस कॉलेज में 196 विद्यार्थी,

1827 में 372 तथा 1828 में 437 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।[14] यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसमें संस्कृत तथा फारसी भाषा का बहिष्कार कर दिया गया। यह वास्तव में एक मूलभूत भूल थी, क्योंकि ऐसा करने से पाश्चात्य और प्राच्य सभ्यताओं के सम्मिश्रण का सुअवसर जाता रहा।

हिन्दू कॉलेज के अतिरिक्त अन्य प्रयत्न भी किये गये। 1817 में 'कलकत्ता स्कूल पुस्तक समाज' स्थापित किया गया जिसने बिना मूल्य या नाममात्र मूल्य पर पुस्तकें छापीं। 1821 तक लगभग 1 लाख 26 हजार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। सरकार ने भी 7,000 रुपये का दान इस समाज को दिया। सन् 1819 में 'कलकत्ता विद्यालय समाज' की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य बंगाल प्रान्त में अंग्रेजी तथा बंगला के स्कूल स्थापित करना था। सन् 1821 तक इस समाज ने 115 स्कूल खोले जिनमें 3,828 विद्यार्थी थे। सन् 1823 में सरकार ने इन स्कूलों की सहायता के लिए 6,000 रुपये वार्षिक की स्वीकृति दी। इस प्रकार ये दोनों समाज मिलकर 1833 तक सराहनीय कार्य करते रहे।

**बम्बई**—बम्बई प्रान्त में इस काल में शिक्षा-विकास का श्रेय अधिकांश में वैयक्तिक प्रयत्नों को ही है। सन् 1815 में इंगलैण्ड के चर्च के सदस्यों ने बम्बई राज्य के अन्तर्गत निर्धनों की शिक्षा की उन्नति के लिए एक समाज की स्थापना की जिसका प्रधान उद्देश्य यूरोपीय सैनिकों के बच्चों को शिक्षित करना था। इस समाज ने बहुत-से स्कूल सूरत, थाना तथा बम्बई में खोले। धर्म के उपदेशों का श्रवण वैकल्पिक होने के कारण बहुत-से हिन्दू, पारसी तथा मुसलमान बालक भी इन स्कूलों में जाने लगे। आगे चलकर यह समाज 'बम्बई शिक्षा समाज' के नाम से कार्य करने लगा। सन् 1820 तक इसने चार स्कूल भारतीय बालकों के लिए खोल दिये जिनमें 250 विद्यार्थी थे। सन् 1820 में एलफिन्स्टन के प्रयत्नों से इस समाज के अन्तर्गत एक समिति स्थापित हुई जिसका नाम 'भारतीय शिक्षालय तथा पाठ्य-पुस्तक समिति' था। इस समिति के दो उद्देश्य थे—(1) भारतीय बालकों के प्रचलित स्कूलों का सुधार तथा नये स्कूल खोलना, और (2) स्कूल में पढ़ने वाले भारतीय बालकों के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार करना। बम्बई शिक्षा समाज इस प्रकार शिक्षा की उन्नति कर रहा था। सन् 1827 में उसने 'बम्बई भारतीय शिक्षालय पुस्तक तथा शिक्षालय समाज'[15] की स्थापना की जो 1827 में 'बम्बई भारतीय शिक्षा समाज'[16] के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस समाज ने भारतीय बालकों की शिक्षा की पर्याप्त उन्नति की। अपनी स्थापना के उपरान्त ही इस समाज ने तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था की जाँच-पड़ताल करायी जिसके अनुसार इसने मालूम किया कि उचित पुस्तकों तथा शिक्षकों का

[14] Dr. Zellner Aubrey : *Education in India*, p. 52.

[15] Bombay Native Book and School Society.

[16] Bombay Native Education Society.

अभाव, गलत शिक्षण-विधि तथा धन का अभाव इत्यादि प्रमुख कठिनाइयाँ थीं जो प्रान्त की शिक्षा-उन्नति में बाधक थीं। फलतः देशी भाषाओं में अच्छी पाठ्य-पुस्तकों के छापने की व्यवस्था की गयी। शिक्षकों की दीक्षा के लिए 6 शिक्षक मराठी, गुजराती, कन्नड़ तथा उर्दू में दीक्षित किये गये। कुछ अंग्रेजी स्कूलों के खोलने की भी समिति ने सिफारिश की। 'बम्बई शिक्षा समाज' ने समिति की सिफारिशों को मान लिया तथा सरकार से स्कूल खोलने के लिए सहायता की माँग की। एलफिन्स्टन ने अपना एक विवरणपत्र भी प्रस्तुत किया जिसके फलस्वरूप समाज को 600 रुपये मासिक की सहायता सरकार से प्राप्त हुई। इस सहायता के उपरान्त इसने बड़ी उन्नति की। सन् 1826 में समाज ने 24 दीक्षित अध्यापकों को अपने वर्नाक्यूलर स्कूलों में से सरकारी प्राइमरी स्कूलों में भेजा। लगभग दो लाख रुपये व्यय करके 'बम्बई शिक्षा समाज' ने लगभग 50 हजार पुस्तकें भी छापीं। अन्त में समाज ने कुछ अंग्रेजी स्कूल भी खोले तथा बम्बई में चिकित्सा तथा इंजीनियरी की कक्षाएँ भी प्रारम्भ कीं।

**मद्रास**—इस प्रान्त में शिक्षा को गैर-मिशनरी प्रोत्साहन बहुत कम मिला। मैसूर का राजा बंगलौर के अंग्रेजी स्कूल के लिए 350 रुपये वार्षिक सहायता देता था। 'मद्रास शिक्षालय समाज' को सरकार की ओर से 6,000 रुपये वार्षिक सहायता मिलती थी। पच्चयप्पा ने जो एक धनवान हिन्दू था, अपनी मृत्यु के उपरान्त चार लाख रुपये दान के लिए छोड़ा था, किन्तु इस धन का उपयोग 1842 में जाकर ही हो सका और गरीब विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी, तमिल तथा तेलगू के स्कूल खुल सके। बाद में इस धन-राशि में से कुछ छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान की गयीं।

**संयुक्त प्रान्त**—इसके अतिरिक्त संयुक्त प्रान्त और दिल्ली में भी व्यक्तिगत दानियों ने शिक्षा के हेतु को आगे बढ़ाया। सन् 1818 में बनारस में श्री जयनारायण घोषाल ने जयनारायण स्कूल के लिए 20 हजार रुपये दान दिये। यह अंग्रेजी स्कूल था जिसमें फारसी, बंगला तथा हिन्दुस्तानी भी पढ़ायी जाती थी। सरकार की ओर से भी इस स्कूल को 3 हजार रुपये का वार्षिक अनुदान प्राप्त हुआ। सन् 1825 में जयनारायण घोषाल के सुपुत्र ने 20 हजार रुपये और दान देकर इस स्कूल को सहयोग दिया। सन् 1824 में आगरा के सस्कृत कॉलेज को आगरा कॉलेज के नाम से संगठित किया गया। इसका श्रेय गंगाधर शास्त्री को है। उन्होंने अपनी डेढ़ लाख की सम्पत्ति जिसकी वार्षिक आय 20 हजार रुपये थी, कॉलेज को दान दे दी। आगरा कॉलेज उत्तरी भारत की सबसे पुरानी शिक्षा-संस्थाओं में से है तथा सर तेजबहादुर सप्रू और मोतीलाल नेहरू जैसे उच्च कोटि के विद्वान व नेता उत्पन्न करने का श्रेय इसे उपलब्ध है। दिल्ली में प्रारम्भिक शिक्षा को प्रोत्साहन व्यक्तिगत रूप से दिया गया। इनमें डब्ल्यू० फ्रेजर के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। 1829 में नवाब इस्लामउद्दीन ने दिल्ली कॉलेज के लिए 1 लाख 70 हजार रुपये का दान देकर उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन दिया।

**पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली की प्रगति**

बंगाल, मद्रास तथा बम्बई प्रान्तों में सन् 1823 के उपरान्त शिक्षा ने अच्छी

प्रगति की। बंगाल में हिन्दू कॉलेज अंग्रेजी के लिए आन्दोलन कर रहा था। परिणामतः देश में अंग्रेजी के बहुत स्कूल खुले। डॉ० डफ के द्वारा चलाया हुआ पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता प्रचार-आन्दोलन भी अपना प्रभाव उत्पन्न कर रहा था। अंग्रेजी का राजनीतिक व आर्थिक महत्त्व बढ़ता ही जा रहा था, फलतः उच्च व मध्य वर्गों द्वारा इसकी माँग बढ़ी। प्राचीन रूढ़ियाँ व परम्पराएँ टूटने लगीं और लोगों के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। अंग्रेजी पढ़े हुए भारतीय अपनी सभ्यता से घृणा करने लगे और अपने ही देश में स्वयं को एक विचित्र जीव समझने लगे। 'उन्होंने हिन्दू धर्म का पूर्णतः परित्याग कर दिया।' ये लोग अधिकांश में हिन्दू कॉलेज के विद्यार्थी थे। उधर छापेखाने ने भी शिक्षा-क्षेत्र में क्रान्ति कर दी। प्राचीन अलभ्य ग्रन्थ अब जनसाधारण के लिए सुलभ हो गये। एक विशाल स्तर पर पाश्चात्य साहित्य का सृजन हुआ जिसने दीर्घकाल से चली आने वाली जीवन की शुष्कता को नष्ट करके जीवन को नवीन समीरण के झकोरों से हरा-भरा करके स्फुरित कर दिया। इसके अतिरिक्त एक दल सुधारकों तथा दूसरा रूढ़िवादियों का भी था। सुधारकों ने पाश्चात्य तथा प्राच्य शिक्षा के मध्यम मार्ग को अपनाया।

बंगाल की भाँति बम्बई तथा मद्रास में भी सन् 1823 के उपरान्त शिक्षा ने प्रगति की। बम्बई में एलफिन्स्टन जैसे योग्य तथा सात्विक परोपकारी शासकों के संरक्षण में देशी भाषा व ज्ञान और अंग्रेजी तथा पाश्चात्य विज्ञानों दोनों की ही आशाजनक उन्नति हुई। बम्बई निवासियों ने एलफिन्स्टन की स्मृति अमर करने के लिए दो लाख रुपया इकट्ठा करके उसके नाम से स्कूल की स्थापना की। कम्पनी के संचालकों ने भी दो लाख रुपये दान दिया और 1834 में 'एलफिन्स्टन इन्स्टीट्यूट' की स्थापना की गयी। मद्रास में भी अंग्रेजी का प्रचार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। उधर 'लोक शिक्षा समिति' भी अपनी शिक्षा-योजनाओं को कार्यान्वित कर रही थी। कम्पनी के संचालक भी अब राजनीतिक उद्देश्यों से प्रभावित होकर शिक्षा का उद्देश्य 'राजकार्यों के लिए योग्य व्यक्ति उत्पन्न करना' बताने लगे। फलतः अंग्रेजी का प्रचार और भी अधिक बढ़ा। विलियम बैण्टिक के गवर्नर जनरल नियुक्त हो जाने पर भारत की शिक्षा-नीति जो अब तक अनिश्चित थी, स्थिर होने लगी। उसने 26 जून, 1829 के पत्र में, जो उसने 'लोक शिक्षा समिति' के नाम लिखा था, स्पष्ट कर दिया कि उसका विचार अंग्रेजी को क्रमशः तथा अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण देश में व्यावहारिक राजभाषा बनाने का है। ऐसा ही हुआ जिसका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

**सन् 1833 का आज्ञापत्र**

बीस वर्ष के उपरान्त कम्पनी ने सन् 1833 में अपना आज्ञापत्र जारी किया। इसके अनुसार भारत में सभी देशों की मिशनरियों को अपने कार्य चलाने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिल गयी। दूसरे, आज्ञापत्र ने यह सिद्धान्त भी घोषित कर दिया कि "कोई भी भारतवासी तथा सम्राट का कोई भी स्वाभाविक प्रजाजन अपने धर्म, जन्म-स्थान, वंश तथा वर्ण के आधार पर किसी भी स्थान तथा पद को प्राप्त करने से रोका

न जाय।" इससे अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार सभी वर्गों में अबाध गति से बढ़ने लगा। इस पत्र के द्वारा बंगाल के गवर्नर का अधिकार अन्य प्रान्तों की सरकारों पर भी कर दिया गया, जिसके द्वारा उसे अपनी नीतियों को लागू करने का अधिकार भारत के अन्य भागों पर भी मिल गया। शिक्षा-अनुदान 10,000 पौंड से बढ़ाकर एक लाख पौंड कर दिया गया, जिससे शिक्षा के विकास की आशा बँध गयी। अन्त में इस आज्ञापत्र के द्वारा गवर्नर जनरल की काउन्सिल में एक चौथा सदस्य (कानून सदस्य) भी बढ़ा दिया गया। इस पद पर सर्वप्रथम लॉर्ड मैकॉले की नियुक्ति हुई, जिसने भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया।

## सारांश

**सन् 1813 के आज्ञापत्र के उपरान्त शिक्षा के उद्देश्य, माध्यम तथा साधनों के प्रश्न को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। आज्ञापत्र में वर्णित धन-राशि का उद्देश्य इतना अनिश्चित व अस्पष्ट था कि उसके निराकरण में विवाद उठ खड़ा होना स्वाभाविक था। विवाद के मूल विषय थे कि शिक्षा थोड़े-से उच्च वर्ग के लोगों को दी जाय अथवा जनसाधारण को; दूसरे, शिक्षा का माध्यम प्राच्य भाषाएँ, संस्कृत, अरबी तथा फारसी रखा जाय अथवा देशीय प्रान्तीय भाषाएँ अथवा अंग्रेजी; तीसरे, शिक्षा सरकार का उत्तरदायित्व है अथवा वैयक्तिक प्रयास पर छोड़ दिया जाय।**

**प्राच्य भाषाओं को माध्यम बनाने वालों का जोर बंगाल में था। इनमें कम्पनी के पुराने कर्मचारी सम्मिलित थे। प्रान्तीय भाषाओं को माध्यम बनाने का समर्थन मद्रास में मुनरो तथा बम्बई में एलफिन्स्टन ने किया। अंग्रेजी को माध्यम बनाने के पक्ष में कम्पनी के नवयुवक अधिकारी, कुछ ईसाई पादरी तथा बंगाल में राजा राममोहन राय जैसे सुधारक थे। इनका भी प्रमुख क्षेत्र बंगाल था, यद्यपि ये सभी प्रान्तों में थे।**

**कम्पनी के पुराने कर्मचारी यहाँ की जनता को अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे, अतः उन्होंने प्राच्य भाषाओं का समर्थन किया और साथ ही नये कर्मचारी भारत में एक ऐसा वर्ग पैदा करना चाहते थे जो केवल रंग-रूप में तो भारतीय हों, किन्तु अपने विचारों व मान्यताओं में अंग्रेज हों। दोनों के उद्देश्य राजनीतिक थे।**

**सन् 1813 से 1833 तक का युग भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक परीक्षण का युग है। अभी तक शिक्षा का कोई अन्तिम स्वरूप स्थिर नहीं हो सका था। इस युग में राजकीय प्रयत्न शिक्षा-प्रचार के लिए बंगाल, मद्रास तथा बम्बई प्रान्तों में किये अवश्य गये किन्तु वे अत्यन्त अल्प थे। उनकी नीति का मूल उद्देश्य शिक्षा-प्रसार न होकर राजनीति था। किन्तु इसके प्रतिकूल मिशनरी तथा गैर-मिशनरी संस्थाओं एवं व्यक्तियों द्वारा इस दौरान सराहनीय प्रयत्न किये गये।**

**ईसाई धर्म-प्रचारकों के लिए भी शिक्षा उनके धर्म-प्रचार का साधन-मात्र थी। सन् 1853 के उपरान्त उन्हें भारत में धर्म-प्रचार की स्वच्छन्द छूट तो मिल ही गयी थी। उन्होंने भारत में पिछड़ी जातियों तथा पिछड़े वर्गों में धर्म-परिवर्तन का कार्य**

किया और उन्हें स्थायी रूप से ईसाई बनाये रखने के उद्देश्य से उनके लिए पाश्चात्य शिक्षा की व्यवस्था की ।

गैर-मिशनरी प्रयासों में ब्रह्म समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय एवं अन्य उत्साही लोग, जैसे डेविड हेयर, राधाकान्त देव, एडवर्ड हाइड ईस्ट आदि महानुभावों ने पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार का काम विशेषतः बंगाल में किया । उन्होंने सन् 1817 में कलकत्ता में हिन्दू कॉलेज की स्थापना की । पुस्तकालय खोले गये । बम्बई में 'बम्बई शिक्षा समाज' ने अच्छा कार्य किया । यहाँ प्रान्तीय भाषा को माध्यम के रूप में अधिक महत्त्व दिया गया । इसी प्रकार के प्रयत्न मद्रास तथा आगरा प्रान्त में भारतीय शिक्षा-प्रेमियों ने किये ।

सन् 1833 के आज्ञापत्र ने शिक्षा को और भी प्रोत्साहन दिया ।

इसके अनुसार धन-राशि बढ़ा दी गयी, धर्म-प्रचारकों को खुली छूट दे दी गयी तथा गवर्नर जनरल की काउन्सिल में चौथा सदस्य 'कानून सदस्य' के नाम से और बढ़ा दिया गया । इस पद पर सबसे प्रथम लार्ड मैकॉले की नियुक्ति हुई जिसने आगे चलकर अंग्रेजी को भारत में शिक्षा के माध्यम के रूप में जबरन थोप दिया ।

# 9

# प्राच्य-पाश्चात्य शिक्षा-विवाद तथा शिक्षा का आंग्लीकरण

(सन् 1835 से 1853 तक)

**प्राच्य-पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक**

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही एक संघर्ष चला आ रहा था कि भारत में संस्कृत, अरबी तथा फारसी के माध्यम के द्वारा प्राच्य ज्ञान का प्रचार किया जाय अथवा अंग्रेजी भाषा द्वारा पाश्चात्य साहित्य व विज्ञानों का। 'लोक शिक्षा समिति' में पहले से ही प्राच्य शिक्षा के समर्थकों का बहुमत था। इनके नेता श्री एच० टी० प्रिंसेप थे जो बंगाल प्रान्त में शिक्षा-विभाग के सचिव थे। मिण्टो तथा विल्सन उनके अन्य साथी थे। प्राच्य मत के समर्थकों ने 1813 के आज्ञापत्र की 43वीं धारा की, जिसके अनुसार "एक लाख रुपया साहित्य के विकास तथा विद्वान भारतवासियों के प्रोत्साहन के लिए और ब्रिटिश भारत के निवासियों में विज्ञानों के प्रचार तथा प्रसार के लिए" पृथक् रख दिया था, व्याख्या इस प्रकार की—"वह साहित्य जिसके विकास का उल्लेख किया गया है उसका अर्थ दो महान् जातियों—हिन्दू-मुसलमानों—के साहित्य से है।" विज्ञानों के प्रचार व प्रसार के विषय में भी इन लोगों का मत था कि वे संस्कृत और अरबी व फारसी में पढ़ाये जाने चाहिए। उनकी राय में भारतवासियों में पाश्चात्य विज्ञानों के प्रति पर्याप्त घृणा थी, अतः वे अपने देश की प्राचीन भाषाओं में ही स्वीकार किये जा सकते थे। इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए प्राच्य शिक्षा के स्कूलों के द्वारा वे संस्कृत और फारसी के ज्ञान तथा संस्कृति को जीवित रखना चाहते थे। अतः उन्होंने इनके प्रोत्साहन के लिए छात्रवृत्तियाँ दीं; संस्कृत, अरबी, फारसी के अनेक ग्रन्थ छापे तथा अंग्रेजी विज्ञानों और साहित्य ग्रन्थों के अनुवाद प्राच्य भाषाओं में किये। अंग्रेजी को वे शिक्षा का माध्यम रखने को तैयार नहीं थे। प्राच्य ज्ञान के प्रचलित

"...........The revival and improvement of literature and the encouragement of the learned natives of India, and for the introduction and promotion of a knowledge of the sciences among the inhabitants of the British territories in India.—*Charter Act*, 1813.

स्कूलों, जैसे कलकत्ता, मद्रास तथा बनारस संस्कृत कॉलेज जैसी संस्थाओं की भी सुरक्षा चाहते थे। प्रिंसेप के मत में कलकत्ता मदरसा वारेन हेस्टिंग्स का स्मारक था और इसका तोड़ना विश्वासघात के समान था; तथा यही एक ऐसी संस्था थी जिसके द्वारा बंगाल के मुसलमानों से सम्पर्क बना हुआ था। प्रिंसेप ने तर्क भी दिया कि भारतीय कभी भी अंग्रेजी भाषा के विद्वान नहीं हो सकते। यद्यपि उसका यह कथन असत्य था क्योंकि भारतीय दिन-प्रतिदिन इस बात का प्रमाण देते जा रहे थे कि वे अंग्रेजी के प्रकाण्ड पण्डित हो सकते हैं। इस प्रकार के कुछ तर्कों के द्वारा इन लोगों ने भारत में शिक्षा का माध्यम संस्कृत, अरबी तथा फारसी रखने की सिफारिश की तथा प्राच्य संस्कृति की सुरक्षा के लिए प्रयत्न किये।

**पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक**

पाश्चात्य शिक्षा के समर्थकों का कहना था कि प्राच्य शिक्षा-पद्धति ढीली व हानिप्रद है। वे नहीं चाहते थे कि भारत के पुराने ठूँठ पर यूरोप की नयी कोंपलों की कलम लगायी जाय। अतः उन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम के द्वारा पाश्चात्य विज्ञानों और साहित्य का भारतवासियों में प्रसार करने का समर्थन किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारतीय यूरोपीय ज्ञान को सम्पादित करना चाहते हैं तथा अंग्रेजी के लिए भी उनमें बड़ी माँग है। अतः वे चाहते थे कि शिक्षा के लिए संकलित सम्पूर्ण धन-राशि पाश्चात्य शिक्षा पर ही व्यय की जाय।

इस प्रकार प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों मतों के समर्थक इस बात पर एकमत थे कि देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम न बनाया जाय, क्योंकि उसके मतानुसार वे बड़ी 'अविकसित तथा गँवारू' थीं और उनमें 'उदार शिक्षा के लिए न तो पर्याप्त साहित्यिक और न वैज्ञानिक ज्ञान' ही था। वे इस बात पर भी एकमत थे कि केवल उच्च और मध्यम वर्ग को ही शिक्षित किया जाय, क्योंकि जनसाधारण को शिक्षित करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त धन नहीं है; साथ ही उच्च वर्ग के शिक्षित होने से उनके सम्पर्क से जनता के निम्न वर्गों में भी शिक्षा छन-छनकर पहुँच जायगी।

**मैकॉले का विवरणपत्र तथा उसके परिणाम**

इसी समय जबकि उपर्युक्त विवाद जोरों पर था, 10 जून, 1834 को लॉर्ड मैकॉले गवर्नर जनरल की काउन्सिल का कानून-सदस्य बनकर आया। वह बड़ा विद्वान, सफल लेखक तथा धारावाहिक व्याख्यानदाता था। मैकॉले को 'लोक शिक्षा समिति' का प्रधान भी नियुक्त कर दिया गया। उसकी नियुक्ति के समय से ही भारतीय शिक्षा-इतिहास में एक नया अध्याय खुलता है। मैकॉले इंगलैण्ड में उस युग की उपज था जबकि अंग्रेजों के साहस बढ़े हुए थे। वे संसार की सांस्कृतिक और राजनीतिक विजय करने निकल पड़े थे तथा अपनी भाषा और संस्कृति को संसार में सर्वोत्तम समझते थे। मैकॉले इन्हीं संस्कारों को लेकर भारत उतरा था।

कानून-सदस्य की हैसियत से सरकार ने उससे यह कानूनी सलाह माँगी थी कि क्या एक लाख रुपये की धन-राशि प्राच्य शिक्षाओं के अतिरिक्त और किसी प्रकार भी

खर्च की जा सकती है ? 1813 के आज्ञापत्र की शिक्षा सम्बन्धी धारा की वास्तविक व्याख्या क्या है ? मैकॉले से निश्चय ही सम्पूर्ण देश के लिए कोई शिक्षा-नीति नहीं पूछी गयी थी। उसने शिक्षा समिति की बैठकों में भी भाग नहीं लिया था। किन्तु 2 फरवरी, 1835 को उसने कौंसिल के समक्ष अपना प्रसिद्ध विवरणपत्र रखा। उसके तर्कों के प्रमुख अंशों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं :

"लोक शिक्षा समिति के कुछ सदस्यों का मत है कि उनकी शिक्षा-नीति अब तक 1813 के आज्ञापत्र द्वारा निर्धारित हुई है।......मेरी राय में संसद के कानून का वह अर्थ नहीं लगाया जा सकता जो लगाया गया है। उसमें विशेष भाषाओं तथा विज्ञानों का नाम नहीं है। शिक्षा-अनुदान भी "साहित्य के पुनरुद्धार तथा उन्नति और भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन तथा भारतीयों में विज्ञान का प्रचार व प्रसार" करने के लिए है। तर्क दिया जाता है कि 'साहित्य' से संसद का अभिप्राय 'संस्कृत तथा अरबी साहित्य' से ही हो सकता है तथा भारतीय विद्वान से उनका अभिप्राय न्यूटन के भौतिकशास्त्र तथा मिल्टन के काव्य के ज्ञाताओं से नहीं हो सकता।......"

इस प्रकार मैकॉले ने 'साहित्य के पुनरुद्धार' तथा भारतीय विद्वान' शब्दों की उससे भिन्न व्याख्या की जो प्राच्य शिक्षा-समर्थक अब तक करते चले आ रहे थे। उसने यह भी धमकी दी कि यदि उसकी ये व्याख्याएँ स्वीकार नहीं की गयीं तो वह 1813 के एक्ट की 43वीं धारा में ही संशोधन कराने का प्रस्ताव रखेगा।

संस्कृत, अरबी तथा फारसी शिक्षालयों पर होने वाले व्यय को वह एक निरर्थक दुरुपयोग समझता था। उसके अनुसार कोई भी ऐसा तर्क नहीं दिया जा सकता था जिसके अनुसार एक बार स्थापित हुए इन शिक्षालयों को सरकार न तोड़ सके, विशेषत: जबकि वे हानिप्रद हों। उसने कलकत्ता मदरसा की हिन्दू कॉलेज से तुलना करके दर्शाया कि कलकत्ता मदरसा इतना लाभप्रद नहीं है। "अरबी तथा संस्कृत पुस्तकों पर तीन वर्ष में 60 हजार रुपये व्यय हुए और एक हजार भी वसूल न हो सका। इसके विपरीत, 'कलकत्ता पुस्तक समाज' ने सात-आठ हजार पुस्तकें बेचकर 20 प्रतिशत लाभ उठाया है।" उसने यह भी कहा कि इन अरबी और संस्कृत शिक्षालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी बिना आर्थिक सहायता दिये हुए नहीं पढ़ सकते, जबकि अंग्रेजी स्कूलों में विद्यार्थी उल्टी फीस देने को तैयार है। ऐसी अवस्था में प्राच्य शिक्षालयों को बन्द कर देना चाहिए। उसने कहा, "मेरे मत में वाइसराय को इस रुपये को अरबी और संस्कृत शिक्षा पर व्यय होने से रोकने का उतना ही अधिकार है जितना मैसूर में चीते मारने वालों के पारितोषिक को कम करने का।"[2]

*Cf.* "The grants which are made from the public purse for the encouragement of literature differ in no respect from the grants which are made from the same purse for other objects of real or supposed utility. We found a sanitorium on a spot which we suppose to be healthy. Do we thereby pledge ourselves to keep sanitorium there if the result should not answer our expectations?

इसके उपरान्त मैकॉले शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को लेता है। उसने वस्तुत: अंग्रेजी को ही शिक्षा-माध्यम के लिए सबसे उपयुक्त चुना। देशी भाषाओं के विषय में तो उसने कहा है कि "भारतवासियों में प्रचलित भाषाओं में एक तो साहित्यिक और वैज्ञानिक ज्ञान-कोष का अभाव है, साथ ही वे इतनी अविकसित तथा गँवारू हैं कि जब तक उन्हें किसी बाह्य भण्डार से सम्पन्न नहीं किया जायगा, उनमें कोई महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ अनुवादित नहीं हो सकते। अत: यह सर्वमान्य प्रतीत होता है कि उच्चस्तर की शिक्षा द्वारा उस वर्ग का बौद्धिक सुधार जिनके पास इसके लिए साधन हैं, किसी ऐसी भाषा में ही सम्भव है जो उनके बोलचाल की भाषा नहीं है।······समिति का एक भाग चाहता है कि यह भाषा अंग्रेजी हो तथा दूसरा संस्कृत और अरबी की वकालत करता है। मेरी समझ में प्रश्न यह है कि कौनसी भाषा अधिक सीखने योग्य है?"

इस प्रकार देशी भाषाओं के माध्यम का प्रश्न समाप्त करके उसने अंग्रेजी और संस्कृत इत्यादि में ही विकल्प रखा। मैकॉले अरबी तथा संस्कृत नहीं जानता था, तथापि अज्ञान, दम्भ और साहसपूर्वक उसने कहा कि "एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की एक अलमारी भारत तथा अरब के सम्पूर्ण साहित्य के बराबर होगी।" सम्भवत: इससे बड़ा अज्ञानपूर्ण दम्भ नहीं हो सकता। इन भावनाओं के जोश में उसने अंग्रेजी माध्यम के लिए जोरदार अपील की—"भारत में अंग्रेजी शासकों की भाषा है तथा राजधानियों में उच्च वर्ग के भारतीय भी इसे बोलते हैं। साथ ही सम्भावना है कि पूर्वी समुद्रों में यह व्यापार की भाषा भी बन जाय। आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में उन्नतिशील यूरोपीयों की भी भाषा यही है, जिनका सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन भारत से बढ़ रहा है। अत: चाहे हम भाषा के महत्त्व पर विचार करें अथवा देश की स्थिति पर, अंग्रेजी ही भारतीयों के लिए सबसे हितकर होगी।"

भारतीय विज्ञानों तथा साहित्य का परिहास करते हुए मैकॉले ने आगे चलकर कहा है—

"अब हमारे सम्मुख प्रश्न केवल यह है कि जब हम इस भाषा (अंग्रेजी) को

---

We commence the erection of a pier. Is it a violation of the public faith to stop the work if we afterwards see reason to believe that the building will be useless?" —*Macaulay's Minute*

3 The claims of our own language it is hardly necessary to recapitulate. It stands pre-eminent even among the languages of the West.........Whoever knows has ready access to all the vast intellectual wealth which all the wisest nations of the earth have created and hoarded in the course of ninety generations. It may safely be said that the literature now extant in that language is of greater value than all the literature which three hundred years ago was extant in all the languages of the world together.........In India English is the language spoken by the ruling class. It is spoken by the higher class of natives at the seat of Government. It is likely to become the language of commerce throughout the seas of the East." —*Macaulay's Minute*

पढ़ा सकते हैं तो क्या हम उन भाषाओं को पढ़ायेंगे जिनमें सर्वसम्मति से किसी विषय पर भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसकी तुलना हमारे ग्रन्थों से हो सके ? जब हम यूरोपीय विज्ञान पढ़ा सकते हैं तो क्या हम ऐसे विज्ञान पढ़ायेंगे जो खराब हैं; जब हम सच्चा इतिहास तथा दर्शन पढ़ा सकते हैं तो क्या सरकारी रुपये से ऐसे चिकित्सा-सिद्धान्त पढ़ायेंगे जिन पर अंग्रेजों के पशु-चिकित्सकों तक को लज्जा आयेगी अथवा वह ज्योतिष जिस पर स्कूलों की अंग्रेज बालिकाएँ हँस पड़ेंगी; इतिहास जिसमें 30 फुट लम्बे राजा का वर्णन है जिनके राज्य 30 हजार वर्ष तक चलते थे; और ऐसा भूगोल पढ़ायेंगे जिसमें शीरे और मक्खन के समुद्रों (क्षीर सागर) का वर्णन है ?"

मैकॉले तो संस्कृत और अरबी को कानून के लिए भी अध्ययन करने के पक्ष में नहीं था । उसने सुझाव रखा था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए संहिता (कोड) बन जाने चाहिए जिनमें उनके धर्म-सिद्धान्त निहित हों । धर्म के विषय में मैकॉले कठोर धार्मिक निरपेक्षता का पक्षपाती था और भारतीयों के धर्म में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था । उसकी राय में यदि संस्कृत व अरबी के द्वारा शिक्षण दिया गया तो "हमें झूठा इतिहास, झूठी ज्योतिष तथा झूठा चिकित्साशास्त्र इसलिए पढ़ाने पड़ेंगे क्योंकि उनका सम्मिश्रण एक झूठे धर्म से हो रहा है । हम धर्म के विषय में तटस्थ हैं और मुझे विश्वास है कि सदा तटस्थ रहेंगे, और धर्म-परिवर्तन करने वाले ईसाइयों को कभी खुले रूप में प्रोत्साहन नहीं देंगे । जब हमारा व्यवहार इस प्रकार का होगा तो क्या हम राज्य-कोष में से लोगों को रिश्वत देकर इस बात के सीखने में उनकी युवावस्था नष्ट हो जाने देंगे कि गधे से छू जाने पर किस तरह शरीर पवित्र करना चाहिए अथवा बकरी के मारने पर पाप-प्रक्षालन के लिए कौनसे वेद-श्लोकों का जाप करना चाहिए ?"

इस प्रकार मैकॉले ने भारतीय शिक्षा के विषय में अपने उद्‌गार प्रकट किये। मैकॉले का विवरणपत्र प्रिंसेप के पास उसके मत के लिए भेजा गया । उसने मैकॉले के तर्कों को काटने का प्रयास किया और संस्कृत व अरबी के माध्यम तथा प्राच्य शिक्षा के विद्यालयों, विशेषत: कलकत्ता मदरसा बने रहने के लिए तर्क दिये । प्रिंसेप के कुछ तर्क वास्तव में उच्च कोटि के थे, किन्तु जब उसने भी अपना विवरणपत्र प्रस्तुत किया तो उसके तर्क बैण्टिक को प्रभावित न कर सके । बैण्टिक वास्तव में एक प्रगतिशील सुधारक था । वह दृढ़तापूर्वक भारत में कुछ सुधार करना चाहता था । उसकी राय में अंग्रेजी भाषा द्वारा शिक्षण भी एक महत्त्वपूर्ण सुधार था, जिसके पक्ष में वह प्रारम्भ से ही था । 7 मार्च, 1835 को बैण्टिक ने एक प्रस्ताव पास करके निम्न आज्ञा दी ।

**बैण्टिक की स्वीकृति**

(1) ब्रिटिश सरकार का महान् उद्देश्य यूरोपीय साहित्य तथा विज्ञानों का भारत में प्रचार करना है । अत: सारा रुपया केवल अंग्रेजी शिक्षा में व्यय किया जाय ।

(2) प्राच्य शिक्षालयों को भंग न किया जाय । उनके आचार्यों तथा विद्यार्थियों को पूर्ववत् वेतन तथा छात्रवृत्तियाँ दी जायँ ।

(3) भविष्य में प्राच्य भाषाओं पर पुस्तकें न छापी जायँ, क्योंकि इनमें पर्याप्त धन व्यय किया जा चुका है ।

(4) इस उपाय से बचने वाली सम्पूर्ण धन-राशि को अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा अंग्रेजी साहित्य तथा विज्ञान का भारतीयों में प्रचार करने में व्यय किया जाय ।

इस प्रकार लॉर्ड बैण्टिक की इस घोषणा ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नीति को स्थायी रूप दे दिया । भारत सरकार की ओर से यह लगभग प्रथम शिक्षा-घोषणा थी जिसके अनुसार शिक्षा के उद्देश्य, साधन तथा माध्यम इत्यादि को स्थिर कर दिया गया । यद्यपि उसने अंग्रेजी को माध्यम बनाया, प्राच्य भाषाओं में पुस्तकें छपना भी बन्द करा दिया, किन्तु संस्कृत और अरबी के प्रचलित शिक्षालयों को भंग नहीं किया और न उनकी आर्थिक वृत्तियों को ही समाप्त किया । वास्तव में बैण्टिक पहले से ही अंग्रेजी का पक्षपाती था । मैकॉले के तर्कों से उसे अधिकृत रूप से शीघ्र निर्णय करने की प्रेरणा मिल गयी । इसके अतिरिक्त भारत में सती-प्रथा को बन्द कराने में उसका शिक्षित भारतीयों ने साथ दिया ही था । उसका विश्वास था कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से देश में सामाजिक जागृति होगी और इस प्रकार बहुत-सी सामाजिक कुरीतियों का अन्त हो जायगा । अत: अब भारतीय शिक्षित समाज से समर्थन मिलने की आशा से उसने अंग्रेजी के विषय में निर्णय शीघ्र दे डाला ।

**आलोचना**

मैकॉले के विवरण के आधार पर भारत में स्थायी रूप से एक शिक्षा-नीति निर्धारित हो गयी । अत: भारतीय शिक्षा के इतिहास में उस विवरणपत्र का बड़ा महत्त्व है । यहाँ उसकी संक्षिप्त आलोचना देना असंगत न होगा ।

वास्तव में मैकॉले के विषय में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं । कुछ लोगों का कथन है कि भारतीय शिक्षा का यह अग्रदूत था, तो कुछ उसे भारत की गुलामी के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं । किन्तु यह दोनों ही मत पक्षपातपूर्ण हैं । वह भारत में आधुनिक शिक्षा का अग्रदूत नहीं कहा जा सकता । उसके सन् 1834 में आने से पूर्व ही यहाँ शिक्षा-जगत में पर्याप्त जागृति हो चुकी थी । ईसाई धर्म-प्रचारकों के कार्यों से यहाँ की शिक्षा पाश्चात्य साँचे में ढलना प्रारम्भ हो गयी थी । अत: अंग्रेजी शिक्षा की बड़ी माँग थी । लोक शिक्षा-समिति में अंग्रेजी दल पहले से ही विद्यमान था । हाँ, इतना अवश्य है कि मैकॉले के तर्कों ने सरकार को एक नीति शीघ्र घोषित करने की स्थिति में लाकर रख दिया ।

साथ ही मैकॉले पर भारत के साथ कुछ अन्य बुराई करने का आरोप लगाना भी सत्य नहीं है । कुछ लोगों का कथन है कि उसने देशी भाषाओं की अवहेलना की । इस विषय में इतना कहा जा सकता है कि उसने देशी भाषाओं को 'अविकसित, अपर्याप्त तथा गँवारू' अवश्य बताया, किन्तु उनके विकास के मार्ग में रोड़े कभी नहीं अटकाये । 'लोक शिक्षा स मति' ने, जिसका मैकॉले सभापति था, अपनी रिपोर्ट में

कहा है कि "देशी भाषाओं के प्रोत्साहन तथा विकास में हमें अत्यन्त रुचि है । हम नहीं समझते कि 7 मार्च की आज्ञा हमें ऐसा करने से रोकती है और हमने निरन्तर रूप में इसके निर्माण की ओर कदम उठाया है ·······देशी भाषाओं के साहित्य का विकास हमारा अन्तिम उद्देश्य है जिसकी ओर हमारे सम्पूर्ण प्रयास जुट जाने चाहिए ।"[1]

ऐसी अवस्था में मैकॉले पर देशी भाषाओं के साथ विश्वासघात करने का दोष नहीं लगाया जा सकता । वास्तव में जो सब से गम्भीर दोष मैकॉले पर लगाया जा सकता है, वह है प्राच्य संस्कृति तथा धर्मों का अपमान । उसने भारतीय धर्म, ज्ञान, दर्शन तथा साहित्य का परिहास किया । वह स्वयं उनके विषय में अज्ञान में था । वह इंगलैण्ड से अपनी एक विशिष्ट विचारधारा तथा भारतीय सभ्यता के विषय में अपने कुछ पूर्व-निश्चित विचार लेकर उतरा था । अतः बिना अध्ययन के उसने समस्त भारतीय तथा अरबी साहित्य को यूरोप के पुस्तकालय की एक अलमारी के बराबर बता दिया था । सम्भवतः वेद, उपनिषदों और संस्कृत भाषा के अगाध साहित्य की, जिसकी विद्वान विदेशियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, मैकॉले को हवा तक भी नहीं लगी थी । वह प्राच्य संस्कृति जिसका सृजन भारत में उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था जबकि सम्भवतः मैकॉले के पूर्वज वनों में जंगली हिंसक पशुओं की भाँति जीवन बिताते अथवा भेड़ें चराते थे, उसे अन्धकार तथा अन्धविश्वासों से पूर्ण लगी । भारतीय दर्शन, ज्योतिष तथा चिकित्साशास्त्र जो अपनी उच्चता के लिए एक समय आधे भूमण्डल में विख्यात थे, मैकॉले को ऐसा लगा कि उनके विषय में सुनकर अंग्रेजों की लड़कियाँ तक हँसेंगी ।

वास्तव में मैकॉले भूल गया था कि उस समय भी भारत में जहाँ अंग्रेजी शिक्षा की माँग थी, प्राच्य भाषाओं के पढ़ने की भी आवश्यकता थी । प्राच्य-पाश्चात्य सभ्यता के सम्मिश्रण का वह एक महान् अवसर था जो एक विदेशी शासक के अहंकार एवं दम्भ तथा अपनी स्वयं की सभ्यता के विषय में अधिक आशावादी होने के कारण एक दीर्घकाल के लिए नष्ट हो गया। वह तो भारत में एक ऐसी जाति उत्पन्न करना चाहता था जो "रंग-रूप में तो भारतीय हो किन्तु वेशभूषा, बातचीत, चिन्तन तथा विचारों में अंग्रेज हो ।" वह भारत पर बलात् पाश्चात्य सभ्यता भी थोपना चाहता था । सम्भवतः मैकॉले यह भी भूल गया था कि भारतीय संस्कृति की जड़ें लोगों की आत्मा में इतनी गहरी पहुँच चुकी हैं कि उन्हें उखाड़कर फेंकना असम्भव है । मैकॉले पर भारत में शिक्षित लोगों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करने का पूर्ण उत्तरदायित्व है जो पाश्चात्य शिक्षा में पलकर अपने देश की जनता से बिलकुल अलग हो गया और जिसने अंग्रेजों के साथ मिलकर भारतीय जनता का सदा शोषण किया । उसका भारतवासियों को अंग्रेज बनाने का स्वप्न भी अधूरा रह गया । सम्भवतः वह इतिहास के इस महान् सत्य के विषय में पूर्णतः अनभिज्ञ था कि इसी प्रकार भारत में अनेक जातियाँ आयीं

Trevelyan, C. E. : *On the Education of the People of India*, (1838),

और उनकी क्षीण धारा यहाँ की सभ्यता के महासागर में सदा के लिए विलीन होकर रह गयी। उसके हौसले तो यहाँ तक थे कि भारत की धार्मिक एकता नष्ट होकर खण्डित हो जाय। उसने सन् 1836 में एक पत्र में अपने पिता को लिखा था :

"हमारे अंग्रेजी स्कूल आश्चर्यजनक गति से बढ़ रहे हैं, यहाँ तक कि स्कूलों में सभी विद्यार्थियों को स्थान देना कठिन है।······हिन्दुओं पर इस शिक्षा का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कोई भी हिन्दू ऐसा नहीं है जिसने अंग्रेजी पढ़कर अपने धर्म में सच्चा लगाव रखा हो। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा की यह नीति सफल हो जाती है तो 20 वर्ष के भीतर बंगाल के भले घरानों में एक भी मूर्तिपूजक शेष नहीं रह जायगा। यह सब कुछ बिना धर्म-प्रचार के किंचित भी धार्मिक हस्तक्षेप के बिना केवल स्वाभाविक तौर से ज्ञान और विचारों के प्रचार से हो जायगा। मैं इसकी सम्भावना से प्रसन्न हूँ।"[5]

इस प्रकार धार्मिक तटस्थता का दम्भ करने वाला यह अंग्रेज अधिकारी अपने आन्तरिक जीवन में एक धर्म के विरुद्ध कलुषित व लज्जाजनक प्रचार कर रहा था।

इतना सब होते हुए भी मैकॉले ने भारत का कुछ अंशों में हित ही किया। उसने भारत में पाश्चात्य विचारों तथा विज्ञानों के फैलाने में सहायता की। जिन कारणों से भारत में राजनीतिक जागृति, वैज्ञानिक चेतना तथा आर्थिक विचारधाराएँ प्रस्फुटित हुईं, उनमें अंग्रेजी भाषा के प्रचार तथा मैकॉले को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। भारतवासियों ने अंग्रेजी पढ़ी और उससे प्रेरणा लेकर संघर्ष किया और उसमें सफलता मिली। किन्तु एक बात समझ में नहीं आती कि जब बाइबिल जैसी दुरूह पुस्तक का अनुवाद भारत की प्रायः सभी भाषाओं में हो सकता था तो फिर क्या यह आवश्यक था कि सरकार के द्वारा उनके विकास-कार्य को सच्चे रूप से अपने हाथ में लेने पर भी उनमें अच्छे साहित्य का सृजन नहीं हो पाता? क्या ऐसी स्थिति में भी उनका 'गँवारूपन' स्थिर रहता? वास्तव में देशी भाषाओं के प्रश्न को तो टाल ही दिया गया था। संघर्ष तो केवल एक ओर संस्कृत, अरबी और फारसी भाषाओं तथा दूसरी ओर अंग्रेजी भाषा में था। इसमें अंग्रेजी की विजय हुई और देशी भाषाओं के विकास के प्रश्न को कम से कम उस समय तो टाल ही दिया गया।

मैकॉले नहीं जानता था कि उसके विवरणपत्र का इतना महत्त्व बढ़ जायगा। किन्तु इतना अवश्य है कि कुछ अशोभनीय परिहासों के अतिरिक्त उसके कुछ संकल्प वास्तव में सचाईपूर्ण भी थे।

**लॉर्ड ऑकलैण्ड की शिक्षा-नीति**

लॉर्ड विलियम बैण्टिक के उपरान्त लार्ड ऑकलैण्ड भारत का गवर्नर जनरल हुआ। बैण्टिक के चले जाने पर प्राच्य शिक्षा के समर्थकों ने पुनः कुछ आपत्ति उठायी, किन्तु ऑकलैण्ड ने अपनी बुद्धिमानी से उन्हें सन्तुष्ट कर दिया। उसी समय ऐडम,

---

[5] Trevelyan : *Life and Letters of Lord Macaulay*, p. 455.

हौगमस तथा विल्किन्सन इत्यादि शिक्षाशास्त्रियों ने ऐसी भाषाओं के माध्यय का प्रश्न उठाया। वे लोग अंग्रेजी को पूर्णत: सारे देश में शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि इससे जनता तक शिक्षा पहुँचाना सम्भव नहीं था।

इन सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए ऑकलैण्ड ने 24 नवम्बर, 1839 को अपना विवरणपत्र जारी किया। प्राच्य और आंग्ल विवाद को अच्छी प्रकार जाँचने के उपरान्त वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि कुछ रुपया प्राच्य वादियों को व्यय करने के लिए अधिक दे दिया जाय तो वे शान्त हो जायेंगे। अत: उसने संस्कृत और अरबी के शिक्षालयों की आर्थिक सहायता को पूर्ववत् कर दिया और आदेश दिया कि यह रुपया पहले संस्कृत और अरबी के लिए व्यय किया जाय, बाद में यदि बचे तो, अंग्रेजी के लिए। उसने छात्रवृत्तियाँ भी पूर्ववत् रखीं तथा आवश्यक प्राच्य पुस्तकों के भी छपने की आज्ञा दे दी। इस योजना में 31,000 रुपये वार्षिक का खर्च था, जिसे देकर उसने एक झगड़ा समाप्त कर दिया।

ऑकलैण्ड भी शिक्षा छनाई के सिद्धान्त का मानने वाला था। उसने इस सिद्धान्त को सरकारी नीति घोषित कर दिया। यह नीति सन् 1870 तक चलती रही। दूसरी माँग अंग्रेजी के समर्थकों की थी। उसको भी ऑकलैण्ड ने पूरा किया। उसने एक लाख से भी अधिक रुपया अंग्रेजी शिक्षा के लिए स्वीकृत कर दिया और अंग्रेजी भाषा के द्वारा यूरोपीय साहित्य, दर्शन तथा विज्ञानों के प्रचार की व्यवस्था कर दी। उसने यह भी कहा कि सरकार के प्रयत्न केवल उच्च वर्ग के लोगों को सर्वोत्तम शिक्षा देने के ही होने चाहिए। इसी जोश में आकर उसने जनसाधारण में शिक्षा-प्रसार के लिए ऐडम के सुझाव यह कहकर रद्द कर दिये कि अभी इनके लिए उपयुक्त समय नहीं आया है। इसका वर्णन हम आगे करेंगे। उसने अंग्रेजी कॉलेज खोलने की योजना बनायी और ढाका, पटना, बनारस, इलाहाबाद, आगरा, बरेली तथा दिल्ली में कुछ अंग्रेजी कॉलेज खोले।

शिक्षा के माध्यम के विषय में ऑकलैण्ड का मत था कि अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम रहे। बम्बई में उस समय कुछ कालेजों में उच्च शिक्षा भी देशी भाषाओं में दी जा रही थी और उचित संरक्षण मिलने पर प्रत्येक प्रान्त में उनका विकास हो सकता था। इस प्रकार उच्च शिक्षा जनता तक पहुँच सकती थी, किन्तु दुर्भाग्यवश यह प्रश्न टाल दिया गया। ऑकलैण्ड ने कह दिया कि इस समय तो समस्त बंगाल में अंग्रेजी तथा बम्बई में देशी भाषाओं के परीक्षण चल रहे हैं, उनकी और अधिक परीक्षा होनी चाहिए। खेद है कि वह भारत के लिए देशी भाषाओं का महत्त्व नहीं समझ सका। वास्तव में जनसाधारण में शिक्षा-प्रसार तथा देशी भाषाओं तथा विज्ञानों की उन्नति अंग्रेजों की राजकीय नीतियों के विरुद्ध थी, अत: ऑकलैण्ड ने भी उसी नीति को अक्षुण्ण रखा। इसके अतिरिक्त बंगाल प्रान्त का प्रभाव शेष प्रान्त पर हो जाने के कारण उन्हें भी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी अपनाने के लिए विवश होना पड़ा। जन-शिक्षा को इससे बड़ा आघात लगा।

**ऐडम योजना तथा उसकी अस्वीकृति**

हम ऊपर कह चुके हैं कि ऐडम की नियुक्ति बंगाल में देशी शिक्षा की अवस्था की जाँच-पड़ताल करने के लिए हुई थी और इस सम्बन्ध में उसने तीन प्रतिवेदन प्रस्तुत किये थे। वह एक सच्चा व्यक्ति था और अन्तरात्मा से भारत में शिक्षा-प्रचार द्वारा देश का कल्याण चाहता था। कूटनीतिक हितों से उसकी शिक्षा-नीति मुक्त थी। अतः देश की शिक्षा के विषय में उसने कुछ बुद्धिमत्तापूर्ण सुझाव रखे।

पहली बात तो यह थी कि वह जन-शिक्षा में विश्वास करता था, फलतः 'शिक्षा छनाई के सिद्धान्त' का उसने घोर विरोध किया, जिसके अनुसार केवल उच्च वर्ग को ही शिक्षित करने की सरकारी योजना थी। उसने कहा कि "छोटे बच्चों को केवल वर्णमाला सीखने के लिए उच्च कालेजों में नहीं भेजा जा सकता। किसी भवन का ऊपरी भाग ऊँचा तथा दृढ़ बनाने के लिए उसकी नींव चौड़ी तथा गहरी होनी चाहिए।"

दूसरे, उसने भारत के प्रचलित देशी स्कूलों को अत्यन्त उपयोगी बताया। उसकी धारणा थी कि सरकार को उन्हीं स्कूलों को संरक्षण देना चाहिए। वही स्कूल देश की शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति दीर्घकाल से करते चले आ रहे थे। अतः किसी भी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना को सफल बनाने के लिए देशी स्कूलों की उन्नति करनी चाहिए। ये स्कूल उस नींव के समान थे जिस पर हमें भवन-निर्माण करना था। "अतएव शिक्षा-विकास की सभी योजनाएँ जिन्हें सफल व स्थायी बनाना है, इन्हीं देशी स्कूलों पर आधारित होनी चाहिए जो दीर्घकाल से चले आ रहे हैं, लोगों के विचारों के अनुरूप हैं तथा उनमें सम्मान व श्रद्धा का संचार करते हैं।"[6] इसके लिए ऐडम ने सिफारिश की कि "प्रचलित देशी स्कूल नीचे से लेकर ऊपर तक हर प्रकार की शिक्षा के एकमात्र साधन हैं, जिनके द्वारा जनता का चरित्र ऊँचा उठाया जा सकता है। यदि इन स्कूलों को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम में लाया जायगा तो यही सब से सादा, सुरक्षित, सर्वव्यापी, मितव्ययी एवं सब से अधिक प्रभावशाली योजना होगी जिसके द्वारा शिक्षा के विषय में भारतवासियों के मस्तिष्क को जागृत किया जा सकता है, जिसकी उन्हें आवश्यकता है।"[7]

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऐडम ने एक योजना भी प्रस्तुत की। योजना में सुझाव दिया गया कि इसके अनुसार पहले परीक्षण के लिए केवल कुछ जिले चुन लिये जायँ जहाँ शिक्षा की पूर्ण पड़ताल की जाय। फिर शिक्षकों तथा बालकों के लिए देशी भाषाओं में पुस्तकें तैयार करायी जायँ और एक जिला शिक्षा अधिकारी नियुक्त कर दिया जाय जो सम्पूर्ण प्रगति का निरीक्षण करे। इसके उपरान्त शिक्षकों के लिए नार्मल स्कूल स्थापित कर दिये जायँ तथा उनमें अच्छी पुस्तकें वितरित की जायँ और उन्हीं के आधार पर बच्चों को पढ़ाने का आदेश दिया जाय। तत्पश्चात शिक्षकों की परीक्षा

[6] *Adam's Report*, pp. 357-58.
[7] *Ibid*, pp. 349-50.

भी ली जाय और अन्त में शिक्षकों की आय स्थिर कर दी जाय जिससे वे ग्रामीण बच्चों को पढ़ाने के लिए गाँवों में बस जायँ। इसके लिए सरकार कुछ भूमि-दान इत्यादि दे।

इस योजना का मैकॉले ने घोर विरोध किया, जो अपने हृदय में कुछ भेद तथा मस्तिष्क में एक भिन्न योजना छिपाये बैठा था। उसने इस पर बड़ी बुरी रिपोर्ट दी, परिणामत: जब यह लॉर्ड ऑकलैण्ड के समक्ष रखी गयी तो उसने इसे रद्द कर दिया। समिति ने इस योजना को अव्यावहारिक समझा। ऐडम को सरकार के इस रवैये से इतना खेद हुआ कि उसने तत्काल ही त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार जन-शिक्षा के विकास का एक और अवसर जाता रहा।

**शिक्षा छनाई का सिद्धान्त[8]**

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही अंग्रेज शासकों ने अनुभव कर लिया था कि भारत में केवल उच्च वर्ग को ही अपनाया जाय और जन-समूह को अन्धकार में रखा जाय, अत: उन्होंने अपनी शिक्षा-नीति को भी इसी प्रकार रखा। सन् 1827 में कम्पनी के संचालकों ने भी इसी प्रकार के आदेश दिये और 1835 में मैकॉले ने भी कहा कि "वर्तमान समय में हमें ऐसे वर्ग को उत्पन्न करना चाहिए जो हमारे तथा जनता के बीच विचार-वाहक बने; ऐसा वर्ग जो रंग-रूप में भारतीय किन्तु रुचि, विचार, नैतिकता तथा बुद्धि में अंग्रेज हो। इन्हीं लोगों का कार्य यह होगा कि वे देशी भाषाओं को परिष्कृत तथा सम्पन्न करके जनता तक ज्ञान पहुँचाने के योग्य बनायेंगे।" 31 जुलाई, 1837 को मैकॉले ने पुन: लिखा :

"वर्तमान ससय में हमारा उद्देश्य निम्न वर्ग के लोगों को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देना नहीं है। हमारा उद्देश्य एक ऐसे वर्ग का निर्माण है जो इसके उपरान्त, जैसी हम आशा करते हैं, अपने देशवासियों में उस शिक्षा के जो हमने उन्हें दी है, कुछ अंशों को वितरित कर सके। यदि हम शिक्षित बंगालियों का एक ऐसा वर्ग बना सकते हैं तो स्वाभाविक रूप से बिना किसी उग्र परिवर्तन के ही वे क्रमश: वर्तमान अयोग्य शिक्षकों की जगहों पर आकर उन्हें स्थानच्युत कर सकेंगे।"[9]

वास्तव में इस प्रसिद्ध सिद्धान्त का अभिप्राय था कि "जन-समूह में शिक्षा ऊपर से टपकायी जाय। बूंद-बूंद करके भारतीय जीवन के हिमालय से लाभदायक शिक्षा नीचे बहे जो समय पाकर एक चौड़ी तथा विशाल धारा में परिवर्तित हो जाय और जाकर शुष्क विशाल मैदानों का सिंचन करे।"[10] 'बंगाल लोक शिक्षा समिति' ने भी सन् 1839 में कहा था कि "हमारे प्रयास सर्वप्रथम उच्च तथा मध्यम वर्ग की शिक्षा पर केन्द्रित रहने चाहिए; इन्ही विद्वानों के द्वारा ग्रामीण शिक्षालयों में सुधार होगा और शिक्षा के लाभ उन सभी को मिल जायेंगे, जो निर्धनता के कारण अभी वंचित हैं।"

8 The Filtration Theory of Education.

9 *Macauloy's Minute*, quoted by Dr. Zellner in *Education in India*, p. 60, New York (1951).

10 Mathew Arthur : *The Education of India*, p. 92 (Faber & Gwyer), (1926).

इसके अतिरिक्त ईसाई मिशनरियों को भी यही आशा थी कि यदि कुछ उच्च वर्ग के सवर्ण हिन्दुओं को ईसाई धर्म में दीक्षित कर दिया जाय तो ये जन-समूह तक पहुँचकर ईसा के सिद्धान्तों का उनमें प्रचार कर सकेंगे। यही कारण था कि उन्होंने अंग्रेजी स्कूलों का जोरदार समर्थन किया, किन्तु भारतीय बालकों ने उन स्कूलों में शिक्षा के लिए प्रवेश कराया था, न कि धर्म के लिए। धर्म तो उनके ही देश में पर्याप्त था। अतः उन्होंने धर्म-परिवर्तन नहीं किया। यहाँ तक कि बहुधा बाइबिल की कक्षाएँ सूनी पड़ी रहती थीं। कुछ पिछड़ी जातियों के बालक, जैसे हरिजन इत्यादि और कुछ अनाथ तथा ईसाइयों के बालक अवश्य बैठे रह जाते थे।

**आलोचना**

इस प्रकार शिक्षा छनाई के सिद्धान्त द्वारा जो यह कल्पना सरकारी क्षेत्रों में कर ली गयी कि कुछ उच्च वर्ग के लोगों को पढ़ाने से वे लोग अपना ज्ञान निम्न वर्ग तथा जन-समूह को देकर शिक्षित कर देंगे, वह व्यर्थ जान पड़ी। वस्तुतः जो उच्च वर्ग के लोग शिक्षा प्राप्त करते थे, वे अपने स्वार्थों के लिए करते थे और उच्च पदों पर आसीन होकर जनता से तो पहले से भी अधिक दूर हो जाते थे।

दूसरे, इस सिद्धान्त को देश में लागू करके अंग्रेजों ने हमारे देश में एक ऐसे शिक्षित वर्ग को जन्म दे दिया जो अपने ही देश में अपने को अजनबी समझने लगा। अधिकांश में इन लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता था। गरीबों से ये सम्पर्क नहीं रखते थे। दैनिक कार्यों में अंग्रेजी भाषा का व्यवहार करते तथा अफसरी अभिमान में कहीं-कहीं पर जनता के साथ अत्याचार भी करते थे। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में ही शिक्षा का सुअवसर मिलने से इन लोगों में शिक्षा प्राप्त करने की परम्परा पड़ गयी और परम्परागत यही लोग धनवान बनने तथा उच्च सरकारी पदों पर नियुक्त होने लगे। यहाँ तक कि यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि इनमें से अधिकांश भारत में विदेशी शासकों के स्तम्भ के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलनों का विरोध करते रहे। किन्तु इसके विपरीत, यह भी सत्य है कि अन्ततोगत्वा यही शिक्षित मध्यम वर्ग था जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में सँभाली और विदेशी शासन को नष्ट करने में जन-समूह का नेतृत्व किया। किन्तु मैकॉले की वह अभिलाषा अंशतः अवश्य पूरी हो गयी कि वह रंग-रूप से भारतीय किन्तु आचार-विचार में अंग्रेज उत्पन्न करने में सफल हुआ।

ऐडम ने भी इस सिद्धान्त का विरोध करके देशी स्कूलों में जनता की शिक्षा की व्यवस्था कराने का प्रयास किया, किन्तु शासकों के समक्ष उसकी एक भी नहीं चली। क्रमशः इस सिद्धान्त की व्यर्थता प्रमाणित होती गयी और अन्त में यह विस्मृति के अंक में विलीन हो गया। लगभग सन् 1870 तक भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में इस सिद्धान्त की छाया पड़ती रही।

**शिक्षा-प्रगति (सन् 1835–53)**

**बंगाल**—सरकारी नीति के कारण अब अंग्रेजी का प्रचार बहुत बढ़ गया था।

सन् 1835 में समिति के अन्तर्गत 14 स्कूल थे और वर्ष के अन्त तक 6 और खोल दिये गये। इतने ही स्कूल सन् 1836 में खुलवाये गये। यहाँ तक कि सन् 1837 तक समिति के अन्तर्गत 48 स्कूल हो गये जिनमें 5196 विद्यार्थी पढ़ते थे। ऑकलैण्ड ने सारे प्रान्त को 9 भागों में विभक्त कर दिया तथा प्रत्येक जिले में 'जिला स्कूल' स्थापित कर दिये। सन् 1840 में बंगाल में ऐसे 40 स्कूल थे। इनमें हुगली कॉलेज बहुत प्रसिद्ध था जो हाजी मुहम्मद मुहसिन के दान के द्वारा बनाया गया था। इस प्रकार शिक्षा का विकास होता जा रहा था, यहाँ तक कि स्थिति ऐसी आ गयी कि संस्कृत-अरबी के स्कूलों में छात्रवृत्ति देने पर भी बालक नहीं जाते थे, जबकि अंग्रेजी स्कूलों में फीस देने पर भी जगह नहीं मिलती थी।

सन् 1841 में 'लोक शिक्षा समिति' भंग कर दी गयी जो लगभग 20 वर्ष से इस क्षेत्र में कार्य कर रही थी। अतः सन् 1842 में इसके स्थान पर 'शिक्षा परिषद्'[1] की स्थापना की गयी। इसी प्रकार की परिषद् बम्बई और मद्रास में भी बनीं।

सन् 1844 में लॉर्ड हार्डिंग्ज ने एक घोषणा की जिसका प्रभाव शिक्षा पर ऐसा पड़ा कि आज तक यथावत् बना हुआ है। उसने कहा कि "सरकारी नौकरियों के लिए ऐसे लोगों को प्राथमिकता दी जायगी जिन्होंने इस प्रकार स्थापित अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा पायी हो।" उसने दफ्तरों के छोटे-छोटे पदों के लिए भी इसी प्रकार के आदेश कर दिये। इस प्रकार के आदेशों का यह प्रभाव पड़ा कि सारे भारत में शिक्षा का उद्देश्य सरकारी पदों की प्राप्ति करना हो गया। उच्च पदों की संख्या इतनी नहीं थी जहाँ सभी शिक्षित भारतीयों की खपत हो सके। परिणामतः बहुत-से लोग दफ्तरों के क्लर्क या बाबू बनने पर विवश हुए। इस प्रकार योग्य व्यक्तियों का उद्योग-धन्धों व कृषि के उद्यमों में अभाव रहने लगा। यह बुराई आज भी यथावत् बनी हुई है।

इसी दौरान मिशनरियों ने भी प्रयत्न जारी रखे। सन् 1853 में सम्पूर्ण बंगाल में इनके 22 अंग्रेजी स्कूल हो गये। कुछ व्यक्तिगत स्कूल भी खुले क्योंकि शिक्षा की माँग बढ़ रही थी और सरकारी अंग्रेजी स्कूल उसके लिए पर्याप्त नहीं थे। किन्तु इन स्कूलों को कोई सहायता नहीं दी गयी।

सन् 1845 में 'शिक्षा परिषद्' ने कलकत्ता में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव भी रखा, किन्तु डाइरेक्टरों ने उसे 'असामयिक' कहकर टाल दिया।

उस समय प्राथमिक-शिक्षा का पतन हो रहा था। लॉर्ड हार्डिंग्ज ने इस ओर ध्यान दिया और सन् 1844 में प्राथमिक शिक्षा के लिए 101 स्कूल खुलवाये। प्रत्येक स्कूल में लिखना, पढ़ना, गणित, भूगोल, बंगाल तथा भारत का इतिहास पढ़ाने के लिए एक-एक शिक्षक नियुक्त कर दिया गया। शिक्षकों के लिए सन् 1847 में एक नार्मल स्कूल खोल दिया गया। प्राथमिक स्कूलों में एक आना प्रति माह फीस भी

[1] Council of Education.

लगा दी गयी। किन्तु ये स्कूल अधिक दिनों तक न चले। सन् 1850 में केवल 26 स्कूल बच रहे। लॉर्ड डलहौजी ने भी प्राथमिक शिक्षा के लिए कुछ प्रयत्न किये। उसने ऐडम योजना में कुछ परिवर्तन करके आगरा प्रान्त में निरीक्षण के अनुरूप देशी स्कूलों को प्रोत्साहन देने की चेष्टा की। शिक्षा-अनुदान भी दिये। किन्तु सन् 1854 तक केवल 33 सरकारी प्राथमिक स्कूल बन सके जिनमें 1400 बच्चे पढ़ते थे।

डलहौजी शिक्षा में रुचि लेता था। उसने सन् 1844 में हिन्दू कॉलेज, कलकत्ता में इन्जीनियरी की कक्षा खोली। उसने स्त्री-शिक्षा के लिए भी प्रयास किया। सन् 1821 से जब श्रीमती विल्सन ने लड़कियों के लिए एक स्कूल खोला था, इस दिशा में कोई कार्य नहीं हुआ। सन् 1849 में श्री ड्रिकवाटर बैथ्यून ने स्त्री-शिक्षा में रुचि दिखायी और कलकत्ता में एक स्कूल खोला।

उसी समय शासन-यन्त्र में एक परिवर्तन हुआ। सन् 1843 में शिक्षा-संस्थाएँ एक नये बने हुए प्रान्त (उत्तर-पश्चिम प्रान्त) को, जो वर्तमान उत्तर प्रदेश है, हस्तान्तरित कर दी गयीं। इसी समय 'शिक्षा परिषद्' ने भी बहुत उन्नति की। सन् 1843 में इसने पाठ्य-पुस्तकों में सुधार किया तथा योग्य शिक्षक उत्पन्न किये। सन् 1843 में स्कूल तथा कालेजों के लिए शिक्षा-निरीक्षक नियुक्त किये गये। सन् 1852 में इसने प्राथमिक शिक्षा को भी अपने हाथ में ले लिया और सन् 1843 से 1852 तक इनकी संख्या 28 से 151 तथा विद्यार्थियों की संख्या 4632 से 13,167 कर दी। 1854 में इसके अन्तर्गत 5 अंग्रेजी कॉलेज, एक मेडिकल कॉलेज, 3 प्राच्य कॉलेज तथा 47 अंग्रेजी स्कूल थे। सन् 1854 में इन सब का व्यय 5 लाख 94 हजार 500 रुपये था।

यहाँ शिक्षा के माध्यम के विषय में भी दो शब्द कहना वांछनीय है। बम्बई में तो यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद हो गया था। बंगाल में भी यह प्रश्न उठा। श्री के० एम० बनर्जी तथा डा० वैलेण्टाइन जैसे विद्वानों ने मातृभाषा के लिए सिफारिश की, किन्तु अंग्रेज शासकों के सम्मुख किसी की भी न चली और इस प्रकार मातृभाषा का बहिष्कार कर अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम रखा गया।

**बम्बई**—बम्बई में 'भारतीय शिक्षा समाज'[12] ने अच्छा काम किया था, किन्तु सन् 1840 में इसे भंग करके 'शिक्षा बोर्ड' बना दिया गया। 'बम्बई भारतीय शिक्षा समाज' ने 18 वर्ष के अपने जीवन-काल में 4 अंग्रेजी स्कूल तथा 115 जिला प्राथमिक स्कूल स्थापित किये थे जिनमें मातृभाषा के माध्यम के द्वारा लिखना, पढ़ना, दर्शन, बीजगणित, ज्यामिति तथा त्रिकोणमिति का शिक्षण दिया जाता था। वास्तव में यह पाठ्यक्रम आधुनिक माध्यमिक स्कूलों के समान था, किन्तु बम्बई में इनका उद्देश्य मातृभाषा के द्वारा पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार करना था।

इनके अतिरिक्त सरकार पूना संस्कृत कॉलेज, एलफिन्स्टन इन्स्टीट्यूट तथा पुरन्दर ताल्लुका में 63 प्राइमरी स्कूल भी चला रही थी। ये पुरन्दर स्कूल इस ताल्लुका

[12] Bombay Native Education Society.

के सहायक कलक्टर शॉर्टरीड ने देशी पाठशालाओं के आधार पर स्थापित किये थे, जहाँ लिखना-पढ़ना और हिसाब की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। इनके शिक्षक सरकारी कर्मचारी समझे जाते थे। रुपये के अभाव में समाज का कार्य मन्द गति से अवश्य चला, किन्तु सन् 1840 तक कुल मिलाकर यह 115 प्राथमिक स्कूलों का भी संचालन करता रहा। यद्यपि इसने कुछ अंग्रेजी स्कूलों का भी संचालन किया, तथापि प्रधानतः यहाँ शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही रहा, क्योंकि इसके अनुसार जन-समूह तक पाश्चात्य ज्ञान को पहुँचाने के लिए मातृभाषा ही सर्वोत्तम माध्यम था।

**शिक्षा बोर्ड**—सन् 1840 में नये शिक्षा बोर्ड ने कार्यभार सँभाला और 1857 तक बड़ी योग्यतापूर्वक उसका सम्पादन किया। इस बोर्ड में सभापति के अतिरिक्त 6 सदस्य और होते थे जिनमें 3 'बम्बई भारतीय शिक्षा समाज' के प्रतिनिधि तथा 3 सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते थे। इस बोर्ड ने शिक्षा समाज की नीति को ही कायम रखा तथा समाज की सभी शिक्षा-संस्थाओं को अपने अधिकार में कर लिया। सन् 1842 में इसने प्रान्त को तीन भागों में विभक्त करके प्रत्येक को एक यूरोपीय शिक्षा निरीक्षक तथा भारतीय उप-निरीक्षक के अधिकार में कर दिया। इसने कुछ नये नियम भी बनाये जो 1 जून, 1843 से लागू कर दिये गये। बोर्ड ने सन् 1842 में प्रान्त में स्कूलों की गणना भी करायी तथा ऐडम योजना का प्रयोग करना चाहा, किन्तु यह योजना कार्यान्वित न की जा सकी, क्योंकि पाश्चात्य ज्ञान-पिपासा लोगों में दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। अतः बोर्ड ने देशी स्कूलों की अवहेलना की और उन्हें बन्द करने का दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय किया।

**शिक्षा का माध्यम**—शिक्षा के माध्यम की ओर से बम्बई प्रान्त ने एक साहसपूर्ण नीति को अपनाया। जबकि बंगाल में प्राच्य और पाश्चात्य भाषाओं का संघर्ष चल रहा था, बम्बई ने स्थानीय भाषा को शिक्षा का माध्यम रखा। अंग्रेजी तथा संस्कृत को भी उचित स्थान दिया गया। वास्तव में बम्बई में मातृभाषा तो शिक्षा का माध्यम थी और उसमें उच्च ज्ञान भी दिया जाता था, किन्तु संस्कृत 'क्लासिकल' भाषा के रूप में तथा अंग्रेजी आधुनिक भाषा के रूप में पढ़ायी जाती थी। पाश्चात्य ज्ञान को पाठ्यक्रम में उचित स्थान दिया गया था। इसके अतिरिक्त बम्बई ने 'शिक्षा छनाई के सिद्धान्त' की अवहेलना करके जनसमूह में शिक्षा का प्रसार किया।

किन्तु सन् 1843 में सर पैरी के शिक्षा बोर्ड का सभापति नियुक्त हो जाने की अशुभ घटना ने इस प्रान्त में भी शिक्षा-जगत में एक गन्दी राजनीति का सूत्रपात कर दिया। सर पैरी उच्च वर्ग को शिक्षा देने का पक्का हिमायती था और मैकॉले तथा ऑकलैण्ड से प्रेरणा लेता था। उसने आँख मींचकर अंग्रेजी भाषा का पक्ष लिया। उसने कहा कि देशी भाषाओं में अंग्रेजी ग्रन्थों का अनुवाद व्यर्थ तथा खर्चीला होता है। जनता में अंग्रेजी की माँग है और हमारी सरकारी नीति भी अंग्रेजी का प्रचार करना है। ऐसी स्थिति में अंग्रेजी ही बम्बई में शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए। इन प्रश्नों को लेकर शिक्षा बोर्ड में दो दल हो गये। पैरी ने दो यूरोपियनों को साथ लेकर

अंग्रेजी दल बनाया । उधर बम्बई इंजीनियरिंग कॉलेज के प्रिंसिपल कर्नल जर्विस ने तीन भारतीयों के साथ मातृभाषा दल का निर्माण किया । श्री जर्विस ने कहा—"साधारण शिक्षा का प्रसार उस भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में नहीं किया जा सकता जिससे व्यक्ति का मस्तिष्क भलीभाँति परिचित है।···अतः इसे मैं अपना महान् कर्तव्य समझता हूँ कि मातृभाषा का प्रसार करूँ। · यदि लोगों के साहित्य की रक्षा करनी है तो यह उनका स्वयं का साहित्य ही होना चाहिए । साहित्य का विषय अधिकांश में पाश्चात्य भले ही हो किन्तु इसका देशी विषय से तादात्म्य हो जाना चाहिए और उसका स्वरूप एशियाई होना चाहिए ।"[13]

यह संघर्ष सन् 1848 तक चलता रहा, अन्त में स्थानीय सरकार ने 5 अप्रैल, 1948 को अपनी आज्ञा जारी कर दी जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के लिए मातृभाषा तथा उच्च कॉलेज शिक्षा के लिए अंग्रेजी भाषा माध्यम रहेगी । केन्द्रीय सरकार के आदेशों के अनुसार अंग्रेजी का इस प्रान्त में भी प्रभुत्व बढ़ने लगा ।

इस प्रकार पैरी के समय में बम्बई में देशी शिक्षा की अवहेलना हुई और अंग्रेजी स्कूलों की संख्या दुगुनी हो गयी । बड़े-बड़े केन्द्रों में नये अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना की गयी तथा अहमदाबाद में लड़कियों के एक स्कूल को भी सहायता दी गयी । सन् 1851 में पूना संस्कृत कॉलेज तथा पूना अंग्रेजी स्कूल को मिलाकर 'पूना कॉलेज' बना दिया गया जो आगे चलकर 'डकन कॉलेज' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । उसमें नार्मल विभाग भी जोड़ दिया गया । इसके अतिरिक्त सन् 1852 में जिला स्कूलों को 'ग्राण्ट-इन-एड' देने के लिए सरकारी आदेश हुए, तथा गाँवों में भी सरकार ने स्कूलों को सहायता देकर उच्च शिक्षा के स्कूल खुलवाने का प्रयत्न किया । पैरी के भारत छोड़ने पर देशी शिक्षा की भी उन्नति हुई । सन् 1854 में सरकार ने ग्रामीण स्कूलों के अध्यापकों का आधा वेतन देना स्वीकार कर लिया और शेष व्यय गाँव वालों पर डाल दिया । इस प्रकार बम्बई में इस दौरान सन्तोषजनक प्रगति रही ।

**मद्रास**—सन् 1833 से 1853 तक मद्रास की शिक्षा-प्रगति की कहानी अत्यन्त दुखपूर्ण है । इस दौरान सरकार की नीति बड़ी अस्थिर रही । व्यक्तिगत प्राथमिक स्कूलों की सहायता बन्द कर दी गयी थी और देशी स्कूलों को भी कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया । मुनरो के द्वारा स्थापित जिला तथा तहसीली स्कूलों को सन् 1836 में बन्द कर दिया गया और उनके स्थान पर मद्रास में अंग्रेजी कॉलेज तथा कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अंग्रेजी स्कूल खोल दिये गये । सन् 1841 में मद्रास में एक हाई स्कूल भी स्थापित कर दिया गया । बंगाल की शिक्षा के लिए लिखे हुए मैकॉले के विवरणपत्र का प्रभाव यहाँ भी हो गया था । फलतः इस प्रान्त में भी मातृभाषा स्कूलों का भाग्य-सितारा डूब गया । केन्द्रीय सरकार की ओर से मद्रास सरकार को

[13] H. Sharp : *Selections from Educational Records*, Vol, II. pp. 11-13.

आदेश मिले कि देशी शिक्षा से हटाकर सम्पूर्ण शिक्षा-अनुदान उच्च अंग्रेजी शिक्षा पर व्यय किया जाय। फलतः अंग्रेजी के माध्यम के द्वारा उच्च पाश्चात्य शिक्षा की उन्नति होने लगी।

मद्रास में एक विश्वविद्यालय खोलने का भी प्रस्ताव हुआ, किन्तु उसके लिए समय अभी उपयुक्त नहीं समझा गया, केवल सन् 1841 में हाई स्कूल विभाग तथा सन् 1852 में कॉलेज विभाग खोल दिया गया। विश्वविद्यालय बोर्ड की अपेक्षा एक शिक्षा परिषद् की स्थापना कर दी गयी जो सन् 1847 में शिक्षा बोर्ड में बदल दी गयी। शिक्षा बोर्ड को एक लाख रुपये की धन-राशि दे दी गयी, जिसमें से दो अंग्रेजी स्कूल—एक सन् 1853 में कडलूर में तथा दूसरा सन् 1855 में राजमहेन्द्री में—स्थापित किये गये। प्राथमिक शिक्षा के लिए भी 20 हजार रुपये सुरक्षित कर दिये गये।

व्यक्तिगत प्रयासों में ईसाई मशीनरियों तथा पच्चयप्पा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मिशनरियों ने प्रारम्भिक शिक्षा को इस काल में बड़ा प्रोत्साहन दिया। उनके प्रयत्नों का उल्लेख करते हुए सन् 1854 के आज्ञापत्र में कहा गया है कि मद्रास में जहाँ सरकार के प्रयत्न सन्तोषजनक नहीं रहे वहाँ ईसाई धर्म-प्रचारकों ने तामिल शिक्षा का प्रचार किया।

**उत्तर-पश्चिम आगरा प्रान्त**—सन् 1842 में भारत सरकार ने उत्तर-पश्चिम प्रदेश आगरा व अवध की सभी शिक्षा-संस्थाओं का प्रबन्ध बंगाल सरकार से हटाकर प्रान्तीय सरकार के अधिकार में कर दिया। उस समय तक यहाँ अंग्रेजी शिक्षा के कुछ स्कूल स्थापित हो चुके थे जिनमें आगरा, दिल्ली तथा बनारस के कॉलेज प्रमुख थे। प्रारम्भ से ही इस प्रान्त ने एक भिन्न नीति को अपनाया जिसके अनुसार 'शिक्षा छनाई के सिद्धान्त' को ठुकराकर मातृभाषा में शिक्षा देने का निश्चय हुआ।

सन् 1843 में जेम्स टॉमसन, जो भारत में आधुनिक प्राथमिक शिक्षा के प्रवर्तक माने जाते हैं, यहाँ के गवर्नर नियुक्त हुए। सन् 1845 में उन्होंने जिलाधीशों के नाम आदेश जारी करके शिक्षा की पड़ताल करायी और उसके साथ ही ऐडम योजना के आधार पर जन समूह की प्राथमिक शिक्षा के लिए नवीन योजना बतायी। उन्होंने ज्ञात किया कि प्रान्त में अंग्रेजी मिशनरी स्कूलों को छोड़कर हर प्रकार के केवल 7966 स्कूल थे जिनमें प्रान्त के 20 लाख लड़कों में से केवल 70,826 लड़के पढ़ते थे, अर्थात् प्रान्त में 3·7 प्रतिशत साक्षरता थी।

नवम्बर 1846 में टॉमसन ने भारत सरकार के समक्ष एक विस्तृत योजना रखी जिसका उद्देश्य वर्नाक्यूलर शिक्षा का पुनर्संगठन था। इस योजना के अनुसार 200 घरों वाले प्रत्येक गाँव में एक स्कूल स्थापित करने और अध्यापकों के वेतन के लिए जागीरें लगा देने का प्रस्ताव किया। संचालकों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, अतः टॉमसन को अप्रैल 1848 में दूसरी योजना प्रस्तुत करनी पड़ी जो स्वीकृत कर ली गयी। इसके अनुसार देशी स्कूलों का सुधार किया गया और आदर्श तहसीली स्कूल खालने की योजना बनी। इस स्कूल के लिए 10 रुपये से 20 रुपये प्रति

माह का एक प्रधान अध्यापक रखा गया। पाठ्यक्रम में हिन्दी-उर्दू, लिखना, पढ़ना तथा हिसाब के साथ-साथ इतिहास, भूगोल तथा ज्यामिति रखे गये। इन स्कूलों के लिए सन् 1850 में 50 हजार रुपये वार्षिक देना स्वीकृत हुआ। सन् 1853 में इनमें विद्यार्थियों की संख्या पाँच हजार थी। ये मिडिल स्कूलों के समान थे। सर्वप्रथम यह योजना आठ जिलों—बरेली, शाहजहाँपुर, आगरा, मथुरा, मैनपुरी, अलीगढ़, फर्रुखाबाद तथा इटावा—में चलायी गयी। इन जिलों के विजिटर जनरल स्टुअर्ट रीड थे, जो मैनपुरी के जिलाधीश थे। इन्होंने आठ जिलों में पड़ताल करायी जिसमें 50 कस्बे, 14,572 गाँव और 3127 स्कूल थे जिनमें 27,853 विद्यार्थी थे। इन स्कूलों में से बीस स्कूलों में अंग्रेजी भी पढ़ायी जाती थी।

इन स्कूलों के निरीक्षण की भी व्यवस्था की गयी जिसके अनुसार आठ जिलों के लिए एक विजिटर जनरल जिसे 1,000 रुपया मासिक वेतन मिलता था, प्रत्येक जिले के लिए एक जिला विजिटर तथा उसके नीचे परगना विजिटर रखे गये। परगना विजिटर को 20–40 रुपये मासिक मिलते थे। इनका काम देशी स्कूलों का निरीक्षण करना तथा लोगों को 'सलाह, सहायता तथा प्रोत्साहन' देना था।

**हलकाबन्दी स्कूल**—तहसीली स्कूलों की स्थापना के अतिरिक्त देशी शिक्षा के विकास के लिए एक साधन और सोचा गया जो 'हलकाबन्दी स्कूल' के नाम से विख्यात है। सन् 1851 में मथुरा के कलक्टर अलैक्जेण्डर ने एक योजना बनायी। उन्होंने एक परगने को लिया और उसकी मालगुजारी तथा जनसंख्या को लेकर शिक्षा-योग्य बच्चों की संख्या तथा उन पर होने वाले व्यय के आँकड़े निकाल लिये और क्योंकि धन के अभाव में प्रत्येक गाँव में स्कूल खोलना असम्भव था, अतः कुछ गाँवों का एक-एक हलका या क्षेत्र बना लिया गया और उसके केन्द्र में एक स्कूल स्थापित कर दिया गया, जिससे प्रत्येक गाँव से यह स्कूल दो या ढाई मील से अधिक दूर न पड़े। ये स्कूल प्रारम्भिक शिक्षा के लिए थे। इन स्कूलों के खर्च के लिए जमींदारों से उनकी मालगुजारी का एक प्रतिशत लिया गया। शीघ्र ही यह योजना सात अन्य पड़ोसी जिलों में फैल गयी और सन् 1854 तक स्कूलों की संख्या 758 हो गयी जिसमें 17,000 बालक पढ़ते थे। कुछ समय बाद यह योजना बंगाल में भी चालू की गयी।

उच्च शिक्षा के दृष्टिकोण से भी इस प्रान्त ने प्रगति की। सन् 1854 तक आगरा, दिल्ली तथा बनारस के सरकारी कालेजों के विद्यार्थियों की संख्या 976 हो गयी। सन् 1852 में सेण्ट जौंस कॉलिज, आगरा की नींव पड़ी और उसी वर्ष आगरा में एक नार्मल स्कूल भी खुला। सन् 1853 में जयनारायण घोषाल स्कूल बनारस कॉलिज बना दिया गया। इस प्रकार सन् 1854 तक आगरा प्रान्त में कुल स्कूल चार हजार हो गये जिनमें 53,000 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। सन् 1854 के आज्ञापत्र ने भी इस योजना को अन्य प्रान्तों में लागू करने तथा योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने की सिफारिश की।

**पंजाब**—पंजाब प्रान्त नया ही बना हुआ था। इसकी स्थापना सन् 1849 में हुई थी। अतः यहाँ शिक्षा की अभी कोई प्रगति नहीं हुई थी। यहाँ पहले से हिन्दी,

उर्दू और गुरुमुखी के देशी स्कूल स्थित थे। उर्दू का प्रचार इस प्रान्त में बहुत था और अधिकांश हिन्दू बालक भी उर्दू पढ़ते थे। सन् 1849 में अमृतसर में सरकार ने एक अंग्रेजी स्कूल खोला जिसमें हिन्दू, उर्दू, अंग्रेजी, फारसी, अरबी और संस्कृत पढ़ायी जाती थी। लाहौर में भी शिक्षा ने प्रगति की। लड़कियों में भी यहाँ शिक्षा का प्रचार था। बाद में आगरा प्रान्त की भाँति 4 नार्मल स्कूल, 60 तहसीली स्कूल, लाहौर में एक कॉलेज खोलने तथा एक विजिटर जनरल नियुक्त करने, एव 18 जिलों तथा 50 परगना विजिटरों की नियुक्ति की प्रार्थना की गयी जो जून, 1854 में स्वीकृत हो गयी।

**उपसंहार**

इस प्रकार इस युग की समाप्ति के साथ ही साथ लगभग अर्द्ध-शताब्दी से चला आने वाला शिक्षा-माध्यम का संघर्ष समाप्त हो गया और भारतीय शिक्षा पूर्णत: अंग्रेजी रंग में रँग गयी। यद्यपि शिक्षा-प्रगति सन्तोषजनक नहीं रही, तथापि कुछ निश्चित सिद्धान्तों का प्रस्थापन अवश्य हो गया। उदाहरणतः सरकार को जनता को शिक्षित बनाने का उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ा, शिक्षा-निरीक्षण की व्यवस्था हुई तथा सरकार को अपनी शिक्षा-नीति खुले रूप से घोषित करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त शिक्षा छनाई के सिद्धान्त का प्रचार, देशी शिक्षा, प्राच्य तथा मातृभाषाओं की अवहेलना, पाश्चात्य ज्ञान तथा अंग्रेजी का प्रचार, शिक्षा में राज्य द्वारा धार्मिक तटस्थता की नीति तथा व्यक्तिगत प्रयासों का प्रोत्साहन इत्यादि कुछ इस युग की अन्य विशेपताएँ हैं। इन्हीं विशेषताओं को लेकर प्रत्येक प्रान्त ने अपने-अपने प्रयत्न जारी रखे और अपने-अपने प्रयोग किये। इस युग की समाप्ति तक सरकार को विदित हो गया कि देश की शिक्षा के प्रश्न को टाला नहीं जा सकता और उसमें किसी निश्चित योजना की आवश्यकता है। शिक्षा के माध्यम तथा प्राच्य-पाश्चात्य विवाद इत्यादि के संघर्ष प्रायः समाप्त हो चुके थे। अतः अब सरकार इस बात के लिए सन्नद्ध हो गयी कि भारत में शिक्षा की कोई सुविस्तृत योजना बनायी जाय। परिणामस्वरूप, सन् 1854 में वुड का शिक्षा-घोषणापत्र देश के सम्मुख आया।

## सारांश

**शिक्षा के माध्यम व उद्देश्य इत्यादि को लेकर जो विवाद 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चल पड़ा था वह आगे चलकर और भी अधिक उग्र हो गया। बंगाल के शिक्षा-विभाग के सचिव श्री प्रिंसेप संस्कृत, अरबी तथा फारसी को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में थे। अतः उन्होंने कहा कि एक लाख रुपये का जो अनुदान शिक्षा तथा विज्ञानों के लिए दिया गया है वह संस्कृत इत्यादि एवं भारतीय परम्परागत विज्ञानों पर व्यय किया जाय।**

**इसके प्रतिकूल पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के समर्थकों का, जिसमें मैकॉले तथा बेंण्टिक इत्यादि प्रमुख थे, कहना था कि संस्कृत एवं अरबी-फारसी साहित्य अपर्याप्त व अविकसित हैं, उसका कोई आधुनिक उपयोग नहीं। साथ ही इन लोगों का कहना था कि भारतीय प्रान्तीय भाषाएँ भी शिक्षा का माध्यम नहीं बनायी जा सकतीं क्योंकि**

उनमें न कोई साहित्य है और न वे विकसित ही हैं। अतः उनके माध्यम बनाने का प्रश्न तो उठता ही नहीं।

मैकॉले भारतीय शिक्षा, साहित्य तथा संस्कृति के सम्बन्ध में अपने विशेष विचार रखता था। उसकी राय में ये सब गँवारू तथा अवैज्ञानिक थे। उसने सन् 1813 के चार्टर की नयी व्याख्या की जिसके अनुसार उसने सिद्ध किया कि शिक्षा-अनुदान केवल पाश्चात्य शिक्षा व विज्ञानों के विकास करने पर ही व्यय किया जा सकता है। संस्कृत व अरबी पर रुपया खर्च करने को वह धन का दुरुपयोग मानता था। भारत के साहित्य, दर्शन, ज्योतिष व चिकित्साशास्त्र को वह झूठा समझता था। उसने सभी को अपने तर्कों से प्रभावित कर दिया। इसका परिणाम यह निकला कि भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल विलियम बैण्टिक ने मैकॉले के मत का समर्थन किया। स्वयं बैण्टिक भी यही चाहता था कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हो। अतः 7 मार्च, 1835 को उसने आज्ञा दी कि सारा रुपया अंग्रेजी साहित्य तथा विज्ञानों के भारत में प्रचार करने के महान् उद्देश्य पर व्यय किया जाय। भविष्य में संस्कृत, अरबी व फारसी में कोई पुस्तकें न छापी जायँ। इस रुपये के बचने पर अंग्रेजी पुस्तकें छापने पर व्यय किया जाय। किन्तु साथ ही प्राच्य भाषाओं के स्कूलों को भंग न किया जाय।

बैण्टिक की घोषणा से भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नीति निश्चित हो गयी। माध्यम व उद्देश्य इत्यादि का विवाद समाप्त हो गया।

मैकॉले ने यद्यपि भारतीय साहित्य, धर्म व दर्शन इत्यादि का परिहास उड़ाया और उन्हें विकसित होने से रोका, तथापि इतना अवश्य है कि उसने भारत में आधुनिक शिक्षा को एक व्यवस्थित रूप दिया और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानों का द्वार भारत के लिए सदा को खोल दिया। क्या ही अच्छा होता यदि भारत की प्रान्तीय भाषाओं को उस समय शिक्षा का माध्यम बना लिया जाता किन्तु दुर्भाग्य से ऐसा न हो सका!

बैण्टिक के चले जाने के उपरान्त प्राच्य शिक्षा-समर्थकों ने कुछ आपत्तियाँ उठायीं किन्तु नये गवर्नर लार्ड ऑकलैण्ड ने उन्हें सन्तुष्ट कर दिया। सन् 1839 में उसने अपना घोषणापत्र प्रकाशित किया जिसके अनुसार प्राच्य शिक्षा पर होने वाले व्यय को फिर से जारी कर दिया तथा छात्रवृत्तियों एवं संस्कृत पुस्तकों के छापने की आज्ञा दे दी। शिक्षा का माध्यम उसने अंग्रेजी ही रखा।

**ऐडम योजना**—बंगाल में ऐडम ने देशी शिक्षा-प्रणाली की जाँच करके तीन रिपोर्टें पेश कीं जिनके अनुसार वहाँ सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार करने की सिफारिश की। दूसरे, उसने भारत के प्रचलित देशी स्कूलों को अधिक उपयोगी बताया और उन्हीं के संरक्षण की सिफारिश की। तीसरे, उसने प्रान्तीय शिक्षा को माध्यम रखना चाहा। किन्तु मैकॉले ने ऐडम योजना का घोर विरोध किया, फलतः इसे ऑकलैण्ड ने अव्यावहारिक समझकर रद्द कर दिया।

**शिक्षा छनाई का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार अंग्रेजी सरकार का यह विश्वास था कि शिक्षा उच्च वर्ग को ही दी जाय जो सरकार तथा जनता के बीच

एक मध्यस्थ विचार-वाहक बनकर जनसमूह को शिक्षा प्रदान करे। इस प्रकार उच्च वर्ग में से छन-छनकर शिक्षा जनसमूह तक पहुँच जायगी।

*मैकॉले, बैण्टिक, ऑकलैण्ड तथा अन्य सभी सरकारी अफसरों ने* इस सिद्धान्त का समर्थन किया, किन्तु ऐडम ने इसका घोर विरोध किया। जो उच्च वर्ग शिक्षित होते गये, वे जनता को शिक्षित करने की अपेक्षा जनता से और दूर होते गये। अतः धीरे-धीरे यह सिद्धान्त स्वयं सन् 1870 तक समाप्त हो गया।

सन् 1835 से 1853 तक अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार भारत में हुआ। प्रत्येक प्रान्त में अंग्रेजी स्कूलों व कालेजों की स्थापना की गयी। अंग्रेजी में पुस्तकें इत्यादि साहित्य छापा गया। बंगाल में अंग्रेजी का जोर रहा किन्तु बम्बई एवं आगरा प्रान्त में देशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने में जोर दिया गया। परन्तु अन्त में इन प्रान्तों में भी अंग्रेजी की विजय हुई। मद्रास में शिक्षा का विकास इस दौरान मन्दा रहा। आगरा प्रान्त में टॉमसन ने प्राथमिक शिक्षा का प्रचार किया। यहाँ हलकाबन्दी स्कूलों की स्थापना की गयी और कई-कई गाँवों के हलके में एक स्कूल स्थापित करने का प्रयास किया गया।

# 10

# वुड का शिक्षा-घोषणापत्र

## (सन् 1854)

### भूमिका

कम्पनी का आज्ञापत्र प्रति बीस वर्ष उपरान्त बदलता था । इस प्रकार सन् 1799, 1813 और 1833 में यह बदल चुका था और प्रत्येक अवसर पर कुछ न कुछ परिवर्तन तथा विकास कम्पनी की शिक्षा-नीति में हो जाते थे । अत: जब सन् 1853 में भी आज्ञापत्र को बदलने का अवसर आया तो भारतीय शिक्षा में कुछ स्थायी नीति ग्रहण करने की आवश्यकता स्पष्ट प्रकट हो रही थी, अतएव एक संसदीय समिति स्थापित की गयी जिसने भारतीय शिक्षा की प्रगति की जाँच की । इस समिति ने ट्रेवेलियन, पैरी, मार्शमैन, डफ, विल्सन, केमरन तथा सर फ्रेडरिक हैलीडे इत्यादि महानुभावों को साक्षी बनाया तथा भारतीय शिक्षा के विषय में उनके वक्तव्य लिये । ये सभी सज्जन भारतीय शिक्षा से गहरा सम्बन्ध रखते थे, जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में वर्णन कर चुके हैं । इन लोगों ने अधिकारियों को यह बात स्पष्टत: बता दी कि भारत की शिक्षा-आवश्यकताओं को टाला नहीं जा सकता और न भारतीय जनता को शिक्षित करने में कोई राजनीतिक हानि ही है । इन सभी प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1854 में 'वुड का शिक्षा-घोषणापत्र' प्रकाशित हुआ । वुड 'बोर्ड ऑव कण्ट्रोल' का प्रधान था, अत: यह आज्ञापत्र जॉन स्टुअर्ट मिल के हाथों लेखबद्ध हुआ था । वुड का शिक्षा-घोषणापत्र भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखता है । इसके साथ ही भारतीय शिक्षा में एक नये युग का प्रारम्भ होता है । इसकी प्रमुख बातें निम्न हैं :

### आज्ञापत्र की सिफारिशें

सर्वप्रथम इस आज्ञापत्र में कम्पनी की शिक्षा-नीति के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है । इसके अनुसार अन्य उत्तरदायित्वों की अपेक्षा कम्पनी के ऊपर भारतीय शिक्षा का उत्तरदायित्व सर्वप्रथम माना गया है, अत: इसका प्रसार उसका पवित्र कर्तव्य है ।[1]

[1] "Among many subjects of importance, none can have a stronger claim to our attention than that of education. It is one of the most sacred duties, to be the means as far as in us lies, of conferring upon the natives of India those vast moral and material blessings which flow from the general diffusion of useful knowledge, and which India may, under Providence, derive from her connexion with England."

इसके उपरान्त आज्ञापत्र में प्राच्य-पाश्चात्य विवाद का भी उल्लेख है। वह संस्कृत व अरबी की शिक्षा की निन्दा नहीं करता, अपितु उनके थोड़े से ज्ञान को अच्छा समझता है। किन्तु अन्त में लॉर्ड मैकॉले की भाँति पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को ही भारतीयों के लिए उपयुक्त समझकर कहता है कि "हम यह जोरदार शब्दों में घोषणा करते हैं कि जिस शिक्षा का हम भारत में प्रसार करना चाहते हैं उसका उद्देश्य यूरोपीय उच्च कला, विज्ञान, दर्शन तथा साहित्य अर्थात् संक्षेप में यूरोपीय ज्ञान है।"

शिक्षा के माध्यम के विषय में प्रथमत: वह यह व्यक्त करता है कि किस प्रकार अच्छी पुस्तकों के अभाव में देशी भाषाओं को माध्यम नहीं बनाया जा सका और विवश होकर अंग्रेजी माध्यम रखना पड़ रहा है, किन्तु केवल अंग्रेजी को ही माध्यम रखना हानिकारक है, अत: इसके समान्तर देशी भाषाओं को भी माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए।[2] "इसीलिए हम अंग्रेजी तथा देशी दोनों ही प्रकार की भाषाओं की ओर शिक्षा के माध्यम के लिए देखते हैं जिससे वे भी साथ-साथ यूरोपीय ज्ञान को फैलाने में सहायक हों। अत: यह हमारी इच्छा है कि भारतीय विद्यालयों में वे दोनों ही फलें-फूलें···।"

इस प्रकार कुछ प्रश्नों का सिंहावलोकन करने के उपरान्त आज्ञापत्र ने अपनी सिफारिशें की हैं, जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

(1) **शिक्षा-विभाग**—इस आज्ञापत्र के अनुसार प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग स्थापित करने की सिफारिश की गयी। यह भी कहा गया कि प्रत्येक प्रान्त में इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी जन-शिक्षा संचालक[3] नियुक्त कर दिया जाय तथा उसकी सहायता के लिए अन्य छोटे निरीक्षक नियुक्त किये जायँ।

(2) **विश्वविद्यालय**—दूसरे, उसने भारत में कलकत्ता, बम्बई और यदि आवश्यक हो तो मद्रास में विश्वविद्यालय खोलने की सिफारिश की। यह सोचा गया कि "भारत में अब विश्वविद्यालयों की स्थापना का वह समय आ गया है जबकि नियमित तथा उदार शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाय।······शिक्षा परिषद् ने लन्दन विश्वविद्यालय को आदर्श मानने का प्रस्ताव किया था और हम उससे सहमत हैं।"[4] अत:

---

[2] "In any general system of education, English language should be taught where there is a demand for it; but such instruction should always be combined with a careful attention to the study of the vernacular language of the district and with such general instruction as can be conveyed through that language..." —*Wood's Despatch*

[3] The Director of Public Instruction.

[4] "The rapid spread of a liberal education among the natives of India since that time the high attainments shown by the native candidates for Government Scholarships and by native students in private institutions, the success of the Medical Colleges, and the requirements of an increasing European and Anglo-Indian population, have led us to the conclusion that the time is now arrived for the establishment of universities in India." —*Wood's Despatch*

भारत में तीनों विश्वविद्यालयों को लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर जो केवल परीक्षा-संस्था थी, स्थापित करने के लिए कहा गया । यह भी कहा गया कि विश्व-विद्यालय के लिए "चांसलर, वाइस चांसलर तथा फैलो होंगे जिनको मिलाकर सीनेट बनेगा । सीनेट नियम बनायेगा जो सरकार स्वीकृत करेगी । विश्वविद्यालय के आय-व्यय का प्रबन्ध भी सीनेट ही करेगा । वही विज्ञानों और कलाओं के विभिन्न भागों में परीक्षकों को नियुक्त करके परीक्षाओं का आयोजन करेगा । विश्वविद्यालय का काम अपने से सम्बन्धित कालेजों के विद्यार्थियों को परीक्षाओं के बाद डिग्रियाँ प्रदान करना होगा ।······डिग्री परीक्षाओं में धार्मिक विषय न होंगे । ···जिन विषयों के पढ़ाने का प्रबन्ध कालेजों में होगा उनके लिए विश्वविद्यालय प्रोफेसरों की नियुक्ति करेंगे; जैसे कानून इत्यादि ।······सिविल इन्जीनियरिंग के प्रोफेसर भी विश्वविद्यालयों में नियुक्त किये जा सकते हैं और सिविल इन्जीनियरिंग की उपाधियाँ भी योजना में सम्मिलित की जा सकती हैं ।"

(3) **जन समूह की शिक्षा का विस्तार**—आज्ञापत्र में यह बात स्वीकार की गयी कि अब तक जनसाधारण की शिक्षा की पूर्णत: अवहेलना की गयी थी और सरकार का ध्यान अधिकांश में उच्च वर्ग के लोगों के लिए उच्च शिक्षा का प्रबन्ध करने में ही लगा रहा था जिसमें राज-कोष का वह अधिकांश भाग चला जाता था जो शिक्षा के लिए नियत किया जाता था । अत: उन्होंने कहा कि "अब हमारा ध्यान सम्भवत: उस अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर जाना चाहिए, जिसको अभी तक, हमें स्वीकार करना पड़ता है, अवहेलना की गयी है; अर्थात् जीवन के सभी अंगों के लिए व्याव-हारिक शिक्षा उन जनसाधारण को किस प्रकार दी जाय जो स्वयं बिना सहायता के कुछ भी लाभदायक शिक्षा पाने में पूर्णत: अशक्त हैं । हमारी इच्छा है कि सरकार की अधिक सक्रिय योजनाएँ भविष्य में इस ओर लगा दी जायँ जिसकी प्राप्ति के लिए हम अधिक व्यय स्वीकार करने के लिए तैयार हैं ।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिक हाई स्कूल, मिडिल स्कूल तथा प्राथमिक स्कूलों की सिफारिश आज्ञापत्र ने की । इन भिन्न-भिन्न स्तर के शिक्षालयों की शिक्षा को एक-दूसरे से सम्बन्धित करने के लिए छात्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया गया । इस प्रकार देशी प्रारम्भिक स्कूलों को शिक्षा का आधार मान लिया गया और सम्पूर्ण शिक्षा-भवन को इनके ऊपर ही निर्मित करने का प्रस्ताव किया गया । 'शिक्षा छनाई के सिद्धान्त' को सिद्धान्तत: बुरी तरह ठुकरा दिया गया ।

(4) **सहायता-अनुदान**—इस आज्ञापत्र के द्वारा भारतीय शिक्षालयों को शिक्षा-अनुदान (ग्राण्ट-इन-एड) देने का प्रस्ताव किया गया । "भारतीयों को शिक्षा के लिए यथेष्ट साधन जुटाने में सरकार की असमर्थता तथा उन प्रयासों से मिल सकने वाली सहायता पर, जिसको सरकार ने अभी तक प्रोत्साहित नहीं किया है, विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दिशा में भारतीय जनता की शिक्षा-आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सरकारी प्रयासों के साथ-साथ शिक्षित और धनी वर्गों की

उदारता तथा प्रयासों को मिला लेना चाहिए । अस्तु, हमने भारत में सहायता-अनुदान प्रथा अपनाने का निश्चय किया है । यह अनुदान सहायता-प्राप्त स्कूलों में धार्मिक तटस्थता पर आधारित होगा। उन सभी संस्थाओं को सहायता प्रदान की जायगी जो अच्छी लौकिक शिक्षा (धर्मरहित) देते हों, जो यथेष्ट स्थानीय प्रबन्ध में चलते हों और जिनके प्रबन्ध स्कूलों के सरकारी निरीक्षण तथा सहायता-अनुदान सम्बन्धी नियमों को स्वीकार कर लें ।......हमारा मत है कि सहायता केवल उन्हीं स्कूलों को प्रदान की जाय जो विद्यार्थियों से कम से कम कुछ शुल्क अवश्य लेते हों ।"

इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न उद्देश्यों, जैसे शिक्षकों के वेतन की तरक्की के लिए, पुस्तकालय के लिए, भवन-निर्माण के लिए, छात्रवृत्ति तथा विज्ञान-कक्षा इत्यादि के लिए अलग-अलग अनुदान देने का वचन भी दिया गया । इन अनुदानों को कालेजों से लेकर देशी प्राथमिक स्कूलों तक देने की व्यवस्था की गयी ।

यहाँ यह बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि इस सहायता-अनुदान प्रथा पर आज्ञा-पत्र में बड़ा जोर दिया गया है । सम्भवतः इसका अभिप्राय भारत में मिशनरियों की सहायता करना था, क्योंकि उस समय व्यक्तिगत रूप से शिक्षा-क्षेत्र में प्रधानतः मिशन ही थे और शायद उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करने की यह सरकारी नीति थी । इसके अतिरिक्त आज्ञापत्र में कहा गया है कि निरीक्षकों को सहायता-प्राप्त स्कूलों में "उन धार्मिक सिद्धान्तों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहिए जो किसी स्कूल में पढ़ने जा रहे हों ।" आगे चलकर उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि "ये स्कूल सभी भारतीयों के लिए हैं, अतः किसी विशेष धर्म का उसमें पढ़ाया जाना अवांछनीय है । साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यह ठीक है कि बहुत-से ईसाई शिक्षालयों में बाइबिल रखी रहती है और लोगों को उसे पढ़ने की सुविधा है, साथ ही यदि कक्षा से बाहर कोई विद्यार्थी शिक्षक से ईसाई धर्म के सम्बन्ध में अपनी धार्मिक शंकाओं का समाधान करना चाहे तो हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि हम नहीं चाहते कि कोई यह कहे कि सरकार धर्म-प्रचार करके अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठा रही ।" अस्तु, सहायता-अनुदान की योजना इस आज्ञापत्र के द्वारा बहुत व्यापक बना दी गयी ।

(5) **शिक्षकों का प्रशिक्षण**—इस पत्र के द्वारा संचालकों ने अपनी इच्छा प्रकट की कि जितना शीघ्र हो सके, प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए स्कूल स्थापित कर दिये जायँ । इसके लिए उन्होंने इंगलैण्ड की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उसी प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना की सिफारिश की जैसी इंगलैण्ड में स्थापित की गयी थीं । इन संस्थाओं का जो अभाव इंगलैण्ड में था उससे भी अधिक "यह अभाव भारत में अनुभव किया गया, क्योंकि यहाँ शिक्षण-कार्य के लिए उचित प्रकार से 'प्रशिक्षित शिक्षक' मिलना अधिक कठिन हो रहा है । अतः जितना शीघ्र हो सके, भारत की प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में हम शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण-विश्वविद्यालय तथा कक्षाएँ स्थापित करना चाहते हैं ।" उन्होंने शिक्षकों को दीक्षाकाल में छात्रवृत्ति

देने पर भी जोर दिया।[5] साथ ही कानून, चिकित्सा और इंजीनियरी में भी औद्योगिक प्रशिक्षण की सिफारिश की।

(6) **स्त्री-शिक्षा**—अन्त में आज्ञापत्र में स्त्री-शिक्षा पर भी जोर दिया गया। "हमने पहले ही कह दिया है कि जिन संस्थाओं को सहायता मिलेगी उनमें लड़कियों के स्कूल भी हैं और इस दिशा में जो प्रयत्न किये जा रहे हैं उनके प्रति हम अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट किये बिना नहीं रह सकते हैं। गवर्नर जनरल की घोषणा से जो बंगाल के गवर्नर के लिए की गयी है, हम पूर्णतया सहमत हैं कि भारतीय स्त्री-शिक्षा को सरकार की स्पष्ट तथा मैत्रीपूर्ण सहायता मिलनी चाहिए।"

इस प्रकार उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेजी तथा माध्यमिक और प्रारम्भिक शिक्षा के लिए मातृभाषा का माध्यम, विश्वविद्यालयों की स्थापना, शिक्षा सहायता-अनुदान प्रथा, शिक्षकों का प्रशिक्षण, धार्मिक तटस्थता, औद्योगिक शिक्षा तथा स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन, शिक्षित व्यक्तियों के लिए नौकरी तथा जनसमूह में शिक्षा-प्रसार आदि कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिफारिशें हैं जो इस महान् पत्र में की गयी हैं। अब हम संक्षेप में इसके गुण-दोषों का विवेचन करेंगे।

**आलोचना**

**गुण**—इस ऐतिहासिक पत्र ने भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नवीन किन्तु शानदार युग का सूत्रपात किया। जेम्स ने तो इसे "भारत में अंग्रेजी का मैग्नाकार्टा" तक कह डाला है। वास्तव में इसके द्वारा कुछ बातें मूलतः स्वीकार कर ली गयीं, जैसे शिक्षा देना सरकार का उत्तरदायित्व है। इस पत्र ने एक अत्यन्त विशद् व विस्तृत शिक्षा-योजना देश के समक्ष रखी जो प्रायः शिक्षा के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित है। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा, स्त्री-शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा तथा अध्यापकों की दीक्षा आदि ऐसी योजनाएँ थीं जिनका सर्वांग सम्पादन आज तक भी नहीं हो सका है।

पहला काम जो इस आज्ञापत्र ने किया वह था भारत में उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना की सिफारिश करना। हाई स्कूल के बाद उच्च शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत हो रही थी, अतः इनकी स्थापना उचित समय पर ही हुई। यद्यपि उस समय इनकी संख्या अपर्याप्त थी, तथापि इनसे एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हुई।

प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग स्थापित करके प्रथम बार शिक्षा को राज्य के अन्तर्गत एक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित स्वरूप दिया गया। शिक्षा संचालक तथा निरीक्षक और उपनिरीक्षकों की नियुक्ति करके सरकार के ऊपर शिक्षा की देखरेख का भार भी डाल दिया गया। इससे शिक्षा की श्रेष्ठता बढ़ी, साथ ही विकास भी हुआ।

देशी स्कूलों, मिडिल तथा हाईस्कूलों को प्रोत्साहन देकर लोक-शिक्षा के

"Our wish is that the profession of school master may, for the future, afford inducements to the natives of India such as are held out in other branches of the public service." —*Wood's Despatch*

सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। 'शिक्षा छनाई के सिद्धान्त' की निन्दा की गयी। अंग्रेजी राज्य के अन्तर्गत शिक्षा-क्षेत्र में उस समय यह एक क्रान्तिकारी कदम था। इसके बाद जनता की साधारण शिक्षा द्रुत गति से बढ़ी, यद्यपि आज भी वह आशा तथा आवश्यकता से कम है। साथ ही शिक्षकों को दीक्षा तथा विद्यार्थियों और शिक्षक दोनों को ही छात्रवृत्तियाँ देकर प्रोत्साहित करने से बड़ा लाभ हुआ। अच्छे व योग्य अध्यापकों के अभाव में शिक्षा का मापदण्ड नीचा रहता था और शिक्षक अध्यापन की ओर आकर्षित नहीं होते थे, किन्तु अब उन्हें कुछ प्रेरणा मिली जिससे अत्यन्त लाभ हुआ। निर्धन विद्यार्थियों की छात्रवृत्ति की व्यवस्था करके प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा में एक शृंखला स्थापित कर दी गयी।

सहायता-अनुदान प्रथा ने तो शिक्षा-प्रसार को बड़ा प्रोत्साहन दिया। वैयक्तिक प्रयास जो शिक्षा-क्षेत्र में अपर्याप्त था, इस प्रथा के कारण क्षेत्र में उतर आया और शिक्षा-प्रबन्ध अधिकांश में जनता के हाथों में पहुँचने लगा, यद्यपि वैयक्तिक प्रबन्धकों ने इसका दुरुपयोग किया जो हम आगे चलकर देखेंगे।

**दोष**—इन सब गुणों के होते हुए भी इस आज्ञापत्र में कुछ भारी दोष भी हैं। एक दोष यह है कि इसने देश में शिक्षा का उद्देश्य "पुस्तकें पढ़ना तथा परीक्षा में पास होकर सरकारी नौकरी ढूंढ़ना" कर दिया। शिक्षा एक प्रकार से पूर्णतः नौकरशाही के अधिकार में आ गयी। उसमें उन्मुक्त विकास की प्रेरणा का अभाव हो गया। जिस प्रकार सरकार का एक व्यापार-विभाग है, एक कृषि-विभाग है उसी प्रकार एक शिक्षा-विभाग भी हो गया जिसके कार्यों को अधिकारी लोग अन्यमनस्क रूप से पूरा करने लगे। लालफीतावाद ने शिक्षा की उन्मुक्त प्रगति को बड़ा धक्का पहुँचाया और शिक्षा-प्रणाली का लचीलापन नष्ट हो गया। देश में राष्ट्रीय चेतना के उत्पन्न होने पर अंग्रेजी सरकार को शिक्षा के विषय में बड़ी कटु आलोचनाएँ सुननी पड़ीं।

विश्वविद्यालयों का ढाँचा एकदम विदेशी रखा गया। प्रधानतः इन विश्वविद्यालयों की जड़ें इंगलैण्ड में थीं और पत्तियाँ भारत में। सम्भवतः इस आज्ञापत्र के प्रणेता यह बात भूल गये कि अतीत काल में भारत में भी उच्च कोटि के विश्वविद्यालय थे जो देश-विदेश से विद्यार्थियों को आकर्पित करते थे। इसके अतिरिक्त इस आज्ञापत्र के अनुसार सीनेट में सभी सदस्यों के सरकार द्वारा मनोनीत करने का दुष्परिणाम यह हुआ कि सीनेट में अधिकांश में जो कुछ चुने हुए तथाकथित बड़े लोग पहुँच जाते थे वे बहुधा शिक्षा विज्ञान के मर्मज्ञ नहीं होते थे।

अन्त में, सरकारी पदों का लालच देकर विदेशी शिक्षा को प्रोत्साहन देने का दोष भी बहुधा इस आज्ञापत्र के ऊपर लगाया जाता है। इसके प्रणेताओं ने यह बात स्पष्ट कर दी कि "वे असंख्य रिक्त स्थान, जिनको लगातार भरना पड़ता है, शिक्षा के प्रचार में सहायक हो सकते हैं।" इस तरह अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवकों को सरकारी पदों के लिए प्राथमिकता देने का अभिप्राय यह हुआ कि भारत के युवकों तथा उनके अभिभावकों की यही अभिलाषा रहने लगी कि शिक्षा के उपरान्त उन्हें कोई सरकारी

उच्च पद मिल जाय। यह कुप्रवृत्ति आज भी भारत में उसी प्रकार बढ़ी हुई है। परिणामतः देश में शिक्षितों में बेकारी बहुत बढ़ रही है और जिनको कुछ नौकरी इत्यादि मिल भी जाती है वह बहुधा एक सभ्य व सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करने के लिए बिलकुल अपर्याप्त होती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि इस आज्ञापत्र के रचयिताओं का उद्देश्य यह नहीं था कि वे दफ्तरों के लिए क्लर्क या बाबू उत्पन्न करें तथापि स्वर्गीय श्री परांजपे के शब्दों में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि "उनका उद्देश्य यह नहीं था कि शिक्षा नेतृत्व के लिए हो; शिक्षा भारत के औद्योगिक विकास के लिए हो; शिक्षा मातृभूमि की रक्षा के लिए हो; संक्षेप में, वह शिक्षा हो जिसकी एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिकों को आवश्यकता है।"

**उपसंहार**

आज हमें यह मानना पड़ेगा कि इन दोषों के होते हुए भी इस आज्ञापत्र ने भारत में आधुनिक शिक्षा का रूप स्थिर करने में बहुत योग दिया है। उसके रचयिताओं का उद्देश्य सच्चा था। किन्तु खेद का विषय है कि भारत सरकार इसके अनुसार अपना कर्तव्य पालन करने में असफल रही। सरकार ने इन सिफारिशों के अनुसार ईमानदारी से काम नहीं किया। फलतः हम आज भारत की शिक्षा में बहुत-से दोष पाते हैं। लोक शिक्षा पर आज्ञापत्र के जोर देने की अपेक्षा भी उसकी उपेक्षा की गयी। मातृभाषा को उचित स्थान स्कूलों और कालेजों में लगभग एक शताब्दी व्यतीत होने पर आज तक नहीं मिला। उच्च शिक्षा में आज भी अंग्रेजी का प्राधान्य है और आज वह हमारे लिए एक स्वाभाविक व अनिवार्य बुराई बनकर हमारे जीवन पर छा गयी है। औद्योगिक शिक्षा का विकास बहुत दिनों तक टाला गया और आज भी समय की माँग को देखते हुए एक प्रकार से अपर्याप्त चला आ रहा है।

इस पत्र के प्रकाशित होने के बाद ही यहाँ तीन विश्वविद्यालय स्थापित हो गये। प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षा-विभाग बन गया। वहाँ शिक्षा संचालक नियुक्त हो गये और शिक्षा-सहायता-अनुदान प्रत्येक प्रान्त के स्कूल और कालेजों में लागू हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि वुड के इस शिक्षा सम्बन्धी घोषणापत्र का भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक विशेष स्थान है। इसके अन्तर्गत तत्कालीन शिक्षा-समस्याओं का मौलिक विवेचन किया गया। किन्तु आज के भारत में देश की स्थिति बहुत कुछ बदल गयी है और इन परिवर्तित परिस्थितियों में इस घोषणापत्र का कोई विशेष उपयोग नहीं है।

## सारांश

**सन् 1853 में जब कम्पनी को अपना आज्ञापत्र बदलने का अवसर आया तो उसने भारतीय शिक्षा के महत्त्व को समझते हुए एक संसदीय समिति कायम की। समिति ने शिक्षा के महत्त्व पर और भी अधिक प्रकाश डाला। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1854 में एक शिक्षा-घोषणापत्र प्रकाशित किया गया जिसके अध्यक्ष चार्ल्स वुड थे। अतः इसे वुड का शिक्षा-घोषणापत्र कहा जाता है।**

**सिफारिशें—(1) घोषणापत्र में सर्वप्रथम कम्पनी के शिक्षा-उत्तरदायित्व पर**

प्रकाश डाला गया है। उसके उपरान्त माध्यम के प्रश्न पर उन्होंने अंग्रेजी को प्राथमिकता देने के साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया है कि देशी भाषाओं को भी विकसित होने का अवसर दिया जाय।

(2) आज्ञापत्र के अनुसार प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षा-विभाग स्थापित करने की सिफारिश की गयी।

(3) कलकत्ता, बम्बई व मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किये जायँ।

(4) जनसाधारण की शिक्षा की अब तक अवहेलना की गयी थी, अतः आज्ञापत्र में इसके विकास व प्रोत्साहन पर बल दिया गया और देशी स्कूलों को आधार मानकर देश में प्राथमिक व माध्यमिक विद्यालय खोलने की सिफारिश की गयी।

(5) शिक्षा के विकास, शिक्षकों के वेतन, पुस्तकालय-भवन, खेल-कूद तथा विज्ञान आदि के लिए आज्ञापत्र में सहायता-अनुदान देने की सिफारिश की गयी। इस सहायता का एक उद्देश्य मिशनरियों को प्रोत्साहन देना भी था क्योंकि वैयक्तिक क्षेत्र में उन्हीं की प्रमुखता थी।

(6) शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए ट्रेनिंग कॉलेज खोले जायँ।

(7) स्त्री-शिक्षा पर विशेष बल दिया जाय।

इसके अतिरिक्त धार्मिक तटस्थता, औद्योगिक शिक्षा के विकास तथा प्राथमिक शिक्षा के प्रोत्साहन के सम्बन्ध में भी आज्ञापत्र में सिफारिशें की गयीं। वुड के शिक्षा-घोषणापत्र ने भारतीय शिक्षा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। इतिहास में इसका बड़ा महत्त्व है।

# 11

## शिक्षा-प्रगति पर वुड के शिक्षा-घोषणापत्र का प्रभाव

(सन् 1854–1882)

**भूमिका**

सन् 1854 के आज्ञापत्र के अनुसार प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग की स्थापना हो गयी। सन् 1857 में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय भी स्थापित कर दिये गये। शिक्षा-योजनाओं के लिए सरकार ने आर्थिक सहायता भी बढ़ा दी। वस्तुतः सन् 1857 के प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के उपरान्त कम्पनी का शासन भारत में समाप्त हो गया और ब्रिटिश संसद ने भारत का राज्यभार सँभाला। कम्पनी के समय में आधुनिक शिक्षा का आरम्भ अवश्य हो चुका था, किन्तु अपने शासन को पुष्ट करने में वह इतनी व्यस्त रही कि शिक्षा की समस्या उसके समक्ष गौण रही। सन् 1855 तक केवल 1474 शिक्षा-संस्थाएँ कम्पनी के अन्तर्गत हो सकीं। किन्तु इस समय तक सिद्धान्ततः भारत में अंग्रेजी शिक्षा के उद्देश्य, साधन और माध्यम का प्रश्न बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका था।

सन् 1854 के उपरान्त क्रमशः शिक्षा का भारतीयकरण होता जा रहा था। आज्ञापत्र के आदेशों के अनुसार सरकार का उद्देश्य यह था कि शिक्षा को क्रमशः व्यक्तिगत संस्थाओं के हाथों में सौंपकर धीरे-धीरे उस क्षेत्र से पूर्णतः निकल आये। फलतः माध्यमिक तथा कॉलेज शिक्षा के क्षेत्र में वैयक्तिक प्रयास को बहुत प्रोत्साहन दिया गया। अब तक केवल ईसाई मिशन ही व्यक्तिगत साधन थे, किन्तु अब भारतीयों ने भी अधिकतर शिक्षा को अपने हाथ में ले लिया। इतना अवश्य है कि यद्यपि आज्ञापत्र में शिक्षा के विकास के लिए वैयक्तिक साधन को प्रोत्साहन देने की बात कही गयी थी, किन्तु शिक्षा-विभाग ने सदा इस नीति की अवहेलना की और शिक्षा को वैयक्तिक प्रबन्ध में जाने से भरसक रोका। सन् 1857 के विद्रोह के उपरान्त ब्रिटिश संसद भारतीय मिशनरियों को शंका की दृष्टि से देखने लगी। अतः रानी विक्टोरिया की घोषणा में सन् 1858 में सरकार की धार्मिक तटस्थता को स्पष्ट शब्दों में दुहरा दिया गया। ऐसी अवस्था में शिक्षा का प्रबन्ध प्रधानतः शिक्षा-विभाग ने अपने हाथ में रखा। इस प्रकार सन् 1858-82 तक राजकीय विद्यालयों की देश में बाढ़-सी आ गयी। सन् 1855 में जबकि उनकी संख्या 1406 थी, सन् 1882 में वह

15,462 हो गयी। इतना अवश्य है कि मिशनरी स्कूलों के साथ सरकार का रुख बहुत कड़ा हो गया और शिक्षा-विभाग उनके साथ स्पर्द्धा करने लगा। इसका परिणाम यह निकला कि मिशनरियों ने इंगलैण्ड और भारत में यह आन्दोलन चलाना प्रारम्भ कर दिया कि भारत में शिक्षा-संचालन सन् 1854 के घोषणापत्र के अनुसार हो रहा है। शिक्षा के धर्म-विहीन होने की इन लोगों ने विशेष रूप से शिकायत की। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि सन् 1882 में प्रथम 'भारतीय शिक्षा कमीशन' की नियुक्ति हुई जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। इस अध्याय में हम सन् 1854 से 1882 तक की शिक्षा-प्रगति का वर्णन करेंगे।

**(क) विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा**

पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है कि सन् 1854 में कलकत्ता में विश्वविद्यालय स्थापित करने की माँग को सरकार ने पहले टाल दिया था, किन्तु अब यह माँग अधिक नहीं टल सकती थी। भारत में कॉलेज तो पहले से ही थे, यद्यपि जिस संस्था से हम वर्तमान युग में कॉलेज का अर्थ लेते हैं वह सन् 1857 से पूर्व नहीं था। इस प्रकार के पादरियों के कॉलेज मद्रास और बंगाल में कार्यशील थे। इनकी संख्या बंगाल में 7 और मद्रास में 2 थी। सरकारी कालेजों में 3 प्रेसीडेन्सियों में तीन मेडीकल कॉलेज तथा रुड़की में 1 इंजीनियरी कॉलेज (सन् 1847) उल्लेखनीय हैं। अब घोषणापत्र के अनुसार सन् 1857 में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में नियमित विश्वविद्यालय खुल गये। इन विश्वविद्यालयों के लिए अलग-अलग अधिनियम पास किये गये, यद्यपि तीनों प्राय: एक ही प्रकार के थे। अधिनियम के अनुसार विश्व-विद्यालय का प्रबन्ध सीनेट के अन्तर्गत रखा गया, जिसमें कुलपति प्रान्त का गवर्नर, उपकुलपति गवर्नर द्वारा दो वर्ष के लिए मनोनीत तथा 'फैलो' होते थे। 'फैलो' की अधिकतम संख्या नियत नहीं की गयी थी। 'फैलो' भी दो प्रकार के रखे गये। एक तो अपने पद की हैसियत से (Ex-officio) तथा दूसरे साधारण। प्रथम प्रकार के 'फैलो' में चीफ जस्टिस, विशप, गवर्नर की कार्यकारिणी के सदस्य, प्रान्त का शिक्षा संचालक तथा सरकारी कालेजों के प्रिन्सिपल सम्मिलित होते थे। साधारणतया 'फैलो' की मृत्यु, त्यागपत्र तथा स्थायी रूप से भारत छोड़ने पर ही उसका स्थान रिक्त समझा जाता था। अधिकांश में ये 'फैलो' जनता के बड़े कहलाने वाले लोगों में से बिना उनकी शिक्षा-योग्यता का ध्यान रखे हुए नियुक्त कर लिये जाते थे। ज्ञान का वास्त-विक स्रोत तथा शिक्षा की रीढ़, शिक्षक इस संगठन में कोई महत्त्व नहीं रखता था। इस नीति का शिक्षा पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। विश्वविद्यालय के दिन-प्रतिदिन के कार्यों का संचालन करने के लिए 'सिंडीकेट' का निर्माण कर दिया जाता था, किन्तु यह 'सिंडीकेट' अधिनियम के द्वारा उत्पन्न नहीं हुई थी।

यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि घोषणापत्र में विश्वविद्यालयों को सीधे शिक्षा प्रदान करने का कार्य भी सौंपा गया था, किन्तु इस अधिनियम के अनुसार वे केवल परीक्षा लेने तथा प्रमाणपत्र बाँटने के यन्त्र बने रहे। ये विश्वविद्यालय कला, कानून,

चिकित्सा तथा सिविल इंजीनियरी के प्रमाणपत्र बाँटते थे। एक प्रकार की प्रवेशिका परीक्षा (मैट्रीकुलेशन) स्थापित कर दी गयी थी और इसमें उत्तीर्ण होने वाला विद्यार्थी ही विश्वविद्यालय में प्रवेश पा सकता था। इस प्रवेशिका को पास करने के उपरान्त निम्न कोटि के सरकारी पद भी मिल सकते थे। इसके अतिरिक्त प्रवेशिका और बी० ए० के बीच में 2 वर्ष की एक इण्टरमीडिएट कक्षा भी थी।

सन् 1857–82 में उच्च शिक्षा ने अच्छी प्रगति की। इधर माध्यमिक शिक्षालयों की संख्या भी तेजी से बढ़ रही थी, अतः उन विद्यार्थियों के लिए उच्च शिक्षा के लिए कालेजों का खोलना आवश्यक हो गया था। कलकत्ता में प्रवेशिका के परीक्षार्थियों की संख्या दुगुनी हो गयी। सरकार ने भी कालेजों के प्रति अपना दृष्टि-कोण अपेक्षाकृत उदार रखा। फलतः जबकि सन् 1857 में कालेजों की संख्या 27 थी, सन् 1882 में 72 हो गयी। कलकत्ता तथा मद्रास में प्रेसीडेन्सी कालेज खुले। इसी समय सन् 1865 में पंजाब में एक विश्वविद्यालय खोलने के लिए आन्दोलन चला। इस प्रकार सन् 1869 में लाहौर यूनिवर्सिटी कॉलेज की स्थापना हुई जो सन् 1882 में पंजाब विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। यहाँ मातृभाषा के माध्यम से यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान पढ़ाये जाते थे। प्राच्य भाषाओं को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया। उत्तर प्रदेश में भी एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रश्न गवर्नर म्योर ने सन् 1869 में उठाया था और एक किराये के भवन में 1882 में 'सेण्ट्रल कॉलेज' की स्थापना कर दी, जिसका शिलारोपण 1873 में लॉर्ड नौर्थब्रुक ने किया था।

इन राजकीय कालेजों के अतिरिक्त लगभग 34 गैर-सरकारी कॉलेज भी खुले। इनमें दो विशेष उल्लेखनीय हैं। एक तो सन् 1864 में लखनऊ के ताल्लुकेदारों ने लॉर्ड कैनिंग की कृपाओं से अनुगृहीत होकर कैनिंग कॉलेज खोला, जिसमें अंग्रेजी के साथ ही प्राच्य विभाग भी खुला था। इस प्रकार यह कॉलेज आधुनिक लखनऊ विश्वविद्यालय का प्रारम्भ था। दूसरा कॉलेज 'मुस्लिम एंग्लो-ओरिएण्ट कॉलेज,' अलीगढ़ था। इसकी स्थापना सर सैयद अहमद खाँ ने सन् 1875 में मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार करने के लिए की थी। मद्रास में भी पच्चयप्पा स्कूल तथा विशाखापटनम स्कूलों को कालेजों का रूप दे दिया गया। बंगाल में मैट्रोपोलिटन कॉलेज सन् 1878, सिटी कॉलेज 1879 तथा अलबर्ट कॉलेज 1881 में स्कूलों से विकसित होकर कॉलेज बन गये। इसके अतिरिक्त सन् 1870 में राजकोट कॉलेज, 1872 में मेयो कालेज, अजमेर, 1876 में डेली कॉलेज, इन्दौर तथा 1886 में एचीसन कॉलेज, लाहौर राजकुमारों के लिए स्थापित हुए। एक इंजीनियरिंग कॉलेज भी कलकत्ता में खोला गया। प्रायः सभी कॉलेज केवल कला में शिक्षा देने के लिए खोले गये।

**आलोचना**—इस प्रकार बनने वाले विश्वविद्यालयों में कई त्रुटियाँ थीं। क्योंकि उनकी स्थापना सरकार ने की थी, अतः उनके प्रबन्ध में अफसरों का सदा बहुमत रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विश्वविद्यालयों का उद्देश्य उच्च शिक्षा न होकर केवल कुछ शिक्षित व्यक्ति तैयार करना था, जो सरकारी मशीन के पुर्जे बन सकें।

प्राचीन काल में भारतीय विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा जीवन को महान्, दिव्य तथा अमर बनाने के लिए होती थी। जो कुछ विद्यार्थी पढ़ते थे वह उनके जीवन में काम आता था। किन्तु इन आधुनिक विश्वविद्यालयों ने भारत में एक ऐसी भयानक परम्परा को जन्म दिया जो आज तक अपना विषाक्त प्रभाव भारतीय उच्च शिक्षा के क्षेत्र में बनाये हुए है। विश्वविद्यालयों में कुछ वर्ष शिक्षा पाने के उपरान्त विद्यार्थी को कागज का प्रमाणपत्र मिलने लगा। यही उसकी वास्तविक योग्यताओं का प्रतीक था, शेष जो कुछ भी उसने विद्यालय में पढ़ा वह आसानी से भुलाया जा सकता था। यह आवश्यक नहीं था कि वह अपने ज्ञान तथा विद्वत्ता को मस्तिष्क में रखकर जीवन में अग्रसर हो। केवल इन कागजी प्रमाणपत्रों के बल पर हमारे शिक्षित युवक क्रमशः अपनी संस्कृति, परम्परा और साधारण जनता से दूर होने लगे।

दूसरे, इन विश्वविद्यालयों में औद्योगिक शिक्षा की अवहेलना करके केवल कला सम्बन्धी विषयों का ही शिक्षण दिया गया। यह बात कहना व्यर्थ है कि भारत को औद्योगिक शिक्षालयों की कितनी तीव्र आवश्यकता थी, और जो उदाहरण इन प्रारम्भिक विश्वविद्यालयों ने रखा उसका अनुकरण बाद में भी किया गया। फलतः आज हम भारत को औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ पाते हैं। हमारे ये विश्वविद्यालय ऐसे कर्मठ उत्पन्न न कर सके जो कारखानों, खेतों तथा खानों में देश का निर्माण करते हुए देखे जाते, प्रत्युत उन्होंने ऐसे कोमलांग, शुभ्रवदन कृशकायों को जन्म दिया जो केवल लिखने-पढ़ने के उद्यमों में ही अपने दुर्बल जीवन को समाप्त कर देते हैं। तीसरे, इन विश्वविद्यालयों में शिक्षण-कार्य न होकर केवल परीक्षा ही ली जाती थी। यह हानिकर सिद्ध हुआ। चौथे, सीनेट में अध्यापकों का उचित प्रतिनिधित्व न होने से शिक्षा-विशेषज्ञों की राय से बंचित रहना पड़ा।

अन्त में, विश्वविद्यालयों के निरीक्षण में नौकरशाही का हाथ अधिक रहा, क्योंकि ये सरकार की संस्थाएँ थीं। सरकारी निरीक्षकों की रिपोर्टों पर ही इनकी उन्नति व अवनति निर्भर थी, फलतः विश्वविद्यालयों का स्वाभाविक विकास न हो सका।

**(ख) माध्यमिक शिक्षा**

सरकारी आज्ञापत्र के द्वारा निर्देशित आदेशों के अनुसार इस काल में माध्यमिक शिक्षा की भारत में बहुत सन्तोषजनक प्रगति रही। वास्तव में सरकारी शिक्षा-विभाग ने इतना ध्यान प्रारम्भिक अथवा उच्च शिक्षा की ओर नहीं दिया जितना माध्यमिक शिक्षा की ओर। इस काल में राजकीय माध्यमिक स्कूल भी खुले और साथ ही वैयक्तिक प्रबन्धों को भी अनुदान द्वारा प्रोत्साहित किया गया, अतः इन स्कूलों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। सन् 1870 तक तो राजकीय माध्यमिक स्कूलों की संख्या खूब बढ़ी। उसके उपरान्त सरकार का ध्यान प्रारम्भिक शिक्षा की ओर अधिक आकृष्ट हो गया। इस प्रकार जबकि सन् 1854 में राजकीय विद्यालयों की संख्या 169 थी, जिनमें 18,345 विद्यार्थी पढ़ते थे तो सन् 1882 में इनकी संख्या 1363 हो गयी जिनमें 44,605 विद्यार्थी शिक्षा पाने लगे। इधर सरकार ने व्यक्तिगत प्रबन्धों को

सहायता-अनुदान देने के नियम प्रत्येक प्रान्त में बना दिये और उनके अनुसार स्कूलों को उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता दी जिससे उनकी संख्या में भी सन्तोषजनक वृद्धि हुई।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सन् 1857 की घटनाओं के उपरान्त भारत सरकार मिशनरियों पर कुछ कड़ी आँख रखने लगी थी, और इधर शिक्षा-क्षेत्र में अब तक वैयक्तिक प्रयास अधिकांश में ईसाइयों का था किन्तु सन् 1882 के अन्त तक भारतीयों ने भी इस ओर बड़ी रुचि दिखायी थी और इसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1882 में भारतीयों के अन्तर्गत 1341 तथा पादरियों के अन्तर्गत 757 माध्यमिक स्कूल थे। इसमें बंगाल में 582 और मद्रास में 698 शिक्षालय भारतीयों के प्रबन्ध में थे। बम्बई, आगरा, पंजाब तथा आसाम में भी इस दिशा की ओर सूत्रपात हो चुका था।

मिशनरियों के माध्यमिक शिक्षालय बंगाल में 40, मद्रास में 418, पंजाब में 118 और आगरा प्रान्त में 104 थे। मद्रास इनका प्रमुख केन्द्र था। इस प्रकार सब सरकारी और गैर-सरकारी माध्यमिक स्कूलों की संख्या सन् 1882 में जाकर 4122 हो गयी। गैर-सरकारी स्कूलों की बंगाल में वृद्धि होने का कारण यह था कि ये अधिकतर अपना व्यय फीस से चला लेते थे, इसलिए सरकारी सहायता की चिन्ता नहीं करते थे। साथ ही विश्वविद्यालयों का इन पर कोई नियन्त्रण नहीं था। क्योंकि वे सरकारी सहायता पर निर्भर नहीं थे, अतः शिक्षा-विभाग भी उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता था।

**दोष**—इस काल में माध्यमिक विद्यालय बढ़े तो अबाध गति से थे किन्तु इनमें कुछ दोष थे। सर्वप्रथम उनका माध्यम प्रधानतः अंग्रेजी हो गया। यद्यपि सन् 1854 के आज्ञापत्र में मातृभाषा का माध्यम रखने की जोरदार सिफारिश की गयी थी, किन्तु देश में अंग्रेजी का प्रभुत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। यहाँ तक कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में सन् 1862 से 'मैट्रीकुलेशन' परीक्षा में भूगोल, इतिहास, गणित तथा विज्ञान इत्यादि विषयों में उत्तर देने के लिए अंग्रेजी को अनिवार्य कर दिया गया, जो अब तक केवल विद्यार्थी की इच्छा पर निर्भर था। बहुत-से मिडिल स्कूलों में भी अंग्रेजी पढ़ायी जाने लगी और दो प्रकार के मिडिल स्कूल—एंग्लो हिन्दुस्तानी तथा वर्नाक्यूलर मिडिल—होने लगे। अंग्रेजी की इस प्रभुता के कई कारण थे। एक तो जनता में अंग्रेजी की माँग बढ़ रही थी और इसका ज्ञान आधुनिक सभ्यता का प्रतीक समझा जाने लगा था। दूसरे, कालेजों में शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण विद्यार्थियों के लिए यह आवश्यक था कि कॉलेज-प्रवेश के पूर्व इस भाषा का उनका ज्ञान बहुत अच्छा होना चाहिए, अन्यथा जितना समय उन्हें विषय को समझने में लगता था उससे कहीं अधिक कठिनाई भाषा का अर्थ समझने में होती थी। अधिकांश कालेजों में प्रबन्धक या शिक्षक प्रायः यूरोपीय थे। इस प्रकार माध्यमिक स्तर पर देश में प्रारम्भ से ही मातृभाषाओं की अवहेलना होती रही।

दूसरा दोष था प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव। उस समय सम्पूर्ण भारत में

केवल दो स्कूल एक मद्रास में तथा दूसरा लाहौर में थे जहाँ अध्यापकों को ट्रेनिंग दी जाती थी। यह अवस्था बड़ी असन्तोषजनक थी। ट्रेनिंग भी बहुत साधारण कोटि की दी जाती थी।

तीसरा दोष था केवल पुस्तकीय ज्ञान पर जोर देना और औद्योगिक शिक्षा का अभाव । यह कोरा पुस्तकीय ज्ञान जीवन को सम्पूर्ण अंगों में व्यावहारिक रूप से उपयोगी नहीं बनाता था । सारे भारत में सन् 1882 में, केवल बम्बई में एक स्कूल को छोड़कर जहाँ कृषक बालकों को कृषि का व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए 4 रुपये की छात्रवृत्ति दी जाती थी, कोई अन्य स्कूल ऐसा नहीं था जहाँ किसी भी प्रकार की औद्योगिक शिक्षा दी जाती हो । इसका प्रमुख कारण यह था कि लोगों का उद्देश्य एण्ट्रेन्स पास करके या तो तत्काल ही नौकरी पा जाने का था, अथवा कॉलेज में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होकर प्रवेश पा जाने का था, जिसके लिए मैट्रिक का प्रमाणपत्र अनिवार्य था । इसके अतिरिक्त सरकारी स्कूल में भी इसकी कोई व्यवस्था नहीं थी । अतः वैयक्तिक प्रबन्धक उनसे औद्योगिक शिक्षा के लिए प्रेरणा न ले सके। सरकार तो इधर से निश्चय ही उदासीन थी । सम्भवतः उसकी दृष्टि में उस समय भारत का औद्योगिक विकास इंगलैण्ड की व्यापारिक नीति के लिए अहितकर था । धन का अभाव भी माध्यमिक स्कूलों में औद्योगिक शिक्षा न प्रारम्भ करने का एक शक्तिवान् कारण बना रहा, और यह दुर्दशा आज तक भी अक्षुण्ण बनी हुई है ।

**स्टैनले का आज्ञापत्र**

सन् 1857 के उपरान्त भारत में कम्पनी का शासन समाप्त हुआ और ब्रिटिश संसद में भारत मन्त्री के पद का प्रादुर्भाव हुआ । सर्वप्रथम लॉर्ड स्टैनले की नियुक्ति इस पद पर हुई । लॉर्ड स्टैनले इस बात की जाँच करना चाहता था कि भारत के स्वातन्त्र्य-संघर्ष का यहाँ की शिक्षा-नीति से भी कुछ सम्बन्ध है अथवा नहीं । इसके अतिरिक्त वह शिक्षा पर सन् 1854 के आज्ञापत्र की भी प्रतिक्रिया देखना चाहता था । तदनुसार सन् 1859 में लॉर्ड स्टैनले ने सन् 1854 के आज्ञापत्र की नीति का समर्थन किया । केवल प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ परिवर्तन किये ।

इस नये आज्ञापत्र के अनुसार लॉर्ड स्टैनले ने शिक्षकों की दीक्षा पर विशेष जोर दिया । प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में उसकी धारणा थी कि इस क्षेत्र में कुछ भी कार्य नहीं हुआ है । अतः आवश्यकता इस बात की है कि जनसाधारण की शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाय और साथ ही जो 'सहायता-अनुदान प्रथा' सन् 1854 के आज्ञापत्र के द्वारा जारी की गयी थी उसे तो केवल माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा तक ही सीमित रखा जाय और प्रारम्भिक शिक्षा के लिए सरकार सीधा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले, क्योंकि सहायता-अनुदान प्रथा प्रारम्भिक स्कूलों के लिए लाभदायक नहीं है । प्रारम्भिक शिक्षा के व्यय के लिए इस आज्ञापत्र में भी कहा गया कि सरकार आवश्यकता पड़ने पर लोगों पर एक स्थानीय कर लगाये । लॉर्ड स्टैनले वास्तव में इंगलैण्ड की तत्कालीन शिक्षा-नीति से प्रभावित हुआ, जहाँ स्थानीय करों तथा जन-शिक्षालयों के लिए आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था ।

इसके साथ ही सन् 1859 में शिक्षा को आंशिक रूप से केन्द्रीय सरकार से प्रान्तीय सरकारों को हस्तान्तरित कर दिया गया। लॉर्ड मेयो ने सन् 1871 में शिक्षा-विभागों का नियन्त्रण भी प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिया और उन्हें अपना व्यय करने का अधिकार दे दिया। इसके उपरान्त सन् 1877 में लॉर्ड लिटन ने शिक्षा का और भी अधिक विकेन्द्रीकरण कर दिया। इसके अनुसार शिक्षा पूर्णतः पाँच वर्ष के लिए प्रान्त के अधिकार में आ गयी तथा कानून और आबकारी विभागों की आय का कुछ भाग इसके व्यय के लिए नियत कर दिया गया। किन्तु केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व एक देशव्यापी शिक्षा-नीति निर्धारित करने का बना रहा। यह अवस्था सन् 1882 तक रही।

**(ग) प्राथमिक शिक्षा**

यह तो हम देख ही चुके हैं कि सन् 1854 तक प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में राजकीय प्रयत्न बड़े निराशाजनक थे और कम्पनी एक प्रकार से उच्च वर्ग के लिए उच्च शिक्षा देना ही अपना कर्तव्य समझती थी। सन् 1854 में कम्पनी का ध्यान इस ओर गया और प्रारम्भिक शिक्षा के निरीक्षण तथा सरकारी अनुदान देने का भार कम्पनी ने लिया। किन्तु अनुदान तो प्रायः उच्च शिक्षा के ही लिए दिये गये और देशी प्रारम्भिक शिक्षा के लिए कुछ न किया जा सका। वास्तव में सन् 1859 के उपरान्त एक प्रकार का विवाद उठ खड़ा हुआ। यह विवाद प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में था जिसके विषय थे कि इस शिक्षा को सरकारी आय से सहायता-अनुदान दिया जाय अथवा नहीं, स्थानीय कर लगाये जायँ अथवा नहीं और देशी स्कूलों के प्रति क्या नीति रखी जाय ? किन्तु अन्त में प्रत्येक प्रान्त में अपनी-अपनी नीति के अनुसरण करने की स्वतन्त्रता दे दी गयी। बम्बई और बंगाल ने बिलकुल ही विरोधी रुख ग्रहण किये। बम्बई ने देशी स्कूलों की अवहेलना कर दी और सरकारी स्कूल खोले, जबकि बंगाल ने देशी स्कूलों को प्रोत्साहन दिया। मद्रास ने एक मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। सन् 1882 में बम्बई में केवल 73 सहायता-प्राप्त देशी स्कूल थे और 3954 स्कूल शिक्षा-विभाग द्वारा संचालित थे। बंगाल में 28 स्कूल शिक्षा-विभाग के और 47,374 सहायता-प्राप्त देशी स्कूल थे। मद्रास में 1263 सरकारी और 13,223 देशी स्कूल थे। आसाम में भी 7 सरकारी स्कूल स्थापित हो गये। इसके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर आगरा प्रान्त (उत्तर प्रदेश) अपनी 'हलकाबन्दी योजना' के आधार पर ही बढ़ता रहा। सन् 1882 में वहाँ 6172 बिना सहायता-प्राप्त देशी स्कूल तथा 243 सहायता-प्राप्त प्राथमिक स्कूल थे। कुर्ग ने भी बम्बई का अनुकरण किया। पंजाब में 13,109 देशी तथा 278 सहायता-प्राप्त स्कूल थे। मध्य प्रान्त में देशी स्कूलों को बहुत प्रोत्साहन मिला, किन्तु वहाँ की शिक्षा-व्यवस्था शिथिल थी। बरार ने भी बम्बई का अनुकरण किया और वहाँ सन् 1882 में 467 शिक्षा-विभाग के, 209 सहायता-प्राप्त और 208 गैर-सहायता-प्राप्त स्कूल थे। यहाँ देशी स्कूलों को भी प्रोत्साहन दिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ प्रान्तों के अतिरिक्त देशी स्कूलों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला। फलतः धीरे-धीरे ये स्कूल या तो समाप्त हो गये अथवा सरकारी स्कूलों में विलीन हो गये।

जहाँ तक स्थानीय कर लगाने का प्रश्न था, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। वास्तव में ये स्थानीय कर केवल शिक्षा ही के लिए नहीं थे अपितु इनमें जनहित की अन्य चीजें भी सम्मिलित थीं, जैसे पुलिस, सड़क व चिकित्सा इत्यादि। अतः एक तो इसकी आय में से शिक्षा का भाग नियत करना एक प्रमुख प्रश्न था; दूसरे, यह स्थानीय कर अन्य प्रान्तों में तो लागू हो सकता था, किन्तु बंगाल में 'स्थायी बन्दोबस्त' के कारण यह कर नहीं लगाया जा सकता था। गाँवों में तो भूमि की मालगुजारी ही इस कर का आधार थी और 'स्थायी बन्दोबस्त' होने से इसमें आपत्ति थी क्योंकि इस प्रबन्ध में मालगुजारी नियत थी और उस पर अन्य कर नहीं लगाये जा सकते थे। पश्चिमोत्तर प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में तो टॉमसन ने पहले से ही अपनी योजना के अनुसार एक प्रतिशत कर मालगुजारी पर लगा दिया था। सन् 1866 तक यह शिक्षा-कर मालगुजारी का भाग बन गया था। सन् 1871 में इसकी पुनः जाँच कर ली गयी।

इसी प्रकार पंजाब में सन् 1857 में भूमि पर स्थानीय कर लागू कर दिया और सन् 1871 में इसकी पुनः जाँच की गयी। धीरे-धीरे यह योजना सभी प्रान्तों ने स्वीकार कर ली। अवध में सन् 1861 में मालगुजारी पर ढाई प्रतिशत कर लगा दिया गया जिसका एक प्रतिशत शिक्षा के लिए नियत कर दिया गया। मध्य प्रान्त में सन् 1862 में एक प्रतिशत कर लगा दिया गया जो बाद में दो प्रतिशत कर दिया गया। बम्बई ने सन् 1863 में सवा छह प्रतिशत स्थानीय कर लगा दिया जिसका तिहाई केवल शिक्षा को नियत कर दिया। इसी प्रकार सिन्ध ने 1865 में, मद्रास ने 1866 में तथा आसाम ने 1879 में इसी प्रकार के स्थानीय कर लगाये, जिनका कुछ उचित अंश प्राथमिक शिक्षा के लिए नियत कर दिया गया।

गाँवों के अतिरिक्त नगरों में मकानों पर इस प्रकार का कर लगाया गया, जिसका प्रबन्ध नगरपालिकाओं को सौंप दिया गया। किन्तु इन नगरपालिकाओं ने सन्तोषजनक कार्य नहीं किया और उस समय प्राथमिक शिक्षा में कुछ अधिक योग न दे सकीं। परिणामतः गाँवों से जो रुपया भूमि की मालगुजारी पर कर के रूप में इकट्ठा किया जाता था उसका अधिकांश नगरों में व्यय होने लगा। आगे चलकर भारतीय शिक्षा कमीशन ने गाँव और नगरों के स्थानीय करों को अलग-अलग करने की सिफारिश की। कहीं-कहीं पर यह कर माध्यमिक तथा कॉलेज शिक्षा पर भी व्यय कर दिया जाता था, यद्यपि इसका उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा का विकास था। यहाँ तक कि कुछ प्रान्तों में तो शिक्षा-कर को शिक्षा के अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी व्यय किया गया। अन्त में सन् 1871 में इस विषय में निश्चित आदेश हुए।

बंगाल में यद्यपि स्थानीय शिक्षा-कर नहीं लगाया गया था, तथापि वहाँ सरकारी अनुदान के कारण देशी प्राथमिक शिक्षा का खूब विकास हुआ तथा 'सर्किल

स्कूल प्रथा' चालू हो गयी जो कालान्तर में नार्मल स्कूल प्रथा में परिवर्तित हो गयी।

इस प्रकार सन् 1871 से 1872 तक प्राथमिक शिक्षा का भारत में पर्याप्त विकास हुआ। परिणामतः सन् 1882 में यहाँ 82,916 स्कूल थे, जिनमें लगभग 21 लाख बालक शिक्षा पाते थे, जबकि 1871 में केवल 16,473 स्कूल थे जिनमें साढ़े छः लाख बालक थे, तथापि भारत की जनसंख्या को देखते हुए साक्षरता का प्रतिशत बहुत नीचा था। वास्तव में धनाभाव, सरकार की नीति तथा उदासीनता इत्यादि कुछ ऐसे कारण थे जिनके कारण प्राथमिक शिक्षा में आशाजनक परिणाम उपलब्ध न हो सके। देश की जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी, किन्तु शिक्षा-विकास बहुत मन्द गति से हो रहा था। अतः शिक्षा-क्षेत्र में किसी अधिक उदार और जागृत नीति की आवश्यकता थी। सन् 1857 के विप्लव के उपरान्त सरकारी अफसरों ने ईसाई पादरियों के प्रति भी अपना रुख कड़ा कर दिया था और सरकारी शिक्षालय एक प्रकार से ईसाई मिशनरी शिक्षालयों से प्रतिस्पर्द्धा करने लगे थे। फलतः पादरियों ने भारत तथा इंगलैण्ड में एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। उन्होंने सरकारी अफसरों को नास्तिक तथा स्कूलों को 'ईश्वर-विहीन' और 'अधार्मिक' कहा। इन्हीं सब कारणों के फलस्वरूप सन् 1882 का प्रसिद्ध 'भारतीय शिक्षा कमीशन' नियुक्त हुआ।

## सारांश

**सन् 1854 के उपरान्त वुड के घोषणापत्र पर अमल किया गया। प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग स्थापित हो गये। सन् 1857 में राज्य-क्रान्ति के उपरान्त कम्पनी का राज्य सीधा अंग्रेजी ताज के अन्तर्गत चलाया गया, अतः शिक्षा का भार भी ब्रिटेन की संसद पर पड़ गया। इस समय तक माध्यम, उद्देश्य एवं साधन सम्बन्धी सभी विवादों का अन्त हो चुका था। अब क्रमशः शिक्षा का भारतीयकरण होने लगा। वैयक्तिक क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों के साथ ही साथ भारतीय भी शिक्षा-क्षेत्र में आगे बढ़ने लगे। यहाँ तक कि सरकार ने धार्मिक तटस्थता की घोषणा कर दी। इससे देश में भारतीय प्रबन्धकों के अन्तर्गत बहुत-से विद्यालय स्थापित होने लगे।**

**विश्वविद्यालय शिक्षा—सन् 1857 में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित कर दिये गये; इन्हीं प्रान्तों में तीन मेडिकल कॉलेज तथा रुड़की में इंजीनियरी कॉलेज पहले ही खुल चुके थे। विश्वविद्यालयों की स्थापना के समय तत्सम्बन्धी विधानों का भी निर्माण किया गया। इधर माध्यमिक शिक्षा के बढ़ने से इस दौरान विश्वविद्यालय शिक्षा का भी विकास होने लगा। इन विश्वविद्यालयों में कला, विज्ञान, कानून, चिकित्सा इत्यादि की शिक्षा दी जाने लगी।**

**सन् 1869 में लाहौर यूनिवर्सिटी कॉलेज खुला जो 1822 में विश्वविद्यालय बन गया। उत्तर प्रदेश में सन् 1869 में इलाहाबाद में सेण्ट्रल कॉलेज खुला। 1864 में लखनऊ में भी कैनिंग कॉलेज स्थापित हो चुका था जो आगे चलकर विश्वविद्यालय**

बन गया। इसी प्रकार 1875 में मुसलमानों में शिक्षा-प्रचार करने के उद्देश्य से अलीगढ़ में सर सैयद अहमद खां ने मुस्लिम एंग्लो ओरिएण्टल कॉलेज की स्थापना की। मद्रास में भी पच्चयप्पा ने अतुल धन-राशि देकर कॉलेज की स्थापना की। इसी प्रकार अन्य प्रमुख कॉलेज भी खुले।

माध्यमिक शिक्षा—वुड के आज्ञापत्र के आधार पर माध्यमिक शिक्षा ने भी देश में बहुत प्रगति की। शिक्षा-विभाग ने माध्यमिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया। सन् 1854 में सरकारी हाई स्कूल 169 थे जो 1882 में 1363 हो गये। विद्यार्थियों की संख्या भी 18,345 के स्थान पर 44,605 हो गयी। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी अब वैयक्तिक प्रयास में ईसाई मिशनरियों का एकाधिकार टूटने लगा और भारतीय शिक्षा-प्रेमी प्रबन्ध-क्षेत्र में आगे बढ़ने लगे।

माध्यमिक शिक्षा की प्रगति तो सन्तोषजनक रही किन्तु कुछ दोष इसमें आ गये। एक तो माध्यम अब पूर्णतः अंग्रेजी हो गया; दूसरे, प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव रहने लगा। तीसरा दोष था कि औद्योगिक शिक्षा के अभाव में सारा जोर केवल पुस्तकीय ज्ञान पर दिया गया।

लॉर्ड स्टैनले ने शिक्षकों के प्रशिक्षण पर बल दिया किन्तु उसके प्रयत्न अधिकांश में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में रहे। साथ ही 1859 में आंशिक रूप से शिक्षा को प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिया। 1871 में लॉर्ड मेयो ने शिक्षा-विभागों को भी प्रान्तीय सरकारों के अन्तर्गत कर दिया। लॉर्ड लिटन ने 1877 में शिक्षा में और अधिक विकेन्द्रीकरण किया। इससे लाभ हुआ।

प्राथमिक शिक्षा—सन् 1854 तक प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में राजकीय प्रयत्न निराशाजनक थे। उच्च शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता था। सन् 1854 के बाद प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक विवाद उठ खड़ा हुआ कि प्राथमिक पाठशालाओं को अनुदान मिलेगा या नहीं; स्थानीय कर लगाये जायें अथवा नहीं तथा देशी स्कूलों को विकसित किया जाय अथवा नये प्रकार की पाठशालाएँ खोली जायें। प्रत्येक प्रान्त को अपनी नीति का अनुसरण करने की स्वतन्त्रता दे दी गयी। फलतः बम्बई ने देशी स्कूलों की अवहेलना कर दी और बंगाल में उन्हें प्रोत्साहन मिला। मद्रास ने मध्यम मार्ग अपनाया। इसी प्रकार आसाम, आगरा तथा पंजाब इत्यादि ने अपनी-अपनी योजनाएँ अपनायीं। धीरे-धीरे देशी स्कूल नष्ट हो गये। कई प्रान्तों में स्थानीय कर भी शिक्षा-विकास के हेतु लगा दिया गया। यह कर गांवों तथा नगरों दोनों में लगाया गया।

इन सभी प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1854 के उपरान्त 1882 तक प्राथमिक स्कूलों एवं उनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या में सभी प्रान्तों में पर्याप्त वृद्धि हुई।

# 12

# भारतीय शिक्षा-कमीशन तथा उसके उपरान्त शिक्षा-प्रगति
## (सन् 1882–1904)

## (क) भारतीय शिक्षा कमीशन

**भूमिका**

हम पिछले अध्याय में संकेत कर चुके हैं कि सन् 1854 के आज्ञापत्र के उपरान्त भारत में ईसाई पादरियों को 'सहायता-अनुदान प्रथा' के कारण जो आशा बँधी थी वह पूरी न हो सकी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग में सरकारी शिक्षा-विभाग की नीति ऐसी रही जिससे कॉलेज की उच्च शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा की अधिक उन्नति हुई और प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना की गयी, किन्तु इसके साथ ही पादरियों ने एक आन्दोलन चलाया। वास्तव में वे भारत में शिक्षा के द्वारा धार्मिक प्रचार कर रहे थे, अतः शिक्षा-संस्थाओं पर अपना पूर्ण अधिकार चाहते थे। यही कारण था कि वे शिक्षा-विभाग द्वारा खोले हुए राजकीय स्कूलों को नहीं चाहते थे। साथ ही सरकार की धार्मिक तटस्थता की नीति भी उन्हें अरुचिकर प्रतीत होती थी। अतः वे आन्दोलन करने लगे कि भारत में शिक्षा-नीति सन् 1854 के आज्ञापत्र के विरुद्ध जा रही है। इस आन्दोलन की लपटें इंगलैण्ड तक पहुँच गयीं और वहाँ भी 'जनरल काउन्सिल ऑव एजूकेशन इन इण्डिया' नामक एक संगठन बना लिया गया जिसमें लॉर्ड हैलीफैक्स तथा लॉर्ड लॉरेंस जैसे व्यक्ति सम्मिलित थे। सन् 1882 के प्रारम्भ में जब लॉर्ड रिपन भारत के वायसराय पद पर नियुक्त हुए तो इस संगठन के प्रतिनिधियों ने अपना एक शिष्टमण्डल उनसे मिलने भेजा जिसने भारतीय शिक्षा की जाँच करने की प्रार्थना की। लॉर्ड रिपन ने उत्तर दिया —

"सन् 1854 के आज्ञापत्र ने वास्तविक भारतीय शिक्षा-नीति को स्पष्टतः तथा जोरदार शब्दों में निर्धारित कर दिया है और मेरी इच्छा भी इसी नीति पर चलने की रहेगी।........भारत में पहुँचने पर यह मेरा कर्तव्य होगा कि इस प्रश्न की पूर्ण जाँच वहाँ उपलब्ध सूचना के आधार पर करूँ। किन्तु मैं नहीं कह सकता कि मेरे ऊपर पक्षपात का दोष लगेगा, यदि मैं यह स्वीकार करूँ कि इस समय भी भारत के निर्धनों में प्राथमिक शिक्षा के विकास व प्रसार की आपकी इच्छा के साथ मेरी

पूर्ण सहानुभूति है । इंगलैण्ड में यह प्रश्न कई वर्षों से मेरे लिए विशेष अनुराग का विषय रहा है और भारत पहुँचने पर भी यह कम न होगा ।"[1]

**नियुक्ति**

तदनुसार भारत आने पर 3 फरवरी, 1882 को लॉर्ड रिपन ने विलियम हण्टर की अधीनता में, जो वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य थे, प्रथम भारतीय शिक्षा कमीशन की नियुक्ति की । श्री हण्टर के इस कमीशन के चेयरमैन होने के कारण कभी-कभी इसका नाम 'हण्टर कमीशन' भी लिया जाता है । चेयरमैन के अतिरिक्त इसमें 20 सदस्य और थे जिनमें भारतीय प्रतिनिधि सैयद महमूद, भूदेव मुकर्जी, आनन्दमोहन बोस, के० टी० तैलंग इत्यादि, तथा पादरियों के प्रतिनिधि मद्रास के डॉ० मिलर थे । श्री बी० एल० राइस, शिक्षा संचालक मैसूर, इसके मन्त्री नियुक्त हुए ।

**उद्देश्य**

जैसा कि पूर्व-विदित है, सन् 1854 के आज्ञापत्र की प्रमुख नीति, जैसा कि स्टार्क ने कहा है, सरकार के प्रयत्नों को उच्च शिक्षा से हटाकर जनसाधारण की प्राथमिक शिक्षा की ओर ले जाने की थी । साथ ही भारत में प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए जनता में सरकार की तत्कालीन नीति से कुछ असन्तोष भी था और इंगलैण्ड में भी सन् 1880 में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए 'एलीमेण्टरी एजूकेशन एक्ट' पास हो चुका था । अतः इस कमीशन ने भी भारत में प्राथमिक शिक्षा की जाँच को प्राथमिकता दी । विश्वविद्यालय शिक्षा, औद्योगिक तथा यूरोपीय शिक्षा इत्यादि इसकी जाँच के विषय नहीं थे । संक्षेप में, कमीशन को निम्नलिखित बातों की जाँच करनी थी—(1) प्राथमिक शिक्षा की अवस्था तथा उसके विकास के उपाय; (2) सरकारी शिक्षालयों की अवस्था तथा उनकी आवश्यकता; (3) मिशनरी शिक्षालयों का भारतीय शिक्षा में स्थान; तथा (4) वैयक्तिक प्रयास के प्रति सरकार की नीति । सहायता-अनुदान प्रथा की जाँच भी कमीशन को सौंपी गयी । इसके अतिरिक्त माध्यमिक तथा कॉलेज शिक्षा के विषय में भी कमीशन ने अपने सुझाव दिये ।

इस आयोग का वास्तविक उद्देश्य "विशेषतः उस विधि की जाँच करना था जिसके अनुसार सन् 1854 के घोषणापत्र के सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया गया था तथा उस घोषणापत्र में निहित नीति को भविष्य में भी अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ऐसे सुझाव देना था जो कमीशन के मतानुसार वांछनीय हों ।"

इस प्रकार नियुक्ति के उपरान्त कमीशन ने लगभग दो माह तक कलकत्ता में अपनी बैठकें कीं और तदुपरान्त आठ माह तक सारे देश का भ्रमण किया । इस कठिन परिश्रम के उपरान्त कमीशन ने अपनी 600 पृष्ठों की रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके साथ में कुछ प्रान्तीय रिपोर्टें भी थीं । इस प्रकार भारतीय शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास देते हुए उन्होंने भावी शिक्षा-विकास के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे ।

[1] Stark, p. 105.

**सिफारिशें**

यहाँ संक्षेप में हम कमीशन के द्वारा की गयी सिफारिशों का वर्णन करते हैं। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि प्राय: कमीशन ने उन्हीं बातों को कुछ घटा-बढ़ाकर दुहराया जिन्हें सन् 1854 के आज्ञापत्र द्वारा कुछ वर्ष पूर्व ही स्वीकार कर लिया गया था।

**देशी शिक्षा**—कमीशन ने देशी शिक्षालय का अभिप्राय उस स्कूल से लिया 'जो भारतवासियों द्वारा भारतीय प्रणालियों के आधार पर संचालित हो।' इन स्कूलों के विकास, संरक्षण तथा इन्हें नये ढाँचे में सम्मिलित करने के लिए कमीशन ने सिफारिश की। यह बात अनुभव की गयी कि अनन्त काल की कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करते हुए भी देशी स्कूल आज तक जीवित हैं; यह उनकी 'सजीवता तथा सर्वप्रियता' का द्योतक है।[2] मद्रास और बंगाल के उदाहरणों ने यह भी सिद्ध कर दिया था कि इन देशी स्कूलों को आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना सम्भव है। अत: कमीशन ने कहा कि "देशी स्कूलों को यदि सरकार सुझावों के अनुसार स्वीकार कर लेती है तथा सहायता देती है तो अवश्य ही उनकी शिक्षण-प्रणाली में सुधार की आशा की जा सकती है और इस प्रकार वे सरकार द्वारा संचालित राष्ट्रीय शिक्षा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान की पूर्ति कर सकते हैं।"[3]

इन स्कूलों के प्रबन्ध के लिए कमीशन ने ऐसे जिला बोर्ड तथा म्यूनिसिपल बोर्ड, जिनमें भारतीयों का प्रतिनिधित्व हो, निर्माण करने की सिफारिश की तथा उनके पाठ्यक्रम में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप करने का निषेध किया। इन स्कूलों के शिक्षकों को प्रशिक्षण देकर उत्साहित करने का सुझाव भी रखा। अन्त में इनका पाठ्यक्रम, पाठ्य-विधि तथा परीक्षा इत्यादि के मानदण्ड के लिए प्रत्येक प्रान्त को स्वतन्त्र रखा गया। पाठ्यक्रम में कुछ उपयोगी विषयों को सम्मिलित करने के लिए कुछ विशेष आर्थिक सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की। इस प्रकार जो देशी शिक्षा इतने दिनों में उचित संरक्षण के अभाव में प्राय: जर्जरित हो चुकी थी, पुन: संरक्षण का आश्वासन पाकर प्रगति करने लगी। किन्तु इतना अवश्य है कि कमीशन ने जिस 'परीक्षाफल के अनुसार वेतन प्रथा' (Payment by result system) को माध्यमिक व कालेजीय शिक्षा के लिए बुरा बताया था उसी को देशी शिक्षा के लिए स्वीकृत करके देशी शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसी परम्परा को जन्म दिया जिसके कारण प्राय: सभी प्रान्तों में प्राथमिक शिक्षा में 'सहायता-अनुदान प्रथा' के नियमों के ऊपर उपर्युक्त नियम का आधिपत्य हो गया जिससे देशी स्कूलों की स्वाभाविक प्रगति में कुछ बाधा पड़ी।

"…………Admitting, however, the comparative inferiority of indigenous institutions, we consider that efforts should now be made to encourage them. They have survived a severe competition, and have thus proved that they possess both vitality and popularity." —*Report*, p. 68.

*Indian Education Commission* (1882) *Report*, p. 68.

**प्राथमिक शिक्षा**—प्राथमिक शिक्षा के विषय में शिक्षा कमीशन ने सबसे अधिक रुचि दिखायी। वास्तव में यह उनकी जाँच का प्रमुख विषय था,[4] अतः उन्होंने निर्भीक होकर स्वीकार किया कि "जब शिक्षा के प्रत्येक विभाग में राजकीय संरक्षण का औचित्य स्वीकार किया जा सकता है·······तो जन-समूह की शिक्षा, इसकी उपलब्धि, प्रसार तथा उन्नति तो शिक्षा-प्रणाली का वह भाव है जिसके लिए सरकार के अथक प्रयास भूतकाल की अपेक्षा एक बृहत्तर पैमाने पर प्रारम्भ किये जाने चाहिए।" इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कमीशन ने प्राथमिक शिक्षा के विभिन्न अंगों, जैसे नीति, संगठन, पाठ्यक्रम, शिक्षकों का प्रशिक्षण तथा आर्थिक व्यवस्था इत्यादि के विषय में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं।

प्राथमिक शिक्षा की नीति के विषय में घोषणा करते हुए कमीशन ने सिफारिश की कि इसे मातृभाषा के द्वारा दी जाने वाली ऐसी शिक्षा समझना चाहिए जो जन-साधारण के जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित हो, न कि विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए साधन मात्र। इसके अतिरिक्त सरकार को चाहिए कि इसे पहले से भी कहीं अधिक संरक्षण प्रदान करे। सरकारी निम्न पदों पर नियुक्ति में ऐसे लोगों को प्रमुखता दी जाय जो लिखना-पढ़ना जानते हों तथा ऐसे जिलों में जो शिक्षा के दृष्टिकोण से पिछड़े हुए हों, जैसे वे स्थान जहाँ आदिवासी रहते हों, शिक्षा-विभाग के प्रयत्नों तथा उदार आर्थिक सहायता द्वारा प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय।

संगठन के विषय में कमीशन ने सारा प्रबन्ध जिला तथा म्युनिसिपल बोर्डों को सौंप दिया। इन स्थानीय बोर्डों का निर्माण लॉर्ड रिपन ने 'काउण्टी काउन्सिल्स ऑव इंगलैण्ड' के आधार पर कराया था। इंगलैण्ड में भी प्राथमिक शिक्षा काउण्टी काउन्सिलों (जिला परिषदों) के अधीन कर दी गयी थी। इस प्रकार भारत में भी 'लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट एक्ट' के पास होने पर जिला बोर्ड का निर्माण हुआ और ग्रामीण प्राथमिक शिक्षा का भार इन पर डाल दिया गया। शिक्षा का सम्पूर्ण दायित्व—व्यय, निरीक्षण, प्रबन्ध तथा निकास इन्हीं बोर्डों को दिया गया। इस प्रकार की व्यवस्था से सरकार एक प्रकार से प्राथमिक शिक्षा के भार से, जो उसका प्रथम कर्तव्य था, मुक्त हो गयी। पाठ्यक्रम इत्यादि के लिए सभी प्रान्तों को अपनी-अपनी परम्परा का अनुकरण करने की स्वतन्त्रता दी गयी।

प्राथमिक शिक्षा की आर्थिक व्यवस्था के लिए कमीशन ने कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव

"It is the desire of the Governor-General-in council that the Commission should specially bear in mind the great importance which the Government attaches to the subject of primary education. The development of elementary education was one of the main objects contemplated by the Despatch of 1854······the principal object, therefore, of the enquiry of the Commission should be the present state, of elementary education throughout the Empire, and the means by which this can everywhere be extended and improved." —*Resolution of the Government of India*, 1882.

रखे । प्रथमतः जिला बोर्डों तथा म्युनिसिपल बोर्डों को आदेश दिये गये कि वे प्राथमिक शिक्षा के लिए अलग फण्ड निर्धारित कर दें। इसके अतिरिक्त प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी नगरों तथा गाँवों के हिसाब भी पृथक-पृथक कर दिये जायँ जिससे गाँवों की धन-राशि नगरों पर व्यय न हो सके। साथ ही स्थानीय फण्ड के व्यय के विषय में कमीशन ने यह निश्चित कर दिया कि वे एकमात्र प्राथमिक शिक्षा पर ही व्यय किये जायँ। अन्त में स्थानीय फण्ड में उचित आर्थिक सहायता प्रदान करना भी प्रान्तीय सरकारों का कर्तव्य है, ऐसी सिफारिश भी कमीशन ने की। किन्तु इस सहायता की धन-राशि अनिश्चित ही रही। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा का भार प्रधानतः स्थानीय फण्ड पर ही रहा, प्रान्तीय सरकार का शिक्षा-अनुदान तो एक गौण सहायता के रूप में ही रहा, तथापि स्थानीय फण्ड में सहायता देने में प्रान्तीय सरकारों के समक्ष यह आदर्श रखा गया कि वे कम से कम स्थानीय धन-राशि का आधा अथवा कुल व्यय का $\frac{1}{3}$ प्रदान करें। किन्तु यह कहना व्यर्थ है कि यह सहायता भारतीय जनसंख्या के आकार को देखते हुए कितनी अपर्याप्त थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राथमिक शिक्षा के लिए आर्थिक व्यवस्था करने में कमीशन का उद्देश्य उसके लिए वर्तमान परिस्थितियों में अधिक से अधिक सुविधा प्रदान कराने का रहा। अतः उन्होंने घोषणा की कि "प्राथमिक शिक्षा को सम्पूर्ण जन-शिक्षा का वह भाग घोषित कर देना चाहिए जो शिक्षा के निमित्त निर्धारित स्थानीय फण्ड पर अपना एकमात्र विशेषाधिकार तथा प्रान्तीय आय पर भी एक बहुत बड़ा अधिकार रखती है।"

इसके अतिरिक्त कमीशन ने शिक्षकों के लिए अधिक नार्मल स्कूल खोलने पर भी जोर दिया जिससे एक डिवीजनल इन्सपेक्टर के अन्तर्गत कम से कम एक नार्मल स्कूल हो जाय[5]। पाठ्यक्रम के विषय में कमीशन ने पर्याप्त उदारता दिखायी। उन्होंने प्रत्येक प्रान्त को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार स्वतन्त्रता दे दी और सम्पूर्ण देश के लिए एकसा ही पाठ्यक्रम निश्चित नहीं किया। पाठ्यक्रम में उन्होंने कुछ व्यावहारिक व जीवनोपयोगी विषय, जैसे बहीखाता, क्षेत्रमिति, भौतिक विज्ञान तथा कृषि और चिकित्सा में उनकी उपयोगिता इत्यादि और सम्मिलित कर दिये।

**माध्यमिक शिक्षा**—माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में कमीशन ने शिक्षा-विस्तार तथा तत्कालीन माध्यमिक शिक्षा के दोषों को दूर करने के साधनों को बताया। शिक्षा-

"...........We recommend that the supply of Normal Schools whether Government or aided, be so localised as to provide for the local requirements of all Primary Schools, whether Government or aided, within the division under each inspector......... We recommend that first charge on Provincial funds assigned for primary education be the cost of its direction and inspection, and the provision of an adequate supply of Normal Schools."
—*Indian Education Commission Report*, p. 132.

प्रसार के लिए उसने सिफारिश की कि इस क्षेत्र में से सरकार को क्रमशः पूर्णतः निकल आना चाहिए और माध्यमिक शिक्षा को योग्य तथा समर्थ भारतवासियों के हाथों में सौंप देना चाहिए और उनकी सहायता के लिए शिक्षा सहायता-अनुदान प्रथा का उदारता तथा बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग होना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा को सरकार का प्रमुख कर्तव्य समझा गया था, अतः माध्यमिक शिक्षा को कुछ कम महत्त्व दिया गया। कमीशन ने सिफारिश की कि सहायता-अनुदान द्वारा जहाँ तक हो सके, माध्यमिक शिक्षा में सहायता देकर सरकार शीघ्र उसके उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाय। यह भी निश्चित हुआ कि सरकार प्रत्येक ऐसे जिले में एक हाई स्कूल आदर्श स्कूल के रूप में रखे "जहाँ जन-हित के लिए ऐसे स्कूल रखना आवश्यक हो, और जहाँ जनता स्वयं सहायता-अनुदान के आश्रय पर ही स्कूल चलाने के लिए पर्याप्त रूप से प्रगतिशील तथा धनवान न हो।"[6] किन्तु ऐसा स्कूल जिले में एक से अधिक नहीं हो सकता। जिले की सम्पूर्ण शिक्षा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए जनता स्वयं इसका उत्तरदायित्व ले। इसके लिए प्रोत्साहन देने के लिए कमीशन ने यह भी सिफारिश की कि व्यक्तिगत शिक्षालयों के प्रबन्धक राजकीय विद्यालयों की अपेक्षा बालकों से कम फीस ले सकते हैं।

माध्यमिक शिक्षालयों में शिक्षा-सुधार के लिए कमीशन ने हाईस्कूल शिक्षा को दो भागों में बाँट दिया—(1) 'अ' कोर्स, तथा (2) 'ब' कोर्स। प्रथम कोर्स विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए था। दूसरा एक व्यावहारिक शिक्षा-कोर्स था जिसमें व्यापारिक, असाहित्यिक तथा उपयोगी विषय पढ़ाये जाने को थे। शिक्षा के माध्यम के विषय में कमीशन ने बड़ी असन्तोषजनक सिफारिशें कीं। इसने माध्यमिक स्कूलों में मातृभाषा के प्रयोग का कोई उल्लेख तक न किया। सम्भवतः कमीशन अंग्रेजी के पक्ष में था। मिडिल स्कूलों के लिए भी इसने कोई निश्चयात्मक नीति निर्धारित नहीं की और स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार इसे स्कूल के प्रबन्धकों पर ही छोड़ दिया।

**उच्च शिक्षा**—जैसा कहा जा चुका है कि कमीशन को विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा की अवस्था की जाँच करने से निषेध कर दिया गया था, किन्तु इसने कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव कॉलेज शिक्षा के लिए भी रखे। कमीशन ने यह तो घोषित कर ही दिया था कि सरकार को शीघ्र ही उच्च शिक्षा के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक कॉलेज को सहायता देने में "सहायता-दर, शिक्षकों की आवश्यकताओं" का ध्यान रखना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर विशेष सहायता, जैसे भवन, फर्नीचर, पुस्तकालय तथा विज्ञान का सामान इत्यादि के लिए देने की भी व्यवस्था की गयी। बिना फीस पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या नियत कर दी गयी। शिक्षा समाप्त होने पर उनके रोजगार तथा योग्य विद्यार्थियों को विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए सुविधा प्रदान करने की ओर भारत में विभिन्न कालेजों में एक ऐसे विस्तृत पाठ्यक्रम के लागू करने की जो विद्यार्थियों के रुचि-वैचित्र्य के लिए लाभदायक हो सके, कमीशन ने सिफारिश की।

---

[6] *Indian Education Commission Report*, p. 452.

इसके अतिरिक्त प्रधानाध्यापक अथवा किसी अन्य शिक्षक के द्वारा नैतिक उपदेशों की व्याख्यानमाला जारी करने का सुझाव भी कमीशन ने रखा और एक ऐसी पाठ्य-पुस्तक की रचना का आदेश दिया जो मानव-धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों तथा प्रकृति-धर्म पर आधारित हो। किन्तु कमीशन ने वैयक्तिक कालेजों को राजकीय कालेजों की अपेक्षा कम फीस स्वीकार करने का अधिकार देकर एक अवांछनीय स्पर्द्धा तथा अयोग्य और निम्न कोटि की शिक्षा-संस्थाओं को जन्म दिया।

**मिशनरी प्रयास**—सन् 1854 के आज्ञापत्र से पादरियों को यह आशा बँधी थी कि भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में उन्हें एकाधिकार प्राप्त हो जायगा और अन्ततः वे ही सम्पूर्ण देश की शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। ऐसा न होने पर उन्होंने इंगलैण्ड में आन्दोलन किया था जिसके फलस्वरूप इस कमीशन की नियुक्ति हुई थी, किन्तु इस कमीशन की सिफारिशों ने तो उनकी आशाओं पर तुषारापात ही कर दिया। इस विषय में कमीशन की सिफारिशें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय बोर्डों के अन्तर्गत कर देने से पादरियों को अधिक आपत्ति नहीं हुई थी, क्योंकि उनके अधिकार में प्राथमिक शिक्षा तो नाममात्र को ही थी। किन्तु कमीशन की इस सिफारिश ने कि माध्यमिक तथा कालेजीय शिक्षा-क्षेत्र से सरकार को व्यक्तिगत प्रबन्धकों के हाथों में उसे सौंपकर शीघ्र ही हट जाना चाहिए, पादरियों के हृदय में एक बुझती हुई आशा को पुनः जगा दिया। किन्तु ऐसा भी न हो सका। कमीशन ने इस विषय में बहुत सावधानी से काम लिया और इस बात को स्पष्ट कर दिया कि "व्यक्तिगत प्रयास का अभिप्राय स्वयं जनता के प्रयास से है। यदि शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति शिक्षा-साधनों से करनी है तो स्वयं भारतवासी ही इसके सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हो सकते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि भारत जैसे देश में जिसमें शिक्षा की आवश्यकताएँ विभिन्न हैं, हम किसी भी ऐसे तरीके के विरुद्ध हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण उच्च शिक्षा को केवल एक दल के हाथ में ही सौंप दिया जाय, और विशेषतः एक ऐसे दल के हाथ में जो चाहे जितना उदार और सच्चा हो, जन-समूह की विभिन्न भावनाओं के साथ सहानुभूति नहीं रख सकता हो।.........साथ ही हम एकमत होकर यह लिख देना आवश्यक समझते हैं कि शिक्षा-विभाग के प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व का शिक्षा-क्षेत्र में से हट जाने का अर्थ यह नहीं होता है कि हम उसे मिशनरियों के हाथ में सौंप दें। शिक्षा-विभाग द्वारा संचालित उच्च शिक्षालय कदापि पादरियों के प्रबन्ध में नहीं जाने चाहिए।"[7] इस प्रकार पादरियों की स्थितियों को वैयक्तिक प्रयास में जनता द्वारा संगठित शिक्षालयों की तुलना में एक निम्नतर कक्षा दी गयी। इससे भारतीय जनता को विदित हो गया कि जब तक वह स्वयं शिक्षा का अधिकतर उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेती है, राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में विकास और सुधार की आशा नहीं।

*Indian Education Commission Report*, p. 452.

**सरकार का शिक्षा-क्षेत्र से क्रमिक पलायन**—कमीशन की नीति यह थी कि सरकार क्रमश: जन-शिक्षा के भार से मुक्त हो जाय और उसे स्वयं भारतीय जनता के हाथों में सौंप दे, क्योंकि सरकार ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि शिक्षा पर व्यय करने के लिए उसके पास धन का अभाव था। अत: जनता को अपना धन अपनी शिक्षा के लिए लगाना चाहिए। इस तरह जो सरकारी धन बचेगा वह अधिक स्कूलों को सहायता प्रदान करने में व्यय किया जा सकेगा। अत: जहाँ तक प्राथमिक शिक्षा का सम्बन्ध था, उसे स्थानीय बोर्डों के अन्तर्गत कर दिया गया और माध्यमिक तथा कालेजीय शिक्षा को शिक्षा-विभाग की देखरेख में व्यक्तिगत संस्थाओं को हस्तान्तरित कर देने की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार नये खुलने वाले शिक्षालयों को सब प्रकार से सहायता देने का वचन दिया गया और राजकीय शिक्षालयों को स्थानीय प्रबन्धकों को देने पर उनके सभी कागज-पत्र, भवन, पुस्तकें तथा अन्य सामान भी प्रबन्धकों को हस्तान्तरित करने की सिफारिश की गयी तथा उनके अधिकारों को सुरक्षित रखा गया। इस प्रकार कमीशन ने सरकार को राष्ट्रीय शिक्षा के उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया।

**सहायता-अनुदान प्रथा**—व्यक्तिगत शिक्षालयों के लिए कमीशन ने अनुदान प्रथा के सुधार तथा विकास पर विशेष जोर दिया। इस विषय में कमीशन ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में चालू अनुदान प्रथा के नियमों का अध्ययन किया। बम्बई में 'परीक्षाफल के अनुसार वेतन प्रथा'[8] मद्रास में 'वेतन-अनुदान प्रथा'[9] तथा उत्तरी भारत और मध्य प्रान्त में 'नियतकालीन प्रथा'[10] प्रचलित थीं। इन सब प्रथाओं का अध्ययन करके कमीशन ने प्रत्येक प्रान्त को इस विषय में स्वतन्त्रता दे दी तथा कुछ सर्वमान्य कसौटी नियत करके प्रत्येक प्रान्त को आदेश दे दिये। इनके अनुसार सरकारी और गैर-सरकारी का भेद भी मिटा दिया गया, अनुदान-नियम अधिक उदार कर दिये गये, आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप निषिद्ध कर दिया गया तथा प्रबन्धकों की सहायता तथा पथ-प्रदर्शन के लिए कुछ ऐसे शिक्षा अधिकारी नियुक्त कर दिये गये जो उनके विश्वासपात्र बन सकें।

**विशिष्ट शिक्षा**—इन सब बातों के अतिरिक्त कमीशन ने कुछ विशेष प्रकार की शिक्षा, जैसे स्त्री-शिक्षा, मुसलमानों की शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, राजकुमारों की शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा तथा आदिवासियों की शिक्षा आदि पर भी अपने विचार प्रकट किये। उदाहरण के लिए, स्त्री-शिक्षा के लिए कमीशन ने लड़कियों के स्कूलों को उदार सहायता, अध्यापिकाओं को वेतन-अनुदान, उनके लिए नार्मल स्कूल, लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा के लिए सरल पाठ्यक्रम तथा निरीक्षण के लिए अलग निरीक्षिकाएँ नियुक्त करने की सिफारिशें कीं।[11] मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा कम शिक्षा पाकर

---

8 Payment by results system.

9 Salary grant system.

10 Fixed period system.

11 "...It will have been seen that female education is still in an extremely backward condition, and that it needs to be fostered in every legitimate way......Hence we think expedient to recom-

उनके लिए विशेष सुविधाओं की सिफारिश की गयी। अतः मुसलमान विद्यार्थियों के लिए अधिक छात्रवृत्ति, मुसलमान नार्मल स्कूल, मुसलमान शिक्षा निरीक्षक तथा मुसलमानी विशेष मिडिल तथा हाई स्कूल की स्थापना की सिफारिश की। धार्मिक शिक्षा-क्षेत्र में कठोर धार्मिक तटस्थता की पूर्व नीति का समर्थन किया; साथ ही नीतिशास्त्र पर एक पाठ्य-पुस्तक की रचना तथा व्याख्यानमाला की सिफारिश की। राजकुमारों तथा सरदारों के लड़कों के लिए विशेष शिक्षालय खोलने को कहा। प्रौढ़ शिक्षा के लिए रात्रि-पाठशालाओं की व आदिवासियों के लिए प्राथमिक शिक्षा की सिफारिश की।

**आलोचना**

कमीशन की सिफारिशों के अनुसार प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय बोर्डों और नगरपालिकाओं को दे दिया गया। माध्यमिक शिक्षा के लिए वैयक्तिक स्कूलों को खूब प्रोत्साहन दिया गया। सरकार ने यद्यपि अपनी शिक्षा-संस्थाओं को स्थानीय प्रबन्धकों को नहीं दिया, तथापि अधिक विद्यालय खोलना बन्द कर दिया। इस प्रकार धार्मिक शिक्षा के विषय में की गयी सिफारिशों को छोड़कर सरकार ने उसकी सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।

अधिकांश में कमीशन ने सन् 1854 के आज्ञापत्र की नीति का ही समर्थन किया। शिक्षा-विभाग का निरीक्षण-कार्य बढ़ जाने से स्कूलों पर उसका अनुचित आधिपत्य भी हो गया, किन्तु इससे राजकीय और अराजकीय प्रयत्नों में पारस्परिक साम्य तथा सहकारिता की भावना भी उत्पन्न हो गयी और यह भी प्रमाणित हो गया कि इस सहकारिता के आधार पर प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय-स्तर तक शिक्षा-संगठन की सम्भावना है। हाई स्कूल में औद्योगिक शिक्षा की सिफारिश करके कमीशन ने यह संकेत किया कि हमारी शिक्षा आवश्यकता से अधिक पुस्तकीय होती जा रही थी।

## (ख) शिक्षा-प्रगति (सन् 1882–1904)

### (1) विश्वविद्यालय तथा कॉलेज शिक्षा

भारतीय शिक्षा कमीशन की सिफारिशों के उपरान्त देश में कालेजों की बहुत वृद्धि हुई। सन् 1882 में पंजाब तथा सन् 1887 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हो गयी थी। पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना लाहौर यूनिवर्सिटी कॉलेज, जिसमें प्राच्य ज्ञानशाखा भी सम्मिलित थी, विकसित होकर हुई थी। इसमें एक लॉ कालेज भी सम्मिलित कर दिया गया। एक विशेष बात इस विश्वविद्यालय के विषय में उल्लेखनीय है, वह यह कि उसमें भाषा का माध्यम अंग्रेजी न रखकर मातृभाषा रखा गया। अरबी, फारसी तथा संस्कृत में उच्च उपाधियों के वितरण की व्यवस्था भी इसमें की गयी।

mend that *public funds of all kinds—local, municipal and provincial—should be chargeable in an equitable proportion for the support of girl's school as well as for boy's school.*"

—*Indian Education Commission* (1882) *Report*, p. 545.

जहाँ तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय का सम्बन्ध है, इसकी स्थापना का प्रश्न सन् 1869 में भी उठा था । सन् 1872 में संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) के गवर्नर श्री म्योर ने किराये के मकान में एक केन्द्रीय कॉलेज की स्थापना इलाहाबाद में कर दी थी । सन् 1882 में पंजाब में विश्वविद्यालय की अलग स्थापना हो जाने के कारण यह आवश्यक समझा गया कि संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के लिए भी एक विश्वविद्यालय अनिवार्य है । अब तक यहाँ के कालेजों का सम्बन्ध कलकत्ता विश्वविद्यालय से था जो सम्बन्ध तथा पाठ्यक्रम की कठिनाइयों के कारण अब असम्भव प्रतीत होता था । अतः सन् 1887 में एक विशेष कानून के द्वारा इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई । इसमें परीक्षाओं के अतिरिक्त पढ़ाने की व्यवस्था रखी गयी ।

19वीं शताब्दी के अन्त तक भारत में पाँच विश्वविद्यालय हो गये । इनके पाठ्यक्रम प्रायः एकसे थे । कुछ समय बाद मद्रास को छोड़कर सभी ने विज्ञान की कक्षाएँ भी खोल दीं और बी० एस-सी० की उपाधि देना प्रारम्भ कर दिया ।

शिक्षा कमीशन की सिफारिशों का अप्रत्यक्ष रूप से कालेजों के विकास पर भी प्रभाव पड़ा । एक तो माध्यमिक स्कूलों के खुलने तथा उनमें विद्यार्थियों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या के कारण यह आवश्यक हो गया कि उनकी उच्च शिक्षा के लिए नये कॉलेज खोले जायँ । अधिकतर विद्यार्थी कालेजों में जाना भी चाहते थे क्योंकि उच्च शिक्षा के उपरान्त ही वे सरकारी उच्च पद पाने की आशा करते थे । दूसरे, कमीशन ने भारतीय शिक्षा में व्यक्तिगत प्रयास को भी प्रोत्साहन दिया था, अतः शिक्षित भारतीयों ने इस ओर आश्चर्यजनक प्रगति की, यहाँ तक कि उनके द्वारा संचालित कालेजों की संख्या मिशनरियों के कालेजों से भी अधिक बढ़ गयी । सन् 1902 में जब ईसाई कालेजों की संख्या 37 थी तो भारतीयों के कालेजों की संख्या 42 थी । इस प्रकार कालेजों की संख्या बढ़ती जा रही थी । सन् 1882 में 68 कालेजों से लेकर सन् 1902 में इनकी संख्या 179 हो गयी । इनमें से 136 कॉलेज ब्रिटिश भारत में थे जिनमें 12 कॉलेज स्त्री-शिक्षा के लिए थे । ईसाइयों ने कमीशन तथा सरकार की नीति से दुखी होकर उच्च शिक्षा की ओर अधिक रुचि नहीं दिखायी । अतएव अधिकांश में ये कॉलेज भारतीयों द्वारा संचालित रहे ।

इस दौरान सन् 1885 में भारत में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना तथा उसके उपरान्त राष्ट्रीय आन्दोलन भी शिक्षा-प्रचार में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं । 'कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन रिपोर्ट' में इसका उल्लेख मिलता है ।

इन "सहस्रों विद्यार्थियों को जो दो पीढ़ियों से बंगाल के योग्यतम सुपुत्र हैं, अंग्रेजी भाषा पढ़ना सिखाया गया । इस भाषा की व्यावहारिक उपयोगिता के कारण प्रथमतः इसे अध्ययन करने के उपरान्त वे अंग्रेजी साहित्य-सरोवर से जलपान करने लगे जो वस्तुतः स्वतन्त्रता का साहित्य है । बेकन, मिल्टन, लॉक, बर्क, वर्ड्सवर्थ, तथा बाइरन की विचारधाराएँ उनके मस्तिष्कों में बह रही थीं जिनमें स्वराज्य का सन्देश था । (इन युवकों के) प्राचीन आदर्श स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत साहस-प्रदर्शन

के न होकर आत्मसमर्पण तथा आत्मत्याग के थे । ऐसे विचारों ने जो प्राच्य विचार-धारा में आत्मसात् नहीं हो सकते थे, लोगों के हृदय में एक व्याकुलता भर दी । इन विचारों के राजनीतिक परिणामों से हमारा यहाँ सम्बन्ध नहीं है । किन्तु राजनीतिक विचार मानसिक हलचलों से अलग नहीं किये जा सकते । सन् 1882 के उपरान्त आने वाली पीढ़ी ने इन नवीन विचारधाराओं का शक्तिशाली प्रभाव शिक्षा-प्रणाली के विकास में देखा ।"[12]

इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारतीय शिक्षा-विकास को इस युग में काफी प्रगति दी । अब तक जो हाई स्कूल थे वे बढ़कर कॉलेज हो गये । भारतीय यह समझ गये थे कि उनके चरित्रों का निर्माण वे स्वयं ही कर सकते हैं । यद्यपि अब तक अधिकतर कालेजों तथा हाई स्कूलों में अंग्रेज प्रिंसिपल तथा प्रधान अध्यापक रहते थे और योग्य भारतीयों का अभाव होने के साथ ही साथ उन्हें अयोग्य भी समझा जाता था, किन्तु सर आर० पी० परांजपे जैसे उद्भट विद्वानों ने इस ओर भी पथ-प्रदर्शन किया । इस प्रकार कुछ त्यागी भारतीय विद्वानों ने उच्च सरकारी पदों पर न जाकर कालेजों तथा उच्च शिक्षा के स्कूलों का संचालन अपने हाथ में लेकर शिक्षा-प्रचार में महान् योग दिया । सन् 1880 में पूना में फर्ग्यूसन कॉलिज की स्थापना प्रसिद्ध देश-भक्त बाल-गंगाधर तिलक, चिपलांकर तथा श्री अगारकर के प्रयत्नों से हो ही चुकी थी । सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ता में रिपन कॉलेज का भार सँभाला । उधर आर्य-समाज आन्दोलन भी देश में जागृति तथा उद्बोधन का प्राण फूंक रहा था । अतः सन् 1886 में लाहौर में दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज की स्थापना हुई जो शीघ्र ही उत्तरी भारत का एक प्रमुख कॉलेज हो गया । सन् 1898 में श्रीमती एनी बेसेण्ट ने बनारस में सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज की नींव डाली जो आगे चलकर बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय के रूप में प्रसिद्ध हुआ ।

**आलोचना**—इस प्रकार कालेजों के बढ़ने से विद्यार्थियों की संख्या भी बढ़ी किन्तु शिक्षा का स्तर कुछ गिर गया । रुपया तथा अच्छी पुस्तकों का अभाव, अपर्याप्त भवन तथा अनुभवहीन शिक्षक—इन सभी बातों ने मिलकर शिक्षा के मानदण्ड को अवश्य गिरा दिया । साथ ही विद्यार्थियों में केवल पुस्तकीय ज्ञान को प्रधानता देने की प्रवृत्ति का विकास होने लगा और उनकी सूक्ष्म निरीक्षण की मौलिकता जाती रही । सन् 1858 में एलबर्ट ने कहा था कि ज्यों-ज्यों कॉलेज की शिक्षा बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों उस प्रतीक का मूल्य जिसका यह बोध कराती है, गिरता जा रहा है । इसके पूर्व सन् 1871 में एक प्रिंसिपल ने भी कलकत्ता में यह संकेत किया था कि तत्कालीन शिक्षा के एक प्रकार के ग्रेजुएट, जो केवल 'रटने की मशीन' कहे जा सकते हैं, जैसे बढ़ रहे हैं । उसने कहा—

"बंगाल में बहुत दिनों से शिक्षा का अर्थ अधिकांश में एक अपाच्य ज्ञान का

[12] Quoted by Dr. Zellner.

रटना ही लगाया जा रहा है। उच्च गुणों की अवहेलना करके केवल स्मृति का ही विकास किया जा रहा है, अतः विद्यार्थियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया हो जो कुछ अच्छे अपवादों को छोड़कर, रटे हुए पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त न तो मौलिकता और न निरीक्षण शक्ति अथवा स्वयं निर्णय शक्ति ही रखते हैं।"

वास्तव में जो बात बंगाल के विषय में तब कही गयी थी वह भारत के अन्य प्रान्तों के विषय में भी पूर्णतः लागू होती थी और दुर्भाग्य से आज भी अधिकांश में वह पूर्ववत् बनी हुई है। इसी प्रकार की चेतावनी कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति लॉर्ड लैंसडॉन ने भी सन् 1889 में दी थी :

"मुझे भय है···हमें यह बात नहीं छिपानी चाहिए कि यदि हमारे स्कूल और कॉलेज वर्तमान रूप से ही भारतीय युवकों को शिक्षा देते रहे तो हमें आज से भी अधिक यह शिकायत सुनने का अवसर आ सकता है कि हम प्रति वर्ष ऐसे युवकों को पैदा कर रहे हैं जिन्हें हमने मानसिक शक्तियों से तो सुसज्जित कर दिया है, जो स्वयं एक प्रशंसा की बात है, किन्तु व्यवहार में यह उनके लिए बिलकुल व्यर्थ है; क्योंकि जिन लोगों ने इस प्रकार की शिक्षा पायी है उनके लिए अनुकूल पेशों का देश में पूर्ण अभाव है।"[13]

इस प्रकार यह उच्च शिक्षा अपनी समृद्धि तथा विस्तार के साथ ही साथ देश में एक ऐसे शिक्षित वर्ग को जन्म देती जा रही थी जो वाह्याभ्यान्तर से एक ही टकसाल के ढले हुए सिक्के के समान थे, जिनमें प्राकृतिक विभिन्नता का तुलनात्मक अभाव था तथा जो स्मृति के यन्त्र की भाँति व्यवहार करते हुए दृष्टिगोचर होते थे। परीक्षा की बुराई इस प्रकार भारतीय शिक्षा-प्रणाली में जड़ पकड़ती जा रही थी कि ऐसा प्रतीत होने लगा मानो विद्यार्थी 'शिक्षा जीवन के लिए' नहीं अपितु 'शिक्षा परीक्षा के लिए' पा रहे हैं। यहाँ तक कि सन् 1902 में भारतीय विद्यालय कमीशन ने कहा कि "वह महानतम निकृष्ट बुराई जो भारतीय विश्वविद्यालयों में पायी जाती है यह है कि शिक्षण परीक्षा के अधीन है न कि परीक्षा शिक्षण के।" शिक्षा के आकस्मिक विस्तार से कालेजों का स्तर गिर गया। शिक्षा में व्यापारिक प्रवृत्ति का समावेश भी इसी काल में हुआ जो आज अपनी भयानक सीमाओं को छू रही है और वर्तमान भारतीय शिक्षाशास्त्रियों के सम्मुख मानो एक प्रकार की चुनौती है।

यहाँ एक बात का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। जबकि शिक्षा के विकास के साथ ज्ञान का मानदण्ड गिरता जा रहा था और अधिकांश कालेजों की कार्यक्षमता का पतन होता जा रहा था, वहाँ कुछ उच्च कोटि के भारतीय नेताओं की राय में यह आवश्यक था कि चाहे शिक्षा का मानदण्ड गिर जाय किन्तु उसका विस्तार आवश्यक है। वस्तुतः उनकी धारणा थी कि शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिए ही न होकर जन-

[13] Quoted by Siqueira, T. N. : *The Education in India*, Oxford University Press (1839), p. 84.

समूह के लिए उपलब्ध हो सके और साक्षरता-प्रतिशत बढ़ जाय। उनका यह भी अनुमान था कि समय पाकर शिक्षा के मानदण्ड तथा कालेजों की कार्यक्षमता को बढ़ाया जा सकता है, जैसा गोपालकृष्ण गोखले के निम्नलिखित व्याख्यान से प्रकट होता है :

"श्रीमान जी, मेरा विचार है—और यह मेरे लिए एक गम्भीर विश्वास की बात है—कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में सभी प्रकार की पाश्चात्य शिक्षा अमूल्य तथा लाभदायक है। यदि परिस्थितियों को देखते हुए यह सर्वोत्तम प्रकार की है तो और भी अच्छा। किन्तु यदि यह सर्वोत्तम नहीं भी है तो इस कारण इसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि लोगों का जीवन—चाहे राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक या मानसिक क्षेत्र में—एक सामूहिक इकाई है।······मेरे विचार में भारत की वर्तमान अवस्था में अंग्रेजी शिक्षा का महानतम कार्य विद्या को इतना प्रोत्साहन देना नहीं है जितना कि भारतीय मस्तिष्क को पुरानी दुनिया के विचारों के बन्धन से मुक्त कराना तथा पश्चिम के जीवन, विचार तथा चरित्र के सर्वोच्च गुणों का तादात्म्य कराना है। इसके लिए न केवल सर्वोत्तम शिक्षा ही अपितु हर प्रकार की पाश्चात्य शिक्षा लाभदायक है।[15] अन्त में हम 19वीं शताब्दी के भारतीय विश्वविद्यालयों के विषय में इन शब्दों के साथ समाप्त करते हैं :

"यह कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालय अपने क्षेत्र में बड़े संकीर्ण थे और उच्च शिक्षा की व्याख्या भी वे बड़े संकीर्ण ढंग से करते थे। उनके विरुद्ध यह भी तर्क दिया जा सकता है कि वे अन्वेषण और मौलिक चिन्तन को प्रोत्साहित करने में असफल रहे और उच्च विद्वान तथा वैज्ञानिक उत्पन्न न कर सके। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उनकी स्थापना बिलकुल भिन्न उद्देश्यों से हुई थी और जो लोग उनके अस्तित्व के उत्तरदायी थे उनकी इच्छा कालान्तर में होने वाले आलोचकों से भिन्न थी।"[16]

### (2) माध्यमिक शिक्षा

इस युग में माध्यमिक शिक्षा ने सराहनीय प्रगति की। कमीशन की रिपोर्ट के उपरान्त प्रथम दशक में उन्नति की गति अधिक तीव्र रही। सन् 1882 में स्कूलों की संख्या 3916 थी जो सन् 1902 में 5124 हो गयी और विद्यार्थियों की संख्या भी 2,14,077 से बढ़कर 5,90,129 हो गयी। व्यक्तिगत प्रयास को बहुत प्रोत्साहन मिला। कमीशन की राय के प्रतिकूल माध्यमिक शिक्षा पर शिक्षा-विभाग ने पुनः अपने प्रयत्नों को अधिक केन्द्रित रखा, फलतः प्राथमिक शिक्षा की आशातीत व वांछनीय प्रगति में बाधा पड़ी।

माध्यमिक शिक्षालयों में कुछ शिक्षालय तो सरकारी आर्थिक सहायता-अनुदान पा रहे थे और कुछ बालकों की फीस तथा थोड़े से चन्दे से ही गुजारा कर रहे थे।

---

[14] *Gokhale's Speeches* (1920), pp. 234-35.

[15] A. N. Basu : *University Education in India* (Past and Present), p. 44.

इन शिक्षालयों की अवस्था असन्तोषजनक थी। शिक्षा-विभाग भी इनमें अधिक हस्त-क्षेप नहीं कर सकता था।

कमीशन ने 'ब' कोर्स में कुछ औद्योगिक अथवा व्यापारिक विषयों को पढ़ाने की व्यवस्था की थी, किन्तु 19वीं शताब्दी के अन्त तक भी वह वैकल्पिक पाठ्यक्रम अधिक सर्वप्रिय न हो सका और अभी तक माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में 'मैट्रीकुलेशन' परीक्षा का बोलबाला था। इतना अवश्य है कि प्रायः सभी प्रान्तीय सरकारों ने कुछ न कुछ व्यावहारिक शिक्षा अपने यहाँ पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दी थी। सन् 1888 में मद्रास ने कुछ टेक्नीकल पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर दिया था। सन् 1897 में बम्बई ने 'स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट' परीक्षा प्रारम्भ कर दी जिसके प्राप्त करने पर ही विश्वविद्यालय में प्रवेश हो सकता था। बम्बई के 'स्कूल फाइनल कोर्स' में भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, कृषि तथा मैन्युअल ट्रेनिंग भी सम्मिलित कर दिये गये। सरकारी नौकरी में जाने के लिए इस परीक्षा को अनिवार्य करके सर्वप्रिय करने की चेष्टा बम्बई में की गयी। इसी प्रकार 1894 में इलाहाबाद में 'स्कूल फाइनल परीक्षा' प्रारम्भ की गयी। पंजाब विश्वविद्यालय ने क्लर्क सम्बन्धी तथा व्यापारिक शिक्षा प्रारम्भ की। इसी प्रकार सन् 1900 में बंगाल ने भी क्लर्क तथा इंजीनियर तैयार करने के लिए विशिष्ट शिक्षा का आयोजन किया। प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय ने इस पाठ्यक्रम की योजनाओं को कार्यान्वित करने की चेष्टा की, किन्तु जैसा कहा जा चुका है, मैट्रीकुलेशन परीक्षा की प्रधानता रही और सन् 1902 में इसमें 23,000 परीक्षार्थी बैठे, जबकि औद्योगिक पाठ्यक्रम में केवल 2000 विद्यार्थियों ने परीक्षा दी।

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हो रही थी। किन्तु दुख की बात है कि शिक्षा के माध्यम के विषय में कमीशन की नीति ढिलमिल होने के कारण भारत के किसी भी प्रान्त में मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम न बनाया जा सका। इससे बड़ी क्षति हुई और प्रान्तीय भाषाओं के विकास को बड़ा आघात लगा। साथ ही माध्यमिक शिक्षालयों में अंग्रेजी का प्रभुत्व जम गया और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो शिक्षा का उद्देश्य केवल अंग्रेजी भाषा सीखना ही है। इससे विद्यार्थियों के स्वाभाविक मानसिक विकास पर भी रोक लग गयी, क्योंकि जितना समय उन्हें विषय को बोधगम्य करने में लगाया था उससे अधिक समय विदेशी भाषा के समझने में नष्ट हो जाता था। उसके उपरान्त भी विद्यार्थियों में आत्मविश्वास उत्पन्न नहीं हो पाता था। इससे उनका स्वाभाविक विकास रुक जाता था।

(3) प्राथमिक शिक्षा

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, प्राथमिक शिक्षा के लिए शिक्षा कमीशन ने इंगलैण्ड की 'काउण्टी काउन्सिलों' के आधार पर भारतीय नगरों की नगरपालिकाएँ तथा ग्रामों के लिए जिला बोर्डों की स्थापना की सिफारिश की थी और प्राथमिक शिक्षा को उन्हीं के अन्तर्गत रख दिया गया था। इस व्यवस्था से प्राथमिक शिक्षा को कुछ प्रगति अवश्य मिली, किन्तु आशाजनक परिणाम उपलब्ध नहीं हो सके। इन

स्थानीय बोर्डों के अधिकार और कर्तव्यों को संहिताबद्ध कर दिया गया। देशी पाठशालाएँ जो अनन्त काल से अपनी जर्जरित अवस्था में देश भर में चली आ रही थीं, वे भी इन्हीं स्थानीय बोर्डों को दे दी गयीं। इतना अवश्य है कि जहाँ जनता के पिछड़े हुए होने के कारण बोर्डों को यह अधिकार न दिया जा सका वहाँ सरकारी पाठशालाएँ खोली गयीं।

स्थानीय बोर्डों के प्राथमिक शिक्षा के निमित्त व्यय करने के लिए नियम बना दिये गये और उनकी आय को केवल प्राथमिक शिक्षा पर ही व्यय करने की व्यवस्था की गयी। प्रान्तीय सरकारों ने स्थानीय बोर्डों को अनुदान देने के नियम भी बना लिये। बम्बई सरकार ने आधा व्यय देना स्वीकार कर लिया। मद्रास ने अपनी आय का 5 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करने का निश्चय किया। इसी प्रकार बंगाल, संयुक्त प्रान्त, पंजाब, आसाम तथा मध्य प्रान्त ने अपने-अपने नियम बनाकर प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। शिक्षा-अनुदान के नियमों में भी सभी प्रान्तों ने सुधार करके उन्हें प्राथमिक शिक्षा के अधिक अनुकूल बना दिया।

यहाँ बड़े खेद के साथ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अंग्रेजों ने भारत में कुछ ऐसी नीति अपनायी जिसने भारत के गाँवों की जड़ों को हिला दिया। उनका सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक ढाँचा टूट गया। जो गाँव अब तक देश में शासन के धरातल थे, उनके ऊपर एक नया शासन थोपा गया और भारतीय ग्राम केन्द्रीय और प्रान्तीय शासनों की केवल निर्जीव इकाई मात्र रह गये जिनकी नीति का निर्धारण केन्द्र से होता था। इस ग्रामीण प्रजातन्त्र के नष्ट हो जाने का प्रभाव भारत के देशी विद्यालयों पर भी पड़ा। शिक्षा अब अधिक से अधिक सरकार द्वारा नियन्त्रित हो चुकी थी। 19वीं शताब्दी के समाप्त होते-होते भारत में अनन्त काल से चला आने वाला देशी शिक्षा का संगठन नष्ट होकर सदा के लिए विलीन हो गया। कुछ स्कूल सरकारी अफसरों की अवहेलना से नष्ट हो गये, कुछ सरकारी स्कूलों में विलीन होकर उनका प्रमुख अंग बन गये और कुछ उनसे स्पर्द्धा में पराजित होकर सदा के लिए नष्ट हो गये। गाँव में इन देशी पाठशालाओं के संरक्षक भी नहीं रह गये। वहाँ की बढ़ती हुई निर्धनता ने लोगों का ध्यान शिक्षा तथा आत्मोन्नति से हटाकर केवल 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' तक सीमित कर दिया। "बहुत-से मध्यम वर्ग के लोग जो व्यापार अथवा कृषि में लगे हुए थे, नौकरी के लिए आकर नगरों में बस गये। इस प्रकार देहात उजड़कर वीरान हो गये, ग्राम-पाठशालाओं के संरक्षक विलीन हो गये और देशी शिक्षा-पद्धति टूटकर खण्ड-खण्ड हो गयी।"

इस प्रकार देश में आधुनिक प्रकार की प्राथमिक शिक्षा-पद्धति की जड़ें जम गयीं, स्थानीय बोर्डों ने इस काल में अपना व्यय प्राथमिक शिक्षा पर बढ़ाया। यद्यपि सरकार की नीति व्यवहार में अब भी प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना करने की थी और उनका व्यय भी प्राथमिक शिक्षा के लिए नहीं बढ़ा। उदाहरण के लिए, सन्

1881-82 में यह 16·77 लाख रुपये था, जबकि सन् 1901-02 में 16·92 लाख रुपये रहा। इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्राथमिक शिक्षा को सरकार उचित प्रोत्साहन देने में असफल रही। स्थानीय बोर्डों का व्यय 24·9 लाख (सन् 1882) से बढ़कर सन् 1902 में 46·1 लाख रुपये हो गया। किन्तु भारत की जनसंख्या और अशिक्षा को देखते हुए यह धन-राशि भी अपर्याप्त थी। अधिकांश में इन बोर्डों की आर्थिक अवस्था भी शोचनीय थी और इनका प्रबन्ध भी बड़ा बुरा था। जहाँ अच्छे निरीक्षण तथा अच्छी शिक्षा के कारण प्राथमिक शिक्षा का मानदण्ड ऊँचा हुआ वहाँ उसके विस्तार में सराहनीय प्रसार नहीं हो सका। सन् 1886 और 1901 के बीच प्राथमिक शिक्षा में विद्यार्थियों की वृद्धि केवल 6,60,000 थी; जबकि वही वृद्धि सन् 1871 और 1886 के मध्य 20 लाख थी। शताब्दी के अन्त में जबकि प्राथमिक शिक्षा का प्रसार सुदूर देहातों में करना पड़ा, उसके प्रसार की गति बड़ी मन्द रही। इस संघर्ष में केवल अच्छे स्कूल जीवित रह सके जिससे शिक्षा का स्तर तो ऊँचा हो गया किन्तु विकास अवरुद्ध हो गया।

**मिशनरी प्रयास**

हण्टर कमीशन की रिपोर्ट के उपरान्त ईसाई मिशनरियों का यह भ्रम दूर हो गया कि व्यक्तिगत प्रयास में शिक्षा-क्षेत्र में उनका प्राधान्य रहेगा और इस प्रकार शिक्षा के द्वारा वे भारतवासियों का धर्म-परिवर्तन करने में सफल हो सकेंगे। वास्तव में इस दृष्टि से उन्हें बड़ी निराशा हुई, अतः उन्होंने अपनी शिक्षा-नीति को बदल दिया। उन्होंने अपना ध्यान उच्च शिक्षा से हटाकर जनसमूह की शिक्षा की ओर लगाया और अपना प्रचार-कार्य अधिकांश में आदिवासियों और पहाड़ी जातियों में प्रारम्भ कर दिया। इस ओर उन्हें कुछ सफलता भी मिली। वास्तव में गत 60 वर्षों में भारत में ईसाई आबादी में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। भारतीय ईसाइयों के लिए उन्होंने कुछ अच्छे कॉलेज और हाई स्कूलों को यथावत् बना रहने दिया। इसी काल में उन्होंने कुछ अच्छे कॉलेज भी स्थापित किये, जैसे इण्डियन क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर (सन् 1884; मुरे कॉलेज, स्यालकोट (सन् 1889); क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर (सन् 1892); तथा गौर्डन कॉलेज, रावलपिण्डी (सन् 1893)। इस काल में मिशनरी पादरियों को बोध हो गया कि स्कूल में पढ़ाना कोई धर्म-प्रचार का कार्य नहीं है।

## सारांश

(क) **भारतीय शिक्षा कमीशन—शिक्षा-क्षेत्र में सरकार का नियन्त्रण व हस्तक्षेप ईसाई धर्म-प्रचारकों के हितों के प्रतिकूल पड़ता था। साथ ही सरकार की धार्मिक तटस्थता की नीति से वे असन्तुष्ट थे, अतः वे आन्दोलन करने लगे कि शिक्षा-नीति सन् 1854 के घोषणापत्र के विरुद्ध जा रही है। उन्होंने इंगलैण्ड में भी अपनी आवाज बुलन्द की। लॉर्ड रिपन भारत में आये तो उन्होंने वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य श्री हण्टर की अध्यक्षता में एक शिक्षा कमीशन नियुक्त किया।**

**कमीशन की जांच का प्रमुख क्षेत्र प्राथमिक शिक्षा था, उच्च शिक्षा नहीं।**

उनके उद्देश्य थे—(1) प्राथमिक शिक्षा के विकास के उपाय; (2) सरकारी शिक्षालयों की अवस्था तथा उनकी आवश्यकता की जाँच; (3) मिशनरी स्कूलों का भारतीय शिक्षा में स्थान, तथा (4) वैयक्तिक प्रयास के प्रति सरकार की नीति।

सिफारिशें—(1) पूर्व-स्थित देशी स्कूलों का संरक्षण तथा विकास;

(2) प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकार को अधिक ध्यान देना चाहिए। उसके संगठन, पाठ्यक्रम, आर्थिक व्यवस्था तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधा प्रदान की जाय;

(3) प्राथमिक शिक्षा का माध्यम पूर्णतः मातृभाषा हो और प्राथमिक स्कूलों को नगरों में म्युनिसिपैलिटी तथा गाँवों में जिला बोर्डों के अन्तर्गत हस्तान्तरित कर दिया जाय। इस प्रकार के स्थानीय बोर्डों की स्थापना की भी सिफारिश की गयी;

(4) माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र से सरकार को क्रमशः निकल आना चाहिए और बन्धन व संगठन का भार वैयक्तिक प्रयास पर छोड़ देना चाहिए; प्रत्येक जिले में एक आदर्श गवर्नमेण्ट हाई स्कूल स्थापित कर देना चाहिए। हाई स्कूल पाठ्यक्रम को दो भागों में विभक्त कर दिया – एक, विद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए, और दूसरा, व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने के लिए;

(5) उच्च शिक्षा के क्षेत्र से सरकार को निकल आना चाहिए और भारतीयों के हाथ में उसे दे देना चाहिए;

(6) वैयक्तिक प्रयास मिशनरियों के स्थान पर स्वयं भारतवासियों के हाथों में चला जाना चाहिए;

(7) सरकार को शिक्षा-क्षेत्र से क्रमिक पलायन करना चाहिए;

(8) व्यक्तिगत स्कूलों की सहायता-अनुदान प्रथा को अधिक व्यापक रूप से लागू किया जाय। 'अनुदान' में सरकारी व गैर-सरकारी का भेद मिटा दिया जाय;

(9) विशिष्ट प्रकार की शिक्षाओं, जैसे स्त्री-शिक्षा, मुसलमानों की शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, राजकुमारों की शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा इत्यादि के विकास की भी कमीशन ने सिफारिश की।

(ख) शिक्षा-प्रगति—कमीशन की सिफारिशों के फलस्वरूप प्राथमिक, माध्यमिक, तथा उच्च शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। बहुत-से स्कूल व कॉलेज खुले। विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई तथा अनुदान की मात्रा में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। ईसाइयों ने निराश होकर अपना ध्यान प्राथमिक शिक्षा से हटाकर उच्च शिक्षा की ओर कर दिया।

# 13

# लॉर्ड कर्जन की शिक्षा-नीति

## भूमिका

20वीं शताब्दी का उषाकाल भारतीय शिक्षा के इतिहास में सर्वदा स्मरण रहेगा। यह वह समय था जब देश में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ रही थी। भारत-वासियों के हृदयों में अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा भाषा और साहित्य के प्रति अनु-राग उत्पन्न हो गया था। इस जागृति का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। भारतवासी अनुभव करने लगे कि उनकी शिक्षा राष्ट्रीय होनी चाहिए। इसी पृष्ठभूमि के साथ सन् 1899 में लॉर्ड कर्जन भारत के वाइसराय नियुक्त हुए। ऐसा कहा जाता है कि उनमें लॉर्ड डलहौजी के सब गुण विद्यमान थे। जिस प्रकार लॉर्ड डलहौजी ने भारतीयों को अप्रसन्न कर दिया था उसी प्रकार लॉर्ड कर्जन का स्वभाव भी भारतीयों से मेल न खा सका। कर्जन ने आते ही भारत में कुछ सुधार लागू करने चाहे जिनसे भारतवासी सशंकित हो उठे। श्री अनाथ नाथ बसु कर्जन के विषय में लिखते हैं कि "स्वभाव से वे उदार व स्वेच्छाचारी शासक थे तथा शिक्षा द्वारा कठोर शासन में विश्वास करने वाले कठोर साम्राज्यवादी थे। वे केन्द्रीकरण तथा कार्यक्षमता के पुजारी भी थे।" उस समय शिक्षा की अवस्था अच्छी नहीं थी। "सन् 1897 से 1902 तक का काल भारतीय शिक्षा के इतिहास में सबसे अधिक अप्रगतिशील था; विद्यार्थियों की वृद्धि बहुत कम थी और स्कूलों की संख्या भी घट गयी थी। वह समय आपत्ति (दो भयानक दुर्भिक्ष और एक सर्वव्यापी महामारी) का था।"[1] अत: लॉर्ड कर्जन ने भारत में आते ही सितम्बर 1901 में एक गुप्त कान्फ्रेंस शिमला में बुलायी जिसमें केवल प्रान्तीय जन-शिक्षा संचालकों ने भाग लिया। कर्जन स्वयं सभापति बने। यहाँ वाइसराय ने भारतीय शिक्षा सम्बन्धी प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक सभी समस्याओं पर विचार-विनिमय किया और अपनी नयी शिक्षा-नीति की योजना बनायी जिसके अनुसार भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में सरकार का नियन्त्रण बढ़ना चाहिए था। इस कान्फ्रेंस

---

1 *Progress of Education in India*, 1912–17, *Seventh Quinqennial Review*, Vol. I, p. 22.

में भारतीय मत को प्रतिनिधित्व नहीं मिला था, अतः भारतीय शिक्षित समाज इसे सन्देह की दृष्टि से देख रहा था। यहाँ तक कि ईसाई मिशनरियों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये थे। लॉर्ड कर्जन ने यद्यपि एक परम्परागत नीति का अनुसरण किया था, किन्तु अब समय बदल चुका था। इस नीति का प्रभाव यह हुआ कि राष्ट्रीय विचारधारा और अधिक जोर पकड़ गयी। सन् 1902 में भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति हुई और सन् 1904 में शिक्षा-नीति सम्बन्धी सरकारी प्रस्तावों का प्रकाशन हुआ। सन् 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पास हो गया। सन् 1905 में लॉर्ड किचनर से कुछ राजनीतिक मतभेद हो जाने के कारण लार्ड कर्जन स्वदेश वापस लौट गये। आगे हम लॉर्ड कर्जन के शिक्षा-सुधारों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

**भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन (सन् 1902)**

27 जनवरी, 1902 को इस कमीशन की नियुक्ति हुई जिसने उसी वर्ष जून में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। वास्तव में विश्वविद्यालय क्षेत्र में इस समय सुधार की आवश्यकता थी। उसकी स्थापना के उपरान्त उनके सुधार के अब तक कोई प्रयत्न नहीं किये गये थे। इसी बीच में भारत में कालेजों और माध्यमिक शिक्षालयों की संख्या बढ़ गयी थी और विश्वविद्यालयों को उनका भार कठिन प्रतीत होने लगा था। लन्दन विश्वविद्यालय का भी सन् 1898 में पुनर्संगठन कर दिया गया था। अतः यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि भारत में भी विश्वविद्यालयों के संगठन, प्रबन्ध तथा कार्य-प्रणाली में सुधार किया जाय। इसके अतिरिक्त भारत में विश्वविद्यालयों का संगठन लन्दन विश्वविद्यालय को आदर्श मानकर हुआ था। किन्तु अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया था कि इस प्रकार के विश्वविद्यालय जो केवल परीक्षा लेने भर के लिए हैं, अधिक उपयोगी नहीं हैं। अतः लन्दन विश्वविद्यालय भी बदला जा चुका था। भारत में भी इस बात की आवश्यकता का अनुभव होने लगा कि अब केवल ऐसे विश्वविद्यालय ही नहीं चाहिए जो परीक्षाओं का प्रबन्ध करके उपाधि-वितरण कर देते हैं। शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी यह बात अनुभव होने लगी कि केवल पुस्तकीय ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। समय की माँग थी कि औद्योगिक व व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध हो जिससे शिक्षा व्यावहारिक जीवन के लिए अधिक उपयुक्त होकर यथेष्ट रूप से हितकर हो सके। अतः इस कमीशन की नियुक्ति "ब्रिटिश भारत में स्थित विश्वविद्यालयों की अवस्था तथा भावी उन्नति की जाँच करने के लिए तथा ऐसे प्रस्तावों पर विचार करने के लिए जो उनके विधान तथा कार्य-प्रणाली को सुधारने के लिए बनाये गये हैं अथवा बनाये जा सकते हैं और गवर्नर जनरल की परिषद् को उन साधनों के लिए सिफारिश करने के लिए जो विश्वविद्यालयों के शिक्षण-स्तर को उठा सकें और विद्या की उन्नति कर सकें" की गयी।[2]

यह दुर्भाग्य की बात थी कि शिमला कान्फ्रेंस की भाँति कर्जन ने इस कमीशन

*Indian Universities Commission Report.*

में भी कोई भारतीय सम्मिलित नहीं किया। भारतीयों की भावना को इससे बड़ा आघात पहुँचा। उन्होंने अनुभव किया कि सम्भवतः सरकार उनकी उठती हुई राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने के लिए उसकी प्रगति को रोककर पूर्णतः उसका नियन्त्रण करना चाहती है। अन्त में कुछ समय बाद इस कमीशन में डॉ० गुरुदास बनर्जी तथा सैयद हसन बिलग्रामी के नाम भी जोड़ दिये गये, किन्तु भारतीय भावना को मनोवैज्ञानिक आघात तो लग ही चुका था।

विश्वविद्यालयों में शिक्षा तथा प्रबन्ध के सुधार के लिए कमीशन ने बहुत-से सुझाव रखे। संक्षेप में, कमीशन की सिफारिशें निम्नलिखित हैं :

(1) विश्वविद्यालयों के प्रबन्ध का पुनर्संगठन।

(2) विश्वविद्यालयों द्वारा सम्बन्धित कालेजों का कड़ा निरीक्षण तथा प्रबन्ध के नियमों में कड़ाई।

(3) विद्यार्थियों के रहने के स्थान और अवस्थाओं का समुचित प्रबन्ध।

(4) विश्वविद्यालयों द्वारा निश्चित मर्यादा के अन्तर्गत शिक्षण-कार्य प्रारम्भ कर देना।

(5) पाठ्यक्रम तथा परीक्षा-विधि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन।

ये ही सिफारिशें भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 का आधार थीं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस कमीशन का उद्देश्य वास्तव में कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का नहीं था वरन् वर्तमान प्रणाली को ही पुनर्संगठित करके मजबूत बनाना था। फीस की निम्नतर दर निश्चित करने तथा द्वितीय श्रेणी के इण्टरमीडिएट कालेजों को तोड़ने की सिफारिश करके कमीशन ने कुछ भारतीयों को भी विरुद्ध कर लिया। इतना अवश्य है कि विश्वविद्यालयों के बिखरे हुए तत्त्वों को संगठित करके उन्हें सुदृढ़ और सुसंगठित बनाने के लिए कमीशन ने अत्यन्त लाभदायक सिफारिशें कीं और यदि लॉर्ड कर्जन की नीति से भारतवासियों को मनोवैज्ञानिक असन्तोष न हो गया होता तो ये ही सिफारिशें स्वागत के साथ स्वीकार की जातीं, किन्तु समय-चक्र तेजी से घूम रहा था।

**सरकारी प्रस्ताव और शिक्षा-नीति (सन् 1904)**

11 मार्च, 1904 को लॉर्ड कर्जन ने सरकारी शिक्षा-नीति को प्रस्ताव के रूप में प्रकाशित कर दिया। यह एक महत्त्वपूर्ण विवरण था। तत्कालीन भारतीय शिक्षा के दोषों को इसने सूक्ष्म दृष्टि से देखा और उनका ठीक-ठीक चित्रण किया। बहुत-सी बातें तो आज भी यथावत् हमारी शिक्षा के भाल पर कलंक बिन्दु के समान लगी हुई हैं। प्रस्ताव में कहा गया कि "परिणाम की दृष्टि से हमारी वर्तमान शिक्षा के दोष सर्वविदित हैं। पाँच गाँवों में से चार गाँव बिना किसी स्कूल के हैं। चार लड़कों में से तीन बिना किसी भी प्रकार शिक्षा पाये हुए ही बढ़ते हैं और 40 में से केवल एक बालिका किसी भी प्रकार के स्कूल में पढ़ने जाती है।" शिक्षा की उत्तमता की दृष्टि से प्रस्ताव में निम्नलिखित प्रमुख दोष बताये गये :

(1) उच्च शिक्षा सरकारी नौकरी पाने के एकमात्र उद्देश्य से ही प्राप्त की जाती है। इस प्रकार शिक्षा का क्षेत्र अकारण संकीर्ण कर दिया जाता है और जो सरकारी नौकरी पाने में असफल रहते हैं वे दुर्भाग्य से अन्य उद्यम पाने के अयोग्य हो जाते हैं।

(2) परीक्षाओं को आवश्यकता से अधिक प्रभुत्व दे दिया गया है।

(3) पाठ्यक्रम शुद्ध पुस्तकीय है।

(4) स्कूलों और कालेजों में विद्यार्थियों की बुद्धि का विकास बहुत कम और स्मृति का विकास बहुत अधिक हो जाता है, फलतः गहन विद्वत्ता के स्थान पर केवल यन्त्रवत् पुनरावृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

(5) अंग्रेजी को प्रमुखता देने से मातृभाषाओं का विकास रुकता है।

(6) टेक्नीकल शिक्षा की अवहेलना हो रही है, किन्तु जो कुछ भी टेक्नीकल शिक्षा उपलब्ध है, वह केवल कतिपय उच्च सरकारी पदों के लिए लोगों को दीक्षित करने के लिए है। वास्तव में ऐसी टेक्नीकल शिक्षा की आवश्यकता थी जो जन-साधारण के लिए उपयोगी हो और जिससे देश का भी आर्थिक विकास हो।

प्रस्ताव में यह भी आवश्यक समझा गया कि अधिक उपयोगी कृषि कॉलेज खोले जायँ तथा भारतीय कलाओं और दस्तकारियों की भी उन्नति की जाय। शिक्षकों को अधिक संख्या में दीक्षित करने पर भी जोर दिया गया। स्त्री-शिक्षा की ओर भी प्रस्ताव की दृष्टि गयी और कहा गया कि सरकार को स्त्री-शिक्षा पर अधिक व्यय करना चाहिए तथा अध्यापिकाओं की ट्रेनिंग के लिए अधिक स्कूल तथा बालिकाओं के लिए सरकार की ओर से आदर्श पाठशालाएँ खुलनी चाहिए। इन पाठशालाओं के निरीक्षण तथा सुप्रबन्ध के लिए निरीक्षकों की संख्या बढ़ाने पर भी जोर दिया गया।

इस प्रकार इस प्रस्ताव के द्वारा प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय शिक्षा का पूर्ण निरीक्षण करने के उपरान्त उनकी उन्नति के लिए सरकारी नीति की घोषणा की गयी।

प्राथमिक शिक्षा के विषय में प्रस्ताव में स्वीकार किया गया कि यद्यपि इसमें विकास हुआ है, किन्तु भारत की जनसंख्या को देखते हुए वह अपर्याप्त है। यह भी स्वीकार किया गया कि सरकार ने माध्यमिक शिक्षा की तुलना में इसकी अवहेलना की है। प्राथमिक शिक्षा-प्रसार को सरकार का प्रथम कर्तव्य बताया गया और उनके लिए सुझाव रखे कि एक तो स्पष्ट आर्थिक नीति का अनुकरण किया जाय और राजस्व में से प्रथम भाग शिक्षा पर व्यय किया जाय। स्थानीय बोर्डों को अपनी शिक्षा सम्बन्धी धन-राशि केवल प्राथमिक शिक्षा पर ही व्यय करनी चाहिए, न कि उच्च शिक्षा पर। दूसरे, शिक्षण-विधि को अनुकूल, सरल व उपयोगी बनाया जाय। तीसरे, अध्यापकों के वेतन में वृद्धि की जाय।

माध्यमिक शिक्षा के विषय में सरकारी प्रस्ताव में कहा गया कि अब तक माध्यमिक शिक्षा में वृद्धि तो सन्तोषजनक हुई है, किन्तु इसके साथ ही साथ ऐसे स्कूलों की संख्या बढ़ गयी है जिनमें न योग्य शिक्षक हैं, न फर्नीचर, न अन्य सामान और न

पुस्तकालय व भवन इत्यादि की उचित व्यवस्था। शिक्षण-स्तर तथा कार्यक्षमता का भी पतन हुआ है। अतः प्रस्ताव में निरीक्षण, नियन्त्रण और आर्थिक सहायता द्वारा उनके स्तर को उठाने की सिफारिश की गयी। स्कूलों को स्वीकृति तथा सहायता-अनुदान देने के नियमों में भी कड़ाई कर दी गयी और फीस, विद्यार्थियों की संख्या, छात्रावास, विज्ञान का सामान, योग्य शिक्षकों की नियुक्ति इत्यादि सम्बन्धी कुछ नियम बना दिये गये जिनकी अवहेलना करने पर इन स्कूलों के परीक्षार्थियों का विश्व-विद्यालय-प्रवेश तथा सरकारी परीक्षाओं में बैठने का निषेध कर दिया गया। इन नियमों की कठोरता की भारतीय मत ने तीव्र आलोचना की और सरकार पर अभियोग लगाया कि वह शिक्षा-प्रसार को रोकने तथा उन शिक्षा-केन्द्रों को जो राष्ट्रीय आन्दोलन के स्रोत हैं, नष्ट करने की सरकार की चाल है।

माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी सुधार प्रस्तावित किये गये। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न शिक्षा के माध्यम का उठाया गया। यह कहा गया कि "प्राथमिक शिक्षा में अंग्रेजी का न तो कोई स्थान है और न होना चाहिए। जब तक बालक ने मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा पाकर उसका ज्ञान परिपक्व नहीं कर लिया है, तब तक उसे अंग्रेजी पढ़ने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए।" इस प्रकार यह बात स्वीकार की गयी कि लगभग तेरह वर्ष की उम्र के उपरान्त ही बालक को अंग्रेजी पढ़नी चाहिए। माध्यमिक शिक्षा के लिए प्रस्ताव में मातृभाषा पर जोर दिया गया। "यदि शिक्षित वर्ग ही अपनी मातृभाषाओं की अवहेलना करेंगे तो अवश्य ही वे केवल देशी बोलचाल की भाषा मात्र रह जायेंगी जिनका अपना कोई साहित्य नहीं होगा।"

इसी प्रकार विश्वविद्यालय शिक्षा के दोषों का भी प्रस्ताव में संक्षेप में विवेचन किया गया, क्योंकि यह प्रश्न विश्वविद्यालय कमीशन के अधीन कर दिया गया था; तथापि उनकी परीक्षा-विधि, सीनेट का आकार तथा सिण्डीकेट के अधिकार इत्यादि पर कुछ प्रकाश डाला गया।

उपर्युक्त विवरण से प्रकट होता है कि लॉर्ड कर्जन ने तत्कालीन भारतीय शिक्षा के गुण-दोषों का विवेचन बिलकुल ठीक ही किया था। "किन्तु दुर्भाग्य से यद्यपि रोग का निदान ठीक था, प्रस्तावित ओषधि न तो उचित ही थी और न सामयिक ही। लॉर्ड कर्जन ने जो बहुत-सी बातें कहीं उनके कहने में वे सही थीं, किन्तु जिस विधि से वे सुधार करना चाहते थे उसने शिक्षित भारतीयों के मस्तिष्कों में गम्भीर सन्देह उत्पन्न कर दिया। उन्हें भय हुआ कि यह सुधार-कार्य कुछ राजनीतिक उद्देश्यों को अपनी आड़ में छिपाये हुए हैं।"[3]

**भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम** (सन् 1904)

जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, सन् 1902 में विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति हुई थी। इस कमीशन की सिफारिशों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करने के उपरान्त

A. N. Basu : *Education in Modern India*, p. 64.

उन्हीं के आधार पर सन् 1903 में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल में एक विधेयक 'भारतीय विश्वविद्यालय विधेयक' के नाम से प्रस्तुत किया गया जो 21 मार्च, 1904 को कानून बन गया । यद्यपि भारतीयों ने इसका भयंकर विरोध किया और स्व० गोपालकृष्ण गोखले ने तो इसकी धज्जियाँ ही उड़ा दीं, किन्तु अन्त में बहुमत से यह पास हो गया।

इस कानून के द्वारा विश्वविद्यालयों के संगठन तथा शासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये । उन परिवर्तनों को सात भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) विश्वविद्यालयों के कार्य का विस्तार कर दिया गया और उन्हें प्रोफेसर तथा लेक्चरर नियुक्त करने और अनुसन्धान के लिए सुविधा जुटाने का अधिकार प्रदान कर दिया गया ।

(2) इस अधिनियम ने दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सीनेट को उपयुक्त आकार का बनाने का सुझाव देकर किया । सन् 1857 के कानून के द्वारा विश्वविद्यालयों के लिए 'आजीवन फेलो' सरकार द्वारा नियुक्त करने का अधिकार था, किन्तु गत 50 वर्षों में इस अधिकार का उपयोग बुद्धिमत्तापूर्ण न होने के कारण सीनेटों का आकार बड़ा विशाल हो गया था। इस अधिनियम के द्वारा यह निश्चित हो गया कि 'फेलो' न 50 से कम और न 100 से अधिक होंगे और इनकी अवधि आजीवन न होकर केवल 5 वर्ष के लिए होगी ।

(3) तीसरा परिवर्तन था चुनाव-सिद्धान्त का प्रारम्भ कर देना । इसके अनुसार निश्चय हुआ कि बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयों में 20 तथा अन्य में 15 'फैलो' चुने जायेंगे ।

(4) चौथा परिवर्तन था सिण्डीकेटों की कानूनी स्वीकृति तथा विश्वविद्यालय के अध्यापकों का सिण्डीकेट में प्रतिनिधित्व ।

(5) पाँचवाँ परिवर्तन इस एक्ट के द्वारा यह किया गया कि विश्वविद्यालयों से कालेजों का सम्बन्ध स्थापित करने के नियम कड़े कर दिये गये और नियमित रूप से सम्बन्धित कालेजों के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सिण्डीकेटों द्वारा उनके निरीक्षण की व्यवस्था की गयी ।

(6) छठवाँ परिवर्तन सीनेट के द्वारा बनाये जाने वाले नियमों को सरकार में निहित करने का था । अब तक यह अधिकार केवल सीनेट को ही प्राप्त था, केवल सरकार से स्वीकृति लेने की आवश्यकता होती थी । किन्तु इस एक्ट के द्वारा यह नियम बना दिया गया कि सीनेट के बनाये हुए नियमों की स्वीकृति के अतिरिक्त सरकार आवश्यक होने पर उनमें घटा-बढ़ा भी कर सकती है और यदि एक निश्चित समय तक सीनेट नियम बनाने में असफल रहती है तो सरकार नियम भी बना सकती है ।

(7) अन्त में गवर्नर जनरल की परिषद् को यह अधिकार भी दे दिया गया कि वह भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों की प्रादेशिक क्षेत्र-सीमा को भी निर्धारित कर दे । सन् 1857 के कानून में यह प्रश्न अनिश्चित रह गया था जिसका परिणाम यह हुआ कि कुछ अनियमित कार्यवाहियाँ हो गयी थीं । उदाहरणतः कुछ कॉलेज दो विश्व-

विद्यालयों से सम्बन्धित हो गये; अथवा कुछ अन्य कॉलेज किसी विश्वविद्यालय के क्षेत्र में होते हुए और ही किसी दूसरे से सम्बन्धित हो गये, इत्यादि। इस अधिनियम की 27वीं धारा में कहा गया कि 'गवर्नर जनरल-इन काउंसिल' अपने साधारण अथवा असाधारण आदेश द्वारा विश्वविद्यालयों की सीमा निर्धारित कर देगा जिसके अनुसार कालेजों का सम्बन्ध उनसे स्थापित होगा।

**भारतीय मत**

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि 'भारतीय विश्वविद्यालय विधेयक' का धारा-परिषद् में प्रचण्ड विरोध किया गया था। स्व० गोखले ने, जो धारा-परिषद् के सदस्य थे, अपने ऐतिहासिक व्याख्यानों द्वारा भारतीय मत को प्रकट किया। वास्तव में, प्रथमतः जब लॉर्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयों के सुधार की घोषणा की थी तो भारत में उसका बड़ा स्वागत हुआ था, किन्तु शिमला कान्फ्रेंस में भारतवासियों का न लिया जाना और इसके प्रतिकूल ईसाई प्रतिनिधि डॉ० मिलर की जो क्रिश्चियन कॉलेज, मद्रास के प्रिंसिपल थे, उपस्थिति तथा कान्फ्रेंस के निर्णयों को गुप्त रखना इत्यादि ऐसे कार्य थे जिनसे भारतवासी इन शिक्षा-सुधारों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। उन्हें भय होने लगा कि सरकार देश की शिक्षा को यूरोपवासियों के हाथों में देना चाहती है। यद्यपि यह सन्देह आगे चलकर निराधार सिद्ध हुआ, क्योंकि प्रायः सभी विश्वविद्या-लयों में सीनेट में भारतीयों की संख्या यूरोपवासियों से अधिक रही। यही कारण था कि आगे चलकर भारतीयों का विरोध इस बात में कुछ ढीला पड़ गया।

इसके अतिरिक्त कमीशन में भी भारतीयों की अवहेलना और जस्टिस गुरुदास बनर्जी तथा सैयद हसन बिलग्रामी के नामों का बाद में जोड़ा जाना और कमीशन की रिपोर्ट प्रस्तुत करने की जल्दबाजी इत्यादि भी कुछ ऐसी हरकतें थीं जिनसे भारतवासी चौंक उठे। इन सुधारों से उन्हें जो आशा बँधी थी वह छिन्न-भिन्न हो गयी। उन्हें प्रतीत हुआ कि इसके उपरान्त भी शिक्षा-क्षेत्र में कुछ "विशेषज्ञों का संकीर्ण, तर्कहीन और अल्पव्ययी शासन" जीवित रहेगा।

साथ ही चुनाव सिद्धान्त का स्वागत हुआ, किन्तु चुने हुए स्थानों की संख्या को अपर्याप्त बताया गया। 'फैलो' सदस्यों की संख्या के नियत करने में भी भारत-वासियों को भी यही भय हुआ कि उसके द्वारा सरकार विश्वविद्यालयों के सीनेट में यूरोपवासियों का बहुमत करना चाहती है। विश्वविद्यालयों द्वारा कालेजों से सम्बन्ध स्थापित करने के नियमों की कड़ाई का तीव्र विरोध हुआ, क्योंकि लोगों को भय हुआ कि इसके द्वारा उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सरकार भारतीयों के व्यक्तिगत प्रयास को कुचलना चाहती है। अन्त में, सबसे अधिक विरोध सरकार की उस नीति का हुआ जिसके द्वारा उसने इस अधिनियम में सीनेट के बनाये हुए नियमों में हस्तक्षेप तथा विश्वविद्यालय के आन्तरिक शासन को अपने हाथ में लेने की साजिश की थी। उन्हें डर हुआ कि सरकार उच्च शिक्षा पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण करके उसकी प्रगति

को रोकना चाहती है। वस्तुतः यह विरोध शिक्षा-क्षेत्र में बहुत दिनों तक चलता रहा जो सन् 1921 में जाकर ही शान्त हुआ।

**आलोचना**

अपने सम्पूर्ण गुण और दोषों के साथ इस अधिनियम ने वास्तव में भारतीय उच्च शिक्षा में प्रशंसनीय सुधार किये। विश्वविद्यालयों का शासन अधिक कार्यशील और कुशल बना दिया गया। कुछ विश्वविद्यालयों ने शिक्षण-कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। पुस्तकालयों की स्थापना हो गयी। निम्न कोटि के कॉलेज या तो सुधार करके उच्च स्तर पर आ गये अथवा समाप्त हो गये। सीनेट का अधिकार नियत कर दिया गया तथा सिण्डीकेट को कानूनी स्वीकृति प्रदान कर दी गयी। जैसा भय किया गया था कि वैयक्तिक प्रयास को कुछ आघात लगेगा, निराधार सिद्ध हुआ। यद्यपि नियमों की कठोरता के कारण कालेजों की संख्या सन् 1904 से 1912 तक कम हो गयी, किन्तु उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। सन् 1902 में विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कालेजों की संख्या 192 थी जो सन् 1907 में 174 ही रह गयी, किन्तु इससे विद्यार्थियों की संख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कुल मिला कर कालेजों की कार्यक्षमता में वृद्धि हुई और शिक्षा का स्तर ऊँचा उठा।

विश्वविद्यालय के अधिनियम के दोषों का उल्लेख इन शब्दों से अच्छा नहीं किया जा सकता : "इसने विश्वविद्यालय शिक्षा-प्रणाली को बदलने तथा उसे उचित आधार पर रखने का कोई प्रयास नहीं किया। यद्यपि नये विश्वविद्यालयों की अत्यन्त आवश्यकता थी, किन्तु इसके द्वारा उनका निर्माण नहीं हुआ और अन्त में विश्वविद्यालयों के शासन में इसने सरकार के हाथों में इतना नियन्त्रण रख दिया कि कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने भारतीय विश्वविद्यालयों को 'संसार के सबसे अधिक सरकारी शासित विश्वविद्यालय' कहकर पुकारा।"[4]

**उपसंहार**

हण्टर कमीशन से लेकर लॉर्ड कर्जन तक भारतीय शिक्षा ने प्रगति की। जिस प्रकार हण्टर कमीशन ने केवल प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को प्रधानता दी थी, उसी प्रकार विश्वविद्यालय कमीशन ने प्रधानतः विश्वविद्यालय शिक्षा के विषय तक ही अपने को सीमित रखा। इस युग में भारतीय शिक्षा का आधुनिक रूप पर्याप्त रूप से निखर गया और अपने अन्तिम स्वरूप में उपस्थित होने लगा। हण्टर कमीशन का उद्देश्य शिक्षा का विस्तार तथा उसे जनसमूह के लिए सुलभ बनाना था। विश्वविद्यालय कमीशन तथा अधिनियम का उद्देश्य उच्च शिक्षा का पुनर्संगठन तथा उसको ठोस बनाना था। कर्जन अपनी सद्भावनाओं की अपेक्षाकृत भी भारत में सर्वप्रिय न हो सका। शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण की उसकी नीति का जनमत ने निरादर किया। यदि कर्जन का स्वभाव भारतीय जनता के मनोनुकूल होता और लोग उनके राजनीतिक

Nurullah and Naik : *History of Education in India* (1943), p. 266.

उद्देश्यों की ओर से सशंकित न हो गये होते तो जो कुछ भी शिक्षा-क्षेत्र में सुधार हुआ उसका श्रेय अवश्य उन्हें मिलता। उधर रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने भारतवासियों के हृदय में राष्ट्रीयता की भावनाओं को और अधिक उभाड़ दिया था। साथ ही कर्जन के द्वारा बंगाल-विभाजन के कार्य ने तो भारत में एक बार राष्ट्रीयता का झंझावात ही उत्पन्न कर दिया जिसने एक प्रकार से ब्रिटिश शासन की जड़ें ही उखाड़कर रख दीं। इस प्रकार से उत्पन्न हुई स्वदेशी आन्दोलन की आँधी में भारत को एक नवीन राष्ट्रीय स्फूर्ति का सन्देश मिला। यहाँ हम इतना अवश्य कहेंगे कि लॉर्ड कर्जन की सुधार योजनाओं ने भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में एक नवीन चेतना उत्पन्न कर दी। फलतः भारतीय जनता ने सरकार की शिक्षा-योजनाओं को एक आलोचनात्मक दृष्टि से देखना सीखा; इसके अतिरिक्त लॉर्ड कर्जन का वह आदेश, जिसके द्वारा विद्यार्थियों को राजनीतिक सभाओं में भाग लेने पर कठोर दण्ड की धमकी दी गयी थी, देश में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने में अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ।

## सारांश

**20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में देश में राष्ट्रीयता की लहर उठने लगी थी। जब लॉर्ड कर्जन भारत आये तो उन्होंने शिक्षा में कुछ सुधार करना चाहा। उन्होंने आते ही एक सम्मेलन बुलाया जिसमें भारतीयों को नहीं बुलाया, अतः लोग सशंकित हो उठे और उनकी धारणा हो गयी कि सरकार शिक्षा पर रोक लगाना चाहती है। सन् 1902 में भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति हुई और सन् 1904 में सरकारी शिक्षा-नीति का प्रस्ताव पास हुआ और उसी वर्ष भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम भी पास हो गया।**

**भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन—सन् 1902 में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी। इसका उद्देश्य विद्यालयों की जाँच करके उनके निकास के उपाय बताना तथा भावी उच्च शिक्षा की उन्नति के लिए सुझाव देना था। कमीशन ने सिफारिशें कीं कि विश्वविद्यालयों को फिर से संगठित किया जाय, सम्बन्धित कालेजों का कड़ा निरीक्षण किया जाय, विद्यार्थियों को आवास की सुविधाएँ दी जायँ, विश्वविद्यालयों को सीमित रूप से पढ़ाई भी प्रारम्भ कर देनी चाहिए तथा पाठ्यक्रम व परीक्षा-विधि में उचित परिवर्तन कर दिये जायँ।**

**सन् 1904 की शिक्षा-नीति—लॉर्ड कर्जन की शिक्षा-नीति सन् 1904 में एक प्रस्ताव के रूप में आयी। उसमें मातृभाषा के माध्यम से प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा देने पर बल दिया गया। शिक्षा का उद्देश्य केवल नौकरी पाना ही, न हो। परीक्षा का प्रभाव घटना चाहिए। पाठ्यक्रम व्यावहारिक व लोकोपयोगी हो, न कि केवल पुस्तकीय। मातृभाषा एवं टेक्नीकल शिक्षा की अवहेलना हो रही है। अतः कृषि कॉलेज खोले जायँ। शिक्षकों के लिए ट्रेनिंग कॉलेज तथा स्त्रियों के लिए अधिक स्कूल खोले जायँ। माध्यमिक स्कूलों व कालेजों के प्रबन्ध में कड़ाई अपनायी जाय।**

उनके लिए कठोर नियम बना दिये जायँ जिन्हें तोड़ने पर ग्राण्ट बन्द कर दी जाय। माध्यमिक पाठ्यक्रम में तुरन्त सुधार कर दिया जाय।

यद्यपि ये सभी बातें बड़ी उचित थीं, किन्तु भारतीय कर्जन की ओर शंका की दृष्टि से देखने लगे थे, अतः उन्होंने समझा कि उसकी शिक्षा-नीति से शिक्षा का विकास रुक जायगा।

**भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम**—सन् 1904 में विश्वविद्यालय एक्ट पास हुआ। इसका आधार सन् 1904 की विश्वविद्यालय कमीशन की सिफारिशें थीं। इन सिफारिशों के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों के संगठन में सुधार कर दिया गया। सीनेट की चुनाव प्रणाली में परिवर्तन, अन्य नियमों में परिवर्तन तथा विश्वविद्यालयों को प्रादेशिक सीमा का निर्धारण भी इस एक्ट के द्वारा नियमित कर दिये गये।

भारतीय मत ने इस एक्ट का खुलकर विरोध किया किन्तु ऐसा इस भ्रान्ति के कारण ही हुआ कि सरकार भारतवासियों की शिक्षा पर रोक लगाना चाहती है तथा शिक्षा को पूर्णतः यूरोपीय नियन्त्रण में ले जाना चाहती है। किन्तु ये धाराएँ निर्मूल थीं। वास्तव में अधिकांश सुझाव विश्वविद्यालय शिक्षा तथा प्रबन्ध का स्तर उठाने के लिए थे।

# 14

# स्वदेशी आन्दोलन और शिक्षा-प्रगति

## (सन् 1905–1920)

## (क) स्वदेशी आन्दोलन

**आन्दोलन का प्रभाव**

लॉर्ड कर्जन की नीति ने देश के राष्ट्रीय नेताओं को रुष्ट कर दिया। उसके शिक्षा-सुधार निश्चय ही राजनीतिक उद्देश्यों से प्रभावित थे। अतः राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान इधर आर्कषित होना स्वाभाविक ही था। रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने यह सिद्ध कर दिया था कि एशिया की सभ्यता भी संसार में अपना महत्त्व रखती है। भारत की राष्ट्रीय भावनाओं को इससे बड़ी प्रेरणा मिली। परिणामतः भारत में जापानी शिक्षा-प्रणाली के अध्ययन की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जापानी शिक्षा-प्रणाली के ऊपर भारत में एक सरकारी रिपोर्ट भी प्रकाशित हुई तथा बहुत-से भारतवासी जापान में शिक्षा प्राप्त करने भी गये। इसके अतिरिक्त सन् 1906 में सरकार की ओर से कलकत्ता में 'जापान की शिक्षा-प्रणाली' नामक एक सामयिक रिपोर्ट और निकली। इस साहित्य ने भी भारतीय तरुणों को क्रान्तिकारी भावनाओं से भर दिया और वे भारतीय शिक्षा-प्रणाली के सुधार की आवाज ऊँची करने लगे। इसी समय एशिया के अन्य भागों के भी इसी प्रकार के परिवर्तन के समाचार भारत आने लगे। फारस में सन् 1905 में स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हो गया था; तुर्की तथा चीन में भी उत्तरदायी शासन के आन्दोलन सफल हो रहे थे। इसके पूर्व भारत में बंगाल-विभाजन आन्दोलन जोर पकड़ ही चुका था। इस प्रकार ये सब घटनाएँ मिलकर 'स्वदेशी आन्दोलन' के रूप में फूट पड़ीं। सर्वप्रथम सन् 1905 में बंगाल में ही इसका सूत्रपात हुआ और वहाँ से इसकी चिनगारियाँ सम्पूर्ण देश में फैल गयीं।

इस आन्दोलन का मूलभूत विचार था विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार। विदेशी वस्तुओं के स्थान पर विदेशी वस्तुओं के उपभोग ने देश में औद्योगिक शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान आर्कषित किया और उच्च कोटि के भारतीय नेता देश में एक प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार की कल्पना व योजना करने लगे। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि बंगाल में 'राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्' की स्थापना हुई। इस

आन्दोलन के प्रमुख नेता सर गुरुदास बनर्जी, रासबिहारी घोष तथा डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। इस परिषद् ने राष्ट्रीय शिक्षा के लिए एक विस्तृत योजना बनायी। प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा का सुधार इसका उद्देश्य था। इस परिषद् ने कलकत्ता में एक 'नेशनल कॉलेज' भी स्थापित किया और श्री अरविन्द को इसका प्रथम प्रिंसिपल बनाया गया। कुछ ही समय में लाखों रुपये भी इकट्ठे कर लिये गये। साथ ही कलकत्ता में एक 'टेक्नीकल इन्स्टीट्यूट' भी खोला गया जो आगे चलकर जादवपुर कॉलेज ऑव इंजीनियरिंग एण्ड टेकनोलॉजी के रूप में विकसित हुआ। थोड़े ही समय में सम्पूर्ण बंगाल में राष्ट्रीय स्कूलों का एक जाल-सा बिछ गया। इन स्कूलों में मातृभाषा के माध्यम के द्वारा उपयोगी विषयों में शिक्षा दी जाती थी। देश के अन्य भागों में भी इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित स्कूलों का निर्माण हुआ तथा प्राचीन भारतीय सभ्यता व संस्कृति का पुनरुत्थान करने के लिए गुरुकुलों की स्थापना भी हुई।

वस्तुतः भारतीय शिक्षा-पद्धति को सुधारने के लिए यह प्रथम आन्दोलन था, किन्तु ज्यों-ज्यों स्वदेशी आन्दोलन ढीला पड़ता गया, राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन में भी शैथिल्य आता गया। 'नेशनल कॉलेज' भी बन्द हो गया और अन्य स्कूल भी धीरे-धीरे नष्ट हो गये। केवल जादवपुर टेकनीकल कॉलेज आज भी उस शानदार आन्दोलन की स्मृति दिला रहा है। यह इस बात का द्योतक है कि देश में औद्योगिक शिक्षा की माँग थी। वस्तुतः यह सम्पूर्ण आन्दोलन ही राजनीतिक-आर्थिक था। शिक्षा-सुधार की यह लहर एक बार देश के कोने-कोने में फैल गयी थी। वृन्दावन और हरिद्वार के गुरुकुलों से वेद-मन्त्रों की ध्वनियाँ भारत के अतीत का गौरव-ज्ञान गुञ्जरित करती थीं तो उधर शान्ति-निकेतन के ब्रह्मचारी प्राच्य संस्कृति को विश्व के समक्ष लाने के लिए कवि-सम्राट् के चरणों में बैठे तपस्या कर रहे थे। इधर वाइसराय की परिषद् के गगनचुम्बी भवनों में भारत के महान् नेता श्री गोखले की सिंहगर्जना भारतीय जनवाणी का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

उसी समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना है, जिसका भारतीय शिक्षा में एक ऐतिहासिक महत्त्व है। इसकी स्थापना कुछ अमीर तथा उच्च शिक्षा प्राप्त मुसलमानों ने अपने राजनीतिक तथा आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए की थी। लॉर्ड कर्जन के उपरान्त लॉर्ड मिण्टो भारत के वाइसराय हुए। उन्होंने सर्वप्रथम देश में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विष-बीज बोये। 'मिण्टो-मार्ले सुधार' के नाम से जो वस्तु भारत में आयी उसने देश की राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्थाओं को प्रभावित करने के अतिरिक्त तत्कालीन शिक्षा पर भी अपना प्रभाव डाला। इस सम्प्रदायवाद की नीति को अंग्रेज शासकों का वरदान प्राप्त था। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में मुसलमान नेताओं ने अपने लिए अलग स्कूल, अलग विश्वविद्यालय तथा सरकारी स्कूलों में अपके लिए अलग स्थान नियत कराने का नारा बुलन्द किया। इस प्रकार भारतीय शिक्षा में जातिवाद के बीज बो दिये गये जो आगे जाकर एक भयानक अभिशाप सिद्ध हुए।

**गोखले का विधेयक**

सन् 1904 की सरकारी नीति के कारण देश में प्राथमिक शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हुआ, किन्तु भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ-साथ इसकी माँग भी बढ़ती जा रही थी। स्वदेशी आन्दोलनों तथा राजनीतिक जागृति ने जनसाधारण की शिक्षा की ओर देश में रुचि उत्पन्न कर दी थी। उस समय भारत में केवल 6 प्रतिशत साक्षरता थी और स्कूल जाने योग्य लड़कों में केवल 23·8 प्रतिशत तथा लड़कियों में 2·7 प्रतिशत स्कूलों में जाते थे।

ऐसी परिस्थितियों में गोखले ने सरकार तथा जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और प्राथमिक शिक्षा के निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाने की माँग सरकार के समक्ष प्रस्तुत की। उन्होंने जनता को यह चेतावनी भी दी थी कि अशिक्षित देश सभ्यता की दौड़ में कभी भी आगे नहीं बढ़ सकते। अतः भारतीय जनसाधारण को अनिवार्यतः शिक्षित किया जाय। इधर सन् 1906 में बड़ौदा नरेश ने अपने सम्पूर्ण राज्य में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी। अतः भारत के अन्य भागों को भी इस क्रान्तिकारी कदम से प्रेरणा मिली। 19 मार्च, 1910 को स्व० गोखले ने इम्पीरियल धारा परिषद् में निम्नलिखित प्रस्ताव रखा :

"इस परिषद् की सिफारिश है कि प्रारम्भिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाने का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए और निश्चित प्रस्ताव बनाने के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी अधिकारियों का एक संयुक्त कमीशन शीघ्र नियुक्त करना चाहिए।"

इसके अनुसार श्री गोखले ने बताया कि केवल 6 वर्ष से 10 वर्ष तक के लड़कों के लिए ही शिक्षा अनिवार्य की जाय और वह भी उस क्षेत्र में जहाँ पहले से ही 33 प्रतिशत लड़के स्कूलों में शिक्षा पा रहे हों। शिक्षा की तत्कालीन अवस्था का वर्णन करते हुए श्री गोखले ने बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित किया तथा उसके सुधार के बड़े ठोस सुझाव रखे। खर्च के विषय में उन्होंने बताया कि यह स्थानीय संस्थाओं तथा सरकार में 1 : 2 के अनुपात से बँट जाना चाहिए। शिक्षा के लिए एक अलग सेक्रेटरी नियुक्त करने की भी उन्होंने माँग की तथा बजट में शिक्षा की प्रगति के वर्णन करने का सुझाव रखा।

अन्त में सरकार के आश्वासन पर यह प्रस्ताव वापस ले लिया गया, किन्तु इसके उपरान्त भी कोई आशाजनक प्रगति प्राथमिक शिक्षा में न हुई। सन् 1910 में भारत सरकार ने 'शिक्षा विभाग' तो स्थापित कर दिया, किन्तु शिक्षा को पूर्णतः प्रान्तीय सरकार के क्षेत्र के अन्तर्गत ही रखा। सन् 1910 से पूर्व शिक्षा गृह-विभाग के अन्तर्गत थी। इस नये शिक्षा-विभाग में स्वास्थ्य तथा भूमि को भी सम्मिलित रखा गया था।

प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए सरकार की धीमी प्रगति को देखकर 13 मार्च, 1911 को श्री गोखले ने अपना ऐतिहासिक विधेयक प्रस्तुत किया। यह विधेयक व्यक्तिगत था तथा अत्यन्त ही विनम्र और सादा था। इसका उद्देश्य "देश की प्राथमिक शिक्षा-प्रणाली में क्रमशः अनिवार्यता के सिद्धान्त का प्रारम्भ करना" था। प्रथमतः,

इसके अनुसार स्थानीय बोर्डों के उन क्षेत्रों में जहाँ पहले से ही लड़के व लड़कियाँ एक निश्चित प्रतिशत में स्कूल जाते थे, कानून लागू करना था। इस प्रतिशत को गवर्नर जनरल अपनी परिषद् में नियत करेंगे। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम को लागू करने का अधिकार पूर्णतः स्थानीय बोर्डों पर छोड़ दिया गया। साथ ही यदि स्थानीय बोर्ड इसे अपने क्षेत्र में लागू करना चाहें तो पहले सरकार की अनुमति लें। स्थानीय बोर्डों को शिक्षा-कर लगाने की अनुमति दी जाने की भी व्यवस्था की गयी। 6-10 वर्ष तक के बालकों के अभिभावकों के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वे अपने लड़कों को स्कूल भेजें। लड़कियों पर भी इसे कालान्तर में लागू करने की बात कही गयी। नियम भंग करने पर अभिभावकों के लिए दण्ड-व्यवस्था भी की गयी। साथ ही खर्च के लिए स्थानीय बोर्डों को प्रान्तीय सरकारों से अनुदान का उल्लेख भी किया गया। वस्तुतः इस योजना का आर्थिक स्वरूप ही इसको स्वीकार अथवा अस्वीकार किये जाने के लिए अधिकांश में उत्तरदायी था। अतः श्री गोखले ने स्वयं इसको अपनी भूमिका में स्पष्ट करने का प्रयास किया था :

"यह बात स्पष्ट है कि इस विधेयक की सम्पूर्ण क्रिया प्रथमतः अनिवार्य शिक्षा जहाँ कहीं भी लागू की जाय उसके व्यय के उस भाग पर निर्भर है जो सरकार सहन करने को उद्यत है। मुझे विदित है कि इंगलैण्ड में संसदीय अनुदान प्रारम्भिक शिक्षा के कुल व्यय का $\frac{2}{3}$ है। स्काटलैण्ड में इससे भी अधिक तथा आयरलैण्ड में तो प्रायः सम्पूर्ण ही है। मेरा अनुमान है कि हमें यह कहने का अधिकार है कि भारत में नये व्यय का कम से कम $\frac{2}{3}$ भाग सरकार उठाये।"[1]

इस प्रकार विधेयक के प्रस्तुत हो जाने पर स्थानीय सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा कुछ अन्य व्यक्तिगत संस्थाओं में मत-संग्रह के लिए इसको घुमाया गया। अन्त में दो दिन के घमासान संघर्ष के उपरान्त 19 मार्च, 1912 को इसे 13 मतों के विरुद्ध 38 मतों से गिरा दिया गया। सरकारी सदस्यों के अतिरिक्त जमींदार सदस्यों ने भी अपने गोरे स्वामियों का साथ देकर राष्ट्र की शिक्षा-प्रगति को एक महान् क्षति पहुँचायी। सरकार इस नम्र विधेयक को भी पास न कर सकी। वस्तुतः अस्वीकार करने के तर्क बड़े ही निरर्थक व सारहीन थे। उदाहरण के लिए, कहा गया कि यह कदम समय से पूर्व तथा अनावश्यक था। यह भी कहा गया कि जनता अनिवार्यता के सिद्धान्त के प्रतिकूल है; तथा अनिवार्यता शिक्षा-सिद्धान्त के प्रतिकूल भी है; प्रान्तीय सरकारें अनिवार्य शिक्षा के पक्ष में नहीं हैं; कुछ भारतीय अल्पसंख्यक शिक्षित वर्ग भी इसके विरुद्ध हैं और स्थानीय बोर्ड भी इस समय नवीन योजना के लिए अधिक कर न लगायेंगे तथा प्रबन्ध और संगठन की दृष्टि से इसमें अनेक शासन सम्बन्धी असुविधाएँ हैं। ये बहाने लगाकर सरकार ने विधेयक को गिरा दिया। श्री गोखले ने कहा कि

[1] *Gokhale's Speeches* (1920), pp. 618-19.

इसे 15 सदस्यों की एक प्रवर समिति[2] के पास ही भेज दिया जाय, किन्तु सब व्यर्थ हुआ। सरकार की ओर से सर हारकोर्ट बटलर ने जो सरकारी प्रवक्ता था, विधेयक का तीव्र विरोध किया और कहा कि देश अभी इस सुधार के लिए तैयार नहीं है। श्री गोखले ने धाराप्रवाह व्याख्यानों के द्वारा अपने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये किन्तु उन्हें निराश होना पड़ा। यह एक शानदार पराजय थी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस असफलता की अपेक्षाकृत भी बाद में गोखले के विधेयक के सिद्धान्तों को सरकार व्यावहारिक रूप प्रदान करने लगी। अधिकतर शिक्षित भारतवासी अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करने लगे। केन्द्र में शिक्षा-विभाग स्थापित हो गया। प्राथमिक शिक्षा के आन्दोलन को सम्पूर्ण देश में एक तीव्र प्रगति मिली। सन् 1912 में सीमाप्रान्त में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क कर दी गयी। संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश), पंजाब, आसाम तथा मध्य प्रान्त में भी नाममात्र शुल्क पर इसे अधिक विस्तार के साथ चालू कर दिया गया।

**भारत सरकार की सन् 1912 की शिक्षा-नीति**

देश में शिक्षा की माँग के सर्वप्रिय होने के कारण भारत सरकार को अपनी नीति को दुहराने की आवश्यकता अनुभव हुई। गोखले के विधेयक के विरोध करने के कारण सरकार के लिए आवश्यक हो गया कि वह अपनी शिक्षा-नीति को स्पष्ट करे। इसके अतिरिक्त सन् 1911 के दिल्ली दरबार के उपरान्त देश में कुछ शासन सम्बन्धी परिवर्तन भी हुए। विभाजित बंगाल पुनः संयुक्त कर दिया गया। अतः शिक्षा-क्षेत्र का पूर्ण अवलोकन व निरीक्षण करने के लिए 21 फरवरी, 1913 को सरकार ने शिक्षा-नीति पर अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव के अनुसार निम्न-लिखित सिफारिशें की गयीं :

(1) लोअर प्राइमरी स्कूलों का विस्तार किया जाय जहाँ लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त ड्राइंग, गाँव का नक्शा, प्रकृति निरीक्षण तथा शारीरिक व्यायाम की शिक्षा प्रदान की जाय।

(2) साथ ही उचित स्थानों पर अपर प्राइमरी स्कूलों की स्थापना की जाय और आवश्यकता पड़ने पर लोअर प्राइमरी स्कूलों को अपर प्राइमरी कर दिया जाय।

(3) सहायता-प्राप्त व्यक्तिगत स्कूलों के स्थान पर बोर्ड के स्कूल खोले जायँ; तथा मकतब और पाठशालाओं को उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता दी जाय। व्यक्तिगत स्कूलों का प्रबन्ध तथा निरीक्षण अधिक अच्छा किया जाय।

(4) भारत के बहुत-से भागों में इस समय यह सम्भव नहीं है कि गाँव तथा नगरों के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम रखा जाय तथापि नगरों में भूगोल, पर्यटन इत्यादि के बढ़ाये जाने की सम्भावना है।

(5) शिक्षक उसी वर्ग के हों जिनके बालक हैं। वे मिडिल पास हों तथा एक

[2] Select Committee.

साल की ट्रेनिंग लिये हुए हों। छुट्टियों में प्राथमिक शिक्षकों के ज्ञान को नवीन करने के लिए उन्हें कोर्स दुहराने की सुविधा प्रदान की जाय।

(6) दीक्षित अध्यापकों को 12 रुपये प्रति मास से कम न मिलना चाहिए। उनकी तरक्की तथा पेंशन अथवा प्रॉविडेण्ट फण्ड की व्यवस्था की जाय।

(7) किसी भी अध्यापक से 50 से अधिक विद्यार्थियों को न पढ़वाया जाय। सायान्यत: उनकी संख्या 30 या 40 हो।

(8) मिडिल तथा माध्यमिक वर्नाक्यूलर स्कूलों की दशा में सुधार किये जायँ तथा उनकी संख्या में वृद्धि की जाय।

(9) स्कूलों के भवन स्वच्छ, विस्तृत तथा अल्पव्ययी हों।

(10) प्राथमिक शिक्षा के अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा पर भी इस प्रस्ताव में जोर दिया गया। बालिकाओं के लिए विशेष तथा व्यावहारिक उपयोगिता के पाठ्यक्रम को तैयार करने के सुझाव रखे गये। प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया कि लड़कियों की शिक्षा में परीक्षा का महत्त्व अधिक न बढ़ने पाये। अध्यापिकाओं तथा निरीक्षिकाओं की संख्या बढ़ायी जाय।

(11) माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकार के पूर्ण पलायन का प्रस्ताव में विरोध किया गया; साथ ही सरकारी स्कूलों के बढ़ाने का भी निषेध कर दिया गया। वर्तमान स्कूलों को आदर्श बना रहने दिया जाय तथा व्यक्तिगत स्कूलों को उचित सहायता-अनुदान द्वारा प्रोत्साहित किया जाय। परीक्षा-विधि तथा पाठ्यक्रम में सुधार की भी सिफारिश की गयी।

(12) विश्वविद्यालय शिक्षा में और अधिक विस्तार का आयोजन किया गया। देश की माँग तथा आवश्यकताओं को देखते हुए पाँच विश्वविद्यालयों तथा 185 कालेजों को अपर्याप्त बताया गया। इसके अतिरिक्त सन् 1904 से चला आने वाला वह नियम जिसके अनुसार विश्वविद्यालयों को हाई स्कूल की स्वीकृति देने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था, जिसमें कुछ दोष आ जाने के कारण प्रस्ताव ने सुझाव रखा कि हाई स्कूल तथा विश्वविद्यालयों में उचित श्रम-विभाजन किया जाय। अत: विश्वविद्यालयों को स्कूलों की स्वीकृति प्रदान करने के उत्तरदायित्व से मुक्त करके उसे प्रान्तीय सरकारों के अधिकार में रखा जाय। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में शिक्षण तथा परीक्षा के दो कार्यों को भी अलग-अलग करके शिक्षण देने वाले विश्वविद्यालयों की स्थापना पर जोर दिया; साथ ही उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में औद्योगिक महत्त्व के विषयों का समावेश और इच्छुक विद्यार्थियों के लिए अनुसन्धान की अधिक सुविधाएँ प्रदान करने की सिफारिश की गयी और विद्यार्थियों के चरित्र तथा छात्रावास-जीवन पर भी प्रस्ताव में सुझाव रखे गये।

**आलोचना**

उपर्युक्त सुझावों को देखने से प्रतीत होता है कि माध्यमिक तथा कॉलेज शिक्षा में चलने वाला तर्क कि शिक्षा के विस्तार को बढ़ाया जाय अथवा उसकी किस्म का

सुधार किया जाय, प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी आ गया। इतना अवश्य है कि जहाँ सरकार शिक्षा की किस्म का सुधार करना चाहती थी वहाँ उसके विस्तार के विषय में सजग थी, जैसा कि उपर्युक्त सिफारिशों से प्रकट होता है।

माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में ये सुझाव अत्यन्त महत्त्व रखते थे। सन् 1913 के उपरान्त सन् 1921 तक भारत में जो सर्वांगीण शिक्षा-विकास हुआ उसका श्रेय इस प्रस्ताव को ही है, जिसका पर्यवेक्षण हम तत्कालीन 'शिक्षा-प्रगति' नामक शीर्षक के अन्तर्गत आगे करेंगे। इतना अवश्य है कि सन् 1914 में विश्वयुद्ध की घोषणा तथा भारत सरकार के उस युद्ध में भाग लेने के कारण सन् 1913 के प्रस्ताव के अधिकतर सुझाव एक पवित्र आशा के रूप में ही रहे। युद्ध के उपरान्त सन् 1917 में भारत सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की शिक्षा के विषय में जाँच पड़ताल करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जो भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

## (ख) कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन (सन 1917)

### नियुक्ति

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व भारत सरकार ने लॉर्ड हैल्डेन के सभापतित्व में एक विश्वविद्यालय कमीशन नियुक्त करने का प्रयास किया था, किन्तु विश्वयुद्ध तथा लॉर्ड हैल्डेन की अस्वीकृति के कारण यह सम्भव न हो सका। युद्ध के उपरान्त सरकार ने सन् 1917 में एक 'छोटा किन्तु शक्तिशाली' कमीशन नियुक्त किया। यह कमीशन प्रधानतः कलकत्ता विश्वविद्यालय की अवस्था की जाँच करने तथा उसकी समस्याओं को रचनात्मक विधि से सुलझाने के लिए नियुक्त किया गया था।

14 सितम्बर, 1917 को भारत सरकार ने एक प्रस्ताव प्रकाशित किया, जिसके अनुसार इस कमीशन की नियुक्ति की गयी। डॉ० माइकेल सैडलर, वाइस चांसलर लीड्स विश्वविद्यालय, इसके सभापति नियुक्त हुए। यही कारण है कि इतिहास में यह 'सैडलर कमीशन' के नाम से भी विख्यात है। इसके अतिरिक्त अन्य सदस्य डॉ० ग्रेगरी, प्रो० रैमजे म्योर, सर हर्टोग, श्री हार्नेल, डॉ० जियाउद्दीन अहमद तथा सर आशुतोष मुकर्जी थे।

यद्यपि इस कमीशन की नियुक्ति केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए ही हुई थी, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह भी व्यवस्था कर दी गयी थी कि कमीशन भारत के अन्य विश्वविद्यालयों की अवस्था का अध्ययन भी कर सकता है, यही कारण है कि इस कमीशन की रिपोर्ट का अखिल भारतीय महत्त्व है। लगभग 17 माह के कठिन श्रम के उपरान्त सन् 1919 में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। यह रिपोर्ट 13 भागों में विभाजित है और भारतीय माध्यमिक, कालेजीय तथा विश्वविद्यालय शिक्षा के विषय में एक अत्यन्त ही विस्तृत, महत्त्वपूर्ण तथा रचनात्मक विवरण प्रस्तुत करती है, किन्तु माध्यमिक शिक्षा पर, जो वस्तुतः उच्च शिक्षा का धरातल है, अच्छी विवेचना की गयी है।

**सिफारिशें**

कमीशन की राय में विश्वविद्यालय शिक्षा में सुधार करने के लिए माध्यमिक शिक्षा में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता थी। अतः कमीशन ने इसके लिए निम्नलिखित सुझाव रखे :

(1) इण्टरमीडिएट कक्षाओं को विश्वविद्यालयों से अलग कर दिया जाय और बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के लिए तीन वर्ष के पाठ्यक्रम की व्यवस्था कर दी जाय। विश्वविद्यालय में प्रवेश इण्टर पास करने पर हो, न कि मैट्रिक पास करने पर।

(2) प्रथम उद्देश्य के लिए ऐसे इण्टरमीडिएट कालेजों की स्थापना की जाय जहाँ कला, विज्ञान के अतिरिक्त चिकित्सा, इंजीनियरी, कृषि, वाणिज्य तथा अध्यापकी की शिक्षा प्रदान की जाय।

(3) हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट बोर्ड की स्थापना प्रत्येक प्रान्त में की जाय, जिसमें सरकार, विश्वविद्यालय, हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट कालेजों के प्रतिनिधि सम्मिलित होकर माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध करें। माध्यमिक शिक्षा के विषय में इस बोर्ड को अधिकांश में शिक्षा-विभाग के नियन्त्रण से मुक्त रखने की सिफारिश की गयी।

नवीन बोर्ड का निर्माण करने में कमीशन का उद्देश्य यह था कि विश्वविद्यालयों को माध्यमिक शिक्षा के भार से मुक्त करके इस योग्य बना दिया जाय कि वे अपना ध्यान पूर्णतः उच्च शिक्षा पर दे सकें। साथ ही शिक्षा-विभाग और विश्वविद्यालयों के बीच में पड़ी हुई मतभेद की गाँठ भी टूट जाय। इन इण्टर कालेजों में कमीशन ने शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रखने पर जोर दिया।

इसके उपरान्त कमीशन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं का अध्ययन किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस विश्वविद्यालय का आकार अत्यन्त बढ़ गया है, यहाँ तक कि इससे सम्बन्धित कालेजों तथा उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ गयी है कि एक विश्वविद्यालय इनका प्रबन्ध नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में कमीशन ने तीन सुझाव रखे :

(1) ढाका में एक शिक्षा देने वाला स्थानीय विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय।

(2) कलकत्ता नगर के शिक्षा-साधनों का पुनर्संगठन इस विधि से किया जाय कि कलकत्ता में भी वास्तविक शिक्षण-कार्य करने वाले एक विश्वविद्यालय का निर्माण हो सके।

(3) नगर के आसपास के कालेजों का विकास इस प्रकार किया जाय कि उच्च शिक्षा के सम्पूर्ण साधनों को एकत्र करके कुछ थोड़े से स्थानों पर ही विश्वविद्यालय-केन्द्रों के क्रमिक विकास को प्रोत्साहित करने की सम्भावना हो सके।

साधारण रूप से विश्वविद्यालयों के आन्तरिक शासन तथा संगठन पर भी कमीशन ने अपने विचार प्रकट किये, यथा—

(1) विश्वविद्यालय आवश्यकता से अधिक सरकारी नियन्त्रण में हैं; अतः उससे मुक्त करने के लिए शिक्षकों को विश्वविद्यालयों के विषयों में अधिक अधिकार प्रदान किये जायँ।

(2) विश्वविद्यालयों के प्रशासन नियम सरल कर दिये जायँ।

(3) योग्य विद्यार्थियों के लिए 'पास कोर्स' के अतिरिक्त 'ऑनर्स कोर्स' भी कर दिये जायँ तथा इण्टर के बाद डिग्री कोर्स तीन वर्ष का कर दिया जाय।

(4) आन्तरिक शासन के लिए सीनेट के स्थान पर एक प्रतिनिधि-कोर्ट तथा सिण्डीकेट के स्थान पर छोटी-सी कार्यकारिणी परिषद् बना दी जाय।

(5) प्रोफेसरों तथा रीडरों की नियुक्ति विशेष समितियों द्वारा की जाय जिनमें बाहर के विशेषज्ञ भी सम्मिलित हो सकें।

(6) एकेडेमिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए एकेडेमिक परिषद् तथा अध्ययन बोर्ड स्थापित कर दिये जायँ जो परीक्षा, पाठ्यक्रम, उपाधि-वितरण तथा अनुसन्धान इत्यादि के प्रश्नों को सुलझायें।

(7) भिन्न-भिन्न विभागों (Faculties) की स्थापना की जाय।

(8) एक वैतनिक उपकुलपति नियुक्त किया जाय।

(9) मुसलमानों में शिक्षा की पिछड़ी अवस्था को देखते हुए उन्हें हर प्रकार की विशेष सुविधा दी जाय।

(10) प्रत्येक विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की देखभाल करने के लिए स्वास्थ्य-शिक्षा-संचालक की नियुक्ति की जाय।

इन सिफारिशों के अतिरिक्त कमीशन ने स्त्री-शिक्षा, अध्यापकों का प्रशिक्षण, औद्योगिक शिक्षा तथा टेकनोलॉजी और विज्ञानों के उचित शिक्षण के विषय में भी जोरदार सिफारिशें कीं। 'शिक्षा' विषय को बी० ए० तथा इण्टर कक्षाओं के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग खोलने की सिफारिश की। 15 और 16 वर्ष से ऊपर की अवस्था वाली पर्दानशीन युवतियों के लिए उचित पर्दा करने की व्यवस्था पर जोर दिया। स्त्री-शिक्षा के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक 'स्पेशल बोर्ड ऑव वीमेन्स एजूकेशन' की स्थापना करने तथा उसे स्त्रियों की आवश्यकतानुसार उनके लिए विशेष पाठ्यक्रम नियत करने का अधिकार देने के लिए कहा। विश्वविद्यालयों के पारस्परिक सम्बन्धों में अधिक साम्य तथा सहयोग उत्पन्न करने के लिए एक अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड स्थापित करने की भी सिफारिश की।

**आलोचना**

कमीशन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुधार के लिए अपने सुझाव रखे। किन्तु इनका महत्त्व सम्पूर्ण देश की शिक्षा के लिए है। इस कमीशन के सुझावों के फलस्वरूप भारतीय विश्वविद्यालयों में महान् सुधार हुआ, उनमें नवीन जीवन का संचार हुआ। विश्वविद्यालय अब शिक्षा के केन्द्र बनने लगे। इन सुझावों ने न केवल भावी विश्वविद्यालयों का ही स्वरूप स्थिर किया अपितु पूर्व-स्थित विश्वविद्यालयों का भी नये दृष्टिकोण से

पुनर्संगठन किया। विश्वविद्यालय शिक्षा पर इस कमीशन ने एक नया प्रकाश डाला तथा उसे वास्तविक जीवन के अधिक निकट लाकर रख दिया। मातृभाषाओं की उन्नति हुई तथा अन्वेषण को प्रोत्साहन मिला। विश्वविद्यालयों का आन्तरिक संगठन व शासन पर्याप्त रूप से सुधर गया। वास्तव में यह रिपोर्ट आज भी विश्वविद्यालय शिक्षा पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। उच्च शिक्षा के प्राय: सभी अंगों पर विचार करके कमीशन ने अपने तर्कयुक्त रचनात्मक सुझाव दिये।

यह रिपोर्ट लन्दन विश्वविद्यालय के हैल्डेन कमीशन की रिपोर्ट से प्रभावित हुई थी। भारत में भी 'विश्वविद्यालय कालेजों,' 'कंस्टीच्युएण्ट एण्ड इनकार्पोरेटेड कॉलेज,' 'रीडर,' कोर्ट तथा 'एकेडेमिक काउंसिल' इत्यादि की स्थापना इंगलैण्ड के हैल्डेन कमीशन के आधार पर ही देखने को मिलती है।

इतना अवश्य है कि कमीशन के उद्देश्य उच्च होते हुए भी उसकी कुछ सिफारिशें समय से पूर्व ही थीं। ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के आदर्श पर कलकत्ता विश्वविद्यालय का संगठन उत्तम होते हुए भी उस समय व्यावहारिक नहीं था। माध्यमिक शिक्षा से शिक्षा-विभाग का नियन्त्रण हटाकर बोर्ड के अन्तर्गत कर देना भी समय से पूर्व था। इण्टर कालेजों का परीक्षण भी सफल नहीं हुआ। किन्तु ये सब दोष तुच्छ हैं और रिपोर्ट की महानता को किसी भी प्रकार कम नहीं करते। इसके आधार पर भारत में मैसूर, पटना, बनारस, अलीगढ़, ढाका, लखनऊ तथा हैदराबाद में स्थानीय विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई तथा उच्च व माध्यमिक शिक्षा का पुनर्संगठन हुआ। भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह रिपोर्ट एक युग-निर्माणक के रूप में सदा अमर रहेगी।

## (ग) शिक्षा-प्रगति (सन् 1905–1920)

### (1) **विश्वविद्यालय शिक्षा**

सन् 1904 के विश्वविद्यालय कानून ने भारत के पाँच विश्वविद्यालयों का पुनर्संगठन कर दिया। सीनेट तथा सिण्डीकेटों की पुन: व्यवस्था करके 'फैलो' सदस्यता को 5 वर्ष तक के लिए कर दिया। विश्वविद्यालयों के आन्तरिक सुधार के अतिरिक्त परीक्षा विधि, शिक्षण विधि तथा पाठ्यक्रम में सन्तोषजनक सुधार किये गये। विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कालेजों का भी अधिकार उन्हें मिल जाने के कारण इन कालेजों के प्रबन्ध तथा शिक्षा-स्तर में उन्नति हुई। कालेजों में सर्वांगीण उन्नति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। इतना अवश्य है कि नियमों की कठोरता के कारण कला-कालेजों की संख्या सन् 1902 में 145 से घटकर सन् 1912 में 140 रह गयी; किन्तु उनमें अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई। आसाम तथा बंगाल में कॉलेज के विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई। सन् 1910 में पेशावर में भी इस्लामिया कॉलेज की स्थापना हुई।

कॉलेज शिक्षा को प्राप्त करने का उद्देश्य अब केवल सरकारी नौकरी प्राप्त करना नहीं रह गया था, क्योंकि शिक्षितों की संख्या में अपरिमित वृद्धि हो रही थी। रोज-

गार का कोई अन्य साधन या विकल्प न होने के कारण कालेजों में उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थियों की वृद्धि होने लगी। औद्योगिक शिक्षा के कालेजों के अभाव में भी अधिकतर विद्यार्थी निरुद्देश्य कला व विज्ञान के कालेजों में प्रवेश पाने लगे। "विद्यार्थियों की संख्या में यह निरुद्देश्य वृद्धि एक शुभ प्रगति न होकर एक रोग का चिह्न था।"

इस युग में कालेजों की आर्थिक अवस्था में सुधार होने लगा। सरकार ने अनुदान भी बढ़ा दिया था। किन्तु सन् 1905 में इससे पूर्व पंजाब विश्वविद्यालय को 30 हजार रुपये वार्षिक प्राच्य शिक्षा कॉलेज के लिए मिलता था। विश्वविद्यालयों की उन्नति के लिए 5 लाख रुपये वार्षिक का अनुदान भारत सरकार ने और स्वीकार कर लिया। कालेजों के विकास के लिए इनमें से कुछ धनराशि अलग नियत कर दी गयी। सन् 1907 से 1912 तक के काल में 2·45 लाख रुपये का वार्षिक अनुदान सम्बन्धित कालेजों के लिए और प्रदान किया गया। इधर शुल्क की आय में भी आशाजनक वृद्धि होने से आर्थिक अवस्था पर स्वस्थ प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने 27·5 लाख का अनुदान भवन-निर्माण के लिए विश्वविद्यालयों को सन् 1904 से 1912 तक दिया, जिससे सीनेट भवनों का निर्माण कराया गया। सन् 1912 के उपरान्त भवन-निर्माण के लिए सरकार ने उदारतापूर्वक सहायता दी।

शिक्षा की उत्तमता तथा पाठ्यक्रम की दृष्टि में भी आशाजनक सुधार हुआ। सन् 1904 के अधिनियम के अनुसार ही शिक्षण-कार्य की अनुमति विश्वविद्यालयों को मिल चुकी थी। कलकत्ता ने उत्तर-ग्रेजुएट शिक्षण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। बम्बई में ऑनर्स की व्यवस्था की गयी। विदेशों से भी विशेषज्ञों को बुलाकर सामयिक भाषणों का प्रबन्ध विश्वविद्यालयों में हो गया और सर टी० हॉलैण्ड, प्रोफेसर रैमजे म्योर, डॉ० डैनियल जोन्स तथा प्रोफेसर आर्म्सस्ट्रोंग जैसे विद्वानों को शीत ऋतु में विशेष भाषणों के लिए निमन्त्रित किया गया। अध्ययन विषयों में विज्ञान, वाणिज्य, अर्थशास्त्र तथा प्रयोगात्मक मनोविज्ञान में अनुसन्धान का विशेष आयोजन किया गया।

सन् 1913 के प्रस्ताव के उपरान्त सन् 1915 के कानून के अनुसार बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित किया गया, जो सन् 1917 में भली-भाँति कार्य करने लगा। इस विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रेय प्रधानतः स्व० पं० मदनमोहन मालवीय को है। सन् 1916 में मैसूर विश्वविद्यालय; सन् 1917 में पटना विश्वविद्यालय; सन् 1918 में उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद जिसमें उच्च शिक्षा का माध्यम उर्दू रखा गया था तथा सन् 1960 में ढाका, लखनऊ और अलीगढ़ विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी। इस प्रकार सन् 1916 से 1921 तक इनकी संख्या 5 से 12 हो गयी। अधिकांश में ये सभी विश्वविद्यालय स्थानीय हैं, जहाँ विद्यार्थियों के निवास व शिक्षण दोनों की उचित व्यवस्था है।

इस प्रकार शिक्षण-विश्वविद्यालयों की स्थापना से उच्च शिक्षा में बहुत सुधार हुआ। वास्तव में भारत जैसे विशाल देश के लिए इस प्रकार के विश्वविद्यालयों का

बड़ा महत्त्व है, किन्तु धनाभाव के कारण बहुत दिनों तक सम्बन्धक विश्वविद्यालयों[3] का भी महत्त्व बना रहा ।

(2) **माध्यमिक शिक्षा**

लॉर्ड कर्जन की शिक्षा-नीति के कारण माध्यमिक शिक्षा में सरकारी नियन्त्रण अधिक बढ़ गया, जिससे उसकी कुशलता में तो वृद्धि हुई, किन्तु परिणाम घट गया । सभी प्रकार के व्यक्तिगत तथा राजकीय सहायता-प्राप्त शिक्षालयों को सरकार ने स्वीकृति प्रदान करने की व्यवस्था की । शिक्षा-विभाग की स्वीकृति के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों द्वारा भी उन्हें स्वीकृति मिलती थी, यदि उन्हें मैट्रिक परीक्षा के लिए विद्यार्थी भेजने हों । इस प्रबन्ध के कारण माध्यमिक शिक्षा पर दुहरा नियन्त्रण हो जाने से उसके प्रसार में बाधा उपस्थित हुई । शिक्षा-विभाग के द्वारा स्वीकृति मिलने पर माध्यमिक स्कूलों को सहायता-अनुदान मिलने लगा, विद्यार्थियों को सरकारी ऐण्ट्रेंस परीक्षा में भेजने का अधिकार मिल गया तथा विद्यार्थियों को सरकारी छात्र-वृत्ति मिलने की सम्भावना हो गयी । साथ ही अस्वीकृत शिक्षालयों के विद्यार्थियों को स्वीकृत शिक्षालयों में हस्तान्तरित करने का निषेध कर दिया गया । इस साधन से अस्वीकृत स्कूलों पर भी एक प्रकार से रोक लग गयी । वास्तव में लॉर्ड कर्जन ने शिक्षा-क्षेत्र में चली आने वाली उन्मुक्त नीति[4] का उन्मूलन करके उसे राजकीय नियन्त्रण में कर दिया । इसका भारतीय मत ने बहुत विरोध किया और इसका सम्बन्ध सरकार की राजनीतिक चालों से जोड़ दिया । इससे माध्यमिक शिक्षा का भारत जैसे निर्धन और परतन्त्र देश में स्वच्छन्द विकास रुक गया था । राजकीय स्कूलों को अवश्य उदार सहायता दी गयी । तथापि इस नीति का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि शिक्षा की उत्तमता व कुशलता बढ़ गयी, क्योंकि अस्वीकृत शिक्षालय स्वीकृत होने के लिए तथा सरकारी सहायता लेने के लिए अपनी अवस्था में सुधार करने लगे ।

इस प्रकार सन् 1904 से 1912 तक माध्यमिक शिक्षा के विद्यार्थियों की संख्या तो बढ़ी, किन्तु शिक्षालयों में कोई सन्तोषजनक वृद्धि नहीं हुई । सन् 1913 में शिक्षा नीति के अनुसार स्कूलों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई । विद्यार्थियों की संख्या इस प्रकार बढ़ रही थी कि पूर्व-स्थित स्कूलों के द्वारा उनकी पूर्ति असम्भव हो उठी । सन् 1917 में राजकीय स्कूलों की संख्या लड़कों के लिए 237 तथा लड़कियों के लिए 20 थी । इसी समय यह प्रश्न भी जोर पकड़ गया कि या तो सरकार राजकीय हाई स्कूलों को बन्द कर दे अथवा उन्हें व्यक्तिगत प्रबन्धों को सौंप दे जिससे एक विशाल धन-राशि इस प्रकार मुक्त होकर व्यक्तिगत रूप से शिक्षा का प्रसार करने में सहायक हो सके । किन्तु यह माँग आज तक विद्यमान है । प्रत्येक जिले में सरकार की ओर से एक स्कूल आज भी चल रहा है जो अब श्रेष्ठता की दृष्टि से किसी भी प्रकार के

3 Affiliating Universities.
4 Laissez Faire Policy.

विशेषाधिकारों का दावा नहीं कर सकता। यहाँ तक कि बहुत-से राज्यों में सरकारों ने राजकीय और व्यक्तिगत विद्यालयों के बीच एक प्रकार का पक्षपातपूर्ण बर्ताव कर रखा है। माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा के माध्यम का प्रश्न अभी अन्तिम रूप से हल नहीं हो सका था। 'स्कूल फाइनल' परीक्षाओं का प्रचार बढ़ गया था। अतः मैट्रिक परीक्षा के पाठ्यक्रम के लचीले तथा आवश्यक रूप से वैकल्पिक न होने के कारण भिन्न-भिन्न प्रान्तों ने 'स्कूल फाइनल परीक्षा' की योजनाएँ बनायीं जिनका संचालन शिक्षा-विभाग को सौंपा गया। बम्बई में इनका प्रचार खूब बढ़ा। यू० पी० में 'स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा' का संगठन किया गया। पंजाब, बंगाल, मद्रास, ब्रह्मा तथा मध्य प्रदेश में भी इसी प्रकार की योजनाएँ सन् 1911 में बनीं। विज्ञान और वाणिज्य के अध्ययन पर भी जोर दिया गया। सन् 1913 में बिहार तथा उड़ीसा में भी इसी प्रकार की योजना बनी, किन्तु वह कार्यान्वित न हो सकी।

(3) **प्राथमिक शिक्षा**

जैसा कि हम देखते आ रहे हैं, सन् 1854 से ही भारत सरकार देश में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति की योजनाएँ बनाती आ रही थी, किन्तु इस दिशा में अभी तक आशाजनक प्रगति नहीं हुई थी। 19वीं शताब्दी के अन्त में दुर्भिक्ष तथा भूचालों के कारण सरकार का ध्यान उधर लग जाने से शिक्षा को आघात पहुँचा था। सन् 1904 में लॉर्ड कर्जन के प्रस्ताव के अनुसार "भारत सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया कि देश में प्राथमिक शिक्षा का क्रियात्मक विस्तार सरकार का प्रथम महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।" अतः स्थानीय बोर्डों में सुधार करके उनके प्रयत्नों को केवल प्राथमिक शिक्षा पर केन्द्रित किया गया। लॉर्ड कर्जन के प्रस्ताव का प्रभाव यह हुआ कि देश में प्राथमिक शिक्षा का विस्तार होने लगा और असंख्य अपर प्राइमरी तथा लोअर प्राइमरी स्कूलों की स्थापना हुई। भारत सरकार ने शिक्षा-अनुदान सन् 1905 में 40 लाख से बढ़ाकर अब 75 लाख कर दिया और साथ ही 35 लाख रुपये का पुनरावर्ती अनुदान भी प्रति वर्ष देना स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1902 से लेकर सन् 1912 तक प्राथमिक स्कूलों की संख्या दुगुनी हो गयी।

सन् 1904 के प्रस्ताव के अनुसार 'परीक्षाफल के अनुसार वेतन' की कुप्रथा को सन् 1906 में भंग कर दिया गया और शिक्षा-अनुदान के नियमों में सुधार कर दिया गया। अब तक सरकारी सहायता कुल व्यय की $\frac{1}{3}$ होती थी, किन्तु लॉर्ड कर्जन ने उसे $\frac{1}{2}$ कर दिया। इससे प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ उसकी श्रेष्ठता भी बढ़ी। इसके अतिरिक्त लॉर्ड कर्जन ने पाठ्यक्रम के सुधार, अध्यापकों का प्रशिक्षण तथा शिक्षण-विधि में सुधार इत्यादि पर भी जोर देकर प्राथमिक शिक्षा की उन्नति की।

सन् 1906 में बड़ौदा में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू हो जाने के कारण तथा सम्पूर्ण देश की राजनीतिक चेतना और स्वदेशी आन्दोलनों के कारण भी प्राथमिक शिक्षा ने प्रगति की। जनता समझने लगी कि बिना साक्षरता तथा शिक्षा का प्रतिशत

बढ़े हुए वह उन्नति नहीं कर सकती । इधर प्रसिद्ध नेता गोपालकृष्ण गोखले के प्रयास और उनके विधेयक इत्यादि ने प्राथमिक शिक्षा का प्रश्न देश के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना ही दिया था । यद्यपि गोखले का विधेयक गिरा दिया गया था, किन्तु सरकार उसके औचित्य तथा जनता में प्राथमिक शिक्षा के लिए दिन-प्रतिदिन बढ़ने वाली माँग को नहीं ठुकरा सकती थी, अत: उसने इसके लिए अब अधिक उदारतापूर्वक सहायता देना प्रारम्भ कर दिया । सन् 1907 से 1912 तक बालकों की संख्या चार से पाँच लाख तक हो गयी । अब प्राथमिक शिक्षा व्यावहारिक रूप से सभी प्रान्तों में प्राय: नि:शुल्क हो गयी ।

सन् 1911 में दिल्ली दरबार के समय सम्राट् जार्ज पंचम ने, जब गोखले के विधेयक पर बहस हो रही थी, 50 लाख रुपये राजकोष से प्राथमिक शिक्षा के लिए प्रति वर्ष देना स्वीकार किया; इससे भी शिक्षा-प्रगति में सहायता मिली ।

सन् 1913 के शिक्षा-प्रस्ताव के द्वारा भी सरकार ने लोक शिक्षा को प्राथमिकता दी । इसके अनुसार अधिकतर लोअर प्राइमरी स्कूलों को अपर प्राइमरी बना दिया गया तथा बोर्ड की ओर से प्राथमिक स्कूलों की स्थापना हुई । शिक्षकों की दशा तथा उनकी दीक्षा में सुधार करने की भी व्यवस्था की गयी । सन् 1913 की शिक्षा नीति का परिणाम यह हुआ कि सन् 1917 तक प्राय: सभी प्रान्तों, जैसे बम्बई, यू० पी०, पंजाब, मध्य प्रान्त, सीमाप्रान्त व आसाम में बोर्ड के स्कूल स्थापित हो गये । बालिकाओं के लिए अलग व्यवस्था की गयी । बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा मद्रास में इन बोर्ड के स्कूलों ने कोई उन्नति नहीं की, वहाँ तो व्यक्तिगत स्कूलों का ही बाहुल्य रहा । बंगाल में सरकार ने 'पंचायती स्कूलों' की स्थापना की योजना बनायी जिसके अनुसार 104 वर्गमील के क्षेत्र में एक आदर्श स्कूल स्थापित किया गया । यू० पी० में 25 वर्ग मील के क्षेत्र में एक प्राथमिक स्कूल खोला गया ।

इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा ने प्रगति तो की किन्तु यह सन्तोषजनक नहीं थी। गोखले के उपरान्त उनके कार्य को बालगंगाधर तिलक तथा बिट्ठलभाई पटेल ने ले लिया । तिलक ने अपने समाचारपत्र 'केशरी' द्वारा नि:शुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की माँग को बड़े प्रभावशाली शब्दों में आगे बढ़ाया । सन् 1917 तक स्कूल में जाने योग्य बालकों के केवल 33 प्रतिशत बालक प्राथमिक स्कूलों में जा रहे थे । सन् 1912 से 1917 तक के पाँच वर्ष में अनुपातत: आठ वर्ग मील के क्षेत्र से केवल एक बालक शिक्षा के लिए जाता था ।

सन् 1918 के उपरान्त देश में प्राथमिक शिक्षा ने पुन: प्रगति करना प्रारम्भ कर दिया । विश्वयुद्ध के कारण जो अवरोध उत्पन्न हो गया था वह अब हट गया । सन् 1918 में 'बम्बई प्राथमिक शिक्षा कानून' पास किया गया जिसके अनुसार कुछ नगरपालिकाओं को छह से ग्यारह वर्ष तक के बालकों के लिए अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ करने की अनुमति मिल गयी । इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी इसी तरह के कानून बने और सन् 1919 में पंजाब, यू० पी०, बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा ने 'प्राथमिक

शिक्षा कानून' को कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया। सन् 1920 में मध्य प्रान्त और मद्रास ने भी ये कानून पास कर दिये।

**उपसंहार**

इधर कुछ राजनीतिक हलचलों का भी शिक्षा पर साधारण रूप से तथा प्राथमिक शिक्षा पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। सन् 1917 में रूस की राज्य-क्रान्ति के समाचार भारत में भी आने लगे और इसका भारतीय शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा। इधर भारत में सन् 1919 में रौलट बिल का भारतीय जनमत के विरुद्ध हो जाना तथा जनता द्वारा उसका बहिष्कार, उसके उपरान्त जनरल ओ० डायर द्वारा जलियाँवाला बाग की दुखद घटना, युद्ध के उपरान्त लाने वाली महँगाई और बेकारी तथा सबसे महत्त्वपूर्ण घटना महात्मा गांधी द्वारा संचालित सन् 1919–21 का 'असहयोग आन्दोलन' जिसके कारण विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों का बहिष्कार कर दिया, ऐसी घटनाएँ हैं, जिनका भारतीय शिक्षा पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। भारत सरकार ने इन आन्दोलनों को देखकर यह अनुभव कर लिया था कि "यूरोपीय इतिहास तथा विचारधारा की शिक्षा का अनिवार्य परिणाम है स्वराज्य की इच्छा और आज भारत में जो शिक्षित वर्ग की ओर से माँग रखी जा रही है वह हमारे 100 वर्षों के कार्यों का स्वाभाविक तथा ठीक परिणाम है।"[5] इस सब का फल यह हुआ कि सन् 1919 में माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार हुए और भारत का विधान परिवर्तित कर दिया गया। इन सुधारों के प्रकाश में शिक्षा ने जो प्रगति की उसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

## सारांश

**स्वदेशी आन्दोलन—कर्जन की नीति ने देश के राष्ट्रीय नेताओं को रुष्ट कर दिया। अन्य अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं के फलस्वरूप भी देश में राष्ट्रीय विचारधारा को पोषण मिला। सन् 1905 में सर्वप्रथम इसका सूत्रपात बंगाल में हुआ। फिर इसकी चिनगारियाँ देश भर में फैल गयीं। आन्दोलन का मूल आधार विदेशी शिक्षा और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना था।**

**अतः पाश्चात्य शिक्षा की प्रतिक्रियास्वरूप देश के विभिन्न भागों में राष्ट्रीय नेताओं के प्रयत्नों के कारण राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। बंगाल में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य प्राथमिक से विश्वविद्यालय शिक्षा तक राष्ट्रीय शिक्षा देने की योजना बनाना था। कलकत्ता में नेशनल कॉलेज तथा टेकनीकल इन्स्टीट्यूट खोले गये। वृन्दावन व काँगड़ी में गुरुकुलों की स्थापना हुई। अन्य भागों में विद्यापीठ स्थापित किये गये।**

**सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। उसने मुसलमानों के लिए**

[5] Dumbell, p. 94, quoted by Dr. Zellner : *Education in India*, pp. 146-47.

पृथक से विशेष सुविधाओं की माँग की। देश में राष्ट्रीय आन्दोलन की गति धीमी पड़ने से स्वदेशी शिक्षा का आन्दोलन भी क्रमशः मन्द पड़ गया।

गोखले का विधेयक—गोखले ने प्राथमिक शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए देश में प्राथमिक शिक्षा के निःशुल्क तथा अनिवार्य करने की माँग सरकार के समक्ष प्रस्तुत की और 19 मार्च, 1910 को अपना प्रस्ताव इम्पीरियल धारा परिषद् में रखा। इसके अनुसार उन्होंने छह वर्ष से ग्यारह वर्ष तक के लड़कों के लिए अनिवार्य शिक्षा की माँग की। किन्तु सरकार के आश्वासन पर उन्होंने प्रस्ताव वापस ले लिया, किन्तु विवश होकर 16 मार्च, 1911 को उन्हें अपना विधेयक प्रस्तुत करना पड़ा, जिसका उद्देश्य था देश की प्राथमिक शिक्षा प्रणाली में क्रमशः अनिवार्यता के सिद्धान्त का सूत्रपात करना। विधेयक में संगठन तथा नीति सम्बन्धी अन्य बातें भी कही गयी थीं, किन्तु वह विधेयक पास न हो सका। सरकार तथा जमींदारों एवं अन्य अमीर सदस्यों ने इसका घोर विरोध किया, किन्तु इस विधेयक ने देश का ध्यान प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता की ओर आकर्षित कर दिया।

सन् 1913 में सरकार ने पुनः अपनी शिक्षा नीति की घोषणा की जिसके अनुसार प्राथमिक शिक्षा के लिए स्कूलों के निर्माण, शिक्षकों के प्रशिक्षण, वेतनक्रम, स्कूलों के लिए भवन, स्त्री-शिक्षा तथा माध्यमिक व विश्वविद्यालय शिक्षा में संगठन सम्बन्धी सुझाव रखे।

कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन (सन् 1917)—14 सितम्बर, 1917 को सरकार ने माइकेल सैडलर, उपकुलपति लीड्स विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुनर्संगठन व विकास के सम्बन्ध में एक कमीशन की नियुक्ति की। इस रिपोर्ट का बड़ा भारी महत्त्व है।

सिफारिशें—(1) माध्यमिक शिक्षा में आमूल परिवर्तन। इसके लिए इण्टर कक्षाओं को विश्वविद्यालयों से पृथक कर दिया जाय और डिग्री कोर्स तीन वर्ष का कर दिया जाय।

(2) ऐसे इण्टर कालेजों की स्थापना की जाय जहाँ कला व विज्ञान के अतिरिक्त चिकित्सा, इन्जीनियरी, कृषि, वाणिज्य तथा अध्यापकी की शिक्षा दी जाय।

(3) प्रत्येक प्रान्त में हाई स्कूल व इण्टरमीडिएट बोर्ड की स्थापना की जाय जिसमें सभी का उचित प्रतिनिधित्व हो।

इनके अतिरिक्त कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुनर्संगठन की सिफारिशें कीं। भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा के सुधार के लिए कमीशन ने कहा कि विश्वविद्यालयों से सरकारी नियन्त्रण कम किया जाय। उनके प्रशासन-नियम सरल कर दिये जायें। शिक्षकों को अधिक प्रतिनिधित्व मिले। सीनेटों का सुधार किया जाय। एकेडेमिक प्रश्नों के सुलझाने में अधिक स्वायत्तता अपनायी जाय। उपकुलपति वैतनिक हों। विद्यार्थियों के कल्याण व स्वास्थ्य की विशेष सुविधाएँ प्रदान की जायें, इत्यादि।

इन सिफारिशों के अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा, टेकनीकल शिक्षा, अध्यापकों के

प्रशिक्षण तथा वैज्ञानिक शिक्षा के सम्बन्ध में भी सिफारिशें कीं। इन सिफारिशों के फलस्वरूप देश में विश्वविद्यालय शिक्षा-क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सबसे अधिक लाभ हुआ विश्वविद्यालयों के आन्तरिक पुनर्संगठन के द्वारा। इससे शिक्षा का स्तर ऊँचा उठ गया और प्रशासन की कार्यक्षमता में वृद्धि हुई।

शिक्षा-प्रगति (सन् 1905–1920)—इस दौरान शिक्षा के सभी स्तरों में विकास हुआ। विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में सन् 1904 के उपरान्त नियन्त्रण की कड़ाई के कारण कालेजों की संख्या घटी किन्तु विद्यार्थियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। सरकार ने अनुदान में वृद्धि कर दी। सन् 1913 की घोषणा के उपरान्त बनारस, हैदराबाद, मैसूर, पटना, ढाका, लखनऊ तथा अलीगढ़ में ऐसे स्थानीय विश्वविद्यालय खोले जहाँ पढ़ाई का कार्य होता था।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में कर्जन की नीति से सरकारी नियन्त्रण तो बढ़ गया किन्तु शिक्षा का स्तर ऊँचा होने लगा। नियमों का कड़ाई से पालन किया गया। ऐसा न करने पर अनुदान बन्द होने का भय होने से प्रशासन एवं शिक्षा के स्तर में पर्याप्त सुधार हुआ। विद्यालयों की संख्या में वृद्धि तो अधिक नहीं हुई किन्तु विद्यार्थियों की संख्या लगातार बढ़ती रही।

प्राथमिक शिक्षा का इस काल में बहुत प्रसार हुआ। सरकार ने इस क्षेत्र में अपने कर्तव्य को 20वीं शताब्दी के पूर्व में ही स्वीकार कर लिया था, अतः स्कूलों की संख्या तेजी से बढ़ने लगी। सन् 1906 में बड़ौदा में अनिवार्य शिक्षा कर दी गयी। गोखले के बिल ने भी देश में चेतना की लहर दौड़ा दी। इस दौरान स्थानीय बोर्डों का प्रशासन ठीक करके प्राथमिक शिक्षा के विकास में पर्याप्त अभिवृद्धि की गयी। सन् 1919 में माण्ट-फोर्ड सुधार हुए जिनका शिक्षा की प्रगति पर भारी असर पड़ा।

# 15

# शिक्षा-सुधारों का युग

## (1921–37)

## (क) माण्ट-फोर्ड सुधार

**भूमिका**

सन् 1917 में भारतमन्त्री माण्टेग्यू ने तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड के साथ भारत का दौरा किया और तत्कालीन राजनीतिक तथा वैधानिक परिस्थितियों का अध्ययन करके सन् 1918 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। सन् 1919 में ये सुधार ब्रिटिश संसद द्वारा स्वीकृत हुए तथा सन् 1921 से कार्यान्वित होने लगे। सन् 1919 के अधिनियम के द्वारा भारत के प्रान्तों में दोहरा शासन स्थापित हो गया। इससे पूर्व केन्द्रीय सरकार ही अखिल भारतीय महत्त्व के सुधारों से सम्बन्ध रखती थी और इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार की समितियाँ तथा कमीशन इत्यादि की नियुक्ति करती थी। शिक्षा के क्षेत्र में भी केन्द्रीय सरकार नये सुधारों को लागू करती थी, किन्तु माण्ट-फोर्ड सुधारों के द्वारा स्थिति बदल गयी। प्रान्तीय सरकारें दो भागों में विभाजित हो गयीं—सुरक्षित तथा हस्तान्तरित। स्वास्थ्य तथा शिक्षा इत्यादि विषय प्रान्तीय मन्त्रियों को हस्तान्तरित कर दिये गये। ये मन्त्री धारासभा के प्रति उत्तर-दायी होते थे। भारतीय जनप्रिय मन्त्रियों को स्वायत्त-शासन का यह प्रथम पाठ था। प्रान्तीय शिक्षा हस्तान्तरित विषय तो हो गया किन्तु यूरोपीयों की शिक्षा तथा कुछ केन्द्र प्रशासित क्षेत्र जैसे सीमाप्रान्त, अजमेर, कुर्ग, दिल्ली, बिलोचिस्तान इत्यादि की शिक्षा केन्द्र के नियन्त्रण में ही रही। राजकुमारों के शिक्षालय तथा दिल्ली, अलीगढ़ और बनारस के विश्वविद्यालय भी केन्द्रीय सरकार के अधीन रहे।

माण्ट-फोर्ड सुधारों से शिक्षा को पर्याप्त प्रगति मिली। भारतीय मन्त्रियों ने उत्साहपूर्वक शिक्षा-प्रसार के कार्य को अपने हाथों में लिया। प्रान्तीय धारासभाओं ने भी शिक्षा-अनुदान की माँगों को सहर्ष स्वीकृत किया और देश में जन-शिक्षा प्रसार के अपने उत्तरदायित्व का अनुभव किया। स्थानीय बोर्डों के उत्तरदायित्व भी बढ़ गये और प्रायः सभी प्रान्तों में प्राथमिक शिक्षा उन्हें हस्तान्तरित कर दी गयी। माण्ट-फोर्ड रिपोर्ट में भी तत्कालीन भारतीय अवस्था के विषय में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया—

"गत वर्षों में हमारी शिक्षा-नीति का उद्देश्य, बिना उन परिणामों पर विचार किये हुए जो आम जनता की शिक्षा की अवहेलना से उत्पन्न हो सकते हैं, उन थोड़े से व्यक्तियों को सन्तुष्ट करना था जो अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। वास्तव में हमने एक ऐसे संकीर्ण शिक्षित वर्ग को तैयार कर दिया है, जिन्हें उन्नति की अभिलाषा है; और हम उनकी प्रगति को पूर्णतः नहीं रोक सकते जब तक कि जनसाधारण के लिए शिक्षा उपलब्ध नहीं है।······हम शिक्षा को व्यावहारिक नहीं बना सके।···· हमको स्वीकार करना चाहिए कि शिक्षित भारतीय पूर्णतः हमारी ही रचना है, और यदि शिक्षा की अच्छाइयों का श्रेय हम अपने ऊपर लेते हैं तो हमें उसकी दुर्बलताओं के उत्तरदायित्व को भी स्वीकार करना चाहिए।"

**कुछ बाधाएँ**

माण्ट-फोर्ड सुधारों से प्रान्तों का शासन दोहरा हो गया। शिक्षा का उत्तरदायित्व भारतीय मन्त्री पर आ तो गया किन्तु उसके अधिकार उसे नहीं मिले। आर्थिक प्रश्न सुरक्षित विषय रखा गया था। अतः वित्त विभाग अंग्रेज मन्त्रियों के हाथों में था जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों में केवल गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रबन्ध के कारण शिक्षा मन्त्री अपनी योजनाओं पर आवश्यकतानुसार धन व्यय नहीं कर सकते थे। इससे उनकी योजनाएँ भी निरर्थक बनी रहती थीं।

दूसरे, केन्द्रीय सरकार ने अब अपने राजस्व का कोई भी भाग शिक्षा पर देना बन्द कर दिया। इससे प्रान्तीय सरकारों को बहुत आर्थिक क्षति उठानी पड़ी।

तीसरे, गवर्नरों के अधिकार आवश्यकता से अधिक थे। डॉ० जैलनर के शब्दों में, "उनके द्वारा पूर्ण 'वीटो' शक्ति का प्रयोग किया जाता था और वे अपनी इच्छानुसार किसी भी विकास सम्बन्धी अधिनियम को 'आवश्यक' कहकर अस्वीकृत कर सकते थे।"

चौथी कठिनाई यह थी कि शिक्षा-विभाग की भारतीय शिक्षा सेवा[1] के उच्च पदाधिकारी भारत मन्त्री के अधिकार में रहते थे। इन उच्च अफसरों की भारतीय जनप्रिय मन्त्रियों से नहीं बनती थी। परिणामतः सभी शिक्षा-योजनाएँ अधिकांश में सफल नहीं हो पाती थीं। अतः सन् 1924 में भारतीय शिक्षा सेवा की भर्ती बन्द कर दी गयी।

इसके अतिरिक्त अन्त में देश में राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण सन् 1919 के विधान में लोगों का विश्वास नहीं था। वे इसे एक धोखा मात्र समझते थे। परिणामतः शिक्षा मन्त्री के पद पर कभी-कभी जनता का वास्तविक प्रतिनिधि भी नहीं पहुँच पाता था। अतः उसे व्यवस्थापिका का सहयोग नहीं मिल पाता था। साथ ही केन्द्र का नियन्त्रण उठ जाने से अखिल भारतीय महत्त्व अथवा अन्तर्प्रान्तीय महत्त्व की समस्याएँ भी नहीं हल हो पाती थीं और उनके विषय में केन्द्र कोई एकसी नीति निर्धारित नहीं

1 Indian Education Service.

कर पाता था । इससे प्रान्तों का, जहाँ तक शिक्षा से सम्बन्ध है, केन्द्र से ही सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ, अपितु प्रान्तों में पारस्परिक साम्य को भी क्षति पहुँची । इस प्रकार इन कठिनाइयों में भारतीय मन्त्रियों को विभिन्न प्रान्तों में एक दोहरे शासन के अन्तर्गत रहकर शिक्षा का विकास करना पड़ा । परिणामतः इस युग में सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो सकी ।

**राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव**

जैसा कि पिछले अध्याय में संकेत किया जा चुका है, युद्ध के उपरान्त अंग्रेज सरकार ने भारतवासियों को उनकी युद्ध की सेवाओं के प्रतिकार-स्वरूप जलियाँवाला बाग का गोलीकाण्ड, पंजाब का फौजी शासन, देशव्यापी दमन तथा सन् 1919 का विधान दिया था । इन सब घटनाओं ने देश में राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया । महात्माजी ने सन् 1921 में 'असहयोग आन्दोलन' प्रारम्भ कर दिया जिसके फल-स्वरूप असंख्य विद्यार्थी स्कूल और कालेजों को छोड़ आये । वे ऐसे स्कूलों में नहीं पढ़ना चाहते थे जहाँ एक विदेशी ज्ञान व संस्कृति अथवा भाषा पढ़ायी जाय और राष्ट्रीय भावनाओं को कुचला जाय । अतः अंग्रेजी स्कूलों का खुले रूप में बहिष्कार होने लगा ।

किन्तु ऐसे विद्यार्थियों के लिए समुचित शिक्षा की व्यवस्था करना भी नेताओं का कर्तव्य था । अतः अल्पकाल में ही देश भर में राष्ट्रीय विद्यालयों, विद्यापीठ और गुरुकुल इत्यादि का जाल-सा बिछ गया । इसमें पूना, अहमदाबाद, लाहौर, पटना, बनारस इत्यादि के विद्यापीठ और अलीगढ़ का जामिया मिलिया इस्लामिया जो सन् 1925 में दिल्ली पहुँच गया, अधिक प्रसिद्ध है ।

इस प्रकार एक बड़ी संख्या में विद्यार्थियों के सरकारी अथवा सरकार द्वारा स्वीकृत और सहायता-प्राप्त विद्यालयों को छोड़ देने में इनमें विद्यार्थियों की संख्या बहुत घट गयी । "सन् 1921 में उपस्थिति के प्रतिशत सारे देश में 8·6 (कॉलेज), 5·1 (हाई स्कूल) तथा 8·1 (मिडिल स्कूल) में कमी हुई ।" इसके अतिरिक्त फीस तथा परीक्षा शुल्क इत्यादि की आर्थिक क्षति भी रही ।

इस आन्दोलन से शिक्षा के क्षेत्र में लाभ भी हुआ । एक तो साधारण जनता में एक राष्ट्रीय चेतना आ गयी । शिक्षा में लोग अधिक रुचि दिखाने लगे । देश के धनवान लोग शिक्षा-प्रसार के लिए आर्थिक सहायता देने के लिए प्रोत्साहित हो गये । जनता एक उत्साह, आशा और महत्त्वाकांक्षा से भर गयी और शिक्षा के विकास के लिए कुछ त्याग करने की भावना से पूर्ण हो गयी । कांग्रेस इस समय तक देश की प्रमुख राजनीतिक संस्था बन चुकी थी । उसने कराची में सन् 1931 में निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । जनसाधारण के लिए प्रारम्भिक शिक्षा को सस्ता, व्यावहारिक तथा उपयोगी बनाने के लिए सन् 1937 में महात्मा गांधी ने 'वर्धा शिक्षा योजना' को जन्म दिया जिसके अनुसार किसी हस्तकार्य के द्वारा प्राथमिक शिक्षा देने की बात थी । यद्यपि यह आन्दोलन अर्द्ध-राजनीतिक था, किन्तु

देश की शिक्षा को समय और आवश्यकता के अनुसार ढालने, आवश्यक परिवर्तन करने और व्यापक बनाने में बहुत सहायक हुआ। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के दोष एकदम प्रकाश में आ गये और लोगों ने समझ लिया कि अब तक चली आने वाली शुद्ध साहित्यिक शिक्षा जो हमें जीवन में व्यर्थ बना देती है, अवश्य ही बदल जानी चाहिए। भारतीय तरुणों को भी विदित हो गया कि उन्हें अच्छी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करके राष्ट्र-निर्माण के कार्य में महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करना है।

अन्त में प्रान्तीय शिक्षा मन्त्रियों को भी इन हलचलों से प्रेरणा मिली। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए कानून पास किये। माध्यमिक स्कूल तथा विश्वविद्यालय खुले जिनका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। इधर सन् 1919 के शासन-विधान से उत्पन्न हुई राजनीतिक तथा वैधानिक परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिए सन् 1927 में 'साइमन कमीशन' की नियुक्ति हुई। इस कमीशन को भारतीय शिक्षा के विषय में भी अपना प्रतिवेदन देने की आज्ञा हुई थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कमीशन ने एक सहायक-समिति (Auxiliary Committee) नियत की, जिसके सभापति सर हर्टोग थे जो सैडलर कमीशन के भी सदस्य रह चुके थे और सन् 1921 में ढाका विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी थे। यह समिति 'हर्टोग समिति' के नाम से विख्यात है।

**हर्टोग समिति की रिपोर्ट**

हर्टोग समिति ने सितम्बर 1929 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें तत्कालीन भारतीय शिक्षा की सभी अवस्थाओं का विषद् वर्णन है। समिति ने इस बात को स्वीकार किया था कि सन् 1917 और 1927 के दशक में शिक्षा में बहुत उन्नति हुई। विकास के साथ ही साथ शिक्षा की उत्तमता में भी आशाजनक सुधार हुआ। "शिक्षा साधारण रूप से राष्ट्रीय महत्त्व की एक प्रथम बात तथा 'राष्ट्र-निर्माण' का एक अनिवार्य साधन समझी जाने लगी है। व्यवस्थापिकाओं द्वारा इधर जो ध्यान दिया गया है वह इसी बात का प्रमाण तथा लक्षण है। शिक्षा-विभाग के जनप्रिय मन्त्री के नियन्त्रण में हस्तान्तरण हो जाने से जनता में भी शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न हुई है और इसे जनता की वर्तमान आवश्यकताओं और मत के अनुरूप भी बना दिया है। शिक्षा के विकास का स्वागत न केवल सरकारी अधिकारियों और धनिक वर्ग ने ही किया है, अपितु वे जातियाँ जो शिक्षा में अब तक पिछड़ी हुई थीं, जैसे मुसलमान इत्यादि, अब अपने बच्चों के लिए शिक्षा की आवश्यकता तथा सम्भावना के प्रति सचेत हो गयी हैं। यह आन्दोलन पिछड़ी हुई जातियों तथा आदिमवासियों तक में फैल चुका है और इसने शिक्षा को अधिकार के रूप में माँगने के लिए एक बृहत्तर वर्ग को जागृत कर दिया है।"[2]

**प्राथमिक शिक्षा**—यद्यपि इस प्रकार शिक्षा में प्रगति हो रही थी, तथापि

*Hartog Committee Report*, p. 31.

समिति देश भर में साक्षरता की प्रगति से सन्तुष्ट नहीं थी। उसकी राय में शिक्षा में पर्याप्त अपव्यय (waste) और अवरोध (stagnation) उत्पन्न हो गया था। प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना करके उच्च शिक्षा को बढ़ावा दिया जा रहा था। ग्रामीण शिक्षा के मार्ग में कुछ कठिनाइयों के होने के कारण साक्षरता की गति बड़ी मन्द थी। प्रधानतः ये कठिनाइयाँ थीं—ग्रामीण जनता की निर्धनता, अशिक्षा, आवागमन के साधनों का अभाव, मौसमी बीमारियाँ, धार्मिक तथा जातीय अन्धविश्वास तथा कृषि-कार्यों में बच्चों का समय से पूर्व ही लग जाना इत्यादि। समिति की राय में प्रान्तीय सरकारों द्वारा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए क्रियात्मक कदम उठाने का अभाव भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था जिससे साक्षरता में आशाजनक प्रगति नहीं हो पा रही थी।

प्राथमिक शिक्षा के विषय में समिति ने आगे चलकर कहा कि "प्राथमिक शिक्षा प्रणाली में, जो हमारी राय में साक्षरता और मताधिकार सिखाने का प्रमुख साधन है, बहुत अधिक अपव्यय है। जहाँ तक हमें विदित है, प्राथमिक स्कूलो की संख्या में जितनी वृद्धि हुई है, साक्षरता उसी अनुपात से बढ़ी है, क्योंकि इन प्राथमिक स्कूलों में बहुत ही थोड़े विद्यार्थी कक्षा 4 तक पहुँचते हैं, जिनसे हम साक्षरता की आशा कर सकें।······यह स्मरणीय है कि वर्तमान ग्रामीण परिस्थितियों में तथा देशी भाषाओं में उपयुक्त साहित्य के अभाव में स्कूल छोड़ने पर बालक के लिए साक्षरता प्राप्त करने के बहुत कम अवसर रह जाते हैं, और वास्तव में साक्षरों के भी निरक्षर हो जाने की बहुत कम सम्भावना रहती है।" इस प्रकार साक्षर बनने के लिए समिति की राय में कम से कम चार वर्ष अवश्य लगने चाहिए। किन्तु भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण बालक पहली या दूसरी कक्षा पास करके बीच में ही पढ़ना छोड़ देते थे। सन् 1922-23 में ब्रिटिश भारत में कक्षा 1 में पढ़ने वाले प्रति 100 विद्यार्थियों में तीन वर्ष बाद कक्षा 3 या 4 में केवल 19 विद्यार्थी ही रह जाते थे। इसके लिए समिति ने वही दो प्रधान कारण 'अपव्यय' तथा 'अवरोध' बताये। 'अपव्यय' से अभिप्राय था प्राथमिक शिक्षा के पूर्ण होने के पूर्व ही बच्चों को पढ़ाने से रोक लेना। समिति के अनुसार जो रुपया या समय उन पर व्यय हुआ वह नष्ट हो गया, क्योंकि वे साक्षरता भी प्राप्त न कर सके। 'अवरोध' का अभिप्राय था बच्चे का एक ही कक्षा में एक वर्ष से अधिक रह जाना।

लड़कियों की शिक्षा में भी समिति ने अपव्यय की शिकायत की। कक्षा 1 में पढ़ने वाली प्रति 100 बालिकाओं में से केवल 14 ही कक्षा 4 तक आ पाती थीं। अर्थात् हमारे शिक्षा-प्रयत्नों के 80 प्रतिशत से भी अधिक प्रयत्न व्यर्थ नष्ट हो जाते थे।

समिति की राय में नगरों में तो प्राथमिक शिक्षा की समस्या इतनी उग्र नहीं थी, किन्तु उसने स्वीकार किया कि गाँवों में 'स्कूल बहुत छोटे-छोटे हैं, पर्याप्त शिक्षा रखने पर व्यय अधिक होता है। जब तक शिक्षकों को विशेष रूप से प्रशिक्षित किया तथा चुना न जायगा, गाँवों का जीवन उनके लिए आकर्षक नहीं बन सकेगा। अध्यापिकाएँ गाँवों में तब तक नहीं रह सकतीं जब तक कि स्थिति अनुकूल न हो जाय;

शिक्षक अकेले रह जाते हैं तथा प्रशासन, निरीक्षण और देखभाल की कठिनाइयाँ भी बढ़ जाती हैं; और बच्चों की उपस्थिति नियमित रूप से अधिक समय तक रखना अत्यन्त दुस्तर हो जाता है ।" ऐसे स्थानों में प्राथमिक शिक्षा की समस्या बड़ी दुरूह थी। ऐसी अवस्था में अपव्यय होना अनिवार्य था । समिति के मतानुसार इस दुरुपयोग के प्रमुख कारण थे—(1) अपव्यय और अवरोध; (2) साक्षरों का बीच में ही पढ़ना छोड़ देने से पुनः निरक्षरता; (3) प्रौढ़ शिक्षा के लिए सुविधाओं का अभाव; (4) शिक्षालयों का अनियमित वितरण जिसके कारण "ऐसे दीर्घ क्षेत्र विद्यमान थे जहाँ एक भी स्कूल नहीं था, जबकि कुछ छोटे क्षेत्रों में इतने छोटे-छोटे स्कूल थे जो बच्चों को बुलाने के लिए भयंकर स्पर्द्धा कर रहे थे;" (5) 500 की जनसंख्या के गाँवों में स्कूल न खुल सकने की असुविधा; (6) वर्तमान स्कूलों से पर्याप्त लाभ न उठा सकना, अर्थात् बहुत से प्रान्तों में स्कूल तो पर्याप्त थे किन्तु वे अधिक विद्यार्थियों को प्रवेश के लिए आकर्पित नहीं कर सकते थे । इस प्रकार स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या कम होने से धन व प्रयास का बड़ा दुरुपयोग होता था; (7) एक शिक्षक वाले स्कूल—ऐसे स्कूल जहाँ केवल एक ही शिक्षक हो । वह प्रत्येक कक्षा के बच्चों के साथ प्रत्येक विषय में पूर्णरूप से न्याय नहीं कर सकता, अतः सब प्रयत्न व्यर्थ जाता है; (8) उचित शिक्षण का अभाव; (9) निरीक्षण का अभाव; (10) अनुपयुक्त पाठ्यक्रम—ऐसा पाठ्यक्रम जो वास्तविक जीवन तथा सच्ची परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है; तथा (11) ऐसे प्राथमिक स्कूलों की स्थापना जो कुछ समय बाद टूट जाते हैं ।

प्राथमिक शिक्षा के इन सब दोषों को दूर करने के लिए समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं जिन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

(1) शिक्षा-विस्तार की नीति के स्थान पर शिक्षा के ठोस (consolidation) करने की नीति का अनुसरण किया जाय ।

(2) प्राथमिक शिक्षा की न्यूनतम अवधि 4 वर्ष हो ।

(3) प्राथमिक शिक्षकों की सामान्य शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाना चाहिए । उनके लिए प्रशिक्षण तथा "रिफ्रेशर कोर्स" की उचित सुविधा दी जाय । उनकी ज्ञान-वृद्धि के लिए शिक्षा सम्मेलन हों तथा उनकी दशा में सुधार करने के लिए उनके वेतन बढ़ाये जायँ और नौकरी की दशाओं में सुधार किये जायँ ।

(4) प्राथमिक स्कूलों का पाठ्यक्रम अधिक उदार व उपयुक्त बनाया जाय । "एक ऐसा स्कूल जिसमें पर्याप्त विद्यार्थी हों और जो पड़ोस की परिस्थितियों से सीधा सम्पर्क रखता हो, आगे आने वाली पीढ़ी को स्वास्थ्य रक्षा, शरीर विज्ञान, सफाई, मितव्ययिता तथा आत्मनिर्भरता के अच्छे पाठ पढ़ा सकता है ।"

(5) स्कूल के घण्टे तथा छुट्टी के दिन ऋतु तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप होने चाहिए ।

(6) प्राथमिक स्कूलों में निम्नतम कक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए और जो अवरोध व अपव्यय वहाँ फैला है उसे दूर करने के लिए दृढ़ प्रयत्न करने चाहिए।

(7) ग्राम-सुधार का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए और स्कूल से उसका सम्बन्ध स्थापित कर देना चाहिए।

(8) प्राथमिक शिक्षा के राष्ट्रव्यापी महत्त्व का विषय होने के कारण भारत सरकार को इसके प्रसार का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए तथा उसे पूर्णत: स्थानीय बोर्डों को सुपुर्द करके निश्चिन्त न हो जाना चाहिए।

(9) सरकार का निरीक्षण स्टाफ बढ़ जाना चाहिए।

(10) शिक्षा को अनिवार्य करने की योजना पर बिना सोचे-समझे जल्दबाजी में कदम उठाना हानिकारक है। अत: इस पर पर्याप्त विचार के उपरान्त उसका आधार बनाकर ही कार्यान्वित करना चाहिए।

**माध्यमिक शिक्षा**—प्राथमिक शिक्षा पर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार करने के उपरान्त समिति ने माध्यमिक शिक्षा के प्रश्न को हाथ में लिया। माध्यमिक शिक्षा के विषय में हर्टोग समिति का मत था कि इसने संतोषजनक प्रगति की है। "माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में कुछ बातों, जैसे शिक्षकों की दशा, योग्यता, नौकरी की परिस्थितियों तथा प्रशिक्षण में सुधार तथा स्कूल के सामाजिक जीवन को विस्तृत बनाने में उन्नति हुई है। किन्तु यह भी संगठन सम्बन्धी बड़े दोष हैं। माध्यमिक शिक्षा के सम्पूर्ण क्षेत्र में आज भी वही विचारधारा प्रबल है कि प्रत्येक लड़का जो माध्यमिक स्कूल में प्रवेश करता है उसे विश्वविद्यालय में अवश्य ही पढ़ना चाहिए; और मैट्रीकुलेशन तथा विश्व-विद्यालय परीक्षाओं में एक बड़ी संख्या में लड़कों का असफल होना एक बड़ा भारी अपव्यय है।" इस दुरुपयोग के दो प्रमुख कारण समिति ने बताये :

(1) प्रारम्भिक अवस्थाओं में कक्षाओं में आसानी से तरक्की दे देना; तथा

(2) आवश्यकता से अधिक संख्या में अयोग्य विद्यार्थियों का उच्च शिक्षा के लिए जाना। माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए भी समिति ने सुझाव रखे कि मिडिल स्कूलों का पाठ्यक्रम अधिक विस्तृत हो जिससे अधिकांश बालकों की आवश्यकताएँ यहीं पर पूर्ण हो जाया करें। मिडिल स्कूल के बाद विद्यार्थियों को 'औद्योगिक' तथा 'व्यापारिक' क्षेत्रों में बाँट देना तथा हाई स्कूलों में वैकल्पिक विषयों को रख देना चाहिए।

**विश्वविद्यालय शिक्षा**—विश्वविद्यालय शिक्षा की प्रगति से तो समिति को हर्ष हुआ, किन्तु उनमें भी कुछ दोषों का आभास उसे मिला। "बहुत-से विश्वविद्यालय तथा कालेजों की पाठन-विधि तथा मौलिक अनुसन्धान में उन्नति हुई है तथा कुछ में पहले से भी अधिक सामाजिक जीवन की शिक्षा प्रदान की जाती है। किन्तु भारत में यह विश्वास अब भी प्रचलित है कि विश्वविद्यालयों का मुख्य कार्य परीक्षाएँ पास कराना है। हमारी इच्छा है कि विश्वविद्यालय सहिष्णु, आत्मविश्वासी तथा उदार नाग-रिकों के निर्माण को अपना प्रमुख कर्तव्य मानें। जो विश्वविद्यालयों की शिक्षा से समुचित लाभ उठाने के अयोग्य हैं, ऐसे विद्यार्थियों के उनमें भर जाने से विश्वविद्या-लयों के कार्य में बड़ी बाधा पहुँची है...... ।"

अतः कमेटी ने विश्वविद्यालयों के उत्थान के लिए सिफारिशें कीं कि विश्व-विद्यालयों को शिक्षा का स्तर ऊँचा रखना चाहिए तथा प्रवेशिका परीक्षा (Entrance Examination) के विद्यालयों के साथ कुछ कड़ाई का व्यवहार करना चाहिए जिससे अयोग्य विद्यार्थी उच्च शिक्षा को न जा सकें। इसके अतिरिक्त समिति ने प्रमुख विश्व-विद्यालयों में 'ऑनर्स कोर्स' तथा अच्छे पुस्तकालयों की स्थापना और ट्यूटोरियल कक्षाओं के प्रारम्भ करने की भी सिफारिशें कीं।

**स्त्री-शिक्षा**—लड़कियों की शिक्षा के विषय में समिति ने अनुभव किया कि अभी अवस्था बड़ी असन्तोषजनक है। गाँवों में उनकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं है। लड़कों और लड़कियों की शिक्षा के अनुपात में आश्चर्यजनक अन्तर है। बालिकाओं की माध्यमिक शिक्षा का क्षेत्र भी बड़ा सीमित है। योग्य व प्रशिक्षित अध्यापिकाओं का बड़ा अभाव है। इस दिशा में समिति ने सिफारिशें कीं कि लड़कियों का पाठ्यक्रम उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए। अधिक प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों की आवश्यकता है। अध्यापिकाओं तथा निरीक्षिकाओं की पर्याप्त नियुक्ति होनी चाहिए। धीरे-धीरे लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा को भी अनिवार्य बनाया जा सकता है। लड़कियाँ भावी माताएँ हैं, अतः उन्हें प्राथमिकता दी जाय।

अन्त में हर्टोग समिति ने अनुभव किया कि केन्द्रीय सरकार का प्रान्तीय सरकारों को सत्ता हस्तान्तरित करने का कार्य बड़ी जल्दी में कर दिया गया। वास्तव में, केन्द्रीय सरकार अपने आपको देश की शिक्षा के उत्तरदायित्व से कभी भी मुक्त नहीं कर सकती है। अतः समिति ने दिल्ली में एक केन्द्रीय शिक्षा समिति खोलने की सलाह दी। इसके अतिरिक्त उसने प्रान्तीय शिक्षा-संचालकों के कार्यों की सराहना करते हुए उनकी सहा-यता के लिए प्रान्तीय प्रमुख कार्यालयों में अधिक स्टाफ बढ़ाने तथा अधिक निरीक्षक और उपनिरीक्षक बढ़ाने की सलाह दी। केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों में शिक्षा कमिश्नर के स्थान पर शिक्षा सेक्रेटरी की नियुक्ति तथा संचालकों की नियमित सभाएँ करने की सिफारिशें की गयीं।

**आलोचना**

हर्टोग समिति की रिपोर्ट भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक प्रमुख महत्त्व रखती है। वस्तुतः इसने तत्कालीन शिक्षा नीति को एक स्थायी स्वरूप प्रदान किया और शिक्षा को ठोस तथा विस्तृत बनाने का प्रयास किया। सरकारी क्षेत्रों में तो इस रिपोर्ट का बड़ा स्वागत हुआ और इसे 'सरकारी प्रयत्नों की दीपिका' समझा गया। परिणाम की तुलना में शिक्षा की किस्म में सुधार करने के समिति के सुझाव का भी वहाँ बड़ा स्वागत हुआ। वस्तुतः यह रिपोर्ट ही एक प्रकार से सरकारी अधिकारियों की प्रतिनिध नीति हो गयी। अतः भिन्न-भिन्न प्रान्तों में शिक्षा के स्तर को ऊँचा करने की आड़ में उसके व्यापक प्रसार को रोका गया।

किन्तु गैर-सरकारी क्षेत्रों में इस रिपोर्ट की आलोचना हुई। शिक्षा का प्रसार रोकने के लिए इसे सरकार की एक चाल बताया गया। देश में राष्ट्रीय चेतना के

फैलने से प्रत्येक सरकारी नीति पर सन्देह किया जाने लगा। देश के प्रमुख नेताओं ने शिक्षा के विस्तार को अधिक प्रमुखता दी और कहा कि यदि विस्तार हो जायगा तो स्तर को बाद में उठाया जा सकता है। देश की वास्तविक आवश्यकता तो सर्वव्यापी साक्षरता थी। इसके अतिरिक्त समिति के कुछ आँकड़ों की प्रामाणिकता पर भी सन्देह किया गया।

**रिपोर्ट का परिणाम**

इतना निश्चय है कि जो प्रगति सन् 1922–27 में हुई थी वह सन् 1927 के उपरान्त न हो सकी। इसका एक प्रमुख कारण सन् 1930-31 का विश्वव्यापी आर्थिक संकट भी था जिसकी छाया भारतीय बजट पर भी पड़ी। परिणामतः केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को राष्ट्र-निर्माणक विषयों में निर्दयतापूर्वक कटौती करनी पड़ी। निम्नलिखित आँकड़ों से प्रकट होता है कि सरकार ने प्रारम्भ में शिक्षा पर अपना व्यय बढ़ाकर किस प्रकार कम कर दिया, जो अन्त में ही जाकर बढ़ सका :

(लाख रुपयों में)

| वर्ष | सरकारी व्यय |
|---|---|
| 1923-27 | 1193 |
| 1930-31 | 1361 |
| 1931-32 | 1246 |
| 1932-33 | 1135 |
| 1935-36 | 1184 |
| 1936-37 | 1236 |

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि सन् 1930-31 में व्यय घट गया और उत्तरोत्तर घटता ही गया, यहाँ तक कि सन् 1937 में जाकर 6 वर्ष पहले से भी कम रहा। किन्तु जहाँ सरकारी व्यय घटता ही जा रहा था, व्यक्तिगत जनता का शिक्षा पर व्यय बढ़ता जा रहा था। वास्तव में जनता में अदम्य उत्साह था, वह शिक्षा के लिए सर्वस्व बलिदान करने को उद्यत प्रतीत होती थी जैसा कि निम्नलिखित आँकड़ों से प्रकट होता है :

[निम्न तालिका के आँकड़े ब्रिटिश भारत के हैं]

(लाख रुपयों में)

| साधन | 1901-02 | 1916-17 | 1921-22 | 1931-32 | 1936-37 |
|---|---|---|---|---|---|
| सरकारी व्यय गैर-सरकारी | 103 | 392 | 902 | 1,246 | 1,236 |
| (क) जिला बोर्ड | 59 | 147 | 168 | 280 | 257 |
| (ख) नगरपालिका | 15 | 49 | 79 | 158 | 178 |
| (ग) फीस | 127 | 319 | 380 | 623 | 711 |
| (घ) अन्य साधन | 97 | 195 | 308 | 412 | 424 |
| योग | 401 | 1,129 | 1,837 | 2,719 | 2,806 |

इतना अवश्य है कि आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी शिक्षा का विकास देश में हो रहा था। शिक्षा के स्तर को उठाने तथा उसे ठोस करने की सिफारिशों का अधिक प्रभाव शिक्षा-क्षेत्र में वैयक्तिक साधनों पर नहीं पड़ा। शिक्षा को व्यापक रूप देने का उनका प्रयास जारी था। परिणामत: प्राथमिक, माध्यमिक तथा कॉलेज आदि सभी क्षेत्रों में शिक्षालयों की संख्या में वृद्धि हुई, जो नीचे दी हुई तालिका से प्रकट होती है :

| शिक्षा संस्थाओं के प्रकार | संस्थाओं की संख्या | | विद्यार्थियों की संख्या | |
|---|---|---|---|---|
| | 1921-22 | 1936-37 | 1921-22 | 1936-37 |
| (1) विश्वविद्यालय | 10 | 15 | संख्या अप्राप्त | 9,693 |
| (2) कला कॉलेज | 165 | 271 | 45,418 | 86,277 |
| (3) व्यावसायिक कॉलेज | 64 | 75 | 13,662 | 20,645 |
| (4) माध्यमिक शिक्षालय | 7,530 | 13,056 | 11,06,803 | 22,87,872 |
| (5) प्राथमिक शिक्षालय | 1,55,017 | 1,92,224 | 61,09,752 | 1,02,24,288 |
| (6) विशेष शिक्षालय योग | 3,344 | 5,674 | 1,20,925 | 2,59,269 |
| (स्वीकृत संस्थाएँ) | 1,66,130 | 2,11,308 | 73,96,560 | 1,28,880,44 |
| (7) अस्वीकृत संस्थाएँ | 16,322 | 16,647 | 422,165 | 5,01,530 |
| महायोग | 1,82,452 | 2,27,955 | 78,18,725 | 1,33,89,574 |

**नोट**—ये आँकड़े केवल ब्रिटिश भारत के हैं।[3]

इस प्रकार हमें विदित होता है कि सन् 1922 से 1937 तक विद्यालयों तथा विद्यार्थियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी, किन्तु भारत की जनसंख्या और निरक्षरता को देखते हुए यह संख्या अपर्याप्त थी। हर्टोग समिति की भी कुछ महत्त्वपूर्ण सिफारिशों पर ध्यान नहीं दिया गया, जैसे शिक्षकों के वेतन में वृद्धि, निरीक्षकों की नियुक्ति, पाठ्यक्रम में सुधार तथा प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था आदि केवल पवित्र आशाएँ ही रहीं।

**केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड[4]**

प्रान्तीय शिक्षा नीति का सम्बन्ध केन्द्रीय नीति से जोड़ने तथा शिक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों पर सलाह देने के लिए सन् 1921 में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' की स्थापना हुई। किन्तु आर्थिक संकट के कारण इसे भंग कर दिया गया। हर्टोग समिति की सिफारिश के फलस्वरूप 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' का सन् 1935 में पुन: संगठन किया गया। इस बोर्ड में सभी प्रान्तों के सदस्य थे।

[3] SOURCE : Nurullah and Naik : *History of Education in India* (1951), p. 619.

[4] Central Advisory Board.

सन् 1935 में प्रथम बैठक में ही बोर्ड ने देश की शिक्षा-समस्याओं पर विचार किया और शिक्षा में आमूल परिवर्तन करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये। इसने शिक्षा के लिए कक्षाओं का पुनः वर्गीकरण किया और शुद्ध साहित्यिक शिक्षा के स्थान पर व्यावसायिक व औद्योगिक शिक्षा पर जोर दिया। प्रस्ताव में कहा गया कि स्कूलों में वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल क्रान्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को केवल व्यावसायिक और विश्वविद्यालय के प्रवेश की ही शिक्षा नहीं देनी चाहिए, अपितु उपयुक्त कक्षा पर पहुँचने के अन्त में उन्हें इस योग्य बना दिया जाय कि वे किसी भी उद्यम में अथवा किसी विशेष व्यावसायिक शिक्षालय में चले जायँ। इसके लिए बोर्ड ने निम्नलिखित स्टेजों की सलाह दी :

(1) **प्राथमिक स्टेज**—जिसका उद्देश्य कम से कम स्थायी साक्षरता और कुछ सामान्य शिक्षा प्रदान करना हो।

(2) **निम्न माध्यमिक स्टेज**—इसमें साधारण शिक्षा के लिए एक ऐसा पाठ्य-क्रम हो जो अपने आप में ही पर्याप्त हो। यही शिक्षा उच्च माध्यमिक तथा विशेष व्यावसायिक शिक्षा का आधार हो।

(3) **उच्चतर माध्यमिक स्टेज**—इसमें ऐसे शिक्षालय सम्मिलित होंगे जिनमें अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न 'कोर्स अवधि' हो। ये शिक्षालय मुख्यतः पाँच प्रकार के होंगे—(1) कला तथा विज्ञान में विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों के लिए तैयार करने वाले शिक्षालय; (2) ग्रामीण क्षेत्रों के अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए; (3) कृषि प्रशिक्षण के लिए; (4) क्लर्कों के प्रशिक्षण के लिए; तथा (5) चुने हुए टेकनीकल विषयों में प्रशिक्षण देने के लिए शिक्षालय, जो प्रबन्धकों के परामर्श से चुने जायेंगे।

इनके अतिरिक्त बोर्ड ने एक प्रस्ताव के द्वारा यह भी सलाह दी कि निम्न माध्यमिक स्टेज के अन्त में प्रथम सरकारी परीक्षा ली जाय। इस योजना के निर्माण तथा पुनर्संगठन करने के लिए सरकार से कहा गया कि वह इस विषय में शिक्षा विशेषज्ञों की राय ले।

**वुड-ऐबट रिपोर्ट**

केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड के अन्तिम प्रस्ताव के अनुसार व्यावसायिक शिक्षा पर सलाह देने के लिए सन् 1936 में ऐबट तथा वुड की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया। ऐबट इंगलैण्ड के शिक्षा बोर्ड के टेकनीकल स्कूलों के भूतपूर्व चीफ इन्सपेक्टर थे तथा एस० एच० वुड इंगलैण्ड के शिक्षा बोर्ड के 'डायरेक्टर ऑव इण्टेलिजेन्स' थे। इन लोगों ने सन् 1936-37 में भारत की यात्रा की और 1937 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जो दो भागों में विभाजित है। वुड ने भारतीय सामान्य शिक्षा तथा संगठन का अध्ययन किया और अपने सुझाव रखे; ऐबर्ट ने जो व्यावसायिक शिक्षा में अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के विशेषज्ञ थे, भारतीय अवस्थाओं और साधनों का बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया और कुछ व्यावहारिक व मूल्यवान सुझाव रखे।

सामान्य शिक्षा के विषय में वुड ने कहा कि प्राथमिक पाठशालाओं में दीक्षित अध्यापकों का प्रबन्ध किया जाय तथा बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाय। प्राथमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में विशेष परिवर्तन की आवश्यकता है। इसमें पुस्तकीय शिक्षा के स्थान पर क्रियात्मक साधन द्वारा शिक्षा दी जाय। इसके अतिरिक्त ग्रामीण मिडिल स्कूलों में पाठ्यक्रम ग्रामीण आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल हो। साथ ही मातृभाषा शिक्षा का माध्यम हो और मिडिल स्कूलों में यथा-सम्भव अंग्रेजी न पढ़ायी जाय। माध्यमिक शिक्षालयों में अवश्य अंग्रेजी को आवश्यक विषय कर दिया जाय। आर्ट और क्राफ्ट को प्रोत्साहित किया जाय और उसे प्रारम्भिक तथा माध्यमिक पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दिया जाय। इस विषय के लिए हाई स्कूलों में योग्य शिक्षक रखे जायँ। प्राथमिक तथा मिडिल स्कूलों के शिक्षकों के लिए मिडिल पास करने के उपरान्त तीन वर्ष का प्रशिक्षण कोर्स रखा जाय। इस प्रकार वुड ने माध्यमिक शिक्षा के संगठन, नियन्त्रण और पाठ्यक्रम का एक प्रकार से पुनः संगठन करने की सिफारिश की।

ऐबट ने व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा के पुनर्संगठन के विषय में लिखते हुए सिफारिश की कि प्रत्येक स्थान की आवश्यकताएँ विभिन्न होती हैं, अतः प्रत्येक काम में व्यावसायिक शिक्षा का रूप वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार ही स्थिर करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि व्यावसायिक शिक्षा इतनी अधिक न हो जाय जिससे देश में उद्योगों का तदनुसार विकास न होने के कारण कहीं बेकारी फैल जाय। व्यावसायिक शिक्षा भी सामान्य शिक्षा के समान ही मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दशाओं का सुधार करती है। वास्तव में सामान्य शिक्षा व्यावसायिक शिक्षा का अनुरूप है। व्यावसायिक शिक्षा सामान्य शिक्षा के बिना अपूर्ण है और जितने भी व्यावसायिक विषय हैं उनका प्रारम्भ सामान्य शिक्षालयों में ही होता है। किन्तु इस समानता की अपेक्षा भी दोनों शिक्षाओं के लक्ष्य व साधन भिन्न-भिन्न हैं। अतः दोनों के स्कूल भी अलग-अलग होने चाहिए।

इस दृष्टिकोण से कुछ सामान्य शिक्षा पाने के उपरान्त ही व्यावसायिक शिक्षा प्रारम्भ करनी चाहिए। इस शिक्षा के संगठन के लिए उद्योगपतियों को पूर्ण सहयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुटीर उद्योग-धन्धों तथा कृषि के लिए भी शिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए।

ऐबट ने बताया कि देश में संगठित बृहत्-स्तर के उद्योगों में तीन प्रकार के श्रमिकों के प्रशिक्षण की आवश्यकता है—निर्देशक या प्रबन्धक, निरीक्षक और यन्त्र-चालक। इनके निरीक्षकों की शिक्षा का बड़ा महत्त्व है और इनके लिए शिक्षा-लयों की व्यवस्था होनी चाहिए। यन्त्र पर कार्य करने वाले व्यक्ति काम से छुट्टी पाने पर अवकाश के घण्टों में प्रशिक्षण लें।

साथ ही रिपोर्ट में सिफारिश की गयी कि प्रत्येक प्रान्त में व्यावसायिक शिक्षा सलाहकार समितियों की स्थापना कर दी जाय जिनके अन्तर्गत इंजीनियरी, वस्त्र

व्यवसाय, कृषि, कुटीर उद्योग तथा वाणिज्य की शिक्षा सम्बन्धी उपसमितियाँ बना दी जायँ, जो प्रत्येक प्रान्त में व्यावसायिक शिक्षा के संगठन तथा पाठ्यक्रम इत्यादि की पूर्णरूप से उत्तरदायी हों।

व्यावसायिक शिक्षा का आधार सामान्य शिक्षा होना चाहिए। अतः कम से कम मिडिल पास विद्यार्थी ही जूनियर व्यावसायिक स्कूलों में प्रवेश पा सकें तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा पास विद्यार्थी सीनियर व्यावसायिक स्कूलों में प्रविष्ट किये जायँ। इन जूनियर व्यावसायिक स्कूलों के शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी जो दो वर्ष में अपना पाठ्यक्रम समाप्त करेंगे, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के समकक्ष माने जायेंगे। जूनियर स्कूल पास विद्यार्थी सीनियर स्कूल में भी प्रविष्ट हो सकेंगे अथवा किसी विशेष उद्योग में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेंगे। जो सीनियर व्यावसायिक स्कूलों के पास विद्यार्थी होंगे वे इण्टर कॉलेज के समकक्ष माने जायेंगे। इनका पाठ्यक्रम भी दो वर्ष का होगा। जो व्यक्ति पहले से ही कुछ व्यवसायों में नौकरी कर रहे हैं उनके लिए अर्द्ध-सामयिक (part-time) शिक्षालय खोल देने चाहिए।

कृषि शिक्षा के लिए रिपोर्ट में कहा गया कि इसके लिए शिक्षालय सीमित हों। प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों में कृषि का विषय वैकल्पिक कर दिया जाय। वाणिज्य भी इसी प्रकार वैकल्पिक विषय किया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न उद्योगों के लिए विशिष्ट स्कूलों के खोलने के स्थान पर रिपोर्ट में बहुउद्योगीय (polytechnic) स्कूल, जहाँ पर एक ही शिक्षालय में बहुत से व्यवसायों की शिक्षा दी जाती हो, खोलने की सिफारिश की।

इसके अतिरिक्त आर्ट और क्राफ्ट की शिक्षा पर भी जोर दिया गया तथा दिल्ली में एक व्यावसायिक प्रशिक्षण कॉलेज (vocational training college) खोलने की सिफारिश की गयी।

इस प्रकार देश की परिस्थिति और वास्तविक आवश्यकताओं को देखते हुए भी वुड-ऐबट रिपोर्ट एक विशेष माँग की पूर्ति करती है।

अब आगे हम इन रिपोर्टों तथा अन्य परिवर्तन और हलचलों के प्रकाश में हुई देश की शिक्षा-प्रगति का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

## (ख) शिक्षा-प्रगति (1921–37)

### (1) **विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा**

इस काल में विश्वविद्यालय शिक्षा में संतोषजनक विस्तार व सुधार हुआ। अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड तथा पाँच नये विश्वविद्यालयों का निर्माण, पुराने विश्वविद्यालयों का पुनर्संगठन, अनुसन्धान की सुविधाएँ, सैनिक शिक्षा की व्यवस्था तथा कुछ राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों का प्रादुर्भाव इत्यादि इस युग की कुछ विशेष घटनाएँ हैं जिनसे हमें उच्च शिक्षा के विकास का अनुमान होता है।

### अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड[5]

भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ने पर यह आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि इन सभी विश्वविद्यालयों में पारस्परिक साम्य तथा सहयोग स्थापित करने के लिए किसी ऐसी संस्था का निर्माण किया जाय जो विभिन्न विश्वविद्यालयों के कार्यों को समानता प्रदान करके उनमें ऐक्य उत्पन्न करे। कलकत्ता कमीशन ने भी इसकी सिफारिश की थी, साथ ही सन् 1921 में साम्राज्य के अन्तर्गत हुई विश्वविद्यालय कांग्रेस और तदुपरान्त इंगलैण्ड में भारतीय विद्यार्थियों के निमित्त बनी हुई लिटन-समिति ने भी इसकी स्थापना का समर्थन किया। फलतः सन् 1924 में शिमला में अखिल भारतीय विश्वविद्यालय कान्फ्रेंस में इस अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड की स्थापना कर दी गयी जिसका प्रधान कार्यालय बंगलौर में रखा गया।

इस बोर्ड में सभी विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। अपनी स्थापना के उपरान्त इसने विश्वविद्यालय शिक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को हल किया है। भिन्न-भिन्न शिक्षा-केन्द्रों में इसकी वार्षिक बैठकें होती हैं। इसके अतिरिक्त बोर्ड की पंचवर्षीय कान्फ्रेंस भी उच्च शिक्षा के पेचीदे मसलों को हल करने के लिए होती है। भारतीय विश्वविद्यालय पुस्तिका (A Handbook of Indian Universities) नामक इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी है।

इस बोर्ड के प्रमुख कार्य संक्षेप में इस प्रकार हैं—एक अन्तर्विश्वविद्यालय संगठन तथा सूचना केन्द्र के रूप में कार्य करना, अध्यापकों का आदान-प्रदान, विश्वविद्यालयों में पारस्परिक सहयोग तथा साम्य उत्पन्न करना, भारतीय विद्यार्थियों को विदेशी विश्वविद्यालयों के विषय में परामर्श देना तथा उनकी उपाधियों को मान्य कराना, अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलनों में अपने प्रतिनिधि भेजना तथा विश्वविद्यालयों के हित में अन्य आवश्यक कार्य करना, इत्यादि। इतना अवश्य है, जैसा सर राधाकृष्णन् कमीशन का मत है, कि बोर्ड ने एक सलाहकारी संस्था की तरह कार्य तो अवश्य किया है, किन्तु इसका प्रभाव इतना शक्तिशाली नहीं रहा है जितना कि होना चाहिए था। "वाइस चांसलरों की संयुक्त आवाज के परामर्श को जो वास्तव में अब बोर्ड का स्वरूप हो गया है, विश्वविद्यालयों ने बहुधा नहीं माना है।"[6]

### नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना

प्रत्येक प्रान्त में कम से कम विश्वविद्यालय स्थापित करने की नीति तथा शिक्षण विश्वविद्यालय स्थापित करने की दृष्टि से इस काल में 5 विश्वविद्यालय स्थापित किये गये; यथा—दिल्ली (सन् 1922), नागपुर (सन् 1923), आन्ध्र (सन् 1926), आगरा (सन् 1927) तथा अन्नामलाई (सन् 1929)।

(1) **दिल्ली**—दिल्ली विश्वविद्यालय प्रारम्भ में एक सम्बन्धक विश्वविद्यालय (Affiliating University) के रूप में स्थापित हुआ, जिसमें सेण्ट स्टीफेंस कॉलेज,

[5] Inter University Board.
[6] *Report of the University Commission* (1948-49), Vol. I, p. 29.

हिन्दू कॉलेज तथा रामजस कॉलेज सम्मिलित थे । सन् 1927 में एक विशेष समिति द्वारा इस प्रश्न पर विचार किया गया कि इसे सम्बन्धक विश्वविद्यालय बनाया जाय अथवा संघीय (federal) विश्वविद्यालय । अन्त में सन् 1934 में भारत सरकार ने निश्चय किया कि यह संघीय विश्वविद्यालय रहेगा । किन्तु कुछ कालेजों का सम्बन्ध भी इससे बना रहेगा ।

(2) **नागपुर**—नागपुर विश्वविद्यालय मध्य प्रान्त के लिए स्थापित किया गया था । यद्यपि यह सम्बन्धक विश्वविद्यालय था, किन्तु कालान्तर में इसमें शिक्षक कक्षाएँ भी खोल दी गयीं और एक लॉ कॉलेज की स्थापना भी कर दी गयी । अभी तक इसका रूप सम्बन्धक ही है ।

(3) **आन्ध्र**—मद्रास प्रान्त में उत्तरी भाग के लिए आन्ध्र विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी । सन् 1920 से मद्रास विश्वविद्यालय ने भाषा के आधार पर प्रत्येक क्षेत्र में एक विश्वविद्यालय खोलने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था । इधर तेलुगु भाषा-भाषी लोग निरन्तर रूप से विश्वविद्यालय की माँग कर रहे थे । अतः सन् 1926 में एक स्थानीय विश्वविद्यालय आन्ध्र प्रदेश के लिए खोल दिया गया । इसमें उच्च टेकनीकल शिक्षा की विशेष व्यवस्था है । इसके विधान में यह विशेषता है कि उपकुलपति चुनाव के द्वारा नियुक्त होगा । विधान में मातृभाषा को माध्यम बनाने की भी व्यवस्था है, किन्तु अभी तक पूर्णतः ऐसा नहीं हो सका है । इसके स्थिति-स्थान का प्रश्न सदा विवादग्रस्त रहा है । प्रारम्भ में यह विजयवाड़ा में था, सन् 1931 में यह विशाखापटनम पहुँच गया और तदुपरान्त गुन्टूर में स्थापित किया गया । इस समय यह वाल्टेयर में है ।

(4) **आगरा**—आगरा विश्वविद्यालय की स्थापना सन् 1927 में की गयी । इलाहाबाद विश्वविद्यालय का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण हो गया था, अतः उससे सम्बन्धित कालेजों को आगरा से सम्बन्धित कर दिया गया । इससे अजमेर, ग्वालियर, राजपूताना इत्यादि के सभी डिग्री कॉलेज सम्बन्धित थे । किन्तु अब अन्य क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों के बन जाने से इसका क्षेत्र संकुचित हो गया है ।

(5) **अन्नामलाई**—अन्नामलाई विश्वविद्यालय दक्षिण मद्रास में अन्नामलाई नगर, चन्दाम्बरम् में सन् 1929 में स्थापित किया गया । इसका अस्तित्व प्रधानतः स्वर्गीय राजा सर अन्नामलाई चैट्टियर की अनुकम्पा से हुआ जिन्होंने अपने तीन कॉलेज तथा 20 लाख रुपये दान में देकर इस नवीन विश्वविद्यालय को जन्म दिया । यह विश्वविद्यालय शिक्षण तथा स्थानीय विश्वविद्यालय है । इसकी विशेषता यह है कि यहाँ प्राच्य विद्याओं, तमिल, संस्कृत, भारतीय संस्कृति तथा भारतीय संगीत इत्यादि के उच्च अध्ययन तथा अनुसन्धान की व्यवस्था है । 'राजा अन्नामलाई संगीत कॉलेज' तथा 'ओरिएण्टल ट्रेनिंग कॉलेज' इसके विशेष आकर्षण हैं । सन् 1934 में यहाँ तमिल में भी अनुसन्धान की व्यवस्था कर दी गयी । इसका विधान प्रायः अन्य विश्वविद्यालयों की ही भाँति है ।

**अन्य सुधार तथा प्रगति**—नये विश्वविद्यालयों की स्थापना के अतिरिक्त कुछ पूर्व-स्थित विश्वविद्यालयों में भी इस काल में सुधार हुए। मद्रास विश्वविद्यालय का विधान सन् 1923 तथा 1929 में बदला गया। इसके अनुसार यह एक शिक्षण विश्व-विद्यालय के रूप में विकसित हुआ। अर्थशास्त्र, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, गणित, भारतीय दर्शन तथा इतिहास इत्यादि में अनुसन्धान की भी सुविधा कर दी गयी और प्राच्य भाषाओं में तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, संस्कृत, अरबी, फारसी तथा उर्दू के अनुसन्धान के लिए प्राच्य अनुसन्धानशाला खोल दी गयीं। बम्बई विश्वविद्यालय का सन् 1928 में पुनः गठन हुआ जिसके कारण उच्च शिक्षा तथा अनुसन्धान की सुविधाएँ अधिक बढ़ गयीं। पटना विश्वविद्यालय का एक अधिनियम के द्वारा सन् 1932 में सुधार हुआ। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद अब पूर्णतः शिक्षण कार्य करने लगा। सन् 1922 में इसके सुधार का अधिनियम पास कर दिया गया था। कलकत्ता तथा पंजाब विश्वविद्यालयों में भी इसी प्रकार विधानों में संशोधन करके उपयुक्त परिवर्तन तथा सुधार किये गये।

इस काल में कालेजों की भी अभिवृद्धि हुई। विश्वविद्यालयों के विभागों तथा सम्बन्धित कालेजों की संख्या सन् 1922 में 207 से बढ़कर सन् 1937 में 446 हो गयी तथा विद्यार्थियों की संख्या 66,258 से 1,26,228 हो गयी। अब तक विश्व-विद्यालय विद्या के केन्द्र नहीं थे। उनका अस्तित्व केवल परीक्षा लेने तथा डिग्री प्रदान करने के लिए था, किन्तु अब उनका प्रधान कार्य शिक्षण तथा अनुसन्धान हो गया। विद्यार्थियों को अनुसन्धान की सुविधाओं के लिए बृहत् पुस्तकालयों की व्यवस्था की गयी तथा छात्रवृत्ति देकर उन्हें प्रोत्साहित किया गया। अधिकतर विश्वविद्यालय अपने ही विशाल तथा भव्य भवनों में स्थित हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में पारस्परिक अच्छे सम्बन्धों में वृद्धि हुई तथा वहाँ विद्यार्थियों के व्यायाम, खेल-कूद व क्रीड़ाओं तथा नियमित डाक्टरी परीक्षा की व्यवस्था भी हुई। उनके सामाजिक जीवन में सह-योग तथा आत्म-निर्भरता की भावना लाने के उद्देश्य से विद्यार्थी यूनियनों तथा अन्य परिषदों की स्थापना हुई। सन् 1920 में 'भारतीय प्रादेशिक सेना अधिनियम' पास होने पर विश्वविद्यालयों में सैनिक शिक्षा का भी प्रचार जोरों से बढ़ा। इसकी व्यवस्था प्रत्येक विश्वविद्यालय तथा उससे सम्बन्धित डिग्री कालेजों में की गयी जिससे उनके चरित्र तथा स्वास्थ्य का सुधार हुआ।

इस प्रकार उच्च शिक्षा का प्रसार व विकास हुआ। किन्तु इससे कुछ हानियाँ भी हुईं, जैसे शिक्षा का स्तर बहुत कुछ गिर गया, पुस्तकीय ज्ञान अधिक बढ़ गया और व्यावसायिक शिक्षा तथा रोजगार के अभाव में शिक्षित युवक बेकार घूमने लगे। संख्या में वृद्धि के साथ-साथ शासन की श्रेष्ठता में शिथिलता आ गयी। धनाभाव के कारण विश्वविद्यालय विकास की योजनाओं को इच्छानुसार कार्यान्वित नहीं कर सके।

**उच्च शिक्षा के अन्य केन्द्र**—नियमित विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त भारत में कुछ ऐसे भी शिक्षा केन्द्र थे, जहाँ भिन्न-भिन्न विषयों की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था।

ये संस्थाएँ न तो विश्वविद्यालय ही कहलाती थीं और न किसी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थीं। इनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय थीं :

(1) भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (1917); (2) बोस रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता (1917); (3) हाईकोर्ट बटलर टेकनोलॉजीकल इन्स्टीट्यूट, कानपुर (1921); (4) इम्पीरियल एग्रीकल्चर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, न्यू पूसा, नई दिल्ली; (5) इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्स, बंगलौर (1911); (6) इण्डियन स्कूल ऑव माइन्स, धनबाद (1926); (7) इण्डियन वीमेन्स यूनिवर्सिटी, बम्बई (1916); (8) विश्व भारती (1922); तथा (9) सीरामपुर कॉलेज (1918)।

ये संस्थाएँ स्वतन्त्र रूप से देश में उच्च शिक्षा का प्रचार कर रही थीं। अधिकांश में, जैसा कि इनके नाम से प्रतीत होता है, ये विज्ञान, व्यवसाय तथा उद्योगों की विशेष शिक्षा के लिए स्थापित की गयी थीं। इनमें कुछ शुद्ध सरकारी तथा कुछ गैर-सरकारी संस्थाएँ थीं।

इनके अतिरिक्त कुछ राष्ट्रीय विश्वविद्यालय भी देश में स्थापित हो गये थे। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, भारत में यह युग राजनीतिक क्रान्ति का युग था। जनता में राष्ट्रीयता की भावनाएँ बढ़ रही थीं। इस कारण अंग्रेजी शिक्षालयों का वहिष्कार करके राष्ट्रीय विचारों पर आधारित शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की गयीं। इनमें रवीन्द्रनाथ टैगोर की विश्व भारती, सेवाग्राम, पाण्डिचेरी आश्रम, दारुल उलूम, देवबन्द तथा दिल्ली का जामिया इस्लामिया अधिक प्रसिद्ध हैं।

विश्व भारती की स्थापना 6 मई, 1922 को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कलकत्ता से लगभग 100 मील की दूरी पर बोलपुर नामक स्थान पर की। उन्होंने इस स्थान का नाम 'शान्ति निकेतन' रखा। सन् 1948 तक विश्व भारती बिना सरकारी सहायता के ही चलती रही। इसकी स्थापना में कविवर का उद्देश्य यह था कि प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा-पद्धतियों, संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का समन्वय किया जाय। विश्व भारती में विद्यार्थियों के लिए खुले मैदान में अथवा पेड़ों के नीचे कक्षाओं की व्यवस्था की गयी। वास्तव में आधुनिक काल में संसार में यह एक नूतन विधि का परीक्षण है। इस संस्था में सह-शिक्षा के आधार पर लड़के और लड़कियाँ कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञानों का अध्ययन करते हैं। संस्था के प्रमुख विभाग हैं—(1) विद्या भवन, जहाँ संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिन्दी, अरबी, फारसी, उर्दू तथा बंगला इत्यादि भाषाओं तथा भारतीय दर्शन, बौद्ध धर्म तथा वेदान्त इत्यादि में उच्च अनुसन्धान किया जाता है; (2) चीनी भवन, जहाँ भारतीय तथा चीनी विद्यार्थियों को एक-दूसरे की सभ्यता व संस्कृति के विषय में अध्ययन करने की व्यवस्था है; (3) शिक्षा भवन; (4) कला भवन; (5) संगीत भवन; (6) संगीत निकेतन; तथा (7) शिल्प भवन।

भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त सरकार का ध्यान इस महान् शिक्षा संस्था की ओर गया और उसने इसे विश्वविद्यालय की कक्षा दी। सन् 1951 से विश्व भारती केन्द्रीय सरकार के अधीन है और विश्व में एक अनुपम प्रकार की संस्था है,

जहाँ भारत के अतिरिक्त एशिया तथा यूरोप के अन्य देशों के विद्यार्थी भी विभिन्न विषयों का उच्च अध्ययन करने आते हैं।

जामिया मिलिया के विषय में भी कुछ शब्द कहना असंगत न होगा। इसका अर्थ है 'राष्ट्रीय मुसलमान विश्वविद्यालय'। इसकी स्थापना मौ० मुहम्मद अली ने सन् 1920 में राष्ट्रीय मुसलमानों की शिक्षा के लिए अलीगढ़ में की थी, किन्तु सन् 1925 में इसे हटाकर दिल्ली में स्थापित कर दिया गया। इसमें कला तथा विज्ञान की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है। माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध भी अच्छा है। प्राथमिक स्कूलों में क्राफ्ट के द्वारा बेसिक शिक्षा दी जाती है। इसके लिए बेसिक ट्रेनिंग विभाग भी है। छात्रावासों का प्रबन्ध सराहनीय है। भारत के स्वतन्त्र होने पर राष्ट्रीय सरकार ने अब इसे अपने अन्तर्गत ले लिया है और इसके विकास पर पर्याप्त धन व्यय किया जा रहा है। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए यहाँ आदर्श व्यवस्था है। इधर तो इस संस्था ने बड़ी प्रगति की है।

### (2) माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस युग में प्रगति बड़ी सन्तोषजनक रही। शिक्षालयों के साथ ही साथ विद्यार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हुई। सरकारी सहायता तथा व्यय के कम होते हुए भी व्यक्तिगत प्रयासों में पर्याप्त विकास हुआ जिसका कारण राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार था। सरकारी स्वीकृत माध्यमिक शिक्षालयों की संख्या ब्रिटिश भारत में सन् 1921-22 में 7,530 से बढ़कर सन् 1936-37 में 13,356 हो गयी तथा उनमें विद्यार्थियों की संख्या 11,06,803 से 22,87,872 हो गयी। नगरों के अतिरिक्त कस्बों तथा बड़े गाँवों में भी हाई स्कूल खुलने लगे। कुछ मिडिल स्कूलों को हाई स्कूल तक की स्वीकृति मिल गयी। बालिकाओं में भी माध्यमिक शिक्षा का बहुत प्रसार हुआ तथा पिछड़ी हुई जातियाँ भी अपने बच्चों को माध्यमिक शिक्षा का लाभ प्रदान कराने लगीं। माध्यमिक शिक्षालयों के लिए विभिन्न प्रान्तों में व्यक्तिगत दानदाताओं तथा धनिकों ने उदारतापूर्वक दान दिये। कहीं-कहीं प्रतिस्पर्द्धा की भावनाओं से प्रतिद्वन्द्वी स्कूल भी खुले। किन्तु एक बात अत्यन्त खेद की यह है कि जातीय स्कूलों को इस युग में बहुत प्रोत्साहन मिला। भिन्न-भिन्न जातियाँ सामूहिक रूप में चन्दा करके जातीय स्कूल खोलने लगीं। इस प्रकार भारत, जो पहले से ही जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता में जकड़ा हुआ था, अपनी भावी पीढ़ी को जातीय भेदभाव का पाठ पढ़ाने लगा। दुख की बात तो यह है कि यह भावना आज भी झूठी राष्ट्रीय भावना के आवरण में उसी प्रकार पनप रही है। दिन-प्रतिदिन जातीय तथा उपजातीय स्कूलों को सरकार की ओर से मान्यता मिलती जा रही है और इस प्रकार भारत की एकता को शत-शत खण्डों में विदीर्ण किया जा रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये कौमी शिक्षा-संस्थाएँ आज षड्यन्त्रों तथा जातीय पक्षपात के अड्डे बनी हुई हैं और लाभ के स्थान पर अत्यन्त हानिकर रही हैं। यह विकृत राष्ट्रीयता का उदाहरण है।

"इस प्रकार की संस्थाओं की संख्या में तीव्र वृद्धि होने से न केवल अनावश्यक व्यय का दोहरापन व फिजूलखर्ची ही बढ़ी है और कभी-कभी अनुशासन भी बिगड़ा है, अपितु दुर्भाग्य से जातीय कलह भी बढ़े हैं जो भारत की प्रगति में बाधा पहुँचा रहे हैं।......यह बात कभी भी लाभदायक नहीं हो सकती कि विद्यार्थी अपनी प्रभावशाली युवावस्था को इन जातीय संस्थाओं के संकीर्ण वायुमण्डल में रहकर नष्ट करते रहें और अन्य जातियों के विद्यार्थियों के सम्पर्क में आने से वंचित रहें।"[7]

इस काल में गाँवों में माध्यमिक शिक्षा का प्रसार होने से ग्रामीणों को बहुत सुविधाएँ हो गयीं। पहले उन्हें अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करके बच्चों को नगरों में शिक्षा के लिए भेजना पड़ता था, किन्तु अब अंशतः शिक्षा के गाँवों में ही उपलब्ध होने से माध्यमिक शिक्षालयों में ग्रामीण विद्यार्थियों का अनुपात बढ़ने लगा है।

जैसा कि कहा जा चुका है, माध्यमिक शिक्षा में यह वृद्धि वैयक्तिक प्रयासों से हुई। जबकि देश में लड़कों के लिए सरकारी स्कूल सन् 1921-22 में केवल 379 थे, सन् 1936-37 में 436 हो गये और लड़कियों के लिए 115 से 207 हो गये अर्थात् 149 की ही वृद्धि हुई, तो वैयक्तिक स्कूलों में 1,836 की अभिवृद्धि हुई जिनमें 315 स्कूल सरकार से सहायता प्राप्त नहीं थे। माध्यमिक स्कूलों की यह वृद्धि वास्तव में दीर्घकाल से चली आ रही थी।

सन् 1930 के बाद यद्यपि भारत आर्थिक संकट में फँसा था, माध्यमिक शिक्षा में उसने सन्तोषजनक प्रगति की। सन् 1937 में जा कर वैयक्तिक प्रयास इस प्रकार बढ़ गया कि माध्यमिक शिक्षा की समस्या वस्तुतः व्यक्तिगत माध्यमिक शिक्षालयों की ही समस्या बन गयी। माध्यमिक स्कूलों की प्रगति निम्न तालिका से ज्ञात हो सकती है :

| वर्ष | माध्यमिक स्कूलों की संख्या | माध्यमिक स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या |
|---|---|---|
| 1881-82 | 3,916 | 2,14,027 |
| 1901-02 | 5,123 | 5,90,119 |
| 1921-22 | 7,530 | 11,06,803 |
| 1936-37 | 13,056 | 22,87,872 |

शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से भी यह युग बहुत अच्छा रहा। प्रायः सभी प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी अथवा अन्य प्रान्तीय भाषाएँ कर दिया गया। व्यवहार में कुछ कठिनाई अवश्य उपस्थित हुई। उसका कारण था कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने में कुछ लोगों ने समझा कि माध्यमिक शिक्षा तो विश्वविद्यालय शिक्षा का ही अंग है, न कि एक स्वतन्त्र इकाई, अतः माध्यमिक स्कूलों

7 *Quinquennial Review of the Progress of Education in India* (1927-32), Vol. I, p.106.

में भी अंग्रेजी पढ़ने से विद्यार्थियों को आगे चलकर सुविधा रहती है। किन्तु यह तर्क बड़ा बेहूदा था। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के प्रति युवकों और उनके माँ-बाप की रुचि तथा उच्च पदों के लिए परीक्षाओं का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण अंग्रेजी को पक्का (strong) करने की लालसा ने भी अंग्रेजी माध्यम का ही पक्ष लिया। इनके अतिरिक्त लिपि, वैज्ञानिक-पारिभाषिक शब्दों का अभाव तथा प्रारम्भ में अच्छी पुस्तकों का अभाव इत्यादि भी कुछ ऐसे तर्क थे जो मातृभाषा को माध्यम बनाने में बाधक होते थे। किन्तु सन् 1937 तक पहुँचते-पहुँचते प्रायः सभी अभाव दूर हो गये और मातृभाषा ही सिद्धान्ततः व व्यवहारतः प्रस्तुत होने लगी।

शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा उनकी नौकरी की अवस्था और वेतन में भी सुधार हुआ। माध्यमिक शिक्षालयों में दीक्षित अध्यापकों की संख्या बहुत कम थी, अतः प्रायः अदीक्षित (untrained) अध्यापकों को ही रखना पड़ता था। वस्तुतः ट्रेनिंग कालेजों की संख्या देश में इतनी कम थी कि उनसे आवश्यक माँग की पूर्ति नहीं हो सकती थी। यही कारण था कि बंगाल, आसाम, सिन्ध तथा बम्बई में दीक्षित अध्यापकों की संख्या क्रमशः 20·7%, 39%, 16·5% तथा 22·8% थी। यू०पी०, मद्रास, दिल्ली, पंजाब, सीमा प्रान्त, मध्य प्रान्त तथा बिहार में यह संख्या क्रमशः 67·2, 84·7, 82·8, 89·7, 80·3, 70·2 तथा 54·4 प्रतिशत थी। शेष अध्यापक अदीक्षित थे। इससे शिक्षा की श्रेष्ठता को बहुत बड़ा आघात पहुँचा। व्यक्तिगत माध्यमिक शिक्षालयों में शिक्षकों की अवस्था भी बड़ी दयनीय थी। प्रबन्ध समितियों की तुच्छ तथा निम्न कोटि की राजनीतिक चालों का बहुधा शिक्षकों को आखेट बनना पड़ता था। उनकी नौकरी स्थायी नहीं थी, वेतन-दर भी बहुत निम्न थी एवं वृद्धावस्था के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। बहुधा व्यक्तिगत स्कूलों की आर्थिक अवस्था भी जर्जरित रहती थी, जिससे वह अच्छे व योग्य शिक्षकों के रखने में असमर्थ रहते थे। इससे शिक्षा का स्तर भी गिर गया। इस समस्या ने शीघ्र ही भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सरकारों का ध्यान आकर्षित किया और वहाँ इस ओर रचनात्मक कदम उठाये गये। कहने की आवश्यकता नहीं कि शिक्षकों की बहुत-सी समस्याएँ जो सन् 1937 में थीं, आज भी अक्षुण्ण बनी हुई हैं। इतना ही नहीं बहुत-से मामलों में तो स्थिति और भी अधिक गम्भीर हो गयी है। राष्ट्र-निर्माता तथा शिक्षा का आधार, शिक्षक आज भी केवल एक साधारण श्रमिक की भाँति अन्यमनस्क होकर अपने महान् कर्तव्य को शुष्क भार की भाँति ढोता रहता है।

औद्योगिक शिक्षा की दृष्टि से भी कुछ प्रगति हुई, यद्यपि वह अपर्याप्त थी। माध्यमिक शिक्षा भी आवश्यकता से अधिक पुस्तकीय हो गयी थी, अतः युवकों में बेकारी बढ़ रही थी। शिक्षा के पाठ्यक्रम में कुछ औद्योगिक तथा व्यावसायिक विषयों का रखना अनिवार्य हो गया। परिणामतः बम्बई, मद्रास, बंगाल, यू० पी०, पंजाब, तथा मध्य प्रान्त इत्यादि सभी प्रान्तों में कताई-बुनाई, आर्ट और क्राफ्ट, पुस्तक-कला, कृषि, वाणिज्य, खिलौने बनाना, इत्यादि विषय वैकल्पिक पाठ्यक्रम में सम्मिलित

कर दिये गये। उत्तर प्रदेश में लकड़ी और कागज तथा दफ्ती का काम निम्न कक्षाओं में अनिवार्य तथा 9वीं और 10वीं कक्षाओं में वैकल्पिक कर दिया गया। कृषि का सैद्धान्तिक अध्ययन भी यहाँ हाई स्कूल कक्षाओं में रख दिया गया। वुड-ऐबट रिपोर्ट की सिफारिशों पर भी व्यावसायिक शिक्षा का पहले से अधिक प्रचार प्रारम्भ कर दिया गया।

(3) **प्राथमिक शिक्षा**

सन् 1921 के उपरान्त प्रथम दशक में प्राथमिक शिक्षा का सन्तोषजनक विकास हुआ, किन्तु अन्त में जाकर उसकी प्रगति मन्द पड़ गयी। अब तक प्रारम्भिक जन-शिक्षा के विषय में सरकार की नीति की सदा आलोचना की जाती थी। सन् 1854 के घोषणापत्र से लेकर हर्टोग समिति तक सभी कमीशनों और समितियों ने जन-शिक्षा के व्यापक प्रसार तथा इसके अधिकांश में अनिवार्य बनाने की सिफारिश की थी, किन्तु अभी तक इस ओर कोई सराहनीय कदम नहीं उठाया गया था। सन् 1917-27 तक के दशक में आकर ही इस ओर रचनात्मक कदम उठाये गये और विभिन्न प्रान्तों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी कानून पास किये गये। इन कानूनों का पास होना बसु के अनुसार गोखले की पराजय का जवाब था। बम्बई नगरपालिका ने तो सन् 1918 में ही अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का कानून पास कर दिया था। माण्ट-फोर्ड सुधारों के उपरान्त इस प्रकार के कानूनों की बाढ़-सी आ गयी और सन् 1919 में बंगाल ने नागरिक क्षेत्रों के लिए यह अधिनियम पास किया। दूसरे वर्ष ही बंगाल में इस कानून में सुधार करके ग्रामीण क्षेत्रों को सम्मिलित करने की चेष्टा की गयी, किन्तु सन् 1930 में ही जाकर यह आवश्यकता पूर्ण हुई जब 'बंगाल प्राथमिक शिक्षा (ग्रामीण) कानून' पास हो गया। सन् 1919 में ही पंजाब, संयुक्त प्रान्त, बिहार व उड़ीसा ने भी यह कानून पास किये। संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में सन् 1926 में 'जिला बोर्ड प्राथमिक शिक्षा कानून' और पास हुआ। इसी प्रकार सन् 1920 में मद्रास, सन् 1923 में बम्बई तथा सन् 1925 में आसाम ने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के कानून बनाये।

इन कानूनों के बन जाने से प्राथमिक शिक्षा पूर्णत: स्थानीय बोर्डों—जिला बोर्डों तथा म्यूनिसिपल बोर्ड—के अधिकार व नियन्त्रण में चली गयी। प्रत्येक बोर्ड ने अपने क्षेत्र की अवस्थाओं तथा आवश्यकताओं का अध्ययन किया और उन्हीं के अनुसार प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए उपनियम बनाये। प्रत्येक प्रान्त में अनिवार्यता की सीमा निर्धारित करने का दायित्व भी स्थानीय बोर्डों पर छोड़ दिया गया। उन्हें शिक्षा-कर लगाने के अधिकार दे दिये गये, यद्यपि इस अधिकार का पूर्ण लाभ नहीं उठाया जा सका। प्रान्तीय सरकारों ने भी शिक्षा-व्यय पर अनुदान देना स्वीकार कर लिया। पंजाब तथा बिहार-उड़ीसा में अनिवार्यता केवल लड़कों के लिए थी किन्तु अन्य सभी प्रान्तों में लड़के और लड़कियों, दोनों के लिए कर दी गयी।

साधारणतया जहाँ चार वर्ष का कोर्स था, अनिवार्यता की उम्र 6 से 10 वर्ष

तक थी और जहाँ पाँच वर्ष का कोर्स था वहाँ 6 से 11 वर्ष तक। पंजाब में अनिवार्यता की आयु 7 से 11 वर्ष तक थी। बालकों को नौकरी में रखने का निषेध कर दिया गया। उनके जो अभिभावक अनिवार्य शिक्षा कानून की अवहेलना करें उनके लिए दण्ड की भी व्यवस्था की गयी। अधिकांश में यह शिक्षा निःशुल्क अथवा नाममात्र शुल्क पर ही रखी गयी।

इस प्रकार प्रायः सभी प्रान्तों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानूनों का विषय एकसा ही रहा जिनका प्रमुख आशय यही था कि प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया जाय जिससे निरक्षरता का विनाश हो और यह उत्तरदायित्व स्थानीय बोर्डों को पूर्णतः दे दिया जाय।

इन कानूनों की प्रतिक्रिया बहुत ही सन्तोषजनक हुई। नये शिक्षा मन्त्रियों ने अपनी योजनाएँ बनाकर विशाल क्षेत्र पर उन्हें लागू किया। प्रान्तीय सरकारों ने भी मन्त्रियों की माँगों को पूरा करके उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान की। परिणामतः सन् 1921-22 की प्राथमिक स्कूलों की संख्या 1,55,017 से बढ़कर सन् 1926-27 में 1,84,829 हो गयी और व्यय 4,94,69,080 रुपये से बढ़कर 6,75,14,802 रुपये हो गया। इसी प्रकार बालकों की संख्या में वृद्धि हुई। किन्तु दूसरे पंचसाला में आर्थिक संकट तथा हर्टोग समिति की रिपोर्ट के कारण यह प्रगति बहुत मन्द पड़ गयी। हर्टोग ने शिक्षा के विकास का विरोध किया था और उसकी श्रेष्ठता बढ़ाने तथा उसे ठोस करने पर अधिक बल दिया था। शिक्षा अधिकारियों ने हर्टोग की सिफारिशों का अक्षरशः पालन किया। यही कारण है कि प्राथमिक शिक्षा आज तक देश में पूर्णतः अनिवार्य नहीं हो सकी है। जितने प्रान्तीय कानून अनिवार्यता के लिए बने वे भिन्न-भिन्न कारणों से व्यर्थ ही रहे और सच्चे अर्थ में उनका उपयोग कहीं भी नहीं हो सका। वास्तव में यह आन्दोलन ही असफल रहा। "इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि गत 160 वर्षों में प्राथमिक शिक्षा के विकास की सभी योजनाओं और वाद-विवादों की अपेक्षाकृत भी यह समस्या अभी तक दृढ़ता तथा पूर्णता से हल नहीं की जा सकी है।"

हर्टोग समिति की रिपोर्ट का प्रभाव बड़ा घातक हुआ। शिक्षा अधिकारियों को इससे अनुचित प्रोत्साहन मिल गया और उन्होंने प्रत्येक प्रान्त में बहुत-से स्कूलों को यह कहकर बन्द कर दिया कि उनकी अवस्था बुरी है, धन अथवा भवन नहीं हैं, कार्यक्षमता गिर गयी है और अपव्यय व अवरोध अधिक हो रहा है इत्यादि, यद्यपि गैर-सरकारी मत इसके बिलकुल प्रतिकूल था। उसके अनुसार शिक्षा का विकास उसकी श्रेष्ठता से भी अधिक आवश्यक था, क्योंकि उस समय देश अज्ञान के अन्धकार में डूबा हुआ था और साक्षरता सन् 1881 में 3·5 प्रतिशत से सन् 1931 में केवल 8·0 प्रतिशत हो सकी थी अर्थात् देश की 92 प्रतिशत जनता अन्धकार में टटोल रही थी। जनता का विचार था कि शिक्षा-अमृत की तो अजस्र वर्षा होनी चाहिए, न कि इसे बूंद-बूंद करके टपकाया जाये।

| | 1921-22 | 1923-27 | 1931-32 | 1936-37 |
|---|---|---|---|---|
| (1) स्वीकृत प्राथमिक स्कूल (संख्या) | 155017 | 184829 | 196708 | 192244 |
| (2) विद्यार्थी (संख्या) | 6109752 | 8017923 | 9162450 | 10224228 |
| (3) प्राथमिक शिक्षा पर प्रत्यक्ष व्यय का योग (रुपयों में) | 49469080 | 67514802 | 78795236 | 81338015 |

इस मतभेद तथा विवाद की अपेक्षाकृत भी सन् 1927–37 के दशक में प्रगति बहुत ही असन्तोषजनक रही। उपर्युक्त तालिका में हम देखते हैं कि सन् 1927 और सन् 1937 के बीच में शिक्षालयों तथा शिक्षार्थियों की संख्या में बहुत हलकी प्रगति है, यहाँ तक कि सन् 1931-32 की अपेक्षा सन् 1936-37 में शिक्षालयों की संख्या 4,464 घट गयी है।

इस अप्रगति का कारण जहाँ भारत का आर्थिक संकट तथा हर्टोग समिति की रिपोर्ट थी वहाँ अन्य कारण भी थे। वास्तव में स्थानीय बोर्ड शिक्षा-प्रसार के विषय में कभी भी गम्भीर न हो सके। ये वे स्थान थे जहाँ पारस्परिक स्पर्द्धा, दलबन्दी तथा निम्न कोटि की राजनीति का बोलबाला था। आगामी चुनावों में पराजित हो जाने के भय से स्थानीय बोर्डों के सदस्यों ने कभी भी शिक्षा-कर नहीं लगाये जिससे बोर्डों की आर्थिक अवस्था सदा दयनीय रही। बहुधा सदस्य शिक्षा के मर्म को भी समझने में असमर्थ रहते थे। निरीक्षण का अभाव एक ऐसा शक्तिशाली कारण था जिससे प्राथमिक शिक्षा को बड़ी क्षति पहुँचती रही है। वास्तव में निरीक्षक लोग जो गाँवों में प्राथमिक शिक्षालयों का निरीक्षण करने जाते, प्रायः अपने साथ एक अफसरी तथा उच्चता का दम्भ लेकर जाते और दुर्बल शिक्षकों के मित्र, दार्शनिक तथा पथ-प्रदर्शक होने के स्थान पर बहुधा उनसे बड़ी शुष्कता तथा अभद्रता से व्यवहार करते और दो-चार दिन तक गाँवों में निरुद्देश्य वायु-विहार के उपरान्त नगरों में लौट आते थे। दो-चार दिन तक ग्रामीण अध्यापकों में एक प्रकार का आतंक छा जाता था। नगरों में भी इसी प्रकार निरीक्षण का अभाव रहा। उपस्थिति अफसरों (attendance officers) के प्रमाद के कारण भी बहुधा नगरों में शिक्षा सच्चे अर्थ में अनिवार्य न हो सकी।

इन कारणों के अतिरिक्त प्राथमिक अध्यापकों की दुर्दशा—अल्प वेतन, अल्प शिक्षा, अल्प प्रशिक्षण—भी एक कारण था जिससे प्राथमिक शिक्षा को क्षति पहुँच रही थी। पाठ्यक्रम व्यावहारिक जीवन से असम्बद्ध होने के कारण छात्रों में कभी भी

प्रेरणा का संचार नहीं कर पाया। उनके कोमल मस्तिष्क पुस्तकों की दुरूहता में जकड़ दिये जाते थे। इस युग के देशव्यापी आर्थिक संकट ने जनता को भी निर्धन कर दिया। अतः निर्धन माँ-बाप जीवित रहने के लिए अपने बच्चों को पाठशाला भेजने की अपेक्षा मजदूरी या खेत में काम करने के लिए भेजना अधिक श्रेयस्कर समझते थे, जहाँ उन्हें कुछ पैसे प्रतिदिन के अनुसार मजदूरी मिल जाती थी। इस प्रवृत्ति का भी विद्यार्थियों की संख्या में कमी करने में एक प्रमुख हाथ रहा है। "जनता की अपार निर्धनता का एक परिणाम यह हुआ कि इससे अधिकांश में बाल-श्रम को प्रोत्साहन मिला। ताँबे के चन्द टुकड़े जो पशु चराने अथवा ऐसे ही कोई अन्य कार्य करने से बालक को मिलते हैं वे पारवारिक बजट में एक शुभ वृद्धि कर देते हैं। वर्तमान आर्थिक अवस्था में थोड़े ही माँ-बाप ऐसे होंगे जो इस तुच्छ आय को छोड़कर अपने बच्चों को पाठशाला में भेज सकें।"[8]

**उपसंहार**

हाँ, इतना अवश्य है कि सन् 1935 में भारत में नया शासन-विधान लागू होने से प्रान्तीय सरकारों को स्वायत्त शासन के पूर्ण अधिकार मिल गये। फलतः वास्तविक अर्थ में जनप्रिय मन्त्रियों ने सत्ता अपने हाथों में ली। शिक्षा मन्त्री को भी अब अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन सब घटनाओं का शिक्षा पर अच्छा प्रभाव पड़ा और उसकी प्रगति सर्वतोमुखी हो उठी। आगे हम इसी का वर्णन करेंगे।

## सारांश

**(क) माण्ट-फोर्ड सुधार—इन सुधारों के फलस्वरूप शिक्षा को प्रान्तीय सरकारों के अन्तर्गत एक मन्त्री के अधीन हस्तान्तरित कर दिया गया। केन्द्रीय सरकार के पास शिक्षा का केवल सीमित उत्तरदायित्व रह गया।**

**इससे शिक्षा की प्रगति तो हुई किन्तु प्रान्तों में एक प्रकार से दोहरा शासन होने से वास्तविक सुधार न हो सके। शिक्षा के विकास का उत्तरदायित्व तो प्रान्तीय शिक्षा मन्त्री पर आ गया किन्तु वित्त विभाग केन्द्र में अंग्रेज मन्त्रियों के हाथों में था। इससे विकास की योजनाएँ कार्यान्वित नहीं हो सकती थीं। दोहरे शासन के कारण कई प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होने से प्रगति में अवरोध उत्पन्न हुआ।**

**युद्ध की समाप्ति पर कुछ राजनीतिक घटनाओं के कारण देश का वातावरण क्षुब्ध हो उठा। महात्मा गांधी ने सन् 1921 में असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात कर दिया जिसके फलस्वरूप असंख्य स्कूल व कॉलेज बन्द हो गये और सहस्रों की संख्या में विद्यार्थियों ने शिक्षा संस्थाओं को छोड़ दिया। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करना कुछ समय के लिए अराष्ट्रीय समझा गया। जिन विद्यार्थियों ने पढ़ना छोड़ दिया उनके लिए राष्ट्रीय शिक्षा प्रदान करने की तीव्र आवश्यकता थी। अतः देश भर में राष्ट्रीय शिक्षा**

A. N. Basu : *Education in Modern India*, p. 102.

संस्थाएँ पुनः खुलने लगीं । देश की कुछ प्रमुख राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाएँ उसी समय से स्थापित हैं ।

आन्दोलन के फलस्वरूप विद्यार्थियों का प्रतिशत प्रत्येक स्तर पर घटा किन्तु शिक्षा-प्रचार के लिए देश में अधिक जागृति हो गयी । देशभक्त धनिकों में शिक्षा के प्रचार के लिए त्याग करने की भावना उत्पन्न हो गयी, सन् 1931 में कांग्रेस ने कराची में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए प्रस्ताव पास किया । वर्तमान शिक्षा प्रणाली के दोष लोगों के समक्ष आ गये और उसमें देश की आवश्यकताओं के अनुरूप सुधार करने की माँग बढ़ने लगी । सन् 1937 में गांधीजी ने अपनी प्रसिद्ध वर्धा योजना को जन्म दिया ।

इधर सन् 1919 के विधान से उत्पन्न हुए गतिरोध को दूर करने के लिए सन् 1927 में साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई । इस कमीशन ने हर्टोग की अध्यक्षता में एक समिति भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने के लिए नियुक्त की ।

हर्टोग समिति रिपोर्ट—समिति ने स्वीकार किया कि शिक्षा के जनप्रिय मन्त्रियों के अन्तर्गत हस्तान्तरित हो जाने से प्रत्येक स्तर पर प्रगति हुई है, किन्तु वह प्रगति अधिक सन्तोषजनक नहीं । प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त अपव्यय तथा अवरोध हैं । बच्चे प्राइमरी शिक्षा को पूर्ण किये बिना ही बीच में पढ़ना छोड़ देते हैं तथा कुछ अनुत्तीर्ण होते रहते हैं । इन अपव्यय व अवरोध से प्राथमिक शिक्षा का विकास रुक रहा है । वैसे भी सरकार ने प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना करके उच्च तथा माध्यमिक शिक्षा को बढ़ावा दिया है । साक्षरता की गति बड़ी मन्द है । शिक्षकों की दुर्दशा, उनका अपर्याप्त प्रशिक्षण, निरीक्षण का अभाव, अनुपयुक्त पाठ्यक्रम इत्यादि अन्य दोष समिति ने प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में बताये ।

इसके लिए समिति ने सुझाव दिया कि शिक्षा का विस्तार रोक दिया जाय और उसे ठोस किया जाय । पाठ्यक्रम में सुधार, पर्याप्त निरीक्षण की सुविधा, पर्याप्त स्टाफ, ग्राम-सुधार तथा शिक्षकों का प्रशिक्षण इत्यादि अन्य सुझाव समिति ने प्राथमिक शिक्षा की दशा सुधारने को दिये ।

इसी प्रकार की सिफारिशें समिति ने माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में दीं । उसने कहा कि नीचे की कक्षाओं में अधिक लड़कों को तरक्की दे देने से अपव्यय बढ़ जाता है । विश्वविद्यालय शिक्षा का स्तर ऊँचा करने के लिए समिति ने कहा कि एण्ट्रेंस परीक्षा में विद्यार्थियों के साथ कड़ाई बरती जानी चाहिए । समिति ने ऑनर्स कोर्स, अच्छे पुस्तकालय तथा ट्यूटोरियल कक्षाओं की भी सिफारिश की ।

स्त्री-शिक्षा की प्रगति में समिति को भारी असन्तोष था, विशेषतः गाँवों में । अतः उसके दोषों पर प्रकाश डालते हुए उसके निराकरण की सिफारिश की गयी । उनके लिए अनिवार्य शिक्षा का भी सुझाव दिया गया ।

इस रिपोर्ट का भारतीय शिक्षा के इतिहास में बड़ा महत्त्व है । सरकारी क्षेत्रों में तो इसका बहुत आदर हुआ किन्तु गैर-सरकारी क्षेत्रों में इसकी यह कहकर आलोचना की गयी कि स्तर उठाने के बहाने सरकार शिक्षा की प्रगति रोकना चाहती है ।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की प्रथमतः स्थापना सन् 1921 में हुई किन्तु बीच में टूट जाने पर सन् 1935 में इसकी पुनर्स्थापना हुई। उसने शिक्षा के ढाँचे में सुधार करके स्तर ऊँचा करने की सिफारिशें कीं।

वुड-ऐबट रिपोर्ट—केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने टेकनीकल शिक्षा पर बल देने की सिफारिश की थी। अतः सन् 1936 में ऐबट एवं वुड की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया। वुड ने सामान्य शिक्षा तथा ऐबट ने टेकनीकल शिक्षा पर अपनी रिपोर्ट दी। वुड ने प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के उत्थान के लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम के सुधार, मातृभाषा के माध्यम, स्त्री-शिक्षा के विकास तथा ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के विकास की सिफारिशें कीं।

ऐबट ने टेकनीकल व व्यावसायिक शिक्षा के पुनर्संगठन के लिए कहा और इसे सामान्य शिक्षा के समान ही आवश्यक बताया। प्रत्येक स्थान की स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप टेकनीकल शिक्षा के ढालने पर बल दिया। प्रत्येक प्रान्त में व्यावसायिक शिक्षा सलाहकार समितियों की स्थापना की सिफारिश की, कुटीर उद्योगों के लिए ट्रेनिंग की पर्याप्त व्यवस्था करने पर बल दिया तथा विभिन्न उद्योगों के लिए पृथक विशिष्ट स्कूल खोलने का सुझाव दिया।

(ख) शिक्षा-प्रगति (सन् 1921–37)—इस काल में विश्वविद्यालय शिक्षा का विकास सन्तोषजनक रहा। दिल्ली, नागपुर, आन्ध्र, आगरा तथा अन्नामलाई पाँच विश्वविद्यालय खुले। पूर्व-स्थित विश्वविद्यालयों का सुधार किया गया। वहाँ अनुसन्धान की सुविधाएँ उपलब्ध की गयीं। सम्बन्धित कालेजों तथा उनमें विद्यार्थियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई किन्तु स्तर गिरने लगा। उच्च शिक्षा व अनुसन्धान के अन्य केन्द्र स्थापित हुए तथा कुछ राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की भी स्थापना की गयी। इसी प्रकार माध्यमिक व प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति आशाजनक रही। गाँवों में भी बहुत-से हाई स्कूल व मिडिल स्कूल खुलने लगे। वैयक्तिक प्रयास को इस युग में विशेष प्रोत्साहन मिला। मातृभाषा दिन पर दिन शिक्षा का माध्यम बनने लगी। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए प्रत्येक प्रान्त में ट्रेनिंग कॉलेज खुलने लगे। स्त्री-शिक्षा का प्रचार इस युग की विशेषता है, जिसका मूल कारण राजनीतिक चेतना था। हर्टोग समिति की सिफारिशों के फलस्वरूप बहुत-से रद्दी स्कूल तो टूट गये परन्तु शिक्षा का स्तर उठ गया। अनिवार्यता का सिद्धान्त और अधिक जिलों में लागू कर दिया गया। सन् 1915 में स्वायत्त शासन की स्थापना होने से शिक्षा को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला।

# 16

# प्रान्तीय स्वायत्तता के दस वर्ष

## (1937–47)

सन् 1935 के शासन विधान के अनुसार भारत में स्वायत्तता की नींव पड़ी और 1937 में ग्यारह प्रान्तों में उत्तरदायी सरकारों की स्थापना हुई जिनमें सात में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बने । इन मन्त्रियों के अधिकार अपेक्षाकृत विशाल थे, अतः उन्हें अपनी इच्छानुसार राष्ट्रहितकारिणी योजनाओं को कार्यान्वित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ । इस समय तक देश के उत्थान के लिए शिक्षा का महत्त्व सर्वविदित हो चला था । देश में कुछ ऐसे नेता और शिक्षाशास्त्री भी हो गये थे जो शिक्षा-समस्याओं को भली प्रकार समझते थे और उनको हल करने के लिए ठोस रचनात्मक सुधार रख सकते थे ।

इस महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन के प्रकाश में देश में उत्थान की एक लहर आ गयी । प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा का पुनर्संगठन होने लगा । कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को अब अपनी योजनाएँ लागू करके देश की समस्याओं को हल करना था । अतएव शिक्षा-क्षेत्र में भी एक जागृति-युग का अभ्युदय हुआ । साक्षरता व प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन, अछूत तथा स्त्रियों की शिक्षा इत्यादि कार्य बड़े जोश व उत्साह के साथ प्रारम्भ हो गये । सन् 1937 में महात्मा गांधी ने वर्धा में बेसिक शिक्षा का सूत्रपात करके देश की प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग प्रस्तुत किया । अब अनिवार्य निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की भी देश में व्यवस्था होने की आशाएँ बँध गयीं ।

इस बीच सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ जाने और अंग्रेजी सरकार के भारत को बिना पूछे हुए ही युद्ध में झोंक देने की नीति के विरुद्ध कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया । फलतः देश में शिक्षा-विकास की जो बाढ़ आ गयी थी वह असमय में ही अवरुद्ध हो गयी । इसके उपरान्त देश में सन् 1942 का राजनीतिक आन्दोलन हुआ । ब्रिटिश सरकार ने इसका कठोरता से दमन किया । इस आन्दोलन के फलस्वरूप जनप्रिय नेताओं की गिरफ्तारी इत्यादि से राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ शिक्षा के आन्दोलन को भी क्षति पहुँची । भारत तथा प्रान्तीय सरकारों ने अपने सारे प्रयत्न युद्ध में लगा दिये । इससे शिक्षा जैसे विषय के लिए धन का अभाव हो जाना स्वाभाविक था । वस्तुतः इस काल में शिक्षा की प्रगति मन्द रही ।

### शिक्षा संस्थाओं की प्रगति

प्रान्तीय स्वायत्तता के अन्तर्गत शिक्षा को प्रारम्भ में तो प्रोत्साहन मिला, किन्तु युद्ध आरम्भ हो जाने के उपरान्त इसके विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। यद्यपि युद्ध-काल में शिक्षा-व्यय में वृद्धि हो गयी, तथापि शिक्षा संस्थाओं की संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई। युद्धोत्तर काल में अवश्य पुनः हम उन्नति की प्रवृत्ति पाते हैं। निम्न तालिका से तत्कालीन शिक्षा-प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है :

**शिक्षा संस्थाएँ तथा छात्र-प्रवेश (1937–1947)** (लाखों में)

| प्रबन्ध की विधि | 1937-38 | | 1944-45 | | 1946-47 | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | संस्थाएँ | छात्र | संस्थाएँ | छात्र | संस्थाएँ | छात्र |
| (मान्यता प्राप्त) | | | | | | |
| (1) राजकीय | 0·04 | 4·0 | 0·06 | 5·3 | 0·07 | 6·0 |
| (2) स्थानीय संस्थाएँ | 0·80 | 61·7 | 0·97 | 80·8 | 1·03 | 95.0 |
| (3) वैयक्तिक: | | | | | | |
| सहायता प्राप्त | 1·11 | 59·9 | 0·82 | 59·2 | 0·84 | 67·0 |
| गैर-सहायता प्राप्त | 0·14 | 7·5 | 0·10 | 0·3 | 0·10 | 9·0 |
| योग | 2·09 | 133·1 | 1·95 | 145·6 | 2·04 | 177·0 |

उपर्युक्त तालिका से प्रकट होता है कि सन् 1937-38 में मान्यता प्राप्त शिक्षा संस्थाओं की संख्या 2·09 लाख से घटकर सन् 1944-45 में 1·95 लाख रह गयी। सन् 1946-47 में हम पुनः इनमें वृद्धि की प्रवृत्ति पाते हैं, तथापि सन् 1937-38 की तुलना में संख्या कम ही है। जहाँ तक छात्र-संख्या का प्रश्न है, उपर्युक्त वर्षों में क्रमशः 133·1 लाख तथा 177 लाख थी। यह वृद्धि भी अत्यन्त मन्द रही।

विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में प्रान्तीय स्वायत्तता के 10 वर्षों में, प्राथमिक शिक्षा संस्थाओं को छोड़कर, हम थोड़ी वृद्धि पाते हैं, जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट है :

| शिक्षा संस्था का प्रकार | 1937-38 | 1944-45 | 1946-47 |
|---|---|---|---|
| (1) विश्वविद्यालय | 15 | 16 | 17 |
| (2) कॉलेज (आर्ट्स, साइंस) | 174 | 244 | 297 |
| (3) इण्टर कॉलेज | 105 | 164 | 199 |
| (4) हाई स्कूल | 3,416 | 4,513 | 5,297 |
| (5) मिडिल स्कूल | 9,889 | 11,805 | 12,843 |
| (6) प्राथमिक स्कूल | 1,89,601 | 1,67,881 | 1,72,661 |
| (7) इंजी० तथा टैक० कॉलेज | 6 | 12 | 16 |
| (8) ट्रेनिंग कॉलेज | 23 | 35 | 42 |
| (9) अन्य व्यावसायिक कॉलेज | 43 | 63 | 82 |
| (10) इंजी० तथा टैक० स्कूल | 558 | 633 | 665 |
| (11) ट्रेनिंग स्कूल | 537 | 571 | 650 |
| (12) अन्य विशिष्ट स्कूल | 4,847 | 9,302 | 11,104 |
| योग | 2,09,214 | 1,95,239 | 2,03,873 |

शिक्षा संस्थाओं की पूर्ण संख्याओं के अवलोकन से प्रतीत होता है कि इस अवधि में यह संख्या कम हो गयी। वस्तुतः आर्थिक संकट के कारण बहुत-सी शिक्षा संस्थाएँ बन्द हो गयी थीं। प्राथमिक स्कूलों की संख्या में वास्तविक रूप से कमी हो गयी। अन्य प्रकार की संस्थाओं में नाममात्र की वृद्धि दिखायी देती है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इंगलैण्ड की सरकार जिसने अपने देश में युद्ध-काल में ही महत्त्वपूर्ण शिक्षा-सुधार किये, भारतीय शिक्षा के विषय में इस काल में इतनी उदासीन रही। प्रान्तीय स्वायत्तता काल एक प्रकार से भारतीय शिक्षा के इतिहास में शिक्षा के अवरोधन का काल ही नहीं वरन् उसके पतन का काल माना जा सकता है। शिक्षा संस्थाओं को इस अवधि में येनकेन-प्रकारेण जीवित मात्र रखा गया। युद्ध के उपरान्त ही सरकार शिक्षा-विकास की ओर ध्यान दे सकी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व के कुछ वर्ष भारत में राजनीतिक उथल-पुथल तथा संघर्ष के वर्ष थे। सन् 1946 में जो अन्तरिम सरकार बनी, वह शिक्षा-विकास के लिए कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं कर सकी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त ही इस दिशा में सक्रिय कदम उठाये जा सके।

**शिक्षा पर व्यय**

सार्जेण्ट योजना तथा अन्य राजकीय प्रयत्नों से यह तो प्रकट होता है कि युद्धोत्तर काल में सरकार शिक्षा-विकास के सम्बन्ध में जागरूक हो चुकी थी; तथापि इस अवधि में शिक्षा का प्रसार नहीं हो सका। हाँ, राजकीय व्यय में इस दशक में दुगुनी से भी अधिक वृद्धि हो गयी, जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट है :

शिक्षा पर व्यय की प्रगति (1937–47) (करोड़ रुपयों में)

| व्यय का स्रोत | 1937-38 | 1944-45 | 1946-47 |
|---|---|---|---|
| (1) राजकीय कोष | 11·5 | 17·2 | 26·0 |
| (2) जिला बोर्ड कोष | 2·5 | 3·3 | 5·2 |
| (3) नगरपालिका कोष | 1·7 | 2·3 | 3·2 |
| (4) शुल्क | 7·1 | 10·9 | 15·2 |
| (5) दान इत्यादि | 4·2 | 5·3 | 8·1 |
| योग | 27·0 | 39·0 | 57·7 |
| वृद्धि 1937=100 सूचकांक | 100·0 | 144·4 | 211·1 |

यहाँ हम देखते हैं कि कुल व्यय सन् 1937-38 में 27 करोड़ रुपये की तुलना में 1944-45 में 39 करोड़ तथा 1946-47 में 57·7 करोड़ रुपये हो गया था। इस प्रकार सन् 1937-38 की तुलना में 1944-45 तथा 1946-47 में क्रमशः 44·4% तथा 111·1% की वृद्धि हुई। यह स्पष्ट ही है कि युद्ध-काल में व्यय में वृद्धि कम हुई, किन्तु सन् 1945 में युद्ध की समाप्ति पर शिक्षा-व्यय में भारी वृद्धि हो गयी। इस वृद्धि के दो प्रमुख स्रोत रहे—राजकीय कोष तथा शिक्षा-शुल्क से होने वाली आय। स्थानीय संस्थाओं ने इस अवधि में बहुत कम व्यय किया, जैसा कि उपर्युक्त आँकड़ों से प्रकट होता है।

विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाओं पर जो व्यय किया गया उसका अधिकांश भाग प्राथमिक शिक्षा पर व्यय हुआ। यह उचित ही था। सन् 1937-38 में सभी प्रकार की संस्थाओं पर 22·23 करोड़ रुपये प्रत्यक्ष रूप से तथा 4·77 करोड़ रुपये परोक्ष रूप से व्यय हुआ था। यही व्यय सन् 1946-47 में बढ़कर क्रमश: 47·63 करोड़ रुपये तथा 10·07 करोड़ रुपये हो गया था। सभी प्रकार की शिक्षा संस्थाओं पर आलोच्य दशक में होने वाले व्यय की स्थिति निम्न तालिका में दिखायी गयी है :

विभिन्न शिक्षाओं पर होने वाला व्यय (1937–47) (करोड़ रुपयों में)

| संस्था का प्रकार | 1937-38 | 1946-47 |
|---|---|---|
| **(अ) प्रत्यक्ष व्यय** | | |
| (1) विश्वविद्यालय | 1·09 | 2·30 |
| (2) इण्टरमीडिएट बोर्ड | 0·04 | ·10 |
| (3) कॉलेज (आर्ट्स तथा साइंस) | 1·64 | 3·53 |
| (4) इण्टर कॉलेज | 0·41 | ·86 |
| (5) हाई स्कूल | 5·63 | 12·22 |
| (6) मिडिल स्कूल | 2·58 | 4·80 |
| (7) प्राथमिक स्कूल | 8·33 | 18·49 |
| (8) इंजीनियरी कॉलेज | 0·15 | ·35 |
| (9) ट्रेनिंग कॉलेज | 0·10 | ·22 |
| (10) अन्य व्यावसायिक कॉलेज | 0·53 | 1·30 |
| (11) इंजीनियरी स्कूल | 0·52 | 1·10 |
| (12) ट्रेनिंग स्कूल | 0·46 | ·91 |
| (13) अन्य | 0·75 | 1·45 |
| योग | 22·23 | 47·63 |
| **(ब) परोक्ष व्यय** | 4·77 | 10·07 |
| कुल योग | 27·00 | 57·70 |

उपर्युक्त आँकड़ों से प्रकट होता है कि इस काल में उच्च शिक्षा की अपेक्षा प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के ऊपर व्यय में अधिक वृद्धि हुई। जनसाधारण के हितों की दृष्टि से यह उचित ही था। किन्तु इंजीनियरी एवं अन्य व्यावसायिक संस्थाओं पर व्यय में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई। इसका अभिप्राय यह है कि अभी तक शिक्षा के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा था और वह अधिकांश में पुस्तकीय ढंग की थी। इंजीनियरी, तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की अवहेलना पूर्ववत् जारी रही। शिक्षा के आकार की दृष्टि से विभिन्न स्तरों पर उसके विकास की समीक्षा से तत्कालीन शिक्षा-प्रगति का अनुमान भली-भाँति लग सकेगा। आगे के पृष्ठों में इसी प्रगति की संक्षिप्त समीक्षा की गयी है।

**शिक्षा-प्रगति**

प्रान्तीय स्वायत्तता के काल में देश में सभी स्तरों पर शिक्षा में उतार-चढ़ाव

होते रहे। प्रारम्भ में सन् 1940 से 1945 तक तो शिक्षा का पतन ही हुआ। उस समय सरकार का सम्पूर्ण ध्यान युद्ध-प्रयत्नों में लगा हुआ था। प्रान्तीय स्वायत्तता के अन्तर्गत जो नये लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल बने थे, वे कुछ समय उपरान्त भंग कर दिये गये। इससे शिक्षा-प्रयत्नों को भारी आघात लगा। किन्तु सन् 1945 के उपरान्त सरकार का ध्यान पुन: शिक्षा-विकास की ओर गया। फलत: सभी स्तरों पर इसके उपरान्त प्रगति होने लगी।

(1) **प्राथमिक शिक्षा**—इस काल में प्राथमिक शिक्षा संस्थाओं की संख्या गिर गयी। हर्टोग समिति की रिपोर्ट के उपरान्त सरकार प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में पुन-र्संगठन की नीति का पालन कर रही थी। फलत: बहुत-से कमजोर स्कूलों को बन्द कर दिया गया था। हाँ इतना अवश्य है कि लोगों में शिक्षा प्राप्त करने की जिज्ञासा बढ़ती जा रही थी। अत: स्कूलों की संख्या कम होने की अपेक्षाकृत भी हम पाते हैं कि छात्रों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उदाहरण के लिए, सन् 1937-38 में प्राथमिक स्कूलों की संख्या 1·89 लाख से घटकर सन् 1944-45 में 1·67 लाख रह गयी थी, किन्तु इसी अवधि में बालकों की संख्या 1·05 करोड़ से बढ़कर 1·14 करोड़ हो गयी थी। सन् 1946-47 में स्कूलों तथा छात्र दोनों की संख्या में वृद्धि हो गयी, जो क्रमश: 1·72 लाख तथा 1·30 करोड़ हो गये। प्राथमिक स्कूलों में विद्यार्थियों की औसत संख्या में शताब्दी के आरम्भ से ही परिवर्तन होने लगा था। सन् 1901 में ब्रिटिश भारत में लड़कों की प्राथमिक पाठशालाओं में औसत छात्र-संख्या 33 थी, जो सन् 1936-37 में 55 तथा 1946-47 में 76 हो गयी।

प्राथमिक शिक्षा पर होने वाले व्यय के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि इसमें वृद्धि हो रही थी। सन् 1901 में लड़कों की प्राथमिक शिक्षा पर कुल व्यय 1·10 करोड़ रुपये था, जो बढ़कर 1921-22 में 4·33 करोड़ रुपये, 1936-37 में 6·98 करोड़ रुपये और अन्तत: 1946-47 में 15·48 करोड़ रुपये हो गया था। लड़कों के प्राथमिक स्कूलों पर औसत व्यय प्रति स्कूल 1936-37 में 436 रुपये से बढ़कर 1946-47 में 1024 रुपये हो गया था। तथापि विभिन्न प्रान्तों में क्षेत्रीय विशेषताएँ थीं। उदाहरण के लिए, सन् 1946-47 में प्रति स्कूल औसत व्यय जबकि आसाम में 344 रुपये और बिहार में 419 रुपये था तो बंगलौर में 4,017 रुपये और केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत 5,339 रुपये था। बम्बई तथा संयुक्त प्रान्त में भी यह औसत व्यय क्रमश: 2,116 रुपये तथा 2,720 रुपये था।

क्षेत्रीय विभिन्नताओं के अतिरिक्त हम यह भी पाते हैं कि जो स्कूल सीधे सरकार के अन्तर्गत थे उनमें औसत व्यय अन्य किसी भी प्रकार के स्कूलों से अधिक था। उदाहरण के लिए, सन् 1946-47 में सरकारी स्कूलों में प्रति प्राथमिक स्कूल पर औसतन 1,616 रुपये व्यय होता था, जबकि सहायता प्राप्त और बिना सहायता प्राप्त स्कूलों पर क्रमश: 709 रुपये तथा 347 रुपये वार्षिक व्यय होता था।

ब्रिटिश भारत में एक बालक को शिक्षित करने का औसत व्यय सन् 1937-38 में 7·6 रुपये था जो सन् 1946-47 में 13·5 रुपये हो गया। किन्तु इस दृष्टि से भी

देश के विभिन्न भागों में क्षेत्रीय विषमताएँ थीं। उदाहरण के लिए, सन् 1946-47 में यह औसत आसाम में 6·4 रुपये, बलोचिस्तान में 38·2 रुपये, सिन्ध में 38·8 रुपये, बम्बई में 26·1 रुपये और यू० पी० में 8·3 रुपये था।

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस दशक में होने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी महात्मा गांधी द्वारा सन् 1937 में चलायी गयी शिक्षा-योजना। यह योजना जो प्रारम्भ में वर्धा योजना के नाम से प्रसिद्ध हुई, अन्ततः 'बेसिक शिक्षा पद्धति' में बदल गयी। इसके अन्तर्गत बालक को किसी बुनियादी हस्तकला के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने की बात कही गयी। उसी वर्ष देश के शिक्षा-शास्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें इस योजना को पर्याप्त विचार-विनिमय के उपरान्त स्वीकार कर लिया गया। सन् 1940 में केन्द्रीय शिक्षा बोर्ड ने एक समिति नियुक्त की जिसने इस योजना में आवश्यक परिवर्तन करके इसके आधार को अधिक विस्तृत बना दिया। सन् 1945 में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने इस योजना पर पुनः विचार किया और इसका नाम 'नई तालीम' रख दिया। आगे एक पृथक अध्याय में बेसिक शिक्षा की सविस्तार विवेचना की गयी है, तथापि यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अब तक देश में शिक्षा पद्धति को बदल डालने की, विशेषतः प्राथमिक स्तर पर, पर्याप्त चेतना उत्पन्न हो चुकी थी और लोग न केवल पाठ्यक्रम को ही बदलना चाहते थे वरन् बालक की नैसर्गिक अभिरुचियों और उसके वातावरण की वास्तविकताओं को ध्यान में रख कर शिक्षा को अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी बनाना चाहते थे। यही प्रवृत्ति माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर हो रही थी।

(2) **माध्यमिक शिक्षा**—प्राथमिक शिक्षा की समाप्ति पर एक छात्र को हाई स्कूल में प्रवेश पाने से पूर्व मिडिल की परीक्षा देनी होती थी, जिसकी अवधि तीन वर्ष की थी। इसके उपरान्त तीन वर्ष हाई स्कूल और दो वर्ष इण्टरमीडिएट में अध्ययन करना होता था। इसके उपरान्त ही डिग्री कॉलेज या विश्वविद्यालय में प्रवेश सम्भव था। इस अवधि में माध्यमिक स्कूलों की संख्या में निश्चित वृद्धि होती गयी, जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट होता है :

### माध्यमिक स्कूलों तथा छात्रों की संख्या (1937–47)

| संस्था | 1937-38 | | 1943-44 | | 1946-47 | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | स्कूल संख्या | छात्र संख्या | स्कूल संख्या | छात्र संख्या | स्कूल संख्या | छात्र संख्या |
| इण्टर कॉलेज | 105 | अप्राप्य | 145 | अप्राप्य | 189 | अप्राप्य |
| हाई स्कूल | 3,416 | 11,17,991 | 4,337 | 14,96,424 | 4,949 | 19,79,546 |
| मिडिल स्कूल | 9,889 | 12,74,897 | 11,535 | 14,36,473 | 12,120 | 16,26,000 |
| कुल योग | 13,410 | 23,92,888 | 16,017 | 29,32,897 | 17,258 | 36,05,546 |

उपर्युक्त आँकड़ों से प्रकट होता है कि देश में माध्यमिक विद्यालय इस अवधि में मन्द किन्तु निश्चित गति से बढ़ते गये और इनकी संख्या 1937-38 में 13,410 से बढ़कर 1946-47 में 17,258 हो गयी। छात्र संख्या की दृष्टि से इण्टर कक्षाओं के छात्रों की संख्या तो उपलब्ध नहीं हो सकी तथापि हाई स्कूल के विद्यार्थियों में इस अवधि में लगभग छह गुनी वृद्धि हो गयी। मिडिल स्कूल की छात्र-संख्या में वृद्धि कम रही। कुल छात्र-संख्या 23·93 लाख से बढ़कर 36·06 लाख हो गयी। इस प्रकार प्राथमिक छात्रों की तुलना में माध्यमिक छात्रों में वृद्धि कम हुई।

20वीं शताब्दी के आरम्भ से ही माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में वैयक्तिक प्रयाम अधिक तीव्रता से बढ़ता जा रहा था। जनता की रुचि इस क्षेत्र में निरन्तर बढ़ती जा रही थी जिसके परिणामस्वरूप वैयक्तिक प्रयास के अन्तर्गत माध्यमिक स्कूलों की संख्या बढ़ती जा रही थी। यद्यपि सरकारी तथा स्थानीय संस्थाओं के अन्तर्गत भी नये स्कूल खुलते जा रहे थे किन्तु वैयक्तिक प्रबन्ध के अन्तर्गत खुलने वाले स्कूलों की तुलना में इनकी संख्या कम थी। सन् 1937-38 में सार्वजनिक तथा वैयक्तिक प्रबन्ध के अन्तर्गत विद्यालयों की संख्या का अनुपात क्रमश: 45% और 55% था। वैयक्तिक प्रबन्ध के अन्तर्गत विद्यालयों का अनुपात क्रमश: बढ़ता गया और सन् 1946-47 में 63·1% हो गया।

माध्यमिक शिक्षा पर व्यय में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी और इस दशक में यह 9·6 करोड़ रुपये से बढ़कर 17·9 करोड़ रुपये हो गया था। तथापि यह मानना पड़ेगा कि देश में माध्यमिक शिक्षा की आवश्यकताओं के आकार और स्वरूप को देखते हुए यह राशि अत्यन्त अल्प थी। सन् 1937-38 में एक औसत माध्यमिक स्कूल पर व्यय 5,800 रुपये से बढ़कर 1946-47 में 9,040 रुपये हो गया था। एक माध्यमिक छात्र पर औसत व्यय सन् 1937 में 16·1 रुपये था किन्तु छात्र-संख्या में भारी वृद्धि होने के कारण इस अनुपात में कमी हो गयी और सन् 1939 में यह 10·5 रुपये रह गया। इसके उपरान्त स्थिति में कुछ सुधार हुआ और 1945-46 में यह 15·9 रुपये तथा 1946-47 में 24·4 रुपये हो गया।

इस समय तक स्कूलों को दी जाने वाली अनुदान-सहायता काफी लोकप्रिय हो गयी थी। सन् 1937-38 में एक माध्यमिक स्कूल को औसत 1,889 रुपये अनुदान प्रदान किया जा रहा था। आगे के वर्षों में सम्भवत: युद्ध के कारण इस व्यय में कमी हो गयी और 1942-43 में यह औसत 1,728 रुपये रह गया। इसके उपरान्त सन् 1945 तक इसमें कुछ वृद्धि हुई, किन्तु 1946-47 में यह बढ़कर 2,651 रुपये हो गया।

शिक्षकों के प्रशिक्षण पर भी अब अधिक ध्यान दिया जा रहा था। सन् 1937-38 में देश में 23 ट्रेनिंग कॉलेज तथा 537 ट्रेनिंग स्कूल थे जिनमें क्रमश: माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाता था। इनकी संख्या इस दशक के अन्त में क्रमश: 42 और 650 हो गयी। सन् 1937-38 में लगभग एक लाख माध्यमिक

पुरुष शिक्षकों में से 43 हजार अप्रशिक्षित थे। सन् 1946-47 में 1·38 लाख पुरुष शिक्षकों में 64·7 हजार को कोई भी प्रशिक्षण नहीं मिला था। वस्तुतः प्रशिक्षण की सुविधाएँ ही देश में अपर्याप्त थीं। आलोच्य दशक में प्रशिक्षित माध्यमिक शिक्षकों का प्रतिशत 56·6 से गिरकर 53·2 रह गया था। हाँ, इतना अवश्य है कि इस अवधि में प्रशिक्षित अध्यापिकाओं का प्रतिशत 64·3 से बढ़कर 65·4 हो गया था।

माध्यमिक शिक्षा की मन्द प्रगति ने देश का ध्यान उन विभिन्न समस्याओं की ओर आकर्षित कर दिया जो इसके मार्ग में बाधक थीं। प्राथमिक शिक्षा के आकार में भारी वृद्धि होने से माध्यमिक शिक्षा की माँग भी तेजी से बढ़ने लगी, किन्तु उसके अनुरूप माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं की संख्या में वृद्धि नहीं हुई। कक्षाओं में विद्यार्थियों की भीड़ बढ़ने लगी जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा का मानदण्ड गिरने लगा। कई प्रान्तों में माध्यमिक शिक्षा के सुधार के सम्बन्ध में क्रियात्मक कदम उठाये गये। बम्बई में सरकार ने एक समिति नियुक्त की जिसने माध्यमिक शिक्षा के सभी पक्षों का अध्ययन करने के उपरान्त सुधार के उपाय बताये। इसी प्रकार यू० पी० में भी आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी। केन्द्रीय सरकार ने भी माध्यमिक शिक्षा-सुधार के लिए युद्धोत्तर काल में एक समिति नियुक्त की जिसने सार्जेण्ट शिक्षा-योजना देश के समक्ष रखी।

### (अ) बम्बई सरकारी जाँच-समिति

सन् 1938 में बम्बई सरकार ने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन के लिए एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने चार वर्ष की अवधि का एक पाठ्यक्रम बनाया। इस पाठ्यक्रम को सात वर्ष की अवधि के एक प्राथमिक पाठ्यक्रम के उपरान्त प्रारम्भ करना था। चार वर्ष के माध्यमिक पाठ्यक्रम को 'वैज्ञानिक' तथा 'सामान्य' दो वर्गों में विभक्त कर दिया गया। इन दोनों पाठ्यक्रमों को तीन-तीन भागों में बाँट दिया गया। 'वैज्ञानिक' पाठ्यक्रम के अन्तर्गत (1) कृषि, (2) व्यापारिक एवं तकनीकी शिक्षा, तथा (3) वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा सम्बन्धी विषय रखे गये। 'सामान्य' पाठ्यक्रम के अन्तर्गत (1) साहित्यिक, (2) कलात्मक, तथा (3) वाणिज्य विषय रखे गये। साहित्यिक वर्ग को छोड़कर शेष सभी वर्गों में प्रयोगात्मक शिक्षा को सम्मिलित किया गया। इस प्रकार समिति ने माध्यमिक पाठ्यक्रम को पर्याप्त प्रगतिशील और उपयोगी बनाया।

### (ब) यू० पी० प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा पुनर्गठन समिति (1939)

**नियुक्ति**—प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के उद्देश्य से यू० पी० सरकार ने आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्ति की जिसने सन् 1939 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति के अन्य प्रमुख सदस्यों में श्री धुलेकर, कुमारी विलियम्स, श्रीमती उमा नेहरू, आचार्य जुगलकिशोर, मुहम्मद इस्माइल खाँ, बेगम अजीजुल रसूल, डॉ० राम उग्रहसिंह तथा डॉ० जाकिर हुसैन थे। माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में इस समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं :

(1) हमारी शिक्षा-प्रणाली में सबसे प्रथम दोष यह है कि यह जीवन की बहुमुखी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती और न यह देश में रोजगार की समस्या का ही हल करती है ।

(2) माध्यमिक शिक्षा विश्वविद्यालय-शिक्षा का पूरक मात्र है ।

(3) माध्यमिक शिक्षा अपने आप में एक पूर्ण तथा सुसंगठित इकाई होनी चाहिए और इसका पाठ्यक्रम आत्मनिर्भर होना चाहिए ।

(4) इसकी अवधि 12 वर्ष से 18 वर्ष तक के किशोरों के लिए होनी चाहिए ।

(5) सभी माध्यमिक विद्यालयों को कॉलेज नाम से पुकारा जाय और उनका मानदण्ड वर्तमान इण्टर कालेजों से ऊँचा होगा ।

(6) इन कालेजों में प्रथम दो वर्षों का पाठ्यक्रम बेसिक स्कूलों की दो सर्वोच्च कक्षाओं के समान होगा । क्राफ्ट पर बल कम दिया जायगा तथा अंग्रेजी अनिवार्य विषय रहेगा ।

(7) पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय होंगे :

(i) भाषा, साहित्य तथा समाज विज्ञान,

(ii) प्राकृतिक विज्ञान तथा गणित,

(iii) कला,

(iv) वाणिज्य,

(v) तकनीकी एवं व्यापारिक विषय, तथा

(vi) गृह-विज्ञान (बालिकाओं के लिए) ।

(8) प्रवेश दो बार किया जायगा । एक तो बेसिक शिक्षा के उपरान्त तथा दूसरा सात वर्ष के पाठ्यक्रम के उपरान्त ।

(9) 'हाई स्कूल' तथा 'इण्टरमीडिएट' शब्द हटा दिये जायेंगे ।

(10) शिक्षा का माध्यम हिन्दुस्तानी होगी ।

(11) पाठ्यक्रम का निर्धारण करने के लिए विशेषज्ञ नियुक्त किये जायँ । पाठ्यक्रम व्यावहारिक तथा देश-काल की आवश्यकताओं के अनुकूल होगा ।

(12) अंग्रेजी एक अनिवार्य विषय होगा । साथ ही भौतिक विज्ञान और सामान्य ज्ञान भी अनिवार्य विषय होंगे ।

(13) नये कालेजों की स्थापना के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए सलाहकार बोर्डों की नियुक्ति होनी चाहिए । ये बोर्ड सलाह देने के अतिरिक्त व्यापार तथा उद्योगों से शिक्षा के लिए धन भी एकत्रित करेंगे ।

(14) लड़कियों के लिए गृह-विज्ञान के कॉलेज स्थापित होने चाहिए ।

(15) प्रत्येक कॉलेज में पुस्तकालयों की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए ।

(16) छात्रों के चरित्र-निर्माण तथा उनमें नागरिकता जनतन्त्र, आत्मनिर्भरता, नेतृत्व और समाज-सेवा एवं न्याय की भावनाओं का समावेश करने के उद्देश्य से यह

आवश्यक है कि स्काउटिंग, वाद-विवाद समितियाँ, अभिनय, समाज-सेवा अभियान, सहकारी समितियाँ, उपभोक्ता भण्डार तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं की स्थापना की जानी चाहिए। इन क्रियाओं को पाठ्यक्रम के समान ही महत्त्व प्रदान करना चाहिए।

उपर्युक्त सिफारिशों के अतिरिक्त नरेन्द्रदेव समिति ने अन्य समस्याओं के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। इनमें स्त्री-शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा उनकी सेवा-दशाओं में सुधार, शिक्षकों की सेवाओं के सम्बन्ध में 'एग्रीमेण्ट फार्म' का भरना, पाठ्य-पुस्तकों का सुधार, छात्रों में अनुशासन, परीक्षा-प्रणाली के सुधार तथा शिक्षकों के प्रशासन में सुधार इत्यादि प्रमुख हैं। समिति ने एक केन्द्रीय 'पैडागौजिकल इन्स्टीट्यूट' की स्थापना और उसके साथ एक पुस्तकालय और एक वाचनालय स्थापित करने की सिफारिश भी की। इस प्रकार नरेन्द्रदेव समिति ने माध्यमिक स्तर पर शिक्षा के पुनर्संगठन की सिफारिश करते हुए उसे अधिक उपयोगी तथा बहुमुखी बनाने पर बल दिया। यू० पी० की भाँति कई अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार के प्रयास माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए किये गये। दिल्ली तथा मद्रास में माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में समितियों की नियुक्ति की गयी।

**योजना**

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर एक नवीन शिक्षा-योजना देश के समक्ष प्रस्तुत की गयी जिसे 'सार्जेण्ट योजना' के नाम से पुकारा जाता है। जॉन सार्जेण्ट को जो भारत सरकार के तत्कालीन शिक्षा सलाहकार थे, एक ऐसा विवरण-पत्र प्रस्तुत करने का आदेश दिया गया जिसमें युद्धोत्तर शिक्षा-विकास की रूपरेखा हो। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने इस विवरण-पत्र को सन् 1943 व 1944 की अपनी बैठकों में स्वीकार कर लिया। यह विवरण-पत्र उन सभी रिपोर्टों पर आधारित था जो सलाहकार बोर्ड द्वारा शिक्षा के विभिन्न अंगों के लिए नियुक्त की गयी उपसमितियों ने समय-समय पर प्रकाशित की थीं। शिक्षा को देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप ढालने की युद्धोत्तर काल में नितान्त आवश्यकता थी। अतः इस योजना का शिक्षा-इतिहास में एक विशेष महत्त्व है और प्रमुख रूप से इसे युद्धोत्तर शिक्षा-विकास योजना के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है। इस रिपोर्ट में नर्सरी शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय शिक्षा तथा अन्य समस्याओं, शिक्षा के संगठन, उसके प्रमुख दोष, उन्हें सुधारने के उपाय तथा भविष्य की शिक्षा-रूपरेखा का बहुत ही विशद् विवरण प्रस्तुत किया गया है। एक प्रकार से अपने प्रकार की यह पहली रिपोर्ट है जो सम्पूर्ण राष्ट्र की शिक्षा पर इतने व्यापक दृष्टिकोण से विचार करती है।

'सार्जेण्ट रिपोर्ट' में सम्पूर्ण शिक्षा को 12 अध्यायों में विभाजित करके प्रत्येक अंग पर अलग-अलग विचार किया गया जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

(1) 5 और 6 से 14 वर्ष तक के लड़के-लड़कियों को साक्षरता तथा नागरिकता के लिए सर्वव्यापी, अनिवार्य तथा निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था। यह शिक्षा दो भागों में विभक्त होगी—जूनियर बेसिक (6–11 वर्ष) तथा सीनियर बेसिक

(11–14 वर्ष)। प्रथम प्रकार के स्कूल सबके लिए अनिवार्य होंगे और दूसरे प्रकार के स्कूल केवल उन्हीं बालकों के लिए होंगे जो हाई स्कूल में अपनी शिक्षा जारी नहीं रखेंगे।

(2) 3 वर्ष से 6 वर्ष तक की उम्र के बच्चों के लिए पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था। इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सामान्य शिक्षा देना नहीं, अपितु सामाजिक अनुभव तथा शिष्टाचार सिखाना है।

(3) 11 वर्ष से 17 वर्ष तक चुने हुए विद्यार्थियों के लिए छह वर्ष की हाई स्कूल शिक्षा की व्यवस्था। इन स्कूलों में केवल वे ही विद्यार्थी प्रवेश पा सकेंगे जो आगे शिक्षा के लिए अपनी विशेष रुचि दिखाते हैं। साधारणतः यह संख्या 20 प्रतिशत होगी। इन हाई स्कूलों को दो भागों में विभाजित कर दिया जायगा—(1) साहित्यिक (एकेडेमिक) हाई स्कूल, और (2) व्यावसायिक (टेकनीकल) हाई स्कूल। प्रथम प्रकार के स्कूलों में कला तथा विज्ञान के विषय, जैसे मातृभाषा, अंग्रेजी, इतिहास, प्राच्य भाषाएँ, आधुनिक भाषाएँ, भूगोल, गणित, विज्ञान, स्वास्थ्य-रक्षा, कृषि, संगीत, कला, अर्थशास्त्र तथा नागरिक शास्त्र इत्यादि पढ़ाये जायेंगे। दूसरे प्रकार के स्कूलों में व्यावहारिक ज्ञान (applied sciences) तथा औद्योगिक और व्यापारिक विषय, जैसे लकड़ी तथा धातु का काम, इंजीनियरिंग, ड्राइंग इत्यादि तथा वाणिज्य के विषय—पुस्तपालन (बुक-कीपिंग), शॉर्ट हैण्ड, टाइप राइटिंग, एकाउण्टेन्सी तथा व्यापार पद्धति इत्यादि—पढ़ाये जायेंगे। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगी तथा अंग्रेजी अनिवार्य द्वितीय भाषा होगी। लड़कियों के स्कूलों में सामान्य विज्ञान के स्थान पर गृह विज्ञान पढ़ाया जायगा। हाई स्कूलों में प्रवेश पाने वाले विद्यार्थियों की अवस्था 11+ होगी जबकि उनका जूनियर बेसिक कोर्स समाप्त हो चुका होगा। उनमें प्रत्येक विद्यार्थी 14+ वर्ष की उम्र तक रहेगा। 50 प्रतिशत विद्यार्थी निःशुल्क रहेंगे। योग्य विद्यार्थियों को उच्च अध्ययन की विशेष सुविधाएँ दी जायेंगी।

(4) चुने हुए विद्यार्थियों के लिए प्रचलित इण्टरमीडिएट कक्षाओं के उपरान्त विश्वविद्यालय शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। इण्टर कक्षाओं का उन्मूलन करके उनका प्रथम वर्ष हाई स्कूल तथा द्वितीय वर्ष डिग्री कक्षा से मिला दिया जाय। रिपोर्ट में वर्तमान विश्वविद्यालय शिक्षा के दोषों पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रवेश पर नियन्त्रण कर दिया गया है। हाई स्कूल छोड़ने वाले 15 विद्यार्थियों में से 1 को प्रवेश दिया जाय। शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाना चाहिए। शिक्षकों की दशा, कार्य करने की अवस्थाओं तथा वेतन में सुधार किया जाय। भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में साम्य तथा ऐक्य उत्पन्न करने के लिए 'भारतीय विश्वविद्यालय अनुदान समिति' की स्थापना की जाय।

(5) टेकनीकल, वाणिज्य तथा कला-शिक्षा की व्यवस्था की जाय जिसमें पर्याप्त संख्या में पूर्ण-सामयिक और अर्द्ध-सामयिक (full time and part time) प्रविष्ट किये जायँ। इन उद्योगों के लिए चार श्रेणी के कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होगी—(1) उच्चतम श्रेणी—इस श्रेणी के विद्यार्थी औद्योगिक हाई स्कूल में शिक्षा पाकर

विश्वविद्यालयों के टेकनोलॉजीकल विभागों में प्रवेश करायेंगे । इनके प्रवेश में नियन्त्रण से काम लिया जायगा । (2) निम्न श्रेणी—इसमें फोरमैन, चार्जहैण्ड शामिल होंगे । औद्योगिक हाई स्कूलों में पास विद्यार्थी इस कार्य को करेंगे । (3) कुशल कारीगर—ये विद्यार्थी सीनियर हाई स्कूल पास करने पर अथवा औद्योगिक हाई स्कूलों में से लिये जायेंगे । (4) अकुशल कारीगर—ये लोग सीनियर बेसिक (मिडिल) स्कूलों में सीधे भर्ती किये जायेंगे जहाँ उन्होंने कुछ क्राफ्ट का काम सीख लिया हो । पर्याप्त अनुभव के उपरान्त इन्हें कुशल कारीगरों में सम्मिलित किया जा सकता है ।

(6) 10 वर्ष से 40 वर्ष तक की अवस्था वाले प्रौढ़ों के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था की जाय । यह शिक्षा व्यावसायिक और सामान्य दोनों ही प्रकार की होनी चाहिए । "इस देश में कुछ काल तक प्रौढ़ों की साक्षरता पर जोर देना पड़ेगा, यद्यपि प्रारम्भ से ही उचित प्रौढ़ शिक्षा की भी कुछ न कुछ व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे साक्षर हुए व्यक्ति अपने अध्ययन को जारी रखने के लिए कुछ आकर्षण तथा सुअवसर पा सकें ।" लड़कों और वृद्धों के लिए अलग-अलग कक्षाएँ हों । स्त्री प्रौढ़ शिक्षा की समस्या पर भी उचित ध्यान दिया जाय ।

प्रौढ़ शिक्षा को रुचिप्रद तथा अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए चित्रों, मैजिक लैण्टर्न, सिनेमा, ग्रामोफोन, रेडियो, लोकनृत्य, संगीत तथा अभिनय का उपयोग करना चाहिए । इसके अतिरिक्त 'जन-पुस्तकालयों' (public libraries) का आयोजन भी होना चाहिए जिसमें अधिक से अधिक 20 वर्ष का समय लगे ।

(7) इस शिक्षा-योजना को आगे बढ़ाने के लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण की उचित व पूर्ण व्यवस्था की जाय । योजना में बताया गया है कि पूर्व-बेसिक तथा जूनियर बेसिक स्कूलों में प्रति 30 बालकों के लिए एक शिक्षक, सीनियर बेसिक स्कूलों में प्रति 15 बालकों के लिए एक शिक्षक तथा हाई स्कूलों में प्रति 20 बालकों के लिए एक शिक्षक की आवश्यकता होगी । इस प्रकार सम्पूर्ण योजना के लिए 22,17,733 शिक्षकों, अर्थात् 20 लाख नॉन-ग्रेजुएट्स और 1,81,320 ग्रेजुएटों की आवश्यकता होगी । ग्रेजुएटों को ट्रेनिंग कालेजों में प्रशिक्षण दिया जायगा और नॉन-ग्रेजुएट्स को तीन प्रकार के प्रशिक्षण दिये जायेंगे—पूर्व-प्राथमिक शिक्षक, बेसिक शिक्षक तथा हाई स्कूलों के नॉन-ग्रेजुएट शिक्षक । प्रशिक्षित शिक्षकों के लिए समय-समय पर अभिनवन-पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) की भी व्यवस्था आवश्यक है । टेकनीकल तथा कमर्शियल शिक्षकों के लिए विशेष ट्रेनिंग कालेजों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ये अपना प्रशिक्षण उद्योगों तथा टेकनीकल संस्थाओं से प्राप्त करेंगे । योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने के उद्देश्य से शिक्षकों के वेतन-क्रम में वृद्धि हो ।

(8) विद्यार्थियों को स्वस्थ रखने के लिए अनिवार्य शारीरिक शिक्षा तथा उचित डाक्टरी जाँच और आवश्यकतानुसार चिकित्सा की व्यवस्था होनी चाहिए । 6, 11 व 14 वर्ष की अवस्था पर बालकों की पूर्ण डाक्टरी जाँच की जाय । उनकी स्वास्थ्य-दशा तथा ऊँचाई और वजन का लेखा रहना चाहिए । निरीक्षण के उपरान्त

कोई दोष प्रतीत होने पर उचित चिकित्सा की जाय । विद्यार्थियों को भोजन, स्वच्छता, तथा व्यायाम आदि पर पुस्तकें मिलनी चाहिए । स्कूल में बैठने के कमरों की स्वच्छता, प्रकाश तथा उपस्कर (फर्नीचर) इत्यादि की उचित व्यवस्था होनी चाहिए ।

(9) मानसिक तथा शारीरिक बाधाओं से पीड़ित बालकों के लिए विशेष शिक्षालयों की व्यवस्था होनी चाहिए । इन दोनों श्रेणियों में मूढ़ तथा अन्धे, गूंगे, बहरे अथवा अन्य शारीरिक हीनता रखने वाले विद्यार्थी आ जाते हैं ।

(10) रोजगार के कार्यालयों (employment bureaus) को खोलना चाहिए ।

(11) शिक्षालयों में विनोदात्मक तथा सामाजिक क्रियाओं की व्यवस्था की जाय ।

(12) प्रान्तों तथा केन्द्र में एक सुसंगठित शिक्षा-विभाग का संगठन करना चाहिए । इस प्रकार शिक्षा को उन विशेषज्ञों के अधिकार में रखना चाहिए जो उसके मर्म को समझते हैं । विश्वविद्यालयों को छोड़कर सम्पूर्ण शिक्षा का संगठन प्रान्तों के हाथ में हो । विश्वविद्यालयों के कार्यों का संगठन अखिल भारतीय आधार पर हो ।

**आलोचना**

(1) गुण—संक्षेप में यह सार्जेण्ट योजना है । अन्य प्रगतिशील देशों में शिक्षा-विकास का मानदण्ड देखते हुए यह आवश्यक था कि उनके स्तर पर भारत को लाने के लिए कोई अत्यन्त उन्नत व व्यापक शिक्षा-योजना बनायी जाय । इस उद्देश्य से युद्ध के उपरान्त भारत में शिक्षा-विकास की योजना के रूप में इस योजना का बड़ा महत्त्व है । अब तक बनने वाली सभी योजनाओं में इस योजना का रूप अधिक व्यापक रहा है । शिक्षा सम्बन्धी प्रायः सभी पक्षों का इसमें विश्लेषणात्मक विवेचन हमें देखने को मिलता है । शिक्षा में अनिवार्यता इत्यादि प्रश्नों को इसने निर्णयात्मक रूप से हल करने का प्रयत्न किया है । बालक के सर्वांगीण तथा स्वतन्त्र विकास के लिए इस योजना में पर्याप्त क्षेत्र है ।

इस योजना के प्रणेताओं ने भली-भाँति समझ लिया था कि सम्पूर्ण शिक्षा आन्दोलनों का केन्द्र 'शिक्षक' होता है । कोई भी योजना कितनी ही आकर्षक व लाभ-दायक क्यों न हो, यदि उसे कार्यान्वित करने के लिए हमारे पास योग्य, शिक्षित तथा सन्तुष्ट शिक्षक नहीं हैं तो वह कभी भी सफल नहीं हो सकती । इसी सिद्धान्त को दृष्टिगत रखते हुए इस योजना में सभी श्रेणियों—प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्व-विद्यालय—के शिक्षकों के वेतन-क्रम तथा उनकी दशा में सुधार करने पर विशेष जोर दिया गया है ।

इस रिपोर्ट ने वर्तमान भारतीय शिक्षा के प्रमुख दोषों को भी ऊपर लाकर रख दिया है । उदाहरण के लिए, योजना में स्वीकार किया गया है कि परीक्षाओं पर आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया जाता है, जिससे विद्यार्थियों में पुस्तकीय संकीर्णता आ जाती है । वे जीवन के व्यक्तिगत अनुभवों और जीवित पाठों को भूलकर एक कल्पित दुनिया में विचरण करते रहते हैं । हाई स्कूल शिक्षा को आज तक विश्वविद्यालय शिक्षा का पूरक माना जाता रहा है । हाई स्कूल शिक्षा स्वतः पूर्ण नहीं है । साथ ही

विश्वविद्यालयों में भी शिक्षा में योजना का अभाव है। शिक्षकों के प्रशिक्षण की उचित व पर्याप्त व्यवस्था नहीं है, इत्यादि।

(2) **दोष**—हम देखते हैं कि यह योजना भी दोषमुक्त नहीं है। इसमें यह कल्पना की गयी है कि यदि चालीस वर्ष तक इसे कार्यान्वित किया जाय तो भारत में शिक्षा वर्तमान इंगलैण्ड के स्तर तक आ सकती है। किन्तु इसमें यह भुला दिया गया है कि इन चालीस वर्षों में इंगलैण्ड कितना आगे निकल जायगा और ऐसी अवस्था में भारत उससे लगभग आधी शताब्दी पिछड़ा रहेगा। साथ ही चालीस वर्ष का समय भी बहुत होता है। ये चालीस वर्ष इस योजना के अन्तर्गत और छोटे-छोटे भागों में बाँट दिये गये हैं। रिपोर्ट में कहा गया है कि "प्रथम पाँच वर्षों तक तो योजना बनाने, प्रचार-कार्य तथा विशेष रूप में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए आवश्यक स्कूल खोलने में लगने चाहिए। उसके उपरान्त योजना को सात पंचसाला कार्यक्रमों में विभक्त कर देना चाहिए जिनमें एक-एक क्षेत्र क्रमशः लेना चाहिए। प्रत्येक प्रान्त में इन क्षेत्रों की नाप कार्यक्रम के दौरान कुछ बातों से निर्धारित होगी जिनमें शिक्षकों की पूर्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होगी।" इससे प्रतीत होता है कि चालीस वर्ष का समय आवश्यकता से अधिक दीर्घ है और भारत अपने शिक्षा के पुनर्निर्माण के लिए इतनी दीर्घ प्रतीक्षा करने की स्थिति में नहीं है; और फिर योजना का परीक्षण एक-एक क्षेत्र के बाद किया जायगा। इसके अतिरिक्त इस योजना का वार्षिक व्यय 313 करोड़ रुपये था जिसका 277 करोड़ रुपये जनता-कोष से उपलब्ध होना था। ऐसी स्थिति में भारत के लिए यह योजना अधिक खर्चीली थी।

सार्जेण्ट योजना में ग्रामीण शिक्षा, स्त्री-शिक्षा तथा शिक्षा-संगठन में धार्मिक शिक्षा का स्थान इत्यादि प्रश्नों पर भी उचित प्रकाश नहीं डाला गया और न उनकी उचित व्यवस्था की गयी। विद्यार्थियों के चयन का ढंग भी अवांछनीय है। इससे प्रत्येक विद्यार्थी को उच्च शिक्षा का सुअवसर नहीं मिलता है।

इसमें वर्धा योजना के स्वावलम्बन वाले पक्ष का पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया, साथ ही शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए उचित व दृढ़ सरकारी मशीनरी का कोई आयोजन नहीं किया गया। शिक्षा के मानदण्ड के लिए पूर्णतः इंगलैण्ड को आदर्श मानना भी अवांछनीय है।

**योजना की प्रगति**

सार्जेण्ट योजना के गुण और दोषों का विवेचन करने पर प्रतीत होता है कि इसमें दोष होते हुए भी यह योजना एक महान् युग-निर्माणक योजना थी। केन्द्रीय सरकार ने इसकी अधिकांश सिफारिशों को मान लिया और सन् 1945 में केन्द्रीय शिक्षा-विभाग को अलग कर दिया।

सन् 1944 में केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को सार्जेण्ट योजना के आधार पर अपने पंचसाला कार्यक्रम बनाने का आदेश दिया, अतः सन् 1947-52 के पंचसाला में ऐसी योजनाएँ बनायी गयीं। इस योजना पर कार्य तो सन् 1946 में ही

प्रारम्भ हो गया था। केन्द्र ने आर्थिक सहायता के रूप में ही चालीस करोड़ रुपये देना स्वीकार कर लिया। इन प्रान्तीय पंचसाला योजनाओं में शिक्षकों के वेतन-दर में सुधार, छह से ग्यारह वर्ष के बच्चों के लिए निःशुल्क अनिवार्य बेसिक शिक्षा, विश्वविद्यालय शिक्षा का सुधार, टेकनीकल तथा प्रौढ़ शिक्षा के लिए विशेष सुविधा तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए आयोजन, इत्यादि सम्मिलित थे। साथ ही चालीस वर्ष का समय भी घटाकर सोलह वर्ष कर दिया गया था।

इसके अतिरिक्त इस रिपोर्ट के आधार पर 'अखिल भारतीय टेकनीकल शिक्षा समिति' का निर्माण किया गया और भारत की राजधानी में एक 'पॉलीटेकनिक कॉलेज' भी खोला गया। सन् 1945 में 'शिक्षा ब्यूरो' तथा सन् 1946 में 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' का निर्माण किया गया।

(3) **अन्य क्षेत्रों में शिक्षा-प्रगति**—माध्यमिक शिक्षा की ही भाँति इस काल में शिक्षा के अन्य क्षेत्रों, जैसे विश्वविद्यालय शिक्षा, स्त्री-शिक्षा तथा तकनीकी और इंजीनियरी शिक्षा इत्यादि की भी अवहेलना की गयी। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कालेजों तथा विश्वविद्यालयों की संख्या में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई। वास्तव में एक ऐसे समय में जबकि युद्ध की वेदी पर प्राथमिक शिक्षा तक का बलिदान किया जा रहा था, उच्च शिक्षा पर अधिक बल देने की कोई सम्भावना नहीं थी। फलतः इस दशक में केवल दो नये विश्वविद्यालय स्थापित किये जा सके और कला तथा विज्ञान के कालेजों की संख्या 174 के स्थान पर 297 हो गयी। विश्वविद्यालय स्तर पर छात्र-संख्या में भी कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। उदाहरण के लिए, सन् 1937-47 के बीच में छात्र-संख्या दस हजार से बढ़कर सोलह हजार हो गयी, जो भारत जैसे विशाल देश के लिए अत्यन्त छोटी संख्या थी। कुल मिलाकर डिग्री परीक्षाओं के लिए अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या 53 हजार के स्थान पर 96 हजार हो गयी। इनमें कला, विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र, कृषि, वाणिज्य, टेकनोलॉजी इत्यादि सभी संकायों (faculties) के छात्र सम्मिलित थे। विश्वविद्यालयों पर होने वाला व्यय 1·10 करोड़ रुपये से बढ़कर 2·3 करोड़ रुपये हो गया। कला तथा विज्ञान के कालेजों पर व्यय 1·64 करोड़ रुपये से बढ़कर 3·53 करोड़ रुपये हो गया।

इंजीनियरी तथा तकनीकी कालेजों की संख्या में इस अवधि में कोई अधिक वृद्धि नहीं हुई। सन् 1937 में ऐसे 9 कॉलेज थे जिनकी संख्या सन् 1947 में 16 हो गयी। अन्य औद्योगिक कॉलेज 47 के स्थान पर 82 हो गये। इन संस्थाओं पर व्यय 1·20 करोड़ रुपये से बढ़कर 2·75 करोड़ रुपये हो गया। तकनीकी शिक्षा की माँग देश के युवकों में बढ़ती जा रही थी, अतः छात्रों की संख्या 53,697 से बढ़कर 71,897 हो गयी। दुर्भाग्य से तकनीकी शिक्षा की सुविधाएँ देश में अत्यन्त अपर्याप्त थीं जिसके परिणामस्वरूप न केवल देश की शिक्षा के स्वरूप में ही परिवर्तन नहीं हो पा रहा था वरन् देश की आर्थिक प्रगति भी अवरुद्ध हो रही थी।

इस अवधि में स्त्री-शिक्षा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय बनी रही। वस्तुतः

लड़कियों की शिक्षा-संस्थाओं की संख्या इस अवधि में गिर गयी। सन् 1937 में 32,875 मान्यता प्राप्त तथा 3,999 अमान्य स्कूल लड़कियों के लिए थे। सन् 1947 में इनकी संख्या क्रमशः 24,852 और 3,344 रह गयी। लड़कियों की शिक्षा की माँग तो बढ़ती जा रही थी, किन्तु उनके लिए शिक्षा-सुविधाओं का तदनुरूप प्रसार नहीं हो रहा था। इस बीच में इनकी संख्या 30·12 लाख से बढ़कर 42·98 लाख हो गयी थी। इनमें से अधिकांश लड़कियाँ सामान्य शिक्षा ही पा रही थीं। विशेष व्यावसायिक शिक्षा पाने वाली लड़कियाँ सन् 1937 में 25,539 थीं, जिनकी संख्या सन् 1947 में 58,993 हो गयी। लड़कियों के कालेजों की संख्या 41 से बढ़कर 91 हो गयी थी। शेष लड़कियाँ लड़कों के शिक्षालयों में उनके साथ ही शिक्षा पाती थीं। सन् 1937 में स्त्री-शिक्षा पर 3·10 करोड़ रुपये व्यय किया जा रहा था। सन् 1946-47 में यह राशि 6·66 करोड़ रुपये हो गयी। यह धन-राशि केवल मान्यता प्राप्त संस्थाओं के सम्बन्ध में ही थी।

**उपसंहार**

प्रान्तीय स्वायत्तता के इस दशक में शिक्षा-प्रगति का इतिहास शिक्षा के अवरोधन, राजकीय उत्साह तथा प्रयास के अभाव और सरकार की जघन्य तटस्थता की कहानी है। शिक्षा के प्रसार एवं प्रचार का प्रारम्भिक जोश युद्ध के प्रारम्भ होते ही ठण्डा पड़ गया। सरकार ने देश को जनता की इच्छा के विरुद्ध युद्ध में झोंक दिया। विदेशी सरकार देश के कल्याण की बात नहीं सोच सकती थी। उसके समक्ष उसके साम्राज्यवाद को बनाये रखने की समस्या सर्वोपरि थी। एक ओर जनता का विदेशी सरकार के विरुद्ध खुला विद्रोह और दूसरी ओर सरकार का दमन-चक्र, विशेषतः सन् 1942 की जनक्रान्ति के उपरान्त, दोनों ही मिलकर शिक्षा की प्रगति को अवरुद्ध कर रहे थे। परिणामतः इस अवधि में शिक्षा-क्षेत्र में अधिक प्रगति नहीं हो सकी। किसी प्रकार से वर्तमान ढाँचा यथावत् बना रहा। तथापि यह कहा जा सकता है कि उन अन्धकारपूर्ण दिनों में भी एक आशा की किरण थी। महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित वर्धा योजना ने शिक्षा के क्षेत्र में देश को एक नयी दिशा दिखायी थी। सार्जेण्ट योजना ने देश के समक्ष शिक्षा के व्यावसायिक और तकनीकी रूप को प्रस्तुत किया। देश के विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षा-पद्धति तथा शिक्षा की विषय-सामग्री को देश की बदलती हुई आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित करने के लिए चर्चा चल पड़ी थी। अतः हम कह सकते हैं कि आलोच्य दशक में शिक्षा की अधिक प्रगति तो नहीं हुई, किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त शिक्षा-सुधार के लिए पृष्ठभूमि अवश्य तैयार हो गयी। यही इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है

# 17

# स्वतन्त्रता के उपरान्त शिक्षा-प्रगति

## भूमिका

15 अगस्त, 1947 को भारत के स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त देशवासियों को राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली को अपनी बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार ढालने का पूर्ण तथा प्रथम सुअवसर मिला। किन्तु यह सुअवसर भारी उत्तरदायित्वों से भरा हुआ था। देश की भावी सन्तानों को उनके व्यक्तित्व के विकास तथा देश के पुन-निर्माण के सर्वथा योग्य बनाने की चुनौती शिक्षा-शास्त्रियों तथा सरकार के समक्ष थी। ब्रिटिश शासन काल के प्रारम्भ से ही जिस विदेशी पुस्तकीय तथा सैद्धान्तिक शिक्षा-प्रणाली का विकास भारत में हुआ था उसके स्थान पर एक राष्ट्रीय व्याव-हारिक, उपयोगी और तकनीकी शिक्षा का विकास करना था। देश को असंख्य इंजीनियरों, टैक्नीशियनों, डाक्टरों, वैज्ञानिकों तथा कुशल एवं प्रशिक्षित जन-शक्ति की आवश्यकता थी, जो एक विकासोन्मुख राष्ट्र की अवरुद्ध अर्थ-व्यवस्था को गति-शील बना सके, जिसका शोषण एक अनैतिक उपनिवेशवादी सत्ता के द्वारा लगभग दो शताब्दियों से हो रहा था। यह एक महान् उत्तरदायित्व था जिसे स्वीकार करने के अतिरिक्त देश के समक्ष अन्य विकल्प नहीं था। शिक्षा के लगभग सभी क्षेत्रों में विकास के साथ ही साथ सुधार की समस्या हमारे सम्मुख थी। प्राथमिक शिक्षा के प्रसार, माध्यमिक शिक्षा को उपयोगी तथा बहुमुखी बनाना, उच्च शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाना, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा का विकास, स्त्री-शिक्षा तथा अनुसन्धान को प्रोत्साहन, पिछड़े तथा दलित वर्ग के लिए शिक्षा-सुविधाएँ प्रदान करना, शिक्षा के माध्यम, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण-प्रणाली में सुधार, शिक्षकों की प्रशिक्षण-सुविधाओं और कार्यदशाओं में सुधार तथा विद्यार्थियों के कल्याण की सुविधाएँ प्रदान करना, इत्यादि बड़ी-बड़ी चुनौतियाँ थीं जिन्हें सरकार तथा जनता द्वारा स्वीकार करके उनके लिए सर्वोचित हल निकालना आवश्यक था। वस्तुतः स्वतन्त्रता के उपरान्त राष्ट्रीय सरकार ने केन्द्र तथा राज्य स्तरों पर इन सभी समस्याओं को हल करने का प्रयास किया है। यद्यपि यह कहना अत्यन्त विवादास्पद है कि स्वतन्त्र भारत ने अपनी शिक्षा-

समस्या को हल कर लिया है, तथापि यह अवश्य कहा जा सकता है कि सभी क्षेत्रों में एक सर्वतोमुखी प्रगति हुई है। समय के साथ नयी-नयी समस्याओं का जन्म हो रहा है। नये मूल्यों, नयी मान्यताओं और नवीन आवश्यकताओं की अनुभूति शिक्षा-क्षेत्र में हो रही है। नियोजित आर्थिक विकास के प्रसंग में शिक्षा का भी देश में नियोजन किया जा रहा है। आगे के अध्यायों में शिक्षा के सभी स्तरों की प्रगति और तत्सम्बन्धी समस्याओं का विस्तृत विवेचन पृथक-पृथक किया गया है, तथापि प्रस्तुत अध्याय में शिक्षा के वर्तमान स्वरूप की संक्षिप्त विवेचना की गयी है।

**शिक्षा का प्रशासन**

सन् 1947 के उपरान्त केन्द्रीय शिक्षा-विभाग एक मन्त्रालय के रूप में संगठित किया गया। राज्य-स्तर पर शिक्षा का उत्तरदायित्व प्रथमतः राज्य सरकार का ही है। केन्द्रीय सरकार का उत्तरदायित्व उच्च शिक्षा के समन्वय, उसके मानदण्ड के उत्थान-अनुसन्धान और वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा के प्रसार का है। उच्च शिक्षा के विकास का उत्तरदायित्व अब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grants Commission) का है। प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा का समन्वय अखिल भारतीय परिषदों द्वारा किया जाता है। देश के अधिकांश विश्वविद्यालय राज्य सरकारों के अन्तर्गत हैं। केवल दिल्ली, बनारस, अलीगढ़ तथा शान्ति-निकेतन विश्वविद्यालय केन्द्रीय विश्वविद्यालय हैं। साथ ही राष्ट्रीय महत्त्व की कुछ अन्य संस्थाएँ भी केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत हैं, जिनकी अनुमति संसद ने दे रखी है। केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों में सम्पूर्ण शिक्षा का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार का है। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् सामान्य शिक्षा सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है। उच्च, माध्यमिक, प्राथमिक तथा सामाजिक शिक्षा के सम्बन्ध में इस परिषद् में चार स्थायी समितियाँ हैं। ये समितियाँ अपने सम्बन्धित क्षेत्रों मे उद्देश्यों का निर्धारण करती हैं, वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन करती हैं तथा भावी विकास की योजना तैयार करती हैं। परिषद् की एक अन्य समिति द्वारा इन चार समितियों के क्रियाकलापों का समन्वय किया जाता है। केन्द्र में शिक्षा मन्त्री के अतिरिक्त उप-शिक्षा मन्त्री होता है और उनकी सहायता के लिए सचिव होते हैं जो शिक्षा नीतियों को कार्यान्वित करते हैं।

इसी प्रकार राज्य-स्तर पर शिक्षा मन्त्री तथा उपमन्त्री होते हैं। सचिव उनकी नीतियों को कार्यान्वित करने में सहायता करते हैं। माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा एक निर्देशक के अन्तर्गत होती है। राज्य को विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है। जिला-स्तर पर निरीक्षक तथा उपनिरीक्षक होते हैं। प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध स्थानीय सत्ताओं के अन्तर्गत है। ग्रामीण क्षेत्रों की प्राथमिक शिक्षा जिला परिषदों तथा शहरी क्षेत्रों में नगरपालिका व अन्य स्थानीय संस्थाओं के अन्तर्गत होती है। बालिकाओं की प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के लिए अधिकांश राज्यों में पृथक निरीक्षिकाएँ होती हैं। माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध कुछ राज्यों में पूर्णतः तथा कुछ में अंशतः सरकार के अन्तर्गत है। वैयक्तिक प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों

में माध्यमिक शिक्षा को सफलतापूर्वक संगठित किया गया है । देश के सभी विश्वविद्यालय स्वायत्त सत्ता प्राप्त संस्थाएँ हैं जिनमें सामान्यत: सरकारी हस्तक्षेप को अनुचित समझा जाता है । हाँ, इतना अवश्य है कि गत वर्षों में सरकारी तथा राजनीतिक हस्तक्षेप विश्वविद्यालयों के आन्तरिक मामलों में अनुचित रूप से बढ़ता जा रहा है ।

वैयक्तिक प्रबन्ध के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त स्कूलों को सरकार की ओर से अनुदान-सहायता प्रदान की जाती है । देश में ऐसी शिक्षा संस्थाएँ भी हैं जो रेलवे, प्रतिरक्षा, श्रम, कृषि तथा वाणिज्य मन्त्रालयों के अन्तर्गत उनके कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए चल रही हैं अथवा कुछ कुशल एवं प्रशिक्षित श्रमिक तैयार करने के लिए खोली गयी हैं ।

**आयोजन काल में शिक्षा का विकास**

आयोजन काल में शिक्षा के क्षेत्र में भारत ने बहुमुखी प्रगति की है । वस्तुत: सन् 1947 से ही सरकार का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर लगा हुआ है । सन् 1948 में डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति करके सरकार ने तुरन्त ही उच्च शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण सुधार करने का कदम उठाया था । उसके उपरान्त सन् 1950-51 से ही प्रथम आयोजन काल में शिक्षा को सभी स्तरों पर महत्त्व प्रदान करते हुए 133 करोड़ रुपये व्यय किये । प्रथम आयोजन काल में प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के सुधार तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया गया । इस अवधि में प्रसार कार्य को उच्च प्राथमिकता दी गयी । सन् 1952 में माध्यमिक शिक्षा आयोग की नियुक्ति की गयी । राज्य-स्तरों पर शिक्षा के सुधार के लिए विभिन्न समितियों द्वारा सुझाव प्राप्त करके कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया । परिणामत: आयोजन के प्रथम पाँच वर्षों में 6–11 वर्ष की आयु के छात्रों की संख्या का प्रतिशत सम्पूर्ण जनसंख्या का 42·6 से बढ़कर 52·9 हो गया । द्वितीय आयोजन के अन्त में यह 62·2% तथा तृतीय आयोजन के अन्त में 78·5% हो गया । सन् 1968-69 की अवधि में 6–11 वर्ष के आयु-वर्ग के छात्रों का प्रतिशत 81·4 होने की आशा है । 11–14 वर्ष के छात्रों के लिए 35·3 तथा 14–17 वर्ष के वर्ग के लिए 20·1 प्रतिशत होने की सम्भावना है । व्यय की दृष्टि से भी द्वितीय तथा तृतीय आयोजनों के अन्तर्गत शिक्षा के विभिन्न कार्यक्रमों पर क्रमश: 221 करोड़ रुपये तथा लगभग 550 करोड़ रुपये व्यय किये गये । चतुर्थ आयोजन में 1260 करोड़ रुपये की व्यवस्था शिक्षा के लिए की गयी है । यह धनराशि प्रथम तीनों आयोजनों पर व्यय होने वाली राशि के 20 प्रतिशत से अधिक है तथा तृतीय आयोजन की व्यय-राशि की दुगुनी से भी अधिक है । सार्वजनिक क्षेत्र में शिक्षा पर व्यय होने वाली राशि का चतुर्थ आयोजन की अवधि में 26·6% प्राथमिक शिक्षा पर, 20·2% माध्यमिक शिक्षा पर, 14·5% विश्वविद्यालय शिक्षा पर तथा 20·9% तकनीकी शिक्षा पर व्यय किया जायगा । इसके अतिरिक्त सामाजिक शिक्षा एवं शिक्षकों के प्रशिक्षण पर क्रमश: 5·2% और 7·6% राशि व्यय की

जायगी। चतुर्थ आयोजन तो समय पर प्रारम्भ नहीं हो सका, किन्तु सन् 1966 से एक-एक वर्ष की योजना बनाकर शिक्षा के लिए बजट बनाये जा रहे हैं। आशा है सन् 1969 में चतुर्थ आयोजन विधिवत लागू किया जायगा। सन् 1967-68 में 113·82 करोड़ रुपये व्यय हुए थे। सन् 1968-69 के लिए 121·46 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी है, जो अत्यन्त अपर्याप्त है और शिक्षा-वृद्धि में सहायक नहीं है।

सन् 1950-51 से आगे शिक्षा संस्थाओं, विद्यार्थियों तथा शिक्षकों की संख्या और व्यय की प्रगति को निम्नलिखित तालिका में देखा जा सकता है :

| वर्ष | संस्थाएँ (लाख) | विद्यार्थी (लाख) | शिक्षक (लाख) | प्रत्यक्ष व्यय (करोड़ रु०) | परोक्ष व्यय (करोड़ रु०) | कुल व्यय (करोड़ रु०) |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 1950-51 | 2·87 | 255·43 | 8·04 | 91·05 | 23·33 | 114·38 |
| 1955-56 | 3·67 | 339·24 | 11·07 | 144·81 | 44·85 | 189·66 |
| 1960-61 | 4·73 | 479·63 | 15·08 | 257·17 | 86·94 | 344·11 |
| 1963-64 | 6·94 | 602·29 | 19·29 | 363·77 | 111·50 | 475·27 |
| 1965-66 | 8·10 | 830·50 | 22·25 | 449·49 | 150·50 | 599·99 |

उपर्युक्त तालिका के अनुसार गत 15 वर्षों में शिक्षा संस्थाओं, विद्यार्थियों एवं शिक्षकों की संख्या में लगभग तीन गुनी से चार गुनी तक वृद्धि हुई है। शिक्षा-व्यय में भी नियोजन काल में लगभग पाँच गुनी वृद्धि हो गयी है। व्यय के साधनों की दृष्टि से अधिकांश व्यय सरकार द्वारा प्रदान किया जाता है। शेष व्यय स्थानीय सत्ताओं, फीस तथा अन्य साधनों से उपलब्ध होता है। विभिन्न साधनों से होने वाले व्यय की तुलनात्मक स्थिति तथा प्रगति का अनुमान निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :

### शिक्षा-व्यय का प्रतिशत साधनों के आधार पर

| साधन | 1950-51 | 1955-56 | 1960-61 | 1965-66 (अनुमान) |
|---|---|---|---|---|
| (1) राजकोष | 57·1 | 61·8 | 68·0 | 71·2 |
| (2) स्थानीय सत्ताएँ | 10·9 | 8·6 | 6·5 | 6·3 |
| (3) फीस | 20·4 | 20·0 | 17·1 | 15·3 |
| (4) अन्य साधन | 11·6 | 9·6 | 8·4 | 7·2 |
| | 100·0 | 100·0 | 100·0 | 100·0 |

इस प्रकार राजकोष से होने वाला व्यय 57·1% से बढ़कर गत 15 वर्षों में 71·2% हो गया है। इसकी तुलना में शेष सभी साधनों से होने वाले व्यय में गिरावट दिखायी दे रही है।

चतुर्थ आयोजन काल में शिक्षा को शिक्षा आयोग की सिफारिशों के अनुरूप ढालने का प्रयास किया जायगा जिसकी नियुक्ति भारत सरकार ने जुलाई 1964

में की थी। भारतीय शिक्षा आयोग ने जून 1966 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए सभी स्तरों पर शिक्षा के सुधार के महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे हैं। इन सभी सुझावों की समीक्षा एक पृथक अध्याय में आगे चलकर की गयी है। योजना आयोग का मत है कि भविष्य में शिक्षा को देश की आर्थिक आवश्यकताओं से सम्बद्ध करना आवश्यक होगा। शिक्षा के मानदण्ड में सुधार, शिक्षकों की स्थिति में सुधार, तकनीकी शिक्षा को प्राथमिकता, वैज्ञानिक अनुसन्धान, प्रौढ़ साक्षरता तथा स्त्री-शिक्षा इत्यादि प्रश्नों पर चतुर्थ आयोजन में विशेष बल दिया जा रहा है। आयोजन काल में होने वाली इस प्रगति को निम्नलिखित तालिका से जाना जा सकता है :

### आयोजन-काल में छात्र-संख्या में प्रगति

(संख्या मिलियन में, नं० 5 को छोड़कर)

| **स्तर तथा आयु-समूह** | 1950-51 | 1955-56 | 1960-61 | 1965-66 | 1970-71 (लक्ष्य) |
|---|---|---|---|---|---|
| प्राथमिक I-V (6–11) | | | | | |
| संख्या | 19·15 | 25·17 | 34·99 | 51·50 | 69·50 |
| प्रतिशत | (42·6) | (52·9) | (62·2) | (78·5) | (92·2) |
| मिडिल VI-VIII (11–14) | | | | | |
| संख्या | 3·12 | 4·29 | 6·70 | 11·00 | 19·00 |
| प्रतिशत | (12·7) | (16·5) | (22·5) | (32·2) | (47·4) |
| माध्यमिक IX-XI (14–17) | | | | | |
| संख्या | 1·22 | 1·88 | 2·96 | 5·24 | 9·00 |
| प्रतिशत | (5·8) | (7·8) | (11·7) | (17·8) | (22·1) |
| विश्वविद्यालय (17–23) (कला, विज्ञान, वाणिज्य) | | | | | |
| संख्या | (0·30) | 0·52 | 0·73 | 1·10 | 1·60 |
| प्रतिशत | (0·7) | (1·1) | (1·5) | (1·9) | (2·4) |
| तकनीकी शिक्षा प्रवेश-क्षमता | | | | | |
| डिप्लोमा (संख्या) | 5,900 | 10,480 | 25,800 | 49,900 | 68,000 |
| डिग्री (संख्या) | 4,120 | 5,890 | 13,820 | 24,700 | 30,000 |

**नोट**—प्रतिशत कोष्ठक में दिये गये हैं।

छात्रों की संख्या में वृद्धि होने के साथ ही साथ शिक्षा-संस्थाओं, शिक्षकों की संख्या तथा व्यय में भी इस काल में पर्याप्त प्रगति हुई है। नीचे हम संक्षेप में सभी स्तरों पर इस प्रगति का उल्लेख करेंगे। इनकी सविस्तार समीक्षा आगे चलकर पृथक-पृथक अध्यायों में की गयी है।

(1) **पूर्व-प्राथमिक शिक्षा**—सन् 1950-51 में भारत में पूर्व-प्राथमिक (pre-primary) स्कूलों की संख्या केवल 303 थी। किन्तु अब यह संख्या लगभग 3000 हो गयी है। छात्रों की संख्या भी इस अवधि में लगभग 22 हजार से बढ़कर 2 लाख हो गयी है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा अभी तक अपनी प्रारम्भिक

अवस्था में ही है । देश की विशालता तथा बच्चों की संख्या को देखते हुए यह सुविधा नगण्य है । देश के अधिकांश बच्चे पूर्व-प्राथमिक शिक्षा से वंचित हैं । इस समय केवल कुछ धनी वर्ग के बालकों के अतिरिक्त शेष बालक इस शिक्षा को नहीं पा सकते । यह शिक्षा प्रायः व्यक्तिगत प्रयास के अन्तर्गत है । सरकार केवल शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा शिक्षा-प्रणाली के अधिक उपयुक्त बनाने के प्रयासों तक ही अपने को सीमित रखना चाहती है । ईसाई मिशनरियों ने पूर्व-प्राथमिक शिक्षा पर एक प्रकार से एकाधिकार कर लिया प्रतीत होता है, जिन्हें अधिकांश में विदेशों से सहायता मिलती है । इसके अच्छे और बुरे दोनों ही परिणाम होने की आशंका है ।

(2) **प्राथमिक शिक्षा**—एक विकासशील देश के लिए प्राथमिक शिक्षा अत्यन्त महत्त्व रखती है । नियोजन के प्रथम 15 वर्षों में प्राथमिक छात्रों की संख्या 192 लाख से बढ़कर 515 लाख हो गयी है । प्राथमिक शिक्षा का प्रसार सभी वर्गों में तीव्रता के साथ हो रहा है । तथापि अभी तक हम संविधान के अन्तर्गत निर्धारित किये गये निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य से नीचे हैं । इस लक्ष्य की पूर्ति 1981 से पूर्व होने की सम्भावना नहीं दिखायी देनी । दुर्भाग्य से प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में पढ़ाई छोड़ देने वाले छात्रों की संख्या बहुत बड़ी है । इससे साधनों का अत्यन्त दुरुपयोग होता है । ऐसा अनुमान है कि 60% बच्चे बीच में ही बैठे रहते हैं । चतुर्थ आयोजन में शिक्षा पर व्यय होने वाली सम्पूर्ण 1210 करोड़ रुपये की व्यय-राशि में से 322 करोड़ रुपये प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करने का लक्ष्य था । प्राथमिक स्तर पर बेसिक शिक्षा को देश भर में लागू कर दिया गया है ।

(3) **माध्यमिक शिक्षा**—इधर प्राथमिक शिक्षा की सुविधाओं में वृद्धि होने तथा पिछड़े हुए वर्गों के लिए विशेष सुअवसर प्रदान किये जाने के कारण नियोजन काल में माध्यमिक शिक्षा के आकार में भी भारी वृद्धि हुई है । छात्रों की संख्या गत तीन आयोजनों में 50 लाख से बढ़कर लगभग 160 लाख हो गयी है जो सन् 1970-71 तक 280 लाख हो जायगी ।

दुर्भाग्य से आकार बढ़ने के साथ ही साथ शिक्षा का मानदण्ड गिरता जा रहा है । मुदालियर आयोग तथा नरेन्द्रदेव समिति ने माध्यमिक शिक्षा को बहुमुखी तथा अधिक जीवनोपयोगी बनाने, शिक्षण-प्रणाली के सुधार, परीक्षा-प्रणाली में सुधार, शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा दशा में सुधार तथा माध्यमिक शिक्षा को अपने आप में एक पूर्ण इकाई बनाने पर बल दिया गया था । किन्तु अभी तक इन सिफारिशों को कार्यान्वित नहीं किया जा सका है, फलतः स्थिति गिरावट की ओर है । अब यह अनुभव किया जा रहा है कि माध्यमिक शिक्षा को इस प्रकार से विकसित किया जाय कि कुछ मेधावी छात्रों को तो वह विश्वविद्यालयों के लिए तथा शेष को जीवन के विभिन्न उद्यमों एवं व्यवसायों के लिए तैयार करें । इसके लिए एक बहुमुखी पाठ्य-क्रम की आवश्यकता होगी । उच्चतर माध्यमिक प्रणाली तथा बहु-उद्देशीय स्कूल

प्रणाली को कुछ राज्यों में विशेष रूप से विकसित किया जा रहा है। चतुर्थ आयोजन में माध्यमिक शिक्षा पर 243 करोड़ रुपये व्यय करने का लक्ष्य है।

(4) **विश्वविद्यालय शिक्षा**—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त विश्वविद्यालय शिक्षा में तीव्र वृद्धि हुई है। छात्रों की संख्या सन् 1950 से 1965 की अवधि में 3 लाख से बढ़कर 11 लाख हो गयी है। सन् 1970 तक यह संख्या 16 लाख हो जायगी। विश्वविद्यालयों की संख्या सन् 1947 में 19 से बढ़कर इस समय 75 तक हो गयी है। इसी प्रकार उच्च शिक्षा के अन्य केन्द्रों की संख्या भी तेजी से बढ़ रही है। विश्वविद्यालय स्तर पर, विशेषतः कला विभागों में, छात्रों की संख्या पर प्रतिबन्ध लगाने की बात का प्रायः सभी क्षेत्रों में सुझाव दिया जा रहा है और यह अनुभव किया जा रहा है कि आवश्यक रूप से अयोग्य छात्रों को उच्च शिक्षा देना देश के अलभ्य साधनों का दुरुपयोग करना है। अतः उच्च शिक्षा केवल मेधावी छात्रों के लिए रखी जाय। शेष छात्र माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त ही किसी उद्यम में चले जायँ। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विज्ञान तथा तकनीकी विषयों की शिक्षा को अधिक प्रोत्साहन दिया जाना आवश्यक है। पोस्ट-ग्रेजुएट स्तर तथा अनुसन्धान स्तर पर सुविधाएँ बढ़ाने की माँग सर्वत्र की जा रही है जो उचित ही है। ग्रामीण क्षेत्रों में 'रूरल इन्स्टीट्यूट' उच्च शिक्षा प्रदान करने के विशेष संस्थानों के रूप में विकसित किये गये हैं। इनका शिक्षण देश में ग्रामीण विकास-कार्यों से सम्बद्ध किया गया है। इनमें से कुछ संस्थाओं को विश्व-विद्यालय का स्तर प्रदान कर दिया गया है। विश्वविद्यालय शिक्षा पर 175 करोड़ रुपये चतुर्थ आयोजन में व्यय किये जायेंगे।

(5) **अन्य**—उपर्युक्त विशिष्ट क्षेत्रों के अतिरिक्त आयोजन काल में शिक्षकों के प्रशिक्षण, स्त्री-शिक्षा, व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा, सामाजिक शिक्षा, शारी-रिक शिक्षा, पाठ्य-पुस्तकों की रचना, भाषाओं के विकास, सांस्कृतिक कार्यक्रम का प्रसार, छात्रवृत्तियाँ, अनुसन्धान, शिक्षकों के वेतन में सुधार, शिक्षा-प्रशासन तथा पिछड़े वर्गों के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान करने इत्यादि पर भी विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। चतुर्थ आयोजन में इन सभी प्रयासों को जारी रखा जायगा।

**उपसंहार**

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में शिक्षा प्रगति के पथ पर है। देश की जनसंख्या को शिक्षा प्राप्त करने के सुअवसर देने के लिए सरकार भरसक प्रयत्न कर रही है। किन्तु इन प्रयत्नों की अपेक्षाकृत भी समस्या इतनी विशाल और दुरूह है कि इसका हल सरलता से नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में जो कुछ भी प्रयत्न इस दिशा में किये जा रहे हैं वे कदापि पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। आज हम भारत में प्रायः सभी शिक्षाशास्त्रियों तथा बड़े राजनीतिक नेताओं को यह कहते हुए पाते हैं कि देश की शिक्षा-प्रणाली दूषित तथा देश और काल के अनुपयुक्त है। निस्सन्देह यह मत आंशिक रूप से सत्य भी माना जा सकता है। किन्तु आज तो भारत स्वतन्त्र है और हमें अपनी शिक्षा-प्रणाली को अपने मनोनुकूल ढालने के सभी अधिकार और सुअवसर प्राप्त

हैं तो फिर क्यों नहीं हमारे शिक्षाशास्त्री अथवा सरकार इस 'दोषपूर्ण' शिक्षा-प्रणाली का सुधार करते ? वास्तव में हम यह बात स्पष्ट रूप से और निर्भय होकर स्वीकार कर सकते हैं कि अभी तक स्वयं हमारे शिक्षाशास्त्रियों के सम्मुख भी कोई ऐसा स्पष्ट चित्र देश की भावी शिक्षा-प्रणाली के लिए नहीं है जिसे वे देश के समक्ष रख सकें। अंग्रेजी काल से चली आने वाली शिक्षा-प्रणाली अथवा परम्पराओं का निर्वाह किया जा रहा है और अधिकांश में उसी पद्धति को आगे बढ़ाया जा रहा है। इसके लिए निश्चय ही शिक्षा के सम्पूर्ण चित्र को पुनः खींचकर उसमें नये रंग भरने होंगे। यह बिना किसी पूर्व नियोजन के सम्भव नहीं है। इसके लिए पाठ्यक्रम में आमूल परिवर्तन करके उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना; प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व देकर शिक्षण-विधि को वैज्ञानिक बनाना; विश्वविद्यालय शिक्षा में लोकोपयोगी विषयों का समावेश करके उसे जीवन व देश के अधिक उपयुक्त बना देना; टेकनीकल एवं व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक बल देना; स्त्री-शिक्षा की विशेष सुविधाएँ उपलब्ध करना; सामाजिक शिक्षा के लिए विशेष शिक्षालयों की स्थापना तथा अन्त में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य सभी स्तरों पर शिक्षक और शिक्षण की दशाओं में सुधार एवं शिक्षक को पर्याप्त साहित्यिक स्वतन्त्रता (academic autonomy) तथा अनुसन्धान और अध्ययन की सुविधाएँ प्रदान करना इत्यादि कुछ ऐसे सुझाव हो सकते हैं जो भारत में शिक्षा के मौलिक दोषों को दूर करके उसे अन्य देशों के समकक्ष ला सकते हैं।

यह आवश्यक है कि भारतीय शिक्षा के कुछ विशिष्ट पक्षों, जैसे बेसिक एवं प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा, टेकनीकल तथा सामाजिक शिक्षा, शिक्षा की प्रमुख समस्याएँ एवं आधुनिक भारत में किये गये कुछ प्रमुख शिक्षा-परीक्षणों का संक्षेप में विवरण दिया जाय। अतः आगामी अध्यायों में इन्हीं का विवेचन किया जायगा।

## सारांश

**देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त शिक्षा का बड़ी तेजी से विकास हो रहा है। बेसिक व प्रथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा, सामाजिक शिक्षा, टेकनीकल व व्यावसायिक शिक्षा, अशक्तों की शिक्षा, प्रान्तीय भाषाओं का विकास, छात्रवृत्तियों की व्यवस्था, वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों को प्रोत्साहन इत्यादि ऐसे प्रमुख कार्यक्रम हैं जो स्वतन्त्रता के उपरान्त विशेष रूप से विकसित किये जा रहे हैं। पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा के विकास के लिए विशाल धन-राशि व्यय की जा रही है। इधर शिक्षा-क्षेत्र में चली आने वाली साहित्यिक विषयों की प्रमुखता को हटाकर अब उसे अधिकाधिक टेकनीकल स्वरूप प्रदान किया जा रहा है। शिक्षा के मानदण्ड को ऊँचा करना, शिक्षकों की योग्यता तथा आर्थिक स्थिति में सुधार, छात्रों में व्याप्त देशव्यापी असन्तोष की तुष्टि, अच्छी पाठ्य-पुस्तकों की उपलब्धि, पर्याप्त पुस्तकालय प्रयोगशालाएँ तथा छात्र-कल्याणकारी कार्यक्रम इत्यादि देश की शिक्षा-प्रणाली की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं जिनका समाधान आवश्यक है।**

# 18

# प्राथमिक एवं बेसिक शिक्षा

**प्राथमिक शिक्षा**

प्राथमिक शिक्षा किसी भी देश की शिक्षा-प्रणाली की आधारशिला है। भारत में गत दो शताब्दियों से इस आधार का शिलान्यास आधुनिक ढंग से किया जा रहा है। इसके विकास का युग तो वास्तव में एक शताब्दी ही माना जा सकता है। जब से वुड ने सन् 1854 में अपने शिक्षा-पत्र की घोषणा की, उसी समय से विभिन्न स्थितियों में होकर प्राथमिक शिक्षा गुजरी है और आज अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हो सकी है, जैसा कि पिछले अध्याओं में वर्णन किया गया है। सन् 1937 में महात्मा गांधी के सुझाव के आधार पर भारत ने प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन परीक्षण किया जिसे 'बेसिक शिक्षा' कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन आगे इसी अध्याय में किया जायगा। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को एक देशव्यापी मान्यता प्रदान की जा चुकी है कि अब भविष्य में सामान्य प्राथमिक पाठशालाओं के स्थान पर बेसिक पाठशालाओं की ही स्थापना की जाय तथा पूर्व-स्थित सामान्य स्कूलों को क्रमशः बेसिक पाठशालाओं में परिवर्तित किया जाय। इस नीति की अपेक्षाकृत भी देश के अधिकांश प्राथमिक स्कूल अभी परम्परागत पुराने प्रकार के ही हैं।

प्राथमिक शिक्षा का प्रसार मूलतः राज्य सरकारों का ही उत्तरदायित्व है, तथापि केन्द्रीय व राज्य सरकारों की सलाह के लिए 'अखिल भारतीय प्राथमिक शिक्षा परिषद्' की स्थापना की जा चुकी है जो प्राथमिक शिक्षा के विकास तथा अनिवार्य निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में उन्हें सलाह देती है। ऐसी आशा की जा रही है कि चतुर्थ योजना के अन्त तक देश में 6–11 वर्ष के आयु समूह के 92·2 प्रतिशत बालकों के लिए निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जा सकेगी। इसके लिए पर्याप्त मात्रा में शिक्षकों की आवश्यकता होगी, जिनके प्रशिक्षण का सूत्रपात किया जा चुका है। सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य 1981 तक पूर्ण होने की आशा है। सन् 1967-68 में भारत में 4 लाख प्राथमिक पाठशालाएं थीं, जिनमें 5 करोड़ बालक शिक्षा पाते थे।

इनके अतिरिक्त जूनियर तथा सीनियर बेसिक शिक्षा संस्थाएँ पृथक थीं, जिनकी संख्या क्रमश: 90 हजार तथा 20 हजार के लगभग थी।

**बेसिक शिक्षा का विकास**

आधुनिक भारत में शिक्षा-क्षेत्र में होने वाली सभी हलचलों में बेसिक शिक्षा का प्रादुर्भाव एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। सन् 1937 में प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के उपरान्त यह बात और भी अधिक तीव्रता से अनुभव की जाने लगी कि बालक की शिक्षा को, विशेषत: प्राथमिक तथा पूर्व-माध्यमिक क्षेत्रों में, अधिक सार्थक व उपयोगी बनाया जाय। महात्मा गांधी 'हरिजन' के द्वारा इस सम्बन्ध में क्रमश: अपने विचार प्रकट कर रहे थे।[1] अत: 22 व 23 अक्टूबर, 1937 को वर्धा शिक्षा सम्मेलन में उन्होंने अपने विचारों को एक शिक्षा-योजना के रूप में प्रस्तुत किया। यह वह समय था जब अधिकांश भारतीय नेता तत्कालीन शिक्षा-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उसे किसी न किसी प्रकार एक राष्ट्रीय रूप देकर अधिक उपयोगी एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए व्याकुल थे।

2 अक्टूबर, 1937 को गांधीजी ने 'हरिजन' में एक लेख लिखा, जिसमें वर्धा में उसी वर्ष 22 व 23 अक्टूबर को एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन बुलाने का उल्लेख किया और अपने चार प्रमुख प्रश्न शिक्षा के सम्बन्ध में रखे, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :

(1) वर्तमान शिक्षा-पद्धति में अंग्रेजी की प्रमुखता है, अत: जनसमूह तक ज्ञान नहीं पहुँच सकता;

(2) प्राथमिक शिक्षा की अवधि सात वर्ष कर दी जाय;

(3) बालकों के सर्वांगीण विकास के लिए उन्हें शिक्षा यथासम्भव किसी लाभदायक क्राफ्ट के माध्यम से दी जाय; और

(4) उच्च शिक्षा वैयक्तिक प्रयासों पर छोड़ दी जाय। विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था करेंगे।

तदनुसार महात्मा गांधी के सभापतित्व में 'मारवाड़ी शिक्षा मण्डल' की रजत-जयन्ती के अवसर पर नवभारत विद्यालय में वर्धा सम्मेलन का आयोजन हुआ। श्रीमन्नारायण अग्रवाल इस सम्मेलन के संयोजक थे। देश के भिन्न-भिन्न भागों से शिक्षा-शास्त्रियों तथा प्रान्तीय शिक्षा मन्त्रियों ने इसमें भाग लिया। सम्मेलन में सभापति पद से भाषण देते हुए महात्माजी ने अपनी योजना प्रस्तुत की। उन्होंने कहा—

> "By education I mean an all-round drawing out of the best in child and man—body, mind and spirit...........Literacy itself is no education, I would, therefore, begin the child's education by teaching it a useful handicraft and enabling it to produce from the moment it begins its training. Thus, every school can be made self-supporting, the condition being that the State takes over the manufacture of these schools." —*Harijan*, July 1937.

"जो विचार मैं आपके समक्ष रखना चाहता हूँ उनके कहने का ढंग नया है, यद्यपि उन विचारों के सम्बन्ध में मेरा अनुभव पुराना है। जो प्रस्ताव मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ वे प्राथमिक और कॉलेज शिक्षा दोनों से ही सम्बन्धित हैं, किन्तु प्राथमिक शिक्षा पर हमें विशेष ध्यान देना होगा। माध्यमिक शिक्षा को मैंने प्राथमिक शिक्षा में ही सम्मिलित कर दिया है, क्योंकि प्राथमिक शिक्षा ही एकमात्र वह तथाकथित शिक्षा है जो ग्रामीणों के एक अल्पांश को उपलब्ध है जिसे मैंने 1915 से अपने भ्रमणों में देखा है।

"मेरा विश्वास है कि यदि हम गाँवों की दशा में सुधार चाहते हैं तो हमें प्राथमिक शिक्षा के साथ ही माध्यमिक शिक्षा को मिला देना चाहिए। अतः जो शिक्षा योजना हम रखने जा रहे हैं वह प्रधानतः ग्रामीण होनी चाहिए।····यदि इस समय हम प्रारम्भिक शिक्षा की समस्या को हल कर लेते हैं तो कॉलेज की उच्च शिक्षा-समस्या आसानी से हल की जा सकती है।

"मेरा पूर्ण विश्वास है कि वर्तमान प्राथमिक शिक्षा-पद्धति न केवल अपव्ययपूर्ण ही है, वरन् हानिप्रद भी है। अधिकतर बालक न तो अपने माँ-बाप के काम के रहते हैं और न उस पेशे के जो उनका जन्मजात पेशा है। वे शहरों की गन्दी आदतों को सीख लेते हैं और जो अर्द्धज्ञान प्राप्त करते हैं उसे शिक्षा के अतिरिक्त चाहे जो कुछ कह लीजिए, किन्तु शिक्षा नहीं। तो फिर माध्यमिक शिक्षा का रूप क्या होना चाहिए ? मेरी राय में इसकी एक मात्र ओषधि है व्यवसायों अथवा हस्तकलाओं द्वारा शिक्षा देना। मुझे टॉल्स्टाय फार्म में अपने पुत्रों तथा अन्य बच्चों को लकड़ी तथा चमड़े के काम के द्वारा पढ़ाने का अनुभव है।···

"मेरी योजना के उद्देश्य तथाकथित उदार शिक्षा के साथ-साथ केवल कुछ हस्तकलाएँ ही सिखाना नहीं है। मैं चाहता हूँ कि सम्पूर्ण शिक्षा किसी हस्तकला अथवा उद्योग के माध्यम से दी जाय। यह कहा जा सकता है कि मध्ययुग में विद्यार्थियों को केवल हस्तकार्य ही सिखाये जाते थे, किन्तु उन दिनों में व्यावसायिक प्रशिक्षण का उद्देश्य शिक्षा सम्बन्धी नहीं था। हस्तकार्य केवल उद्यम के लिए ही सिखाये जाते थे और बुद्धि के विकसित करने का कोई प्रयास नहीं किया जा सकता था।···

"प्रायोगिक शिक्षा द्वारा किसी उद्यम की कला तथा विज्ञान को सिखाने और उसी के द्वारा सम्पूर्ण शिक्षा देने से ही सुधार होगा। उदाहरणतः तकली से कताई सिखाने में कपास की किस्में, उसके लिए उपयुक्त भारतीय प्रान्तों में भूमि, इस उद्योग के ह्रास का इतिहास, इसके राजनीतिक कारण जिसमें भारत में अंग्रेजी शासन भी सम्मिलित होगा तथा गणित इत्यादि पढ़ाये जाने चाहिए। यही परीक्षण मैं अपने पौत्र पर कर रहा हूँ जो यह अनुभव नहीं कर पाता कि उसे पढ़ाया जा रहा है अथवा नहीं। मैं तकली का विशेष उल्लेख कर रहा हूँ, क्योंकि मैं इसकी शक्ति तथा इसके 'रोमांस' का अनुभव कर रहा हूँ। कपड़ा बनाने में इसका उपयोग भी भारत में किया जा सकता है। साथ ही तकली बड़ी सस्ती है। देश की दयनीय आर्थिक स्थिति को देखते हुए तकली ही एकमात्र हमारी समस्या का व्यावहारिक हल है।

"मैंने मन्त्रियों के सम्मुख इस योजना को रख दिया है। इसे स्वीकार या अस्वीकार करना उनका काम है। किन्तु मेरी सलाह है कि प्राथमिक शिक्षा का केन्द्र तकली हो।....तकली के द्वारा उत्पादन सम्भव होगा, क्योंकि बच्चों के द्वारा बने हुए कपड़ों की माँग भी बहुत होगी। मैंने एक सात वर्ष के 'कोर्स' का अनुमान लगाया है, जिसका उद्देश्य कातना, बुनना, रँगना तथा डिजाइन बनाने का व्यावहारिक ज्ञान सिखाना होगा।

"शिक्षक का खर्च निकालने का भी मुझे ध्यान है। इसका साधन बच्चों की बनायी हुई वस्तुओं को बेचकर ही निकाला जा सकता है। अन्यथा करोड़ों बच्चों की शिक्षा का कोई अन्य साधन नहीं है।...इस प्राथमिक शिक्षा में सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा, भोजन इत्यादि के साधारण नियमों के ज्ञान के साथ-साथ स्वावलम्बन तथा माँ-बाप की सहायता करने का सिद्धान्त भी निहित है। वर्तमान पीढ़ी के बच्चे स्वच्छन्दता तथा आत्मनिर्भरता से परिचित नहीं हैं और शारीरिक रूप से भी दुर्बल हैं। अतः मैं संगीत, ड्रिल के साथ-साथ अनिवार्य शिक्षा देने के पक्ष में हूँ।

"मेरी योजना के आलोचकों का कथन है कि मैं साहित्यिक शिक्षा का विरोधी हूँ। यह बात नहीं है। मैं तो ऐसी शिक्षा देने का मार्ग प्रशस्त कर रहा हूँ। यह भी कहा जाता है कि जब हमें करोड़ों रुपये शिक्षा पर व्यय करने चाहिए, तब हम उल्टे बच्चों का शोषण करते जा रहे हैं। यह भी भय किया जा रहा है कि इस योजना में बहुत अपव्यय होगा। किन्तु अनुभव इन सब भयों को व्यर्थ सिद्ध कर देता है। जहाँ तक शोषण और बच्चों पर भार डालने का प्रश्न है, मैं पूछता हूँ कि क्या सर्वनाश से बचाना उन पर भार डालना है ? तकली एक अच्छा खिलौना है, उत्पादक होने से क्या यह खिलौना नहीं रहता ? आज भी कुछ सीमा तक बच्चे अपने माँ-बाप की सहायता करते ही हैं।....इस प्रकार जब बच्चे को सूत कातना अथवा माँ-बाप की खेती में सहायता करना सिखाया जायगा तो उसमें यह भावना भी आ जायगी कि वह अपने माँ-बाप का ही नहीं अपितु गाँव तथा देश का भी है और उसे उनका भी ऋण चुकाना चाहिए। यही एकमात्र मार्ग है। मैं मन्त्रियों से कहूँगा कि बच्चों को शिक्षा में सहायता देना तो उन्हें अपंगु बना देना है। यदि बच्चे अपनी शिक्षा का व्यय स्वयं कमाते हैं तो वे स्वावलम्बी तथा वीर बनेंगे। हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई सभी के लिए यही शिक्षा है। लोग पूछते हैं कि मैं धार्मिक शिक्षा पर बल क्यों नहीं देता ? क्योंकि मैं उन्हें स्वावलम्बन का व्यावहारिक धर्म सिखा रहा हूँ।"

इसके उपरान्त गांधीजी ने शिक्षकों की भर्ती के विषय में बोलते हुए कहा कि शिक्षकों को स्वेच्छा से अपनी सेवाएँ देश को अर्पित करनी चाहिए। गांधीजी ने यह भी कहा कि "इस शिक्षा की सफलता की कसौटी इसे स्वावलम्बी बनाना ही है। सात वर्ष के अन्त में बच्चों को अपनी शिक्षा पर व्यय पूरा कर देना चाहिए और कमाऊ बन जाना चाहिए।"

अन्त में अपने भाषण को समाप्त करते हुए महात्माजी ने कहा कि "यदि हम

साम्प्रदायिक विद्वेष तथा अन्तरराष्ट्रीय झगड़ों को मिटाना चाहते हैं, तो हमें नींव सुदृढ़ तथा शुद्ध रखनी चाहिए और उसके लिए नयी पीढ़ी को मेरी योजना के अनुसार शिक्षा मिलनी चाहिए । इस योजना का स्रोत अहिंसा है ।''''हमें अपने बच्चों को अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा राष्ट्रीय प्रतिभा का वास्तविक प्रतिनिधि बनाना है । जब तक हम उन्हें स्वावलम्बन पर आधारित प्राथमिक शिक्षा नहीं देंगे, तब तक ऐसा करना असम्भव है । यूरोप हमारा आदर्श नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी योजनाएँ हिंसा पर आधारित हैं ।''' यदि भारत ने हिंसा से दूर रहने की प्रतिज्ञा की है तो यह शिक्षा-पद्धति ही उसके प्राप्त करने का प्रमुख साधन हो सकती है । हमसे कहा जाता है कि इंगलैण्ड और अमरीका में शिक्षा पर करोड़ों रुपये व्यय किये जाते हैं; किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि यह सब धनराशि शोषण द्वारा प्राप्त की जाती है । वहाँ शोषण-कला ने विज्ञान का रूप धारण कर लिया है । हम न तो शोषण की बात सोच सकते हैं और न सोचेंगे ही । अतः अहिंसा पर आश्रित शिक्षा के अतिरिक्त हमारे समक्ष कोई अन्य विकल्प नहीं ।"

महात्माजी के भाषण के उपरान्त डॉ० जाकिर हुसैन तथा प्रो० के० टी० शाह इत्यादि विद्वानों ने इस योजना की समालोचना की । भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आये हुए शिक्षा मन्त्रियों ने योजना की सराहना करते हुए इसकी कुछ त्रुटियों पर प्रकाश डाला तथा कुछ कठिनाइयों को भी सम्मुख रखा । गांधीजी ने सभी आलोचकों को सन्तोष-जनक उत्तर दिये और इसके प्रयोग करने के सुझाव रखे । आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर, महादेव देसाई, बी० जी० खेर तथा पं० रविशंकर शुक्ल इत्यादि नेताओं ने भी योजना का समर्थन किया । अन्त में वे चार प्रस्ताव रखे गये, जिनका सार प्रारम्भ में दिया जा चुका है । ये प्रस्ताव निम्नलिखित रूप में पास हुए :

**प्रस्ताव**

(1) सम्मेलन की राय से समस्त देश में सात वर्ष तक सभी बालक और बालिकाओं को निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा दी जाय ।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो ।

(3) सम्मेलन महात्मा गांधी के विचारों का समर्थन करता है कि इस काल में शिक्षा किसी उत्पादक हस्तकार्य को ही केन्द्र मानकर दी जाय और इसके अतिरिक्त अन्य गुणों का विकास करने के लिए अथवा कोई प्रशिक्षण देने के लिए यथासम्भव कोई ऐसा हस्तकार्य चुना जाय जिसका बालक के वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध हो ।

(4) सम्मेलन को आशा है कि शिक्षा के इस संगठन के अनुसार धीरे-धीरे अध्यापकों का वेतन निकलने लगेगा ।[2]

**जाकिर हुसैन समिति**

उपर्युक्त प्रस्तावों के पास होने के उपरान्त गांधीजी की योजना को व्यावहारिक रूप देने तथा एक विस्तृत पाठ्यक्रम बनाने के उद्देश्य से एक समिति बनायी गयी जिसके

[2] हरिजन, 30 अक्टूबर, 1937 ।

सभापति 'जामिया मिलिया, दिल्ली' के तत्कालीन प्रिंसिपल डॉ० जाकिर हुसैन नियुक्त हुए। उनके अतिरिक्त इसके अन्य नौ सदस्य और थे, जिनमें प्रमुख श्री आर्यनायकम (संयोजक), आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर, जे० सी० कुमारप्पा, मशरूवाला तथा प्रो० के० टी० शाह थे। इनको कुछ अन्य सदस्य चुनने (to co-opt) का अधिकार भी दे दिया गया। 2 सितम्बर, 1937 तथा अप्रैल 1938 को समिति ने अपने दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। एक में योजना के मूलभूत सिद्धान्तों, प्रचलित शिक्षा-प्रणाली, महात्मा गांधी का नेतृत्व, स्कूलों में हस्तकार्य, योजना में नागरिकता के गुणों का निहित होना तथा योजना के स्वावलम्बन का आधार आदि उपशीर्षकों से लेकर योजना के उद्देश्य, बेसिक शिक्षा के सात वर्ष के पाठ्यक्रम की संक्षिप्त रूपरेखा, अध्यापकों का प्रशिक्षण, निरीक्षण और परीक्षा-नियम इत्यादि तथा शिक्षा के प्रशासन व संगठन की रूपरेखा तक का वर्णन है। अन्त में प्रमुख हस्तकार्य 'कताई व बुनाई' का विस्तृत पाठ्यक्रम दिया गया है। दूसरे प्रतिवेदन में समिति ने अन्य बुनियादी हस्तकार्यों, जैसे कृषि, धातु-कार्य व लकड़ी का कार्य इत्यादि को भी सम्मिलित करके उनकी विधि तथा पाठ्यक्रम का पूर्ण विवरण दिया है तथा इन बुनियादी हस्तकार्यों का अन्य विषयों से सम्बन्ध स्थापित करने (correlation) की विधि की भी व्यवस्था की है। जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट फरवरी, 1938 में हरीपुरा कांग्रेस अधिवेशन में वाद-विवाद के लिए रखी गयी। कांग्रेस ने इसे अधिकृत रूप से स्वीकार कर लिया। इसी बीच में रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर इसका देश में प्रचार हुआ और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से आलोचनाएँ आने लगीं। गांधीजी ने 'हरिजन' के द्वारा समय-समय पर सभी आलोचनाओं का उत्तर दिया तथा शंकाओं का समाधान किया। इस प्रकार पूर्ण रूप से मँजने के उपरान्त बेसिक शिक्षा-योजना यू० पी०, मध्य प्रान्त, बिहार, उड़ीसा तथा बम्बई प्रान्त में लागू कर दी गयी। किन्तु, जैसा कहा जा चुका है, कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के सन् 1939 में त्याग-पत्र दे देने पर यह योजना भी अधूरी ही रह गयी। बाद में सरकारी अफसरों ने इसे हानिकारक व अव्यावहारिक बताकर हटा दिया। बिहार में अवश्य चम्पारन जिले में लगभग 27 केन्द्रों में यह जारी रही।

**वर्धा योजना की विशेषताएँ**

वर्धा योजना के फलस्वरूप देश में एक नवीन शिक्षा-पद्धति 'बेसिक शिक्षा' का प्रारम्भ हुआ। योजना के तत्त्व अथवा विशेषताओं को समझने से पूर्व यह आवश्यक है कि 'बेसिक' शब्द का इस शिक्षा के सम्बन्ध में पूर्ण महत्त्व समझ लिया जाय। प्रथमतः, इस शिशा को 'बेसिक' इसलिए कहा गया है कि यह हमारी राष्ट्रीय संस्कृति तथा सभ्यता का आधार होगी। प्रत्येक वर्ग का बालक इसे बिना भेदभाव के अपना सकेगा और उसके लिए यह अनिवार्य होगी। दूसरे, यह 'बेसिक' इसलिए होगी कि इसका माध्यम कोई 'बेसिक क्राफ्ट' होगा, अर्थात् कोई ऐसी हस्तकला जो भारतीय जीवन का आधार हो। इसके अतिरिक्त बालक की मूलभूत क्रियात्मक भावनाओं के लिए व्यवस्था भी इस शिक्षा का आधार है। इन सृजनात्मक भावनाओं की तुष्टि हस्तकला के द्वारा

हो सकेगी जिसके आधार पर बालक रुचिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकेगा । अतः एक प्रकार से बेसिक शिक्षा जीवन की आधारीय आवश्यकताओं—सामाजिक, व्यक्तिगत, आर्थिक तथा मानसिक, सभी—की पूर्ति करेगी। वस्तुतः यह जीवन का वह दृढ़ धरातल प्रदान करेगी जिस पर हमारे बालकों, समाज तथा राष्ट्र का अस्तित्व निर्भर होगा ।

अब यहाँ संक्षेप में बेसिक शिक्षा के प्रमुख तत्त्वों को देना आवश्यक है ।

(1) **शिक्षा का माध्यम बेसिक क्राफ्ट**—बेसिक शिक्षा की विशेषता यह है कि यह किसी लाभदायक बुनियादी हस्तकार्य के माध्यम से दी जाती है । वर्तमान युग में आज सभी शिक्षाशास्त्री इस सिद्धान्त को मानने लगे हैं कि बालकों को किसी उचित उत्पादन-कार्य द्वारा शिक्षा दी जाय । इस प्रकार शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध स्थापित हो जायगा । जहाँ इस क्राफ्ट के द्वारा उद्यम की समस्या हल होगी वहाँ बालक के व्यक्तित्व का भी विकास होगा और उसकी रचनात्मक तथा उत्पादक कार्य करने की आन्तरिक भावनाओं को भी पोषण मिलेगा । जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि इस प्रकार शिक्षा का माध्यम क्राफ्ट रहने से बालक को मनोवैज्ञानिक लाभ होगा, क्योंकि उसे एक ऐसी कोरी साहित्यिक तथा सैद्धान्तिक शिक्षा की दासता से मुक्ति मिलेगी जिसके प्रति उसकी आत्मा सदा विद्रोह किया करती है । इसके द्वारा शरीर और मस्तिष्क दोनों को शिक्षा प्राप्त होगी । इसका उद्देश्य केवल साक्षरता प्राप्त करना ही नहीं होगा, अपितु इसके द्वारा बालक कोई रचनात्मक कार्य करने के लिए अपने हाथ तथा बुद्धि का प्रयोग करना सीखेगा जिसका अभिप्राय होगा उसके 'व्यक्तित्व की शिक्षा'।

प्रतिवेदन में आगे कहा गया है कि सामाजिक क्षेत्र में इस शिक्षा से समाज के ऊँच-नीच के भेदभाव मिट जायेंगे और मानसिक श्रमिक तथा शारीरिक श्रमिक के बीच की खाई पट जायेगी । इससे बालक श्रम का महत्त्व भी समझेंगे ।[3]

आर्थिक दृष्टिकोण से यदि बुद्धिमत्तापूर्वक शिक्षा प्राप्त की जाय तो यह बालक को स्वावलम्बी बना देगी और शिक्षा स्वतः पूर्ण हो जायगी । इस प्रकार "ज्ञान का जीवन से सम्बन्ध स्थापित हो जायगा और इसके विभिन्न क्षेत्र एक-दूसरे से सम्बन्धित हो जायेंगे ।"

अतः बेसिक शिक्षा का केन्द्र क्राफ्ट होता है । किन्तु जैसा कि प्रतिवेदन में कहा गया है, "इस नयी शिक्षा-पद्धति का प्रधान उद्देश्य यह नहीं है कि ऐसे कारीगर उत्पन्न कर दिये जायँ जो यन्त्रवत् कोई कार्य करते रहें, अपितु इसका उद्देश्य तो क्राफ्ट में

"My plan to impart education through the medium of village handicrafts, like spinning and carding, etc., is thus conceived as spearhead of a silent social revolution fraught with the most far-reaching consequences. It will provide a healthy and moral basis of relationship between the city and the village and thus go a long way towards eradicating some of the worst evils of the present social insecurity and poisoned relationship between the classes."

—Mahatma Gandhi : quoted in *Basic National Education*, 6-7 Hindustani Talimi Sangh.

निहित साधनों का शिक्षा के लिए उपयोग करना है।" इसके लिए तो दो शर्तें होनी चाहिए : "प्रथम, जो क्राफ्ट या उत्पादक कार्य चुना जाय वह शिक्षा विज्ञान की सम्भावनाओं से सम्पन्न हो, और द्वितीय, जीवन की महत्त्वपूर्ण क्रियाओं तथा रुचियों से सम्बन्ध स्थापित करने का इस क्राफ्ट के अन्दर प्राकृतिक गुण हो तथा उसमें स्कूल पाठ्यक्रम के सम्पूर्ण अंगों का समावेश हो सके।"

इस प्रकार क्राफ्ट केवल एक स्वतन्त्र विषय की भाँति ही नहीं पढ़ाया जायगा। यह तो अन्य विषयों का भी केन्द्र होगा और उनसे सम्बन्धित कर दिया जायगा, जैसा गांधीजी ने स्वयं कहा है कि "प्रत्येक हस्तकार्य आजकल की भाँति यन्त्रवत् नहीं, वरन् वैज्ञानिक विधि से सिखाया जायगा, जिससे बालक प्रत्येक पद्धति के कार्य-कारण सम्बन्ध को भली-भाँति समझ जाय।" यदि कताई-बुनाई जैसे हस्तकार्यों को भी अन्य विषयों की भाँति पढ़ाया जायगा तो सम्पूर्ण योजना की आत्मा का ही हनन हो जायगा। किन्तु किसी भी एक क्राफ्ट को सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक क्राफ्ट की सीमाएँ होती हैं। अतः क्राफ्ट के अतिरिक्त सामाजिक वातावरण तथा प्राकृतिक वातावरण को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस प्रकार जो विषय क्राफ्ट से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है, वह बालक की प्राकृतिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित कर दिया जायगा जिनमें बालक उतनी ही रुचि रखता हो जितनी कि क्राफ्ट में।[4]

(2) **नागरिकता के गुणों का विकास**—आज का बालक कल का भावी नागरिक है। अतः शिक्षा का उद्देश्य नागरिकता के गुणों का विकास भी होना चाहिए। नयी पीढ़ी को समाज तथा देश के प्रति अपने कर्तव्यों को समझना चाहिए। आजकल के युग में एक नागरिक समाज की एक लाभदायक व उत्पादक इकाई होनी चाहिए। गांधीजी ने यह अनुभव कर लिया था कि देश की प्रचलित शिक्षा-पद्धति ऐसे शोषकों का निर्माण करती जा रही है जो दूसरों के ऊपर ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। अतः आवश्यक है कि एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का विकास किया जाय जिसमें बालक शारीरिक श्रम के गौरव को समझें और अपने ऊपर निर्भर रह सकें। बेसिक शिक्षा इस उद्देश्य की पूर्ति करती है। इसमें प्रत्येक बालक अनिवार्य रूप से कुछ हस्तकार्य

*Cf.* "If we say that Basic Education is only through craft, it is truncating Basic Education, and not giving a complete picture thereof. Basic Education comes through three factors, namely, the natural environment, the social environment and productive work. These are like the three side of an equilateral triangle such factor or aspect being very important."

—*Organising Urban Basic Schools* : A paper contributed by G. Ramachandran in *Administration of Basic Education*, pp. 37-38, National Institute of Basic Education, Government of India, 1960.

करता है। कक्षा में सभी वर्गों के बालक सामूहिक रूप से कार्य करते हैं। इस प्रकार उनमें स्वावलम्बन तथा श्रम-गौरव की भावनाओं के साथ ही साथ सहकारिता की भावनाओं का भी संचार होता है। उनमें देश तथा जाति के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और समाज-सेवा की भावना से प्रेरित होकर वे एक सामूहिक जीवन का पदार्थ-पाठ पढ़ते हैं। अतः जो चरित्र का विकास बाल्यावस्था अथवा किशोरावस्था में होता है, वह बड़े होने पर व्यावहारिक जीवन में स्पष्टतः झलकता है।

प्रायः साधारण शिक्षालयों में सहकारिता की वह भावना नष्ट हो जाती है, किन्तु बेसिक स्कूलों में इसको बहुत प्रोत्साहन मिलता है। एक रचनात्मक तथा उत्पादक कार्य करते हुए बालक गर्व के साथ यह अनुभव करता है कि वह राष्ट्र का एक प्रमुख अंग है और राष्ट्र-निर्माण तथा कल्याण का पाठ पढ़ रहा है।

(3) **योजना में आत्मनिर्भरता की भावना**—वास्तव में बेसिक शिक्षा का यह वह पक्ष है जिसकी देश में बड़ी आलोचना हुई। प्रो० के० टी० शाह ने कहा कि क्राफ्ट की शिक्षा देकर हम बालक को 'दास' बना डालेंगे और आर्थिक उद्देश्य को समक्ष रखकर बालक का शोषण करेंगे। बालक शिक्षा के महान् उद्देश्य को भूलकर किसी पेशेवर कारीगर की भाँति यन्त्रवत् तथा भावनाशून्य होकर कार्य करेगा। यह भी कहा गया है कि यह शिक्षा स्कूलों को 'फैक्टरी' बना देगी जहाँ बालक से यह आशा की जायेगी कि उसके उत्पादन से शिक्षक का वेतन चुकाया जाय। अतः शिक्षक भी आर्थिक लाभ के लिए बालक से अधिक से अधिक कार्य लेगा। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने यह भी सन्देह किया कि बालकों की बनायी हुई वस्तुएँ इतनी भद्दी होंगी कि वे बिक न सकेंगी तथा प्रारम्भ में कच्चा माल बहुत बिगड़ेगा। "स्कूल को स्वावलम्बी बनाने का तात्पर्य शिक्षालयों को उद्योग-धन्धों का केन्द्र बना देना होगा और किसी स्कूल की सफलता शिक्षा से नहीं, वरन् बेचने योग्य वस्तुओं के उत्पन्न करने से आँकी जायगी।"[5] फिर बच्चों को राज्य से शिक्षा पाने का अधिकार स्वयं है, वे उत्पादन करके क्यों पढ़ें ? इत्यादि।

यदि आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि ये सभी सन्देह और आलोचनाएँ निर्मूल व निराशावादी हैं। वास्तव में इनके विषय में बड़ी भ्रान्ति है। योजना के स्वावलम्बी अथवा आत्मनिर्भर होने का प्रयोजन यह है कि एक तो विद्यार्थियों के श्रम से ही आंशिक रूप से शिक्षक का वेतन निकल आये; और दूसरे, शिक्षा समाप्त होने पर विद्यार्थी को जीवन-निर्वाह के लिए कोई उत्पादक साधन

The ultimate object of this New Education is not only a balanced and harmonious individual but also a balanced and harmonious society...a just social order in which there is no unnatural dividing line between the haves and havenots and everybody is assured of a living wage the right to freedom."

—Mahatma Gandhi, quoted in *Basic National Education*, p. 5, Hindustani Talimi Sangh.

उपलब्ध हो सके ।[6] योजना का अभिप्राय यह नहीं है कि मात्र कारीगर उत्पन्न किये जायँ। *समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट कर दी है कि "यदि यह शिक्षा-प्रणाली स्वावलम्बी नहीं है तो भी इसे एक उचित शिक्षा नीति तथा राष्ट्र-निर्माण का तात्कालिक* साधन समझकर अपना लेना चाहिए ।" जहाँ तक व्यय का प्रश्न है, वहाँ तक तो वह दैवयोग से या अनायास (incidently) कुछ उत्पादन करके दैनिक व्यय निकाल लिया करेगी । इसके समर्थन में समिति ने कताई-बुनाई के आँकड़े देकर यह सिद्ध भी कर दिया है कि यह पद्धति आत्मनिर्भर भी हो सकती है ।

जहाँ तक उपर्युक्त आलोचनाओं के उत्तर का प्रश्न है, गांधीजी ने समय-समय पर 'हरिजन' में अपने लेखों द्वारा उन्हें स्पष्ट कर दिया है । उन्होंने लिखा था कि वेतन तथा बेसिक क्राफ्ट का व्यय बालकों के सात वर्ष के कार्य से अवश्य निकल आयेगा । प्रारम्भ में कच्चे माल का थोड़ा अपव्यय भले ही हो जाय, किन्तु आगे जाकर नहीं होगा। यह स्वाभाविक है कि योग्य शिक्षक द्वारा इसे बचाया भी जा सकता है। बच्चों द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं को राज्य खरीदेगा । नागरिक भी बच्चों के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की अधिक कीमत देकर उन्हें खरीदने में आनन्द तथा गौरव का अनुभव करेंगे। जहाँ तक बाजार में स्पर्द्धा का प्रश्न है, स्कूलों में प्रायः ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न करने का प्रयास किया जायगा जिनमें स्पर्द्धा न हो, जैसे खादी, देशी कागज, खजूर का गुड़ इत्यादि । इसी प्रकार गांधीजी ने अन्य आलोचनाओं का भी उत्तर दिया है । उनका विचार था कि सात वर्ष में किसी भी उद्यम को पूर्णतया सिखाया जा सकता है । इस प्रकार बेकारी भी मिट जायगी और बालकों में राष्ट्र-निर्माण तथा आत्मनिर्भरता के गुणों का भी प्रादुर्भाव होगा ।

गांधीजी का यह भी विश्वास था कि देश में प्राथमिक शिक्षा का विकास शीघ्राति-शीघ्र होना चाहिए और इसके लिए हम सरकारी सहायता की प्रतीक्षा अधिक दिन तक नहीं कर सकते, अतः आवश्यक है कि शिक्षा को स्वयं आत्मनिर्भर बना दिया जाय । "इस प्रकार की पूर्ण शिक्षा-पद्धति अवश्य ही आत्मनिर्भर हो सकती है और इसे होना चाहिए; वस्तुतः आत्मनिर्भरता ही इसकी वास्तविकता की कसौटी है ।"[7] जहाँ तक इन बेसिक स्कूलों को 'फैक्टरी' कहने का प्रश्न है, गांधीजी ने बताया कि ऐसा कहना वास्तविकता की ओर से आँखें बन्द कर लेना है क्योंकि फैक्टरी का उद्देश्य है

*Cf.* "As there has been controversy and difference of opinion regarding the position of craft work in Basic Schools, it is necessary to state clearly that the fundamental objective of Basic Education is nothing less than the development of child's total personality which will include productive efficiency as well."

—K. G. Saiyidain, *Aims and Objects of Basic Education and Its Curriculum*, p. 7, a paper contributed in *The Hand book for Teachers for Basic Schools*, Government of India, 1958.

*Harijan*, 2 October, 1937.

शोषण; वहाँ शिक्षा के तत्वों पर ध्यान नहीं दिया जाता, किन्तु बेसिक स्कूल का उद्देश्य तो एकमात्र शिक्षा देना होगा। हस्तकार्य तो केवल शिक्षा का माध्यम होगा, न कि उद्देश्य।[8]

समिति के प्रतिवेदन में अन्त में यह भी चेतावनी दी गयी है कि इस बात का पूरा-पूरा भय है कि योजना के आर्थिक पक्ष पर अधिक ध्यान देकर शिक्षक सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी पक्ष को बलिदान कर दे तथा अपना अधिकांश समय व ध्यान इस बात में लगा दे कि बालक अधिक से अधिक उत्पादन करके पैसा उत्पन्न करे। इसके दूर करने का उपाय यही है कि यह बात शिक्षकों को प्रशिक्षण काल में भली-भाँति समझा दी जाय तथा बाद को निरीक्षक लोग इस बात को देखें कि कहीं ऐसा शोषण तो नहीं हो रहा है।

वास्तव में बेसिक शिक्षा के क्षेत्र में यह भ्रान्ति एक दीर्घकाल तक फैली रही है कि यह शिक्षा उत्पादन-मूलक क्रिया (productive activity) है अथवा सृजनात्मक क्रिया (creative activity) है। प्रथम मत के मानने वाले बम्बई, मध्य प्रान्त तथा मद्रास में हैं और दूसरे मत के मानने वालों की संख्या उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में अधिक है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि किसी भी शिक्षा-प्रणाली को बालक की सृजनात्मक प्रवृत्तियों को सचेत करना चाहिए, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि शिक्षा-प्रणाली में उत्पादन-मूलक क्रिया का होना उसे शिक्षा-सिद्धान्त के प्रतिकूल बना देना है। इस सम्बन्ध में सन् 1952 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने एक प्रस्ताव पास करके इस सम्बन्ध में पर्याप्त स्पष्टीकरण दिया है। बोर्ड ने क्राफ्ट-कार्य के शैक्षिक तथा उत्पादक दोनों पक्षों पर बल दिया है।[9]

इसी प्रकार बेसिक शिक्षा मूल्यांकन समिति ने भी इस सम्बन्ध में भ्रम-निवारण करते हुए सिफारिश की है कि बेसिक शिक्षालयों में अच्छी उत्पादन-क्रिया को महत्त्व दिया जाना चाहिए और प्रत्येक सम्भव उपाय के द्वारा उत्पादकता (productivity) में वृद्धि करनी चाहिए।[10]

[8] "The scheme is one of education and not of production...... The craft of productive work chosen should be rich in educative possibilities. It should find natural points of correlation with important human activities and interests."
—*Seven Year of Work*, p. 4, 8th Annual Report of Nai Talim, 1938—45, Published by Hindustani Talimi Sangh.

[9] "A system of education cannot be considered as Basic Education in the real sense, unless it provides an integrated course including both Junior and Senior stages and places adequate emphasis on craft work in both its educational and productive aspects."
—*Resolution* 1952, Central Advisory Board of Education.

[10] Report of the Assessment Committee on Basic Education, pp. 51-52, Government of India, 1957.

(4) **बालक शिक्षा का केन्द्र**—यद्यपि बेसिक शिक्षा का बड़ा महत्त्व होता है और बिना उसके पथ-प्रदर्शन के बालक क्रियाशील नहीं हो सकता, तथापि क्रिया का केन्द्र बालक ही रहता है। स्कूल में शिक्षा क्रियामूलक रहती है और जो कुछ भी बालक करता है वही उसकी शिक्षा होती है। अत: जब तक बालक क्रियात्मक नहीं रहेगा, उसकी शिक्षा आगे नहीं बढ़ सकेगी। बेसिक शिक्षा-प्रणाली बालक को एक 'शैक्षिक उपभोक्ता' समझती है, अतएव उसकी आवश्यकताओं को अध्ययन करना और समझना पड़ता है और उनकी पूर्ति करनी पड़ती है।

बेसिक शिक्षा-प्रणाली वास्तव में कोई नयी रीति नहीं है। सम्पूर्ण संसार में आज शिक्षा-क्षेत्र में ऐसे स्कूलों की स्थापना का आन्दोलन चल रहा है, जहाँ बालक के व्यक्तित्व के विकास पर अधिक बल दिया जा रहा है और जहाँ शिक्षा का केन्द्र बालक ही समझा जाता है। 19वीं शताब्दी में पाश्चात्य देशों में भी रूसो, पेस्तालॉजी, फ्रॉबेल तथा हरबर्ट इत्यादि शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा का 'मनोवैज्ञानीकरण' करके शिक्षा में 'क्रिया' को महत्त्व प्रदान किया और इस प्रकार बालक के व्यक्तित्व को समझने और विकसित करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि बालक का 'वर्तमान' अधिक महत्त्व-पूर्ण है, अत: उससे भावी जीवन की सम्भावनाओं पर विचार न करके उसके 'वर्तमान' को ही दृष्टिगत रखना होगा। आधुनिक युग में भी इन्हीं विचारों का प्रतिपादन प्रसिद्ध अमरीकी शिक्षाशास्त्री जॉन डेवी ने भी किया है। उसने कहा है कि स्कूल में बालक के व्यक्तित्व का उतना ही आदर होना चाहिए जितना प्रौढ़ का समाज में होता है।

बेसिक शिक्षा-प्रणाली भी बालक को क्रिया का केन्द्र मानकर चलती है और उसके व्यक्तित्व का विकास करती है। इस प्रणाली के कुछ आलोचकों का तर्क है कि यह 'बालक-केन्द्रित' न होकर 'हस्तकला-केन्द्रित' है। जब प्रत्येक विषय हस्तकला के माध्यम से पढ़ाया जाता है और उसके बनाये हुए पदार्थों से स्कूल का व्यय निकालने की बात सोची जाती है तो, इन आलोचकों के मतानुसार, बालक की रुचियों और उसके नैसर्गिक गुणों के उत्पादन की किस्म व मात्रा बढ़ाने में शोषण किया जायगा। किन्तु इस आलोचना का उत्तर स्वयं महात्मा गांधी और डॉ० जाकिर हुसैन ने भली-भाँति दे दिया है। वस्तुत: हस्तकला कार्य के रूप में न होकर एक शिक्षा-साधन व माध्यम के रूप में रहेगी और इसके लिए ऐसी हस्तकला का ही प्रयोग किया जायगा जो शिक्षा-सम्भावनाओं में परिपूर्ण होगी। इसका मानव-जीवन की क्रियाओं से साम्य होगा। बेसिक प्रणाली एक शिक्षा है, न कि उत्पादन-विधि। इसका उद्देश्य हस्तकला में निहित शिक्षा-साधनों का उपयोग बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए करना है, न कि चौदह वर्ष की आयु पर कारीगर उत्पन्न करना।

भारत में जहाँ शिक्षा 'परीक्षा' के लिए होती है और सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति में विषय और पाठ्य-पुस्तकों का प्राधान्य है, बेसिक शिक्षा-प्रणाली अपना विशेष महत्त्व रखती है। सामान्य शिक्षा-पद्धति के अनुसार बालक एक निष्क्रिय श्रोता के रूप में शिक्षक व पुस्तक से उन ज्ञान व घटनाओं की सूचना प्राप्त करते हैं, जिनका सम्भवत:

भावी जीवन से सम्बन्ध समझा जाता है। जो कुछ बालक सीखता है उसी को पलटकर सुना देने की उससे आशा की जाती है। शिक्षक और बालक दोनों ही परीक्षा के भय से निरन्तर आतंकित रहते हैं। ऐसी स्थिति में बालक के व्यक्तित्व के विकास की कल्पना कैसे की जा सकती है ? किन्तु बेसिक प्रणाली के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी दोष बहुत कुछ दूर हो जाते हैं। यहाँ शिक्षक के पथ-प्रदर्शन के अन्तर्गत बालक किसी उपयोगी क्रिया के द्वारा स्वयं आगे बढ़ता है। शिक्षक को प्रत्येक बालक का कार्य देखने और उसकी मूलभूत शक्तियों को देखने का पर्याप्त सुअवसर मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि इस प्रणाली में बालक ही शिक्षा का केन्द्र है।

(5) **ज्ञान एक सुसम्बद्ध एवं पूर्ण इकाई**—सामान्य शिक्षा-पद्धति के अनुसार स्कूलों में बालकों को विभिन्न विषयों का अध्ययन कराया जाता है, जो बहुधा एक-दूसरे से असम्बद्ध होते हैं। अतः बालक सम्पूर्ण ज्ञान-समूह को एक सम्बद्ध व पूर्ण इकाई के रूप में न समझकर उसे बिखरी हुई घटनाओं का एक संग्रह समझता है। विभिन्न विषयों को अलग-अलग पढ़ाये जाने के कारण वह एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता। शिक्षक निरन्तर रूप से विद्यार्थी के इच्छुक या अनिच्छुक मस्तिष्क में एक विषय को उँडेलता चला जाता है। विद्यार्थी भी रट-रटकर उस ज्ञान को तब तक मस्तिष्क में सँभालकर रखने का प्रयास करता रहता है जब तक कि उसे परीक्षा भवन में पुनः बाहर उँडेलने का अवसर नहीं मिल जाता। उस ज्ञान से बालक की मूलभूत शक्तियों और प्रवृत्तियों का विकास होता है अथवा नहीं और यह ज्ञान उसके भावी जीवन से कोई सम्बन्ध रखता है अथवा नहीं, इससे शिक्षक और स्कूल को कोई मतलब नहीं।

बेसिक प्रणाली के अन्तर्गत बालक को न तो प्लास्टिक की मूर्ति ही समझा जाता है जिसे चाहो उसी प्रकार मोड़ लो और न उसे एक खाली बरतन ही समझा जाता है जिसे विभिन्न विषयों के तथ्यों से भर दिया जाय। वस्तुतः यहाँ शिक्षा का माध्यम क्राफ्ट रहने से सभी विषय यथासम्भव उसके माध्यम से पढ़ाये जाते हैं। सभी का सम्बन्ध उसी क्राफ्ट से जोड़ने का प्रयास किया जाता है। अतः सभी विषय एक सम्बद्ध ज्ञान-इकाई के रूप में बालक के समक्ष आते हैं।[11] यहाँ पाठ्यक्रम का अर्थ विषयों अथवा पाठ्य-पुस्तकों की सूची-मात्र ही नहीं है अपितु उसका अर्थ उन सभी क्रियाओं और

[11] *Cf.* "Craft and correlation should not be made fads. Craft should be used in a liberal sense of productive work. A varied choice of crafts should be available in Basic Schools. Similarly, correlation should be taken to be a corollary of the improvement of elementary education, rather than a cult. Correlation has infact never been a cult, because it is a natural outcome of better teaching. The potentiality of correlation decreases in proportion as we go higher and higher in the educational system. —*Some Misunderstading About Basic Education* : A paper contributed by Dr. P. D. Shukla in *Administration of Basic Education*, National Institute of Basic Education, Government of India, 1960, p. 23.

अनुभवों की सम्पूर्ण शृंखला के समान होता है जिनमें स्कूल के अन्तर्गत बालक अपने को व्यस्त रखता है। यहाँ पाठ्यक्रम जटिल न होकर पर्याप्त लचीला होता है और बालक की अभिवृद्धि व विकास के साथ ही साथ उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है। 'विषय' का प्राधान्य न होकर 'क्रिया' का प्राधान्य होने से बालक उससे प्राप्त हुए अनुभव व ज्ञान को आत्मसात् कर लेता है। उदाहरण के लिए तकली पर कातना सिखाते समय बालक को कपास, उसके लिए मिट्टी व पानी, सूती उद्योग का विकास और इसी सम्बन्ध में अंग्रेजों का भारत में आना, सूत के मूल्यों का निर्धारण करना इत्यादि सरलता से पढ़ाये जा सकते हैं और इस प्रकार सूत कातने के साथ ही साथ वह भूगोल, रसायनशास्त्र, इतिहास व गणित इत्यादि का ज्ञान सरलता से प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत सम्पूर्ण ज्ञान या पाठ्यक्रम को सम्बद्ध व पूर्ण इकाई माना जाता है।

(6) **शिक्षक तथा बालक को कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता**—बेसिक प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षक और बालक को कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता रहती है। "जब शिक्षा का उद्देश्य एक स्वच्छन्द व रचनात्मक आत्म-क्रिया (self-activity) के द्वारा बालक की अधिकतम अभिवृद्धि और विकास समझा जाता है, तो विद्यार्थियों को स्वयं सोचने, अपनी रुचि के अनुसार अपना कार्य नियोजित करने तथा उन आयोजनों को अपनी ही गति के अनुसार आगे बढ़ाने की पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।"[12] वर्तमान प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत, जहाँ रटने तथा तथ्यों को कंठस्थ करके एक सीमित समय में ही परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है, बालक से आत्माभिव्यक्ति तथा रचनात्मक क्रिया की आशा नहीं की जा सकती। इसके प्रतिकूल, बेसिक स्कूल का उद्देश्य बालक को उपयोगी कार्य के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने तथा अपने कार्य में पूर्ण रुचि दिखाने का पर्याप्त सुअवसर दिया जाना है। यहाँ उसकी व्यक्तिगत कठिनाइयों व आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है और उसे यह अनुभव कराया जाता है कि स्कूल उसी के लिए स्थित है व कार्य करता है।[13]

उसी प्रकार बेसिक स्कूल में शिक्षक भी तुलनात्मक दृष्टि से अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। यहाँ उसे किसी ऐसे जटिल पाठ्यक्रम का अनुसरण नहीं करना

---

[12] Hans Raj Bhatia, *What Basic Education Means*, p. 42, Orient Longmans, Calcutta, 1954.

[13] *Cf.* "Basic Education truly understood liberates the child from monotony and boredom by combining mental and physical work and making academic subjects grow out of the activities of a craft. It seeks to create an atmosphere of freedom and joy in the school. Basic Education is, therefore, good for the child, for it helps him to develop his personality through freely chosen and self-initiated activities."

—Humayun Kabir : *Education in New India* (Second Edn.), p. 37, George Allen and Unwin, 1959.

पड़ता जिसमें आवश्यकतानुसार वह कोई परिवर्तन न कर सके, न उसे परीक्षा के लिए बच्चों का कोर्स शीघ्र समाप्त करने की धुन ही रहती है। वस्तुतः वह स्वयं सोच सकता है, अपने परीक्षण कर सकता है और ऐसी किसी सुविधाजनक व अधिक उपयोगी शिक्षण-विधि का अनुसरण कर सकता है जो बालक के लिए अधिक लाभ-दायक हो तथा स्कूल की परिस्थितियों के अनुकूल हो। अपने पूर्व अनुभव के आधार पर वह पाठों में तथा कार्यों में यत्र-तत्र परिवर्तन भी कर सकता है। वह उन लोगों के हाथ में अपने आपको एक असहाय अस्त्र नहीं समझता जो पाठ्यक्रम बनाते हैं, पाठ्य पुस्तकें निर्धारित करते हैं, टाइम-टेबिल बनाते तथा परीक्षाएँ लेते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बेसिक शिक्षा में कोई पाठ्यक्रम अथवा निश्चित पुस्तकें नहीं होतीं, किन्तु अन्तर यह है कि इस पद्धति में अधिक लोच होती है और शिक्षक को अपने कार्यों में परिवर्तन करने तथा अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि को कार्यान्विन करने का पर्याप्त अधिकार रहता है। यदि कक्षा-भवन में अपनी बुद्धि तथा विधि का परीक्षण करने की शिक्षक को स्वतन्त्रता रहती है तो निश्चय ही वह उनका सदुपयोग बालक के हित में कर सकता है। इसके प्रतिकूल यदि शिक्षक भयभीत, दबा हुआ तथा आज्ञा-कारी दास की भाँति बना रहता है तो कभी भी उसके शिष्यों में साहस, आत्मविश्वास तथा मौलिकता इत्यादि गुणों का समावेश नहीं हो सकता। एक स्वतन्त्र व निर्भीक शिक्षक ही विद्यार्थियों में सोचने, नियोजन करने, कार्य करने तथा उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के गुणों की उत्पत्ति कर सकता है। बेसिक शिक्षा में इसके लिए पर्याप्त सुअवसर हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बेसिक शिक्षा-प्रणाली में प्रायः वे सभी शिक्षा-सम्भा-वनाएँ निहित हैं जिनके द्वारा बालक के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा का पूर्ण विकास हो सकता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण हम बेसिक शिक्षा-प्रणाली को पाश्चात्य देशों की प्रमुख आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों, जैसे 'प्रोजेक्ट मेथड', 'किण्डरगार्टन', 'मॉन्टेसरी प्रणाली' तथा 'क्रिया द्वारा शिक्षा-प्रणाली' इत्यादि के समकक्ष रख सकते हैं।

**पाठ्यक्रम**

जाकिर हुसैन समिति ने 7 वर्ष से 14 वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए एक सप्तवर्षीय पाठ्यक्रम का सुझाव दिया था। सन् 1947 में भारत सरकार ने बेसिक शिक्षा के लिए उपयुक्त पाठ्यक्रम का निर्माण करने के लिए एक समिति की रचना की थी। इस समिति के सुझावों को केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने भी अनुमोदित कर दिया। इस प्रकार भारत सरकार ने ही अपने ऊपर बेसिक शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करने का कार्य ले लिया। समिति ने जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया है, अधि-कांश में उसी को बेसिक शिक्षा के लिए सभी राज्यों में स्वीकार कर लिया गया है। सन् 1958 में 'ए हैण्डबुक फॉर टीचर्स ऑव बेसिक स्कूल' नामक पुस्तिका का प्रकाशन करके केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने पाठ्यक्रम को एक स्थायी व विस्तृत रूप प्रदान कर दिया है।

पाठ्यक्रम की प्रथम स्टेज जूनियर बेसिक की है, जिसमें पाँचवीं कक्षा तक के बालक-बालिकाओं को एक ही प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती है। उसके उपरान्त दोनों के लिए मूलतः पाठ्यक्रम में कोई अन्तर नहीं है, केवल लड़कों के सामान्य ज्ञान के स्थान पर लड़कियों को गृह-विज्ञान व गृह-कला का अध्ययन कराया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण पाठ्यक्रम बेसिक क्राफ्ट पर आधारित होगा। कोई भी विषय नितान्त असम्बद्ध (isolated) न होकर बेसिक क्राफ्ट से सम्बन्धित कर दिया जायगा और इस प्रकार सम्पूर्ण पाठ्यक्रम एक पूर्ण इकाई के रूप में बालक का सर्वांगीण विकास करेगा।

संक्षेप में पाठ्यक्रम की रूपरेखा इस प्रकार है :

(1) शिल्प—
  (क) कताई-बुनाई;
  (ख) लकड़ी का काम;
  (ग) कृषि व उद्यान कला;
  (घ) फल तथा वनस्पति-उद्यान कला;
  (ङ) चर्म-कार्य;
  (च) मिट्टी के खिलौने व बरतन बनाना;
  (छ) मत्स्य-पालन;
  (ज) लड़कियों के लिए गृह-शिल्प ; और
  (झ) भौगोलिक तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार कोई अन्य हस्त-कला।

(2) मातृभाषा।

(3) गणित।

(4) सामाजिक अध्ययन—इतिहास, भूगोल और नागरिकशास्त्र।

(5) सामान्य विज्ञान—प्रकृति निरीक्षण, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, भौतिक शास्त्र, स्वास्थ्य-रक्षा तथा रसायनशास्त्र। स्वास्थ्य-रक्षा के साथ व्यायाम भी सम्मिलित किया गया है।

(6) कला—ड्राइंग तथा संगीत इत्यादि।

(7) खेल-कूद व व्यायाम।

(8) हिन्दी (जहाँ यह मातृभाषा नहीं है)।

बेसिक शिक्षा में अंग्रेजी भाषा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसके स्थान पर हिन्दी भाषा का शिक्षण किया जायगा। प्रमुख भाषा के स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में वहाँ की स्थानीय मातृभाषा सिखायी जायगी। ऐसे स्थानों में पाँचवें या छठे वर्ष में जाकर हिन्दी पढ़ायी जायगी। हिन्दी का केवल लिखने-पढ़ने का ज्ञान ही पर्याप्त समझा गया है। गांधीजी के अनुसार यह बेसिक पाठ्यक्रम अंग्रेजी को छोड़कर प्रचलित हाई स्कूल के बराबर होगा। यद्यपि इस पर कुछ लोगों को सन्देह है तथापि यह परीक्षण का विषय है।

धार्मिक शिक्षा को इस पाठ्यक्रम में कोई स्थान नहीं दिया गया है, क्योंकि गांधीजी लोगों को स्वावलम्बन के धर्म का पाठ पढ़ाना चाहते थे। "हमने वर्धा शिक्षा-योजना में से धर्म शिक्षा का बहिष्कार कर दिया है, क्योंकि हमें भय है कि आज जिन धर्मों की शिक्षा दी जाती है अथवा जिनका पालन करना होता है वे मेल के स्थान पर झगड़े उत्पन्न कराते हैं। साथ ही मेरा विश्वास है कि बच्चों को ऐसी शिक्षा अवश्य देनी चाहिए जिसमें सभी प्रमुख धर्मों का सार निहित हो। यह धर्म-सार केवल शब्दों और पुस्तकों से ही नहीं पढ़ाया जा सकता, इसे तो बालक केवल शिक्षक की दैनिक जीवनचर्या से ही सीख सकता है।"

अब हम बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

(1) **शिल्प**—बेसिक शिल्प शिक्षा के माध्यम के रूप में पाठ्यक्रम में सम्मिलित होगा। किन्तु शिल्प का उद्देश्य माध्यम से अधिक भी है। बालक को उसके वातावरण से परिचित कराकर अन्य विषयों से शिल्प का समन्वय स्थापित करके जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में उनका प्रयोग करना बालक को आना चाहिए। उसे श्रम व ईमानदारी का महत्त्व समझना चाहिए। यद्यपि बुनियादी शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य यह नहीं है कि बालक को कुशल कारीगर बनाया जाय जैसा कि हम पीछे भी उल्लेख कर चुके हैं, तथापि शिल्प की शिक्षा ऐसी अवश्य होनी चाहिए कि वर्ष के पाठ्यक्रम के उपरान्त आवश्यकता पड़ने पर बालक शिल्प से जीविका उत्पन्न करने के योग्य बन जाय।

इसी प्रकार बालिकाओं के लिए जो गृह-शिल्प रखा गया है उसके दो प्रमुख उद्देश्य हैं :

(क) बालिकाओं की शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि वे गृह-कार्य में निपुण होने के साथ ही स्वास्थ्य व सफाई के मूल सिद्धान्तों से परिचित हो जायँ और गृह-संचालन की कला में दक्ष होकर एक सफल व समृद्ध परिवार का संचालन करने योग्य बन सकें।

(ख) उन्हें परिवार की सामान्य आय में वृद्धि करने की क्षमता प्रदान करना तथा आवश्यकता पड़ने पर सब्जी का बाग लगाकर अथवा किसी छोटे कुटीर उद्योग या शिल्प के द्वारा पारिवारिक व्यय में सहायता कर सकने की योग्यता प्राप्त कर लेना चाहिए।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बालिकाओं की गृह-शिल्प में गृहस्थी संचालन, पाक-विज्ञान, वस्त्र-प्रक्षालन, सिलाई-कढ़ाई का कार्य, आरोग्य शास्त्र तथा मातृत्व व परिचारिका का प्रशिक्षण एवं घरेलू कृषि इत्यादि विषय सम्मिलित किये जा सकते हैं।

(2) **मातृभाषा**—भाषा ही विचारों को वहन करती है तथा अभिव्यंजना का एक प्रमुख साधन है, अतः विचारों को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए भाषा का ज्ञान परमावश्यक है। इसके लिए बालक के लिए मातृभाषा से सुलभ कोई अन्य भाषा नहीं

हो सकती । यही कारण है कि बेसिक शिक्षा-प्रणाली में मातृभाषा की शिक्षा को विशेष स्थान दिया गया है ।

बेसिक स्कूल की शिक्षा की समाप्ति पर बालक में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह लिख, पढ़ तथा बोल कर अपने विचारों को सरल भाषा में प्रकट कर सके, विशेष अवसरों पर गद्य-पद्य का पाठ कर सके, अन्य व्यक्तियों के भाषण समझ सके तथा मातृभाषा में लिखित विचारों का सारांश लिख सके ।

(3) **गणित**—बेसिक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत गणित का एक विशेष स्थान है । केवल जोड़-बाकी अथवा गुणा-भाग ही गणित नहीं है । कुछ प्रश्नों के उत्तर शीघ्र व सही-सही निकाल सकना ही बालक के लिए पर्याप्त नहीं है । वास्तव में उन संख्याओं व राशियों का ज्ञान जिनका व्यावहारिक व वास्तविक जीवन में कोई महत्त्व नहीं है, बालक के लिए कोई विशेष उपयोग नहीं रखता । अतः यह आवश्यक है कि गणित का वास्तविक दैनिक जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय । इसके लिए गणित का समन्वय या तो किसी व्यावहारिक शिल्प से स्थापित कर देना चाहिए अथवा किसी सामाजिक प्रश्न से उसे सम्बन्धित कर देना चाहिए । इस प्रकार के गणित से बालक को जीवन व समाज की व्यावहारिक समस्याओं पर सैद्धान्तिक ज्ञान का वास्तविक प्रयोग करने का बोध हो जायगा । इसके लिए अंकगणित के सामान्य प्रश्नों को हल करने के द्वारा वह वस्तुओं का नापना, तोलना, खरीदना व बेचना सरलता से सीख जायगा ।

अंकगणित के अतिरिक्त उसे बीजगणित व रेखागणित का ज्ञान भी आवश्यक है । बीजगणित के अन्तर्गत बालक को संकेतों का प्रयोग सिखाना चाहिए जिससे वह यह समझ जाय कि किसी चीज को विस्तारपूर्वक कहने के स्थान पर किस प्रकार संक्षेप में संकेतों अथवा फार्मूलों के द्वारा कहा जा सकता है ।

इसी प्रकार रेखागणित के द्वारा बालक को वस्तुओं के रूप व आकार का ज्ञान कराया जाता है । इस ज्ञान को वह जीवन में व्यावहारिक कार्य, जैसे फर्नीचर बनाना, गृह-निर्माण, औजार बनाना, सर्वेक्षण करना तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों में उपयोग कर सकता है ।

(4) **सामाजिक अध्ययन**—आधुनिक स्वतन्त्र व जनतन्त्रीय भारत में नागरिक के कर्तव्यों व अधिकारों में वृद्धि हो गयी है । अतः देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ ही साथ उसकी भौगोलिक परिस्थिति तथा नागरिकशास्त्र का भी प्रारम्भिक ज्ञान होना चाहिए । बुनियादी शिक्षा का यह एक प्रमुख उद्देश्य है कि वह राष्ट्र के भावी नागरिकों में उन गुणों का समावेश कर दे कि वे न केवल राष्ट्र का ही कल्याण करने के योग्य हो सकें अपितु अन्तरराष्ट्रीय सौहार्द्र बढ़ाने तथा विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार करने के योग्य बन सकें । उनके अन्दर सहिष्णुता, उदारता, व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण तथा अनुशासन की भावना उत्पन्न हो सके । सामाजिक अध्ययन का बेसिक

पाठ्यक्रम में समावेश इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति करके बालक को संसार व समाज में एक पूर्ण नागरिक बनाने में योग देता है।

(5) **सामान्य विज्ञान**—यह बात निर्विवाद है कि आधुनिक युग वैज्ञानिक युग है। विज्ञान के अध्ययन में बालक का उद्देश्य केवल कुछ तथ्यों से परिचित होना ही नहीं है अपितु उसका मुख्य उद्देश्य प्रयोगात्मक, अनुशासनात्मक एवं सांस्कृतिक है। बालक में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह अपने वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग दैनिक जीवन में कर सके। उसे इस बात का भी बोध होना चाहिए कि भौतिक वातावरण में उसकी अपनी क्या स्थिति है। विज्ञान के अध्ययन के द्वारा बालक के अन्दर विश्लेषण करने की प्रवृत्ति का विकास होना चाहिए। समस्याओं का समाधान व हल निकालना उसे आ जाना चाहिए।

(6) **कला**—इसके अन्तर्गत चित्रकला, संगीत व नृत्य तथा सौन्दर्य-शास्त्र के अन्य उपकरणों का बोध बालक को होना चाहिए। चित्रकला के अन्तर्गत बालक में वस्तुओं के सही रूप को पहचानने की क्षमता, रंग-भेद, रेखाओं का ज्ञान तथा रेखाओं द्वारा भाव व्यक्त करने की क्षमता और प्रकृति की कलात्मक सौन्दर्यानुभूति होनी चाहिए। चित्रकला बालक के व्यक्तित्व का विकास करेगी। इसी प्रकार संगीत व नृत्य के द्वारा भी उनके व्यक्तित्व का विकास करके उनके जीवन को अधिक गुण-सम्पन्न बनाया जा सकता है।

(7) **खेल-कूद व व्यायाम**—इन क्रियाओं द्वारा बालक के शारीरिक गठन व विकास के अतिरिक्त उसके चरित्र का भी विकास करना चाहिए। खेल-कूद में पारस्परिक सहयोग, त्याग, मेल तथा उदारता की भावनाओं का विकास होता है।

(8) **हिन्दी**—बालक में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह उन क्षेत्रों के लोगों से हिन्दी में बातचीत कर सके जहाँ की मातृभाषा को वह नहीं समझ सकता है।

**अध्यापकों का प्रशिक्षण**

बेसिक शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक का पर्याप्त महत्त्व है। उसके व्यक्तित्व पर ही इसकी सफलता और असफलता निर्भर है। अतः अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए योजना में दो प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की गयी है—दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन। शिक्षकों को केवल साधारण विषय ही नहीं पढ़ाने पड़ते अपितु वे क्राफ्ट भी पढ़ाते हैं। अतः उन्हें उन क्राफ्टों का पूर्ण ज्ञान होना अनिवार्य है।

प्रशिक्षण विद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए शिक्षक कम से कम हाई स्कूल पास होना चाहिए अथवा वर्नाक्यूलर फाइनल मिडिल पास करने के उपरान्त उसे दो वर्ष का पढ़ाने का अनुभव हो। दीर्घकालीन प्रशिक्षण की अवधि तीन वर्ष की है। यह पाठ्यक्रम बड़ा व्यापक है और इसमें सभी आवश्यक विषय सम्मिलित हैं, यद्यपि यह पाठ्यक्रम कुछ दीर्घ प्रतीत होता है, किन्तु नियम तथा भावना से पूरा किया जा सकता है। अल्पकालीन कोर्स की आवश्यकता इसलिए थी कि इस योजना को शीघ्रातिशीघ्र लागू करना था। अतः उसकी अवधि एक वर्ष रखी गयी। पाठ्यक्रम संक्षेप में वही

रखा गया जो प्रारम्भ में था। अध्यापकों को प्रशिक्षण काल में छात्रावास में रहना अनिवार्य है।

**शिक्षण-विधि**

बेसिक शिक्षा में शिक्षण-विधि को अधिक महत्त्व दिया गया है। पाठ्यक्रम के सर्वोत्तम होते हुए भी कोई शिक्षा बिना उचित व कुशल शिक्षण-विधि के व्यर्थ हो जाती है। बेसिक शिक्षा की शिक्षण-विधि तथा विषय-वस्तु की पहुँच साधारण शिक्षा से भिन्न है। बेसिक शिक्षा में प्रत्येक विषय एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में नहीं पढ़ाया जाता, अपितु एक ऐसी विकसित क्रिया को केन्द्र बनाकर पढ़ाया जाता है जिसका सम्बन्ध अन्य विषयों से स्थापित हो सके। अतः शिक्षकों द्वारा सम्बन्धित विषयों की पूर्व-योजना बना ली जाती है और इस प्रकार 'जीवन, ज्ञान और क्रिया' का सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है।

बेसिक शिक्षा में सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को सात क्रमिक कक्षाओं में विभाजित कर दिया जाता है। प्रथम कक्षा में बालक मातृभाषा का मौखिक ज्ञान, फिर पढ़ना और अन्त में लिखना सीखने के साथ ही साथ कुछ बुनियादी हस्तकला सीखता है। इस प्रकार प्रत्येक कक्षा में वह बढ़ता चलता है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, उस बुनियादी क्राफ्ट का सम्बन्ध अन्य विषयों, जैसे गणित, भाषा, कला, इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान इत्यादि से स्थापित होता जाता है। यह बुनियादी हस्तकला वस्तुतः अन्य विषयों के पढ़ाने का माध्यम रहती है। इस प्रकार सात वर्ष के अन्त में उस विशेष हस्तकला में सिद्धहस्त होने के साथ ही साथ विद्यार्थी अन्य आवश्यक साहित्यिक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण विधि का आधार मनोविज्ञान पर आधारित वही क्रियात्मक व उत्पादक हस्तकला रहती है।

बेसिक क्राफ्ट के लिए प्रायः कताई व बुनाई को लिया जाता है, किन्तु गांधीजी के अनुसार अन्य उद्यम व क्राफ्ट भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। यद्यपि प्रत्येक क्राफ्ट एक पूर्ण व आदर्श माध्यम नहीं बन सकता, तथापि उसका व्यावहारिक अंश कार्य में लाया जा सकता है। शेष के लिए अन्य विधियों का अनुसरण किया जा सकता है।

प्राकृतिक परिस्थिति, सामाजिक परिस्थिति तथा क्राफ्ट—यही तीन साधन हैं जिनके द्वारा प्रत्येक विषय एक-दूसरे से सम्बन्धित किया जा सकता है तथा बालक को इस योग्य बनाया जा सकता है कि वह बुद्धिमत्तापूर्वक तथा क्रियात्मक विधि से अपने वातावरण के अनुकूल अपने को ढाल सके। इस प्रकार सम्पूर्ण पाठ्यक्रम 'कार्य-केन्द्रित' न होकर 'बाल-केन्द्रित' हो जाता है।

इस प्रकार विद्यार्थी हाथ से कार्य करता है और साथ ही अपनी बुद्धि व कल्पना शक्ति का भी प्रयोग करता है। बालकों में एक स्वाभाविक सृजनात्मक भावना होती है, वह इस शिक्षण-विधि में पर्याप्त रूप से पोषित हो जाती है। उसके ज्ञान व शरीर के विकास के साथ ही साथ उसके चरित्र व व्यक्तित्व का भी विकास होता है और वह अपने आपको समाज व राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानने लगता है।

बेसिक शिक्षा में बालक एक निष्क्रिय श्रोता नहीं रह सकता जैसा कि साधारण शिक्षा में होता है । बेसिक स्कूल वे कार्यक्षेत्र तथा परीक्षण व अनुसन्धान के वे स्थान हैं जहाँ बालक सदा जागरूक रहता है । उसके कौतूहल तथा विजय व सफलता की आशा उसे आगे बढ़ा ले जाती है । अतः जाकिर हुसैन समिति ने अपने प्रतिवेदन में कहा है कि "जहाँ तक पाठ्यक्रम का सम्बन्ध है, हमने इस सिद्धान्त पर बल दिया है कि सम्पूर्ण शिक्षण-कार्य जीवन की वास्तविकताओं पर आधारित हो, जिसका सम्बन्ध हस्तकला तथा सामाजिक व प्राकृतिक वातावरण से हो, ताकि जो कुछ भी ज्ञान बालक प्राप्त करता है उसका उसकी उन्नतिशील क्रियाओं से तादात्म्य हो जाय ।" इस पद्धति में 'काम करते हुए शिक्षा प्राप्त करने' अर्थात् (learning by doing) का सिद्धान्त भी समक्ष रखा जाता है । हस्तकार्य को बालक खेल ही खेल में सीख जाता है और उससे सम्बन्धित अन्य विषयों का ज्ञान भी उसे बिना किसी शुष्कता तथा भार के अनायास ही प्राप्त हो जाता है ।

बेसिक शिक्षा-पद्धति में शिक्षण के समान ही निरीक्षण-कार्य का भी महत्त्व बताया गया है । इसके लिए योग्य व अनुभवी व्यक्तियों का रखा जाना आवश्यक है जो केवल निरीक्षण ही न करें, अपितु पथ-प्रदर्शन भी करें ।

वर्तमान परीक्षा-प्रणाली अत्यन्त दोषपूर्ण है जो बालक के व्यक्तित्व के विकास में एक बाधा के रूप में उपस्थित है । बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत प्रचलित परीक्षा-विधि में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके उसे पूर्ण वैज्ञानिक रूप दे दिया गया है । इस परीक्षा-विधि में शिक्षक का विशेष महत्त्व है ।

**बेसिक शिक्षा की प्रगति**

डॉ० जाकिर हुसैन समिति के प्रतिवेदन के अनुसार इस योजना में पर्याप्त संशोधन कर दिये गये । इसके स्वावलम्बन के पक्ष के विषय में नियमों को ढीला कर दिया गया । बेसिक क्राफ्ट का क्षेत्र बढ़ा दिया गया और अब बालकों को पूर्ण अनुभव शिक्षा-उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा । भारत में प्राथमिक शिक्षा में इस योजना के आधार पर प्रगति होती जा रही है ।

हरीपुरा कांग्रेस में इस योजना को अधिकृत रूप से स्वीकार किया ही जा चुका था । कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इसका परीक्षण किया । 'हिस्न्दुतानी तालीमी संघ' की स्थापना हो जाने के उपरान्त इसकी गति और भी बढ़ी । सन् 1938 के उपरान्त मध्य भारत, यू० पी०, बम्बई तथा बिहार-उड़ीसा में इसे सरकारी संरक्षण प्राप्त हुआ । नये ट्रेनिंग कॉलेज और स्कूल खुलने लगे तथा अध्यापकों को प्रशिक्षण के लिए भेजा जाने लगा । मध्य भारत सरकार ने इसमें विशेष रुचि दिखायी । वर्धा नार्मल स्कूल को विद्या मन्दिर ट्रेनिंग स्कूल बना दिया गया और 98 अन्य विद्या मन्दिर स्कूल खोले गये । इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में भी इस योजना का शीघ्र प्रचार हुआ । नये शिक्षा मन्त्री ने इस योजना को संरक्षण दिया और बेसिक शिक्षा के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त कर दिया तथा एक बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज खोला ।

बिहार में इस पद्धति के अनुसार सर्वोत्तम कार्य हुआ। सन् 1940 में राजनीतिक कारणों से इसे बहुत आघात पहुँचा।

सन् 1938 तथा 1940 में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' ने बम्बई प्रान्त के मुख्य मन्त्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में क्रमशः दो समितियों की स्थापना की। इन समितियों ने बेसिक शिक्षा के विषय में बहुत ही विस्तृत राय दी, जिसके फलस्वरूप देश में बेसिक शिक्षा का वास्तविक रूप में पुनर्संगठन हुआ। इस समिति ने निम्नलिखित प्रमुख सिफारिशें कीं :

(1) बेसिक शिक्षा-योजना सर्वप्रथम ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भ की जाय।

(2) बालकों की अनिवार्य आयु छह से चौदह वर्ष तक हो, किन्तु पाँच वर्ष की आयु के बच्चे भी बेसिक स्कूलों में प्रविष्ट हो सकेंगे।

(3) बेसिक स्कूलों से अन्य स्कूल में जाने की अनुमति बालकों को पाँचवीं कक्षा अथवा 11+ की आयु के उपरान्त ही दी जाय।

(4) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही हो।

(5) भारत के लिए एक सामान्य भाषा की भी आवश्यकता है। यह भाषा हिन्दुस्तानी भाषा हो सकती है जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों का प्रयोग हो सकता है। बच्चों को लिपि चुनने का अधिकार हो और उसी लिपि के द्वारा पढ़ने की उनके लिए स्कूल में सुविधा होनी चाहिए। प्रत्येक शिक्षक के लिए दोनों ही लिपियों का जानना आवश्यक है।

(6) किसी बाहरी परीक्षा की आवश्यकता नहीं है। बेसिक पाठ्यक्रम के अन्त में आन्तरिक परीक्षा के आधार पर एक 'स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट' दे दिया जाना चाहिए।[14]

'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड' ने भी खेर समिति की रिपोर्ट के अधिकतर सुझावों को मान लिया और सन् 1944 की 'सार्जेण्ट रिपोर्ट' में इन सुझावों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया।

सन् 1945 के आरम्भ में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' की बैठक वर्धा में पुनः हुई। इस बैठक में सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति तथा उसकी प्रगति पर दृष्टिपात किया गया। इस बैठक में भी बेसिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया गया और गांधीजी के सिद्धान्तों पर आधारित करके इसका नाम 'नयी तालीम' रख दिया गया। यह नयी तालीम चार भागों में विभक्त की गयी, यथा—पूर्व-बेसिक, बेसिक, उत्तर-बेसिक तथा प्रौढ़ शिक्षा। पूर्व-बेसिक तीन वर्ष से छह वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए थी तथा उत्तर-बेसिक में उच्च शिक्षा को सम्मिलित किया गया।

इससे पूर्व सन् 1944 में 'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड' ने भी बेसिक शिक्षा के प्रसार की योजना का समर्थन किया था। राष्ट्रीय योजना समिति (नेशनल प्लानिंग

[14] *Report of the Committee appointed by C.A.B.E., 1838-45, pp. 9-10.*

कमेटी) ने भी, जो कांग्रेस ने देश की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर अपनी रिपोर्ट तथा सुझाव देने के लिए नियुक्त की थी, बेसिक शिक्षा का समर्थन किया। सन् 1947 में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ', वर्धा ने विस्तृत पाठ्यक्रम तैयार किया जो प्रायः सभी प्रान्तों ने लागू कर दिया है। इस योजना में 'उत्तर-बेसिक', माध्यमिक शिक्षा पर बहुत कम ध्यान दिया गया। इन 'उत्तर-बेसिक', माध्यमिक स्कूलों के प्रधान माध्यम क्राफ्ट, कृषि, डेरी, भवन-निर्माण, लोहारी, बढ़ईगीरी तथा बुनाई इत्यादि हैं, जिनके द्वारा ग्रामों के पुर्ननिर्माण की बात कही जाती है। इन 'उत्तर-बेसिक' कालेजों का निर्माण स्कैण्डीनेविया के 'पीपुल्स कालेजों' के आधार पर होने की सम्भावना है जैसा कि राधाकृष्णन कमीशन की सिफारिश है।

प्रायः सभी राज्यों ने अपने आन्दोलन बेसिक शिक्षा के प्रसार के लिए प्रारम्भ कर दिये हैं। भारत की स्वतन्त्रता तथा शिक्षा की बढ़ती हुई माँग ने इस आन्दोलन को सभी स्थानों पर सर्वप्रिय बना दिया है। इस क्षेत्र में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हमें देखने को मिलती हैं। एक, सम्पूर्ण देश में निःशुल्क व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रदान करना; और दूसरी, प्रचलित प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों का रूप देना। भारत के संविधान में स्वीकार किया गया है कि राज्य की ओर से इस बात का प्रयास किया जायगा कि छह से चौदह वर्ष की आयु के बालकों को दस वर्ष के भीतर ही अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का लाभ दिया जा सके। सन् 1950 में संविधान लागू होने के पहले से ही इस दिशा में प्रयत्न किये जा रहे हैं। 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' की सिफारिश के आधार पर सरकार ने पहले ही से स्वीकार कर लिया है कि देश की प्राथमिक शिक्षा बेसिक प्रकार की होनी चाहिए। देश की स्वतन्त्रता ने लोगों के हृदयों में अपने बालकों को प्राथमिक शिक्षा देने के लिए एक नयी लालसा जगा दी है। अब लोग जानते हैं कि शिक्षा उनका मौलिक मानव अधिकार है। यहाँ तक कि यह लालसा उन क्षेत्रों में भी दिखायी देती है जहाँ सन् 1947 से पूर्व शिक्षा की कोई सुविधाएँ नहीं थीं।

जहाँ तक प्रचलित प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों का रूप देने का प्रश्न है, इसमें भी प्रगति हुई है। किन्तु प्रशिक्षित शिक्षकों, उपयुक्त भवनों तथा धन के अभाव के कारण आशाजनक उन्नति नहीं हो सकी है। शिक्षा की किस्म में सुधार करने की दृष्टि से भी कोई महत्त्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ है।[15] इसका प्रमुख कारण रहा है योग्य व सन्तुष्ट शिक्षकों के मिलने की कठिनाई। बेसिक शिक्षा जहाँ बालक के लिए सरल व आकर्षक होती है, वहाँ शिक्षक के लिए अधिक कठिन होती है। जहाँ कहीं भी शिक्षकों ने इस पद्धति को कठिन श्रम से निष्ठापूर्वक चलाया है, वहाँ परिणाम भी अच्छे निकले हैं।

बेसिक शिक्षा के प्रति लोगों की धारणाएँ भी विभिन्न हैं। बिहार में जहाँ योजना

[15] "While the superiority of Basic over the old system is admitted by everyone, results have not always been commensurate with the hopes entertained about system."— *Progress of Education in India*, 1947-1952, Ministry of Education, Government of India.

को पर्याप्त सहायता मिली है, लोगों ने इसकी सराहना की है और सहानुभूतिपूर्वक इसका स्वागत किया है। मद्रास, बम्बई तथा कुछ कबाइली क्षेत्रों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। किन्तु कुछ अन्य क्षेत्रों में तो लोगों ने न केवल इसका स्वागत ही किया है, अपितु इसका क्रियात्मक विरोध तक किया है। ऐसी स्थिति में इन क्षेत्रों में शिक्षा की किस्म में सुधार होने की अपेक्षा पतन ही हुआ है।

जब बेसिक शिक्षा देश में प्रारम्भ हुई थी तो शिक्षा के माध्यम के लिए कताई-बुनाई अथवा कृषि को ही बेसिक क्राफ्ट के रूप में रखा जाता था, किन्तु वे अपर्याप्त हैं। विभिन्न प्रान्तों में अपने-अपने स्थानीय क्राफ्ट प्रचलित हैं। इन सभी क्राफ्टों में हम शिक्षा-सम्भावनाओं को खोज सकते हैं। उदाहरणतः काश्मीर सदा से जरी तथा लकड़ी के कार्य के लिए प्रसिद्ध रहा है। आसाम में रेशम की कताई-बुनाई प्रायः प्रत्येक घर में होती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक राज्य में स्थानीय हस्तकलाओं को अपनाया जा सकता है। हाँ, इधर इस दृष्टि से प्रगति भी हो रही है और उत्तरोत्तर नयी हस्तकलाएँ बेसिक शिक्षा में प्रवेश पा रही हैं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में जूनियर तथा सीनियर बेसिक स्कूलों एवं उसमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में अभिवृद्धि तथा पूर्व-स्थित सामान्य प्राथमिक पाठशालाओं (को जूनियर बेसिक पाठशालाओं) में परिवर्तित करने के लक्ष्य निर्धारित किये गये थे। इस परिवर्तन में अधिक सफलता अभी तक नहीं मिल सकी। इसका प्रमुख कारण है योग्य शिक्षकों तथा उपयुक्त सज्जा का अभाव। सन् 1962 में 'नेशनल बोर्ड ऑव बेसिक एजूकेशन' की स्थापना की गयी थी। इस बोर्ड का कर्तव्य है कि केन्द्रीय सरकार को बेसिक शिक्षा की नीति तथा कार्यक्रम व उसकी प्रगति के सम्बन्ध में सलाह प्रदान करे।

**बेसिक शिक्षा पर मूल्यांकन समिति**

भारत के विभिन्न राज्यों में शिक्षा का मूल्यांकन करने के लिए केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने श्री रामचन्द्रन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी जिसने अगस्त 1947 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। यह रिपोर्ट समिति के 11 राज्यों में किये गये अध्ययन के ऊपर आधारित है। इन राज्यों में समिति ने शिक्षा विभागों, बेसिक शिक्षा संस्थाओं, बेसिक प्रशिक्षण शिक्षालयों तथा शिक्षाशास्त्रियों से परामर्श करके इस रिपोर्ट को लिखा है। अतः बेसिक शिक्षा की समस्याओं पर अत्यन्त ही वास्तविक व व्यावहारिक सुझाव समिति ने दिये हैं।

**सिफारिशें**—समिति की सिफारिशों को प्रमुखतः निम्नलिखित सात भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) भारत सरकार,
(2) राज्य सरकारें,
(3) विश्वविद्यालय,
(4) बेसिक शिक्षा का प्रशासन व संगठन,

(5) बेसिक शिक्षकों का प्रशिक्षण,

(6) बेसिक स्कूल, और

(7) जनता।

(1) **भारत सरकार**—समिति का विचार है कि भारत सरकार को बेसिक शिक्षा के अन्तर्निहित सिद्धान्तों को स्वीकार करके उसके प्रसार में योग देना चाहिए। इसके लिए प्रथमतः केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार समिति को चाहिए कि विभिन्न राज्यों में वह बेसिक शिक्षकों, परिभाषा तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में फैली हुई मूल भ्रान्तियों का समाधान करे जिससे विभिन्न राज्यों में एक सर्वमान्य आधार पर बेसिक शिक्षा का विकास हो सके। इसके लिए शिक्षा मन्त्रियों तथा शिक्षा सचिवों का एक सम्मेलन बुलाना चाहिए। सरकार को चाहिए कि वह देश भर में बेसिक शिक्षा की गोष्ठियाँ आयोजित करे और पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत राष्ट्र-निर्माण में बेसिक शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डाले। इन गोष्ठियों में शिक्षा-विभाग के निदेशक तथा अन्य उच्च अधिकारी भाग लें।

इसके अतिरिक्त बेसिक शिक्षा पर अखिल भारतीय अथवा क्षेत्रीय सम्मेलन भी बुलाये जा सकते हैं जिनमें बेसिक शिक्षा के कार्यकर्ता एकत्रित होकर विभिन्न समस्याओं तथा अनुभवों और मार्ग में आने वाली कठिनाइयों पर विचार-विमर्श करके सामान्य हल ढूंढ़ सकें। भारत सरकार को चाहिए कि वह बेसिक शिक्षा के प्रसार के लिए फिल्म, रेडियो, प्रेस व प्रदर्शनियों द्वारा जनमत को जागृत करने के लिए बेसिक शिक्षा के विभिन्न रूपों का प्रचार करे। समिति ने यह भी सिफारिश की कि बेसिक शिक्षा की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने के लिए केन्द्रीय रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना की जाय जिसमें अनुसन्धानकर्ताओं के लिए छात्र-वृत्तियों की व्यवस्था हो। विद्यार्थियों की प्रगति तथा सफलताओं का मूल्यांकन करने के लिए बेसिक शिक्षा संस्थाओं में विशेषज्ञों की एक छोटी विशेष समिति स्थापित करने की भी सिफारिश की गयी। समिति का विश्वास है कि बेसिक शिक्षा का प्रसार करने में वे सभी सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाएँ सहयोग दे सकती हैं जो गाँव-निर्माण में लगी हुई हैं, जैसे अखिल भारतीय खादी ग्रामोद्योग बोर्ड, सर्व-सेवा संघ, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, कस्तूरबा गांधी स्मारक निधि, समाज-कल्याण बोर्ड तथा विभिन्न राज्यों के ग्राम कल्याण विभाग। इसके अतिरिक्त समिति ने बेसिक शिक्षा साहित्य के प्रकाशन, एक अखिल भारतीय त्रैमासिक पत्रिका तथा अन्य आवश्यक सामग्री के प्रकाशन का उत्तरदायित्व भी केन्द्रीय सरकार पर डाला है तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए पोस्ट-ग्रेजुएट ट्रेनिंग कालेजों की शीघ्र स्थापना पर बल दिया है। इस कार्य के लिए केन्द्रीय सरकार विभिन्न राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों, अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता भी प्राप्त कर सकती है। पोस्ट-बेसिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है।

(2) **राज्य सरकारें**—राज्य सरकारों को चाहिए कि वे तत्काल ही सम्पूर्ण

प्राथमिक शिक्षा को बेसिक शिक्षा का रूप दे दें और सभी ट्रेनिंग स्कूलों को बेसिक ट्रेनिंग स्कूल बना दें। बिहार तथा आसाम के आदर्श पर सभी राज्य तत्काल ही नियमित बेसिक शिक्षा परिषदों (statutary basic education boards) की स्थापना कर दें। ये परिषदें शिक्षा-विभागों का मार्गदर्शन तथा जन-सहयोग प्राप्त करने का प्रयास करेंगी। मूल्यांकन समिति ने बेसिक शिक्षा के विकास के लिए सघन क्षेत्र प्रणाली (compact area method) का विरोध किया है। वे सम्पूर्ण प्राथमिक शिक्षा को बेसिक शिक्षा में बदल देने के पक्ष में हैं। इसके लिए राज्य सरकारों को चाहिए कि वे अपने शिक्षा अधिकारियों को बेसिक शिक्षा-प्रणाली में दीक्षित करें। प्रत्येक राज्य में एक उपशिक्षा निदेशक नियुक्त कर दिया जाय जो वर्तमान साधारण स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित करे।

समिति की यह स्पष्ट राय है कि बेसिक शिक्षा-प्रणाली के उत्पादकता सम्बन्धी पक्ष को पर्याप्त महत्त्व दिया जाय। इसके लिए स्कूलों को कच्चा माल तथा आवश्यक सज्जा प्रदान की जाय, बालकों द्वारा निर्मित पदार्थों के विपणन की व्यवस्था की जाय तथा इनसे होने वाले लाभ का एक अंश बालकों को भी दिया जाय। समिति की यह विशेष राय है कि ऐसे बेसिक स्कूलों का जो निम्न कोटि के हैं, तत्काल उद्धार किया जाय। अन्त में समिति ने बेसिक शिक्षा सम्मेलनों, शिक्षकों के प्रशिक्षण, पाठशालाओं के लिए भवन-निर्माण, बेसिक शिल्प की टेकनीक में सुधार, शिक्षकों की दशा में सुधार तथा आवश्यक बेसिक साहित्य के प्रकाशन का भार भी राज्य सरकारों पर डाला है।

(3) **विश्वविद्यालय**—समिति का स्पष्ट मत है कि देश के विश्वविद्यालय बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में अवश्य उदासीन रहे हैं। ऐसे समय में जबकि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें बेसिक शिक्षा के प्रसार के लिए कटिबद्ध हैं, विश्वविद्यालयों की उदासीनता अवांछनीय है। अतः जहाँ तक विश्वविद्यालयों का सम्बन्ध है, वे कम से कम उच्च स्तर पर पोस्ट-बेसिक शिक्षा एवं पोस्ट-ग्रेजुएट बेसिक शिक्षक प्रशिक्षण तथा रिसर्च में सहयोग देकर बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकते हैं।

(4) **प्रशासन व संगठन**—यह बेसिक शिक्षा का बड़ा दुर्बल पक्ष है। वास्तव में अच्छे प्रशासन व संगठन के अभाव में ही बेसिक शिक्षा अभी मनोवांछित प्रगति नहीं कर सकी है। प्रशासन की असफलताओं को देखकर समिति को बड़ा दुख हुआ है। अतः इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रभावकारी सिफारिशें की हैं। समिति का मत है कि शिक्षा-विभाग के अधिकारियों को बेसिक शिक्षा को गम्भीरतापूर्वक लेना चाहिए और इस बात को अन्तिम रूप से हृदयंगम कर लेना चाहिए कि अब बेसिक शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का अनिवार्य अंग बन गयी है। अतः उसके विकास के सम्बन्ध में सरकारी शिक्षा अधिकारियों को अपने कर्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करना है। अधिकारियों को चाहिए कि पाठशालाओं व प्रशिक्षण स्कूलों में आवश्यक सज्जा की व्यवस्था तुरन्त कर दिया करें। स्वयं शिक्षा निरीक्षकों को बेसिक शिक्षा-प्रणाली में

पर्याप्त ट्रेनिंग प्राप्त कर लेनी चाहिए। निरीक्षकों को चाहिए कि वे अपनी दोष निकालने की पुरानी मनोवृत्ति को दूर करें और वास्तविक रूप से बेसिक शिक्षकों के मार्गदर्शक, सहयोगी तथा प्रेरक बनें। समिति का यह भी मत है कि बेसिक शिक्षा के विकास के लिए प्रशासन का विकेन्द्रीकरण एक मूल व तात्कालिक आवश्यकता है। स्थानीय सहयोग प्राप्त करने तथा प्रबन्ध में क्षमता लाने के लिए यह मूल मन्त्र है।

बेसिक स्कूलों तथा ट्रेनिंग स्कूलों में छात्रों के कार्य व सफलता का मूल्यांकन करने के लिए उनके दैनिक कार्य को प्राथमिकता देनी होगी।

शिक्षा भवनों की जहाँ पर पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए वहाँ यह भी आवश्यक है कि वे सस्ते व उपयोगी हों। कीमती भवनों पर इस समय रुपया व्यय नहीं करना चाहिए, तथापि भवनों के अभाव में बेसिक शिक्षा प्रतीक्षा नहीं कर सकती।

समिति की राय में अधिकारियों को चाहिए कि वे प्रत्येक स्कूल व ट्रेनिंग स्कूल के लिए उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित कर दें और उन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सभी सम्भव प्रयत्न करें। किन्तु उत्पादन को शिक्षा के मानदण्ड के गिरने का एक बहाना न बना दिया जाय, अपितु प्रयास इस बात का किया जाय कि उत्पादक शिल्प के माध्यम से ही शिक्षा का मानदण्ड उठे।

अन्त में समिति ने कहा कि बेसिक शिक्षा को उचित रूप से माध्यमिक शिक्षा से शृंखलाबद्ध (dovetailing) किया जाय।

(5) **बेसिक शिक्षकों का प्रशिक्षण**—समिति की राय है कि बेसिक शिक्षकों के प्रशिक्षण को अधिक पूर्ण व वास्तविक बनाने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में तीन बातों पर विशेष बल देना है—शिल्प की कुशलता, सह-सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता तथा मनोविज्ञान का ज्ञान और बालक को उसी मनोवैज्ञानिक स्थिति में समझकर शिक्षा-प्रणाली में नयी रीति को अपनाना। शिल्प-शिक्षा के अधूरेपन से बेसिक शिक्षा को अपार क्षति पहुँची है। जो भी शिल्प हो वह पूर्ण हो, न कि अधूरा अथवा खण्डित। साथ ही विषयों में सह-सम्बन्ध स्थापित न कर सकने के कारण शिक्षक बेसिक शिक्षा की आत्मा का ही हनन कर देते हैं। अब तक जो कुछ भी सह-सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया गया है वह शिल्प के ही साथ किया गया है तथा सामाजिक व नैसर्गिक वातावरण के साथ नहीं किया गया है। अतः समिति की राय में शिल्प, सामाजिक व नैसर्गिक वातावरण, तीनों को ही शिक्षण के माध्यम के रूप में पर्याप्त महत्त्व देना है।

समिति ने बेसिक ट्रेनिंग प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में सुधार करने, ट्रेनिंग कालेजों के सुसंगठन, शिल्प प्रशिक्षण की क्षमता, पुराने शिक्षकों को पुनः प्रशिक्षित करने, शिक्षकों को प्रशिक्षण काल में रहने के लिए होस्टलों की व्यवस्था इत्यादि पर भी विशेष बल दिया है।

(6) **बेसिक स्कूल**—समिति का मत है कि जिस प्रकार पूर्ण प्रशिक्षित शिक्षकों को ऐसे स्कूलों में नियत करना भारी भूल है, जहाँ न तो शिल्प के लिए कच्चा माल है, न सज्जा, न औजार और न भूमि, उसी प्रकार यह भी गलत है कि अपूर्ण प्रशिक्षण

पाये हुए शिक्षकों अथवा प्रशिक्षित शिक्षकों को ऐसे स्कूलों में भेज दिया जाय जहाँ पर्याप्त सज्जा व सामान है। "जब तक ये दो भूलें होती रहेंगी तब तक भली-भाँति बेसिक शिक्षा का विकास सम्भव नहीं है।"

समिति ने कहा है कि कोई भी स्कूल तब तक बेसिक स्कूल न समझा जाय जब तक उसमें निम्नलिखित अवस्थाएँ मौजूद न हों :

(i) आठ वर्ष का बेसिक शिक्षा का सुसम्बद्ध (integrated) पाठ्यक्रम। यह पाठ्यक्रम पाँच वर्ष के जूनियर बेसिक तथा तीन वर्ष के सीनियर बेसिक में विभाजित होगा।

(ii) समय पर पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता पड़ने पर कच्चे माल की पूर्ति।

(iii) पर्याप्त शिल्प-सज्जा एवं मरम्मत के सामान की पूर्ति;

(iv) प्रत्येक स्कूल में स्थानीय अवस्थाओं के अनुसार न्यूनतम भूमि होनी चाहिए। जिसमें पानी की भी व्यवस्था होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, आठ कक्षाओं वाले बेसिक स्कूल में तीन एकड़ भूमि होनी चाहिए।

(v) स्कूल के बहुसंख्यक शिक्षक प्रशिक्षित होने चाहिए। जिन शिक्षकों को प्रशिक्षण न मिला हो वे प्रशिक्षित शिक्षकों के अन्तर्गत शिक्षण पाते रहें, जब तक उन्हें ट्रेनिंग के लिए न भेजा जाय।

(vi) स्कूल में शिक्षकों के मार्गदर्शन में जनतन्त्र पर आधारित सामुदायिक रहन-सहन तथा विद्यार्थियों की बाल-सरकार का निर्माण होना चाहिए।

(vii) शिल्प-कला अधूरी न होकर व्यवस्थित होनी चाहिए जिसमें उन न्यून-तम उत्पादन लक्ष्यों की पूर्ति की गयी हो जो शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित किये गये हों।

(viii) जहाँ शिक्षण-प्रणाली सह-सम्बन्ध पर आधारित हो।

(ix) जहाँ पर्याप्त प्रसार कार्य हो, जिससे स्कूल और समाज के बीच में अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो जायँ।

(x) जहाँ सामूहिक प्रार्थनाओं, पुस्तकालय तथा सांस्कृतिक व मनोरंजन के कार्यों की समुचित व्यवस्था हो।

समिति ने सिफारिश की है कि स्कूलों में परीक्षा-प्रणाली आन्तरिक होगी। चरित्र, व्यक्तित्व तथा मानसिक विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया जायगा। यह बेसिक शिक्षा ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के लिए समान रूप से लागू होगी।

(7) **जनता**—किसी भी जनतन्त्रीय व्यवस्था में जनमत का विशेष स्थान है। अतः केन्द्रीय व राज्य सरकारों को चाहिए कि वे बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में जनता को विश्वस्त करें तथा उसके भ्रमों का निवारण करके बेसिक शिक्षा के विकास के लिए जनता का सहयोग प्राप्त करें। वास्तव में, यदि हमारे देश के बेसिक स्कूल अच्छी प्रकार से चलते हैं तो हमें स्वाभाविक रूप से ही जनता का सहयोग प्राप्त हो सकेगा। अतः आवश्यक है कि हम बेसिक शिक्षा की श्रेष्ठता में वृद्धि करें।

लोकसभा द्वारा नियुक्त अनुमान समिति ने अपनी 1957-58 की रिपोर्ट में बेसिक शिक्षा के सुधार के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये थे ।

(1) यह भ्रान्ति कि बेसिक शिक्षा गाँवों के लिए और सामान्य शिक्षा नगरों के लिए है, दूर हो जानी चाहिए;

(2) बेसिक स्कूलों में शिक्षा-स्तर सामान्य स्कूलों के समकक्ष ही होना चाहिए;

(3) नगरों में वर्तमान सामान्य पाठशालाओं को शीघ्र ही बेसिक स्कूलों में बदल डालना चाहिए;

(4) वर्तमान स्कूलों को द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि के अन्तर्गत ही बेसिक स्कूलों में बदलना चाहिए;

(5) सरकार का कर्तव्य है कि वह बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों की भ्रान्तियों का निवारण करे;

(6) बेसिक स्कूलों में सज्जा तथा कच्चे माल की पूर्ति तत्काल की जाय जिससे उनकी उत्पादन-क्षमता का सुधार हो;

(7) शिक्षा के विस्तार में वृद्धि करने के साथ-साथ उसका मानदण्ड ऊँचा उठाया जाय;

(8) देश के नेतागण तथा उच्च सरकारी अधिकारी जिनका बेसिक शिक्षा में विश्वास है, उन्हें अपने बच्चों को यथासम्भव इन्हीं बेसिक पाठशालाओं में ही भेजना चाहिए ।

बेसिक शिक्षा की एक समस्या जो अधिकाधिक लोगों का ध्यान आकर्षित कर रही है वह है बेसिक प्राथमिक शिक्षा-स्तर के उपरान्त बालकों के लिए उचित पाठ्यक्रम की व्यवस्था करना । इस सम्बन्ध में सभी ने यह सिफारिश की है कि उत्तर-बेसिक स्कूल स्थापित किये जायँ जिनसे पास होने वाले विद्यार्थियों को हाई स्कूल के समकक्ष मान लिया जाय । इस सम्बन्ध में मूल्यांकन समिति ने सिफारिश की है कि (i) उत्तर-बेसिक शिक्षा के सम्पूर्ण प्रश्न पर फिर से विचार किया जाय और इस सम्बन्ध में स्पष्ट नीति की तुरन्त घोषणा की जाय, (ii) जो बालक सीनियर बेसिक स्कूलों से पास करके उत्तर-बेसिक स्कूलों में प्रवेश कराना चाहें, उन्हें इसकी सुविधाएँ प्रदान की जायँ; तथा (iii) जो बालक उत्तर-बेसिक स्कूलों को पास कर लें उन्हें उच्च शिक्षा के लिए विश्व-विद्यालयों में प्रवेश मिलना चाहिए ।

बेसिक शिक्षा के क्षेत्र में एक दीर्घकाल से यह आवश्यकता अनुभव की जा रही थी कि इसमें कुछ अनुसन्धान-कार्य भी किया जाय । केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में नियुक्ति की गयी । स्थायी समिति ने सन् 1955 में यह सिफारिश की थी कि बेसिक शिक्षा के लिए कोई अनुसन्धान केन्द्र खोला जाय ।

योजना कमीशन ने यह बात स्वीकार कर ली और सन् 1956 में दिल्ली में 'नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑव बेसिक एजूकेशन' की स्थापना कर दी गयी । इस संस्था के प्रमुख उद्देश्य व कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) नीचे लिखे हुए अखिल भारतीय महत्त्व के बेसिक शिक्षा सम्बन्धी विषयों में अनुसन्धान कराना :

(अ) समन्वय (correlation) तथा शिक्षण-पद्धति,

(आ) पाठ्यक्रम-निर्माण;

(इ) हस्तकलाओं में अनुसन्धान;

(ई) हस्तकलाओं की सज्जा में सुधार करना;

(उ) विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के लिए साहित्य की रचना;

(ऊ) नगरों के लिए बेसिक शिक्षा सम्बन्धी हस्तकलाओं का विकास;

(ए) विभिन्न हस्तकलाओं के लिए समय की अवधि निर्धारित करना;

(ऐ) सभी स्कूलों को बेसिक स्कूलों में विकसित करना।

(2) उच्च स्तर के कार्यकर्ताओं, जैसे निरीक्षक, प्रशासक तथा सुपरवाइजर इत्यादि को प्रशिक्षण देना।

(3) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में सलाह तथा सूचना देना।

इस इन्स्टीट्यूट ने अपनी स्थापना के उपरान्त बेसिक पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकों तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक खोजें की हैं तथा कुछ साहित्य की रचना की है। बेसिक शिक्षा में लगे हुए उच्च कर्मचारियों के प्रशिक्षण की योजना भी इस संस्था के विचाराधीन है।

इस समय देश में सम्पूर्ण प्राथमिक स्कूलों में अधिकांश स्कूल बेसिक स्कूल नहीं हैं। प्राथमिक शिक्षा के प्रसार का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर ही है। तथापि केन्द्र की ओर से भी बहुत-सी योजनाएँ चल रही हैं जो बेसिक शिक्षा के प्रसार व सुधार में सहयोग देती हैं। राज्यों की योजनाओं में केन्द्र की ओर से कुल व्यय के 60 प्रतिशत तक आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। बेसिक शिक्षा के क्षेत्र में केन्द्र की प्रमुख योजनाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑव बेसिक एजूकेशन तथा उसके विभिन्न क्रियाकलाप;

(2) दिल्ली में एक आदर्श स्कूल की स्थापना;

(3) बेसिक तथा प्राथमिक स्कूलों के लिए विज्ञान के सम्बन्ध में सलाह देने की परियोजना;

(4) सेमीनार तथा सम्मेलन;

(5) सीनियर बेसिक स्कूलों को पोस्ट-बेसिक स्कूलों तक ले जाना तथा वर्तमान पोस्ट-बेसिक स्कूलों की दशा में सुधार करने के लिए सहायता प्रदान करना। ऐसे स्कूलों की संख्या अधिक न होने के कारण केन्द्रीय सरकार उनके व्यय का शत-प्रतिशत अनुदान उन्हें देती है।

(6) एंग्लो-इण्डियन तथा पब्लिक स्कूलों में बेसिक शिक्षा का सूत्रपात करने के उद्देश्य से समितियों की स्थापना करना;

(7) पोस्ट-ग्रेजुएट बेसिक प्रशिक्षण कालेजों के कार्य की जाँच कराना; तथा

(8) पोस्ट-बेसिक एवं माध्यमिक स्कूलों के लिए एकसा पाठ्यक्रम तैयार करना।

**बेसिक शिक्षा पर कोठारी शिक्षा आयोग का मत**

कोठारी शिक्षा आयोग बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों से पूर्णतः सहमत है, किन्तु वह किसी विशेष स्तर पर शिक्षा को "बेसिक शिक्षा" कहने के पक्ष में नहीं है। आयोग का मत है कि बेसिक शिक्षा के जो बुनियादी सिद्धान्त हैं वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्हें सभी स्तरों पर शिक्षा-प्रणाली का पथ-प्रदर्शन तथा निर्माण करना चाहिए। ऐसी स्थिति में आयोग किसी एक विशेष स्तर को ही 'बेसिक' शिक्षा मानने के पक्ष में नहीं है। इस मत को केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् द्वारा स्कूली शिक्षा पर नियुक्त की गयी समिति ने अस्वीकार कर दिया है। यह समिति मद्रास के तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री भक्तवत्सलम की अध्यक्षता में नियुक्त की गयी थी तथा मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात के शिक्षा मन्त्री इसके अन्य सदस्य थे। नवम्बर 1966 में अपनी सिफारिश समिति ने कहा था कि 'बेसिक' शब्द को शिक्षा-प्रणाली से हटा देने से जनता में अनिश्चितता फैल जायगी। अतः बेसिक शिक्षा का सभी स्तरों पर विकास करना चाहिए।

नाम के अतिरिक्त कोठारी आयोग को बेसिक शिक्षा से और कोई विरोध नहीं है। आयोग का कहना है कि कार्य-अनुभव (work-experience) जिसका अभिप्राय होता है जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादक कार्य को शिक्षा के सभी स्तरों पर शिक्षा का एक आवश्यक अंग बना देना चाहिए। इससे वर्तमान पुस्तकीय शिक्षा-प्रणाली के स्थान पर व्यावहारिक शिक्षा का सूत्रपात होगा। आयोग के मतानुसार निम्न प्राथमिक कक्षाओं में कार्य-अनुभव का सूत्रपात सरल हस्तकार्य से हो सकता है ताकि बालक अपने हाथ का प्रयोग करना सीख जाय और उसके द्वारा अपना मानसिक और संवेदनात्मक विकास करने में समर्थ हो सके। इस पाठ्यक्रम में कागज काटना, दफ्ती का काटना तथा मोड़ना, मिट्टी को ढालना, कताई तथा रुई का सरल काम अथवा घर के भीतर पौधे लगाना इत्यादि सम्मिलित होने चाहिए। उच्च प्राथमिक कक्षाओं में हस्तकला सीखने के द्वारा चिन्तन शक्ति तथा रचनात्मक अभिरुचि का विकास किया जाना चाहिए। अतः बाँस तथा बेंत का कार्य, चर्म-कार्य, बर्तन बनाना, बुनाई, बागवानी तथा कृषि-कार्य इत्यादि इन कक्षाओं में शिक्षा का आधार बनाये जा सकते हैं। आयोग ने मिडिल कक्षाओं तथा उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए भी बेसिक पाठ्यक्रम अपनाये जाने की सिफारिश की है। यह कार्य सामान्यतः प्रशिक्षण की दृष्टि से अधिक जटिल प्रकार का होगा।

आयोग के मतानुसार बेसिक शिक्षा-कार्यक्रम में कार्य-अनुभव के सभी मूल सिद्धान्त निहित हैं। अब तक जो शिक्षा विकसित हुई उसमें 'उत्पादकता' पक्ष पर बल दिये जाने से बेसिक शिक्षा निरर्थक हो गयी। "किन्तु अब जिस बेसिक शिक्षा की आवश्यकता है वह एक ऐसे समाज की आवश्यकताओं के लिए होनी चाहिए जिसे विज्ञान एवं टेकनोलॉजी की सहायता से बदल डालना है। अन्य शब्दों में कार्य-अनुभव एक नवीन

सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए आगे की ओर देखने वाला कार्य-क्रम होना चाहिए।"[16] अतः ग्रामीण क्षेत्रों के लिए कार्य-अनुभव जहाँ कृषि-कार्यों पर आधारित है वहाँ अब उद्योगों और सरल तकनीकों पर आधारित कार्यक्रम भी प्रारम्भ कर देना चाहिए। जिन स्कूलों में वर्कशाप नहीं खुल सकती वहाँ औजारों का बक्स अवश्य प्रदान किया जाना चाहिए। शहरों के बच्चों को भी यथासम्भव बागवानी और कृषि-कार्य में कार्य-अनुभव प्रदान करना चाहिए। बेसिक शिक्षा-प्रणाली के आधुनिकी-करण पर आयोग ने विशेष बल दिया है ताकि यह आगे की ओर देखने वाली (forward looking) बन जाय। इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए आयोग ने तीन शर्तें बतायी हैं : (1) शिक्षकों का प्रशिक्षण; (2) आवश्यक सज्जा की उपलब्धि; तथा (3) कार्यक्रम का उत्तरोत्तर सभी स्कूलों में प्रसार। आयोग बेसिक शिक्षा-प्रणाली को जिसका सुझाव महात्मा गांधी ने लगभग 25 वर्ष पूर्व दिया था, भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना मानता है। "यह प्रणाली एक ऐसी निरर्थक शिक्षा के प्रति विद्रोह थी जो पुस्तकों तथा परीक्षा पर ही आधारित थी और जो ब्रिटिश शासन-काल में परम्परागत पद्धति के आधार पर विकसित हो गयी थी। बेसिक शिक्षा ने एक राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न कर दी, जो चाहे प्राथमिक शिक्षा के मानदण्ड को तो न उठा सकी हो, किन्तु जिसने एक अधिक व्यापक क्षेत्र में निश्चय ही शिक्षा सम्बन्धी विचारधारा और स्वरूप पर भारी प्रभाव डाला है। हमारा विश्वास है कि इस प्रणाली के मूलभूत सिद्धान्त मौलिक रूप से दृढ़ हैं, और आवश्यक संशोधन के द्वारा ये न केवल प्राथमिक शिक्षा-स्तर पर ही वरन् राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के अन्य उच्च स्तरों पर भी शिक्षा का अंग बनाये जा सकते हैं।" आयोग के मतानुसार बेसिक शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्त तीन हैं : (1) शिक्षा में उत्पादक क्रिया; (2) पाठ्यक्रम का उत्पादक-क्रिया तथा भौतिक एवं सामाजिक वातावरण से समन्वय; और (3) स्कूल तथा स्थानीय समाज का अन्तरंग सम्पर्क। इन्हीं सिद्धान्तों को शिक्षा के सभी स्तरों पर अपनाया जा सकता है। यही कारण है कि आयोग किसी एक विशेष स्तर को ही बेसिक शिक्षा मानने के पक्ष में नहीं है।[17]

### बेसिक शिक्षा की समस्याएँ

वास्तव में, देश में बेसिक शिक्षा का विकास तो किया जा रहा है किन्तु अभी तक इसके सिद्धान्तों तथा व्यावहारिक कार्य-विधि के विषय में लोगों के मस्तिष्क में स्पष्ट व सुलझे हुए विचार नहीं हैं। पर्याप्त मतभेद की अपेक्षाकृत भी अभी ऐसी चेष्टाएँ

[16] *Report of the Education Commission* (1964-66), p. 202.

[17] *Cf.* "······in our view, the essential principles of basic education are so important that they should guide and shape the educational system at all levels. This is the essence of our proposals, and in view of this, we are not in favour of designating any one stage of education as Basic Education". —*Ibid*, p. 209.

नहीं की गयी हैं जिनमें इन सिद्धान्तों का प्रचार एक दीर्घ स्तर पर किया जाय। साथ ही अनुसन्धान की दृष्टि से तो इस क्षेत्र में बहुत ही कम कार्य किया गया है। बहुत-सी ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें बेसिक शिक्षक अपने अनुसन्धान का विषय बनाकर योजना को सच्चा लाभ पहुँचा सकते हैं। इनमें से प्रमुख समस्याएँ, संक्षेप में, इस प्रकार हैं :

(1) पाठ्यक्रम की विषय-सामग्री को किस सीमा तक बेसिक क्राफ्ट से सम्बन्धित (connected) किया जा सकता है ?

(2) पाठ्यक्रम के ऐसे कौनसे भाग हैं जिनका सम्बन्ध भौतिक व सामाजिक वातावरण से स्थापित किया जा सकता है ?

(3) पाठ्यक्रम के उन अंशों के लिए जिन पर पर्याप्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं, किस प्रकार उपयुक्त पाठ्य-सामग्री उपलब्ध की जा सकती है ?

(4) अ-बेसिक स्कूलों के छात्रों की तुलना में बेसिक स्कूलों के छात्र साहित्यिक तथा अन्य सामाजिक व सांस्कृतिक कार्यों में किस स्थान पर ठहरते हैं ?

(5) बेसिक स्कूल स्थानीय जनता के जीवन के अभिन्न अंग किस प्रकार बन सकते हैं ?

(6) क्राफ्ट की सामान्य उत्पादकता को किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है और किस प्रकार अधिक मितव्ययिता के साथ क्राफ्ट-कार्य को जारी रखा जा सकता है ?

बेसिक शिक्षा के लिए ये जीवित समस्याएँ हैं जिनका उत्तर अविलम्ब मिलना चाहिए। यदि देश में अभी बेसिक शिक्षा के विषय में कुछ भ्रान्ति है अथवा वह आवश्यक रूप से लोकप्रिय नहीं हुई तो उसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि इन ज्वलन्त प्रश्नों का अभी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सका है। इनका उत्तर अब तक देश के अनुभव पर ही आधारित हो सकता है। ऐसी स्थिति में इन बेसिक ट्रेनिंग कालेजों का उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे अनुसन्धान कराएँ, पर्याप्त व उचित पाठ्य-सामग्री प्रकाशित करें, क्राफ्टों का वैज्ञानिक आधार पर तथा शिक्षा के एक माध्यम के रूप में विकास करें, ऐसी सहायताओं व सामग्रियों का निर्माण करें जिनकी आवश्यकता बेसिक शिक्षण में शिक्षकों को पड़ती है। साथ ही यह आवश्यक है कि बेसिक शिक्षा का सम्बन्ध सामाजिक शिक्षा से भी स्थापित करा दिया जाय क्योंकि बेसिक शिक्षा के उद्देश्यों में एक सामाजिक जीवन की भावना का विकास करना भी है।[18]

[18] *Cf.* "Education must take into account the dynamic character of our society and assume the moral responsibility of preparing our youth for it. Education cannot remain aloof from the powerful social and economic forces wich are changing the social and economic pattern of our society."—K. L. Shrimali : 'Basic Education in A Machine Age', p. 1 ; a paper contributed in *A Handbook for Teachers of Basic Schools*, Government of India, 1958.

अन्त में, बेसिक शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा का गिरता हुआ मानदण्ड एक गम्भीर समस्या है जिसकी ओर समय-समय पर देश के शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित होता है। बहुत-से आलोचकों का यह कथन है कि बेसिक प्राथमिक पाठशालाएँ शिक्षा के मानदण्ड की दृष्टि में परम्परागत प्रचलित पाठशालाओं से भी गयी बीती हैं। वस्तुतः इस आलोचना में कुछ सत्य अवश्य है जैसा कि हमने स्वयं स्वीकार किया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि इस मानदण्ड को किस प्रकार ऊँचा उठाया जाय। इस सम्बन्ध में संक्षेप में निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) शिक्षक को बेसिक शिक्षा की विधि (methodology) का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है; अर्थात् यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि बेसिक शिक्षा प्रधानतः 'क्रिया द्वारा शिक्षा' देना है। पुस्तकों का उपयोग एक आवश्यक सहायक सामग्री के रूप में ही करना है।

(2) शिक्षकों को पूर्णतः प्रशिक्षित होना चाहिए और पाठ्यक्रम का उन्हें विशेष व अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है।

(3) स्वयं शिक्षक को एक अच्छा उत्पादनकर्ता होना चाहिए। जब तक शिक्षक हस्तकला में दक्ष नहीं है और उसके द्वारा निर्मित वस्तुएँ उच्च कोटि की नहीं हैं, वह बालकों में न तो बेसिक शिक्षा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर सकता है और न बालकों को अच्छी वस्तुएँ निर्मित करने की प्रेरणा ही दे सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षक को क्राफ्ट की ट्रेनिंग बहुत अच्छी देनी चाहिए।

(4) शिक्षक को इस बात का ज्ञान पूर्णतः होना चाहिए कि बालक के नैसर्गिक तथा सामाजिक वातावरण से अथवा उत्पादन कार्य के क्षेत्र से किन-किन सम्बन्धित बातों का चयन करके बालक के समक्ष रखना है तथा किस प्रकार इन वातावरणों व उत्पादक हस्तकला का सह-सम्बन्ध अन्य विषयों से कुशलतापूर्वक किया जा सकता है।

(5) बालकों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उनको स्वशासन में प्रशिक्षित करना आवश्यक है। साथ ही उम्र के अनुरूप स्कूल के कार्यों को अपने हाथों से करने की आदत भी उनमें डालनी चाहिए। इससे उनमें नियमितता, आत्मनिर्भरता, अनुशासन इत्यादि गुणों का विकास होगा जिसका उनके अध्ययन पर स्वस्थ प्रभाव पड़ेगा।

**सुधार के उपाय**

बेसिक शिक्षा वस्तुतः भारतीय शिक्षा-प्रणाली का ही नहीं अपितु राष्ट्रीय जीवन तथा प्रेरणा का आधार बनती जा रही है। आशा की जाती है कि भविष्य में इसका रूप और अधिक व्यापक हो जायगा। ऐसा होने पर ही इस योजना के प्रणेता, महात्मा गांधी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को एक मूर्त रूप मिल सकेगा। ब्रिटिश भारत में जिस लोक शिक्षा की इतनी अवहेलना की गयी थी, उसकी आज स्वतन्त्र भारत में हम अवहेलना नहीं कर सकते। यदि भारत को सभ्य देशों की दौड़ में आगे रहना है, तो अवश्य ही उसे अपनी 76 प्रतिशत निरक्षरता का विनाश करना होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उपयुक्त पाठ्यक्रम, योग्य शिक्षकों, कुशल संगठन व प्रशासन, दृढ़

अर्थव्यवस्था तथा निरन्तर अध्यवसाय द्वारा हम अपनी प्राथमिक व बेसिक शिक्षा को सच्चे अर्थ में अनिवार्य बनाकर देश से अशिक्षा व निरक्षरता के कलंक को शीघ्र धो सकते हैं। जब अमरीका, रूस, चीन तथा टर्की इत्यादि देशों ने इस परीक्षण में आशाजनक उन्नति की है तो फिर ऐसा कौनसा कार्य है जिसे आज का स्वतन्त्र व महत्त्वाकांक्षी भारत नहीं कर सकता ?

हम निस्संकोच कह सकते हैं कि भारत में अब तक प्राथमिक शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया था। सन् 1854 से लेकर सन् 1964 तक के सौ से भी अधिक वर्षों में सरकार कई बार इस बात को सिद्धान्ततः स्वीकार कर चुकी है कि देश में प्राथमिक शिक्षा का प्रसार उसका प्रमुख कर्तव्य है। आज भी भारत के संविधान की 45वीं धारा के अनुसार सरकार का कर्तव्य था कि वह 6 वर्ष से 14 वर्ष तक की आयु वाले सभी बालकों को सन् 1960 तक निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करती। किन्तु अभी तक ऐसा न हो सका। सरकार विश्वविद्यालय शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा के सुधार पर बहुत ध्यान दे रही है और इनके लिए केन्द्रीय सरकार ने कमीशनों की नियुक्ति करके इनकी समस्याओं का एक अत्यन्त विषद् व मौलिक विश्लेषण करा लिया है; किन्तु स्वतन्त्र भारत की सरकार ने अभी तक इस बात का अनुभव नहीं कर पाया है कि वह इसी प्रकार का एक कमीशन एकमात्र प्राथमिक शिक्षा के लिए भी नियुक्त करे।

अतः आवश्यक है कि केन्द्रीय सरकार की ओर से शीघ्र ही एक प्राथमिक शिक्षा कमीशन नियुक्त किया जाय जो इसकी सम्पूर्ण समस्याओं का अखिल भारतीय स्तर पर अध्ययन करके उनको सुलझाने के ठोस सुझाव दे। इसमें बेसिक शिक्षा-पद्धति को सर्वव्यापी रूप से सभी वर्ग के बालकों के लिए प्राथमिक स्तर पर अनिवार्य करने के प्रश्न पर विषद् रूप से विचार किया जाय।

दूसरी बात है प्राथमिक व बेसिक शिक्षकों की आर्थिक दशा के सुधार के सम्बन्ध में। यह बात सर्वविदित है कि भारत में प्राथमिक शिक्षक का वेतन अत्यन्त अल्प है। इस कारण वह हर समय आर्थिक चिन्ताओं में निमग्न रहता हुआ एक अत्यन्त ही दीन व अभावपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। सरकार भी उसे दीन व शक्तिहीन समझकर सुविधापूर्वक उसकी अवहेलना कर देती है। प्राथमिक शिक्षक की तुलना में विश्वविद्यालयों के शिक्षकों की, जो अपनी बातों को उच्च अधिकारियों तक शीघ्र पहुँचा देते हैं और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सरकार से मोर्चा लेने की भी क्षमता रखते हैं, बातों को सरकार शीघ्र सुन लेती है, किन्तु बेचारा प्राथमिक शिक्षक एक साधारण मजदूर की भाँति शिक्षण का 'पेशा' करता है। जब तक देश में प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का सुधार नहीं होगा, देश की शिक्षा की आधारशिला दुर्बल रहेगी और जब तक प्राथमिक शिक्षक की आर्थिक दशा तथा कार्य-दशाओं में सुधार नहीं होगा, हम देश की प्राथमिक शिक्षा के सुधार की कल्पना नहीं कर सकते। सामान्य शिक्षकों की तुलना में बेसिक शिक्षकों के समक्ष और अधिक कठिनाइयाँ हैं। इनके प्रशिक्षण का समय और व्यय अधिक होता है तथा अध्यापन कार्य भी अधिक श्रमसाध्य होता है। अतः यह स्वाभाविक

है कि उनके वेतन-स्तर और भी अधिक ऊँचे होने चाहिए। इस दृष्टि से मद्रास में अवश्य कुछ किया जा रहा है, शेष राज्यों ने इस प्रश्न पर दृष्टिपात तक नहीं किया है।

प्राथमिक व बेसिक शिक्षा की एक अन्य समस्या है स्कूल-भवनों का अभाव। यह कितनी दयनीय बात है कि देश के असंख्य भावी नागरिकों को हम स्थान की इतनी सुविधा न दे सकें जहाँ बैठकर वे अपने जीवन के प्रथम पाठ पढ़ सकें। देश के प्रत्येक क्षेत्र में प्राय: प्राथमिक स्कूलों के अपने स्वयं के अच्छे भवन नहीं हैं। गाँवों में कहीं कच्चे व टूटे खण्डहरों में बच्चे पढ़ते हैं तो कहीं वर्षा, धूप व जाड़े में पेड़ों के नीचे प्रकृति की निर्दयता को सहन करते रहते हैं। वास्तव में प्राथमिक स्कूलों के पास भवन न होना एक अत्यन्त ही दुरूह समस्या है। यह एक हास्यास्पद व लज्जाजनक स्थिति है जिसका निवारण तत्काल ही आवश्यक है। इनके अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति भी देश में मिलती है जिसके अनुसार वर्गभेद अक्षुण्ण बना हुआ है। यह भारत का दुर्भाग्य है कि शिक्षा-नीतियों के प्रणेता, बड़े-बड़े मन्त्री व राजकीय अफसर तथा बेसिक शिक्षा की सराहना करने वाले अन्य पूंजीपति व धनिक वर्ग के लोग जहाँ वर्तमान बेसिक स्कूलों को भारत के अन्य सभी बालकों के लिए सर्वोत्तम समझते हैं वहाँ उन्हें अपने बालकों के लिए बिलकुल अनुपयुक्त समझते हैं। इतना ही नहीं, अधिकांश अभिमानी नौकरशाह तो इसमें अपना अपमान समझते हैं कि उनके बच्चे बेसिक स्कूलों में निर्धन किसानों और श्रमिकों के बालकों के साथ पढ़ें। अपने बालकों के लिए वे लोग दिन-प्रतिदिन इंगलैण्ड के पब्लिक स्कूलों के अनुरूप भारत में भी पब्लिक स्कूल खोलते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में किस प्रकार बेसिक शिक्षा को प्रोत्साहन मिल सकता है और किस प्रकार देश से वर्ग-भेद मिट सकता है जो गांधीजी की वर्धा योजना का मूल मन्त्र था ? ऐसी स्थिति में यह भी नितान्त स्वाभाविक है कि जनता के मस्तिष्क में सरकारी बेसिक योजना के प्रति अविश्वास है और न केवल लोगों में इसके प्रति अविश्वास ही है अपितु उनकी निश्चित धारणा-सी होती जा रही है कि बेसिक शिक्षा के नाम पर तथा इस योजना के साथ महात्मा गांधी का पवित्र नाम जोड़कर उनके प्रति देश की आदर भावना का शोषण करके उनके बालकों का जीवन नष्ट किया जा रहा है और शिक्षा का मानदण्ड दिन पर दिन गिर रहा है। अधिकांश बेसिक स्कूलों की शिक्षा न तो अब साहित्यिक ही है और न बेसिक ही। अत: आवश्यक है कि नेतागण, मन्त्री व उच्च अधिकारीगण जनता में बेसिक शिक्षा के प्रति विश्वास उत्पन्न करने के लिए अपने बालकों को भी इन्हीं बेसिक स्कूलों में पढ़ायें, अन्यथा यह सम्पूर्ण योजना एक हास्यास्पद परीक्षण मात्र ही रह जायगी।

इन कठिनाइयों के अतिरिक्त अन्य कठिनाइयों का भी प्राथमिक शिक्षा के विषय में उल्लेख किया जा सकता है। अनिवार्यता के सिद्धान्त को सम्पूर्ण देश में लागू करने में सरकार की असफलता, अच्छी पाठ्य-पुस्तकों का अभाव, अध्ययन सामग्री का अभाव, पाठ्यक्रम सम्बन्धी दोष, शिक्षकों के प्रशिक्षण सम्बन्धी असुविधाएँ, निरीक्षण की अपर्याप्तता व अक्षमता, स्थानीय बोर्डों में निम्न कोटि की राजनीति और इन बोर्डों के

अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा का निर्दय बलिदान तथा जनसमूह में व्याप्त निर्धनता इत्यादि अन्य कारण हैं जो देश की प्राथमिक व बेसिक शिक्षा की तीव्र प्रगति में रोड़े अटकाये हुए हैं। जब तक इन रोड़ों को मार्ग में से नहीं हटाया जायगा, हम पर्याप्त रूप से प्राथमिक व बेसिक शिक्षा का सुधार नहीं कर सकते।

## सारांश

**स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त सरकार का ध्यान प्राथमिक शिक्षा के विकास पर गया है। सभी सम्भव उपायों से उसके विकास की चेष्टा की जा रही है। यद्यपि प्राथमिक शिक्षा राज्य सरकार के अन्तर्गत है, तथापि अखिल भारतीय प्राथमिक शिक्षा परिषद् के द्वारा केन्द्रीय सरकार इसके विकास में प्रयत्नशील है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि छठे आयोजन के अन्त तक देश में 6–11 वर्ष के बालकों को निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रदान की जा सकेगी। आधुनिक भारतीय शिक्षा के इतिहास में बेसिक शिक्षा-पद्धति का प्रादुर्भाव एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटना है। इस पद्धति के प्रणेता महात्मा गांधी थे। उन्होंने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की अनुपयुक्तता तथा अव्यावहारिकता को देखते हुए यह सुझाया कि शिक्षा के क्षेत्र में क्राफ्ट के माध्यम पर विशेष आधिपत्य रखा जाय। अतः शिक्षा केवल पुस्तकों से ही नहीं अपितु किसी बेसिक क्राफ्ट के माध्यम से दी जानी चाहिए।**

**गांधीजी की इस योजना को देश के प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों ने स्वीकार कर लिया। अक्टूबर 1937 में वर्धा में एक शिक्षा सम्मेलन हुआ जिसमें बेसिक शिक्षा को अपनाने के लिए प्रस्ताव पास किये गये। बाद में डॉ० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक समिति बेसिक शिक्षा पर पूर्ण रूप से विचार करने के लिए नियुक्त की गयी जिसने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये।**

**इस प्रणाली की विशेषताओं में निम्न प्रमुख हैं :**

(1) **शिक्षा का माध्यम बेसिक क्राफ्ट,**

(2) **नागरिकता के गुणों का विकास,**

(3) **आत्मनिर्भरता की भावना,**

(4) **बालक शिक्षा का केन्द्र,**

(5) **ज्ञान एक सम्बद्ध व पूर्ण इकाई, और**

(6) **शिक्षक व बालक को कार्य करने की स्वतन्त्रता।**

**इस योजना के अनुसार पर्याप्त प्रगति हुई है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त तो इस आन्दोलन ने पर्याप्त जोर पकड़ा है। सभी राज्यों ने बेसिक शिक्षा के प्रचार के लिए अपनी योजनाएँ बनायी हैं, जिन्हें कार्यान्वित किया जा रहा है।**

**प्राथमिक शिक्षा को वस्तुतः बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत ले लिया गया है। इधर भारतीय संविधान के अनुसार सन् 1961 तक सभी बालकों के लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था होने से यह प्रयास किया जा रहा है कि प्राथमिक शिक्षा का अधिक से**

अधिक प्रसार हो। किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति सम्भव नहीं दिखायी देती। प्रशिक्षित व योग्य शिक्षकों के अभाव तथा उपयुक्त सामग्री के न होने से बेसिक शिक्षा की प्रगति असन्तोषजनक है। यद्यपि सभी राज्यों में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज खुलते जा रहे हैं, किन्तु अभी वे अपर्याप्त हैं।

सरकार ने यह निर्णय किया है कि वर्तमान प्राथमिक स्कूलों को शीघ्र ही बेसिक स्कूलों में बदल दिया जाय और अब सामान्य प्रकार के प्राथमिक स्कूल न खोलकर जूनियर बेसिक स्कूल ही खोले जायें। इस दृष्टि से भी प्रगति मन्द है।

जूनियर बेसिक स्कूलों के उपरान्त सीनियर बेसिक स्कूल तथा उत्तर-बेसिक स्कूलों की भी व्यवस्था की जा रही है जिनका स्तर क्रमशः जूनियर हाई स्कूल व हाई स्कूल के समकक्ष होगा। उत्तर बेसिक पाठ्यक्रम के उपरान्त विद्यार्थी का प्रवेश विश्वविद्यालय में हो सकेगा।

बेसिक शिक्षा में अनुसन्धान करने, अच्छे साहित्य का विकास करने, प्रशिक्षण सम्बन्धी अनुसन्धान तथा अन्य प्रकार से सलाह देने के उद्देश्य से दिल्ली में सन् 1956 में एक 'नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑव बेसिक एजूकेशन' की स्थापना कर दी गयी है जो अपने कर्तव्य के पालन में संलग्न है।

बेसिक शिक्षा की त्रुटियों का निवारण करने के लिए योग्य व प्रशिक्षित शिक्षकों व पर्याप्त सज्जा और भवनों की व्यवस्था होनी चाहिए।

बेसिक शिक्षा के विषय में जो यह भ्रम फैल गया है कि यह केवल गाँवों के लिए है, वह दूर होना चाहिए और साथ ही बेसिक शिक्षा की परिभाषा, उसके उद्देश्य व प्रणाली की अधिक स्पष्ट घोषणा होनी चाहिए। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में क्रमशः सम्पूर्ण देश में बेसिक प्रणाली को अपना लेना चाहिए और इस प्रकार उसे अनिवार्य प्राथमिक तथा जूनियर माध्यमिक स्तर तक लागू कर देना चाहिए। कोठारी शिक्षा आयोग ने भी कार्य-अनुभव के आधार पर बेसिक शिक्षा को न केवल प्राथमिक, वरन् अन्य शिक्षा-स्तरों पर भी लागू करने का सुझाव दिया है। इस आयोग की राय में 'बेसिक शिक्षा' 'शब्दावली' हटा दी जानी चाहिए। किन्तु केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् की एक विशेष समिति इस मत से सहमत नहीं।

# 19

# माध्यमिक शिक्षा-प्रगति तथा समस्याएँ

### भूमिका

माध्यमिक शिक्षा प्राथमिक तथा उच्च शिक्षा के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। जबकि प्राथमिक शिक्षा ज्ञान के द्वार की कुंजी प्रदान करती है, विश्वविद्यालय शिक्षा स्वयं ज्ञान का भण्डार प्रदान करती है और ज्ञान की परिधि का विस्तार करती है। इन दोनों स्तरों के मध्य माध्यमिक शिक्षा जीवनयापन तथा नेतृत्व के लिए व्यक्ति को तैयार करती है। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में से ही प्राथमिक शिक्षा के लिए अध्यापक मिलते हैं, समाज को कार्यकर्ता मिलते हैं। साथ ही विश्वविद्यालयों को छात्र भी माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं से उपलब्ध होते हैं। "ऐसी स्थिति में देश की शिक्षा प्रणाली में माध्यमिक शिक्षा अपना विशेष महत्त्व रखती है। यहाँ से प्राथमिक तथा प्रौढ़ शिक्षा के लिए अध्यापक मिलते हैं। यही छात्रों को विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा के अन्य केन्द्रों के लिए तैयार करती है। इसके अतिरिक्त अधिकांश देशों में माध्यमिक शिक्षा ही समाज के बहुसंख्यक नागरिकों की शिक्षा की अन्तिम सीढ़ी है। यहाँ तक कि जो अल्प-संख्यक लोग विश्वविद्यालयों में जाते हैं, वे माध्यमिक शिक्षा के एक सुदृढ़ आधार के बिना विश्वविद्यालय शिक्षा द्वारा प्रदान किये जाने वाले वृहत्तर सुअवसरों से लाभ नहीं उठा सकते। अत: यदि कोई अन्य कारण न भी दिया जाय तो भी उपर्युक्त कारण ही यह माँग करते हैं कि माध्यमिक शिक्षा उच्च कोटि की होनी चाहिए बशर्ते कि इससे गक आधुनिक युग की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है।"[1]

### विकास की वर्तमान प्रवृत्ति

गत वर्षों में प्राथमिक शिक्षा की सुविधाओं में भारी वृद्धि तथा माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने की जनसाधारण की आकांक्षा ने माध्यमिक शिक्षा के आकार को गत वर्षों में बहुत बढ़ा दिया है। इधर ग्रामीण क्षेत्रों में हाई स्कूल खुल जाने के फलस्वरूप

[1] Humayun Kabir : *Education in New India*, p. 39.

माध्यमिक शिक्षा जनता के द्वार तक जा पहुँची है। छात्र-संख्या में वृद्धि की प्रवृति को निम्नलिखित तालिका[2] में दिखाया गया है :

| कक्षा तथा वर्ष | छात्र प्रवेश संख्या (लाखों में) | | | जनसंख्या का प्रतिशत |
|---|---|---|---|---|
| | लड़के | लड़कियाँ | योग | योग |
| कक्षा 8 से 10 तक | | | | |
| 1950-51 | 13·04 | 2 04 | 15·08 | 6·5 |
| 1960-61 | 29·41 | 7 41 | 36 82 | 13·1 |
| 1965-66 | 47·07 | 14·20 | 61·27 | 19·1 |
| 1970-71 | 65·59 | 22·59 | 88·18 | 23·4 |
| 1985-86 | 165·26 | 78·42 | 243·68 | 46·0 |
| कक्षा 11 से 12 तक | | | | |
| 1950-51 | 2·45 | 0·37 | 2·82 | 1·9 |
| 1960-61 | 7·17 | 1·32 | 8·49 | 4·9 |
| 1965-66 | 11·72 | 2·26 | 13 98 | 7·0 |
| 1670-71 | 16·96 | 3·91 | 20·87 | 9·2 |
| 1985-86 | 50·04 | 18·69 | 68·73 | 20·4 |

उपर्युक्त तालिका से प्रतीत होता है कि कक्षा 8 से 10 तक के छात्रों की संख्या सन् 1950-51 में 15·08 लाख से बढ़कर सन् 1965-66 में 61·27 लाख अर्थात् चौगुनी हो गयी है। कक्षा 11 से 12 तक के छात्रों में इस अवधि में लगभग छह गुनी वृद्धि हुई है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आगामी 20 वर्षों में उपर्युक्त दोनों कक्षा-वर्गों में छात्र-संख्या में क्रमशः लगभग 4 गुनी एवं 5 गुनी वृद्धि हो जायगी। कक्षा 8 से 10 की छात्र-संख्या आगामी 20 वर्षों में कुल जनसंख्या की 46% तथा कक्षा 11-12 में 20·4% हो जायगी। सम्पूर्ण राशियों में ये संख्याएँ बहुत विशाल होंगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई है सन् 1952 में मुदालियर शिक्षा आयोग की नियुक्ति, जिसका विस्तृत वर्णन आगे के अध्याय में किया जायगा। इस आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर विस्तारपूर्वक विचार करके महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। 17 वर्ष तक की आयु वाले छात्रों के लिए माध्यमिक शिक्षा को एक स्वयं पूर्ण इकाई बनाने के उद्देश्य से गत वर्षों में जो सुधार किये गये हैं वे संक्षेप में निम्नांकित हैं :

(1) परम्परागत हाई स्कूलों में कई राज्यों में एक और कक्षा जोड़कर 11 वर्ष

2 The table has been adapted from Table No 7·6 on page 167 of *Report of the Education Commission* (1964-66).

की अवधि का उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम लागू किया गया है, जो बहुमुखी है और जिसमें अनिवार्य विषयों के अतिरिक्त छात्र मानव शास्त्र, विज्ञान, टेकनोलॉजी, वाणिज्य, कृषि, ललित कला तथा गृह-विज्ञान नामक सात विषयों में से तीन विषय और ले सकते हैं।

(2) विज्ञान की पढ़ाई की सुविधाओं का विस्तार, पुस्तकालयों तथा मिडिल कक्षाओं में हस्तकलाओं का सूत्रपात तथा शिक्षक-प्रशिक्षण इत्यादि सुविधाओं का अधिकाधिक प्रसार किया जा रहा है।

(3) राज्य तथा केन्द्रीय सरकारों को सलाह देने के उद्देश्य से अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् की स्थापना की गयी है।

(4) माध्यमिक स्तर पर भाषाओं को अनिवार्यत: पढ़ाने की सुविधाएँ प्रदान की जा रही हैं।

(5) परीक्षा-प्रणाली में सुधार तथा चुने हुए स्कूलों में प्रसार सेवा शिक्षा-कार्यक्रम को कार्यान्वित किया जा रहा है। सन् 1950-51 में माध्यमिक शिक्षा पर 30·8 करोड़ रुपये का प्रत्यक्ष व्यय होता था। सन् 1965-66 में यह राशि 119 करोड़ रुपये हो गयी। चतुर्थ आयोजन में माध्यमिक शिक्षा पर सम्पूर्ण शिक्षा का 20·2% अर्थात् 243 करोड़ रुपया व्यय किया जायगा।

मुदालियर शिक्षा आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप देश के प्राय: सभी भागों में माध्यमिक शिक्षा का पुनर्संगठन करने का प्रयास किया गया है। साधारण स्कूलों के स्थान पर बहु-उद्देशीय स्कूलों की स्थापना की जा रही है और सामान्य स्कूलों को बहु-उद्देशीय स्कूलों में परिवर्तित किया जा रहा है। फलस्वरूप पाठ्यक्रम में परिवर्तन करने के भी प्रयास किये गये हैं।

कोठारी शिक्षा आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन तथा सुधार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इस आयोग के मतानुसार माध्यमिक स्कूल एक आदर्शतम आकार के होने चाहिए ताकि व्यय में किफायत हो सके। माध्यमिक स्कूलों में प्रवेश का नियमन प्रशिक्षित मानव-शक्ति की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर करना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा का व्यवसायीकरण करना आवश्यक है ताकि निम्न माध्यमिक स्तर पर कम से कम 20 प्रतिशत और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर 50 प्रतिशत छात्र व्यवसायों में प्रशिक्षण पा सकें। माध्यमिक शिक्षा की सुविधा सभी वर्गों को देने के उद्देश्य से छात्रवृत्तियों की उदारतापूर्वक व्यवस्था होनी चाहिए ताकि निर्धनता किसी भी मेधावी छात्र के मार्ग में बाधक न रहे। लड़कियों, पिछड़े वर्गों तथा आदिम जातियों को माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के विशेष सुअवसर प्रदान किये जाने चाहिए। माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का मानदण्ड ऊँचा होना अत्यन्त आवश्यक है। आयोग का मत है कि सभी जिलों में माध्यमिक शिक्षा-विकास का कार्यक्रम पृथक रूप से तैयार करके सघन प्रयासों द्वारा विकास किया जाना चाहिए। शिक्षकों की दशा सुधारने पर कोठारी आयोग ने विशेष बल दिया है।

### अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद्[3]

माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के दौरान इस क्षेत्र में शिक्षा, प्रशासन तथा संगठन सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं ने जन्म ले लिया। अत: यह आवश्यक हो गया कि उन समस्याओं पर समय-समय पर विचार करने के लिए विशेपज्ञों की एक संस्था का निर्माण किया जाय। अत: 'अखिल भारतीय टेकनीकल शिक्षा परिषद्' के अनुरूप ही माध्यमिक शिक्षा के प्रसार तथा विकास के लिए केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को सलाह देने के लिए सितम्बर 1955 में 'अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद्' की स्थापना कर दी गयी। इसकी स्थापना के लिए फोर्ड फाउण्डेशन की ओर से 22,500 डालर की आर्थिक सहायता दी गयी। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सेमीनार, वर्कशॉप, प्रसार सेवा विभाग इत्यादि जो कार्य पहले शिक्षा मन्त्रालय के अन्तर्गत थे, वे परिषद् के अन्तर्गत हस्तान्तरित कर दिये गये।

**उद्देश्य तथा कार्य**—परिषद् के कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) यह परिषद् माध्यमिक शिक्षा के प्रसार तथा सुधार के सम्बन्ध में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की एक विशेपज्ञ संस्था के रूप में सलाह देगी।

(2) इस सम्बन्ध में जो भी योजनाएँ बनेंगी उनकी जाँच के उपरान्त परिषद् उन्हें कार्यान्वित करने में सरकार की सहायता करेगी।

(3) गत अनुभव के आधार पर माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए यह सरकार के समक्ष प्रस्ताव रखेगी।

(4) माध्यमिक शिक्षा के सभी पक्षों के सम्बन्ध में अनुसन्धान कराना।

(5) योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए 'एड-हॉक समितियों' की रचना करना।

(6) योजनाओं को कार्यान्वित करने वाले स्कूलों को आर्थिक सहायता देना।

(7) परिषद् के इन कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए केन्द्रीय सरकार समय-समय पर धनराशि नियत करेगी।

(8) कर्मचारियों तथा विशेषज्ञों की नियुक्ति करना।

इस परिषद् का अध्यक्ष भारत सरकार का शिक्षा सलाहकार तथा मन्त्री शिक्षा मन्त्रालय का माध्यमिक शिक्षा विभाग का अध्यक्ष होगा। इनके अतिरिक्त राज्य सरकारों के प्रतिनिधि, कुछ प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री आदि इसके सदस्य होंगे।

अपनी स्थापना के उपरान्त ही परिषद् ने कार्य आरम्भ कर दिया था। इसकी प्रथम बैठक श्रीनगर में अक्टूबर 1955 में हुई थी। तब से प्रतिवर्ष इसकी बैठकें होती हैं, जिनमें माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों को हल किया जाता है।

अप्रैल 1959 में भारत सरकार ने इस परिषद् का पुनर्संगठन किया था, जिसके अनुसार अब यह केवल विशेपज्ञों की एक सलाहकार संस्था मात्र रह गयी है।

[3] All India Council for Secondary Education.

इसके जितने भी एक्जीक्यूटिव अधिकार थे उन्हें एक प्रसार-कार्यक्रम संचालन विभाग[4] के अन्तर्गत हस्तान्तरित कर दिया गया है। यह परिवर्तन उस समिति की सिफारिशों के फलस्वरूप किया गया है जिसकी स्थापना परिषद् के कार्यों का पुर्ननिरीक्षण करने के लिए सन् 1958 में की गयी थी। परिषद् में अब 23 सदस्य होंगे। शिक्षा-विभाग का उप-शिक्षा सलाहकार, जो माध्यमिक शिक्षा-विभाग का केन्द्र में अध्यक्ष है, इस परिषद् का सदा अध्यक्ष रहेगा। इसके अतिरिक्त प्रसार-कार्यक्रम संचालन विभाग का संचालक तथा विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन, अखिल भारतीय प्राथमिक शिक्षा परिषद् और राज्य सरकारों के प्रतिनिधि भी इसमें सम्मिलित होंगे।

सन् 1960 में अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ था, जिसमें निर्णय किया गया था कि सभी वर्तमान सामान्य हाई स्कूलों तो तृतीय योजना के अन्त तक हायर सेकेण्डरी स्कूलों में परिवर्तित कर दिया जायगा। इससे अतिरिक्त परिषद् ने विद्यालयों में विज्ञान की उन्नति के लिए विशेष रूप से सुझाव दिये। इनके अनुसार, प्रसार सेवा विभाग के निर्देशन में विज्ञान की एक पृथक शाखा खोल देनी चाहिए तथा विज्ञान की पढ़ाई को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से प्रत्येक राज्य में एक विज्ञान विकास अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए।

परिषद् की यह भी धारणा है कि सभी नये-पुराने माध्यमिक स्कूलों में तृतीय योजना के अन्त तक सामान्य विज्ञान तथा विशेष विज्ञान की पढ़ाई अवश्य ही प्रारम्भ हो जानी चाहिए। परिषद् ने देश भर में माध्यमिक विद्यालयों में 'विज्ञान क्लब' स्थापित करने की सिफारिश पर पुनः जोर दिया था। प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय में विज्ञान क्लब खोले जायँ और इनका एक जिला संघ बनाया जाय। जिला संघों को संगठित करके राज्य संघ तथा राज्य संघों को संगठित करके राष्ट्रीय संघ की स्थापना की जानी चाहिए। इस प्रकार देश में विज्ञान क्लबों का एक जाल-सा बिछ जायगा। ये क्लब विज्ञान को लोकप्रिय, बोधगम्य तथा सर्व-सुलभ बनाने का प्रयत्न करेंगे। परिषद् ने यह भी सुझाव दिया कि प्रति वर्ष 1 दिसम्बर को देश भर में 'राष्ट्रीय विज्ञान दिवस' मनाया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक सप्ताह का कार्यक्रम रखा जाना चाहिए जिसमें विज्ञान-मेलों तथा वैज्ञानिक विषयों पर विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिता का आयोजन करना चाहिए। केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह इस सम्बन्ध में लोगों को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ पारितोषिक प्रदान करे।

परिषद् के अन्य प्रमुख सुझावों में स्त्री-शिक्षा का विकास भी है। यह कार्यक्रम लक्ष्यों से बहुत पिछड़ गया है, अतः तृतीय योजनाकाल में स्त्री-शिक्षा के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक सम्भव उपाय को अपनाया जाना चाहिए। इसके लिए अध्यापिकाओं की संख्या में वृद्धि तथा लड़कियों के लिए नवीन स्कूल एवं छात्रावासों की स्थापना पर विशेष जोर दिया गया है।

Directorate of Extension Programmes.

परिषद् ने एक अन्य सुझाव यह दिया कि प्रत्येक माध्यमिक स्कूल तथा बहु-उद्देशीय स्कूल में व्यावसायिक मार्गदर्शन (vocational guidance) का एक विस्तृत कार्यक्रम चालू कर देना चाहिए और इसके लिए स्कूलों में विशेषज्ञ सलाहकारों की नियुक्ति तृतीय योजनाकाल में कर देनी चाहिए। इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया कि वर्तमान केन्द्रीय शिक्षा तथा श्रम मन्त्रालयों द्वारा संचालित व्यावसायिक मार्गदर्शन के कार्यक्रमों को समन्वित करने के उद्देश्य से प्रत्येक राज्य में समन्वय समितियों (co-ordination committees) की स्थापना हो जानी चाहिए।

अन्त में परीक्षा-प्रणाली में सुधार करने के लिए परिषद् ने सुझाव दिया कि प्रत्येक राज्य सरकार को चाहिए कि वह परीक्षा सम्बन्धी परियोजनाओं का मूल्यांकन करने के लिए मूल्यांकन शाखाओं (evaluation units) की स्थापना करे।

**माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन**

शिक्षा मन्त्रालय से सम्बन्धित संसद सदस्यों की एक समिति ने भारत में माध्यमिक शिक्षा की धीमी प्रगति के कारणों पर विचार करते हुए उसमें आमूल परिवर्तन की सिफारिश की। समिति ने माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी प्रायः सभी प्रमुख समस्याओं पर विचार किया।

समिति का विचार है कि देश में आर्थिक विकास की गति मन्द होने के कारण नये प्रकार के बहुमुखी माध्यमिक स्कूल भी मन्द गति से ही प्रगति कर रहे हैं।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में यदि परीक्षा-प्रणाली, पाठ्यक्रम तथा पाठ्य-पुस्तकों इत्यादि के सम्बन्ध में देश में आवश्यक परिवर्तन नहीं हो पाये हैं, तो उसका एक बड़ा कारण यह भी रहा है कि माध्यमिक शिक्षा राज्य सरकारों के अधीन है और राज्य सरकारें जब तक इन मामलों में क्रियात्मक सहयोग नहीं देतीं, आवश्यक सुधार होना कठिन है।

साथ ही विश्वविद्यालयों एवं राज्य माध्यमिक शिक्षा बोर्डों का भी अनुचित हस्तक्षेप रहता है। विश्वविद्यालयों के दासत्व से तो हमारी माध्यमिक शिक्षा आज तक मुक्त नहीं हो सकी है। सदा से ही माध्यमिक स्कूलों का यह लक्ष्य रहा है कि वे विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए विद्यार्थियों को तैयार करते रहें। मध्यमिक शिक्षा अपने आप में एक स्वयं-पूर्ण इकाई के रूप में विकसित नहीं हो पायी है।

यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि अब माध्यमिक व विश्वविद्यालय शिक्षा का नया ढाँचा प्रस्फुटित हुआ है, जो इस प्रकार है—6 वर्ष से 14 वर्ष के बालकों के लिए बेसिक शिक्षा का आठ वर्षीय पाठ्यक्रम, 14 से 17 वर्ष के बालकों के लिए तीन वर्ष का माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम तथा उसके उपरान्त तीन वर्ष का डिग्री कोर्स।

इस योजना की सफलता से लिए देश भर में शिक्षकों तथा प्रधानाध्यापकों की बहुत-सी गोष्ठियाँ व सम्मेलन राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय आधार पर आयोजित किये जा चुके हैं। बहुत-से ट्रेनिंग कालेजों तथा विश्वविद्यालयों के शिक्षा-विभागों में विशिष्ट प्रसार सेवा-विभाग खोल दिये हैं तथा परीक्षा-प्रणाली के सुधार पर प्रयोग जारी

कर दिये गये हैं। विशिष्ट समितियों ने सामान्य तथा विशिष्ट विषयों के लिए नये पाठ्यक्रम तैयार किये हैं जो इस नयी योजना के अन्तर्गत माध्यमिक स्कूलों में पढ़ाये जायेंगे।

शिक्षकों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में समिति ने अपना विचार प्रकट किया है कि माध्यमिक शिक्षा की एक प्रमुख बाधा है माध्यमिक शिक्षकों का अपनी वर्तमान दशा से असन्तुष्ट होना। इस सम्बन्ध में शिक्षा मन्त्रालय की ओर से यह घोषणा कर दी गयी है कि जिन राज्यों में शिक्षकों की दशा को सुधारने का प्रयास किया जायगा, उसमें होने वाले व्यय का 50 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार देगी।

शिक्षकों के प्रशिक्षण के सम्बन्ध में भी आवश्यक कदम उठाये जा चुके हैं। न केवल नये शिक्षकों को प्रशिक्षित करने की सुविधाएँ प्रदान की जा रही हैं अपितु बहुमुखी स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले नये विषयों में भी शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जा रहा है।

प्रशिक्षण के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि ट्रेनिंग कालेजों में कुछ उपयुक्त अनुसन्धान कार्यक्रमों को प्रारम्भ कर दिया गया है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि जो ट्रेण्ड अध्यापक हैं, उन्हें समय-समय पर पुनः प्रशिक्षण देकर उनके ज्ञान को ताजा तथा नवीन रखा जाय। आधुनिक भारत की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए जो तरुण वर्ग स्कूलों में तैयार किया जा रहा है, उसकी शिक्षा-दीक्षा उन शिक्षकों से पूरी नहीं हो सकती जिन्होंने 30 वर्ष पूर्व ट्रेनिंग पायी थी।[5]

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक समस्या भाषाओं के अध्ययन तथा माध्यमिक पाठ्यक्रम में हिन्दी और अंग्रेजी के स्थान के सम्बन्ध में भी है।

इसी प्रकार परीक्षा-प्रणाली के सुधार के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। इस दृष्टि से वर्तमान निबन्धात्मक परीक्षाओं के स्थान पर ऑब्जेक्टिव टेस्ट, वर्ष भर के कार्य का विवरण-कार्ड तथा वर्ष भर के कार्य के आधार पर वार्षिक परीक्षा में अंक देना इत्यादि विधियों को अपनाया जा रहा है। माध्यमिक शिक्षा परिषद् भी इस दिशा में कुछ पद्धतियों का विकास कर रही है।

विद्यार्थियों को अपने लिए उपयुक्त विषय चुनने तथा उचित पेशा चुनने में सहायता करने के लिए विभिन्न राज्यों में शिक्षा तथा व्यवसाय निर्देशन ब्यूरो खुल गये हैं। आन्ध्र, आसाम, महाराष्ट्र, बिहार, केरल, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश में ऐसे ब्यूरो स्थापित हो चुके हैं। सन् 1954 में केन्द्र में भी ऐसा ब्यूरो स्थापित किया जा चुका है।

5 *Cf.* "In an independent India, teacher growth in service is vital. The stimulus provided by changed political conditions in India requires growing and better equipped teachers in service to serve youth in a free and democratic nation."—H. S. S. Lawrence : *In-Service Teacher Education*, p. 4, Ministry of Education, Government of India, 1956.

इसी प्रकार पाठ्य-पुस्तकों में सुधार करने के उद्देश्य से आन्ध्र, आसाम, बिहार महाराष्ट्र, जम्मू तथा काश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में पूर्णतः या आंशिक रूप से पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। केन्द्र में सन् 1954 में 'सेण्ट्रल ब्यूरो ऑव टेक्स्ट-बुक रिसर्च' स्थापित किया गया था जो पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में आवश्यक अनुसन्धान कर रहा है। यह ब्यूरो विभिन्न विषयों में पाठ्यक्रमों का भी अध्ययन करता है। इस प्रकार देश की बदलती हुई परिस्थितियों में माध्यमिक शिक्षा को ढालने का प्रयास किया जा रहा है।

**माध्यमिक शिक्षा की कुछ समस्याएँ**

(1) **उद्देश्य**—भारत में अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना का उद्देश्य प्रारम्भ से ही शासन संचालन के लिए कुछ शिक्षित अफसर व लेखक तैयार करना रहा था। दुर्भाग्य से थोड़ा बहुत आज भी यह उद्देश्य यथावत् बना हुआ है। वस्तुतः माध्यमिक शिक्षा आज भी भारत में उच्च उद्देश्य विहीन है। इसका एकमात्र उद्देश्य या तो विश्व-विद्यालय में प्रवेश करना अथवा क्लर्क बना देना हो गया है। यही कारण है कि आज हम भारत में कालेजों को प्रायः ऐसे विद्यार्थियों से भरा हुआ पाते हैं जो अधिकांश में यह भी नहीं जानते कि वे क्यों शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं अथवा किस उद्यम के लिए अपने को तैयार कर रहे हैं। वे केवल इसलिए स्कूल पहुँच जाते हैं क्योंकि उन्हें घरों से पढ़ने के लिए भेजा जाता है। स्कूलों में या तो अपनी सुविधानुसार अथवा साथियों की राय से वे कुछ ऐसे सरल विषयों को चुन लेते हैं, जिनमें थोड़ा-बहुत पढ़ने से ही वे कम से कम परीक्षा में तो सफल हो ही सकें। इस सफलता का क्या उद्देश्य होगा और उनके भावी जीवन में उसका क्या स्थान होगा, इसकी ओर सम्भवतः वे कभी नहीं देख पाते।

वास्तव में माध्यमिक शिक्षा विश्वविद्यालय की पूरक न होकर एक स्वतः पूर्ण स्वतन्त्र इकाई होनी चाहिए, जैसा कि हम पीछे भी संकेत कर चुके हैं। इसके अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी यह आत्मविश्वास अनुभव कर सके कि वह एक मंजिल पर पहुँच गया है और तुलनात्मक दृष्टि से कुछ स्वतन्त्र कार्य करने को भी समर्थ है। उसे जीवन के लिए अपने आपको तैयार समझना चाहिए, न कि विश्वविद्यालय के लिए। इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य अर्थिक और सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार का होना चाहिए।

किसी व्यक्ति के जीवन-निर्माण में उसकी किशोरावस्था का क्या महत्त्व है इसे शिक्षा-विशारद भलीभाँति जानते हैं। 11 वर्ष से 18 वर्ष तक का समय विद्यार्थी के जीवन-निर्माण का युग है और यही समय उसके माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने का है। अतः हमारी माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य बालक के शरीर, मस्तिष्क तथा चरित्र का पूर्ण विकास ही है जिससे उसके अन्दर नेतृत्व की भावना का विकास हो सके और वह देश का भावी नेता बनकर आत्मविश्वास के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके। "एक प्रकार से हाई स्कूल राष्ट्र की शिक्षा-पद्धति की रीढ़ है। अतः नेताओं तथा

जीवन के विभिन्न अंगों के लिए विशेषज्ञों को तैयार करने की शिक्षा के लिए देश को इन्हीं हाई स्कूलों की ओर देखना चाहिए।[6]

आज भारत स्वतन्त्र है और यहाँ धर्म-निरपेक्ष जनतन्त्र की स्थापना हो चुकी है। नये भारत के समक्ष आज विभिन्न प्रकार की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ हैं। अतः हमें माध्यमिक शिक्षा का एक सामान्य व सैद्धान्तिक उद्देश्य ही न लेकर एक ऐसा उद्देश्य लेना होगा जो देश की परिवर्तित परिस्थितियों से मेल खा सके। "इसका अभिप्राय यह हुआ कि शिक्षा-पद्धति को आदतों, प्रवृत्तियों तथा चरित्र के गुणों के विकास के लिए अपनी देन देनी होगी, जिससे यहाँ के नागरिक योग्यतापूर्वक एक जनतन्त्रीय नागरिकता के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की क्षमता प्राप्त कर सकें तथा ऐसी विघटन-मूलक प्रवृत्तियों का विरोध कर सकें जो एक व्यापक राष्ट्रीय व धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण के मार्ग का अवरोध करती हों।[7]

ऐसी स्थिति में भारत में माध्यमिक शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य हैं—छात्रों के चरित्र का निर्माण जिससे वे एक उत्तरदायी स्वतन्त्र नागरिक के रूप में जनतन्त्रीय सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने के लिए क्रियात्मक रूप से सहयोग प्रदान कर सकें। दूसरे, उनकी व्यावहारिक तथा व्यावसायिक क्षमता में वृद्धि करना जिससे वे देश का आर्थिक निर्माण करके उसे समृद्धशाली बना सकें। तीसरे, उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास अर्थात् उनकी साहित्यिक, कलात्मक तथा सांस्कृतिक अभिरुचियों का विकास जो आत्माभिव्यंजना तथा व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। अन्त में इसका उद्देश्य है नेतृत्व के गुणों का विकास। इस प्रकार प्रक माध्यमिक स्कूल को इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होना है और विद्यार्थी के जीवन को हर प्रकार से एक पूर्ण विकसित इकाई के रूप में तैयार करना है जो देश के जीवन को सम्पन्न बनाने की क्षमता प्राप्त कर सकें।

दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे वर्तमान माध्यमिक शिक्षालय इन उद्देश्यों की पूर्ति बहुत कम कर रहे हैं। अतः आवश्यक यह है कि हम न केवल विद्यार्थियों को ही, वरन् उनके शिक्षकों तथा अभिभावकों को भी इसके उद्देश्य के विषय में पर्याप्ततः अवगत करा दें।

(2) **पाठ्यक्रम**—हमारे देश में माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को देखने से विदित होता है कि सम्भवतः एक शताब्दी से इस समस्या पर कोई मौलिक चिन्तन और तदनुसार कार्य नहीं किया गया है। देश में समय-समय पर महान् राजनीतिक, आर्थिक और औद्योगिक परिवर्तन हो रहे हैं, किन्तु हमारी माध्यमिक शिक्षा समय की गति के साथ बढ़ने में असमर्थ प्रतीत होती है। पाठ्यक्रम का वास्तविक व व्यावहारिक जीवन तथा बालक के वातावरण से कोई सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत होता। वह एक पूर्व-निर्धारित पाठ्यक्रम को बिना जिज्ञासा, बिना कौतूहल और बिना समझे अथवा

[6] *Sargcant Plan*, p. 26.

[7] *Report of the Secondary Education Commission*, p. 24.

सराहना किये हुए यन्त्रवत् पढ़ता है, क्योंकि उसका लक्ष्य परीक्षा में सफल होकर एफ० ए० या बी० ए० में प्रवेश करना अथवा शीघ्र ही इस योग्य बन जाना है कि वह किसी कार्यालय में क्लर्क बन सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाठ्यक्रम की अनुपयुक्तता के कारण हमारे देश में मानव शक्ति का वृहत् क्षय हो रहा है। बिना उपयुक्त व विभिन्न विषयों की शिक्षा के हम फैक्टरी-निर्मित पदार्थों की भाँति एक ही प्रकार के युवक उत्पन्न करते जा रहे हैं, जिनमें मौलिकता अथवा आविष्कार-बुद्धि का अभाव है। माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त बालक जब व्यावहारिक संसार में आता है तो अपने आपको एक ऐसा अजनबी पाता है जो अपने वातावरण के अनुकूल नहीं बैठता।[8]

समय-समय पर विभिन्न शिक्षा कमीशनों ने भारत में इस दोष की ओर संकेत किया है, किन्तु आज भी वह अधिकांश में यथावत् बना हुआ है। यद्यपि माध्यमिक शिक्षा में कुछ प्रमुख व्यवसायों और उद्योगों का समावेश प्रारम्भ हो चुका है, तथापि देश की विशाल माँग को देखते हुए यह एक अल्प-प्रयास है। आवश्यकता इस बात की है कि माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम बहुत विभिन्न व विशाल हो और विशेषज्ञों द्वारा बालक की रुचियों का पता लगाने के उपरान्त उसे उसमें से मनोनुकूल व उपयोगी विषय लेने के लिए प्रोत्साहित व दीक्षित किया जाय।

लगभग 80 प्रतिशत भारतीय जनता गाँवों में निवास करती है, अतः हमारा पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो प्रमुख ग्रामीण उद्योगों, जैसे कृषि, डेरी, पशुपालन तथा अन्य घरेलू उद्योगों से सम्बन्ध रखे। इसके साथ ही आधुनिक उद्योगों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था होनी चाहिए। उदार साहित्यिक शिक्षा की भी हम अवहेलना नहीं कर सकते। वास्तव में जो पाठ्यक्रम उत्तर बेसिक शिक्षा के लिए निश्चित किया गया है, वह वर्तमान अवस्था में एक उपयुक्त पाठ्यक्रम है।

(3) **अनुशासन**—अनुशासन की समस्या आज केवल माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु अखिल विद्यार्थी वर्ग की एक देशव्यापी समस्या बन गयी है। यद्यपि शिक्षा-संगठन से इस समस्या का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय शिक्षा-पद्धति, शिक्षा-संगठन, शिक्षण-विधि तथा परीक्षा-विधि हमारे विद्यार्थियों के अनुशासन सम्बन्धी प्रश्न पर एक गहरा प्रभाव डाल रहे हैं।

विद्यार्थियों में इस बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के क्या कारण हैं? एक तो विद्यार्थियों पर सम्पूर्ण समाज की छाया पड़ रही है। हमारे देश में आज नैतिक स्तर गिर जाने से जीवन के उच्च मूल्यों का अभाव है। हमारे अधिकांश विद्यार्थी,

[8] *Cf.* "The education given in our schools is isolated from life—the curriculum as formulated and as presented through the traditional methods of teaching does not give the students insight into the everyday world on which they are living. When they pass out of school they feel ill-adjusted and cannot take their place confidently and competently in the community."—*Report of the Secondary Education Commission*, p. 22.

शिक्षक तथा अभिभावक सभी कुछ न कुछ सीमा तक उच्च उद्देश्यों को भूलकर उच्छृङ्खल तथा उत्तरदायित्व-विहीन हो बैठे हैं।

दूसरे, गत कई दशकों में होने वाली देश की राजनीतिक क्रान्ति ने भी विद्यार्थियों को कुछ सीमा तक अनुशासन-विहीन बनाया है। स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते समय प्राय: देश के राजनीतिक नेता विद्यार्थियों से हड़ताल करने तथा राजनीतिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने के लिए उनका आह्वान करते थे। अब देश के स्वतन्त्र होने पर भी वही संस्कार और प्रवृत्तियाँ विद्यार्थियों में कार्यशील हैं।

तीसरा कारण है वर्तमान दूषित परीक्षा-प्रणाली। आज देश के विद्यार्थी परीक्षा में सफल होने के लिए अनुचित साधन अपनाने में भी नहीं हिचकते। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध में हत्या जैसे जघन्य अपराधों पर भी उतर आते हैं। परीक्षा-भवन में किताबें ले जाना, नकल करना, बातें करना तथा कुछ पतित शिक्षकों से बेधड़क होकर सहायता लेना, इत्यादि बातें तो आज एक साधारण घटना बनती जा रही हैं।

चौथा कारण है शिक्षकों की दयनीय आर्थिक दशा और परिणामत: उनमें उत्तरदायित्व तथा नैतिकता का ह्रास।[9] खेद का विषय है कि हमें यह बात अत्यन्त कटु होने की अपेक्षाकृत भी स्वीकार करनी पड़ती है कि आर्थिक विषमताओं के भयंकर थपेड़ों से व्यथित आज का शिक्षक कुछ सीमा तक कर्तव्य-पथ से च्युत हो चुका है। स्कूलों में होने वाली घटनाओं तथा विद्यार्थियों में बढ़ने वाले असंयम के प्रति वह उदासीन-सा प्रतीत होता है। यहाँ तक कि विद्यार्थियों में सद्भावनाओं का संचार करने अथवा उनके समक्ष संयम का आदर्श रखने में भी वह असमर्थ रहता है, अन्यथा कोई कारण नहीं कि शिक्षकों के सच्चे प्रयत्न करने पर विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता बनी रहे।

"............समाज का भाग्य उनके शिक्षकों की श्रेष्ठता पर ही निर्भर है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि अयोग्य व असन्तुष्ट शिक्षक समाज के धरातल को ही नष्ट कर देते हैं। उनकी अयोग्यता व असन्तोष बच्चों में हस्तान्तरित होकर उनमें भी विद्रोह, विध्वंस तथा पतन के बीज वो देते हैं।"[10] प्रो० हुमायूँ कबीर के

9 "The average efficiency of the teachers has deteriorated, their economic difficulties and lack of social prestige have tended to create in them a sense of frustration. Unless something is done quickly to increase their efficiency and give them a feeling of contentment and a sense of their own worth, they will not be able to pull their full weight."—*Report of the Secondary Education Commission*, p. 23.

10 Humayun Kabir : *Education in New India, op. cit.*, p. 185.

अनुसार शिक्षकों की गिरती हुई आर्थिक दशा तथा उनकी अयोग्यता और नेतृत्व का अभाव ही भारत में विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता का प्रमुख कारण है।

इनके अतिरिक्त अभिभावकों की अपने बालकों के चरित्र तथा व्यवहार के सम्बन्ध में अवहेलना, सिनेमा, राजनीतिज्ञ, शिक्षक व कुछ ऐसी संस्थाओं का प्रादुर्भाव जो बालकों की कोमल भावनाओं का अपने स्वार्थ के लिए शोषण करती हैं, अतिरिक्त पाठ्य-कार्यक्रमों (extra-curricular activities) तथा सामाजिक जीवन का अभाव एवं जातीय पक्षपात इत्यादि अन्य कारण हैं जो विद्यार्थी-वर्ग में अनुशासनहीनता के लिए उत्तरदायी हैं।

समय-समय पर देश के विद्वानों तथा शिक्षा-विशेषज्ञों ने इस पर प्रकाश डाला है और चेतावनी दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि समय रहते हमने इस समस्या को हल नहीं किया तो हमारी सम्पूर्ण शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा।

माध्यमिक शिक्षा वह धरातल है जिस पर हम जीवन के भावी भवन का निर्माण करते हैं। अनुशासन तथा चरित्र सम्बन्धी अन्य गुणों का विकास बालक की किशोरावस्था में ही हो जाता है। अतः हमें उसके अन्दर उच्च गुणों का विकास करके विनय तथा अनुशासन की भावना का संचार करना चाहिए।

(4) **व्यक्तिगत प्रबन्ध तथा प्रशासन**—माध्यमिक शिक्षालयों का प्रबन्ध सरकार तथा कहीं-कहीं स्थानीय संस्थाओं, जैसे जिला बोर्ड और नगरपालिकाओं, तथा व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों द्वारा होता है।

प्रारम्भ से ही सरकार की यह नीति रही है कि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से वह धीरे-धीरे हटती रही है और प्रबन्ध व्यक्तिगत समितियों के हाथों में पहुँचता रहा है।

अधिकांश में माध्यमिक शिक्षालयों का प्रबन्ध बोर्ड अथवा व्यक्तिगत प्रबन्धों द्वारा होता है। प्रत्येक जिले में एक राजकीय माध्यमिक शिक्षालय भी रखने की नीति को अपनाया गया है।

जहाँ तक व्यक्तिगत प्रबन्ध का प्रश्न है, स्थिति बड़ी असन्तोषजनक है। प्रायः इन स्कूलों की आर्थिक दशा बड़ी दयनीय होती है। न उनके पास भवन है, न पर्याप्त सज्जा, न फर्नीचर तथा पुस्तकालय इत्यादि ही। ऐसे स्कूलों में शिक्षकों की स्थिति भी हर्षप्रद नहीं है। शिक्षकों को कम वेतन देना अथवा थोड़े वेतन पर अदीक्षित शिक्षक रख लेना अथवा किसी भी शिक्षक को व्यक्तिगत ईर्ष्या या अप्रसन्नता से चाहे जब निकाल देना, इत्यादि कुछ ऐसे दोष हैं जिनसे हमारे माध्यमिक शिक्षालयों की प्रगति में बाधा पहुँच रही है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों अथवा जातियों के नाम पर स्थापित हुए शिक्षालय तो राष्ट्र के लिए लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक कर रहे हैं। ऐसी थोड़ी-सी संस्थाएँ हो सकती हैं जहाँ जातिवाद का ताण्डव नृत्य न हो रहा हो। कुछ वैयक्तिक संस्थाएँ देश में ऐसी भी हैं, जिन्होंने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा सराहनीय कार्य किया है, किन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उनके कार्य अधिकांश में असन्तोषजनक रहे हैं।

इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों के सदस्यों के अधिकांश लोग ऐसे होते हैं जिन्हें शिक्षा अथवा शिक्षा-समस्याओं से कोई रुचि नहीं है। गाँवों में तो स्थिति और भी अधिक भयानक है, जहाँ स्थानीय राजनीति की दलदल में फँसे हुए कुछ अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित ग्रामीण स्कूलों को व्यक्तिगत प्रभाव व प्रतिष्ठा का प्रतीक समझकर भिन्न-भिन्न प्रकार से उनका शोषण करके शिक्षा-हित को आघात पहुँचा रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि शिक्षकों की नौकरी की सुरक्षा न होने अथवा उन्हें अन्य प्रकार का असन्तोष होने के कारण शिक्षा का मानदण्ड गिरता जा रहा है तो आश्चर्य ही क्या है ? स्कूलों में शिक्षक-राजनीतिज्ञों का भी भय बढ़ता जा रहा है, जिन्हें प्रबन्ध समितियों से कभी-कभी पोषण मिलता है।

शिक्षा के प्रशासन के विषय में यहाँ एक बात और कहना आवश्यक होगा। प्राय: देखा गया है कि राजकीय शिक्षा-विभाग के कर्मचारियों, प्रधानतः निरीक्षण विभाग की अक्षमता से भी प्रबन्ध में बड़ी शिथिलता आ गयी है। वस्तुतः निरीक्षण विभाग की उपेक्षा के कारण व्यक्तिगत संस्थाओं का प्रबन्ध बहुत कुल नष्ट होता जा रहा है। कहीं-कहीं पर तो यहाँ तक देखा जाता है कि इन्सपेक्टर लोग स्कूलों के प्रबन्धकों से मिलकर अनियमित कार्य कराते हैं।

अत: उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में सरकार को अपने उत्तरदायित्व को अधिक समझना चाहिए। यदि इस समय माध्यमिक शिक्षा का राष्ट्रीयकरण व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता तो कम से कम प्रबन्ध को सुधारा तो अवश्य जा सकता है। उत्तर प्रदेश में प्रबन्ध समितियों के सुधार के लिए सरकार ने एक समिति स्थापिनि की थी जो 'रघुकुलतिलक समिति' के नाम से विख्यात है। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि प्रवन्ध समितियों के सुधार के लिए आवश्यक है कि उनमें शिक्षकों का एक प्रतिनिधि तथा तीन सदस्य शिक्षा-विभाग द्वारा मनोनीत किये जायँ। किन्तु व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों के विरोध के फलस्वरूप यह रिपोर्ट आज तक केवल एक पवित्र आशा मात्र बनी हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि माध्यमिक शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ा खतरा लेकर ही इस सुधार को टाला जा सकता है। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रबन्ध तथा शासन की समस्या एक बुनियादी समस्या है।

(5) **शिक्षा का मानदण्ड**—आज यह बात प्रायः साधारण तौर से सुनाई पड़ती है कि जहाँ शिक्षा के अन्य क्षेत्रों में मानदण्ड गिर गया है, वहाँ माध्यमिक शिक्षा में भी पतन हुआ है। निस्सन्देह सरकार की नीति प्रसार की रही है, किन्तु इस प्रसार से शिक्षा का मानदण्ड भी प्रभावित हुआ है। मानदण्ड के गिरने के अन्य कारणों में शिक्षकों का अल्प वेतन, अधिकांश का अदीक्षित (untrained) होना, शिक्षकों में अपने पेशे के प्रति असन्तोष, कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या सीमा से अधिक बढ़ जाना, स्कूलों में आवश्यक सामग्री व सज्जा का अभाव, प्रबन्ध समितियों की अकुशलता तथा कहीं-कहीं पर अनुचित हस्तक्षेप, शिक्षा निरीक्षकों की अक्षमता तथा कर्तव्य-

अवहेलना, स्कूलों की गिरी हुई आर्थिक अवस्था, विद्यार्थियों के लिए सिनेमा इत्यादि अन्य आकर्षणों का प्राचुर्य, कलुषित तथा अवैज्ञानिक परीक्षा-प्रणाली, शिक्षकों में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ उत्तरदायित्व का अभाव तथा कर्तव्य की अवहेलना, पाठ्य-पुस्तकों की अनुपयुक्तता और शिक्षा-समस्याओं के प्रति विद्यार्थियों के अभिभावकों तथा जनता की उदासीनता व अनभिज्ञता इत्यादि प्रमुख हैं।

देश की वर्तमान पिछड़ी हुई अवस्था में सुधार करने के लिए शिक्षा के विस्तार की आवश्यकता अवश्य है, किन्तु विस्तार के साथ ही साथ हमें उसके मानदण्ड का भी ध्यान रखना पड़ेगा। पूर्व इसके कि यह समस्या संकट-बिन्दु पर पहुँचे, इसका हल आवश्यक है। तभी हम ऐसे युवक उत्पन्न कर सकेंगे जो सर्वांश में देश के समर्थ भावी नागरिक हो सकें और विश्व के अन्य राष्ट्रों के युवकों के समक्ष अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकें।

(6) **परीक्षा-प्रणाली**—माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में परीक्षा-प्रणाली दीर्घकाल से एक जटिल समस्या बनी हुई है। "भारत की साम्प्रदायिकतावादी सामाजिक तथा राजनीतिक प्रणाली से भी बुरी उसकी परीक्षा-प्रधान शिक्षा-पद्धति है। वास्तव में, मैट्रिक परीक्षा हमारी सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा पर शासन कर रही है। एक स्कूल की प्रतिष्ठा हाई स्कूल के परीक्षाफल पर अधिक निर्भर है अपेक्षाकृत उस संस्था की वास्तविक शिक्षा श्रेष्ठता के।"[11] वास्तव में, इस परीक्षा-वेदी पर ही आज बालक के सम्पूर्ण गुणों और शिक्षक के सम्पूर्ण प्रयत्नों का बलिदान किया जा रहा है। शिक्षा के अन्य लाभों की ओर से आँखें मूंदकर बालक अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ परीक्षा सफल होने में लगा देता है। इससे रटने की अमनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और बालक बिना समझे हुए यन्त्रवत् रटते चले जाते हैं। जो कुछ भी अपने मस्तिष्क में वे ठूँसते हैं, परीक्षा-भवन में उसे उँडेलने के बाद रिक्त-मस्तिष्क संसार में निकलते हैं। इस प्रकार वे व्यावहारिक संसार के लिए अनुपयुक्त हो जाते हैं। अतः बालकों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता।[12]

वर्तमान परीक्षा-प्रणाली का प्रभाव शिक्षकों तथा विद्यार्थियों की नैतिकता पर भी पड़ा है। ऐसी घटनाएँ आज साधारण रूप से सुनी जाती हैं कि परीक्षा-भवन में विद्यार्थी अनुचित साधन अपनाते हैं। वर्ष भर तक न पढ़ने वाला विद्यार्थी परीक्षा-भवन में नकल के सहारे उत्तीर्ण हो जाता है। इस प्रकार शिक्षकों में भी कुछ ऐसे तत्त्व पनप रहे हैं जिनके कारण वे परीक्षा में अनुचित पक्षपात करते अथवा उत्कोच तक लेते देखे जाते हैं। वास्तव में, यह स्थिति लज्जाजनक होने के साथ ही साथ घोर आपत्तिजनक

11 Mukerjee, S. N. : *Education in India, Today and Tomorrow*, p. 115.

12 "The dead weight of examination has tended to curb the teacher's initiative to stereotype the curriculum, to promote mechanical and lifeless methods of teaching to discourage all spirit of experimentation and to place the stress on wrong or unimportant things in education."—*Report of the Secondary Education Commission*, p. 23.

व गम्भीर भी है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि इस परीक्षा-पद्धति के स्थान पर कोई वैज्ञानिक पद्धति रखी जाय जिससे वर्तमान दोषों के आवरण के हटने से शिक्षा का मुख उज्ज्वल हो सके। इस दिशा में हिमाचल प्रदेश के परीक्षण का उल्लेख किया जा सकता है जिसके अनुसार विद्यार्थी की आयु तथा कक्षा-कार्य के आधार पर प्राथमिक स्कूलों में बच्चों को तरक्की दी जाया करेगी।

संक्षेप में, ये हमारी माध्यमिक शिक्षा के दोष हैं। अतः यह आवश्यक है कि देश को उन्नत करने तथा उसे सभ्य देशों की दौड़ में आगे रखने के लिए माध्यमिक शिक्षा का महत्त्व समझा जाय क्योंकि वास्तव में आज भारतीय माध्यमिक शिक्षा हमारा 'सबसे दुर्लभ संस्थान' (weakest spot) है। बिना इसके सुधार के विश्वविद्यालय शिक्षा में किये गये सभी सुधार व्यर्थ हैं; वस्तुतः राष्ट्र की प्रगति ही असम्भव है। किसी भी देश की शिक्षा-प्रणाली में माध्यमिक शिक्षा अपना विशेष महत्त्व रखती है। वस्तुतः प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय शिक्षा तक की शृंखला की यह बीच की कड़ी है। इसके दोषों के प्रभाव से अन्य दोनों शिक्षाएँ भी कलुषित हो जाती हैं, क्योंकि हाई स्कूल पास विद्यार्थी प्राथमिक स्कूलों में जाकर शिक्षक बनते हैं। यदि एक दोषपूर्ण शिक्षा को प्राप्त करके ये विद्यार्थी भविष्य में जाकर शिक्षक बनेंगे तो निस्सन्देह उन्हीं दोषों को अपने विद्यार्थियों में हस्तान्तरित कर देंगे। इसके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त ही विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में जाकर प्रवेश लेते हैं। अतः उनके माध्यमिक-शिक्षा काल के दोष उनके साथ विश्वविद्यालयों में भी चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में माध्यमिक शिक्षा के दोषों का उन्मूलन करना अत्यन्त आवश्यक है।

## सारांश

**माध्यमिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने उसकी जाँच तथा पुनर्संगठन के लिए डॉ० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में एक कमीशन की स्थापना की। कमीशन ने अगस्त 1953 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।**

**इधर पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत न केवल देश में माध्यमिक शिक्षा का विकास ही किया जा रहा है, अपितु इसे देश व काल की आवश्यकतानुसार नये रूप में ढाला जा रहा है। प्राथमिक शिक्षा का आधार विस्तीर्ण होने से अब माध्यमिक शिक्षा का आधार भी पर्याप्ततः बढ़ रहा है।**

**वर्तमान हाई स्कूलों को बहुधन्धी हाई स्कूलों में बदल देने की सरकार की योजना है। देश में ऐसे लगभग 2200 हाई स्कूल स्थापित किये जा चुके हैं। इन स्कूलों में टेकनीकल शिक्षा पर बल दिया जा रहा है।**

**माध्यमिक शिक्षा पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों को सलाह देने के लिए 1955 में विशेषज्ञों की एक अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् की स्थापना की जा चुकी है। यह परिषद् माध्यमिक शिक्षा की सभी समस्याओं पर विचार करके सरकार को सलाह देती है। इधर देश के विभिन्न क्षेत्रों में माध्यमिक शिक्षा पर विचार करने**

के हेतु शिक्षकों, प्रधान अध्यापकों तथा शिक्षाशास्त्रियों के सेमीनार व वर्कशॉप इत्यादि हो रहे हैं। सन् 1959 में इस परिषद् का पुनर्संगठन किया गया।

समस्याएँ—विभिन्न सुधारों का सूत्रपात होने की अपेक्षाकृत भी माध्यमिक शिक्षा के मूल दोष यथावत् विद्यमान हैं। माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाना है। यह एक स्वयं-पूर्ण स्वतन्त्र इकाई नहीं है।

दूसरी समस्या है पाठ्यक्रम की अनुपयुक्तता। इसमें अधिक से अधिक टेकनीकल व व्यावसायिक विषयों का समावेश होना चाहिए।

तीसरी समस्या है विद्यार्थियों में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अनुशासनहीनता। उसके लिए विद्यार्थियों की समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक सुलझाना चाहिए, उनके कल्याण व पाठ्येतर कार्यक्रमों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

चौथी समस्या है प्रबन्ध समितियों के सुधार की। इसके लिए शिक्षा-विभाग को मैनेजर पद पर कड़े प्रतिबन्ध लगाने चाहिए और शिक्षकों की सुरक्षा में रुचि दिखानी चाहिए।

पाँचवीं समस्या है शिक्षा का मानदण्ड उठाने की एवं छठवीं समस्या है परीक्षा-प्रणाली के सुधार की। इन समस्याओं के अविलम्ब हल की आवश्यकता है।

# 20

## माध्यमिक शिक्षा आयोग

(सन् 1953-54)

### नियुक्ति

जनवरी 1948 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने एक प्रस्ताव द्वारा देश में माध्यमिक शिक्षा की वर्तमान प्रणाली की जाँच करने तथा इसके पुनर्गठन एवं सुधार के सुझाव देने के लिए एक आयोग नियुक्त करने की सिफारिश की थी। सन् 1918 में पुनः बोर्ड ने अपनी इस सिफारिश को दुहराया। इस बात का भी अनुभव किया गया कि गत वर्षों में प्राथमिक, विश्वविद्यालय एवं टेकनीकल शिक्षा के लिए विभिन्न समितियों तथा आयोगों द्वारा अध्ययन व सर्वेक्षण किया जा चुका है। अतः आवश्यक था कि माध्यमिक शिक्षा के महत्त्व को देखते हुए इसकी समस्याओं के अध्ययन के लिए भी इसी प्रकार के आयोग की नियुक्ति की जाय।

भारत सरकार ने अनुभव किया कि माध्यमिक शिक्षा का स्तर वह स्तर है जिस पर आकर देश के बहुसंख्यक विद्यार्थियों की शिक्षा पूर्ण हो जाती है और इसके उपरान्त ही वे जीवन में प्रवेश कर जाते हैं। साथ ही माध्यमिक शिक्षा प्राप्त युवकों में से ही देश को प्राथमिक शिक्षक व विश्वविद्यालयों के लिए विद्यार्थी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी अनुभव किया गया कि वर्तमान माध्यमिक शिक्षा का स्वरूप एकांगी है और इसके अन्तर्गत प्रदान किया जाने वाला ज्ञान अधिकांश में पुस्तकीय है। "प्राथमिक स्तर पर बच्चों के लिए तो एकांगी पाठ्यक्रम उपयुक्त हो सकता है किन्तु माध्यमिक स्तर पर किशोरों की आवश्यकताओं की पूर्ति यह नहीं कर सकता जबकि उनकी रुचियों तथा प्रवृत्तियों के स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होने लगते हैं।"[1] ऐसी अवस्था में यह अनुभव किया गया कि माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम का पुनर्संगठन किया जाय तथा केन्द्र व राज्य सरकारों के द्वारा प्राथमिक स्तर पर बेसिक शिक्षा-पद्धति को स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप माध्यमिक शिक्षा के अन्तर्गत भी एक बहुमुखी (diversified) पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया जाय।

इन बातों को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार ने मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में सितम्बर 1952 में

[1] Government of India Resolution No. F. 9-51/52-B. I., 23-9-1952.

माध्यमिक शिक्षा आयोग की नियुक्ति की । इस आयोग को निम्नलिखित कार्य सौंपा गया :

(अ) भारत में वर्तमान माध्यमिक शिक्षा के सभी पक्षों की जाँच करके रिपोर्ट करना;

(आ) इसके पुनर्संगठन तथा सुधार के लिए सुझाव देना, विशेषकर —

(1) माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, संगठन तथा पाठ्यक्रम,

(2) प्राथमिक, बेसिक तथा उच्च शिक्षा से इसका सम्बन्ध,

(3) विभिन्न प्रकार के माध्यमिक स्कूलों के पारस्परिक सम्बन्ध, तथा

(4) अन्य सम्बन्धित समस्याओं के विषय में ।

**सिफारिशें**

आयोग ने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की ऐतिहासिक विवेचना करते हुए उसके उद्देश्यों का उल्लेख किया है । उसने माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली के दोषों का विश्लेषण करते हुए बताया कि (1) माध्यमिक शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध नहीं है; (2) यह संकीर्ण व एकांगी है और विद्यार्थी के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं करती; (3) अब तक माध्यमिक शिक्षा पर अंग्रेजी भाषा का आधिपत्य रहा तथा पाठ्यक्रम में उन विषयों का समावेश नहीं किया गया जो मनोवैज्ञानिक व सामाजिक दृष्टिकोण से अधिक अनुकूल व महत्त्वपूर्ण थे; (4) शिक्षण की प्रणाली विद्यार्थी में स्वतन्त्रता व आत्मनिर्भरता की भावनाएँ जागृत करने में असफल रही । यन्त्रवत् रटने की प्रवृत्ति से बालकों की कल्पना-शक्ति कुण्ठित हो गयी; (5) कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ जाने से शिक्षक व शिष्य का निकट सम्पर्क समाप्त हो गया है जिससे बालकों के चरित्र-निर्माण में बाधा पहुँची है और साथ ही अनुशासन की समस्या गम्भीर हो गयी है; (6) शिक्षकों की दशा निरन्तर शोचनीय होती जा रही है; और (7) अन्त में परीक्षा-प्रणाली के भार से बालकों का सम्पूर्ण व्यक्तित्व व प्रतिभा कुचल गयी है ।

**माध्यमिक शिक्षा का नवीन ढांचा**

इस सम्बन्ध में आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के लिए एक नवीन ढाँचे की सिफारिश की है । इसके अनुसार माध्यमिक शिक्षा का आरम्भ पाँच वर्ष के प्राथमिक जूनियर बेसिक पाठ्यक्रम के उपरान्त होगा । यह दो भागों में विभक्त होगा—(1) तीन वर्ष का मिडिल या सीनियर बेसिक या जूनियर माध्यमिक पाठ्यक्रम, तथा (2) चार वर्ष का उच्चतर माध्यमिक स्तर ।

वर्तमान इण्टरमीडिएट स्तर के स्थान पर उच्चतर माध्यमिक स्तर का निर्माण करने की आयोग ने सिफारिश की है । यह स्तर चार वर्ष का होगा जिसमें एक वर्ष वर्तमान इण्टर कक्षाओं से लेकर सम्मिलित कर दिया जायगा । इसका परिणाम यह होगा कि इण्टर-स्तर टूट जायगा । इसके दूसरे वर्ष को डिग्री पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ले लिया जायगा और इस प्रकार डिग्री पाठ्यक्रम भी तीन वर्ष का हो जायगा । जो विद्यार्थी हाई स्कूल पास करेंगे उनके लिए एक वर्ष का पूर्व-विश्वविद्यालय कोर्स रख दिया जाय । साथ ही व्यावसायिक कालेजों की स्थापना के लिए भी आयोग ने सिफारिश की जिनमें

उन्हीं विद्यार्थियों का प्रवेश किया जाना चाहिए जिन्होंने या तो उच्चतर माध्यमिक कोर्स अथवा एक वर्ष का पूर्व-विश्वविद्यालय कोर्स पास किया है। व्यावसायिक कालेजों में एक वर्ष का पाठ्यक्रम पूर्व-व्यावसायिक स्तर का होना चाहिए।

आयोग का सुझाव है कि माध्यमिक स्तर पर बहुमुखी पाठ्यक्रम की व्यवस्था आवश्यक है। इसके लिए जहाँ भी सम्भव हो सके, बहु-उद्देशीय स्कूलों की शीघ्र ही स्थापना की जानी चाहिए। इससे विभिन्न रुचि, उद्देश्यों तथा विभिन्न प्रवृत्तियों वाले विद्यार्थियों को मनोनुकूल विषय पढ़ने को मिल सकेंगे। जो विद्यार्थी इन पाठ्यक्रमों में उत्तीर्ण हो जायँ उन्हें पॉलीटेकनिक अथवा तकनीकी विद्यालयों में उच्च अथवा विशिष्ट शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। साथ ही यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि, उद्यानशास्त्र तथा पशुपालन और कुटीर उद्योगों की शिक्षा के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

तकनीकी शिक्षा के सम्बन्ध में सिफारिश करते हुए आयोग ने कहा है कि एक बड़ी संख्या में तकनीकी स्कूलों की स्थापना या तो स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में अथवा बहु-उद्देशीय स्कूलों के एक विभाग के रूप में होनी चाहिए, जहाँ निकटवर्ती क्षेत्रों से विद्यार्थी आकर शिक्षा प्राप्त कर सकें।

ये संस्थाएँ यथासम्भव औद्योगिक क्षेत्रों के पार्श्व में उद्योगों के सहयोग से स्थापित की जानी चाहिए। यहाँ तक कि यह भी समीचीन होगा कि इस प्रकार का कानून पास कर दिया जाय जिसके अनुसार उद्योगों के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाय कि वे इन तकनीकी संस्थाओं की सहायता करें और प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान करें। इसमें वाणिज्य व उद्योगों के प्रतिनिधियों का सहयोग भी लिया जाना चाहिए। आयोग ने यह कहा है कि उद्योगों पर एक उपकर लगा देना चाहिए, जिसे 'औद्योगिक शिक्षा उपकर' कहा जा सकता है। इसका उपयोग तकनीकी शिक्षा के विकास के लिए किया जाना चाहिए। साथ ही यह भी आवश्यक है कि माध्यमिक स्तर पर तकनीकी शिक्षा के लिए एक उपयुक्त पाठ्यक्रम का विकास करना चाहिए जिसमें अखिल भारतीय टेकनीकल शिक्षा परिषद् तथा उसके अन्तर्गत काम करने वाली संस्थाएँ अपना सहयोग प्रदान कर सकती हैं।

उपर्युक्त सुझावों के अतिरिक्त आयोग ने अन्य प्रकार के स्कूलों के संगठन के सम्बन्ध में भी उपयोगी सुझाव दिये हैं, जैसे पब्लिक स्कूलों में पाश्चात्य प्रकार की शिक्षा के स्थान पर राष्ट्रीय सामान्य शिक्षा प्रदान करना, मेधावी विद्यार्थियों को केन्द्र तथा राज्य सरकारों की ओर से छात्रवृत्तियाँ, एक बड़ी संख्या में ऐसे स्कूलों की स्थापना जहाँ विद्यार्थियों के रहन-सहन की भी व्यवस्था हो तथा कुछ ऐसे स्कूल जहाँ शिक्षक व शिष्य साथ-साथ रहें, विकलांग बालकों की शिक्षा के लिए विशेष स्कूलों की स्थापना, बालिकाओं की शिक्षा के लिए बहुत-से पृथक् स्कूलों की स्थापना, तथा वर्तमान स्कूलों में सह-शिक्षा की व्यवस्था और उनमें गृह-विज्ञान के अध्ययन की विशेष व प्रचुर सुविधाएँ, इत्यादि।

**भाषाओं का अध्ययन**

आयोग ने इस विवादास्पद समस्या पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक विचार किया है और सभी पक्षों पर विचार करने के उपरान्त सुझाव दिया है कि माध्यमिक स्तर पर मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा ही शिक्षण का माध्यम रहेगी। केवल भाषा की दृष्टि से अल्पसंख्यक बालकों के लिए जिनकी मातृभाषा राज्य या क्षेत्रीय भाषा से भिन्न है, आयोग ने केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की सिफारिशों को ही मान लिया है, जिनके अनुसार स्कूल में ऐसे बालकों की शिक्षा के लिए विशेष पृथक् सुविधाएँ उनकी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने की कर दी जायँ बशर्ते कि ऐसे बालकों की संख्या स्कूल में कम से कम 40 हो। अधिक संख्या होने पर एक पूरा स्कूल ही ऐसे बालकों के लिए खोला जा सकता है।

मिडिल स्तर पर कम से कम दो भाषाएँ प्रत्येक बालक को पढ़नी चाहिए। जूनियर बेसिक स्कूल स्तर के उपरान्त अंग्रेजी व हिन्दी दोनों का अध्ययन प्रारम्भ करा देना चाहिए, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि दोनों भाषाएँ एक ही वर्ष में प्रारम्भ करायी जायँ।

माध्यमिक अथवा उच्चतर माध्यमिक स्तर पर भी कम से कम दो भाषाएं पढ़ाई जानी चाहिए, जिनमें से एक अवश्य ही मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा होनी चाहिए। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शिक्षा के माध्यम तथा भाषा सम्बन्धी जटिल समस्या को आयोग ने बड़े सरल व सादे किन्तु व्यावहारिक ढंग में सुलझाने के सुझाव दिये हैं।

**पाठ्यक्रम**

माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम की समस्या एक बहुत पुरानी व महत्त्वपूर्ण समस्या है। आयोग ने माध्यमिक पाठ्यक्रम को अत्यन्त ही प्रभावकारी और उपयोगी बनाने का प्रयास किया है।

आयोग के अनुसार मिडिल स्कूल स्तर पर पाठ्यक्रम में भाषाएँ, सामाजिक अध्ययन, सामान्य विज्ञान, गणित, कला व संगीत-शिल्प तथा शारीरिक शिक्षा को सम्मिलित किया है। माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर के लिए बहुमुखी पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने का सुझाव दिया है। किन्तु इस पाठ्यक्रम की अपेक्षाकृत कुछ विषय तो हर प्रकार के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये जाने चाहिए, चाहे बहुमुखी पाठ्यक्रम का स्वरूप कैसा ही हो, जैसे भाषाएँ, सामान्य विज्ञान, सामाजिक अध्ययन तथा शिल्प।

बहुमुखी पाठ्यक्रम में निम्नलिखित सात समूहों को सम्मिलित किया गया है—(1) मानवशास्त्र (Humanities), (2) विज्ञान, (3) तकनीकी विषय, (4) व्यापारिक विषय, (5) कृषि सम्बन्धी विषय, (6) ललित कलाएँ, तथा (7) गृह विज्ञान। आवश्यकता पड़ने पर अन्य विषय भी बहुमुखी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये जा सकते हैं। यह पाठ्यक्रम माध्यमिक अथवा उच्चतर माध्यमिक स्तर के द्वितीय वर्ष में आरम्भ करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त आयोग ने इस बात का भी अनुभव किया कि भारतीय स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली पाठ्य-पुस्तकें अनुपयुक्त व निम्न कोटि की हैं। पाठ्य-पुस्तकों की श्रेष्ठता में सुधार करने के उद्देश्य से एक शक्तिशाली कमेटी की स्थापना प्रत्येक राज्य में होनी चाहिए जो समय-समय पर सुझाव दे सके। पाठ्य-पुस्तकों में बार-बार परिवर्तन करने के यह आयोग विरुद्ध है, साथ ही उसका कहना है कि एक विषय पर कई पुस्तकें चुन लेनी चाहिए जो निर्धारित मानदण्ड के अनुकूल हों।

**शिक्षा-प्रणाली**

शिक्षा-प्रणाली के दोषपूर्ण होने तथा इन दोषों व त्रुटियों के परम्परागत बने रहने के कारण माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा अपव्यय व अवरोध होता है। अतः आयोग ने सुझाव दिया है कि माध्यमिक स्कूलों में शिक्षण का उद्देश्य पुस्तकीय ज्ञान को बालकों के मस्तिष्क में ठूंस देना नहीं है, अपितु उनमें उचित मान्यताओं तथा वांछनीय प्रवृत्तियों व आदतों का समावेश करके उनके व्यक्तित्व व चरित्र का विकास करना है। शिक्षण-विधि वही अधिक उपयुक्त मानी जायगी जो बालकों में काम के प्रति सच्ची जिज्ञासा तथा उसे लगन व ईमानदारी के साथ करने की इच्छा उत्पन्न कर सके। रटने के स्थान पर किसी सोद्देश्य, ठोस व वास्तविक स्थिति द्वारा ज्ञान प्राप्त करने को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसके लिए क्रियाविधि (activity method) तथा प्रोजेक्ट विधि को प्रयोग में लाया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षण-विधि वही ठीक मानी जायगी जो बालक को क्रियात्मक रहकर ज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर प्रदान करती है, न कि कक्षा में एक अन्यमनस्क व निष्क्रिय श्रोता के रूप में। बालकों को पर्याप्त अवसर इस बात का मिलना चाहिए कि वे लेखन तथा वार्ता द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त कर सकें और उनकी स्मरण शक्ति के साथ ही उनकी विचार शक्ति (thinking faculty) का भी विकास हो।

विद्यार्थियों को अध्ययन काल में इस बात का पर्याप्त अवसर मिलना चाहिए कि वे ग्रुप या समूह के साथ रहकर कार्य करना सीखें और इस प्रकार सामुदायिक जीवन व सहयोग का पदार्थ-पाठ पढ़ें।

आयोग का निश्चित मत है कि प्रत्येक स्कूल में प्रशिक्षित पुस्तकाध्यक्षों के अन्तर्गत सुसज्जित पुस्तकालय होने चाहिए। ये पुस्तकालय प्रत्येक कक्षा अथवा प्रत्येक विषय के लिए पृथक्-पृथक् हों तो और भी अच्छा है। इन पुस्तकालयों से विद्यार्थी तथा शिक्षक समान रूप से लाभ उठा सकते हैं।

अन्त में आयोग ने सुझाव दिया है कि प्रगतिशील शिक्षण-विधि को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से 'प्रयोगात्मक' तथा 'प्रदर्शन स्कूल' (demonstration schools) भी स्थापित किये जाने चाहिए जो शिक्षा-विभाग के बन्धनों से मुक्त होने के कारण स्वतन्त्रतापूर्वक शिक्षण-विधियों का परीक्षण करके देश के समक्ष उपयोगी विधियाँ प्रस्तुत कर सकें।

इस प्रकार आयोग का मत है कि माध्यमिक शिक्षालयों में शिक्षण-विधि एक

परम्परागत मृतक व प्रेरणाहीन पद्धति न होकर एक गतिशील (dynamic), क्रियात्मक व जागरूक पद्धति होगी जिसके अनुसार बालक को अपनी नैसर्गिक शक्तियों को विकसित करने का पूर्ण अवसर मिलेगा।

**चरित्र-निर्माण की शिक्षा तथा विद्यार्थी-कल्याण**

आयोग ने माध्यमिक विद्यार्थियों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता की भावना को बहुत ही गम्भीर बताया है। उसके अनुसार चरित्र तथा व्यक्तित्व का निर्माण माध्यमिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। यदि स्कूलों में अनुशासनहीनता बढ़ती गयी तो कोई भी अन्य सुधार चाहे कितना ही उपयोगी क्यों न हो, अपना प्रभाव खो बैठेगा।

अतः आयोग ने सुझाव दिया है कि चरित्र-निर्माण शिक्षकों का एक प्रमुख कर्तव्य घोषित कर देना चाहिए। बालकों में अनुशासन उत्पन्न करने के लिए शिक्षकों से उनका अधिक निकट सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। कभी-कभी स्कूलों में बालकों की बाल-सरकार, विद्यार्थी परिषदें तथा अन्य इसी प्रकार की संस्थाएँ स्थापित करनी चाहिए जिनका संचालन व प्रबन्ध स्वयं विद्यार्थी ही करें। खेल-कूद तथा सामुदायिक क्रियाओं के अवसर अधिक मात्रा में उपलब्ध करने चाहिए। आयोग की धारणा है कि राजनीतिक दलों ने विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता बढ़ाने में बहुत योग दिया है। अतः कानून के द्वारा 17 वर्ष से कम आयु वाले विद्यार्थियों का किसी भी राजनीतिक दल द्वारा चुनाव इत्यादि कार्यों के लिए प्रयोग करना अपराध घोषित कर देना चाहिए।

धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग का सुझाव है कि यह विद्यालयों में काम के घण्टों के बाद स्वेच्छा के आधार पर प्रदान की जा सकती है। यह शिक्षा किसी विशेप धर्मानुयायियों को ही उनके माँ-बाप की आज्ञा लेकर देनी चाहिए।

पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कार्यक्रमों को सभी स्कूलों में प्रोत्साहन देना चाहिए। इन कार्यक्रमों में शिक्षकों को चाहिए कि अपना एक निश्चित समय अवश्य लगायें। इनके अतिरिक्त स्काउट आन्दोलन, नेशनल केडेट कोर (N.C.C.) तथा प्राथमिक चिकित्सा इत्यादि कार्यक्रमों को विद्यार्थियों में लोकप्रिय बनाने के लिए सरकार को आर्थिक सहायता द्वारा क्रियात्मक प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए।

आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि विद्यार्थियों का उचित दिशा में मार्ग-दर्शन करने तथा उन्हें सलाह देने के उद्देश्य से शिक्षा अधिकारियों को अधिकाधिक सुविधा प्रदान करनी चाहिए। सभी स्कूलों को मार्ग-दर्शन और विशेषज्ञों की सेवाएं उपलब्ध होनी चाहिए। केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह ऐसे विशेषज्ञों को प्रशिक्षण देने के लिए देश भर में प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करे।

साथ ही आयोग ने विद्यार्थियों के शारीरिक विकास के लिए भी सिफारिशें की हैं। इसके लिए प्रत्येक राज्य में स्कूलों के लिए चिकित्सा-सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए। सभी बालकों की शरीर-परीक्षा होनी चाहिए और उन्हें कोई रोग होने पर उसकी ठीक चिकित्सा-व्यवस्था होनी चाहिए। छात्रावासों में छात्रों को पौष्टिक व सन्तुलित भोजन की उचित व्यवस्था करनी चाहिए। सफाई के लिए स्वयं छात्रों का

प्रयोग किया जा सकता है और इस प्रकार उनके अन्दर श्रम के प्रति गौरव-भावना को बढ़ाया जा सकता है।

विद्यार्थियों के शारीरिक विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि वे शारीरिक क्रियाओं और खेल-कूद में अधिकाधिक भाग लें। इसके लिए प्रत्येक स्कूल में प्रशिक्षित शिक्षक रखने चाहिए। साथ ही 40 वर्ष से कम आयु वाले सभी शिक्षकों को छात्रों के साथ खेल-कूद में भाग लेना चाहिए।

**नवीन परीक्षा-विधि**

आयोग ने वर्तमान परीक्षा-विधि को अत्यन्त दोषपूर्ण तथा हानिकारक बताया है। इसमें सुधार करने के लिए उन्होंने सिफारिश की है कि बाहरी परीक्षाओं की संख्या घटा देनी चाहिए। परीक्षकों की द्वेष भावना से बचने के उद्देश्य से अधिक से अधिक मात्रा में निबन्धात्मक परीक्षाओं के स्थान पर वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं (objective tests) का समावेश कर देना चाहिए। इसके लिए प्रश्नों के रूप को बदलना आवश्यक है। बालक की सर्वांगीण प्रगति जानने तथा उसके भविष्य का निर्धारण करने के उद्देश्य से स्कूल में उसकी प्रगति का ठीक-ठीक लेखा रखना चाहिए। इस लेखे में बालक द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में की गयी प्रगति तथा कार्यों का विवरण होना चाहिए। फाइनल परीक्षाओं में स्कूल में वर्ष भर में की गयी परीक्षाओं तथा स्कूल रिकार्ड के ऊपर भी विचार करना चाहिए। मूल्यांकन करने के लिए अंकों के स्थान पर गुप्त संकेतों का प्रयोग होना चाहिए। माध्यमिक स्कूल का पाठ्यक्रम समाप्त होने पर ही केवल यह सार्वजनिक परीक्षा होनी चाहिए। विद्यार्थियों के प्रमाण-पत्रों में उन विषयों के अतिरिक्त जिनमें उन्होंने परीक्षा दी है, उन विषयों तथा स्कूल के कार्यों का भी उल्लेख होना चाहिए जिनमें उनकी जाँच स्कूल ने वर्ष भर में की है। अन्त में, आयोग का मत है कि सार्वजनिक परीक्षाओं के लिए पूरक परीक्षाएँ (compartmental examinations) भी प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

**शिक्षकों की दशा में सुधार**

आयोग ने इस प्रश्न को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बताया है। शिक्षकों की वर्तमान शैक्षिक योग्यता, प्रशिक्षण कार्य व सेवा की अवस्थाएँ, गिरी हुई आर्थिक व सामाजिक स्थिति आदि समस्त कारकों पर आयोग ने विस्तारपूर्वक विचार करके अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की हैं।

शिक्षकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में माध्यमिक शिक्षा आयोग का विचार है कि सभी प्रकार के शिक्षालयों में शिक्षकों के चुनाव तथा नियुक्ति के लिए एक नियमित प्रणाली को अपनाना चाहिए। सभी वैयक्तिक संस्थाओं तथा स्थानीय बोर्डों द्वारा संचालित शिक्षालयों में एक चुनाव समिति होनी चाहिए जिसमें प्रधानाध्यापक भी एक सदस्य हो। प्रत्येक शिक्षक का प्रोबेशन काल केवल एक वर्ष हो। हाई स्कूलों में पढ़ाने वाले शिक्षकों को कम में कम ट्रेण्ड ग्रेजुएट होना चाहिए। जो शिक्षक टेकनीकल विषय पढ़ाते हों वे उस विषय में ग्रेजुएट व दीक्षित होने चाहिए। उच्चतर माध्यमिक

स्कूलों के शिक्षकों की योग्यता इससे अधिक अर्थात् वर्तमान इण्टर कालेजों के समान होनी चाहिए।

चाहे कैसा भी स्कूल हो, सभी समान योग्यता वाले तथा समान प्रकार का कार्य करने वाले शिक्षकों का वेतन-क्रम पूर्णतः समान होना चाहिए। साथ ही उनको अधिक सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से पेंशन, प्रॉविडेण्ट फण्ड तथा बीमा योजना के अन्तर्गत ले आना चाहिए। इस लाभ को प्रदान करने से उनकी मानसिक चिन्ता दूर होकर उनकी शिक्षा व कार्यक्षमता पर स्वस्थ प्रभाव पड़ेगा।

यदि शिक्षकों तथा प्रबन्धकों के बीच कोई झगड़ा उत्पन्न हो जाता है अथवा किसी शिक्षक को मुअत्तिल अथवा पदच्युत कर दिया जाता है तो इसका निबटारा करने के लिए पंच बोर्ड (arbitration board) या समिति का निर्माण प्रत्येक राज्य में कर देना चाहिए। जहाँ तक शिक्षकों के रिटायर होने का प्रश्न है, यदि कोई शिक्षक स्वस्थ है तो शिक्षा निदेशक की अनुमति लेकर उसके रिटायर होने की अवधि को 60 वर्ष तक कर दिया जाना चाहिए।

इनके अतिरिक्त शिक्षकों के बालकों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था, सहकारी गृह-निर्माण समितियों द्वारा उनके लिए आवास की सुविधा, यात्रा इत्यादि में कुछ छूट का प्रबन्ध, चिकित्सा की सुविधा तथा आकर्षक वेतन-क्रमों का सूत्रपात इत्यादि अन्य आवश्यक सिफारिशें हैं जो आयोग ने शिक्षकों की दशा में सुधार करने के उद्देश्य से की हैं।

शिक्षकों की योग्यता में वृद्धि करने के उद्देश्य से आयोग ने शिक्षकों के प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया है। इसके लिए उनकी राय है कि शिक्षकों के लिए केवल दो प्रकार की ट्रेनिंग संस्थाएँ होनी चाहिए। एक तो हाई स्कूल या उच्चतर माध्यमिक स्कूल पास शिक्षकों के लिए दो वर्ष का प्रशिक्षण; तथा दूसरा, ग्रेजुएटों के लिए एक वर्ष का प्रशिक्षण जिसकी अवधि आवश्यक होने पर भविष्य में बढ़ायी जा सकती है। पहले प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाएँ किसी पृथक् बोर्ड के अन्तर्गत होनी चाहिए और द्वितीय प्रकार की संस्थाएँ विश्वविद्यालयों में अथवा उनसे सम्बन्धित होनी चाहिए।

प्रशिक्षकों को पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कार्यक्रमों (extra-curricular activities) में भी प्रशिक्षण मिलना चाहिए। जो शिक्षक पुराना प्रशिक्षण पाये हुए हैं अथवा अभी तक अप्रशिक्षित हैं, उन्हें प्रशिक्षण देने की व्यवस्था भी ट्रेनिंग कालेजों में होनी चाहिए। आयोग ने सिफारिश की है कि प्रशिक्षकों से कोई शुल्क नहीं लेना चाहिए और प्रशिक्षण काल में उन्हें राज्य की ओर से छात्रवृत्ति मिलनी चाहिए। प्रशिक्षित अध्यापकों के अभाव को दूर करने के उद्देश्य से उनको प्रशिक्षण की विशेष सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए। अन्त में, शिक्षा अनुसन्धान, गोष्ठियों का आयोजन, प्रशिक्षकों का आदान-प्रदान इत्यादि अन्य आवश्यक सिफारिशें भी आयोग ने इस सम्बन्ध में की हैं।

**प्रशासन की समस्याएँ**

मुदालियर आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं

पर भी विशद् रूप से विचार किया है। आयोग का मत है कि प्रत्येक राज्य में शिक्षा मन्त्री को सलाह देने के लिए एक शिक्षा निदेशक होना चाहिए जिसका पद एक संयुक्त सचिव के समकक्ष होना चाहिए। इसकी पहुँच सीधी शिक्षा मन्त्री तक होनी चाहिए। केन्द्र तथा राज्यों में शिक्षा मन्त्रियों के अन्तर्गत एक-एक समिति की स्थापना होनी चाहिए जिसका कर्तव्य माध्यमिक शिक्षा के लिए साधन जुटाना होना चाहिए। साथ ही यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में विभागीय अध्यक्षों की एक सम्बन्धक समिति (co-ordinating committee) होनी चाहिए जिसमें शिक्षा के सभी अंगों के विकास तथा सभी क्षेत्रों की उन्नति के लिए विचार-विमर्श होना चाहिए। आयोग ने अपनी स्पष्ट राय दी है कि वर्तमान माध्यमिक शिक्षा बोर्डों का सुधार आवश्यक है। प्रत्येक राज्य में ये बोर्ड बहुत-से दोषों के लिए उत्तरदायी हैं। इस सम्बन्ध में आयोग का मत है कि प्रत्येक राज्य में पच्चीस सदस्यों का एक माध्यमिक शिक्षा बोर्ड होना चाहिए जिसका अध्यक्ष राज्य का शिक्षा निदेशक होगा। यही बोर्ड सभी समस्याओं पर विचार करके सामान्य विकास के लिए नीति निर्धारित करेगा। परीक्षाओं का संचालन करने के लिए, शिक्षकों के प्रशिक्षण सम्बन्धी मसलों पर विचार करने के लिए तथा पाठ्य-पुस्तकों के लिए इस बोर्ड के अन्तर्गत उप-समितियों की स्थापना कर देनी चाहिए। साथ ही केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड को चाहिए कि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में अखिल भारतीय महत्त्व के प्रश्नों का समाधान करे तथा सभी राज्यों के कार्यों का समन्वय करे। इसी प्रकार एक राज्य सलाहकार समिति की स्थापना भी इन्हीं आधारों पर कर देनी चाहिए जो सभी शैक्षणिक मामलों में राज्य सरकार तथा शिक्षा-विभाग को सलाह दे। स्कूलों के निरीक्षण को अधिक प्रभावकारी व लाभदायक बनाने के लिए भी आयोग ने कहा है कि योग्य व प्रशिक्षित लोगों को निरीक्षक के पद पर नियुक्त करना चाहिए। निरीक्षकों का कर्तव्य होगा कि वे शिक्षकों का मार्गदर्शन करें।

प्रबन्ध समितियों की रचना तथा सुधार के सम्बन्ध में माध्यमिक शिक्षा आयोग का मत है कि उन्हीं स्कूलों को मान्यता प्रदान की जाय जो दिये हुए नियमों का पालन करें और दिये हुए मानदण्ड को बनाये रखने में सफल हो सकें। सभी प्रबन्ध समितियाँ पंजीकृत हों और प्रधानाध्यापक उनका एक सदस्य हो। इन समितियों के किसी भी सदस्य को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से स्कूल के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। सभी प्रबन्ध समितियों को चाहिए कि वह शिक्षकों की सेवाओं, नियुक्ति, वेतन तथा छुट्टी इत्यादि के सम्बन्ध में निश्चित नियम बना दें और उनका पालन करें। शिक्षा-विभाग को चाहिए कि वह इन समितियों को स्वच्छन्दता से रोकता रहे और उन्हें उचित नियमों के अन्तर्गत रखे। स्कूल की आर्थिक स्थिति, फीस, स्कूल-भवन, शिक्षकों की सेवा-दशाओं, फर्नीचर तथा अन्य सज्जा, पुस्तकालय व प्रयोगशालाओं इत्यादि के सम्बन्ध में सरकार द्वारा निर्धारित सभी शर्तों का पालन करना प्रबन्ध समितियों के लिए अनिवार्य कर दिया जाय और

इन शर्तों की पूर्ति न होने पर स्कूलों की मान्यता समाप्त कर दी जाय। ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के लिए उपयुक्त तथा आवश्यक स्कूल-भवनों के निर्माण पर भी आयोग ने बल दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षकों के लिए क्वार्टर भी बना देने चाहिए।

**वित्त प्रबन्ध**

अन्त में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने स्कूलों के लिए वित्त के प्रश्न पर विचार किया है। आयोग का मत है कि माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन व सुधार सम्बन्धी मामलों में केन्द्र तथा राज्यों के बीच पूर्ण सहयोग होना चाहिए और इसके लिए केन्द्र को व्यय का कुछ भार अवश्य वहन करना चाहिए।

कमीशन का सुझाव है कि देश के उद्योग पर शिक्षा उपकर लगाकर उसे माध्यमिक शिक्षा पर व्यय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) में हैं, जैसे रेल, यातायात, डाक तथा तार इत्यादि, उनके राजस्व का एक निश्चित प्रतिशत तकनीकी शिक्षा के विकास के लिए उपलब्ध होना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिए दिये हुए दान पर कोई कर नहीं लगाना चाहिए। शिक्षा संस्थाओं तथा उनकी भूमि को सम्पत्ति-कर से मुक्त रखना चाहिए। सरकार को चाहिए कि जहाँ कहीं भी सम्भव हो सके, स्कूलों को खेल के मैदान, भवन-निर्माण तथा कृषि के लिए बिना मूल्य के भूमि दे। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षालयों की वित्तीय अवस्था में मनोवांछित सुधार हो सकते हैं।

**आलोचना**

माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिशों को देखने से प्रतीत होता है कि रिपोर्ट के अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा की प्रायः सभी मौलिक समस्याओं पर विचार करके उन्हें हल करने का प्रयास किया गया है। अब तक नियुक्त होने वाले सभी कमीशनों से भी अधिक वास्तविक व व्यावहारिक सुझाव हमें इसमें देखने को मिलते हैं। माध्यमिक शिक्षा के अन्तर्गत चले आने वाले प्रमुख दोषों, जैसे—पुस्तकीय व साहित्यिक ज्ञान का प्राधान्य, व्यावसायिक व औद्योगिक शिक्षा का अभाव, परीक्षा-प्रणाली के दोष, प्रबन्ध समितियों तथा संगठन सम्बन्धी दोष एवं शिक्षकों की उपेक्षा, उनकी प्रशिक्षण सम्बन्धी कठिनाइयों इत्यादि को आयोग ने भली-भाँति सुलझाने का प्रयास किया है।[2]

बहु-उद्देशीय माध्यमिक स्कूलों की स्थापना एक अत्यन्त ही मौलिक सुझाव है, जिससे पर्याप्त सुधार की सम्भावना है। आयोग के मतानुसार हमारे माध्यमिक स्कूलों

2 "Many piecemeal reforms and improvements have been introduced from time to time.. but they were not coherently and consciously related to the right aims and objectives and, therefore, their total impact on the system was unimpressive. What is necessary now—and this is what we are anxious to ensure—is to take bold and far-sighted measures to give a new orientation to secondary education as a whole in which all these individual reforms may find their proper and integrated place."
—*Report of the Secondary Education Commission*, p. 23.

को 'एकमार्गीय' (single track) स्कूल नहीं होना चाहिए, वरन् उन्हें विभिन्न प्रकार की प्रतिभा, विभिन्न रुचियों तथा विभिन्न आकांक्षाओं वाले विद्यार्थियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए बहु-उद्देशीय स्कूल होना चाहिए।[3] कृषि तथा उद्योगों का विकास भारत की एक प्रमुख समस्या है। ऐसी स्थिति में माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में इनके शिक्षण पर बल देकर कमीशन ने सराहनीय कार्य किया है।

परीक्षा-पद्धति में सुधार करने के विषय में आयोग का मत है कि "यदि परीक्षाओं का कुछ वास्तविक लाभ है तो उन्हें नवीन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए विद्यार्थियों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की परीक्षा लेनी होगी।" वर्तमान परीक्षा विधि से तो परीक्षार्थियों की मानसिक परीक्षा भी नहीं ली जा सकती। यह परीक्षा-पद्धति परीक्षक की इच्छा पर इतना अधिक उत्तरदायित्व छोड़ देती है कि वह पूर्णांश में विश्वस्त नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में वर्ष भर में किये गये विद्यार्थी के कक्षा-कार्य पर बल देना अत्यन्त ही उचित व आवश्यक सिफारिश है। कमीशन के मतानुसार बाह्य परीक्षाएँ अधिक नहीं होनी चाहिए। निबन्धात्मक प्रकार की परीक्षाओं की बुराई को अधिक से अधिक मिटा देना चाहिए। इसके लिए वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं (objective tests) की सिफारिश की गयी है। परीक्षाओं में प्रश्न ऐसे होने चाहिए जो विद्यार्थियों में रटने की प्रवृत्ति को महत्त्व न दें। इसी प्रकार की सिफारिशें आन्तरिक परीक्षाओं को सुधारने के लिए भी की गयी हैं।

शिक्षकों की दशा में सुधार करने की दृष्टि से आयोग ने स्वीकार किया है कि "शिक्षा के प्रस्तावित पुनर्संगठन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है शिक्षक—उसके व्यक्तिगत गुण, उसकी शैक्षिक योग्यताएँ, उसका व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा वह स्थान जो स्कूल या समाज में उसे मिला हुआ है।" ऐसी स्थिति में कमीशन का मत है कि "यदि शिक्षकों के वर्तमान क्षोभ तथा निराशा की भावना को हटाना है तथा शिक्षा को एक वास्तविक राष्ट्र-निर्माणक कार्य बनाना है तो यह नितान्त आवश्यक है कि उनकी दशा में सुधार किया जाय और नौकरी की दशा सुधारी जाय।"[4]

इन दशाओं में सुधार करने के लिए आयोग ने व्यावहारिक सुझाव दिये हैं। स्कूलों के पुनर्संगठन तथा प्रबन्ध समितियों के सुधार के लिए भी इसके सुझाव बड़े

[3] "The whole modern approach to this question is based on the insight that the intellectual and cultural development of different individuals takes place best through a variety of media, that the book or the study of traditional academic subjects is the only door to the education of the personality and that in the case of many—perhaps a majority—of the children, practical work intelligently organised can unlock their latent energies much more successfully than the traditional subjects which address themselves only to the mind or, worse still, the memory." —*Ibid*, p. 39.

[4] *Report of the Secondary Education Commission*, p. 163.

लाभदायक हैं। यदि उपर्युक्त सुझावों के आधार पर भारत में माध्यमिक शिक्षा का पुनर्निर्माण किया जाता है, तो निस्सन्देह उसके बहुत-से दोषों के दूर हो जाने की सम्भावना है।

इन गुणों के अतिरिक्त आयोग की सिफारिशों में कुछ दोष भी रह गये हैं जिन पर संक्षेप में दृष्टि डाल लेना समीचीन होगा। वास्तव में, इस आयोग ने पूर्व-स्थित माध्यमिक शिक्षा को ही सुधार करके उस देश की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने की चेष्टा की है। किन्तु इस क्षेत्र में तो क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता थी। परीक्षा-प्रणाली में सुधार, पाठ्यक्रम के बहु-उद्देशीय बनाने, शिक्षकों की दशा में सुधार करने तथा व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों के सुधार के सम्बन्ध में कमीशन के सुझाव परम्परागत ही हैं। उनके द्वारा इन क्षेत्रों के मौलिक दोषों का उन्मूलन नहीं हो सकेगा। शिक्षा के नियन्त्रण के विषय में दी हुई आयोग की सिफारिशें बड़ी निर्जीव व परम्परागत हैं। वास्तव में, माध्यमिक शिक्षा अविलम्ब ही राज्य के नियन्त्रण में आनी चाहिए। यह बात निर्विवाद है कि प्रबन्ध समितियों के अन्तर्गत फैली हुई अनियमितताओं के कारण आज माध्यमिक शिक्षा को बड़ी क्षति पहुँच रही है। इनको दूर करने का एक-मात्र उपाय है माध्यमिक शिक्षा का राष्ट्रीयकरण।

इनके अतिरिक्त आयोग ने स्त्री-शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया है। शिक्षकों के प्रशिक्षण सम्बन्धी सुझाव भी अधिक मौलिक नहीं हैं। अन्त में, केन्द्रीय सरकार द्वारा सरकारों को माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए दिये जाने वाले वित्तीय अनुदानों के विषय में आयोग के सुझाव बड़े अपर्याप्त हैं। इन सभी दोषों की अपेक्षाकृत भी हम कह सकते हैं कि माध्यमिक शिक्षा आयोग भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महत्त्व-पूर्ण घटना है।

## सारांश

**नियुक्ति—केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने जनवरी 1948 के अपने चौदहवें अधिवेशन में देश में माध्यमिक शिक्षा की प्रचलित पद्धति की जाँच करके उसके सुधार तथा पुनर्संगठन के लिए एक आयोग स्थापित करने की सिफारिश की थी। सन् 1951 में इस बोर्ड ने पुनः अपनी माँग को दुहराया। माध्यमिक शिक्षा के महत्त्व को सरकार ने भी स्वीकार किया। प्राथमिक, विश्वविद्यालय तथा औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्रों में गत वर्षों में पर्याप्त पर्यवेक्षण हो चुका था, किन्तु इस प्रकार का कोई प्रयत्न अखिल भारतीय स्तर पर माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में नहीं हुआ था। अतः भारत सरकार ने 23 सितम्बर, 1952 को माध्यमिक शिक्षा आयोग की नियुक्ति मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में की।**

**इस आयोग से माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित विषयों पर अपनी रिपोर्ट व सिफारिशें देने को कहा गया जिससे सम्पूर्ण देश के लिए हमारी आवश्यकताओं व साधनों के अनुरूप एक सुदृढ़ व यथासम्भव समन्वित माध्यमिक शिक्षा दी जा सके :**

(क) भारत में वर्तमान माध्यमिक शिक्षा की स्थिति की प्रत्येक दृष्टिकोण से जाँच करके उस पर रिपोर्ट देना; तथा

(ख) इसके पुनर्संगठन व सुधार के विषय में विशेषतः नीचे लिखी बातों के सम्बन्ध में सुझाव देना :

(1) माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, संगठन तथा विषय-वस्तु;

(2) प्राथमिक, बेसिक तथा उच्च शिक्षा से इसका सम्बन्ध;

(3) विभिन्न प्रकार के माध्यमिक स्कूलों का अन्तर्सम्बन्ध; तथा

(4) अन्य सम्बन्धित समस्याएँ।

इस आयोग ने विस्तारपूर्वक माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन करने के उपरान्त अगस्त 1953 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने इस रिपोर्ट पर विचार किया और इसकी प्रायः सभी सिफारिशों को मान लिया।

सिफारिशें—(1) माध्यमिक स्तर की शिक्षा चार या पाँच वर्ष की प्राथमिक या जूनियर बेसिक शिक्षा के उपरान्त प्रारम्भ होनी चाहिए। इसमें विभिन्न पाठ्यक्रमों, जैसे—भाषा, सामाजिक अध्ययन, सामान्य विज्ञान तथा हस्तकला सम्मिलित होने चाहिए। पाठ्य-पुस्तकों का चयन एक शक्तिशाली समिति को सौंप देना चाहिए। विद्यार्थियों को उनके विषयों को चुनने के लिए पथ-प्रदर्शन व उचित सलाह देने का प्रबन्ध होना चाहिए।

(2) शिक्षण का माध्यम मातृभाषाएँ हों, साथ ही राष्ट्रभाषा तथा एक विदेशी भाषा भी मिडिल स्कूल स्तर पर पढ़ायी जानी चाहिए।

(3) वर्ष में 200 से कम कार्य दिवस न होने चाहिए। प्रति सप्ताह प्रत्येक घण्टा 45 मिनट के हिसाब से सप्ताह में 35 घण्टे अध्ययन होना चाहिए।

(4) परीक्षा में उत्तीर्ण करने अथवा ऊपर की कक्षा में विद्यार्थी को तरक्की देने के लिए वर्ष भर कक्षा में किये गये कार्य पर विचार करना चाहिए।

(5) टेकनीकल शिक्षा को निम्न स्तर पर प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से बहु-उद्देशीय स्कूलों की स्थापना की जाय।

(6) माध्यमिक शिक्षकों की प्रशिक्षण-व्यवस्था पर्याप्त होनी चाहिए।

(7) शारीरिक शिक्षा के लिए पर्याप्त अवसर मिलना चाहिए।

(8) माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण बोर्ड तथा केन्द्र के आधार पर राज्य शिक्षा सलाहकार बोर्ड का निर्माण होना चाहिए। प्रशासन को अधिक अच्छा बनाने के लिए केन्द्रीय तथा राज्य बोर्डों की सम्मिलित बैठकें होनी चाहिए और इस प्रकार उनके क्रियाकलापों में समन्वय स्थापित होना चाहिए। शिक्षा निदेशक विभाग में अत्यन्त योग्य व्यक्तियों व विशेषज्ञों की नियुक्त होनी चाहिए।

(9) प्रत्येक स्कूल में एक प्रबन्धक बोर्ड हो जो कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड हो। प्रत्येक स्कूल का प्रधानाध्यापक इस बोर्ड का सदस्य हो। शिक्षकों के चुनने, उनके वेतन, सेवा तथा अन्य सुविधाओं के लिए निश्चित नियम बनाने चाहिए जिनका पालन होना अनिवार्य होगा।

(10) स्कूल का भवन पर्याप्ततः स्वच्छ व हवादार हो जिसमें अच्छे स्थल तथा सज्जा हो।

(11) कृषि, उद्योग, व्यापार तथा नागरिकता में प्रशिक्षण देने के विषय में केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह माध्यमिक शिक्षा के वित्त के लिए साधन उपलब्ध करे।

इन सिफारिशों के अतिरिक्त आयोग ने पुस्तकालयों की स्थापना, विद्यालयों में फैली हुई अनुशासनहीनता को रोकने, स्वेच्छा से धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने, विद्यार्थियों के स्वास्थ्य में सुधार करने, परीक्षा प्रणाली में सुधार करने, शिक्षकों की दशा में सुधार करने, लड़कियों के लिए विशेष व्यवस्था करने तथा स्कूलों की आर्थिक दशा एवं प्रबन्ध व संगठन में सुधार करने के उद्देश्य से भी बड़े व्यावहारिक व मूल्यवान सुझाव दिये हैं।

# 21

# विश्वविद्यालय तथा उच्च ग्रामीण शिक्षा

## भूमिका

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त देश में उच्च शिक्षा के लिए माँग में तीव्र वृद्धि हुई है। माध्यमिक शिक्षा के आकार में वृद्धि होने का परिणाम भी यही निकला है कि अन्य विकल्पों के अभाव में छात्र विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में प्रवेश पाने की चेष्टा करते हैं। सन् 1947 में विश्वविद्यालयों की संख्या 19 थी जो मार्च 1967 तक बढ़कर 71 हो गयी। प्रायः सभी राज्यों में यह प्रयास किया जा रहा है कि वहाँ क्षेत्रीय माँग की पूर्ति करने के उद्देश्य से नवीन विश्वविद्यालय स्थापित किये जायें। सन् 1952 तक देश का कोई भी ऐसा प्रमुख भाषा-क्षेत्र नहीं रह गया था जहाँ एक न एक विश्वविद्यालय न हो। साथ ही कुछ विशिष्ट विश्वविद्यालयों की स्थापना कृषि, इंजीनियरी तथा ललित कलाओं के लिए भी की गयी है। बहुत-से उच्च शिक्षा केन्द्रों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालय मानकर उनके मानदण्ड में उन्नति कर दी है। कालेजों की संख्या तथा उनमें प्रवेश पाने वाले छात्रों की संख्या में भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। किन्तु इस वृद्धि के साथ उच्च शिक्षा के क्षेत्र में असंख्य समस्याएँ भी उत्पन्न हो गयी हैं। प्रस्तुत अध्याय में उच्च शिक्षा की ऐतिहासिक प्रगति के उल्लेख के साथ ही साथ सम्बन्धित समस्याओं के कारणों एवं निराकरण का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है।

## उच्च शिक्षा संस्थाओं की प्रगति

सन् 1950-51 में प्रथम आयोजन के आरम्भ में देश में 27 विश्वविद्यालय, 18 रिसर्च संस्थाएँ, 92 विशिष्ट शिक्षा के कॉलेज, 208 व्यावसायिक तथा तकनीकी कॉलेज और 498 आर्ट्स और साइंस के सम्बन्धित कॉलेज थे। इन सभी संस्थाओं में विद्यार्थियों की संख्या 4·04 लाख और शिक्षकों की संख्या लगभग 25 हजार थी। द्वितीय आयोजन के अन्त में सन् 1960-61 में विश्वविद्यालयों की संख्या 46 और सन् 1962-63 में 55 हो गयी। मार्च 1967 तक देश में 71 विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे। इसी प्रकार अन्य सभी प्रकार की संस्थाओं में भी वृद्धि हुई है। सन् 1962-63 तक उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थियों तथा शिक्षकों की संख्या बढ़कर

क्रमश: 11·62 लाख और 75 हजार हो गयी थी, जो विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित थे।

कोठारी शिक्षा आयोग के मतानुसार स्वतन्त्रता के उपरान्त "शिक्षा-विकास की एक प्रमुख विशेषता इंजीनियरी, चिकित्सा तथा कृषि और प्रथम एवं द्वितीय डिग्रियों के कोर्सों में विज्ञान की शिक्षा का तीव्र प्रसार है। तीनों पंचवर्षीय आयोजनों के अन्तर्गत आर्थिक विकास के कार्यक्रम को देखते हुए यह आवश्यक भी था। अधिकांश में यह प्रसार (वास्तविक अर्थों में) उन सुविधाओं की सीमाओं का भी अतिक्रमण कर गया जो इस सम्बन्ध में उपलब्ध थीं। साथ ही प्रथम डिग्री के स्तर पर कला और वाणिज्य पाठ्यक्रम के स्तर पर भी भारी प्रसार हुआ है। इस प्रगति का प्रमुख कारण न तो इतना शिक्षा-संस्थाओं में प्रवेश की गुंजायश अथवा रोजगार की सुविधाओं में वृद्धि ही माना जा सकता है जितना कि जनता की (उच्च शिक्षा के लिए) माँग के दबाव को माना जा सकता है।·····इस प्रकार का प्रभाव शिक्षा के मानदण्ड पर प्रतिकूल ही पड़ा है।"[1]

भारत ने अपने नागरिकों के लिए जनतन्त्रात्मक समाजवादी समाज की स्थापना का बीड़ा उठाया है। ऐसी स्थिति में शिक्षा सुविधाएँ प्रदान करने की दिशा में जो मौलिक सिद्धान्त देश में कार्यान्वित किया जा रहा है उसके अनुसार न केवल प्राथमिक अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है वरन् माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था उन सभी छात्रों को उपलब्ध होनी चाहिए जो उसे पाने के इच्छुक तथा योग्य हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि इधर उच्च शिक्षा का प्रसार इतनी तीव्रता के साथ हो रहा है। गत वर्षों में उच्च शिक्षा की माँग में जो वृद्धि हुई है उसके कई कारण हैं। नीचे संक्षेप में उन कारणों पर प्रकाश डालना आवश्यक होगा।

एक तो उच्च शिक्षा, विशेषत: यूनीवर्सिटी डिग्री को देश में एक परम्परागत उच्च सामाजिक सम्मान मिला हुआ है। ग्रेजुएट होना ही अपने आप में एक सम्मानित दर्जे (status) का प्रतीक है। दूसरे, शहरी जनता तथा मध्यम वर्ग के लोगों में उच्च शिक्षा के लिए एक भूख जाग्रत हो गयी है और वे अधिकाधिक यह अनुभव करने लगे हैं कि वह सर्वोत्तम धन जो वे अपनी सन्तानों के लिए उत्तराधिकार में छोड़ सकते हैं, उच्च शिक्षा ही हो सकता है। तीसरे, ग्रामीण जनता तथा निम्न वर्ग के लोगों में भी यह विश्वास बढ़ता जा रहा है कि जिस प्रकार गत सौ वर्षों से भी अधिक समय से नगरों की जनता तथा उच्च एवं मध्यम वर्ग के लोगों ने उच्च शिक्षा के द्वारा उच्च पदों एवं सुअवसरों को प्राप्त किया है उसी प्रकार वे और उनकी सन्तानें भी कर सकती हैं। चौथा कारण उच्च शिक्षा के प्रसार का यह है कि अब केवल प्राथमिक अथवा माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने से लोगों को नौकरी नहीं मिल पाती जैसा कि पहले सम्भव था। अत: वे उच्च शिक्षा के लिए दौड़ते हैं। एक अन्य कारण यह भी

*Report of the Education Commission* (1966), *op. cit*, p. 299.

है कि कम पढ़े युवकों को रोजगार न मिल सकने के कारण उनके समक्ष आगे पढ़ाई को जारी रखने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प भी नहीं है। अन्त में सरकार के द्वारा सभी स्तरों के छात्रों के लिए उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सुविधाएँ, शिक्षा के लिए अनुदान प्रदान करना तथा उदार छात्रवृत्ति-नीति, भारी संख्या में नये कॉलेज तथा विश्वविद्यालयों एवं अन्य उच्च शिक्षा केन्द्रों की स्थापना के कारण नगर या गाँव के पास ही सुविधा प्रदान करना इत्यादि ऐसे अन्य कारण हैं जिन्होंने उच्च शिक्षा को गत वर्षों में प्रोत्साहन प्रदान किया है। ऐसी आशा की जाती है कि आगामी दशकों में उच्च शिक्षा का और भी अधिक प्रसार होगा। नीचे की तालिका में नियोजन-कालीन छात्र-संख्या-वृद्धि को अंकित किया गया है :[2]

(संख्या हजारों में)

| पाठ्यक्रम | 1950-51 | 1955-56 | 1960-61 | 1965-66 (अनुमानित) |
|---|---|---|---|---|
| **1. कला, वाणिज्य तथा विज्ञान :** | | | | |
| (अ) कला + विज्ञान (अंडर-ग्रेजुएट) | 175 | 295 | 396 | 697 |
| (ब) वाणिज्य (अंडर-ग्रेजुएट) | 16 | 27 | 38 | 62 |
| योग | 191 | 322 | 434 | 759 |
| **2. पोस्ट-ग्रेजुएट :** | | | | |
| (अ) एम.ए. तथा एम.एस-सी. | 17 | 25 | 47 | 78 |
| (ब) अनुसन्धान | 1 | 3 | 4 | 8 |
| योग | 18 | 28 | 51 | 86 |
| **3. व्यावसायिक :** | | | | |
| (अ) अंडर-ग्रेजुएट | 50 | 82 | 147 | 227 |
| (ब) पोस्ट-ग्रेजुएट तथा अनुसन्धान | 4 | 7 | 13 | 22 |
| योग | 54 | 89 | 160 | 249 |
| महायोग | 263 | 439 | 645 | 1,094 |

उपर्युक्त तालिका के अवलोकन से ज्ञात होता है [illegible] के क्षेत्रों में अंडर-ग्रेजुएट स्तर पर प्रवेश संख्या सन् 1950-51 में 191,000 से बढ़ कर 1965-66 में 759,000 हो गयी है अर्थात् 9·6 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि इस स्तर पर हुई है। पोस्ट-ग्रेजुएट स्तर पर अनुसन्धान को भी सम्मिलित करते हुए इन

[2] SOURCE : *Ibid*, Table No. 12·1, p. 300

क्षेत्रों में इसी अवधि में वृद्धि 18,000 से बढ़कर 86,000 हो गयी है जो 11·0 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि-दर दिखाती है। व्यावसायिक स्तर पर प्रवेश संख्या 54,000 के स्थान पर 249,000 हो गयी है जो 10·7 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की द्योतक है। व्यावसायिक शिक्षा में यहाँ कृषि, शिक्षक-प्रशिक्षण, इंजीनियरी, तकनीकी, कानून, चिकित्सा, पशु-चिकित्सा, वन-विज्ञान इत्यादि को सम्मिलित किया गया है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सभी पाठ्यक्रमों के छात्रों को मिलाकर देखने से प्रतीत होता है कि उनकी संख्या इस अवधि में 263,000 से बढ़कर 1,094,000 हो गयी है जो 10 प्रतिशत वार्षिक-वृद्धि दर की द्योतक है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में जबकि सन् 1950-51 में छात्रों का अनुपात सम्पूर्ण छात्र-संख्या का 27·4 प्रतिशत था तो 1965-66 में यह 30·6 प्रतिशत हो गया। यह सत्य व्यावसायिक शिक्षा की वृद्धिमान लोकप्रियता का प्रतीक है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह न समझ लेना चाहिए कि भारत में उच्च शिक्षा की वृद्धि आवश्यकता से अधिक हो गयी है और अब इसे और अधिक प्रोत्साहन देना हानि-कारक है। प्रायः कुछ लोगों का कहना है कि विश्वविद्यालय शिक्षा को प्रोत्साहन देने में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की अवहेलना हो जाती है। वास्तव में, यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। निस्सन्देह देश में प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा हमारी आवश्यकताओं से बहुत कम है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विश्वविद्यालय शिक्षा को सीमित कर दिया जाय। वास्तव में, यदि हम भारत की विश्वविद्यालय शिक्षा की स्थिति की अन्य देशों की उसी स्तर की शिक्षा की स्थिति से तुलना करें तो प्रतीत होगा कि विश्वविद्यालय शिक्षा का प्रसार देश की आवश्यकताओं से अधिक नहीं हो पाया है। इस दृष्टि से सन् 1944 में भी सार्जेण्ट कमेटी की रिपोर्ट में जो विचार किये गये थे वे बड़े महत्त्वपूर्ण थे। "यदि भारत की जनसंख्या को देखते हुए यहाँ के विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की संख्या का अनुमान लगाया जाय तो विदित होगा कि विश्वविद्यालय शिक्षा में विश्व के अन्य प्रमुख राष्ट्रों की अपेक्षा सम्भवतः भारत सबसे अधिक पिछड़ा हुआ है। युद्ध से पूर्व जर्मनी में विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों का वहाँ की जनसंख्या से अनुपात 1 : 690 था। ग्रेट ब्रिटेन में यह अनुपात 1 : 837, अमरीका में 1 : 225 तथा रूस में 1 : 300 था, जबकि यही अनुपात भारत में 1 : 2206 था।"

आगे चलकर इसी रिपोर्ट में विश्वविद्यालयों की संख्याओं के विषय में कहा गया है कि "इंगलैण्ड में 3·1 करोड़ जनता के लिए 12 विश्वविद्यालय हैं, कनाडा में केवल 85 लाख लोगों के लिए 13, आस्ट्रेलिया में 55 लाख जनसंख्या के लिए 6, संयुक्त राज्य अमरीका के 13 करोड़ लोगों की विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए 1720 संस्थाएँ हैं, जबकि भारत में 40 करोड़ की जनसंख्या के लिए केवल 18 विश्वविद्यालय हैं।"[3]

[3] *Sargeant Plan Report* (1944), pp. 28-29.

ठीक इसी प्रकार के विचार 'विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन' ने भी 1949 में व्यक्त किये। "यह न समझ लेना चाहिए कि हमारे देश में आवश्यकता से अधिक विद्यार्थी कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने वालों का प्रतिशत हमारे देश में पाश्चात्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। उदाहरणत: अमरीका में 15 करोड़ से भी कम जनसंख्या में से सन् 1946-47 में 20,78,095 विद्यार्थी कालेजों अथवा विश्वविद्यालयों में थे जबकि इस देश में 32 करोड़ जनसंख्या में से केवल 2,41,794 विद्यार्थी विश्वविद्यालयों अथवा इनसे सम्बन्धित कालेजों में शिक्षा पाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमारी जनसंख्या से भी आधी जनसंख्या में से अमरीका में हमारे देश की अपेक्षा आठ गुने अधिक विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं।"[4]

इसी प्रकार सन् 1966 में कोठारी शिक्षा आयोग भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि "कुल मिलाकर उच्च शिक्षा का प्रसार औद्योगिक दृष्टि से उन्नीस देशों की तुलना में बहुत पिछड़ा हुआ और अपर्याप्त है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों, विशेषत: विज्ञान तथा कृषि में हमारी आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को देखते हुए छात्र-संख्या अत्यन्त ही अपर्याप्त है। हमारी उच्च शिक्षा प्रणाली भी इंगलैण्ड तथा रूस जैसे देशों की अपेक्षा अधिक दुरुपयोगपूर्ण (wasteful) है। साथ ही इंगलैण्ड, अमरीका तथा रूस जैसे धनी देशों की तुलना में, जहाँ पार्ट-टाइम शिक्षा-व्यवस्था अथवा डाक द्वारा पाठ्यक्रम की व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, हमारे देश में प्राय: नगण्य है।"[5]

विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त देश में उच्च शिक्षा की कुछ अन्य संस्थाएँ भी हैं। यद्यपि ये संस्थाएँ अन्य विश्वविद्यालयों की भाँति कानून के अनुसार स्थापित नहीं की गयी हैं, तथापि विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन ने इन्हें अनुदान तथा अन्य शैक्षिक उद्देश्यों के लिए विश्वविद्यालयों के ही रूप में स्वीकार कर लिया है। इनमें इण्डियन एग्रीकल्चर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, नई दिल्ली; इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस, बंगलौर; जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली; इण्डियन स्कूल ऑफ इण्टरनेशनल स्टडीज, नई दिल्ली; गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार; गुजरात विद्यापीठ; काशी विद्यापीठ; टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज, बम्बई तथा बिड़ला इन्स्टीट्यूट ऑफ टैक्नोलॉजी एण्ड साइंस, पिलानी सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त सन् 1966 में तीन रूरल इन्स्टीट्यूट भी विश्वविद्यालय मान लिये गये हैं। कुछ राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ ऐसी हैं जिनकी डिग्री तथा डिप्लोमाओं को रोजगार के लिए भारत सरकार ने अन्य विश्वविद्यालयों की डिग्री तथा डिप्लोमाओं के समान स्वीकृति प्रदान कर दी है। इनमें गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन तथा काशी विद्यापीठ विशेषत: उल्लेखनीय हैं। अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड ने देश की राष्ट्रीय अनुसन्धान संस्थाओं को उच्च शिक्षा के

4 *Universities Education Commission Report*, Vol. I, p. 346.
5 *Report of the Education Commission* (1966), p. 302.

केन्द्रों के रूप में स्वीकार कर लिया है। बहुत-से केन्द्रों में अनुसन्धान के साथ पढ़ाई भी होती है। खड्गपुर, कानपुर, बम्बई, मद्रास तथा दिल्ली में पाँच वृहत् संस्थाएँ 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेकनोलॉजी' के नाम से स्थापित हो गयी हैं। इन संस्थाओं में से प्रत्येक 1600 अण्डर-ग्रेजुएट तथा 300 पोस्ट-ग्रेजुएट स्तर के विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की जाती है। देश के विभिन्न राज्यों में अब 14 ग्रामीण उच्च शिक्षा की संस्थाएँ भी स्थापित की जा चुकी हैं।

विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में क्रमशः उन्नति होती जा रही है। प्रति वर्ष उच्च शिक्षा के नये विषय तथा विश्वविद्यालय में नवीन विभाग खुलते जा रहे हैं। अनुसन्धानों के आधार पर श्रेष्ठता में भी पर्याप्त सुधार हुआ है। पाठ्यक्रमों में नवीन विषयों के समावेश से आधुनिक भारत की अधिक से अधिक शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं व महत्त्वाकांक्षाओं को पोषण मिल रहा है।

देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त विश्वविद्यालयों में शिक्षण के माध्यम का प्रश्न बड़ा विवादग्रस्त बना रहा। भाषावार प्रान्तों के आधार पर नये विश्वविद्यालय की स्थापना होने से यह विवाद और बल पकड़ गया। बहुत-से विश्वविद्यालयों की यह स्वाभाविक इच्छा थी कि भारतीय भाषाओं को ही शिक्षण का माध्यम बनाया जाय। भारत सरकार का भी मत यह था कि यद्यपि शिक्षण के माध्यम को बदलना आवश्यक है, तथापि यह परिवर्तन क्रमशः धीरे-धीरे ही करना चाहिए, ताकि अध्यापकों और विद्यार्थियों को अनावश्यक कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। इस प्रश्न पर विचार करने के उद्देश्य से मई 1948 में सभी विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन ने बड़े मूल्यवान सुझाव दिये जिनमें से अधिकांश सुझाव भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन ने अपनी सिफारिशों में सम्मिलित कर लिये हैं।

विश्वविद्यालय शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत रहा है कि प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की तुलना में देश में विश्वविद्यालय शिक्षा का आकार बढ़ता जा रहा है। साथ ही वहाँ जो शिक्षा दी जाती है वह अधिकांश में शहरी है जिसमें व्यावसायिक व टेकनीकल शिक्षा का अभाव है। स्वतन्त्रता के उपरान्त यह भावना भी देश में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी कि विश्वविद्यालयों की स्थिति का पुनर्निरीक्षण किया जाय ताकि देश की नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें ढाला जा सके। 'अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड' तथा 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद्' ने भी इन्हीं विचारों का समर्थन किया। जनवरी 1948 में एक 'अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन' हुआ, जिसमें इस बात की सिफारिश की गयी थी कि उच्च शिक्षा के सम्पूर्ण क्षेत्र का पुनर्निरीक्षण करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जाय। अतः भारत सरकार ने डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में इस कमीशन की 4 नवम्बर, 1948 को नियुक्ति कर दी। कमीशन ने उसी वर्ष दिसम्बर में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया और अगस्त 1949 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी।

यह एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट है और विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रायः सभी पक्षों

पर अपने निश्चित मत प्रकट करती है । इस रिपोर्ट ने विश्वविद्यालयों की शिक्षा के विषय में जनता के विचारों को पर्याप्ततः प्रभावित किया है । भारत सरकार ने कमीशन की सभी सिफारिशों को सामान्यतः मानकर उन्हें देश में विश्वविद्यालय शिक्षा के विकास के लिए एक आधार मान लिया । 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' ने नवम्बर 1953 में अपने उन्नीसवें वार्षिक अधिवेशन में पुनः कमीशन की सिफारिशों पर विचार किया और सिफारिश की कि "अध्यक्ष (केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री) को चाहिए कि वह यह जानने के लिए कि कमीशन की सिफारिशें कहाँ तक कार्यान्वित की जा रही हैं तथा यह सुझाव देने के लिए कि वे सिफारिशें भविष्य में और किस प्रकार तीव्रता से कार्यान्वित की जा सकती हैं, एक समिति की स्थापना करे।"[6]

7 फरवरी, 1954 को 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' के इक्कीसवें अधिवेशन में इस समिति की रिपोर्ट पर विचार किया गया । रिपोर्ट में कहा गया था कि भारत के विश्वविद्यालयों के विधानों में सुधार करने के लिए शीघ्र ही कदम उठाये जाने चाहिए जिससे विश्वविद्यालयों के सीनेटों, सिण्डीकेटों तथा शिक्षा परिषदों (academic councils) को शीघ्र ही आन्तरिक षड्यन्त्रों व दलबन्दी से मुक्त किया जा सके। समिति ने यह भी कहा कि वाइस-चांसलरों की नियुक्ति का प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है और इस कार्य के लिए सभी विश्वविद्यालयों को यथासम्भव दिल्ली विश्वविद्यालयों की पद्धति का अनुसरण करना चाहिए । साथ ही शिक्षकों के वेतन-क्रमों में सुधार, विश्वविद्यालयों में छात्रावासों का निर्माण करने के लिए केन्द्रीय ऋण-सहायता, शिक्षण में भाषण-पद्धति के स्थान पर 'ट्यूटोरियल' पद्धति का अधिक प्रयोग तथा निर्धन व योग्य छात्रों के लिए अधिक छात्रवृत्तियों की व्यवस्था इत्यादि अन्य सिफारिशें भी इस समिति ने कीं । बोर्ड ने प्रायः सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया । आगे हम विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन की सिफारिशों पर विचार करते हैं ।

**विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन (सन् 1949)**

**नियुक्ति**—जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, भारतीय विश्वविद्यालयों के विकास के लिए कुछ योजनाएँ बनाने से पूर्व यह उचित समझा गया था कि उनकी आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अवस्था का दिग्दर्शन कर लिया जाय। अतः अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड तथा केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया :

"बोर्डों की राय में भारतीय विश्वविद्यालयों के कार्य का दिग्दर्शन वांछनीय है, अतः प्रस्ताव किया जाता है कि इन उद्देश्यों के लिए भारत सरकार अन्य सम्बन्धित सरकारों की अनुमति से भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षा पर रिपोर्ट करने तथा देश की वर्तमान व भावी आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए सुधार तथा विकास के लिए सुझाव रखने के लिए, हण्टर कमीशन के आधार पर एक कमीशन नियुक्त करे ।"

सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और नवम्बर 1948 में

[6] *Vide* Resolution of C.A.B.E., dated 11th Nov., 1953.

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन के अन्य प्रमुख सदस्य थे डॉ० ताराचन्द, सर जेम्स डफ (डरहम विश्वविद्यालय के उपकुलपति), डॉ० जाकिर हुसेन, डॉ० आर्थर ई० मॉरगन (अमरीका), डॉ० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर, डॉ० मेघनाद साहा तथा डॉ० जॉन टिजर्ट (अमरीका के भूतपूर्व शिक्षा-कमिश्नर) इत्यादि। 25 अगस्त, 1949 को कमीशन ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया।

कमीशन का जाँच-क्षेत्र (terms of reference) बहुत व्यापक था। इसमें वर्तमान तथा भावी राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय विश्वविद्यालयों के उद्देश्यों तथा अनुसन्धान इत्यादि से लेकर विश्वविद्यालय के संगठन तथा प्रशासन, आर्थिक समस्या, शिक्षकों की समस्या, पाठ्यक्रम, प्रवेश, शिक्षा का माध्यम, धार्मिक शिक्षा, विद्यार्थियों के निवास, स्वास्थ्य तथा अनुशासन इत्यादि सभी समस्याओं के अध्ययन का समावेश है। वस्तुतः उच्च शिक्षा सम्बन्धी किसी भी प्रश्न को ऐसा नहीं छोड़ा गया है जिस पर कुछ विचार न किया गया हो। अब तक नियुक्त किये जाने वाले सभी कमीशनों में विश्वविद्यालय शिक्षा क़मीशन की रिपोर्ट अधिक पूर्ण, व्यापक तथा श्रेष्ठ है तथा इसकी सिफारिशें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

**सिफारिशें**

कमीशन ने अठारह अध्यायों तथा 747 पृष्ठों में अपनी रिपोर्ट का प्रथम भाग प्रस्तुत किया है। इसमें विश्वविद्यालय की सभी समस्याओं का उल्लेख किया गया है। दूसरे भाग में संख्याएँ तथा आँकड़े व साक्षी इत्यादि हैं। प्रारम्भ में भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा की प्रगति का संक्षिप्त इतिहास देते हुए कमीशन ने वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक ढाँचे में विश्वविद्यालय शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख किया है। भारतीय संविधान की भूमिका का उल्लेख करते हुए कमीशन ने उच्च शिक्षा के उद्देश्यों में नवीन भारत के निर्माण के लिए, प्रजातन्त्र, न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय भ्रातृत्व एवं भारतीय संस्कृति के महत्त्व पर जोर दिया है। इसके उपरान्त क्रमशः शिक्षकों की अवस्था तथा प्रशिक्षण, अनुसन्धान, व्यावसायिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, शिक्षा का माध्यम, परीक्षा प्रणाली, विद्यार्थियों की समस्याएँ, स्त्री-शिक्षा, शिक्षा संगठन, वित्त, केन्द्रीय तथा अन्य विश्वविद्यालय और अन्त में ग्राम्य विश्वविद्यालयों के विषय में सिफारिशें की हैं। नीचे हम कमीशन की प्रमुख सिफारिशों का अति संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

(1) **शिक्षकों की समस्याएँ**—शिक्षकों की समस्या क़मीशन की राय में प्रमुख समस्या है। कमीशन ने विश्वविद्यालय शिक्षकों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण कर दिया है—प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरर तथा इंस्ट्रक्टर। इनके अतिरिक्त अनुसन्धान अभिसदस्यों (research fellows) की नियुक्त की सिफारिश की गयी है। एक श्रेणी से दूसरी उच्च श्रेणी के लिए शिक्षकों की तरक्की केवल योग्यता के आधार पर होनी चाहिए। जूनियर तथा सीनियर पदों के स्थानों में 2:1 का अनुपात होना चाहिए।

सेवा-निवृत्ति (retire) होने की उम्र पचास वर्ष होनी चाहिए किन्तु प्रोफेसरों को चौंसठ वर्ष तक की आज्ञा दी जा सकती है। इनके अतिरिक्त कमीशन ने विश्वविद्यालय शिक्षकों के लिए प्रॉवीडेण्ट फण्ड, छुट्टी तथा काम करने के घण्टे इत्यादि की मर्यादाएँ भी स्थिर कर दीं और उनके लिए नवीन वेतन-क्रमों की सिफारिश की।

(2) **शिक्षण-मानदण्ड**—विश्वविद्यालयों में शिक्षण स्तर उठाने के लिए कमीशन ने प्रवेश की सीमा इण्टरमीडिएट पास होने के उपरान्त ही रखी और सिफारिश की कि प्रत्येक राज्य तथा प्रान्त में उच्च कोटि के इण्टर कॉलेज स्थापित किये जायँ। दस या बारह वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त विद्यार्थियों का ध्यान विभिन्न उद्यमों की ओर आकर्षित करने के लिए एक बड़ी संख्या में व्यावसायिक स्कूल खुलने चाहिए। हाई स्कूल तथा कॉलेज शिक्षकों के लिए "रिफ्रेशर कोर्स" संगठित करने चाहिए। विश्वविद्यालयों में कला तथा विज्ञान विभागों में 3,000 तथा सम्बन्धित कालेजों में 1,500 से अधिक विद्यार्थी न रखे जायँ, ट्यूटोरियल पद्धति को पूर्णतः संगठित करके नियमित रूप से चालू कर दिया जाय। विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों तथा प्रयोग-शालाओं को आधुनिकतम साधनों से प्रचुर मात्रा में सज्जित कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिक्षकों द्वारा शिक्षण-विधि के सुधार पर भी जोर दिया गया।

(3) **पाठ्यक्रम (कला तथा विज्ञान)**—मास्टर डिग्री 'आनर्स' के एक वर्ष बाद तथा 'उत्तीर्ण-परीक्षा' (pass examination) के दो वर्ष बाद प्रदान की जानी चाहिए। विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक शिक्षालयों को सामान्य शिक्षा (general education) के सिद्धान्तों तथा व्यावहारिक ज्ञान (theory and practice) का अध्ययन प्रारम्भ कर देना चाहिए तथा पाठ्यक्रम और पाठ्य-वस्तु को शीघ्र ही तैयार करके उन्हें इण्टर तथा डिग्री कक्षाओं में प्रारम्भ कर देना चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र में साधारण तथा विशिष्ट शिक्षा का सम्बन्ध ज्ञात कर लेना चाहिए तथा विभिन्न व्यवसायों के लिए विद्यार्थियों की रुचि ज्ञात करके उनके व्यक्तित्व के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए।

(4) **उत्तर-ग्रेजुएट प्रशिक्षण तथा अनुसन्धान** (Post-graduate training and research) (**कला एवं विज्ञान**)—कमीशन ने इस क्षेत्र में वर्तमान गिरी हुई अवस्था पर दुख प्रकट किया और कहा कि हमारे देश में अनुसन्धान क्षेत्र में बहुत ही विशाल सुअवसर विद्यमान हैं। अतएव विद्यार्थियों को हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करके उन्हें अनुसन्धान के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

एम. ए. तथा एम. एस-सी. कक्षाओं में प्रवेश अखिल भारतीय स्तर पर होना चाहिए तथा विद्यार्थियों और शिक्षकों में निकटतम सम्पर्क होना चाहिए। पी-एच. डी. (Ph. D.) के अध्ययन में कम से कम दो वर्ष का अनुसन्धान कार्य होना चाहिए। इसमें थीसिस के अतिरिक्त विद्यार्थियों के साधारण ज्ञान तथा विषय पर उनके अधिकार की जाँच करने के लिए एक मौखिक परीक्षा (viva voce) भी होनी चाहिए। पी-एच. डी. में भी प्रवेश अखिल भारतीय आधार पर होना चाहिए। योग्य विद्यार्थियों के लिए अनुसन्धान काल में अभिवृत्ति (research fellowships)

मिलनी चाहिए। एम. एस-सी. तथा पी-एच. डी. के विद्यार्थियों को शिक्षा मन्त्रालय की ओर से छात्रवृत्तियाँ तथा निःशुल्क स्थान मिलने चाहिए। विज्ञान विभागों में अतिरिक्त तथा योग्य शिक्षकों की नियुक्ति करनी चाहिए जो शिक्षण-कार्य से मुक्त हों और केवल अनुसन्धान-कार्य ही करायें। इनके अतिरिक्त पाँच समुद्रीय बाइलोजिकल स्टेशनों की स्थापना की भी सिफारिश की गयी तथा बायोकैमिस्ट्री व बायोफिजिक्स इत्यादि में मौलिक अनुसन्धान की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

(5) <u>व्यावसायिक शिक्षा</u>—कृषि-शिक्षा के विषय में कमीशन ने अन्य उन्नत राष्ट्रों का उदाहरण देते हुए तुलनात्मक दृष्टि से भारत की वर्तमान अवस्था पर प्रकाश डाला है। कमीशन की राय में कृषि-शिक्षा को राष्ट्रीय प्रश्न मान लेना चाहिए तथा प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा-क्रम में इसे प्रमुख स्थान देना चाहिए। कृषि-शिक्षा, अनुसन्धान तथा कृषि-नीति को ऐसे व्यक्तियों के हाथों में सौंप देना चाहिए जो कृषि-जीवन का व्यक्तिगत अनुभव रखते हों तथा उसके विशेषज्ञ हों। कृषि-कालेजों में व्यावहारिक शिक्षा तथा अनुसन्धान पर विशेष जोर देना चाहिए। नये कृषि-कालेजों को नवीन ग्राम्य विश्वविद्यालयों की स्थापना करके उनसे सम्बन्धित कर देना चाहिए। इन कालेजों की पृष्ठभूमि तथा स्वरूप ग्रामीण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक संख्या में प्रयोगात्मक फार्म तथा उच्च शिक्षा में अनुसन्धान और प्रयोगशालाओं की स्थापना होनी चाहिए। वर्तमान अनुसन्धानशालाओं को विस्तीर्ण करके उन्हें अधिक आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

वाणिज्य की शिक्षा के लिए कमीशन ने सिफारिशें कीं कि अध्ययन काल में वाणिज्य के विद्यार्थियों को तीन या चार फर्मों या दुकानों में व्यावहारिक कार्य करने का सुअवसर मिलना चाहिए। ग्रेजुएट होने के उपरान्त कुछ विद्यार्थी वाणिज्य की किसी एक शाखा में विशेषज्ञ बनाने चाहिए। एम. कॉम. के विद्यार्थियों को भी पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित न रहकर व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

शिक्षा विज्ञान के क्षेत्र में कमीशन ने अत्यन्त ही उपयोगी तथा वास्तविक सिफारिशें की हैं। कमीशन के अनुसार पाठ्यक्रमों में सुधार होना चाहिए तथा स्कूल प्रैक्टिस को अधिक समय देना चाहिए। प्रैक्टिस के लिए उपयुक्त स्कूल का चुनाव होना चाहिए। ट्रेनिंग कॉलिज के अधिकांश शिक्षक ऐसे वर्ग में से लेने चाहिए जिन्हें स्कूलों के शिक्षण का पर्याप्त अनुभव हो। शिक्षा सिद्धान्तों के पाठ्यक्रम (courses of education theory) लचीले हों और स्थानीय परिस्थितियों से मेल खाते हों। शिक्षा में मास्टर डिग्री (M. Ed.) के लिए केवल ऐसे विद्यार्थियों को ही आज्ञा दी जाय जिन्हें कुछ वर्षों के शिक्षण-कार्य का अनुभव हो। प्रोफेसरों और अन्य शिक्षकों की मौलिक रचनाएँ अखिल भारतीय स्तर की होनी चाहिए।

इंजीनियरी तथा टेकनोलॉजी की शिक्षा के सम्बन्ध में कमीशन ने वर्तमान शिक्षालयों में सुधार तथा उच्च शिक्षा के अन्य स्कूलों के स्थापित करने की सिफारिश की। पुस्तकीय ज्ञान के साथ ही साथ विद्यार्थियों को कारखानों (workshops) में

व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने की सुविधाएँ भी दी जानी चाहिए। देश तथा काल की माँग के अनुसार पाठ्यक्रम में उचित सुधार होना चाहिए। अनुसन्धान तथा शिक्षा के लिए केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त इंजीनियरिंग कालेजों की पुनर्स्थापना तथा संगठन के विषय में भी कमीशन ने विशेष सुझाव रखे।

कानून के कालेजों के विषय में कमीशन ने कहा कि इनका पूर्ण पुनर्संगठन होना चाहिए। प्रवेश के लिए तीन वर्ष का डिग्री शिक्षा का अध्ययन अनिवार्य है। कानून की व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था भी होनी चाहिए। शिक्षकों की नियुक्ति पूर्णकालीन और अंशकालीन दोनों ही प्रकार की हो सकती है। कानून पढ़ने वाले विद्यार्थियों को दूसरा पाठ्यक्रम लेने की आज्ञा केवल विशेष परिस्थिति में तथा अति योग्य विद्यार्थी को ही मिलनी चाहिए। संवैधानिक कानून, अन्तरराष्ट्रीय कानून, न्यायशास्त्र तथा हिन्दू और मुसलमानी कानूनों में अनुसन्धान को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा के विषय में कमीशन ने कहा कि एक मेडिकल कॉलेज में 100 से अधिक विद्यार्थी भर्ती न किये जायँ। ग्रामीण केन्द्रों में प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान की जायँ। प्राचीन भारतीय चिकित्सा-पद्धति को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाय। 'पब्लिक इंजीनियरिंग' तथा 'नर्सिंग' में 'पोस्ट-ग्रेजुएट' शिक्षा की व्यवस्था के लिए भी कमीशन ने सिफारिश की।

इन व्यवसायों में शिक्षा प्राप्त करने के अतिरिक्त कमीशन ने व्यापार प्रशासन (business administration), जन प्रशासन (public administration) तथा औद्योगिक सम्बन्धों (industrial relations) में भी विशेष शिक्षा प्रदान करने की सिफारिशें की हैं।

(6) **धार्मिक शिक्षा**—धार्मिक शिक्षा के क्षेत्र में कमीशन ने इसका इतिहास बताते हुए भारत की वर्तमान राजनीतिक अवस्था की ओर संकेत किया है और अन्त में एक धर्म-निरपेक्ष राज्य के लिए धार्मिक शिक्षा सम्बन्धी कुछ सुझाव रखे हैं।

प्रत्येक शिक्षा संस्था में दैनिक कार्य कुछ मिनटों के मौन चिन्तन के साथ प्रारम्भ हो जिसमें प्रत्येक व्यक्ति आत्मदर्शन का प्रयास करे, क्योंकि "व्यक्ति एक आत्मा है और शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को इस सत्य के प्रति जागरूक करना है, जिससे वह अपनी आत्मा को पहचान सके और अन्तरात्मा के प्रकाश में वह अपने जीवन-कार्यों को समुचित रूप से ढाल सके।"[7] दूसरा सुझाव है कि डिग्री पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष में महान् धार्मिक गुरुओं, जैसे—गौतम, कनफ्यूसस, जोरास्टर, सुकरात, जीसस, शंकर, रामानुज, माधव, मुहम्मद, कबीर, नानक तथा गांधी इत्यादि के जीवन-चरित्र पढ़ाने चाहिए तथा द्वितीय वर्ष में विश्व-साहित्य में से सार्वभौमिक महत्त्व के प्रमुख अंशों का अध्ययन कराना चाहिए।

(7) **शिक्षा का माध्यम**—इस तर्कयुक्त समस्या को भी कमीशन ने बड़े सुन्दर

*Report of the Universities Education Commission*, p 300

ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया है। सर्वप्रथम एक राष्ट्रीय भाषा को पूर्णतः समर्थ और सम्पन्न बनाना चाहिए। कमीशन ने अन्तरराष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण करके उन्हें देश और कालानुसार परिवर्तित करके ग्रहण करने की सिफारिश की है।

विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के लिए कमीशन ने स्थानीय भाषाओं के प्रयोग करने की सिफारिश की है, साथ ही विद्यार्थी यदि चाहें तो राष्ट्रभाषा हिन्दी (देवनागरी लिपि) का भी प्रयोग कर सकते हैं। माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय स्तरों पर विद्यार्थियों को कम से कम तीन भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। मातृभाषा, राष्ट्रभाषा तथा अंग्रेजी । राष्ट्रभाषा तथा स्थानीय भाषाओं के शीघ्र विकास के लिए कमीशन ने सिफारिश की कि वैज्ञानिकों तथा भाषा विशेषज्ञों का एक 'बोर्ड' बनाया जाय जो सम्पूर्ण देश के लिए वैज्ञानिक शब्दावली तैयार करे तथा अखिल भारतीय महत्त्व की पुस्तकें तैयार करे। दूसरे, प्रान्तीय सरकारों को चाहिए कि वे अपने-अपने प्रान्तों में माध्यमिक शिक्षा में डिग्री कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में सभी कक्षाओं में राष्ट्रभाषा हिन्दी का शिक्षण अनिवार्य कर दें। नवीन ज्ञानधारा से सम्पर्क बनाये रखने के लिए हाई स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी भी एक विषय के रूप में पढ़ायी जानी चाहिए।

(8) **परीक्षा-प्रणाली**—भारतीय शिक्षा क्षेत्र में प्रचलित परीक्षा-प्रणाली की कमीशन ने पर्याप्त भर्त्सना की है।[8] किन्तु उन्होंने इसके सुधार की ही सिफारिश की, न कि इसका पूर्णतः उन्मूलन करने की। हमारा विश्वास है कि यदि हमें विश्वविद्यालय शिक्षा में कोई एकमात्र सुधार ही बताना पड़े तो हम उसकी परीक्षा-प्रणाली में 'सुधार' ही बतायेंगे। 'सुधार' शब्द को हमने सोच-समझकर ही प्रयोग किया है, अन्यथा हम जानते हैं कि भारत की भाँति अन्य देशों में परीक्षाओं के प्रति इतना घोर असन्तोष फैला हुआ है कि वहाँ प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियों तथा महत्त्वशाली शिक्षा संगठनों ने इसके पूर्ण उन्मूलन की राय दी है। हम इतने उग्रवादी नहीं हैं। अतः हमारा विश्वास है कि यदि परीक्षाओं को ठीक प्रकार से तथा बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयोग किया जाय तो हमारी शिक्षा-प्रणाली में यह लाभदायक प्रमाणित हो सकती है। यदि परीक्षाएँ आवश्यक हैं तो इनका पूर्ण सुधार और भी अधिक आवश्यक है।"[9]

---

8 "For nearly half a century, examinations, as they have been functioning, have been recognised as one of the worst features of Indian education. Commissions and Committees have expressed their alarm at their pernicious domination over the whole system of education in India. The obvious deficiencies and harmful consequences of this most pervasive evil in Indian education have been analysed and set out clearly by successive University Commissions since 1902 by a Government Resolution as far back as 1904 and by a Committee of the Central Advisory Board of Education in recent years."—*Report of the Universities Education Commission*, Vol. I, p. 327.

9 *Ibid.*, p. 328.

कमीशन ने सुझाव रखा कि वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं (objective tests) के साथ-साथ निबन्धक प्रकार की परीक्षाओं को मिला देने से अधिक लाभ हो सकता है। वर्ष के दौरान कक्षा में किये गये कार्य का भी ध्यान रखा जाना चाहिए और इसके लिए $\frac{1}{3}$ अंक सुरक्षित रखे जाने चाहिए। डिग्री कक्षाओं के तीन वर्ष के पाठ्यक्रम में प्रत्येक वर्ष के अन्त में विश्वविद्यालय परीक्षा होनी चाहिए, न कि केवल तीन वर्ष उपरान्त एक ही परीक्षा ली जाय। प्रत्येक वर्ष के लिए स्वतः-पूर्ण (self-contained) पाठ्यक्रम तैयार कर लिये जाने चाहिए। परीक्षकों का चुनाव ठीक प्रकार से होना चाहिए तथा उनके लिए तीन वर्ष का समय निश्चित कर देना चाहिए। 70% तथा अधिक अंक पाने वाले विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में, 55 से 69% पाने वाले द्वितीय और 40 से 54% तक अंक पाने वाले विद्यार्थी तृतीय श्रेणी में रखे जाने चाहिए। विद्यार्थियों के साधारण ज्ञान की जाँच के लिए मौखिक परीक्षा (viva voce) भी लेना चाहिए—विशेष रूप से व्यावसायिक शिक्षाओं में।

(9) **विद्यार्थी, उनके कार्य तथा कल्याण**—विद्यार्थियों से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर भी कमीशन ने गहन अध्ययन तथा चिन्तन के उपरान्त अपने सुझाव रखे हैं। इस समस्या को उन्होंने अत्यधिक महत्त्व दिया है।

सर्वप्रथम विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए योग्य विद्यार्थियों की जाँच करने पर जोर दिया गया है। तत्पश्चात योग्य विद्यार्थियों को परीक्षा के आधार पर छात्रवृत्तियों की सिफारिश की है। विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर कमीशन ने सबसे अधिक सुझाव रखे हैं। उनकी नियमित डाक्टरी जाँच, कालेजों और विश्वविद्यालयों में चिकित्सालयों की व्यवस्था, छात्रावास तथा भोजन व पानी की उचित व्यवस्था, निवासस्थान की सफाई, 'डाइरेक्टर ऑफ फिजीकल एजूकेशन' की नियुक्ति, खेलों की उचित व्यवस्था तथा अनिवार्य शारीरिक शिक्षा इत्यादि के लिए कमीशन ने अपने सुझाव रखे हैं। 'नेशनल केडेट कोर' के प्रशिक्षण पर कमीशन ने जोर दिया। तत्पश्चात विद्यार्थियों को समाज सेवा में प्रशिक्षित करने के लिए कुछ सुझाव रखे हैं। उनके मतानुसार विद्यार्थी यूनियनों का संगठन विद्यार्थियों की मानसिक तथा नैतिक उन्नति के लिए होना चाहिए, न कि निम्न कोटि की राजनीतिक भावनाओं का विचार करने के लिए। विद्यार्थियों को सलाह देने के लिए एक 'विद्यार्थी हितकारी सलाहकार बोर्ड' (Advisory Board of Student Welfare) का संगठन करना चाहिए।

(10) **स्त्री-शिक्षा**—इस प्रश्न पर कमीशन ने पर्याप्त उदाहरणपूर्वक विचार किया है जैसा कि उनकी सिफारिशों से प्रकट होता है। कमीशन का मत है कि पुरुषों के कालेजों में स्त्रियों को सभी सामान्य सुविधाएँ तथा जीवन के सामान्य शिष्टाचार की अवस्थाएँ प्रदान करनी चाहिए। इनके शिक्षा प्राप्त करने के अवसर भी बढ़ने चाहिए। कमीशन ने स्त्रियों के पाठ्यक्रम के विषय में स्पष्ट कहा है कि स्त्रियों को अपनी नारीत्व की आवश्यकताओं, रुचियों व क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त पाठ्य-

क्रम ही चुनना चाहिए। "इस कार्य के लिए उन्हें पुरुषों की नकल नहीं करनी चाहिए और नारी की हैसियत से उन्हें नारी की शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा उसी प्रकार होनी चाहिए जैसे पुरुषों को अपने उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करने की होती है। स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा में बहुत-सी बातें तो समान होनी चाहिए, किन्तु सामान्यत: वह पूर्णत: एकसी नहीं होनी चाहिए, जैसा कि आजकल होता है।[10] इसके लिए उन्हें पर्याप्त पथ-प्रदर्शन व सलाह प्राप्त करने की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। पुरुषों को सह-शिक्षा वाले कालेजों में स्त्रियों के साथ भद्रता का व्यवहार करना चाहिए। ऐसे कालेजों में स्त्रियों की जीवन-आवश्यकताओं पर भी उतना ही ध्यान दिया जाय जितना पुरुषों की आवश्यकताओं पर। समान कार्य के लिए अध्यापिकाओं के वेतन-क्रम भी अध्यापकों के बराबर ही हों। सह-शिक्षा के विषय में कमीशन का मत है कि माध्यमिक स्तर पर किशोरियों के लिए पृथक शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए और बेसिक तथा विश्वविद्यालय स्तर पर सह-शिक्षा होनी चाहिए।

(11) अन्य—इन सिफारिशों के अतिरिक्त कमीशन ने विश्वविद्यालय शिक्षा के संगठन और नियन्त्रण, वित्त (finance), केन्द्रीय विश्वविद्यालय, अन्य विश्वविद्यालय तथा ग्राम्य विश्वविद्यालय के विषयों में भी विभिन्न लाभदायक सुझाव रखे हैं। वित्त के विषय में कमीशन ने कहा है कि सरकार को उच्च शिक्षा के अपने उत्तरदायित्व का पालन करना चाहिए और लगभग दस करोड़ रुपये प्रति वर्ष अतिरिक्त व्यय करना चाहिए। दानियों को प्रोत्साहन करने के लिए आयकर के नियमों में संशोधन किया जा सकता है। अन्य नये विश्वविद्यालयों की स्थापना के विषय में कमीशन ने कहा कि इनकी स्थापना 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' की सिफारिशों के आधार पर केन्द्र की आज्ञा से ही होनी चाहिए। देश की सम्पूर्ण शिक्षा-आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए नगरों तथा ग्रामों में उनका उचित वितरण होना चाहिए।

संगठन के विषय में कमीशन ने बड़े मौलिक सुझाव रखे हैं। उसका मत है कि विश्वविद्यालय शिक्षा को केन्द्र की समवर्ती सूची (concurrent list) में सम्मिलित कर देना चाहिए। केन्द्र को उनके वित्त तथा विशेष विषयों को अखिल भारतीय स्तर पर समन्वित करना चाहिए। अनुदान देने के प्रश्न का निराकरण करने के लिए सरकार को शीघ्र ही विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन की स्थापना करनी चाहिए। कोई भी विश्वविद्यालय ऐसा न रहे जो केवल शुद्ध सम्बन्धक प्रकार का ही हो। एक विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कालेजों की संख्या सीमित होनी चाहिए। सम्बन्धित कालेजों का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वे क्रमश: एक संघीय विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो जायँ। उपकुलपति एक वैतनिक तथा पूर्णकालीन व्यक्ति होना चाहिए। अन्त में, कमीशन ने अनुभव किया कि भारत प्रमुखत: गाँवों का देश है और कृषि यहाँ का प्रमुख उद्यम है। अत: यहाँ ग्राम्य विश्वविद्यालय भी खुलने चाहिए।

[10] *Report of the Universities Education Commission*, p. 402.

**आलोचना**

इस प्रकार, संक्षेप में, कमीशन की उपर्युक्त सिफारिश भारतीय शिक्षा के इतिहास में प्रथम युग-निर्माणक रिपोर्ट है जिसने देश के सम्पूर्ण उच्च शिक्षा क्षेत्र को ढक लिया है।

कमीशन ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के केन्द्र होने के साथ ही साथ राष्ट्र के लिए न केवल राजनीतिक व प्रशासनिक क्षेत्रों के लिए ही अपितु सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों के लिए भी नेतृत्व प्रदान करने के प्रजनन-स्थान हैं। अतः प्रत्येक प्रकार की उच्च शिक्षा की बढ़ती हुई माँग चाहे वह साहित्यिक हो अथवा वैज्ञानिक या टेकनीकल और व्यावसायिक शिक्षा के लिए हो, को पूरा करने की क्षमता उनमें होनी चाहिए। कमीशन ने कला या उदार शिक्षा के साथ ही साथ विज्ञान, टेकनोलॉजी तथा कृषि के विकास पर अधिक बल दिया है। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में उच्च स्तर पर कृषि शिक्षा के विकास का महत्त्व सरलता से आँका जा सकता है। कमीशन का देहातों में कृषि कॉलेज स्थापित करने का सुझाव अत्यन्त उपयुक्त है। इससे एक स्वाभाविक वातावरण के अन्तर्गत रहकर विद्यार्थी विभिन्न ग्रामीण समस्याओं का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनके सुझाव के उपाय खोज सकेंगे।

रिपोर्ट में प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृत के सामंजस्य का प्रयास किया गया है। शिक्षा क्षेत्र में बहुत-सी पाश्चात्य पद्धतियों को स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु शिक्षा की आत्मा भारतीय ही रखी गयी है। शिक्षा को सम्पूर्ण जीवन के एक दर्शन के रूप में विकसित किया गया है। स्वतन्त्र भारत के लिए जिस प्रकार की उच्च शिक्षा की आवश्यकता है और जो उसके उद्देश्य तथा प्राप्त करने की उपयुक्त विधियाँ होनी चाहिए, उनकी झाँकी हमें इस रिपोर्ट में मिलती है। यद्यपि कमीशन ने स्वीकार किया है कि वर्तमान युग में विभिन्न विज्ञानों के शास्त्रीय व प्रयोगात्मक प्रशिक्षण की देश को आवश्यकता है, किन्तु साथ ही उसने चेतावनी भी दी है कि यदि विज्ञानों तथा उद्योगों पर अधिक ध्यान देकर मानवशास्त्रों (Humanities) की अवहेलना की गयी तो देश में एक 'राक्षस राज्य' उत्पन्न हो जायगा, जिसमें मानव केवल भौतिक उन्नति की बात ही सोचेगा और इस प्रकार अपनी आत्मा की क्षुधा को अतृप्त ही रखेगा। वास्तव में, यह विचारधारा अखिल विश्व के लिए एक चक्षु-उन्मूलक चेतावनी है जो भारतीय आत्मा की परम्परा के अनुकूल ही है।

कमीशन ने भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में सभी पक्षों पर पूर्ण अध्ययन और चिन्तन के उपरान्त अपने विचार प्रकट किये हैं। उसने गिरते हुए शिक्षण-स्तर, शुष्क जटिल पाठ्यक्रम, प्रेरणा-विहीन शिक्षालय, दयनीय व निरीह शिक्षक, पथ-भ्रमित विद्यार्थी, कलुषित परीक्षा-विधि, तुच्छ राजनीति व षड्यन्त्र और दलबन्दियों के अड्डे, विश्व-विद्यालयों के शासन-प्रबन्ध तथा अतीतकाल से निरादृत ग्रामीण शिक्षा इत्यादि पर अपने पुष्ट व परिपक्व विचार प्रकट किये हैं, तथा उनके परिष्करण के लिए व्याव-हारिक व उपयुक्त सुझाव भी रखे हैं। यहाँ यह न समझ लेना चाहिए कि कमीशन ने भावुकता के आवेग में समस्याओं के हल उपस्थित किये। वास्तव में, सभी सुझाव बड़े

ठोस और प्रत्यक्ष वास्तविकताओं पर आधारित हैं। विश्वविद्यालयों में शिक्षण-विधि तथा अनुसन्धान पर विशेष जोर दिया गया है, जिसकी देश को आवश्यकता है। आन्तरिक शासन-प्रबन्ध को ठीक करने तथा विश्वविद्यालय अनुदान-समिति का पुर्ननिर्माण करने व उसमें वैतनिक अधिकारियों की नियुक्ति की सिफारिश अत्यन्त व्यावहारिक एवं वांछनीय है। ग्रामीण विश्वविद्यालयों की सूझ एक क्रान्तिकारी सुझाव है।

किन्तु इतना अवश्य है कि कमीशन ने धार्मिक शिक्षा के विषय में अपने विचारों को बड़ा अस्पष्ट तथा रहस्यमय रखा है। शिक्षा के माध्यम के विषय में भी निर्णयात्मक मत नहीं दिया गया है। स्त्री-शिक्षा तथा प्राच्य शिक्षाओं और ललित कलाओं को भी उचित प्रोत्साहन नहीं दिया गया है।

इतना होते हुए भी यह निर्विवाद है कि यह रिपोर्ट भारतीय शिक्षा में एक क्रान्ति उपस्थित करके, उसे देश व काल के अनुरूप बनाकर विश्व-शिक्षा के स्तर पर लाकर रख देगी। यदि इन सुझावों को सच्ची भावना और सच्चे प्रयत्नों द्वारा कार्यान्वित किया गया, तो अवश्य ही भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नवीन युग का निर्माण होगा, जिसके आलोक में विश्व का पथ-प्रदर्शन होगा।

**केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की सिफारिशें**

विश्वविद्यालय कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए 22 व 23 अप्रैल, 1950 को केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की विशेष बैठक हुई। बोर्ड ने कमीशन की प्रमुख सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और कहीं-कहीं पर आवश्यकतानुसार कुछ संशोधन भी कर दिये। उत्तर-ग्रेजुएट शिक्षा तथा अनुसन्धान के विषय में कमीशन की सिफारिशों को मान लिया गया : व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में कृषि, वाणिज्य, शिक्षा, इंजीनियरिंग तथा टेकनोलॉजी, कानून तथा ओषधिशास्त्र सम्बन्धी सिफारिशों को कुछ परिवर्तन के साथ मान लिया गया। इसी प्रकार माध्यम, शिक्षकों के वर्गीकरण, वेतन तथा कार्य-दशा, पाठ्यक्रम, वस्तुनिष्ठ परीक्षा-विधि, स्त्री-शिक्षा, नये विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा विद्यार्थी-हितकारी कार्य इत्यादि सभी सिफारिशों को बोर्ड ने स्वीकार कर लिया।

धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में बोर्ड ने निश्चय किया कि सभी शिक्षा संस्थाओं के कार्य कुछ क्षण के मौन चिन्तन के उपरान्त प्रारम्भ किये जाने चाहिए। साथ ही डिग्री कक्षा के प्रथम वर्ष में महान् धार्मिक गुरुओं के जीवन-चरित्र तथा द्वितीय वर्ष में धर्म दर्शन के मूलतत्त्वों का अध्ययन होना चाहिए। बोर्ड ने यह भी निर्णय किया कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी धार्मिक दर्शन की व्यवस्था हो सकती है। विश्वविद्यालय के विधान तथा नियन्त्रण के विषय में भी कमीशन की सिफारिशों को मान लिया गया। केवल विश्वविद्यालयों को केन्द्रीय सरकार की सूची में रखने की बात अस्वीकार कर दी गयी। वित्त के सम्बन्ध में कमीशन की सिफारिशों का समर्थन करते हुए बोर्ड ने कहा कि इन सिफारिशों की पूर्ति इस उद्देश्य के लिए उपलब्ध धनराशि पर निर्भर रहेगी। अन्त में बोर्ड ने राष्ट्रभाषा हिन्दी को सर्वप्रिय बनाने के साधनों पर भी विचार किया।

वस्तुत: कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशन के उपरान्त होने वाली विश्वविद्यालय शिक्षा की प्रगति का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' की बैठकों में अन्य प्रश्नों के साथ ही साथ उच्च शिक्षा पर भी विचार-विनिमय होता है। सन् 1952 में केन्द्रीय सरकार संसद में एक विश्वविद्यालय विधेयक प्रस्तुत करना चाहती थी जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालय शिक्षा पर सरकार का अधिक नियन्त्रण करके उसके दोषों को सुधारना था। यह विधेयक कुछ महत्त्वपूर्ण लोगों के विरोध के कारण फिर संसद में कभी प्रस्तुत नहीं किया गया।

**बिश्वविद्यालय अनुदान कमीशन**

विश्वविद्यालय कमीशन की सिफारिशों के फलस्वरूप नवम्बर 1953 में केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के एक प्रस्ताव के द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन की स्थापना कर दी गयी। इसकी स्थापना का उद्देश्य है विश्वविद्यालयों का अनुदान नियत करना एवं भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाना। कमीशन के अधिकारों तथा उद्देश्यों का जनवरी 1954 में विस्तार कर दिया गया। अप्रैल 1955 में विश्वविद्यालय के सम्बन्धित कॉलेज भी कमीशन के निरीक्षण के अन्तर्गत आ गये। 5 नवम्बर, 1956 को संसद ने 'विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन अधिनियम' पास करके इसे एक कानूनी दर्जा प्रदान कर दिया। इसके उपरान्त कमीशन का पुन: संगठन कर दिया गया है जिसके अनुसार इसमें एक अध्यक्ष तथा आठ सदस्य होंगे।

कमीशन के अधिकार तथा कार्य निम्नलिखित होंगे :

कमीशन का यह सामान्य कर्तव्य होगा कि विश्वविद्यालयों तथा सम्बन्धित संस्थाओं की सलाह से वह ऐसे कदम उठाये जिन्हें वह विश्वविद्यालय शिक्षा के उत्थान एवं समन्वय के लिए उचित समझे। उच्च शिक्षा के स्तर का निर्धारण एवं निर्वाह, शिक्षण-प्रणाली एवं परीक्षा-प्रणाली का सुधार तथा विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देना इत्यादि भी कमीशन के कर्तव्यों में सम्मिलित होंगे। अधिनियम के अन्तर्गत अपने कर्तव्यों का पालन करने के उद्देश्य से कमीशन निम्नलिखित कार्य कर सकता है :[11]

(1) विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति की जाँच करना।

(2) केन्द्रीय अधिनियम के अन्तर्गत विधिवत् स्थापित किये गये विश्वविद्यालयों को अपने कोष में से अनुदान निश्चित करना तथा प्रदान करना जिससे वे शिक्षा का विकास कर सकें।

(3) अन्य विश्वविद्यालयों को भी सामान्य अथवा किसी विशेष उद्देश्य के लिए अनुदान निश्चित करना तथा प्रदान करना।

ऐसा करने में कमीशन उस विश्वविद्यालय के विकास, उसकी आर्थिक आवश्यकताओं, उसके स्तर एवं उसके द्वारा की गयी राष्ट्रीय सेवाओं को दृष्टिगत रखेगा।

[11] As provided in Section 15 of the University Commission Act, 1956.

(4) किसी भी विश्वविद्यालय को उसके शिक्षा स्तर को ऊँचा उठाने में सहायता करना तथा इस सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें कार्यान्वित कराना।

(5) केन्द्रीय कोष या राज्य कोष में से केन्द्रीय अथवा किसी भी राज्य सरकार को विश्वविद्यालयों के लिए अनुदान देने की सलाह देना।

(6) सलाह माँगी जाने पर सम्बन्धित अधिकारियों को नये विश्वविद्यालय स्थापित करने की सलाह देना अथवा किसी वर्तमान विश्वविद्यालय के कार्यों में विकास के सम्बन्ध में सलाह देना।

(7) केन्द्रीय या राज्य सरकारों अथवा किसी भी विश्वविद्यालय को उस प्रश्न पर सलाह देना जिस पर वे कमीशन से अपनी राय माँगते हैं।

(8) भारत या विदेशों से वे सभी सूचनाएँ उपलब्ध करके विश्वविद्यालयों को प्रदान करना जिन्हें कमीशन उपयुक्त समझता है।

(9) किसी विश्वविद्यालय से उसकी आर्थिक स्थिति, शिक्षण, परीक्षाएँ, विभिन्न पाठ्यक्रमों तथा अन्य नियमों इत्यादि की सूचना प्राप्त करना।

(10) अन्य ऐसे कार्यों को पूरा करना जो देश में उच्च शिक्षा के उत्थान तथा विकास के लिए आवश्यक समझे जाते हैं अथवा उपर्युक्त कार्यों के पूरा करने में सहायक होते हैं।

जहाँ तक विश्वविद्यालयों को अनुदान देने की विधि का प्रश्न है, केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को तो कमीशन निर्वाह अनुदान (maintenance grant) देता है तथा केन्द्रीय एवं राज्य-विश्वविद्यालयों को विकास अनुदान (development grant) देता है। केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को अपना अनुदान चार किस्तों में वर्ष भर के लिए मिल जाता है। इसका निर्धारण विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन करता है।

विकास अनुदान के लिए कमीशन केन्द्रीय तथा राज्य-विश्वविद्यालय से सरकार के पंचवर्षीय योजनाओं के समकालीन पाँच वर्ष तक के शिक्षण तथा अनुसन्धान के विभागों के विकास में होने वाले व्यय का विवरण मँगा लेता है। इन विवरणों की जाँच एक विशेष समिति द्वारा होती है। इस समिति में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री होते हैं जो विश्वविद्यालयों तथा उनके बाहर से चुने जाते हैं। इसके उपरान्त स्वयं कमीशन के द्वारा उनकी जाँच की जाती है और इस प्रकार अनुदान की राशि नियत की जाती है। इंजीनियरी तथा टेकनोलॉजी के क्षेत्र में कमीशन अखिल भारतीय टेकनीकल शिक्षा परिषद् की सलाह से अनुदान की राशि निश्चित करता है।

जो अनुदान राज्य-विश्वविद्यालयों को दिया जाता है वह साझेदारी के सिद्धान्त पर आधारित होता है। वर्तमान में जो सिद्धान्त सामान्यतः अपनाया जाता है वह यह है कि अपुनरावर्ती अनुदान (non-recurring grant) का $\frac{2}{3}$ कमीशन अपने स्वयं के द्वारा स्वीकृत योजनाओं पर देता है और शेष $\frac{1}{3}$ या तो विश्वविद्यालय स्वयं अथवा राज्य सरकार देती है। पुनरावर्ती व्यय का आधा रुपया कमीशन अनुदान में देता है। इससे यह ज्ञात होता है कि इस कमीशन की स्थापना से विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में

एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हो गयी है । अपनी स्थापना के उपरान्त से ही कमीशन विश्वविद्यालय शिक्षा के विकास पर धन व्यय कर रहा है ।

कमीशन का विश्वास है कि अध्यापकों का पेशा उत्तम कोटि के लोगों को आकर्षित करने में पूर्णतः असफल रहा है । अतः यह आवश्यक है कि उनके वेतन-क्रमों में सुधार करके उन्हें इधर आकर्षित किया जाय । अतः कमीशन ने विद्यालयों तथा सम्बन्धित कालेजों के अध्यापकों के लिए नये वेतन-क्रमों की सिफारिश की और उसमें होने वाले व्यय का पचास प्रतिशत स्वयं देने की व्यवस्था कर दी है । अधिकांश विश्वविद्यालयों ने इन नये वेतन-क्रमों को कार्यान्वित कर दिया है ।

अनुदान कमीशन ने विश्वविद्यालय में नवीन कक्षाओं के निर्माण तथा उसमें अधिक स्थान की सुविधा प्रदान करने के प्रश्न को सर्वप्रथम स्थान दिया है । कक्षाओं में स्थान की कमी वर्तमान अनुशासनहीनता का एक प्रमुख कारण बताया गया है । इनके अतिरिक्त छात्रावासों, पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं तथा क्रीड़ास्थलों के निर्माण-कार्य के लिए भी कमीशन उदारतापूर्वक अनुदान देता है ।

### विश्वविद्यालय शिक्षा पर कुछ और विचार

विश्वविद्यालय शिक्षा की प्रगति का संक्षेप में वर्णन करने के उपरान्त यह आवश्यक है कि उन समस्याओं पर विचार-विमर्श किया जाय जो विश्वविद्यालय शिक्षा की प्रगति एवं विकास के मार्ग में बाधक हैं । विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के केन्द्र होते हैं और इन्हीं के स्तर तथा क्षमता पर समाज का नैतिक व मानसिक स्तर व क्षमता निर्भर है । एक विश्वविद्यालय को समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का सदा स्मरण रखना चाहिए । किसी भी देश की सम्पन्नता का भाग्य उस देश के विश्वविद्यालयों से जुड़ा होता है । विश्वविद्यालयों के दूषित होने से सम्पूर्ण राष्ट्र दूषित हो जाता है ।[12] विश्वविद्यालय समाज के दर्पण होते हैं । किसी भी देश की शिक्षा-प्रणाली उन राष्ट्रीय आकांक्षाओं तथा सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित होती है जो उस देश के परम्परागत दर्शन एवं संस्कृति से उपलब्ध होते हैं । दुर्भाग्य से ऐतिहासिक कारणों से भारतीय शिक्षा उसके प्राचीन दर्शन एवं संस्कृति के आधार पर विकसित नहीं हो सकी । वस्तुतः देश के मौलिक दर्शन एवं वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के माध्यम में विद्यमान यह विषमता ही शिक्षा-क्षेत्र की सम्पूर्ण बुराइयों की जड़ है । अतः भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा की समस्या ही एक प्रकार से भारतीय समाज की समस्या है । यदि आज हमें एक समाजवादी समाज की स्थापना करनी है, तो हमें अपने सम्पूर्ण शिक्षा के स्वरूप को इसी दिशा में निर्देशित करना होगा । किन्तु दुर्भाग्य से स्वतन्त्रता के उपरान्त जब से नये भारत का जन्म हुआ है, कर्म दर्शन की अपेक्षा पीछे पिछड़ गया है और कम

12. *Cf.* "The prosperity of the country is linked up with the university. A vicious university like a contaminated fountain which is bound to imperil the health of those who drink from it." —R. K. Singh : *Our Universities*, p. 9.

से कम विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में तो नियोजन को शायद ही ठीक प्रकार से कार्यान्वित किया गया है। विश्वविद्यालय के अन्तर्गत जो समस्याएँ थीं वे अंग्रेजी के समय से आज तक यथावत् बनी हुई हैं, कुछ अधिक गम्भीर हो गयी हैं।

विश्वविद्यालयों की स्थापना के उपरान्त ही उनके दोषों का उन्मूलन करने का प्रयास किया गया है, किन्तु आज तक उनका पूर्णतः उन्मूलन नहीं हो सका है। आज हम एक नियोजन के सहारे देश में सामाजिक-आर्थिक समता लाने का प्रयास कर रहे हैं और एक जाति व वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए कटिबद्ध हैं और विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए अपना पर्याप्त योगदान करना चाहते हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि इन महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए तदनुरूप शिक्षा में परि-वर्तन करके हम किस सीमा तक एक ऐसी पृष्ठभूमि बनाने में सफल हो सके हैं जिनके आधार पर हमारी आकांक्षाएँ पूर्ण हो जायँ। उच्च शिक्षा आज भी अधिकांश में उतनी ही उद्देश्य-विहीन है जितनी कि पहले कभी थी। देश के कितने तरुण जो विश्वविद्यालय में भरे हुए हैं, जीवन-दर्शन तथा महान् समस्याओं पर विचार करने की क्षमता का विकास कर पाते हैं? यह तो सम्भव है कि कुछ पुस्तकों को रटकर वे अपने अधूरे एवं अपरिपक्व ज्ञान के आधार पर कोई नौकरी पा जायँ, किन्तु यह बहुधा सम्भव नहीं हो पाता है कि वे जीवन-दर्शन के व्यावहारिक पदार्थ-पाठ पढ़कर मानव-कल्याण में सहायक होने की क्षमता प्राप्त कर सकें। हमारे विश्वविद्यालयों के बहुसंख्यक शिक्षक आर्थिक संकट के अतिरिक्त नैतिक संकट से पीड़ित हैं। उनमें उस कल्पना, दूरदर्शिता तथा उस जीवन-दर्शन का अभाव है जो युग-निर्माणक होते हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों की दुर्दशा के सम्बन्ध में सर ऐरिक ऐशबी ने लिखा है कि "भारत के विश्वविद्यालयों पर उनकी स्थापना के एक शताब्दी उपरान्त दृष्टि-पात करने से प्रतीत होता है कि अपने चारों ओर फैले हुए महान् तथा महत्त्वपूर्ण सुअवसरों के अनुरूप अपने को पर्याप्ततः ढालने में असमर्थ रहे हैं।......कुछ प्रमुख अपवादों को छोड़कर शेष सभी परीक्षा लेने के कार्यालय मात्र बने हुए हैं; और उनके विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होने को ही अपने विश्वविद्यालय जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। ज्यों-ज्यों विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ती जाती है, अन्य स्थानों की अपेक्षा उनके मानदण्डों में कोई उन्नति नहीं होने पाती और इससे भी अधिक गम्भीर बात तो यह है कि विश्वविद्यालय विदेशी संस्थाओं के प्रतिरूप बने हुए हैं जिनका नये भारत से तादात्म्य नहीं हो पाया है......। यही कारण है कि विदेशों से आने वाले द्रष्टाओं को भारत का बुद्धिजीवी सांस्कृतिक दृष्टि से एक विस्थापित व्यक्ति-सा दिखायी देता है, जो स्वप्नदर्शी की भाँति अपने ज्ञान-सूत्र को इंगलैण्ड से स्थापित करने में गौरव अनुभव करता है।......भारत में बौद्धिक साम्य नहीं है। अंशतः इसका एक कारण तो भारत में सांस्कृतिक संस्थाओं की परम्परा का अभाव है और इस अभाव का सम्बन्ध इस सत्य से है कि देश के विश्वविद्यालयों ने एशिया की संस्कृति के प्रति बड़ी क्षीण समवेदना का परिचय दिया है।

"भारतीय समाज की चुनौतियों का मुकाबिला न कर सकने में विश्वविद्यालयों की असफलताओं के कई कारण हैं, किन्तु उन कारणों में सबसे महत्त्वपूर्ण वे निर्णय हैं जो सन् 1835 और 1854 के मध्य में लिये गये। विश्वविद्यालय शिक्षा को आधी शताब्दी तक देश की विद्याओं और धर्म से वंचित रखना; और हिन्दू तथा मुसलमानों को एक ऐसे इतिहास और दर्शन को पढ़ने के लिए विवश करना जिसकी जड़ें एकमात्र भूमध्यसागर तथा ईसाई धर्म में हैं; यूरोपीय सभ्यता के संदिग्ध ढाँचे को बिना इस बात का निश्चय किये हुए खड़ा कर देना कि इस ढाँचे को अस्थि तथा माँस प्रदान करने वाली मान्यताएँ और मानदण्ड भी हस्तांतरित किये जायँ; एक विश्वविद्यालय का बाहरी ढाँचा निर्मित कर देना जिसमें विद्वत् समाज की आन्तरिक उष्णता और भ्रातृत्व का अभाव है : यही वे सब रोड़े हैं जिनसे भारतीय विश्वविद्यालय आज भी संघर्ष कर रहे हैं और जो विश्वविद्यालय को भारतीय बौद्धिक जीवन का केन्द्र तथा दृष्टिबिन्दु बनने से रोकते हैं।"[13]

इसी प्रकार शिक्षा के स्तर, अनुसन्धान, पाठ्यक्रम, विद्यार्थियों के कार्य तथा उनके कल्याण, स्त्री-शिक्षा, विश्वविद्यालयों की आन्तरिक स्वतन्त्रता तथा ग्रामीण उच्च शिक्षा इत्यादि सम्बन्धी अन्य प्रश्न हैं जिनका तुरन्त ही समाधान होना चाहिए। आगे के पृष्ठों में कुछ प्रमुख समस्याओं पर हम संक्षेप में विचार करेंगे।

**(अ) शिक्षा का मानदण्ड**

विश्वविद्यालय वह स्थान है जहाँ किसी राष्ट्र का भावी भाग्य ढाला जाता है उसकी सफलता उन तरुणों की योग्यता जो वहाँ से निकलते हैं एवं वहाँ होने वाले अनुसन्धान कार्य की श्रेष्ठता, से निर्धारित होती है। दुर्भाग्य की बात है कि भारतीय विद्यालय न तो ऐसे तरुण उत्पन्न करने में ही सफल हो रहे हैं जिनकी आधुनिक भारत को आवश्यकता है और न वहाँ ऐसा उच्च कोटि का अनुसन्धान कार्य ही किया जा रहा है जो अन्य उन्नत राष्ट्रों में होने वाले कार्य के समकक्ष रखा जा सके।

भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षण-स्तर के नीचे होने के कई कारण हैं; जैसे, शिक्षण-कार्य में समन्वय का अभाव, अच्छी पाठ्य-पुस्तकों का अभाव, कक्षाओं में पर्याप्त स्थान का अभाव, विद्यार्थी-शिक्षक अनुपात की विषमता, शिक्षकों का निम्न ज्ञान-स्तर, विद्यार्थी व शिक्षक में वैयक्तिक सम्पर्क का अभाव, पुस्तकालयों व प्रयोगशालाओं की अपर्याप्तता, अधिकारियों की इन कठिनाइयों के दूर करने के सम्बन्ध में उदासीनता, शिक्षण के माध्यम की कठिनाई और परीक्षा-प्रणाली का दूषित एवं अविश्वस्त होना, इत्यादि।

अतः यह आवश्यक है कि तत्काल ही इन कठिनाइयों को दूर किया जाय। अच्छी पाठ्य-पुस्तकों की व्यवस्था की जाय, विद्यार्थियों के बैठने के लिए बड़े-बड़े पर्याप्त कमरे बनाये जायँ, अधिक शिक्षकों की नियुक्ति की जाय, कम विद्यार्थियों का

[13] *The Bulletin of International Association of Universities*, November 1962, quoted by Kothari Commission, *op. cit.*, p. 277.

प्रवेश कराया जाय और उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिये जायँ, शिक्षकों को ज्ञान-वर्द्धन की सुविधाएँ प्रदान की जायँ, उनके वेतन बढ़ाये जायँ और उनकी नियुक्ति योग्यता के आधार पर की जाय तथा पर्याप्त पुस्तकालय व प्रयोगशालाओं की सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायँ। शिक्षा के माध्यम में परिवर्तन होने से अवश्य ही कुछ काल के लिए ही शिक्षण-स्तर गिर गया है। इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक तो शिक्षकों को मातृभाषा का अच्छा ज्ञान नहीं है और वे अभी अंग्रेजी में पढ़ाने के लिए ही हठ करते हैं चाहे विद्यार्थी उनके भाषण को समझें अथवा नहीं। दूसरे, अच्छी व ऊँचे स्तर की पाठ्य-पुस्तकें भी मातृभाषाओं में उपलब्ध नहीं हैं। वास्तविक बात तो यह है कि विश्वविद्यालयों के शिक्षकों की वर्तमान पीढ़ी वह है जिन्होंने अपने जीवन भर अंग्रेजी के माध्यम से ज्ञान-अर्जन किया है। अब उन्हें सहसा भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ाने के लिए कहा जा रहा है। इससे उन्हें कठिनाई होती है। यह कठिनाई भारतीय भाषाओं में अच्छी पाठ्य-पुस्तकों के अभाव में और भी बढ़ जाती है। भारत के स्वतन्त्र होने से अब हमें यह सुअवसर प्राप्त हो गया है कि हम उसी भाषा में अपने विद्यार्थियों को शिक्षा दें जो उनके द्वारा बोली व समझी जाती है। अतः यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों के शिक्षक देश व समय की माँग के अनुसार अपने को ढालें। यह बात यथार्थ परिस्थितियों के प्रतिकूल होगी कि देश के भावी नागरिकों को हम एक अनिश्चित काल तक एक विदेशी भाषा में शिक्षा देते रहें। क्यों न भारतीय भाषाओं का पर्याप्त विकास किया जाय, उनमें अच्छी पुस्तकें लिखी जायँ, विश्व की अन्य भाषाओं, विशेषतः अंग्रेजी से अनुवाद किये जायँ और शिक्षकों को भी सम्बन्धित भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

आज देश में अंग्रेजी के समर्थक बहुधा यह तर्क देते हैं कि यदि अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम न रही तो विज्ञान एवं टेकनोलॉजी सम्बन्धी विषयों का शिक्षण न हो सकेगा। किन्तु जब विज्ञान एवं टेकनोलॉजी के क्षेत्र में जर्मनी, रूस व जापान इत्यादि देशों के द्वारा की गयी उन्नति पर विचार करते हैं तो यह तर्क अत्यन्त ही व्यर्थ व हास्यास्पद जान पड़ता है। वास्तव में, इन देशों ने जो कुछ भी उन्नति विज्ञान के क्षेत्र में की है वह अपनी भाषाओं के माध्यम से की है। वास्तविक समस्या तो यह है कि किसी भाषा में किस प्रकार का साहित्य उपलब्ध है अथवा सृजन किया जा सकता है। कोई कारण नहीं कि भारतीय भाषाओं, विशेषकर राष्ट्रभाषा हिन्दी में, उच्च कोटि का विज्ञान सम्बन्धी साहित्य नहीं लिखा जा सकता। अतः आवश्यक तो यह है कि भारतीय भाषाओं में विभिन्न विषयों में साहित्य उपलब्ध किया जाय, न कि माध्यम के सम्बन्ध में व्यर्थ के विवाद उत्पन्न करके समय व शक्ति का विनाश किया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भावी भारत में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ ही होंगी चाहें वे अभी पूर्णतः विकसित न हो पायी हों, न कि विदेशी भाषा, भले ही वह पर्याप्ततः विकसित हो। शिक्षण के स्तर को उठाने के लिए यह आवश्यक है।

शिक्षण-स्तर को उठाने के जो प्रयत्न इधर किये जा रहे हैं उनमें उच्च शिक्षा

की संस्थाओं में स्तर का समन्वय व निर्धारण प्रमुख है। भारत के संविधान में ही केन्द्रीय सरकार के ऊपर यह उत्तरदायित्व डाल दिया गया है। इसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार प्रदान कर दिया है कि वह विश्वविद्यालयों में स्तर को उठाने के हेतु आवश्यक कदम उठाये। इस उत्तरदायित्व का पालन विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन द्वारा किया जा रहा है। यह कमीशन विश्वविद्यालयों को अनुदान देकर शिक्षण के समन्वय की सुविधाएँ प्रदान करता है। साथ ही "कमीशन के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्यों के द्वारा विश्वविद्यालयों व कालेजों का निरीक्षण करके उन्हें अधिक सुविधाएँ प्रदान करने की सिफारिशें की जाती हैं। उपकुलपतियों के सम्मेलन तथा अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड के विभिन्न कार्यों के द्वारा भी विश्वविद्यालय शिक्षा में समन्वय लाने का प्रयास किया जा रहा है।

विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन ने डॉ० मुदालियर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी जिसने विश्वविद्यालयों में समन्वय स्थापित करने के साधनों पर विचार किया। गत कई वर्षों से शिक्षा मन्त्रालय ने विभिन्न विषयों के अध्यापकों, जैसे मनोविज्ञान, दर्शन, हिन्दी तथा संस्कृत इत्यादि के सम्मेलन किये हैं जहाँ इन विषयों में शिक्षण-स्तर के उठाने तथा पाठ्यक्रम में आवश्यक सुधार करने पर विचार-विमर्श किया गया है। अब इन सम्मेलनों के बुलाने का कार्य अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड को सौंप दिया गया है।

इनके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि सामान्य भाषण-पद्धति के साथ ही साथ ट्यूटोरियल पद्धति भी अपनायी जाय। इस समय भारत में थोड़े से विश्वविद्यालयों एवं कालेजों में ही ट्यूटोरियल प्रणाली अपनायी जा रही है। जहाँ है भी वहाँ बड़े अनमने ढंग से इसे चलाया जा रहा है। इसमें सुधार की तुरन्त आवश्यकता है।

विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन ने सिफारिश की थी कि ट्यूटोरियल कक्षाओं में छह से अधिक विद्यार्थी नहीं होने चाहिए अन्यथा इनका महत्त्व चला जाता है और वे नियमित भाषण-कक्षाएँ हो जाती हैं। इसका उद्देश्य है शिक्षकों व विद्यार्थियों में अधिक निकटतर समन्वय स्थापित करना। इसके लिए अधिक शिक्षकों की नियुक्ति एवं अधिक स्थान की आवश्यकता है।

इसी प्रकार विभिन्न विषयों पर विशेषत: पोस्ट-ग्रेजुएट स्तर पर सेमीनार करने की भी आवश्यकता है जहाँ तर्क-वितर्क के द्वारा विषयों को विद्यार्थियों के लिए अधिक सुगम व स्पष्ट कर दिया जाय। ट्यूटोरियल प्रणाली तथा सेमीनारों को क्रमश: विभिन्न स्तरों पर अपनाया जाना चाहिए और ज्यों-ज्यों साधन उपलब्ध होते जायँ, इस कार्यक्रम में वृद्धि कर देनी चाहिए। पोस्ट-ग्रेजुएट कोर्स के प्रतिभाशाली छात्रों तथा अनुसन्धान करने वाले विद्यार्थियों को ट्यूटोरियल कक्षाओं का कार्य दिया जा सकता है। हर्ष की बात है कि अनुदान कमीशन इसके लिए उचित कार्यक्रम अपना रहा है।

भारतीय विश्वविद्यालयों में स्तर गिरने का एक बड़ा कारण यह भी रहा है कि यहाँ विद्यार्थियों की संख्या में गत वर्षों में बहुत वृद्धि हुई है। इससे शिक्षक-

विद्यार्थी अनुपात दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है; विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होने के साथ ही साथ सुविधाओं में उस अनुपात से वृद्धि कम हुई है। कला के कालेजों में तो यह अनुपात वास्तव में अधिक है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश विद्यार्थी शिक्षकों के सीधे सम्पर्क में नहीं आ पाते।

विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए सभी कोटि के विद्यार्थियों को आज्ञा न मिलनी चाहिए। केवल योग्य व रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को ही डिग्री कक्षाओं में प्रवेश मिलना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर पाठ्यक्रम को बहुमुखी कर दिया जाय। दूसरे, यह भी आवश्यक है कि कम से कम छोटी व मध्यम कोटि की सार्वजनिक सेवाओं के लिए विश्वविद्यालय की डिग्री एक आवश्यक शर्त न समझी जाय। सरकार द्वारा नियुक्त एक समिति ने भी यही सुझाव दिया है।

एक अन्य सुझाव इस दृष्टि से हो सकता है—किसी भी कक्षा में प्रवेश पाने वाले विद्यार्थियों की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देना तथा शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात नियत कर देना। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने इस दिशा में कुछ कदम उठाये भी थे किन्तु तीन वर्ष का डिग्री कोर्स करने के लिए जो समिति नियुक्त की गयी थी उसकी सिफारिशों के फलस्वरूप उसमें पर्याप्त परिवर्तन कर दिये गये। इस समिति ने सिफारिश की है कि "विद्यार्थियों की संख्या प्रति कॉलेज में 800 से 1000 तक नियत कर देनी चाहिए। जिन कालेजों में विद्यार्थियों की संख्या तो अधिक है, किन्तु उनके बैठने के लिए स्थान का अभाव है, उन्हें वर्तमान संख्या को ही अधिकतम संख्या मानकर स्थिरीकरण कर देना चाहिए और भविष्य में अपने विद्यार्थियों को क्रमशः कम करने की ऐसी योजना बनानी चाहिए जिससे वांछित सीमा तक विद्यार्थी रह जायँ।"

खेद का विषय है कि विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन ने उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अभी तक कोई भी सक्रिय कदम नहीं उठाये हैं। केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने इस प्रश्न पर विचार किया था। बोर्ड का मत है कि "उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी को अधिकतर इस बात को देखकर निर्णय करना चाहिए कि उसमें उच्च शिक्षा पाने की प्रतिभा है या नहीं, और वह उससे लाभान्वित होगा या नहीं।" यह आशा की जाती है कि यदि इसे ठीक प्रकार से कार्यान्वित किया जाय तो कालेजों की भीड़ कम करने में सहायता मिल सकती है और शिक्षा का मापदण्ड भी ऊँचा उठ सकता है।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कोठारी शिक्षा आयोग ने भी प्रवेश-नीति पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि अधिकांश कालेजों में कला तथा वाणिज्य के विद्यार्थियों के प्रवेश के सम्बन्ध में गत तीनों पंचवर्षीय आयोजनों में प्रवेश की मुक्त-द्वार (open-door) नीति का पालन करने का परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा संस्थाओं में भीड़ बढ़ गयी है जिसे रोकना आवश्यक है। इसके लिए आयोग ने छाँटकर प्रवेश (selective admissions) करने की सिफारिश की है। "इस निष्कर्ष का, जो प्रमुखतः दो बातों पर निर्भर है—साधनों की कमी तथा शिक्षा-प्रणाली के उत्पादन को श्रम-शक्ति की माँग से सम्बन्धित करना, समर्थन शैक्षिक आधार पर भी किया जा सकता है।

उच्च शिक्षा मापदण्ड ऊँचा होने लगेगा यदि प्रवेश के लिए विद्यार्थियों में स्पर्द्धा होगी और उनका चुनाव योग्यता के आधार पर किया जायगा।......जनता का मत भी इस पक्ष में अब बढ़ता जा रहा है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश छाँट के आधार पर हो। अतः इस सुधार को शीघ्रातिशीघ्र लागू करना चाहिए।"

शिक्षा का मानदण्ड उठाने के अन्य उपायों में अच्छे पुस्तकालयों एवं प्रयोगशालाओं की व्यवस्था भी उल्लेखनीय है। पुस्तकालय किसी शिक्षा संस्था का मस्तिष्क होता है। अतः पुस्तकालयों के निर्माण एवं पुस्तकों के खरीदने में एक दीर्घकालीन नीति का पालन करना चाहिए। विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन को चाहिए कि वह राज्य सरकार तथा विश्वविद्यालयों की सलाह से पुस्तकालयों के विकास के लिए अल्पकालीन व दीर्घकालीन योजनाएँ बनाकर कार्यान्वित कराये।

इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि शिक्षा व राष्ट्र के हित में अनावश्यक छुट्टियों को काट दिया जाय और काम करने के दिनों की संख्या बढ़ायी जाय। राधाकृष्णन कमीशन ने परीक्षा के दिनों को छोड़कर काम करने के दिनों की संख्या 180 नियत की थी। अनुदान समिति की धारण है कि क्रमशः यह संख्या 240 पर नियत कर देनी चाहिए।

शिक्षा का मानदण्ड उठाने के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय के योग्य व प्रसिद्ध शिक्षकों का एक-दूसरे में विनिमय किया जाय।

कोठारी आयोग ने सिफारिश की है कि यदि देश में लगभग आधे दर्जन आदर्श विश्वविद्यालय (major universities) स्थापित कर दिये जायँ, जहाँ शिक्षण-स्तर ऊँचा रखा जाय तो इनका प्रभाव अन्य विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में भी अच्छा पड़ेगा। यद्यपि ऐसे विश्वविद्यालयों की स्थापना से हम सहमत नहीं हैं, तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उच्च शिक्षा के गिरते हुए मानदण्ड को ऊँचा उठाने की अविलम्ब आवश्यकता है और उसके लिए सभी सम्भव उपायों को करना चाहिए।

### (आ) विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान

भारतीय विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान व खोज का कार्य वर्तमान शताब्दी की द्वितीय दशाब्दी में प्रारम्भ हुआ था, किन्तु इन वर्षों में कोई आश्चर्यजनक सफलता नहीं मिल सकी है। कुछ थोड़े से अनुसन्धानों को छोड़कर शेष सभी व्यर्थ व निम्न कोटि के हैं। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त अवश्य विभिन्न विषयों में अनुसन्धान की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। फलतः अब अनुसन्धान के आकार तथा श्रेष्ठता दोनों में वृद्धि हो रही है। अनुसन्धान करने वाले विद्यार्थियों को पी-एच. डी., डी. फिल., डी. एन-सी. तथा डी. लिट. इत्यादि की उपाधियों से भी विभूषित किया जाता है।

कोठारी शिक्षा आयोग के मतानुसार अन्य उन्नत देशों की तुलना में भारत विज्ञान, टेकनोलॉजी तथा वैज्ञानिक अनुन्धान के क्षेत्र में काफी पिछड़ा हुआ है। भारत में सन् 1966 में विज्ञान तथा टेकनोलॉजी में 540 अनुसन्धान करने वाले छात्रों को डॉक्टरेट की डिग्री प्रदान की गयी थी, जबकि अमेरिका में इसी वर्ष केवल मात्र फिजिक्स

में 700 लोगों को पी-एच. डी. प्रदान की गयी थी। वस्तुतः भारत में एम. एस-सी. के विद्यार्थियों की संख्या अमरीका के विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी के पी-एच. डी. के विद्यार्थियों से भी कम है। इस समय वहाँ पी-एच. डी. छात्रों की संख्या सात हजार के लगभग है जिसके सन् 1970 में तेरह हजार हो जाने की आशा है। भारत में कुल राष्ट्रीय उत्पादन (gross national project) का केवल 0·1% अनुसन्धान तथा विकास पर सन् 1960 में व्यय होता था, जबकि अमेरिका में 2·8%, रूस में 2·3%, जापान में 1·6%, इंगलैण्ड में 2·7% तथा फ्रांस में 2·1% व्यय होता था। प्रति व्यक्ति व्यय के अनुसार भारत में 0·1 डालर की तुलना में अमरीका में 78·4 डालर, रूस में 36·4 डालर, जापान में 6·2 डालर, इंगलैण्ड में 35·4 डालर तथा फ्रांस में 27 डालर व्यय होता था। इन तुलनाओं से भारत की अनुसन्धान-क्षेत्र में सापेक्षिक निम्न स्थिति का अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है। सन् 1963 में अमरीकी व्यय प्रति व्यक्ति अनुसन्धान तथा विकास पर बढ़कर 93·7 डालर हो गया है।

इस मन्द प्रगति के कई कारण हैं। प्रथमतः, अच्छे व मेधावी विद्यार्थी व शिक्षक रिसर्च कार्य छोड़कर भी उच्च सरकारी नौकरियों में चले जाते हैं।[14] दूसरे, हमारे देश के विश्वविद्यालयों एवं अनुसन्धानशालाओं में रिसर्च सम्बन्धी सज्जा, साहित्य तथा प्रयोगशालाओं का अभाव है। साथ ही उच्च कोटि के विद्वान लोगों का भी अभाव है जो रिसर्च कार्य में मार्ग-दर्शन कर सकें। प्रायः शिक्षकगण रिसर्च में कोई दिलचस्पी नहीं लेते, इस कारण बहुत-से विद्यार्थी दुखी होकर बीच में रिसर्च का कार्य छोड़ देते है। किसी आर्थिक सहायता के अभाव में उनमें इतनी शक्ति या उत्साह नहीं रह जाता कि कार्य को पूरा करें, यदि किसी भी प्रकार पूरा करना ही पड़ता है तो यथासम्भव उसे शीघ्र समाप्त करने का प्रयास किया जाता है, फलतः उसका मानदण्ड व श्रेष्ठता गिर जाते हैं। इन विषम परिस्थितियों में कोई भी उच्च कोटि का अनुसन्धान गम्भीरता-पूर्वक नहीं हो सकता।

दुर्भाग्य से विश्वविद्यालयों में होने वाले अनुसन्धान के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचना का अभाव है। "सूचना का यह अभाव सम्भवतः राष्ट्रीय अनुसन्धान तथा शिक्षा सम्बन्धी क्रियाओं के ढाँचे में विश्वविद्यालयों में होने वाले अनुसन्धान की सापेक्षिक अवहेलना का कारण भी है और परिणाम भी। अतः यह बात हम विशेप जोर देकर कहना चाहेंगे कि भारत में यू. जी. सी. संगठन के अन्तर्गत सभी उपलब्ध उन्नत प्रणालियों द्वारा उत्पादित सभी सूचना निरन्तर उपलब्ध होनी चाहिए और भारतीय समाज पर इस अनुसन्धान के प्रभाव के विषय में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। इतना ही नहीं विज्ञान मौलिक रूप से विश्वव्यापी तथा राष्ट्रों की परिधि से ऊपर है अतः राष्ट्रीय

14 *Cf.* "Too often now-a-days further degrees are pursued by the madiocre or unfortunate who have failed to get employment: they are frustrated and uneasy and often have little to contribute."—Williams, N. E.: *My Idea of a University*, *op. cit.*, p. 7.

अनुसन्धान-नीति के निर्माण तथा शिक्षा-नीति से इसके सम्बन्ध के विषय में अन्य देशों, विशेषतः रूस, अमरीका, जापान तथा चीनी-गणतन्त्र में होने वाले विकास का समुचित अध्ययन तथा उसकी तुलना करनी चाहिए।"[15]

कोठारी आयोग के मतानुसार भारतीय शिक्षा तथा अनुसन्धान की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि देश के विश्वविद्यालयों ने अनुसन्धान के क्षेत्र में बहुत कम योग-दान किया है जो हमारी क्षमताओं और आवश्यकताओं को देखते हुए पहले से ही बहुत निम्न स्तर पर है। विदेशी सरकार ने भारत में अनुसन्धान के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं किये, तथापि देश के तत्कालीन इतिहास के कुछ विश्वविख्यात वैज्ञानिकों के नाम का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु यह केवल अपवाद मात्र है। कुल मिलाकर हमारे देश के विश्वविद्यालय इस दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े रहे। जो कुछ अनुसन्धान वहाँ हुआ, उसका देश के विकास तथा देश की वैज्ञानिक, तकनीकी, आर्थिक एवं औद्योगिक समस्याओं के हल करने में कोई व्यावहारिक (applied) महत्त्व नहीं है, किन्तु अब वह समय आ गया है जब उच्च अध्ययन तथा अनुसन्धान को विश्वविद्या-लयों में सर्वोच्च प्राथमिकता तथा सहायता देनी चाहिए और अनुसन्धान के प्रोत्साहन को राष्ट्रीय रक्षा-नीति का प्रमुख लक्ष्य बना लेना चाहिए। वस्तुतः यह समस्या देश में भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों और टेकनोलॉजी के विकास का एक केन्द्रीय बिन्दु है। अनुसन्धान का मूल स्रोत विश्वविद्यालय ही है अतः देश में अनुसन्धान की श्रेष्ठता का स्तर निर्धारित करना विश्वविद्यालयों का प्रमुख कर्तव्य है।

**(इ) अध्ययन-सामग्री**

(1) **पाठ्यक्रम**—भारतीय विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम की समस्या ने लगभग गत अर्द्ध-शताब्दी से सम्बन्धित व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित कर रखा है। यह बात सत्य है कि भारतीय विश्वविद्यालयों में एक दीर्घकाल से पाठ्यक्रम में शुद्ध सैद्धान्तिक व साहित्यिक विषयों की प्रधानता रही है। इस सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है। आज जब हमारे सम्मुख एक नये निर्माण का स्वप्न है, यह आवश्यक है कि हमें मानवशास्त्रों व विज्ञानों के अध्ययन के साथ ही साथ टेकनोलॉजी, इन्जीनियरी, औद्योगिक शिक्षा तथा अन्य ऐसे विषयों का समावेश पाठ्यक्रम में करना होगा जिनका जीवन तथा देश के निर्माण में व्यावहारिक महत्त्व है। साहित्य तथा मानवशास्त्रों के अध्ययन से जहाँ विद्यार्थियों का आध्यात्मिक व नैतिक विकास होगा और भारत की परम्परागत सांस्कृतिक मान्यताओं व दर्शन से परिचय प्राप्त होगा, वहाँ टेकनीकल व व्यावसायिक विषयों के अध्ययन से देश का भौतिक निर्माण होगा जो देश की बदलती हुई परिस्थितियों की माँग है।

(2) **त्रिवर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम**—सन् 1919 में ही कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने प्रथम डिग्री पाठ्यक्रम को अधिक ठोस करने के उद्देश्य से तीन वर्ष के

[15] *Report of the Education Commission*, p. 408.

डिग्री कोर्स की सिफारिश की थी। उसके उपरान्त सार्जेण्ट योजना, राधाकृष्णन कमीशन तथा माध्यमिक शिक्षा कमीशन ने भी इण्टर कक्षाएँ तोड़कर तीन वर्ष के डिग्री कोर्स प्रारम्भ करने की सिफारिश की है। सन् 1953 में 'यूनीवर्सिटी सर्वे कमीशन' तथा उसके उपरान्त होने वाले विभिन्न शिक्षा-सम्मेलनों में इस बात का समर्थन किया गया है। विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन इस दिशा में विशेष रूप से कार्यशील है।

वास्तव में, कुछ तो धनाभाव के कारण और कुछ जनमत के अभाव में इस दिशा में अब केवल नाममात्र की प्रगति हुई है। अनुमान समिति ने इसमें होने वाली देरी के निम्नलिखित कारण बताये हैं :

(अ) शिक्षा के प्रान्तीय विषय होने के कारण बिना राज्य सरकारों के पूर्ण सहयोग के केन्द्रीय सरकार को कोई भी कदम उठाना असम्भव था;

(आ) अण्डर-ग्रेजुएट पाठ्यक्रम के पुनर्संगठन के मार्ग में एक बाधा यह रही कि विभिन्न विश्वविद्यालयों में मतभेद रहा और प्रत्येक में विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम हैं; तथा

(इ) विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के पुनर्संगठित करने से पूर्व यह आवश्यक है कि माध्यमिक पाठ्यक्रम का पुनर्संगठन किया जाय।

सितम्बर 1959 में होने वाले शिक्षा मन्त्रियों के सम्मेलन की सिफारिशों के फलस्वरूप भारत सरकार ने विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन के अध्यक्ष की अध्यक्षता में विश्वविद्यालयों तथा सम्बन्धित कालेजों में तीन वर्ष डिग्री पाठ्यक्रम को प्रारम्भ करने में होने वाले व्यय का अनुमान लगाने तथा इस सम्बन्ध में अन्य किसी सम्बन्धित समस्या पर विचार करने के उद्देश्य से एक समिति नियुक्त की थी।

इस समिति ने सिफारिश की है कि भारत सरकार को चाहिए कि इसके लिए विश्वविद्यालय को अपना अनुदान तभी दे जबकि विश्वविद्यालय तीन वर्ष का पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने का निर्णय कर ले और सरकार अपने साधनों अथवा वैयक्तिक साधनों से व्यय का अपना हिस्सा देने के लिए तैयार हो।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों तथा सम्बन्धित कालेजों में अण्डर-ग्रेजुएट स्तर पर शिक्षा का सुधार करने के उद्देश्य से तीन वर्ष का डिग्री पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने को पाँच करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी। दिल्ली विश्वविद्यालय के अतिरिक्त, जहाँ तीन वर्ष का पाठ्यक्रम सन् 1941 में ही लागू कर दिया गया था, अन्नामलाई, बनारस, बिहार, कलकत्ता, जादवपुर, मद्रास, सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ, राजस्थान, सागर, श्री वेंकटेश्वर, एस एन. डी. टी., केरल, उस्मानिया, अलीगढ़, नागपुर तथा बड़ौदा विश्वविद्यालयों ने या तो पहले से ही तीन वर्ष का पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर दिया है अथवा ऐसा करने के लिए उन्होंने स्वीकृति दे दी है। इनके अतिरिक्त इलाहाबाद, गौहाटी, गुजरात, जम्मू व काश्मीर, कर्नाटक, कुरुक्षेत्र, लखनऊ, पूना, पंजाब, उत्कल तथा पटना विश्वविद्यालय सिद्धान्ततः इससे सहमत हो गये हैं। अतः आवश्यक है कि शिक्षा का स्तर उठाने और सम्पूर्ण भारत में उच्च शिक्षा को एकसा ही धरातल प्रदान करने के उद्देश्य से शेष विश्वविद्यालयों को भी अविलम्ब राजी कर लिया जाय।

(3) सामान्य शिक्षा[16]—हमारे देश में शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न विषयों में विशिष्टता प्राप्त करने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इसके विषय-प्रवेश में तो विद्यार्थी को दक्षता प्राप्त हो जाती है किन्तु उसकी शिक्षा की पृष्ठभूमि संकीर्ण हो जाती है। अतः उसको एक उत्तरदायी नागरिक और एक सम्भ्रान्त व्यक्ति बनाने के उद्देश्य से सभी उच्च शिक्षा संस्थाओं में सामान्य शिक्षा की पढ़ाई प्रारम्भ कर देनी चाहिए जिससे अपने प्रमुख अध्ययन विषयों के अतिरिक्त उसे अन्य विषयों का भी ज्ञान हो जाय। सामान्य शिक्षा का उद्देश्य कालेजों के वर्तमान पाठ्यक्रम में असन्तुलन एवं अनुचित विशिष्टीकरण के दोषों को दूर करना है। इन दोषों का परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी भौतिक विज्ञानों को तो पढ़ लेता है किन्तु सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन के आधारभूत विचारों से अनभिज्ञ रहता है। जो विद्यार्थी मानवशास्त्रों व समाजशास्त्र का अध्ययन करते हैं वे भौतिक विज्ञानों के ज्ञान से शून्य रहते हैं। वे यह भी नहीं जान पाते कि आधुनिक विचारधारा तथा जीवन पर विज्ञानों का क्या प्रभाव पड़ा है और उनकी क्या देन है।

अतः हमारी वर्तमान शिक्षा का यह उद्देश्य हो जाता है कि देश के वर्तमान विकास कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए उचित प्रकार के व्यक्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त वह ऐसे नागरिक भी उत्पन्न करे जो जनतन्त्र से परिचित हों और आर्थिक, सामाजिक तथा टेकनोलॉजीकल परिवर्तनों के प्रति जागरूक हों। ऐसा करने पर ही हमारे नवयुवकों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकेगा और वे जीवन में आने वाली प्रत्येक परिस्थिति का साहस व आत्मविश्वास के साथ सामना करने में समर्थ हो सकेंगे।

सन् 1949 में विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन ने सामान्य शिक्षा का सूत्रपात करने की सिफारिश की थी। भारत सरकार ने सन् 1953 में भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों से आठ शिक्षकों का एक शिष्टमण्डल इंगलैण्ड तथा अमरीका के प्रमुख विश्वविद्यालयों में सामान्य शिक्षा का अध्ययन करने और भारतीय विश्वविद्यालयों के लिए सामान्य शिक्षा का एक पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए भेजा था। तत्पश्चात इस टीम की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए हैदराबाद, बड़ौदा, दिल्ली, अलीगढ़ तथा कलकत्ता में कई क्षेत्रीय सम्मेलन हुए, जहाँ अधिकांश विश्वविद्यालय अण्डर-ग्रेजुएट स्तर पर सामान्य शिक्षा का पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने को सन्नद्ध हो गये। ऐसे विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों का एक शिष्टमण्डल पुनः सन् 1956-57 में 'इण्डिया ह्वीट लोन एजूकेशन एक्सचेंज' कार्यक्रम के अन्तर्गत भेजा गया। सन् 1957-58 में विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन ने 1 लाख 41 हजार रुपये का अनुदान सामान्य शिक्षा के लिए दिया जिसमें अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सामान्य शिक्षा की अध्ययन सामग्री तैयार करने के लिए तीस हजार रुपये की एक परियोजना भी सम्मिलित थी। दुर्भाग्य से एक लाख

[16] General Education.

रुपये के अनुदान का उपयोग नहीं हो सका और वह मारा गया। कुछ सेमीनारों के अतिरिक्त आज तक सामान्य शिक्षा का पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में कोई प्रगति नहीं हुई। वास्तव में, यह आशा की जा रही है कि जब तक विश्वविद्यालयों में तीन वर्ष के डिग्री पाठ्यक्रम का प्रमुख प्रश्न पूर्णतः हल नहीं हो जाता, सामान्य शिक्षा का कार्यक्रम अधिक प्रगति कर भी नहीं सकता। तृतीय आयोजन में इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई है।

**(ई) विद्यार्थियों के कार्यक्रम तथा उनका कल्याण**

विश्वविद्यालय का प्रमुख कर्तव्य नवयुवकों को उचित सुअवसर प्रदान करके उनकी सृजनात्मक शक्तियों का विकास तथा उनके मस्तिष्कों के संस्कारों का परिष्कार करना है। किसी भी जनतन्त्र की रक्षा के लिए विशाल सेना की अपेक्षा शिक्षित नागरिक अधिक महत्त्व रखते हैं। विद्यार्थी का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि विश्व-विद्यालय में उसे मिट्टी के घरोंदे की तरह ठोक-पीटकर कोई भी रूप प्रदान कर दिया जाय, वरन् विश्वविद्यालय का अस्तित्व ही इसलिए है कि वहाँ विद्यार्थी-समाज का शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास किया जाय। विश्वविद्यालय में शिक्षा विद्यार्थी के ऊपर थोपी नहीं जानी चाहिए, वरन् यह उसके लिए आनन्द, हर्ष एवं प्रकाश का स्रोत होना चाहिए।

दुर्भाग्य से हमारे देश में विद्यार्थियों के कार्यक्रमों एवं उनके कल्याण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। आज जिस प्रवृत्ति की निन्दा हम अनुशासनहीनता अथवा विद्यार्थियों के असन्तुलित व्यक्तित्व के नाम से करते हैं उसके लिए अधिकांश में उनके हितों व कल्याण कार्यों की अवहेलना ही उत्तरदायी है। यदि हम चाहते हैं कि वे शिक्षा की ओर आकर्षित हों तथा सुसंस्कृत, सन्तुष्ट तथा सुशील नागरिक बनें तो यह आवश्यक है कि उनके लिए हम समुचित स्वास्थ्य-रक्षा के साधन, छात्रावासों में आवास व पौष्टिक भोजन की सुव्यवस्था, पर्याप्त व सामयिक चिकित्सा की सुविधाएँ, शारीरिक विकास के लिए पर्याप्त सुअवसर तथा जनतन्त्र एवं स्वायत्त शासन के लिए सुविधाएँ उपलब्ध करें।

विश्वविद्यालय कमीशन ने इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और अपने सुनिश्चित सुझाव दिये हैं। संक्षेप में, इन सुझावों को नीचे दिया जा रहा है :

(1) विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में विद्यार्थियों का प्रवेश बिना किसी भेद-भाव के केवल योग्यता के आधार पर होना चाहिए। छात्रवृत्ति का आधार भी योग्यता तथा आर्थिक कठिनाई होनी चाहिए।

(2) प्रवेश के समय प्रत्येक विद्यार्थी की निःशुल्क डाक्टरी परीक्षा होनी चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के लिए चिकित्सालय तथा डिस्पेंसरी होनी चाहिए। अध्यापकों तथा अन्य कर्मचारियों, विशेषतः ऐसे कर्मचारियों की जिनका भोजन बनाने व परोसने से सम्बन्ध है, नियमित डाक्टरी परीक्षा होनी चाहिए। छात्रावासों, भोजनालयों, विश्वविद्यालय-भवन तथा कक्षाओं का स्वास्थ्य विभाग के लोगों के द्वारा निरीक्षण

होते रहना चाहिए। मध्याह्न में विद्यार्थियों के लिए सस्ते व पौष्टिक भोजन की व्यवस्था विश्वविद्यालय की ओर से होनी चाहिए। छूत की बीमारियों तथा महामारियों से बचने के लिए विद्यार्थियों को टीका लगवाना चाहिए।

(3) एक राज्य में कम से कम एक विश्वविद्यालय में शारीरिक शिक्षा संचालकों को प्रशिक्षण देने के लिए एक पोस्ट-डिग्री पाठ्यक्रम खोल देना चाहिए जिसमें डाक्टरेट प्राप्त करने की भी सुविधाएँ हों। ऐसे संचालकों की नियुक्ति विभाग-अध्यक्ष के पद पर प्रत्येक विश्वविद्यालय में होनी चाहिए। खेल-कूद, व्यायाम के लिए सज्जा व मैदान इत्यादि की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए दो वर्ष तक शारीरिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए।

(4) नेशनल कैडेट कोर को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(5) समाज-सेवा को शुद्ध स्वेच्छा के आधार पर प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

(6) प्रत्येक विश्वविद्यालय में छात्रावासों का एक मानदण्ड स्थिर कर देना चाहिए। छात्रावासों में स्वास्थ्य, सफाई, व्यायाम, खेलकूद, मनोरंजन तथा पौष्टिक भोजन की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए।

(7) छात्र संघों को राजनीतिक प्रभावों से पूर्णतः मुक्त होना चाहिए। ये संघ विद्यार्थियों के सामाजिक जीवन के केन्द्र तथा उनके सभी संगठनों से सम्बन्धित होने चाहिए। यह अत्यन्त आवश्यक है कि छात्र संघों का संचालन केवल विद्यार्थियों के द्वारा ही बिना किसी बाह्य हस्तक्षेप के उन्हीं के कल्याण के लिए होना चाहिए।

(8) विद्यार्थियों को दलगत राजनीति के स्थान पर सु-शासन में रुचि लेनी चाहिए। प्रौक्टर-प्रथा में सुधार करके विद्यार्थियों पर अधिक से अधिक उत्तरदायित्व डाला जाना चाहिए। यह एक प्रकार से उनकी सरकार होनी चाहिए जो उनके लिए सभी प्रबन्ध की देखभाल करेगी। साथ ही यह भी आवश्यक है कि शिक्षक, अभिभावक, राजनीतिक नेता, जनता तथा प्रेस इन सभी कार्यों में विद्यार्थियों से सहयोग करें और सहानुभूतिपूर्वक उनकी समस्याओं पर चिन्तन करें।

(9) कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में 'डीन ऑफ स्टूडेण्ट वेलफेयर' नामक विभाग खोल देना चाहिए।

(10) जिन विश्वविद्यालयों में अभी तक 'विद्यार्थी-कल्याण सलाहकार बोर्ड' की स्थापना नहीं हुई है, वहाँ इसकी स्थापना कर देनी चाहिए।

राधाकृष्णन कमीशन की उपर्युक्त सिफारिशें विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता की समस्या को सुलझाने तथा उनमें उत्तरदायित्व, आशावाद, न्याय, आत्मसम्मान, आत्म-निर्भरता, गौरव एवं नागरिकता की भावनाओं का विकास करने में बहुत सहायक होंगी।

विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन ने विभिन्न विश्वविद्यालयों में स्वास्थ्य-केन्द्र स्थापित करने का प्रस्ताव किया है। इन स्वास्थ्य-केन्द्रों के चिकित्सा सम्बन्धी सामान्य कार्यों के अतिरिक्त प्रत्येक विद्यार्थी के स्वास्थ्य का रिकार्ड भी रखा जायगा जहाँ से आवश्यकता पड़ने पर अधिकारियों को स्वास्थ्य सम्बन्धी आँकड़े भी उपलब्ध हो सकेंगे।

जहाँ तक शारीरिक शिक्षा की सुविधाओं का प्रश्न है, यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि इस समय भारत में यूरोप, अमरीका तथा संसार के अन्य उन्नत देशों की तुलना में इसकी सुविधाएँ भारत में बहुत कम हैं। सज्जा व क्रीड़ास्थलों का यहाँ बहुत अभाव है। किन्तु इस दिशा में विश्वविद्यालय अधिकारियों का ध्यान जाने लगा है।

विद्यार्थियों के कार्यक्रमों का वर्णन करते समय यह भी आवश्यक है कि समाज-सेवा के विषय में कुछ शब्द कह दिये जायँ, जो हमारे विद्यार्थी समाज तथा स्वयं के हित में कर सकते हैं। देश में औद्योगीकरण की वृद्धि तथा भारतीय नगरों में उच्च शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण लगभग एक शताब्दी से भारत के गाँव क्रमश: अच्छे नागरिकों से खाली होते चले जा रहे हैं। यह एक दुरूह समस्या है। ग्रामीण क्षेत्रों से शिक्षा तथा उद्यम की खोज में आये हुए हमारे नवयुवक शिक्षा पाने के उपरान्त अब नगरों में ही बस जाते हैं, जहाँ उद्यम के साथ ही साथ उन्हें जीवनयापन की सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं। इस प्रवृत्ति के कारण ग्रामीण तथा नागरिक जनता के बीच की खाई दिन-प्रतिदिन चौड़ी होती चली जा रही है। जो शिक्षा वे नगरों में प्राप्त करते हैं वह उन्हें गाँवों से सदा के लिए पृथक कर देती है। अत: यह आवश्यक है कि शिक्षा तथा ग्रामीण समस्याओं के बीच में कुछ समन्वय स्थापित किया जाय।

इसलिए यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों तथा सम्बन्धित कालेजों में डिग्री प्राप्त करने से पूर्व प्रत्येक विद्यार्थी के लिए समाज-सेवा का एक निश्चित कार्यक्रम पूर्ण करना अनिवार्य कर दिया जाय। इन कार्यक्रमों में गाँवों की सड़कें बनाना, नालियाँ बनाना, कुएँ खोदना, बाँध बनाना, गलियाँ चौड़ी करना, भूमि-संरक्षण तथा वृक्षारोपण इत्यादि लड़कों के लिए और स्वास्थ्य व सफाई, सामाजिक शिक्षा, शिशुपालन व वैयक्तिक स्वच्छता इत्यादि के कार्य लड़कियों के लिए सम्मिलित किये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त देश की पंचवर्षीय योजनाओं तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को भी अण्डर-ग्रेजुएट पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषयों के रूप में सम्मिलित किया जा सकता है। सन् 1966 में शिक्षा मंत्रालय ने राष्ट्रीय सेवादल (National Service Corps) की स्थापना की घोषणा की थी जिसे आंशिक रूप से कार्यान्वित भी किया जा रहा है।

श्रमदान के रूप में समाज-सेवा करने के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि हमारे जरूरतमन्द विद्यार्थियों के हित के लिए कुछ आर्थिक साधन उपलब्ध करने के उद्देश्य से विद्यार्थी जीवन में कुछ उद्यमों की सुविधाएँ भी उपलब्ध की जायँ। अमरीका इत्यादि देशों में विद्यार्थियों को ऐसी पर्याप्त सुविधाएँ मिल जाती हैं। भारत में एक तो ऐसी सुविधाओं का अभाव है, दूसरे हाथ से काम करना अब भी हेय दृष्टि से देखा जाता है। किन्तु इतना अवश्य है कि यदि पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध कर दी जायँ तो हमारे नवयुवकों की मनोवृत्ति भी शीघ्र बदल सकती है और वे हाथ से कार्य करने के लिए तत्पर हो सकते हैं।

इधर भारतीय विश्वविद्यालयों में समाज-सेवा कार्यक्रमों के अन्तर्गत कुछ प्रगति हुई है। विद्यार्थियों के मस्तिष्क में समाज-सेवा की भावना भरने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों

में युवक शिविरों का संगठन करने के उद्देश्य से कालेजों तथा विश्वविद्यालयों को अनुदान दिया जाता है। इसके लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत श्रम तथा समाज-कल्याण शिविर योजना[17] चलायी गयी थी जो अब नहीं चल रही है। इन योजनाओं के अन्तर्गत विकास अधिकारियों के सहयोग से विकास खण्डों तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की ओर से दस दिन से लेकर तीन सप्ताह तक के शिविर लगाये जाते थे।

एक अन्य परियोजना के अनुसार जिसका नाम 'कैम्पस वर्क प्रोजेक्ट' है, विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के श्रमदान से विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के लिए मनोरंजन-भवन, क्रीड़ास्थल, तैरने का तालाब तथा ओवल सिण्डर ट्रैक इत्यादि बनाये जाते हैं। इसके व्यय के लिए विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन की ओर से पचहत्तर प्रतिशत व्यय मिलता है। सम्बन्धित कॉलेज या विश्वविद्यालय को केवल पच्चीस प्रतिशत देना होता है। इस क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण कार्य योजना के अन्तर्गत किये जा रहे हैं उनमें तरुणों के लिए क्रीड़ास्थलों, तैराकी के लिए तालाबों, स्टेडियमों तथा खुले हुए थियेटरों का निर्माण विशेषतः उल्लेखनीय है। इन संस्थाओं को अब और अधिक विकसित किया जा रहा है। यहाँ तरुणों को विभिन्न खेलों में प्रशिक्षण देने तथा उसके लिए प्रशिक्षण देने वाले शिक्षकों को तैयार करने की व्यवस्था है।

विद्यार्थियों के कल्याण के सम्बन्ध में कोठारी शिक्षा आयोग ने भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। आयोग का मत है कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का एक प्रमुख दोष है विद्यार्थियों की कल्याण-सुविधाओं का अभाव। विद्यार्थियों की सेवाएँ केवल मात्र कल्याणकार्य ही नहीं, वरन् शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है। आयोग के मतानुसार प्रमुख सेवाएँ जो विद्यार्थियों को प्रदान करनी चाहिए ये हैं:—नये छात्रों का शुभारम्भ (orientation), स्वास्थ्य सेवाएँ, छात्रावास की सुविधाएँ, मार्गदर्शन तथा व्यावसायिक सलाह, खेलकूद, सांस्कृतिक तथा अन्य छात्र-कार्यक्रम और वित्तीय सहायता इत्यादि। सन् 1966-67 के सत्र में सम्पूर्ण देश में, विशेषकर उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में छात्रों में व्याप्त असन्तोष के विभिन्न उदाहरण सम्मुख आये। जहाँ पर इस असन्तोष के कुछ कारण राजनीतिक अथवा गलतफहमी पर आधारित हैं, वहाँ पर अधिकांश कारण छात्र वर्ग को होने वाली वास्तविक कठिनाइयाँ हैं। उसके लिए पुस्तकालयों, छात्रावासों, खेलकूद तथा मनोरंजन, स्वास्थ्य, अनुसन्धान इत्यादि सुविधाओं के घोर अभाव के साथ ही साथ छात्रावासों के कुप्रबन्ध, आर्थिक कठिनाइयाँ और सबसे ऊपर भविष्य के विषय में अनिश्चितता एवं भावी अन्धकार की सम्भावना इत्यादि ने छात्र वर्ग में दुर्दमनीय रोष, निराशा एवं असन्तोष भर दिया है, जो बहुधा हिंसात्मक रूप धारण करने लगा है। अतः उनके लिए कल्याणकारी सुविधाएँ प्रदान करके ही समस्या को हल किया जा सकता है।

17 Scheme of Labour and Social Welfare Camps.

(उ) विश्वविद्यालय स्वायत्त-सत्ता[18]

विश्वविद्यालयों के स्वायत्त अधिकारियों का प्रश्न जितना गत बीस वर्षों में विवादास्पद हो गया है उतना भारत में पहले कभी नहीं रहा। दुर्भाग्य से अधिकांश भारतीय विश्वविद्यालयों का नियन्त्रण व प्रबन्ध ऐसे दलों व गुटों के हाथों में जा पड़ा है जो जातिवाद, प्रान्तीय अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य निम्न कोटि की दलगत राजनीति के आधार पर, कुछ स्वार्थी लोगों ने अपने तथा अपने गुट के स्वार्थ व लाभ के लिए संगठित कर लिये हैं। इन गुटों ने विश्वविद्यालयों में अत्यन्त निम्न कोटि की विषैली राजनीति को जन्म दिया है।

वस्तुतः इसी पृष्ठभूमि के आधार पर हमें विश्वविद्यालय स्वायत्तता के सम्पूर्ण प्रश्न पर दृष्टिपात करना है। किसी भी देश में विश्वविद्यालय का अपना एक उद्देश्य व एक निर्दिष्ट लक्ष्य होता है। विश्वविद्यालय को समाज तथा समाज को बनाने वाले व्यक्तियों की आवश्यकताओं की खोज करनी होती है। अतः यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालय ज्ञान की खोज के कर्तव्य का पालन निर्बाध रूप से करें तथा बिना किसी भी बाह्य हस्तक्षेप के समाज की आवश्यकताओं का पता लगायें। राज्य के द्वारा विश्वविद्यालयों के आन्तरिक कार्यों में हस्तक्षेप करने में सबसे बड़ा खतरा इस बात का है कि राज्य विश्वविद्यालयों को अपने अधीन करके जनतन्त्रीय ढाँचे पर कुठाराघात कर देता है और इनके माध्यम से अपनी राजकीय नीतियों का प्रचार कराता है, जिससे शिक्षा व शिक्षण के स्तर गिर जाया करते हैं और विश्वविद्यालय राज्य के हाथों के यन्त्र-मात्र रह जाते हैं। इससे उन सिद्धान्तों का ही बलिदान हो जाता है जिनके आधार पर विश्वविद्यालयों की स्थापना होती है। यदि हमें जनतन्त्रीय व समाजवादी समाज की रचना करनी है तो उच्च शिक्षा के इन केन्द्रों को भी स्वतन्त्र व जनतन्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर संगठित करना होगा।

आज हम देश में नियोजन के द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में अपनी सभी समस्याओं का हल इस प्रकार करने के लिए कटिबद्ध हैं कि हम एक समाजवादी समाज का निर्माण कर सकें। ऐसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति या व्यक्तियों का गुट इस बात के लिए स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए सार्वजनिक संस्थाओं का शोषण करे। जातिवाद, प्रान्तीयता अथवा निहित स्वार्थों के आधार पर बने हुए गुट विश्वविद्यालय की स्वायत्तता का नारा लगाकर कदापि इस बात के लिए स्वतन्त्र नहीं छोड़े जा सकते कि राज्य के हस्तक्षेप के अभाव में वे अपनी स्थिति से अनुचित लाभ उठाते रहें और उनके नीच स्वार्थों की वेदी पर देश में उच्च शिक्षा का बलिदान होता रहे। अतः जहाँ शैक्षिक मामलों में विश्वविद्यालयों को अपना कार्यक्रम अनुसरण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, वहाँ यह भी आवश्यक है कि कुछ सीमा तक उनकी क्रियाओं का पथ-प्रदर्शनात्मक नियन्त्रण प्रशासकीय

11 University Autonomy.

मामलों में उस समय अवश्य किया जाय जबकि उनमें किसी प्रकार की अव्यवस्था की सूचना सरकार को मिलती है। उत्तर प्रदेश में आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस तथा अलीगढ़ इत्यादि विश्वविद्यालयों में सरकार के द्वारा किये गये हस्तक्षेप ने यह बात भलीभाँति प्रकट कर दी है कि यदि उचित समय पर राजकीय हस्तक्षेप न किया जाता तो इन विश्वविद्यालयों की प्रतिष्ठा व अस्तित्व ही संकट में पड़ जाते। ऐसी परिस्थितियों में बिना वास्तविकताओं को ध्यान में रखे हुए केवल सैद्धान्तिक स्वायत्तता की रट लगाना वास्तव में उच्च शिक्षा के साथ विश्वासघात करना है।

हाँ, इतना अवश्य है कि यह नियन्त्रण सरकार द्वारा सीधे ही लागू न करके विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन के द्वारा किये जाने चाहिए। कमीशन अपने अनुदान तथा अन्य आर्थिक सहायता देने के नियमों में इस प्रकार परिवर्तन करे जिससे जातिवाद, प्रान्तीयता तथा दलगत राजनीति को विश्वविद्यालयों में प्रोत्साहन न मिले, वरन् उलटे उनका उन्मूलन हो। ऐसा करने से न केवल बुराइयों का ही अन्त होगा, वरन् विश्वविद्यालयों की तटस्थता, शैक्षिक स्वायत्तता एवं जनतन्त्रात्मक स्वतन्त्रता भी बनी रहेगी।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण कर देना अत्यन्त आवश्यक है। वह यह है कि विश्वविद्यालयों की स्वायत्त-सत्ता में हस्तक्षेप की बात तभी उठायी जा सकती है जब दुर्व्यवस्था अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाय और बिना राजकीय निर्देशन के कोई अन्य उपाय शेष न रहे। अन्यथा राज्य को विश्वविद्यालयों के प्रबन्ध, प्रशासन, शैक्षिक कार्यक्रम तथा अन्य आन्तरिक कार्यक्रम में कोई भी दखल देने का अधिकार नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त समाज तथा देश के प्रति विश्वविद्यालयों का उत्तरदायित्व और बढ़ गया है, अत: उन्हें इस प्रकार से अपना संचालन करना चाहिए कि राज्य को उनके मामलों में कोई दखल देने का अवसर ही न मिले, किन्तु दुर्भाग्य से देश में एक भावना बहुत प्रबल होती जा रही है, वह यह कि राजनीतिक नेता अथवा मन्त्री सर्वशक्तिमान है और वह कुछ भी सम्भव या असम्भव कार्य कर सकता है। सत्य तो यह है कि यही व्यक्ति बहुत-से विश्वविद्यालयों की आन्तरिक गन्दगी तथा प्रशासन के पतन के लिए मूलत: उत्तरदायी हैं। वित्तीय सहायता के नाम पर राज्य सरकारें अथवा उनके कुछ मन्त्री विश्वविद्यालयों के आन्तरिक मामलों में रात-दिन अनुचित हस्तक्षेप करते देखे जाते हैं। यहाँ तक सेक्रेटेरियट का एक साधारण अण्डर-सेक्रेटरी भी विश्वविद्यालय के लिए आदेश और निर्देशन भेजकर उसके पालन कराने का दुस्साहस कर सकता है। कुछ सरकारी अफसर यह बात भूल जाते हैं कि विश्वविद्यालयों के भी अपने नियम, कानून और विधान हैं, उनकी एक सत्ता है और स्वतन्त्र व्यवहार करने का एक अधिकार है। वे सेक्रेटेरियट का एक उप-विभाग नहीं हैं। अत: यह बात भलीभाँति स्मरण रखनी चाहिए कि यदि हम चाहते हैं कि विश्वविद्यालय समाज के उत्थान में भलीभाँति अपना कर्तव्य-पालन कर सकें तो उन्हें

प्रशासन तथा शैक्षिक मामलों में स्वायत्तता प्रदान करनी होगी, जो उनके लिए आवश्यक है।[19]

विश्वविद्यालय स्वायत्तता के सम्बन्ध में कोठारी आयोग के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने स्वायत्तता के निम्नलिखित तीन स्तर माने हैं :

(1) विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्वायत्तता, अर्थात् सम्पूर्ण विश्वविद्यालय के प्रसंग में विभागों, कालेजों, शिक्षकों और विद्यार्थियों की स्वायत्तता;

(2) सम्पूर्ण विश्वविद्यालय प्रणाली के सम्बन्ध में किसी एक विश्वविद्यालय की स्वायत्तता; उदाहरण के लिए, अन्य विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में यू० जी० सी० अथवा अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड के सम्बन्ध में किसी एक विश्वविद्यालय की स्वायत्तता; और

(3) सम्पूर्ण विश्वविद्यालय प्रणाली की जिसमें यू० जी० सी० तथा अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड भी सम्मिलित हैं, स्वायत्तता उन संस्थाओं अथवा प्रभावों के सम्बन्ध में जो उस प्रणाली की परिधि से बाह्य हैं, जैसे केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारें।

आयोग के मतानुसार विश्वविद्यालय स्वायत्तता और शैक्षिक स्वतन्त्रता (academic freedom) में अन्तर है। विश्वविद्यालय स्वायत्तता के क्षेत्र के अन्तर्गत जो क्रिया-कलाप सम्मिलित हैं, वे हैं—छात्रों का चयन, शिक्षकों की नियुक्ति तथा तरक्की और पाठ्यक्रम का निर्धारण, शिक्षण-प्रणाली एवं अनुसन्धान के क्षेत्रों और समस्याओं का निर्धारण। शैक्षिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि शिक्षक को किसी ऐसी बात को पढ़ाने की आज्ञा नहीं दी जा सकती जो उसके विश्वासों अथवा अन्तरात्मा के विरुद्ध है, अथवा जिसे वह सत्य समझता है उसके प्रतिकूल है। इस सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक है कि शिक्षक निर्भयतापूर्वक अपने विचारों को कक्षा में अथवा उसके बाहर प्रकट करने का पूर्ण अधिकार रखता है, चाहे उसके विचार कितने ही क्रान्तिकारी क्यों न हों, बशर्ते कि वह 'शिक्षण' और 'प्रोपेगैंडा' में भेद को समझता है। शिक्षक को अधिकार तथा स्वतन्त्रता है कि वह अपने अध्ययन और अनुसन्धान को जारी रखे और प्रकाशित कराये तथा राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं के विषय में अपने विचार प्रकट करे और सम्बन्धित शास्त्रार्थों में भाग ले। चाहे उसके विचार उसके सीनियरों और विभागाध्यक्षों से मेल न खाते हों तो भी उसे अपने कार्य, शिक्षण और अनुसन्धान

[19] *Cf.* "This attitude of interference has been very prominent and felt by universities since the attainment of independence by our country. I have been considerably distressed by the number of communications that have been sent to universities on diverse topics by Secretaries or Under-Secretaries at the Centre or at the State level. It may not have been easily realised that a university has got a structure of its own, that there are authorities in the university, who have not only definite responsibilities and duties to discharge but are jealous to maintain the freedom to exercise their discretion in the discharge of those duties." —Mudaliar, A. L. : *Education in India*, 1960, pp. 64-65.

की पूर्णतम सुविधाएँ और प्रोत्साहन मिलना चाहिए। शैक्षिक स्वन्त्रता उसी समय सम्भव है जबकि विश्वविद्यालयों अथवा उनके शिक्षकों पर किसी सत्ता का अनुचित दबाव नहीं रहता और वे निर्भयतापूर्वक विचारों के सृजन और प्रकाशन में योगदान कर सकें।

इस स्वायत्तता के प्रसंग में विश्वविद्यालयों के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य भी बढ़ जाते हैं। उन्हें सर्वदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सत्य का प्रतिपादन और उसकी खोज उनका चरम उद्देश्य है। विश्वविद्यालय के सभी सदस्यों में सत्य के लिए एक उत्कृष्ट जिज्ञासा होनी चाहिए। उसी समय विश्वविद्यालयों का सम्मान बढ़ सकेगा और राष्ट्रीय जीवन तथा समाज के उत्थान एवं परिष्कार में वे अपना पूर्णतम सहयोग प्रदान कर सकेंगे।[20]

### (ऊ) ग्रामीण उच्च शिक्षा

भारत जैसे देश में जिसमें देश की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में निवास करती है, ग्रामीण उच्च शिक्षा की समस्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रामीण क्षेत्र में उच्च शिक्षा की आवश्यकता पर सर्वप्रथम सन् 1949 में विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन ने विचार किया था। तब से सरकार तथा शिक्षाविदों का ध्यान इस समस्या की ओर अधिक से अधिक आकर्षित होता जाता है।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से जब से देश में आधुनिक शिक्षा का सूत्रपात हुआ है, ग्रामीण शिक्षा प्राथमिक स्तर से ऊँची नहीं उठ पायी है। यद्यपि गत वर्षों में ग्रामीण जनता में माध्यमिक विद्यालय स्थापित करने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है, तथापि ग्रामीण निरक्षरता व अशिक्षा की समस्या की विशालता एवं दुरूहता को देखते हुए हम कह सकते हैं कि अब तक के प्रयास प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी अत्यन्त अल्प हैं ; उच्च शिक्षा का तो कहना ही क्या जिसमें अभी तक लोगों के समक्ष उसका कोई स्पष्ट रूप भी निश्चित नहीं हो पाया है। अतः देश की बदलती हुई परिस्थितियों तथा हमारी जनतन्त्रीय नियोजन की आवश्यकताओं के अनुरूप ग्रामीण उच्च शिक्षा को ढालने के लिए यह आवश्यक है कि शीघ्र ही इसका कोई रूप व मानदण्ड स्थिर किया जाय और ग्रामीण क्षेत्रों में एक बृहत्तर पैमाने पर इसका सूत्रपात किया जाय।

[20] *Cf.* "It is important to recognize that the case for autonomy of university rests on the fundamental consideration that, without it, universities cannot discharge effectively their principal functions of teaching, research and services to the community; and that only an autonomous institution, free from regimentation of ideas and pressure of party or power politics can pursue truth fearlessly and build up, in its teachers and students habits of independent thinking and a spirit of enquiry unfettered by the limitations and prejudices of the near and the immediate which is so essential for the development of a free society."

—*Report of the Education Commission*, p. 326.

देश में शिक्षा संस्थाओं की अभिवृद्धि ने न केवल ग्रामीण क्षेत्रों से योग्यतम व्यक्तियों को लाकर नगरों में बसा दिया है, अपितु ग्रामीण युवकों के मस्तिष्कों में नागरिक मान्यताओं के लिए एक तीव्र ज्वाला भी जगा दी है। ग्रामीण उच्च शिक्षा के लिए किसी भी निश्चित योजना के अभाव में इस प्रवृत्ति ने गाँवों की ओर भी अधिक अवहेलना करने में सहायता दी है।

सामान्यत: ग्रामीण शिक्षा तथा विशेषत: ग्रामीण उच्च शिक्षा का भावी चित्र इस बात पर निर्भर है कि हम आगामी वर्षों में ग्रामीण भारत को क्या स्वरूप प्रदान करना चाहते हैं। यदि हम चाहते हैं कि ग्रामीण जीवन नूतन भावनाओं व उमंगों से आन्दोलित होने लगे, ग्रामीण निर्धनता, अशिक्षा, गन्दगी तथा नैराश्य का उन्मूलन होकर ग्रामीण जनता का जीवन-मानदण्ड ऊँचा उठे तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि ग्रामीण शिक्षा का पुनर्संगठन किया जाय और विशेषत: ग्रामीण उच्च शिक्षा को इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्हीं के अनुरूप ढाला जाय। इस दृष्टि से अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, बल्कि बुद्धिमत्ता इस बात में है कि "इस प्रकार की शिक्षा सुविधाएँ उत्पन्न की जायँ जो भारतीय ग्रामीण जीवन के उपयुक्त हों तथा उसे जीवन की एक श्रेष्ठता तथा स्तर प्रदान करें और उस असमानता का उन्मूलन करें जो (ग्रामीण जीवन की) एक वास्तविकता है।"[21]

विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए अब भारत सरकार ने ग्रामीण उच्च शिक्षा के प्रश्न को हाथ में लिया है। यद्यपि ग्रामीण विश्वविद्यालय स्थापित करने की सिफारिश पर कोई कार्यवाही नहीं की गयी है, तथापि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देश के विभिन्न राज्यों में चौदह 'रूरल इन्स्टीट्यूट' खोले जा चुके हैं।

ग्रामीण उच्च शिक्षा के लिए किये गये वैयक्तिक प्रयासों का मूल्यांकन करने एवं इस शिक्षा के लिए एक उपयुक्त रूपरेखा तैयार करने के उद्देश्य से अक्टूबर 1954 में एक विशेषज्ञ समिति की स्थापना की गयी थी। जुलाई 1955 में इस समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। भारत सरकार ने इस रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया और इसके फलस्वरूप देश में ग्रामीण शिक्षा संस्थाएँ स्थापित कर दीं। इन संस्थाओं में निम्नलिखित कार्यक्रम का विकास किया जा रहा है :

(1) ग्रामीण सेवाओं में तीन वर्ष का डिप्लोमा कोर्स;

(2) ग्रामीण एवं सिविल इंजीनियरी में तीन वर्ष का सर्टीफिकेट कोर्स;

(3) कृषि-विज्ञानों में दो वर्ष का सर्टीफिकेट कोर्स;

(4) मैट्रिक पास विद्यार्थियों को तीन वर्ष के डिप्लोमा कोर्स में प्रवेश के लिए तैयार करना। तीनवर्षीय डिप्लोमा कोर्स की अवधि उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त तीन वर्ष की है और विश्वविद्यालयों की सामान्य डिग्री के समकक्ष है। इसमें विश्वविद्यालय के सामान्य उदार विषयों के अतिरिक्त मूल विषय, जैसे ग्रामीण समस्याएँ,

---

[21] *Report of the University Education Commission, op. cit.*, p. 555.

सभ्यता का इतिहास तथा स्थानीय भाषाएँ भी पढ़ाये जायेंगे। प्रसार-कार्य तथा ऐसे कार्यों में रिसर्च पर बल दिया जायगा जो ग्रामीण संस्कृति तथा जीवन के विषय में ज्ञान प्रदान करते हों। इन परियोजनाओं को चलाने के लिए भारत सरकार प्रतिवर्ष आर्थिक अनुदान स्वीकृत करती है। योजना आयोग का विचार है कि चतुर्थ आयोजन काल में इन संस्थाओं के पाठ्यक्रम में अनुकूल परिवर्तन करके इन्हें ग्रामीण विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित कर दिया जाय।

ग्रामीण उच्च शिक्षा विशेषज्ञ समिति ने एक सिफारिश यह भी की थी कि एक "ग्रामीण उच्च शिक्षा राष्ट्रीय परिषद"[22] की स्थापना की जाय जिसका प्रधान कार्यालय नई दिल्ली में रखा जाय। सन् 1956 में इस परिषद की स्थापना कर दी गयी। परिषद के कार्य तथा अधिकार निम्नलिखित हैं :

(1) राज्य तथा केन्द्रीय सरकारों को ग्रामीण उच्च शिक्षा के सभी पक्षों के विकास व प्रसार के सम्बन्ध में एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में सलाह देना;

(2) सभी ग्रामीण उच्च शिक्षा संस्थाओं को सलाह देना एवं उनके बीच में एक जोड़ने वाली कड़ी के रूप में कार्य करना;

(3) भारत सरकार तथा राज्य सरकारों के द्वारा दिये गये प्रस्तावों की जाँच करना एवं स्वीकृत कार्यक्रमों को लागू करने में सहायता देना;

(4) ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च शिक्षा के स्तर को ऊँचा करने के लिए योजना तैयार करना तथा उच्च ग्रामीण शिक्षा के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देना;

(5) ग्रामीण विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने में सहायता देने वाली शिक्षा-संस्थाओं को अनुदान देने के विषय में भारत सरकार को सलाह देना;

(6) परिषद के कार्यों में सहायता करने के लिए 'एड हॉक' समितियों की नियुक्ति करना;

(7) परिषद के संचालन के लिए नियम बनाना; तथा

(8) अन्य उन सभी कार्यों को करना जो पहले से ही परिषद के अधिकार के अन्तर्गत अथवा इसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसे भविष्य में करने होते हैं।

जहाँ तक इस परिषद की संरचना का प्रश्न है, केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री इसका अध्यक्ष होता है तथा सम्बन्धित डिवीजन का उप-शिक्षा सलाहकार इसका मन्त्री होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों से ग्यारह सदस्यों को अध्यक्ष नामजद करता है। परिषद के अन्य अधिकारियों में स्वास्थ्य, कृषि, उत्पादन (कुटीर उद्योग) तथा वित्त मन्त्रालयों एवं सामुदायिक योजना प्रशासन तथा अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं।

इस प्रकार ग्रामीण उच्च शिक्षा प्रगति-पथ पर है। यद्यपि अब तक इस दिशा

[22] National Council for Rural Higher Education.

में किये गये प्रयत्न पर्याप्त नहीं कहे जा सकते, तथापि इतना अवश्य है कि अब तक की अवहेलना को देखते हुए इस दिशा में सूत्रपात हो जाना ही एक हर्ष की बात है और भारतीय शिक्षा के इतिहास में इसका विशेष महत्त्व है । ग्रामीण उच्च शिक्षा समिति के शब्दों में "जिस प्रकार गाँवों और नगरों में कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए उसी प्रकार 'रूरल इन्स्टीट्यूटों' और विश्वविद्यालयों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। जब गाँवों एवं नगरों में उचित आदान-प्रदान की भावना होगी तभी दोनों का विकास सम्भव है ।"

इन संस्थाओं के द्वारा प्रदान किये गये डिप्लोमा बहुत दिनों तक विश्वविद्यालयों तथा सरकार से मान्यता नहीं पा सके थे, किन्तु अब रूरल साइंस के डिप्लोमा को मान्यता प्रदान कर दी गयी है जिससे रोजगार पाने में सहायता हो सके। कुछ विशेष विषयों में पोस्ट-ग्रेजुएट अध्ययन के लिए कई विश्वविद्यालयों एवं अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड ने इनके डिप्लोमा को मान्यता प्रदान कर दी है । अखिल भारतीय टेकनीकल शिक्षा परिषद ने भी इनके डिप्लोमा को मान्यता प्रदान कर दी है। इससे इनके प्रमाण-पत्रों का सम्मान तो बढ़ गया है, तथापि अधिकांश विद्यार्थी ग्रामीण एवं पिछड़े वर्गों से आते हैं जिनका शैक्षिक मानदण्ड भी नीचा होता है, अतः इन केन्द्रों में जो शिक्षा प्रदान की जाती है वह मानदण्ड की दृष्टि से सामान्यतः निम्न कोटि की ही मानी जाती है।

**उपसंहार**

विश्वविद्यालय शिक्षा का आकार देश में दिन-प्रतिदिन बृहत् से बृहत्तर होता जा रहा है । नव-भारत के निर्माण में उच्च शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करने के परिणामस्वरूप आज न केवल उसका प्रसार ही किया जा रहा है, अपितु उसका स्तर उठाने के प्रयास भी हो रहे हैं। दुर्भाग्य से भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा के कलेवर में छात्रों की अनुशासनहीनता, प्रशासन में दलबन्दी व पक्षपात तथा निम्न शिक्षण-स्तर इत्यादि के कीटाणुओं ने घर कर लिया है। अतः उच्च शिक्षा के निष्कलंक स्वास्थ्य के लिए इन कीटाणुओं का विनाश अविलम्ब आवश्यक है। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व हम सरकार, विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन तथा अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड पर न डालकर जनता तथा उसके नेताओं, देश के शिक्षाशास्त्रियों तथा विश्वविद्यालयों के शिक्षकों पर भी डालते हैं। सभी के सहयोग से हम उच्च शिक्षा को सोद्देश्य, निर्दोष, प्रगतिशील, उपयुक्त तथा देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल सकते हैं। यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए कि देश की विश्वविद्यालय शिक्षा के भविष्य पर ही भारत का भविष्य निर्भर है ।

## सारांश

**शिक्षा-प्रगति—गत लगभग बीस वर्षों में विश्वविद्यालय शिक्षा का देश में पर्याप्त विकास हुआ है। सन् 1947 में देश में उन्नीस विश्वविद्यालय थे। आज इनकी संख्या सत्तर है। विद्यार्थियों की संख्या तथा उच्च शिक्षा पर होने वाले व्यय में भी वृद्धि हुई है।**

**विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन—सन् 1948 में डॉ० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में इस कमीशन की नियुक्ति हुई। कमीशन ने शिक्षकों की दशा सुधारने, शिक्षण का**

मानदण्ड ऊँचा करने, पाठ्यक्रम में सुधार तथा टेकनीकल विषयों का समावेश, पोस्ट-ग्रेजुएट ट्रेनिंग तथा अनुसन्धान को प्रोत्साहन, व्यावसायिक शिक्षा पर बल, नैतिक शिक्षा का सूत्रपात, परीक्षा-प्रणाली में सुधार, विद्यार्थियों के कल्याण के कार्यक्रमों का सुधार, स्त्री-शिक्षा का विकास तथा ग्राम्य विश्वविद्यालयों की स्थापना इत्यादि की सिफारिशें कीं।

भारतीय शिक्षा के इतिहास में इस रिपोर्ट का भारी महत्त्व है। इसकी सिफारिशों के फलस्वरूप भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षा के सभी दोष स्पष्ट हो गये और उनके निराकरण के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने तो कमीशन की सभी सिफारिशों को मान लिया, किन्तु दुर्भाग्य से इसकी अधिकांश सिफारिशें कार्यान्वित नहीं हो सकी हैं।

विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन—नवम्बर 1953 में इस कमीशन की स्थापना विश्वविद्यालयों को अनुदान देने तथा उनकी गतिविधियों में पथ-प्रदर्शन करने के उद्देश्य से की गयी। सन् 1956 में संसद के एक अधिनियम के द्वारा इसे स्थायी रूप दे दिया गया।

कमीशन का यह सामान्य कर्तव्य होगा कि विश्वविद्यालयों तथा सम्बन्धित कालेजों की सलाह से वह ऐसे कदम उठाये जिन्हें वह विश्वविद्यालय शिक्षा के उत्थान एवं समन्वय के लिए उचित समझे। उच्च शिक्षा के स्तर का निर्धारण एवं निर्वाह, शिक्षा-प्रणाली एवं परीक्षा-प्रणाली का सुधार तथा विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देना कमीशन के कर्तव्यों में सम्मिलित होंगे। सभी विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति की जाँच करके अपने कोष से कमीशन उन्हें अनुदान देगा। अनुदान के नियमों में परिवर्तन करके यह विश्वविद्यालयों पर नियन्त्रण रखेगा। केन्द्रीय सरकार बजट में से एक निश्चित धनराशि कमीशन को प्रति वर्ष देती है जिसमें से अनुदान दिया जाता है।

विश्वविद्यालय शिक्षा पर कुछ और विचार—विश्वविद्यालय समाज की स्थिति का दर्पण होता है। यहीं से हमें देश के भावी नेता मिलते हैं, अतः विश्वविद्यालय शिक्षा का राष्ट्रीय जीवन में भारी महत्त्व है। भारतीय उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रमुख समस्याएँ हैं—शिक्षा-स्तर का निम्न होना, विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान, अध्ययन सामग्री, पाठ्यक्रम, तीनवर्षीय डिग्री कोर्स, सामान्य शिक्षा का सूत्रपात, विद्यार्थियों के कार्यक्रम तथा उनका कल्याण, विश्वविद्यालयों की आन्तरिक स्वायत्त-सत्ता तथा ग्रामीण उच्च शिक्षा की समस्या।

शिक्षण-स्तर को ऊँचा करने के लिए अच्छी पाठ्य-पुस्तकों की रचना, कक्षा में बैठने का पर्याप्त स्थान, अधिक शिक्षकों की नियुक्ति, प्रवेश पर नियन्त्रण, पुस्तकालयों व प्रयोगशालाओं का विकास, ट्यूटोरियल कक्षाएँ, शिक्षकों में ज्ञानवर्द्धन तथा उनकी दशा में सुधार इत्यादि उपाय आवश्यक हैं।

विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान की सुविधा के लिए अच्छे पुस्तकालय व सुसज्जित प्रयोगशालाएँ होनी चाहिए। विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति इत्यादि के द्वारा अनुसन्धान के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। रिसर्च गाइड करने वाले शिक्षकों को अधिक सुविधाएँ प्रदान की जायँ।

पाठ्यक्रम की दृष्टि से इसे अब अधिकाधिक जीवनोपयोगी बनाना है। अब तक यह पुस्तकीय व सैद्धान्तिक रहा है। अब पाठ्यक्रम में विज्ञान, इंजीनियरी व टेकनोलॉजी को अधिक से अधिक महत्त्व प्रदान करना है। यह आवश्यक है कि इण्टर कक्षाएँ तोड़कर डिग्री पाठ्यक्रम को तीन वर्ष का कर दिया जाय। इस दिशा में पर्याप्त प्रगति हो चुकी है और बहुत-से विश्वविद्यालयों में तीन वर्ष का डिग्री पाठ्यक्रम प्रारम्भ हो गया है। इसी प्रकार सामान्य शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान देने के कार्यक्रम ने भी प्रगति की है।

विद्यार्थियों के कार्यक्रम तथा कल्याण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उन्हें अधिक सुविधाएँ दी जायँ। अच्छे व पर्याप्त पुस्तकालय व क्रीड़ास्थल, पर्याप्त खेल-कूद, व्यायाम व सांस्कृतिक कार्यों की सुविधाएँ, स्वच्छ व स्वास्थ्यवर्द्धक छात्रावास, पुष्ट भोजन, चिकित्सा की सुविधाएँ एवं राजनीति से मुक्त छात्र संघ इत्यादि विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास तथा उनके असन्तोष के निवारण के लिए आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्रों में समाज-सेवा कार्यक्रम भी विद्यार्थियों के कामों में सम्मिलित किया जा सकता है। प्रत्येक विश्वविद्यालय में समाज-सेवा का कार्य डिग्री प्राप्त करने से पूर्व अनिवार्य कर देना चाहिए।

विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता की रक्षा आवश्यक है। राज्य के द्वारा किसी भी विश्वविद्यालय की आन्तरिक शैक्षिक व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, किन्तु इस स्वायत्तता के नाम पर जातिवाद, प्रान्तीयता, गुटबन्दी, पक्षपात व भ्रष्टाचार ऐसी स्थिति में सहन नहीं किया जा सकता। विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन के द्वारा हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। यदि राज्य प्रत्यक्ष रूप से विश्वविद्यालय की स्वायत्तता का हनन करता है तो इससे जनतन्त्र की जड़ पर ही कुठाराघात होने की आशंका है।

अन्त में, जहाँ तक ग्रामीण उच्च शिक्षा का प्रश्न है, यह आवश्यक है कि गाँवों व नगरों के सन्तुलित विकास के लिए देश में ग्रामीण उच्च शिक्षा का विकास किया जाय। विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन ने भारत में ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना पर बल दिया था, परन्तु यह नहीं हो सका। इनके स्थान पर देश में अब तक चौदह रूरल इंस्टीट्यूट स्थापित किये जा चुके हैं जहाँ सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त ग्रामीण इंजीनियरी, प्रसार-कार्य तथा ग्रामीण समस्याओं पर अनुसन्धान कार्य होता है।

इस प्रकार देश में उच्च शिक्षा निरन्तर प्रगति-पथ पर है। इसके दोषों का निवारण होने पर इसकी उन्नति और भी अधिक तीव्रगामी हो सकती है।

# 22

# तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा

**भूमिका**

बहुधा आधुनिक भारतीय शिक्षा पर यह आरोप लगाया जाता है कि आरम्भ से ही वह आवश्यकता से अधिक साहित्यिक है और इसमें व्यावसायिक, औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा का अभाव है। भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में नियुक्त किये गये प्राय: सभी कमीशनों एवं समितियों ने भी बहुधा यही शिकायत की है। वास्तव में, भारत की शिक्षा संस्थाओं में बहुत समय तक केवल साहित्यिक शिक्षा की ही प्रमुखता रही, जिसका उद्देश्य देश के विभिन्न विभागों के लिए अफसर तथा अन्य कर्मचारी उत्पन्न करना था। किसी भी प्रकार की तकनीकी शिक्षा का अत्यन्त अभाव रहा। माध्यमिक शिक्षा में भी यही दोष रहा है और विद्यार्थियों को या तो विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए अथवा किसी नौकरी के लिए तैयार किया जाता रहा है। इस शिक्षा-पद्धति के प्रचार का प्रमुख कारण भारत की राजनीतिक दासता तथा इससे उत्पन्न होने वाली विभिन्न अवस्थाओं में निहित है। किन्तु इसका निश्चित परिणाम हुआ भारत का औद्योगिक दृष्टि से विश्व के अन्य उन्नत राष्ट्रों की अपेक्षा पिछड़ जाना। देश में शिक्षा का दृष्टिकोण नितान्त प्रतिगामी रहा और भारतीय युवकों में बेकारी का रोग प्रवेश कर गया जो आज भी अत्यन्त भयंकर बना हुआ है। इधर तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में कुछ प्रयास तो हुआ है। गत शताब्दी के आरम्भ से होने वाली तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति को हम चार कालों में विभाजित कर सकते हैं—(1) सन् 1800 से 1857 तक, (2) सन् 1858 से 1902 तक, (3) सन् 1903 से 1947 तक, तथा (4) सन् 1948 से वर्तमान तक।

**प्रथम काल (सन् 1800 से 1857 तक)**

इस युग की शिक्षा-प्रणाली एकमात्र ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से प्रभावित थी। कम्पनी को अपने कार्य को ठीक रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न विभागों में कुछ भारतीयों की आवश्यकता थी। उसे अपनी सेना के लिए डॉक्टर, अदालतों के लिए वकील तथा न्यायाधीश और जन-निर्माण विभाग में सड़कें, नहरें तथा सरकारी इमारतें बनाने के लिए इंजीनियरों की आवश्यकता थी। अत: अधिकांश में तत्कालीन औद्योगिक शिक्षा में हम इन्हीं शाखाओं की प्रमुखता पाते हैं।

(1) **चिकित्सा**—चिकित्सा के क्षेत्र में भारत में आयुर्वेद तथा यूनानी प्रणालियाँ प्रचलित थीं। किन्तु अपनी सम्पूर्ण शिक्षा-नीति को दृष्टिगत रखते हुए अंग्रेज शासकों ने यहाँ यूरोपीय चिकित्सा प्रणाली को प्रारम्भ किया, जिसके सीखने का माध्यम अंग्रेजी भाषा थी। वास्तव में, चिकित्सा के क्षेत्र में भी प्राच्य और पश्चिमी पद्धति का विवाद उठ खड़ा हुआ था। मैकॉले की पश्चिमीकरण की नीति तथा लॉर्ड बैंटिक की घोषणा का चिकित्सा शिक्षा पर भी प्रभाव पड़ा। प्रारम्भ में भारतीय विद्यार्थियों को चीर-फाड़ इत्यादि से अरुचि थी, किन्तु मधुसूदन गुप्ता नामक विद्यार्थी ने कलकत्ता में एक शव पर चीर-फाड़ का कार्य करके इस दिशा में सूत्रपात कर दिया।

इस प्रकार सर्वप्रथम बंगाल, बम्बई और मद्रास में आधुनिक चिकित्साशास्त्र का जन्म हुआ। सन् 1822 में कलकत्ता में एक 'देशी चिकित्सा संस्था' (Native Medical Institution) की स्थापना हुई थी। सन् 1826 में कलकत्ता संस्कृत कॉलेज तथा कलकत्ता मदरसा में चिकित्सा कक्षाएँ जोड़ दी गयीं। इन संस्थाओं में आयुर्वेद, यूनानी तथा यूरोपीय ढंग की चिकित्सा की शिक्षा का प्रबन्ध था, किन्तु सन् 1835 के उपरान्त आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा का शिक्षण समाप्त कर दिया गया और यह निश्चय हुआ कि केवल पाश्चात्य ढंग की चिकित्सा-शिक्षा प्रदान की जायगी। सन् 1844 में चार विद्यार्थी पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विलायत भेजे गये।

बम्बई में सन् 1845 में गवर्नर रौबार्ट्स की स्मृति को अमर बनाने के लिए जनता ने चन्दा करके 'ग्राण्ट मेडीकल कॉलेज' की स्थापना की। इससे पूर्व सन् 1826 में बम्बई में एक 'नेटिव मेडीकल स्कूल' तथा सन् 1836 में पूना कॉलेज में चिकित्सा कक्षाओं की स्थापना की जा चुकी थी। ग्राण्ट मेडीकल कॉलेज की इंगलैण्ड के रायल कॉलेज ऑफ सर्जन्स' ने भी सन् 1855 में मान्यता प्रदान कर दी। कालान्तर में इसे बम्बई विश्वविद्यालय में मिला दिया गया। यहाँ अंग्रेजी तथा प्रान्तीय भाषा दोनों ही शिक्षा का माध्यम थीं।

मद्रास में सन् 1835 में निम्न पदों के लिए 'अप्रेंटिस' शिक्षित करने के लिए एक मेडीकल स्कूल खोला गया। सन् 1851 में यह कॉलेज बन गया और अन्त में मद्रास विश्वविद्यालय में मिला दिया गया। यहाँ शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था।

(2) **कानून**—कानून का अध्ययन करने के लिए अंग्रेजों ने भारत में कलकत्ता मदरसा तथा संस्कृत कॉलेज, बनारस की स्थापना की थी जहाँ भारत की दो प्रमुख जातियों, हिन्दू और मुसलमानों, के कानूनों का अध्ययन कराया जा सके तथा कम्पनी को अपनी अदालतों के लिए वकील व जज इत्यादि मिल सकें। कलकत्ता संस्कृत कॉलेज में कानून की शिक्षा दी जाती थी। सन् 1842 में हिन्दू कॉलेज में कानून का एक प्रोफेसर नियुक्त किया गया। सन् 1857 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के खुलने पर उसमें भी कानून कॉलेज स्थापित करने का प्रयास विफल होने पर उसमें सन् 1865 में ही न्यायशास्त्र (Jurisprudence) की कक्षाएँ खोली जा सकीं। नियमित कक्षाएँ तो बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों के खुलने पर ही चल सकीं।

(3) **इंजीनियरी**—सन् 1844 में हिन्दू कॉलेज, कलकत्ता में सिविल इंजीनियरी के प्रोफेसर के लिए एक पद स्थापित किया गया, किन्तु यह बहुत दिनों तक रिक्त पड़ा रहा। केवल सन् 1856 में ही कलकत्ता में एक इंजीनियरिंग कॉलेज खुल सका।

सन् 1824 में 'बम्बई नेटिव शिक्षा सोसाइटी' ने इंजीनियरी की कक्षाएँ खोलीं, जहाँ मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम रखी गयी। सन् 1844 में 'एलफिस्टन इन्स्टीट्यूट' में तथा सन् 1854 में पूना में भी इंजीनियरी की कक्षाएँ खोली गयीं। मद्रास में विश्वविद्यालय बनने तक इंजीनियरी की कोई नियमित कक्षा न खुल सकी। वहाँ तो सन् 1793 से एक पैमाइश स्कूल चला आ रहा था जो सन् 1858 में मद्रास विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दिया गया। उत्तर प्रदेश में रुड़की में सन् 1847 में इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना हुई, जो सन् 1854 में टॉमसन कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आजकल यह कॉलेज एक विश्वविद्यालय के रूप में संगठित हो चुका है और देश का एक विख्यात इंजीनियरी विश्वविद्यालय है।

(4) **अन्य**—उपर्युक्त व्यवसायों के अतिरिक्त अध्यापकों का प्रशिक्षण भी प्रमुख था। इस क्षेत्र में कम्पनी की उदासीनता के बावजूद भी ईसाई धर्म-प्रचारकों ने कुछ कार्य किया। बम्बई प्रान्त में इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ और बहुत-से नॉर्मल स्कूल खुले। इसके अतिरिक्त कला (Art) का विषय भी अन्य व्यावसायिक शिक्षा में सम्मिलित था। मद्रास में सन् 1850 में 'ब्लैक टाउन' में डॉ० हण्टर ने ललित कलाओं तथा दस्तकारियों के लिए एक स्कूल खोला। बम्बई में सन् 1853 में सर जमशेदजी जीजीभाई ने कला के विकास के लिए एक लाख रुपया दान दिया। उस धनराशि से सन् 1856 में बम्बई में 'जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट' की स्थापना की गयी।

### द्वितीय युग (सन् 1858 से 1902 तक)

औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के दृष्टिकोण से यह युग कुछ अधिक महत्त्व का था, यद्यपि इस युग में भी व्यावसायिक शिक्षा का उद्देश्य ऐसे अनुभवी तथा प्रशिक्षित भारतीय उत्पन्न करना था जो अंग्रेज अफसरों के नीचे विभिन्न राजकीय विभागों में प्रशासन तथा संगठन-कार्य सुचारु रूप से चला सकें। सन् 1857 में कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना हो जाने के उपरान्त कानून, चिकित्सा, इंजीनियरी, कृषि-विज्ञान, वाणिज्य तथा टेकनीकल शिक्षा इत्यादि विषय भी विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में नियमित रूप से सम्मिलित कर लिये गये तथा उनके शिक्षण के लिए विशेष शिक्षकों की नियुक्ति कर दी गयी और इन विषयों में प्रमाणपत्र व उपाधि देने की प्रथा का प्रारम्भ कर दिया गया।

1. **कानून**—सन् 1854 के शिक्षा-घोषणापत्र के आदेशानुसार विश्वविद्यालयों में कानून की शिक्षा की व्यवस्था कर दी गयी। कानून की शिक्षा अब बहुत सर्वप्रिय होती जा रही थी, क्योंकि आधुनिक न्यायालयों की स्थापना होने से देश में

कानून के विशेषज्ञों की वकील तथा न्यायाधीश बनने के लिए माँग हो रही थी। ये दोनों उद्यम सम्मानजनक तथा आर्थिक दृष्टि से लाभदायक थे, अतः उच्च वर्ग के शिक्षित लोग बहुत आकर्षित हुए।

कानून के अध्ययन के लिए कॉलेज, कला तथा विज्ञान के कालेजों में कानून की कक्षाएँ तथा स्कूल, ये तीन प्रमुख साधन थे। मद्रास में एक कानून का कॉलेज था और पंजाब विश्वविद्यालय में कानून कॉलेज था, यही दो संस्थाएँ पूर्णकालीन कानून कॉलेज के रूप में थीं, अन्यथा अधिकांश में कानून की कक्षाएँ आंशिक रूप से अन्य कालेजों में सन्ध्याकाल में लगती थीं। बम्बई में राजकीय कानून कॉलेज भी आंशिक रूप से शिक्षा देता था। बंगाल, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में कानून कॉलेज नहीं थे, किन्तु कला तथा विज्ञान के डिग्री कालेजों में ही कानून की कक्षाएँ खुली हुई थीं।

कानून शिक्षा का नियन्त्रण भी क्रमशः विश्वविद्यालयों, शिक्षा-विभाग तथा उच्च न्यायालयों के अधीन था। विश्वविद्यालय ही पाठ्यक्रम तैयार करते थे और वे ही परीक्षाओं के लिए उत्तरदायी थे। कानून के स्कूल तथा कालेजों का नियन्त्रण शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत था तथा उच्च न्यायालय उन शर्तों को रखता था जिनकी पूर्ति होने पर कोई स्नातक कानून के व्यवसाय को अपना सकता था। उच्च न्यायालय इसके पूर्व अपनी निजी परीक्षा भी लेते थे। कुछ प्रान्तों में सरकार की ओर से 'प्लीडर' और 'मुख्तार' की परीक्षाएँ भी केवल हाईस्कूल पास विद्यार्थियों के लिए थीं। एल-एल० बी० परीक्षा का पाठ्यक्रम अधिकांश में दो वर्ष का था। कहीं-कहीं तीन वर्ष का भी था जो कला अथवा विज्ञान में ग्रेजुएट होने के उपरान्त पूरा किया जा सकता था।

2. **चिकित्सा**—(अ) **मानव चिकित्सा**—चिकित्सा विज्ञान में प्रशिक्षित विद्यार्थी अधिकांश में सरकारी तथा स्थानीय बोर्डों के अस्पतालों में नौकर हो जाते थे, अपना स्वतन्त्र व्यवसाय खोलते थे या किसी बड़े कारखाने या कम्पनी में रख लिये जाते थे।

सन् 1860 में लाहौर में भी एक मेडीकल कॉलेज खुल गया। इस प्रकार सन् 1902 तक भारत में कलकत्ता, मद्रास, बम्बई तथा लाहौर में चार सरकारी कॉलेज हो गये।

इन कालेजों के अतिरिक्त कुछ मेडीकल स्कूल भी थे। इनमें 11 राजकीय स्कूल (1 मद्रास में, 3 बम्बई में, 4 बंगाल में, 1 यू० पी० में, 1 पंजाब तथा 1 आसाम में); 1 म्युनिसिपल स्कूल मद्रास में तथा 10 प्राइवेट स्कूल (1 आसाम में, 1 सिन्ध में, 4 पंजाब में—जिनमें दो मुसलमानी व 1 हिन्दू औषधियों के लिए—एवं 4 बंगाल में) थे।

पुरुषों में तो चिकित्साशास्त्र का अध्ययन जनप्रिय हो चला था, किन्तु स्त्रियों में अभी अन्धविश्वास और प्राचीन पक्षपात समाया हुआ था। 1902 में भारत में मेडीकल कालेजों में 1,466 तथा स्कूलों में 2,727 विद्यार्थी चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करते थे। इनमें 242 स्त्रियाँ भी थीं, किन्तु वे अधिकांश में यूरोपीय तथा

ईसाई महिलाएँ थीं। केवल 15 ब्राह्मण, 15 अ-ब्राह्मण, 15 मुसलमान तथा 22 पारसी स्त्रियाँ थीं।

(ब) **पशु चिकित्सा**—मनुष्यों की चिकित्सा के अतिरिक्त पशु चिकित्सा की ओर भी सरकार का ध्यान गया। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में पशु चिकित्सा अपना महत्त्व रखती है। अतः सन् 1882 में लाहौर में, सन् 1886 में बम्बई में तथा सन् 1893 में कलकत्ता में पशु चिकित्सा विज्ञान के कॉलेज स्थापित हुए। एक स्कूल अजमेर में भी खोला गया, किन्तु कुछ समय उपरान्त लाहौर कॉलेज में मिला दिया गया।

3. **इंजीनियरी शिक्षा**—इस युग में इंजीनियरी तथा टेकनीकल शिक्षा की बड़ी माँग बढ़ी। यह वह युग था जब भारत में औद्योगिक विकास तथा रेलों, सड़कों और नहरों का निर्माण हो रहा था, नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों की स्थापना हो रही थी एवं जलमार्ग और जूट व सूती मिलें खोली जा रही थीं। ऐसी अवस्था में इन सभी कार्यों के लिए दक्ष इंजीनियरों की आवश्यकता थी। आर्थिक दृष्टि से यह पेशा बड़ा लाभदायक था, अतः श्रेष्ठतम विद्यार्थियों को आकर्षित कर रहा था। इंजीनियरी शिक्षा की अधिक माँग होने तथा कालेजों की संख्या न्यून होने के कारण यह शिक्षा बड़ी महँगी थी, अतः केवल उच्च वर्ग के लोग ही अपने लड़कों को शिक्षण के लिए भेजने में समर्थ हो सकते थे। इन विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त जन-निर्माण विभाग (P.W.D.) में प्रायः अच्छी नौकरियाँ भी मिल जाती थीं।

सन् 1865 में बंगाल इंजीनियरी कॉलेज को प्रेसीडेन्सी कॉलेज में मिला दिया गया। कालान्तर में यह शिवपुर पहुँचा दिया गया। सन् 1854 में सरकार द्वारा स्थापित किया हुआ 'इंजीनियरी कक्षा तथा मिकेनीकल स्कूल' पूना इंजीनियरिंग कॉलेज के रूप में विकसित हुआ। यह कॉलेज बम्बई विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दिया गया। सन् 1901-02 में यह कॉलेज इंजीनियरी के अतिरिक्त विज्ञान, कृषि तथा वन-विज्ञान की शिक्षा भी देता था।

इस प्रकार सन् 1902 में भारत में चार प्रमुख इंजीनियरी कॉलेज थे—रुड़की, शिवपुर (बंगाल), पूना तथा मद्रास, जिनमें 865 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। मद्रास कॉलेज का विकास सन् 1858 तथा 1862 के बीच में हुआ था।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य टेकनीकल तथा औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना भी इसी काल में हुई। सन् 1887 में बम्बई में 'विक्टोरिया जुबली टेकनीकल इंस्टीट्यूट' की स्थापना हुई। सन् 1902 में भारत में 80 टेकनीकल स्कूल थे जिनमें 4,894 विद्यार्थी शिक्षण पाते थे। दुर्भिक्ष कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर भारत सरकार ने भी कुछ ऐसे स्कूल खोले। भारत के प्राचीन उद्योगों को ब्रिटिश सरकार ने नष्ट कर दिया था, अतः लोगों में बढ़ते हुए असन्तोष को रोकने के लिए भी यह आवश्यक था कि सरकार औद्योगिक स्कूलों की स्थापना करे। लोगों में भी इस शिक्षा की माँग उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। इन सब के फलस्वरूप भारत में इंजीनियरी तथा टेकनीकल शिक्षा का अच्छा प्रसार हो चला।

4. **कृषि विज्ञान**—भारत के कृषि-प्रधान देश होने की अपेक्षाकृत भी यहाँ कृषि कालेजों की पर्याप्त उन्नति नहीं हुई है। सन् 1880 में दुर्भिक्ष कमीशन ने गाँवों में कृषि शिक्षा के प्रचार पर जोर दिया, किन्तु इसके लिए कुछ भी नहीं किया जा सका। सन् 1890 में डॉ० वाइलकर ने विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन किया और कृषि शिक्षा के विषय में भारत सरकार ने निम्नलिखित निर्णय किये :

(1) कृषि विज्ञान की डिग्री, डिप्लोमा तथा प्रमाणपत्रों को उसी श्रेणी में समझा जाय, जिसमें विज्ञान या कला इत्यादि के प्रमाणपत्र।

(2) उच्च कोटि के प्रमाणपत्र देने के लिए चार से अधिक संस्थाएँ हों, यथा—मद्रास, कलकत्ता, बम्बई तथा उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में कोई उपयुक्त स्थान। अन्य प्रान्त भी इनका उपयोग करें।

(3) कुछ पदों, जैसे कृषि विज्ञान शिक्षकों अथवा कृषि-विभाग संचालक के सहायकों की नियुक्ति के लिए भी प्रमाणपत्र अनिवार्य हों।

(4) कुछ पदों के लिए कृषि की व्यावहारिक शिक्षा दी जाय।

(5) कृषि डिप्लोमा, डिग्री तथा प्रमाणपत्र के लिए विशेष स्कूल खोला जाय।

(6) स्कूल अध्यापकों को नियुक्ति से पूर्व या पश्चात सरकारी फार्म पर व्यावहारिक कृषि की शिक्षा देना भी महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार सन् 1902 में ब्रिटिश भारत में पाँच संस्थाएँ ऐसी थीं जहाँ कृषि शिक्षा की व्यवस्था थी—पूना, शिवपुर, सैयदपेट (मद्रास), कानपुर तथा नागपुर। सैयदपेट कॉलेज की स्थापना सन् 1864 में तथा पूना कृषि शाखा की स्थापना सन् 1879 में हुई थी। शिवपुर में कॉलेज सन् 1899 में स्थापित किया गया था। कानपुर तथा नागपुर में कानूनगो, शिक्षकों तथा कृषक बालकों को शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार से संगठित हुई कृषि शिक्षा पूर्णतः अपर्याप्त थी। अनुसन्धान और व्यावहारिक शिक्षा का इसमें पूर्ण अभाव था। अन्य विभागों की भाँति कृषि शिक्षा का उद्देश्य भी इस काल में देश में उत्पादन की वृद्धि न होकर राजकीय कृषि-विभाग के लिए कर्मचारी तैयार करना ही था।

5. **वाणिज्य शिक्षा**—कृषि शिक्षा की भाँति वाणिज्य शिक्षा ने भी इस युग में कोई सराहनीय उन्नति नहीं की। पंजाब को छोड़कर किसी विश्वविद्यालय ने इसे स्वीकार नहीं किया। बम्बई में भी एक संस्था थी, किन्तु उसका उद्देश्य प्रधानतः इंगलैण्ड के वाणिज्य के विषय में शिक्षा देना था। सन् 1902 में भारत में 15 वाणिज्य स्कूल थे, जिनमें 1,123 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।

6. **अन्य**—उपर्युक्त व्यवसायों के अतिरिक्त अध्यापन, वन विज्ञान तथा कला सम्बन्धी स्कूलों की भी स्थापना हुई। अध्यापकों के लिए नये ट्रेनिंग व नॉर्मल स्कूल खोले गये। सन् 1881-82 में यहाँ 106 नॉर्मल स्कूल थे तथा सन् 1901-02 में इनकी संख्या 133 पुरुषों के लिए तथा 46 स्त्रियों के लिए थी, जिनमें क्रमशः 4,410 और 1,292 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। माध्यमिक शिक्षा के अध्यापकों के प्रशिक्षण के

लिए सन् 1902 में छह कॉलेज थे। इनमें लाहौर ट्रेनिंग कॉलेज, मद्रास, नागपुर, राजमहेन्द्री तथा इलाहाबाद ट्रेनिंग कॉलेज अधिक प्रसिद्ध थे। मद्रास तथा इलाहाबाद, में एल० टी० का डिप्लोमा प्रदान किया जाता था। इनके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए पचास ट्रेनिंग स्कूल भी थे।

वन विज्ञान के लिए सन् 1878 में 'देहरादून फॉरेस्ट स्कूल' की स्थापना हुई तथा 'पूना इंजीनियरिंग कॉलेज' में वन विज्ञान की शाखा खोली गयी। कला की शिक्षा के लिए सन् 1902 में भारत में चार प्रमुख राजकीय कॉलेज थे—जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट, बम्बई; मेयो स्कूल ऑफ आर्ट, लाहौर; स्कूल ऑफ आर्ट, कलकत्ता तथा स्कूल ऑफ आर्ट इण्डस्ट्री, मद्रास। इन स्कूलों में कला, पेंटिंग तथा व्यापारिक आर्ट की शिक्षा दी जाती थी। सन् 1893 में भारत मन्त्री ने सुझाव रखा कि इन आर्ट स्कूलों से कोई विशेष लाभ नहीं है और इनका व्यय व्यर्थ होता है, अतः इन्हें टेकनीकल स्कूलों के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय; किन्तु फिर कुछ निर्णय न हो सका। इस प्रकार व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा का दूसरा युग भी समाप्त होता है।

**तृतीय युग (सन् 1903 से 1947 तक)**

भारतीय व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में यह युग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। व्यावसायिक, औद्योगिक तथा टेकनीकल शिक्षा की इस युग में बहुत उन्नति हुई।

इससे पूर्व इस प्रकार की शिक्षा का उपयोग अधिकांशतः सरकारी नौकरियों के लिए किया जाता था, किन्तु अब प्रशिक्षित युवक आधुनिक समाज की औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए भी प्रशिक्षण लेने लगे। इस उन्नति के कई कारण हैं। एक तो यह युग भारत में बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना का युग था जिसमें देश की शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की माँग बढ़ी; और अन्त में, भारत के स्वाधीन होने पर एक नवीन व स्वतन्त्र राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए तथा विज्ञान की उन्नति में अन्य उन्नत राष्ट्रों के समकक्ष आने के लिए अनेक प्रयोगशालाएँ तथा अनुसन्धानशालाएँ खोली गयीं। कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में नये वैज्ञानिक तथा तकनीकी विषयों के विभाग खोले गये। दूसरे, लॉर्ड कर्जन के समय से ही सरकार का ध्यान इस ओर गया और सरकारी मशीन कुछ तेजी से काम करने लगी। तीसरे, व्यक्तिगत प्रयास भी एक बड़े पैमाने पर इस क्षेत्र में उतर आया। धनी लोगों ने बड़े-बड़े दान दिये तथा औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना करायी। चौथे, विद्यार्थियों को विदेशों, जैसे इंगलैण्ड, अमरीका, जर्मनी तथा जापान इत्यादि देशों में भेजने की व्यवस्था की गयी जहाँ उन्होंने आधुनिक विज्ञानों, उद्योगों तथा कला-कौशलों का उच्च अध्ययन करके भारत में आकर इनकी उन्नति की।

1. **कानून**—कानून शिक्षा के उत्तरोत्तर जनप्रिय होने का परिणाम यह हुआ कि देश में कानून के स्नातकों की बाढ़-सी आ गयी। वकीलों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ गयी। अधिकांश में ये वकील आर्थिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर कानून

का व्यवसाय करते हैं जिसके कारण आज हमारे समाज में बहुत-से भ्रष्टाचार प्रवेश कर गये हैं; किन्तु साथ ही उच्च कोटि के वकील भी उत्पन्न हुए हैं। अस्तु, सन् 1902 से 1927 तक कानून का अध्ययन बड़ा लाभदायक रहा। किन्तु इसके उपरान्त देश पर आर्थिक संकट आने से कानून पढ़ने वालों की संख्या पर्याप्त रूप से गिर गयी और यह अवस्था लगभग सन् 1940 तक चली। इसके उपरान्त किसानों की आर्थिक अवस्था में सुधार होने से वकीलों ने इस सुअवसर से लाभ उठाकर पुनः ग्रामीणों का शोषण प्रारम्भ कर दिया। इससे कानून के अध्ययन को और भी प्रगति मिली। आज कानून का बाजार इन व्यवसायियों से भरा पड़ा है।

सन् 1946-47 में भारत में चौदह कानून कॉलेज थे, छह कानून विभाग विश्वविद्यालयों में थे तथा आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित छह कालेजों में कानून की कक्षाएँ थीं। जहाँ तक कानून के पाठ्यक्रम का सम्बन्ध है, यह दो वर्ष का है। कलकत्ता और दिल्ली में इसकी अवधि तीन वर्ष की है। उत्तर प्रदेश में भी जुलाई 1968 से इसकी अवधि तीन वर्ष कर दी गयी है। कानून का अध्ययन ग्रेजुएट होने के उपरान्त ही प्रारम्भ होता है, किन्तु बम्बई में इण्टरमीडिएट के उपरान्त ही प्रारम्भ हो जाता है। कानून अध्यापक अधिकांश में अर्द्ध-सामयिक (part-time) आधार पर नियुक्त किये जाते हैं। प्रायः ये लोग कुछ नये जूनियर वकीलों में से रख लिये जाते हैं। कक्षाएँ या तो प्रातःकाल या सन्ध्याकाल में लगती हैं। कानून के अध्ययन के विषयों में विद्यार्थी बिलकुल भी गम्भीर नहीं होते। प्रायः परीक्षा के दिनों में कुछ वर्ष के प्रश्न-पत्रों के उत्तरों को रटकर ही उत्तीर्ण हो जाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत में कानून के क्षेत्र में अनुसन्धान या उच्च अध्ययन का पूर्णतः अभाव है। अतः "यह स्पष्ट है कि अब हमें अपने कानून के कालेजों का पुनः संगठन करना है और इस विषय के अध्ययन को प्रथम कोटि का महत्त्व देना है। भारत की प्रसिद्धि तथा विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों के समक्ष उसके महत्त्व एवं अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को पूर्ण करने के लिए इस प्रश्न की आवश्यकता है।"[1]

राधाकृष्णन कमीशन ने इसके लिए निम्नलिखित सुझाव रखे हैं :

(1) हमारे कानून के कालेजों का पूर्णरूपेण पुनर्संगठन होना चाहिए।

(2) कानून शिक्षा का अध्यापकमण्डल भी कला तथा विज्ञान-विभाग के शिक्षकों की भाँति विश्वविद्यालयों द्वारा रखा तथा नियन्त्रित किया जाना चाहिए।

(3) एक वर्ष का पूर्व-कानूनी (pre-legal) डिग्री पाठ्यक्रम तथा सामान्य अध्ययन कानून कक्षा में प्रवेश से पूर्व रखा जाना चाहिए।"[2]

राधाकृष्णन विश्वविद्यालय कमीशन, पृ० 258।

'अमरीकन बार एसोसिएशन' तथा 'अमरीकन एसोसिएशन ऑफ लॉ स्कूल' का पूर्व-कानून-शिक्षण कम से कम दो वर्ष का कॉलेज अध्ययन है, किन्तु कानून के सर्वोत्तम कालेजो में जिनमें हारवर्ड, कोलम्बिया, मिशीगन, शिकागो, केलीफोर्निया तथा अन्य सम्मिलित हैं, इसकी अवधि कला या विज्ञान में चार वर्ष के डिग्री पाठ्यक्रम की पूर्ति होती है। इसके उपरान्त ही कानून में प्रवेश हो सकता है। —विश्वविद्यालय कमीशन, पृ० 260

(4) कानून के विशेष विषयों में तीन वर्ष का डिग्री पाठ्यक्रम रहना चाहिए; अन्तिम वर्ष को कानून की व्यावहारिक शिक्षा में लगाना चाहिए।

(5) शिक्षक पूर्णकालीन तथा अंशकालीन दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

(6) कानून कक्षाएँ नियमित समय के अन्दर लगनी चाहिए।

(7) कानून अध्ययन के साथ अन्य विषयों का अध्ययन प्रायः बन्द कर देना चाहिए।

(8) उच्च अध्ययन तथा अनुसन्धान की सुविधाएँ होनी चाहिए।

(9) परीक्षा-विधि में सुधार होना चाहिए।

2. **चिकित्सा**—(अ) **मानव चिकित्सा**—इस युग में चिकित्सा विज्ञान ने बड़ी उन्नति की। साधारण शिक्षा की वृद्धि होने के साथ-साथ भारतीयों को अनुभव होने लगा कि चिकित्सा के लिए देश में असीम क्षेत्र विद्यमान है। सन् 1946-47 में यहाँ 26 मेडीकल कॉलेज तथा 25 मेडीकल स्कूल थे। सन् 1932 में 'रॉकफेलर फाउण्डेशन' के द्वारा कलकत्ता में 'अखिल भारतीय स्वास्थ्य रक्षा तथा जन-स्वास्थ्य संस्था' (All India Institute of Hygiene and Public Health) की स्थापना हुई। इससे एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई। सन् 1913 में "मेडीकल काउंसिल कानून" पास हुआ और 'भारतीय मेडीकल काउंसिल' की स्थापना हुई। इसकी स्थापना से चिकित्सा विज्ञान को देश में बड़ी प्रगति मिली। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के लिए दिल्ली में सन् 1916 में 'लेडी हार्डिग्ज मेडीकल कॉलेज' की स्थापना हुई। सन् 1922 में कलकत्ता में भी 'स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडीसिन' स्थापित हुआ। इसके अतिरिक्त 'देहरादून एक्स-रे इंस्टीट्यूट' तथा कसौली में केन्द्रीय अनुसन्धानशाला (Central Research Institute) की भी स्थापना हुई। आयुर्वेद, होमियोपैथी तथा यूनानी के कॉलेज भी खोले गये।

विश्वविद्यालय कमीशन ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :

(1) मेडीकल कालेजों में अधिक से अधिक 100 विद्यार्थी प्रविष्ट करने चाहिए।

(2) अध्ययन के वे सभी विभाग, जिन्हें साथ में अस्पताल की भी आवश्यकता है, एक ही सीमा के अन्तर्गत स्थित कर दिये जायँ।

(3) प्रत्येक प्रवेश पाने वाले विद्यार्थी के पीछे दस पलंग की सुविधा होनी चाहिए।

(4) 'अण्डर-ग्रेजुएट' तथा 'ग्रेजुएट' दोनों स्तरों का प्रशिक्षण ग्रामीण केन्द्र में भी होना चाहिए।

(5) 'पोस्ट-ग्रेजुएट' प्रशिक्षण की व्यवस्था ऐसे कालेजों में होनी चाहिए जहाँ पर्याप्त स्टाफ और सज्जा हो।

(6) जन-स्वास्थ्य, इंजीनियरिंग तथा नर्सिंग को अधिक महत्त्व देना चाहिए।

(7) देशी चिकित्सा-पद्धति की उन्नति होनी चाहिए।

(8) चिकित्सा विज्ञान के प्रथम पाठ्यक्रम में चिकित्सा इतिहास, विशेषकर भारत का, पढ़ाना चाहिए।

(ब) **पशु चिकित्सा**—इस युग में पशु चिकित्सा की भी उन्नति हुई। 'सिविल

पशु चिकित्सा विभाग' को सन् 1903 में साधारण जनता के लिए भी खोल दिया गया। साथ ही कृषि-विभाग की उन्नति होने से पशु चिकित्सा विभाग की भी उन्नति हुई। सन् 1902-07 के बीच में पशु चिकित्सा स्कूलों को भंग करके कालेजों की स्थापना की गयी। फलतः सन् 1905 में मद्रास तथा 1930 में पटना में ऐसे कॉलेज स्थापित हुए। उत्तर प्रदेश में गढ़मुक्तेश्वर में 'इम्पीरियल पशु चिकित्सा अनुसन्धानशाला' की स्थापना हुई। सन् 1948 में जबलपुर में भी पशु चिकित्सा कॉलेज खोला गया। इजातनगर तथा बंगलौर में भी पशु चिकित्सा सम्बन्धी अनुसन्धानशालाएँ हैं। मथुरा में एक पशु चिकित्सा कॉलेज की स्थापना उत्तर प्रदेश सरकार ने की है।

3. **इंजीनियरी तथा तकनीकी शिक्षा**—सन् 1902 के उपरान्त इस शिक्षा ने एक नया रूप धारण किया। देश की बढ़ती हुई औद्योगिक उन्नति के लिए यह आवश्यक भी था कि इंजीनियरी तथा टेकनोलॉजी का अध्ययन न केवल सरकारी नौकरियों के लिए ही किया जाय, अपितु देश तथा समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाय, फलतः इस शिक्षा की बड़ी उन्नति हुई है। भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त, जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, इधर बहुत-से कॉलेज तथा अनुसन्धानशालाएँ खुली हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में बंगाल में जादवपुर नामक स्थान में 'कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग एण्ड टेकनोलॉजी' स्थापित किया गया था। सन् 1917 में हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस में भी इंजीनियरी की कक्षाएँ खुलीं। इसके अतिरिक्त पटना, लाहौर तथा कराची इंजीनियरिंग कॉलेज खुले। इस प्रकार सन् 1937 तक भारत में आठ इंजीनियरिंग कॉलेज हो गये। इनमें से कराची तथा लाहौर सन् 1947 में पाकिस्तान में चले गये। सन् 1947 में इनकी संख्या भारत में 17 हो गयी। 'वुड-ऐबट समिति रिपोर्ट' तथा सार्जेण्ट योजना से भी इस दिशा में बहुत प्रगति हुई, जिसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। सन् 1946 में 'एन० आर० सरकार समिति' की स्थापना हुई जिसने देश के पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण में चार बड़े कॉलेज स्थापित करने की सिफारिश की।

स्वतन्त्रता के उपरान्त तकनीकी शिक्षा के महत्त्व को और भी अधिक समझा गया। इसके लिए उद्योग, वाणिज्य, परिवहन, संचार, कृषि, जन-स्वास्थ्य तथा इंजीनियरी इत्यादि सभी क्षेत्रों में शिक्षा की व्यवस्था की जाने लगी। सन् 1947 के उपरान्त तकनीकी शिक्षा की सुविधाएँ बढ़ने लगीं।

4. **कृषि शिक्षा**—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कृषि शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान जाने लगा। सन् 1901 में भारत सरकार ने 'इन्सपेक्टर जनरल ऑफ एग्रीकल्चर' का पद स्थापित किया और कृषि-विभाग का विस्तार किया। सन् 1905 से प्रति वर्ष 20 लाख रुपया कृषि में प्रयोग तथा अनुसन्धान करने के लिए सुरक्षित कर दिया गया। कृषि शिक्षा की अधिक सुविधाएँ उपलब्ध करने के लिए भी केन्द्रीय सरकार ने योजना बनायी। तदनुसार सन् 1908 में केन्द्रीय अनुसन्धानशाला, पूसा (बिहार) की स्थापना

की गयी। इसकी स्थापना में अमरीका के एक दानी श्री हेनरी फिप्स के 30 हजार डॉलर के दान से बहुत सहायता मिली। सन् 1934 में भूचाल के उपरात यह अनुसन्धानशाला दिल्ली में आ गयी। इसके अतिरिक्त कानपुर (सन् 1906), कोयम्बटूर (1909), सेबर (1909) तथा लायलपुर में सन् 1910 में कृषि कालेजों की स्थापना हुई। पूना कृषि स्कूल को कॉलेज बना दिया गया। नैनी, कानपुर और नागपुर में भी कालेज खुले। सैयदपेट तथा शिवपुर कॉलेज भंग कर दिये गये। इन छह कालेजों में पाँच का प्रबन्ध सरकार के हाथ में था तथा नैनी में स्थित इलाहाबाद एग्रीकल्चर इन्स्टीट्यूट का प्रबन्ध एक अमरीकी मिशन के अधीन था। इसके अतिरिक्त सन् 1928 में कृषि कमीशन की नियुक्ति हुई, जिसने सम्पूर्ण क्षेत्र का अध्ययन करके कृषि तथा ग्रामीण अवस्थाओं में सुधार के सुझाव रखे। इसकी सिफारिशों के फलस्वरूप सन् 1929 में 'इम्पीरियल काउंसिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च' की स्थापना की गयी। माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा में भी कृषि को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया। गत वर्षों से कृषि शिक्षा का बहुत विकास किया जा रहा है। कालेजों की संख्या में वृद्धि की जा रही है तथा अनुसन्धान के लिए अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान की जा रही हैं।

### सन् 1948 से वर्तमान तक

तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा के विकास के दृष्टिकोण से यह काल अत्यन्त महत्त्व का माना जा सकता है। सन् 1947 तक तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा का देश में शिलान्यास हो चुका था। युद्धोत्तरकाल में इस शिक्षा की माँग काफी बढ़ गयी थी। अत: जब देश स्वतन्त्र हो गया तो यह माँग और भी अधिक बलवती हो उठी। इधर नियोजित आर्थिक विकास की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि देश में पर्याप्त संख्या में कुशल इंजीनियर, टेकनीशियन तथा अन्य व्यवसायों में प्रशिक्षित व्यक्ति उपलब्ध हों, जो देश के पुनर्निर्माण में अपना योग दे सकें। देश के औद्योगीकरण के उत्तरोत्तर विकसित आधार को देखते हुए औद्योगिक शिक्षा की भी आवश्यकता थी। इसी प्रकार कृषि, चिकित्सा तथा अन्य व्यावसायिक क्षेत्रों में भी विशिष्ट शिक्षा की भारी माँग बढ़ गयी। परिणामत: अब भारत में तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जा रहा है।

### इंजीनियरी तथा तकनीकी शिक्षा

सन् 1948 के उपरान्त तकनीकी शिक्षा का जो वास्तविक विकास हुआ उसका सूत्रपात प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ हुआ। प्रथम योजना के अन्तर्गत उन कार्यों को पूर्ण किया गया जो पहले ही प्रारम्भ किये जा चुके थे। प्रथम योजना में इस शिक्षा पर 11·5 करोड़ रुपये व्यय किये गये। इसमें से 4·2 करोड़ रुपये केवल खड़गपुर के इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेकनोलॉजी पर व्यय किये गये।

देश में तकनीकी शिक्षा प्राप्त कितने लोगों की आवश्यकता है, इस बात का अनुमान लगाने के लिए प्रथम योजना में ही एक 'टेकनीकल जन-शक्ति समिति' (Tech-

nical Man-power Committee) की स्थापना कर दी गयी थी। इस समिति का मत था कि कुछ समय के लिए तकनीकी तथा इंजीनियरी शिक्षा के लिए वर्तमान शिक्षा संस्थाओं में स्टाफ तथा सज्जा की सुविधाओं में ही वृद्धि की जाय और उनके शिक्षण के मानदण्ड को उठाया जाय, किन्तु आगे चलकर समिति को अपने विचार बदलने पड़े और उसे नये स्कूलों और कालेजों की स्थापना पर भी बल देना पड़ा।

सन् 1956 में योजना आयोग ने एक 'इंजीनियरिंग पर्सनेल समिति' की नियुक्ति की। इस समिति ने इस बात का अनुमान लगाया कि विभिन्न विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए द्वितीय योजना में कितने इंजीनियरों की आवश्यकता होगी। समिति ने सिफारिश की थी कि आवश्यकता-पूर्ति के लिए 18 इंजीनियरी कॉलेज व 62 पॉलीटेकनिक संस्थाओं की स्थापना और की जाय, जहाँ 2,794 डिग्री तथा 8,221 डिप्लोमा कोर्स के अतिरिक्त विद्यार्थियों को शिक्षण दिया जा सके। ये विद्यार्थी सिविल, मिकेनीकल, विद्युत तथा संवादवाहन-इंजीनियरी की शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। समिति ने शिक्षा के मानदण्ड को उठाने के लिए योग्य व प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति, परीक्षा-प्रणाली में सुधार तथा प्रेक्टिकल कार्य की अधिक सुविधाएँ प्रदान करने तथा संस्थाओं में पर्याप्त इंजीनियरी-सज्जा उपलब्ध करने की सिफारिशें कीं। तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम योजना में सिंचाई व शक्ति, यातायात तथा संवादवाहन की इंजीनियरी को प्राथमिकता दी गयी तथा द्वितीय योजना में औद्योगिक इंजीनियरी पर बल दिया गया। तृतीय योजना के अन्तर्गत इंजीनियरी व तकनीकी शिक्षा का आधार बहुत विस्तृत कर दिया गया।

सन् 1961 में 'पोस्ट ग्रेजुएट इंजीनियरी शिक्षा एवं अनुसन्धान समिति' की नियुक्ति की गयी। विदेशी मित्र देशों से मिलने वाली उदार सहायता से तकनीकी तथा इंजीनियरी शिक्षा के विकास में अत्यन्त प्रोत्साहन मिला है। सन् 1951 में सर्वप्रथम यूनेस्को ने बाह्य सहायता का सूत्रपात किया था, उसके उपरान्त रूस, अमरीका, प० जर्मनी तथा कोलम्बो योजना के अन्तर्गत देशों ने इस सम्बन्ध में योगदान किया है। हमारे देश में टेकनोलॉजी की प्रायः सभी उच्च संस्थाएँ इस प्रकार की सहायता से लाभान्वित हो रही हैं।

सन् 1962 में देश में संकटकालीन स्थिति की घोषणा के उपरान्त इंजीनियरी शिक्षा के कार्यक्रमों पर फिर से दृष्टिपात किया गया और उन्हें देश की प्रतिरक्षा को ध्यान में रखते हुए पर्याप्ततः संशोधित कर दिया गया। तृतीय आयोजन काल में ग्रेजुएट इंजीनियरों की संख्या सन् 1960-61 में 58 हजार से बढ़कर 1965-66 में 93 हजार हो गयी। डिप्लोमा छात्रों की संख्या इस अवधि में 75 हजार से बढ़कर 1·4 लाख तक पहुँच गयी। इस वृद्धि के बावजूद भी अभी देश में कुशल जन-शक्ति का कई विशिष्ट क्षेत्रों में अभाव है। प्रथम तीनों पंचवर्षीय आयोजनों के अन्तर्गत होने वाली प्रगति को अग्रलिखित तालिका में देखा जा सकता है :

## डिग्री तथा डिप्लोमा-स्तरों पर इंजीनियरी शिक्षा का विकास

| वर्ष | डिग्री-स्तर पर | | | | डिप्लोमा-स्तर पर | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | संस्थाओं की संख्या | स्वीकृत छात्र-संख्या | वास्तविक प्रवेश | सफल छात्र | संस्थाओं की संख्या | स्वीकृत छात्र-संख्या | वास्तविक प्रवेश | सफल छात्र |
| 1950-51 | 49 | 4119 | 4119 | 2198 | 86 | 5903 | 5903 | 2478 |
| 1955-56 | 65 | 5888 | 5888 | 4017 | 114 | 10486 | 10484 | 4499 |
| 1960-61 | 102 | 13824 | 13692 | 5703 | 195 | 25801 | 23736 | 7969 |
| 1965-66 | 133 | 24700 | 23315 | 10282 | 301 | 49900 | 43984 | 18029 |

चतुर्थ आयोजन काल में इंजीनियरी तथा तकनीकी शिक्षा पर 253 करोड़ रुपये को व्यय का प्रावधान है। इंजीनियरी के क्षेत्र में ग्रेजुएट तथा डिप्लोमा-स्तरों पर छात्रों की संख्या चतुर्थ आयोजन के अन्त तक क्रमशः 166 हजार और 2·54 लाख हो जायगी। योजना आयोग का अनुमान है कि यही संख्याएँ पाँचवीं योजना के उपरान्त सन् 1975-76 में क्रमशः 2·56 लाख तथा 4·64 लाख हो जायँगी। चतुर्थ आयोजन में इंजीनियरी शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने का विशेष यत्न किया जा रहा है। देश के आर्थिक विकास तथा प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही इंजीनियरी शिक्षा में परिवर्तन आवश्यक है।

गत वर्षों में इस शिक्षा में होने वाली तीव्र प्रगति के कारणों से मौजूदा संस्थाओं के प्रसाधनों पर पर्याप्त बल पड़ रहा है। सन् 1964 में एक सर्वेक्षण के द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि इंजीनियरी के कालेजों और पॉलीटेकनिक संस्थाओं में 35% शिक्षकों की कमी है। इसके अतिरिक्त सज्जा में 53%, पढ़ाई के कक्षों में 51% तथा छात्रावासों में 55% का अभाव है। इसका परिणाम यह होता है कि इंजीनियरी शिक्षा में, विशेषतः पॉलीटेकनीक स्तर पर अत्यन्त अपव्यय हो रहा है। अतः यह आवश्यक है कि चतुर्थ आयोजन में कालेजों की संख्या में वृद्धि न करके उपर्युक्त अभावों की ही पूर्ति की जाय और शिक्षा को ठोस बनाया जाय। इंजीनियरी शिक्षा को औद्योगिक आवश्यकताओं से भी सम्बद्ध करना होगा।

डिप्लोमा-स्तर पर नवीन संस्थाओं की स्थापना आवश्यक होगी और साथ ही मौजूदा स्कूलों का प्रसार करना होगा। नई संस्थाओं का समन्वय पुरानी संस्थाओं तथा औद्योगिक केन्द्रों से करना अधिक लाभदायक रहेगा। इससे तकनीकी शिक्षा की सुविधाएँ बढ़ जायेंगी और औद्योगिक केन्द्रों में छात्रों को व्यावहारिक शिक्षा देना सुगम हो जायगा। चतुर्थ आयोजन में डाक द्वारा तकनीकी प्रशिक्षण प्रदान करने के कार्यक्रम को कार्यान्वित किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि प्रशिक्षण का मानदण्ड नहीं गिरना चाहिए।

औद्योगिक प्रशिक्षण भी हमारी शिक्षा की एक भारी आवश्यकता है। तृतीय

आयोजन के अन्त में भारत में 356 औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाएँ थीं, जिनमें 1·17 लाख लोगों को 29 विभिन्न इंजीनियरी ट्रेड की शाखाओं और 22 गैर-इंजीनियरी ट्रेडों में प्रशिक्षण देने की सुविधाएँ थीं। ऐसा अनुमान है कि चतुर्थ आयोजन में लगभग दस लाख कुशल कारीगरों की आवश्यकता होगी। इसके लिए वर्तमान संस्थाओं के अतिरिक्त 113 नई संस्थाएँ खोली जा रही हैं। इसके अतिरिक्त रेलवे, प्रतिरक्षा तथा राज्यों के लघु उद्योग विभागों द्वारा अपने कारीगरों के प्रशिक्षण की सुविधाओं में भारी वृद्धि की जा रही है।

इंजीनियरी तथा टेकनोलॉजी में डिग्री-स्तर का एक तीनवर्षीय कोर्स प्रारम्भ करने की योजना बनायी गयी थी। इसके लिए 23 कॉलेज चुने गये हैं जहाँ 1,035 छात्रों का प्रवेश हो सकेगा। इन कालेजों में इंजीनियरी तथा टेकनोलॉजी की विभिन्न शाखाओं में पोस्ट-ग्रेजुएट शिक्षण की व्यवस्था की गयी है। बम्बई, कानपुर तथा मद्रास में टेकनोलॉजी के इन्स्टीट्यूट भी स्थापित हो चुके हैं और दिल्ली में भी इंजीनियरी तथा टेकनोलॉजी का एक कॉलेज उन्हीं के अनुरूप विकसित किया गया है। कलकत्ता तथा अहमदाबाद में दो अखिल भारतीय स्तर के इन्स्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेण्ट स्थापित किये गये हैं। औद्योगिक इंजीनियरी में प्रशिक्षण देने के लिए बम्बई में भी एक उच्च संस्था स्थापित की गयी है। राष्ट्र संघ की विशेष सहायता से एक औद्योगिक इंजीनियरी प्रशिक्षण राष्ट्रीय संस्था बम्बई में स्थापित की जा रही है।

टेकनीकल शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रमुख कठिनाइयाँ अनुभव की जा रही हैं वे हैं योग्य व प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव एवं भवन, सामग्री तथा विदेशी मुद्रा का अभाव। योजना आयोग का मत है कि इन अभावों के कारण टेकनीकल शिक्षा का मानदण्ड गिर गया है। शिक्षकों का अभाव दूर करने के उद्देश्य से अब तक सात केन्द्रों पर 'टेकनीकल टीचर्स ट्रेनिंग स्कीम' कार्यान्वित की जा रही है। इन केन्द्रों की संख्या में और वृद्धि की जाने की सम्भावना है। कुछ शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण के लिए विदेशों में भेजा जा रहा है। अखिल भारतीय टेकनीकल शिक्षा परिषद शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा उनके वेतन-क्रमों के प्रश्न को सहानुभूतिपूर्वक हल करने पर विचार कर रही है।

कोठारी शिक्षा आयोग ने देश में तकनीकी, इंजीनियरी तथा व्यावसायिक शिक्षा पर सविस्तार विचार किया है। आयोग के अनुसार इस शिक्षा के लिए एक ठोस कार्यक्रम अपनाने की आवश्यकता है ताकि सन् 1986 तक निम्न माध्यमिक स्तर के सम्पूर्ण छात्रों के 10 प्रतिशत और कक्षा दस से ऊपर के छात्रों के 50 प्रतिशत छात्र 'पार्ट-टाइम' अथवा पूर्णतः किसी न किसी प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा पा सकें। स्कूल-स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा के सभी पाठ्यक्रम अपने आप में पूर्ण हों किन्तु साथ ही मेधावी छात्रों को उच्च व्यावसायिक शिक्षा पाने की पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। आयोग ने सिफारिश की है कि मौजूदा औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओं (I.T.Is.) में चतुर्थ आयोजन काल में सुविधाएँ दूनी कर देनी चाहिए। प्रवेश की न्यूनतम आयु चौदह वर्ष कर देनी चाहिए ताकि पर्याप्त मात्रा में अर्द्ध-कुशल एवं कुशल

मजदूर तैयार किये जा सकें । तकनीकी हाई स्कूलों तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं में दिये जाने वाले प्रशिक्षण का सम्बन्ध उत्पादन से होना चाहिए । साथ ही यह भी आवश्यक है कि प्रशिक्षण पाने के उपरान्त जो श्रमिक किसी रोजगार में चले जायँ उन्हें समय-समय पर आधुनिक प्रगति से अवगत कराने के लिए पार्ट-टाइम प्रशिक्षण की सुविधाएँ देते रहना चाहिए ।

टेकनीशियनों की संख्या इंजीनियरों की तुलना में सन् 1986 तक चौगुनी हो जानी चाहिए । औद्योगिक क्षेत्रों में ही नये पॉलीटेकनिक खोले जायँ और जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में पहले से ही ये संस्थाएँ खुली हुई हैं वहाँ कृषि तथा कृषि-उद्योगों में प्रशिक्षण की अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान की जायँ । पॉलीटेकनिकों के डिप्लोमा छात्रों को यथासम्भव स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्रशिक्षण दिया जाय । उनके पाठ्यक्रम को देश की औद्योगिक माँग के अनुरूप ढालना आवश्यक होगा । कुछ चुने हुए पॉलीटेकनिकों को पोस्ट-डिप्लोमा पाठ्यक्रम के लिए विशेष रूप से विकसित किया जाना चाहिए । पॉलीटेकनिकों में प्रशिक्षण पाये हुए लोगों को अपना स्वयं का कोई उद्यम अथवा वर्कशॉप खोलने को प्रोत्साहन देना चाहिए । साथ ही व्यापारिक, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक ट्रेडों और क्लर्कों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी पॉलीटेकनिकों में दी जा सकती हैं । लड़कियों के लिए पृथक पॉलीटेकनिक खोले जाने चाहिए ।

इंजीनियरों की शिक्षा के विस्तार तथा सुधार के विषय में कोठारी आयोग ने विशेष बल दिया है । उसके अनुसार प्रवेश की न्यूनतम योग्यता बी० एस-सी० कर दी जाय । विभिन्न इंजीनियरी संस्थाओं में अध्यापकों के वेतन की विभिन्नता को समाप्त करना आवश्यक है । आयोग ने व्यावहारिक प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया है । मिश्रित पाठ्यक्रम भी चलाये जाने चाहिए । पाठ्यक्रमों में इस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके । देश की बदलती हुई आर्थिक, औद्योगिक तथा प्रतिरक्षात्मक आवश्यकताओं का सीधा सम्बन्ध इंजीनियरी शिक्षा से होना चाहिए । वर्कशापों पर जो भी प्रशिक्षण दिया जाय उसका एक उद्देश्य उत्पादन भी हो । पॉलीटेकनिक तथा माध्यमिक स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षण का माध्यम बनाने की सिफारिश आयोग ने की है । इंजीनियरी के लिए भी उनका कहना है कि साइंस फैकल्टी शिक्षा के माध्यम को ध्यान में रखकर ही उनका माध्यम निश्चित किया जाय, तथापि क्षेत्रीय भाषाओं में उच्च कोटि की पाठ्य पुस्तकों की रचना को पूर्ण प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए । इंजीनियरी शिक्षा के उपरान्त मेधावी छात्रों के लिए पोस्ट-ग्रेजुएट पाठ्यक्रम तथा अनुसन्धान की सुविधाएँ देना भी आवश्यक है । अनुसन्धान के द्वारा संसार के अन्य क्षेत्रों में होने वाली प्रगति से देश के इंजीनियरों को अवगत रखना होगा । दुर्भाग्य से इंजीनियरों तथा नीचे के स्तर के अन्य तकनीकी कर्मचारियों में भारी बेकारी की स्थिति उत्पन्न हो गयी है, परिणामस्वरूप अब इंजीनियरी के छात्रों की संख्या में कमी की जा रही है । ऐसा अनुमान है कि 1968-69 में 30% की कमी कर दी जायगी जिसके फलस्वरूप वर्तमान 25 हजार के स्थान पर प्रवेश लेने

वाले छात्रों की संख्या 15-16 हजार कर दी जायगी। डिप्लोमा-स्तर पर भी इसी प्रकार प्रवेश-संख्या घटा दी गयी है। वस्तुतः विस्तार के स्थान पर प्रशिक्षण-स्तर को ऊँचा उठाने और उसकी किस्म तथा प्रशासन में सुधार करने पर बल दिये जाने की सम्भावना है। किन्तु ऐसी आशा की जाती है कि चतुर्थ तथा पाँचवें आयोजन में देश की आर्थिक अवस्था में सुधार होने पर प्रवेश-संख्या में इंजीनियरी के डिग्री तथा डिप्लोमा, दोनों स्तरों पर ही वृद्धि करनी पड़ेगी।

**अन्य**

इसके अतिरिक्त कृषि-अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण, चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा, शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधा इत्यादि के लिए तृतीय योजना के अन्तर्गत पर्याप्त सुअवसर प्रदान किये गये हैं। कृषि-अनुसन्धान के लिए सन् 1929 में जो 'इण्डियन काउंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च' की स्थापना की गयी थी वह सन्तोषजनक कार्य कर रही है। दिल्ली में स्थापित 'इण्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' एक पुरानी संस्था है जो कृषि-अनुसन्धान में लगी हुई है। इजातनगर में पशु चिकित्सा की अनुसन्धानशाला; राष्ट्रीय डेरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, करनाल; केन्द्रीय चावल अनुसन्धान संस्था, कटक तथा केन्द्रीय आलू अनुसन्धान संस्था, शिमला भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। बारकपुर, कोचीन तथा अर्नाकुलम में मत्स्य-अनुसन्धान तथा मत्स्यपालन-प्रशिक्षण की विशेष सुविधाएँ हैं।

सन् 1951 के उपरान्त कृषि तथा पशु चिकित्सा के सम्बन्ध में शिक्षा-सुविधाओं में भारी प्रगति हुई है। सन् 1951-52 में देश में कृषि-ग्रेजुएटों के लिए 19 कॉलेज थे, जो सन् 1964-65 में 66 हो गये। इसी अवधि में वैटरिनरी कालेजों की संख्या 9 से बढ़कर 19 हो गयी। इनके अतिरिक्त कई राज्यों में कृषि विश्वविद्यालय खुल चुके हैं। कृषि, वन तथा सहकारिता के क्षेत्र में लगे हुए अधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं की शिक्षा की सुविधाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ायी जा रही हैं। इन क्षेत्रों में अनुसन्धान को भी प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

इसी प्रकार चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा एवं अनुसन्धान के क्षेत्र में इधर सन्तोषजनक उन्नति हुई है। मेडीकल कालेजों की संख्या प्रति वर्ष सभी राज्यों में बढ़ती जा रही है। दुर्भाग्य से देश में चिकित्सकों की, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में, भारी कमी है। अतः मेडीकल शिक्षा में कुछ ऐसा परिवर्तन करने की आवश्यकता है जिससे डाक्टर पर्याप्त संख्या में मिलने लगें। विभिन्न राज्यों की सरकारें इस बात पर विचार कर रही हैं कि डाक्टरी शिक्षा पाने वाले छात्रों के लिए एक या दो वर्ष के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर चिकित्सा करना उनके प्रशिक्षण को पूरा करने के लिए अनिवार्य कर दिया जाय। यदि ऐसा सम्भव हो सका तो डाक्टरी शिक्षा का आधार अधिक विस्तृत हो सकेगा। 'इण्डियन काउंसिल ऑफ मेडीकल रिसर्च' सन् 1912 से भारत में अनुसन्धान-कार्यों का समन्वय कर रही है।

यद्यपि गत अठारह वर्षों में मेडीकल शिक्षा में भारी प्रगति हुई है, तथापि अभी

देश में डाक्टरों की कमी है। मेडीकल कालेजों की संख्या सन् 1951 में 30 थी जो इस समय 90 तक पहुँच गयी है और छात्रों की संख्या भी ढाई हजार के स्थान पर 11 हजार तक पहुँच गयी है। चतुर्थ आयोजन में 15 कॉलेज नये खोले जायँगे। इस अवधि में 19 हजार डाक्टर प्रति वर्ष तैयार किये जायेंगे। इस क्षेत्र में पोस्ट-ग्रेजुएट शिक्षा तथा अनुसन्धान पर अधिक बल देने की आवश्यकता है क्योंकि मेडीकल कालेजों के शिक्षक इस क्षेत्र से प्राप्त हो सकेंगे। इस समय 800 छात्रों की सुविधा को बढ़ाकर चतुर्थ आयोजन के अन्त तक 4000 करने का लक्ष्य है। इसी दौरान नर्सों, हैल्थ विजिटरों तथा सेनिटरी इंसपैक्टरों के प्रशिक्षण को भी प्राथमिकता देनी होगी।

**उपसंहार**

इस प्रकार संक्षेप में हमने भारत में व्यावसायिक तथा टेकनीकल शिक्षा की प्रगति का वर्णन किया है। विश्व आज लौकिक वैभव के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अतीत का समृद्ध भारत बीच में एक दरिद्र राष्ट्र बन गया था, किन्तु आज पुनः इसने अँगड़ाई ली है और अपने स्वर्णिम भविष्य की ओर यह जिज्ञासा तथा आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। उसका यह स्वप्न तभी पूर्ण हो सकता है जब वह अपने औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त औद्योगिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करे। हर्ष की बात है कि वह इस पथ पर अडिग कदमों द्वारा अग्रसर होता जा रहा है।

अन्त में, हम अपने विवरण को इन शब्दों के साथ समाप्त करते हैं, "वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही विज्ञान ने उत्तरोत्तर गति से प्रगति की है, जिसके फलस्वरूप विकसित तथा अविकसित राष्ट्रों के बीच की खाई और भी अधिक चौड़ी हो गयी है। अतः विज्ञान के विकास के लिए अत्यन्त तीव्र साधनों एवं घोर श्रम के द्वारा ही हम उस खाई को पाट सकते हैं। भारत जैसे महान देश का, जिसमें विद्वत्ता एवं मौलिक चिन्तन की प्राचीन परम्पराएं हैं और जिसका एक गौरवान्वित सांस्कृतिक अतीत है, यह नैसर्गिक उत्तरदायित्व है कि वह इस विज्ञान की उन्नति में अपना पूर्ण योग दे जो सम्भवतः आज के युग में मानव की सबसे बड़ी सफलता है।"[3]

## सारांश

**भारतीय आधुनिक शिक्षा प्रारम्भ से ही साहित्यिक रही है और उसमें टेकनीकल तथा व्यावसायिक विषयों की अवहेलना की गयी है। इसकी अपेक्षाकृत भी सदा थोड़ा बहुत प्रयत्न टेकनीकल व व्यावसायिक शिक्षा का किया गया है। इसे चार कालों में बांटा जा सकता है—सन् 1800 से 1857 तक, सन् 1857 से 1902 तक, सन् 1903 से 1947 तक और सन् 1948 से वर्तमान तक।**

**प्रथम युग में जो कुछ भी प्रयास टेकनीकल व व्यावसायिक शिक्षा के प्रचार के लिए किये गये वे नगण्य हैं। इस युग में केवल सूत्रपात किया गया।**

**द्वितीय युग में यद्यपि व्यावसायिक शिक्षा का पहले से अधिक प्रचार हुआ,**

Government of India, *Scientific Policy Resolution*, *op cit.*, para 6.

तथापि इसका उद्देश्य केवल ऐसे अनुभवी व प्रशिक्षित भारतीय उत्पन्न करना था जो अंग्रेज अफसरों के नीचे विभिन्न सरकारी विभागों में प्रशासन तथा संगठन-कार्य सुचारु रूप से चला सकें। सन् 1857 में कलकत्ता, बम्बई व मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना हो जाने से कानून, चिकित्सा, इंजीनियरी, कृषि, विज्ञान, वाणिज्य तथा टेकनीकल शिक्षा के विषय भी विश्वविद्यालयों में नियमित रूप से प्रारम्भ कर दिये गये और उनके शिक्षण की सुविधाएँ उपलब्ध की गयीं। कानून, चिकित्साशास्त्र, कृषि विज्ञान तथा इंजीनियरी शिक्षा की इस युग में पहले से अधिक प्रगति हुई। प्रत्येक विषय में नये कालेजों की स्थापना हुई और उनमें प्रशिक्षण की सुविधाएँ उपलब्ध की गयीं।

तृतीय व चतुर्थ युग तकनीकी एवं औद्योगिक शिक्षा की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अब तक तकीनीकी व व्यावसायिक शिक्षा केवल नौकरी पाने के लिए प्राप्त की जाती थी किन्तु अब जनसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा प्रत्यक्ष उत्पादन करने के उद्देश्य से भी प्रशिक्षण प्राप्त किया जाने लगा। राजनीतिक चेतना, बढ़ती हुई बेकारी, विदेशियों द्वारा आर्थिक शोषण के प्रति रोष तथा अन्त में देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता आदि सभी कारणों से देश की जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ कि अब हमें कोरी सैद्धान्तिक शिक्षा के स्थान पर व्यावहारिक जीवन की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। अतः सरकार, जनता, उद्योगपतियों एवं राजनीतिक नेताओं ने शिक्षा के कलेवर को बदल कर उसे एक व्यावसायिक शिक्षा-प्रधान रूप देने का प्रयास किया। इन सभी प्रयत्नों के फलस्वरूप आज देश में बहुत-से टेकनीकल व इंजीनियरी के कॉलेज खोले जा रहे हैं, पुरानों में अधिक विद्यार्थियों को प्रशिक्षण दिया जा रहा है; विज्ञान, टेकनोलॉजी तथा इंजीनियरी में विशेष शिक्षा प्राप्त करने योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जा रही हैं तथा कुछ विद्यार्थी विदेशों को भेजे जा रहे हैं। भारत सरकार की पंचवर्षीय योजनाओं में टेकनीकल व व्यावसायिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए पर्याप्त धन-राशि की व्यवस्था की गयी है। माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर बहुमुखी पाठ्यक्रम के स्कूल खोले जा रहे हैं तथा विश्वविद्यालय स्तर पर अण्डरग्रेजुएट एवं पोस्ट-ग्रेजुएट स्तर की टेकनीकल व इंजीनियरी की शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है। बहुत-से पॉलीटेकनिक खोले जा रहे हैं। यह आवश्यक है कि नव-भारत के निर्माण व विकास के लिए अधिक से अधिक ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न किया जाय जो विभिन्न उद्यमों में प्रशिक्षण प्राप्त हों। आशा है कि निकट भविष्य में ही भारतीय शिक्षा के पुराने दोषों का निराकरण होकर दिन-प्रतिदिन शिक्षा में विज्ञान, टेकनोलॉजी तथा इंजीनियरी एवं अन्य उद्यमों सम्बन्धी विषयों का समावेश होता जायगा।

# 23

# भारत में सामाजिक शिक्षा

**भूमिका**

यह बात सर्वविदित है कि भारत में लगभग 24% साक्षरता है और देश का 76% जनसमूह निरक्षरता में निमग्न है। भारत की बदलती हुई राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों में जनता की यह विशाल निरक्षता एक दुरूह रोड़े के समान अटकी हुई है। स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत विश्व में जनतन्त्र का एक महान परीक्षण कर रहा है। किन्तु अशिक्षित जनसमूह के जनतन्त्र, सामाजिक न्याय तथा उत्तरदायित्व इत्यादि के उक्त सिद्धान्तों के समझने तथा उनकी सराहना करने में असमर्थ होने के कारण, जनतन्त्र के परीक्षण की सफलता ही संदिग्ध है। जब तक देश का मतदाता अपने मत और कर का महत्त्व नहीं समझता है, तब तक हमारा जनतन्त्र एक धोखा है।[1] अयोग्य व अशिक्षित व्यक्तियों के हाथों इसका दुरुपयोग होने का भय है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि भारत में कोई भी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सुधार करने के साथ ही साथ उनके लिए उपयुक्त भूमि तैयार कर ली जाय। सामाजिक शिक्षा इसका एक शक्तिशाली साधन है।

**मूल सिद्धान्त**

प्रौढ़ शिक्षा का अर्थ आधुनिक युग में बदलता जा रहा है। कुछ समय पूर्व प्रौढ़ शिक्षा केवल 'साक्षरता' तक ही सीमित थी, किन्तु साक्षरता को हम शिक्षा नहीं कह

[1] *Cf.* "In a democracy, there must be widespread education permeating the life of the community. This demands provision for universal compulsory free education to the growing generations. It is not without significance that the concept of universal free education has grown with the extension of franchise among the people .........In countries, where education is not widespread and which have adopted a democratic way of life, it is thus necessary to undertake social programmes to eradicate illiteracy among adults. In this way alone can the deficiencies created by the past lack of educational facilities be overcome."
—Humayun Kabir, *Education in New India, op. cit.*, pp. 76-77.

सकते, यद्यपि यह शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने की कुंजी है। साक्षरता के द्वारा शिक्षा-द्वार उन्मुक्त हो जाता है जिसमें प्रवेश करके मनुष्य ज्ञान-मन्दिर तक पहुँचता है। जब तक समाज में अशिक्षा व अज्ञान है, शोषण का उन्मूलन नहीं हो सकता। इस शोषण से निर्धनता और निर्धनता से पुनः अज्ञान और संकट की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह कुचक्र ही चलता रहता है और ऐसी अवस्था में सामाजिक न्याय तथा जनतन्त्र की सभी सद्भावनाओं का लोप हो जाता है। जनतन्त्र की सफलता मतदाताओं के एक ऐसे समाज पर निर्भर है जो बुद्धिमान हो तथा जनतन्त्र के उद्देश्यों को समझने में असमर्थ हो।

अमरीका के एक प्रौढ़ शिक्षा विशेषज्ञ, पॉल वर्जीविन के अनुसार "जनतन्त्र ऐसे बुद्धिमान तथा सदा जागरूक नागरिकों पर निर्भर है जो राजनीतिक धूर्तों को पहचानने की क्षमता रखते हों, अपने स्वयं तथा नागरिकों के हित में विचारों का उचित निर्णय तथा मूल्यांकन करने का विवेक रखते हों, इस बात को समझने की क्षमता रखते हों कि समाज में निरन्तर ऐसी शक्तियाँ कार्यशील रहती हैं जिनके पास दिखाने को कुछ एवं देने को कुछ और है। वे (नागरिक) ऐसे होने चाहिए जो विरोधियों के अधिकारों का आदर करते हुए अपने निजी विचार व्यक्त करने की कुशलता भी रखते हों।"[2]

इस प्रकार प्रौढ़ शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वयस्कों को कुछ समय के लिए ही केवल पुस्तकीय ज्ञान देना पर्याप्त नहीं होगा। वास्तव में, शिक्षा तो एक निरन्तर धारा है। मनुष्य जीवन भर अनायास ही ज्ञान प्राप्त करता रहता है। अतः प्रौढ़ शिक्षा की किसी भी योजना को सफल बनाने के लिए सुसंगठित और स्थायी व्यवस्था की आवश्यकता है। केवल पवित्र भावनाएँ और उच्च शब्दावली, जैसा कि भारत में अब तक प्रौढ़ शिक्षा-क्षेत्र में रहा है, इस महान कार्य के लिए पर्याप्त नहीं हैं। वास्तविक शिक्षा के लिए प्रौढ़ों को साधारण तथा विशेष अथवा औद्योगिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए निरन्तर सुअवसर मिलना चाहिए। इसके लिए प्रथमतः उनके समक्ष उन विषयों का अध्ययन रखना चाहिए जो उनके स्वयं से सम्बन्धित हों। इन विषयों के प्रस्तुत करने का आकर्षक ढंग उन्हें शिक्षा के मूलभूत लाभों की ओर आकर्षित कर सकता है। उसके उपरान्त ज्ञान-क्षितिज के विकसित होने पर वे स्वभावतः अपने समीपवर्ती वातावरण को समझने का प्रयास करेंगे और इस प्रकार उनकी शिक्षा में एक स्वाभाविक प्रगति हो सकेगी।

इस विषय में एक बात और आवश्यक है, वह यह कि यदि हम प्रौढ़ शिक्षा की केवल किसी सामयिक तथा अल्पकालीन समस्या का मुकाबला करने के लिए ही संगठित करना चाहते हैं तो हमें मनोवांछित सफलता नहीं मिल सकती है। दुर्भाग्य से भारत का समाज अनेक दोषों में जकड़ा हुआ है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक बुराई का उन्मूलन करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा के क्षणिक नुस्खे केवल शक्ति और प्रयास का

Paul Verjivin, *A Philosophy of Adult Education*, p. 8.

दुरुपयोग मात्र हैं। वस्तुतः प्रौढ़ शिक्षा एक ऐसी निरन्तर पद्धति के रूप में विकसित होनी चाहिए जिससे जनसाधारण का सर्वांगीण व स्थायी विकास हो। भारत में कुछ उत्साही तथाकथित सुधारकों के लिए प्रौढ़ शिक्षा की इतिश्री केवल इसी प्रयास में हो जाती है कि कुछ निरक्षर व्यक्ति, बिना वर्णमाला के समझे हुए ही, केवल कुछ घण्टों में अपने हस्ताक्षर मात्र कर लें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रौढ़ शिक्षा का यह उद्देश्य अत्यन्त अपर्याप्त, संकीर्ण व हास्यास्पद है। गत तीन दशकों का अनुभव इस दिशा में यह बताता है कि प्रौढ़ शिक्षा के लिए किये गये ऐसे सभी आन्दोलन क्षणिक सिद्ध हुए हैं और इस प्रकार शिक्षित किये गये वयस्क भी उस हस्ताक्षर ज्ञान से किसी प्रकार भी लाभान्वित नहीं हो सके हैं। फलतः अन्त में पुनः निरक्षर बन गये हैं।

प्रौढ़ शिक्षा की कोई भी योजना हो, उसमें कम से कम प्रौढ़ के मानसिक विकास, नागरिकता, सांस्कृतिक विकास तथा औद्योगिक प्रशिक्षण की परिपक्वता को अवश्य दृष्टिगत रखना होगा। प्रौढ़ शिक्षा की योजनाओं को राजनीतिक सुअवसर के शोषण के लिए लागू करना एक अत्यन्त ही भयानक बुराई है, किन्तु दुर्भाग्य से वर्तमान में हमारे देश में अब तक इसका उपयोग अधिकांश में इसी दिशा में किया गया है। राजकीय आधार पर अथवा समाज-सुधारकों के संगठित और पूर्ण नियोजित कार्यक्रम के रूप में प्रौढ़ शिक्षा का आन्दोलन हमारे देश में अभी तक सफलतापूर्वक नहीं चलाया गया है। यह बात निर्विवाद सत्य है कि जब तक प्रौढ़ शिक्षा के लिए विशाल स्तर पर आन्दोलन नहीं छेड़ा जायगा तथा जब तक राज्य के द्वारा इस ओर क्रियात्मक कदम नहीं उठाये जायेंगे, प्रौढ़ शिक्षा हमारे देश के लिए एक पवित्र आशा ही बनी रहेगी और अपने देश के अपार जनमूह को शिक्षित करने के लिए हमें अनन्तकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

अन्त में, प्रौढ़ शिक्षा के लिए भारत में किये गये प्रयत्नों का क्रमिक इतिहास देने से पूर्व यह कहना आवश्यक है कि जनतन्त्र के लिए प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों के सामाजिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक तथा शारीरिक ज्ञान के क्षितिज को विकसित करना होना चाहिए जिससे देश में सुखी व स्वस्थ नागरिक, बुद्धिमान मतदाता तथा कुशल कारीगर व कलाकार स्थायी रूप से उन्नत हो सकें। वस्तुतः ऐसी शिक्षा ही पूर्ण सामाजिक शिक्षा होगी।

**भारत में प्रगति**

यह आश्चर्य की बात है कि प्रौढ़ शिक्षा का आन्दोलन भारत जैसे देश में, जहाँ इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, बहुत देर से प्रारम्भ हुआ। प्रत्येक आधुनिक सभ्य देश में इस ओर आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। रूस, अमरीका, जर्मनी, जापान, इंगलैण्ड, कनाडा तथा डेनमार्क इत्यादि देशों ने प्रौढ़ शिक्षा के लिए सराहनीय प्रयत्न किये हैं। वहाँ कारखानों तथा खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए, किसानों तथा अन्य नौकरी-पेशे वाले स्त्री-पुरुषों के लिए न केवल साक्षरता की ही सुविधा है, अपितु उनके उद्यम सम्बन्धी उच्च औद्योगिक ज्ञान, व्यापार, साहित्य, विज्ञान तथा कला इत्यादि के

अध्ययन की भी व्यवस्था है। ऐसे लोगों के लिए जो विद्यार्थी जीवन में किसी कारण-वश स्कूल तथा कॉलेज छोड़ने को विवश हो गये अथवा तत्सम्बन्धी शिक्षा से वंचित रहे, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों, रात्रि पाठशालाओं, रविवार स्कूलों, पूर्वानुबद्ध स्कूलों (continuation schools) तथा विश्वविद्यालय प्रसार-कक्षाओं (university extension classes) के रूप में निःशुल्क तथा कहीं-कहीं पर अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था है।

संयुक्त राज्य अमरीका में लगभग चार करोड़ प्रौढ़ इस समय शिक्षा के द्वारा आत्म-विकास का सुअवसर पा रहे हैं। वहाँ पब्लिक स्कूल तथा विश्वविद्यालयों में रात्रि कक्षाएँ खुली हुई हैं जहाँ सहस्रों प्रौढ़ परिवारों के बड़े-बूढ़े व्यक्ति तथा अन्य वयस्क, जो अपनी सांस्कृतिक उन्नति तथा जीवन में अपनी दशा में सुधार करने के इच्छुक हैं, ज्ञान तथा कुशलता-प्राप्ति के लिए अध्ययन करते हैं। केवल पब्लिक स्कूलों में ही लगभग चालीस लाख प्रौढ़ शिक्षा पाते हैं।

अमरीका में साधारण शिक्षा तथा विशेष व्यावसायिक शिक्षा ऐसे श्रमिकों को भी उपलब्ध है जो विभिन्न उद्योग-धन्धों और कारखानों में काम करते हैं। सन् 1962 में वहाँ लगभग 650 ऐसे डाक स्कूल (correspondence schools) थे जिनमें डाक द्वारा लगभग पन्द्रह लाख प्रौढ़ शिक्षा पाते थे। इनके अतिरिक्त लगभग 42 राजकीय विश्वविद्यालय तथा कॉलेज भी डाक द्वारा प्रौढ़ों को शिक्षा देते थे।

इसके अतिरिक्त विदेशों से आने वाले आवासियों (immigrants) के लिए बहुत-से बड़े नगरों में विशेष कक्षाएँ लगती हैं, जहाँ उन्हें शीघ्र ही अंग्रेजी भाषा सीखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, जिससे नागरिकता के लाभों को उपलब्ध कर सकें और साथ ही अपने उत्तरदायित्वों की सराहना भी कर सकें।

अमरीका में 'जन शिक्षालय भवन' (public school houses) भी हैं, जहाँ समाज के सभी व्यक्ति एकत्रित होते हैं। इन स्थानों पर प्रायः प्रौढ़ शिक्षा कार्यों के अतिरिक्त अभिभावक व शिक्षक संघों (parent-teachers associations) तथा अन्य नागरिकों की सभाएँ होती हैं। इस प्रकार इधर कई वर्षों से वहाँ जनता का सामाजिक शिक्षा की ओर ध्यान भी बढ़ता ही जा रहा है। जर्मनी में भी इसी प्रकार के परीक्षण हो रहे हैं और वहाँ 'स्टडी फाउण्डेशन ऑफ जर्मन पीपुल' नामक तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाएँ सराहनीय कार्य कर रही हैं।

इस प्रकार प्रगतिशील देशों के समक्ष सामाजिक शिक्षा-क्षेत्र में भारत का उदाहरण अत्यन्त खेदजनक है। इस दिशा में किये गये प्रयत्न संक्षेप में निम्न प्रकार हैं :

**प्रारम्भिक प्रयास**

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशकों में प्रौढ़ शिक्षा-क्षेत्र में कोई भी उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया गया। कुछ रात्रि पाठशालाएँ अवश्य कहीं-कहीं स्थापित थीं, किन्तु उनमें बालक भी पढ़ते थे। उनकी स्थापना केवल प्रौढ़ शिक्षा के लिए ही नहीं हुई थी, ये शिक्षालय प्रधानतः ऐसे बच्चों को अर्द्ध-सामाजिक शिक्षा देने के प्रयास मात्र थे जो आर्थिक कारणों से मजदूरी करने को विवश थे। साथ ही इन स्कूलों में वयस्कों

को भी प्रविष्ट किया जाता था। मद्रास, बंगाल और बम्बई प्रान्तों में ही यह रात्रि पाठशाला आन्दोलन चला। सन् 1909 में मद्रास में 775, बंगाल में 1,082 तथा बम्बई में 107 ऐसी पाठशालाएँ थीं। आगे चलकर यह संख्या घट गयी। सन् 1921 में जब प्रान्तों को कुछ अधिकार मिले तथा जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के धारासभा में जाने की व्यवस्था हुई, उस समय प्रौढ़ शिक्षा के महत्त्व को समझा गया। जनता को मताधिकार मिलने के उपरान्त इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उसका सदुपयोग भी हो। भारत के जनसाधारण के अशिक्षित होने के कारण अब राजनीतिज्ञों, सुधारकों तथा सरकार का ध्यान प्रौढ़ शिक्षा के महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर आकर्षित हुआ। कुछ पुस्तकालयों की स्थापना भी हुई।

"कुछ प्रान्तों में इस प्रश्न पर गम्भीर चिन्तन हुआ तथा कुछ संगठित प्रयास भी हुए। सन् 1921 में संयुक्त प्रान्त में सरकार ने छह नगरपालिकाओं को प्रौढ़ शिक्षा के लिए रात्रि पाठशालाएँ खोलने के लिए आर्थिक सहायता दी।···पंजाब में 100 से अधिक रात्रि पाठशालाएँ खोली गयीं। ये संस्थाएँ प्रधानतः गाँवों में सहकारी समितियों द्वारा संचालित थीं।···बम्बई में भी इसी प्रकार की व्यवस्था है।···इन स्कूलों का संचालन शिक्षा-विभाग द्वारा और निरीक्षण विशेष निरीक्षकों द्वारा होता है। बम्बई की ये रात्रि पाठशालाएँ हैं जो एक केन्द्र पर दो वर्ष तक रहती हैं।"[3] इसी प्रकार के प्रयास मध्य प्रान्त, बंगाल तथा मद्रास में हुए। किन्तु कोई ऐसा आन्दोलन न छेड़ा गया जो इस देशव्यापी बुराई की जड़ पर सामूहिक रूप से कुठाराघात करता।

**सन् 1921 से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक प्रौढ़ शिक्षा**

सन् 1919 के भारतीय शासन विधान के अनुसार प्रान्तों में शिक्षा जन-प्रतिनिधि मन्त्रियों के अधिकार में आ गयी। परिणामतः प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार के लिए सराहनीय उद्योग किये गये। पंजाब, मद्रास, बम्बई तथा उत्तर प्रदेश इस दृष्टिकोण से प्रमुख हैं। सन् 1927 में पंजाब में 3,784; मद्रास में 5,604; बम्बई में 193 तथा बंगाल में 1,519 प्रौढ़ शिक्षा स्कूल स्थित थे।

सन् 1922 से 1927 तक की प्रगति निम्नलिखित तालिका से जानी जा सकती है :[4]

| वर्ष | स्कूलों की संख्या | विद्यार्थियों की संख्या |
|---|---|---|
| 1922-23 | 630 | 17,776 |
| 1923-24 | 1,528 | 40,883 |
| 1924-25 | 2,372 | 61,961 |
| 1925-26 | 3,206 | 85,371 |
| 1926-27 | 3,784 | 98,414 |

[3] *Quinquennial Review of the Progress of Education in India*, 1912-17, para 292

[4] *Social Education*, Ministry of Education, Government of India, p. 7.

सन् 1928 तक तो प्रौढ़ शिक्षा में प्रगति हुई, किन्तु सन् 1929 में आर्थिक मन्दी प्रारम्भ हो जाने से प्रौढ़ शिक्षा के बहुत-से केन्द्र बन्द हो गये। राजनीतिक विप्लव तथा साम्प्रदायिक घटनाओं ने भी शिक्षा पर अपना प्रभाव डाला। कुछ ईसाई धर्म-प्रचारकों के कार्य अवश्य चलते रहे। इनमें डॉ० ल्यूकस ने इलाहाबाद में प्रौढ़ शिक्षा-प्रचार किया और रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी में कई पुस्तिकाएँ तैयार कीं। इसी प्रकार डॉ० लॉरेंस ने मणिपुर में हिन्दी तथा डेनियल ने मद्रास में तमिल की कक्षाएँ चलायीं और प्रारम्भिक पुस्तिकाएँ भी तैयार करायीं।

पंजाब जो अब तक प्रगति कर रहा था, वह भी इस काल में उन्नति नहीं कर सका और वहाँ बहुत-सी प्रौढ़ पाठशालाएँ बन्द कर दी गयीं। वहाँ नॉर्मल स्कूलों के छात्राध्यापकों ने कुछ कार्य किया और गाँवों में कुछ पुस्तकालय खोले गये। मध्य प्रान्त और बिहार में भी सन् 1928 में कुछ पुस्तकालय खुले।

अन्य प्रान्तों की अपेक्षा इस काल में बम्बई में अवश्य प्रगति जारी रही। सन् 1932-33 में वहाँ 143 प्रौढ़ पाठशालाएँ थीं, जिनमें 5,660 विद्यार्थी पढ़ते थे। सन् 1937 से इनकी संख्या 180 हो गयी और विद्यार्थी भी 6,299 हो गये। इस वृद्धि का कारण यह था कि बम्बई सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा में रुचि लेना आरम्भ कर दिया था। साथ ही अन्य संस्थाएँ, जैसे पूना की 'ग्रामीण पुनर्संगठन संघ' व 'प्रौढ़ शिक्षा लीग' तथा बम्बई में 'सेवा-सदन', 'सोशल लीग' तथा 'बम्बई नगर साक्षरता संघ' इत्यादि भी प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार करने लगीं। बड़ौदा में पुस्तकालयों की स्थापना की गयी। केरल ने भी इसी का अनुसरण किया तथापि 1937 तक प्रगति मन्द ही रही।

सन् 1937 के उपरान्त इस समस्या की ओर देश का ध्यान विशेष रूप से गया। सन् 1935 के विधान के अनुसार प्रान्तों में स्वायत्त शासन की स्थापना हो चुकी थी। अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बन जाने से प्रौढ़ शिक्षा को बहुत प्रोत्साहन मिला। इन नवनिर्मित मन्त्रिमण्डलों की सफलता के लिए आवश्यक था कि देश के नागरिक शिक्षित हों और वे सरकार की योजनाओं तथा अपने अधिकार व उत्तरदायित्वों को समझें। अत: प्रान्तीय सरकारों ने प्रौढ़ शिक्षा-क्षेत्र में सामूहिक रूप से संगठित प्रयास प्रारम्भ कर दिये। जनता ने भी इन प्रयत्नों की सराहना की और उत्साहपूर्वक साक्षरता आन्दोलन में भाग लिया।

इस प्रकार अब भारत के इतिहास में सर्वप्रथम प्रौढ़ शिक्षा को सरकार ने अपना कर्तव्य स्वीकार किया और तदनुसार कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। प्रौढ़ शिक्षा का जो नया पाठ्यक्रम तैयार किया गया वह केवल साक्षरता तक ही सीमित नहीं रहा अपितु उसमें कुछ सामाजिक शिक्षा भी सम्मिलित कर ली गयी। शिक्षा देने के साधनों में पुस्तकों के अतिरिक्त इश्तहार, मैजिक लालटेन तथा सिनेमा का प्रयोग भी किया जाने लगा।

सन् 1939-40 में साक्षरता का बहुत प्रसार हुआ। 'हर व्यक्ति एक को पढ़ावे' (each one teach one) का नारा भी उठाया गया। पंजाब में 'पढ़ो और पढ़ाओ' का नारा भी प्रयोग किया गया। सन् 1939-40 में पंजाब में साक्षरता आन्दोलन बड़े

उत्साह से प्रारम्भ किया गया और प्रान्तीय सरकार ने अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना के लिए 2,88,000 रुपये का अनुदान स्वीकृत किया । पुराने प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों को सहायता दी गयी तथा बहुत-से नवीन स्कूल खुले । उस समय इन स्कूलों की संख्या 201 हो गयी । इसके अतिरिक्त स्वयंसेवकों ने गाँवों, तहसीलों तथा जिलों में लॉबाक-प्रणाली से भी प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार किया ।

आसाम प्रान्त में जन-साक्षरता अफसर के अन्तर्गत एक प्रौढ़ शिक्षा-विभाग खोल दिया गया । सन् 1941 में वहाँ साक्षरता प्राप्त प्रौढ़ों के लिए उत्तर-साक्षरता पाठ्यक्रम तैयार किया गया और आसाम घाटी में 120 अध्ययन केन्द्र स्थापित किये गये। यहाँ आवश्यक रीडरें, पुस्तकें तथा समाचारपत्रों इत्यादि के शिक्षण व वितरण की व्यवस्था की गयी ।

उड़ीसा में सन् 1940-41 में 425 प्रौढ़-शिक्षा केन्द्र स्थापित किये गये, जिनमें 8,147 व्यक्तियों ने साक्षरता प्राप्त की । इससे अधिक वहाँ यह आन्दोलन सफल न हो सका ।

बम्बई में प्रथम कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने प्रौढ़ शिक्षा-क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया । सन् 1917 में यहाँ सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा का प्रान्तीय बोर्ड स्थापित किया। प्रौढ़ शिक्षा के लिए यहाँ सहायता-अनुदान प्रथा को भी लागू किया गया और उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता दी गयी । सन् 1942-43 में 50 हजार रुपया गाँवों के लिए अलग व्यय किया गया । सन् 1945 में कुछ चुने हुए स्थानों में प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र खोलने की व्यवस्था की गयी और निश्चय किया गया कि 9,400 रुपये वार्षिक व्यय के आधार पर प्रत्येक केन्द्र में प्रति वर्ष 1,000 व्यक्ति साक्षर किये जायेंगे । इसके अतिरिक्त बम्बई नगर में भी इस दिशा में अच्छी प्रगति हुई । वहाँ एक 'प्रौढ़ शिक्षा समिति' की स्थापना हुई। सन् 1940-41 में इस समिति ने मराठी, गुजराती, हिन्दी, कनाडी, तेलुगु तथा तमिल की 1.140 कक्षाएँ खोलीं जिनमें 16 हजार पुरुष और 5 हजार स्त्रियाँ शिक्षा पाती थीं। इसके अतिरिक्त कुछ मिल मजदूरों के क्षेत्रों में भी प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार-कार्य किया गया।

बिहार प्रान्त में सैयद महमूद के नेतृत्व में प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन ने अच्छी प्रगति की । वहाँ 'प्रान्तीय जन शिक्षा समिति' की स्थापना हुई । स्वयंसेवकों ने यहाँ 'अपना घर साक्षर बनाओ' का आन्दोलन भी चलाया और सन् 1941-42 में 24,289 प्रौढ़ साक्षर किये । इसके अतिरिक्त सन् 1942-44 में एक लाख ग्यारह हजार प्रौढ़ों ने उत्तर-साक्षरता कोर्स पास किया । बिहार के प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन की यह विशेषता रही कि युद्धकाल में यह जारी रहा और प्रति वर्ष दो लाख प्रौढ़ साक्षर बनते रहे । सन् 1946 में पुनः कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनने पर इस कार्य को उत्साहपूर्वक उठा लिया गया।

बंगाल प्रान्त में प्रौढ़ शिक्षा ग्राम्य निर्माण विभाग को सौंप दी गयी । इस दिशा में बंगाल में भी अच्छी प्रगति हुई । इस प्रान्त में कृषकों में प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार अधिक सफलतापूर्वक किया गया । यहाँ पाठ्यक्रम में कृषि, पशुपालन, स्वास्थ्य-रक्षा तथा सहकारिता इत्यादि विषय सम्मिलित किये गये और प्रति विषय के लिए विभिन्न अधिकारी नियुक्त कर दिये गये ।

उत्तर प्रदेश में प्रौढ़ शिक्षा के लिए सराहनीय कार्य हुआ। सन् 1937 में नये मन्त्रिमण्डल ने इस कार्य को बड़े उत्साह से प्रारम्भ किया। नये केन्द्र पुस्तकालय तथा वाचनालय गाँवों में खोले गये। असंख्य रात्रि पाठशालाएँ खोली गयीं तथा प्रति वर्ष साक्षरता सप्ताह मनाया जाने लगा। सन् 1930 में इस प्रान्त में प्रौढ़ शिक्षा-विभाग की स्थापना हो गयी थी, जिससे आगामी वर्षों में सन्तोषजनक कार्य किया। प्रथम साक्षरता दिवस को सरकार ने गाँवों में 768 पुस्तकालय तथा 3,600 वाचनालय खोले। सन् 1941-42 में पुस्तकालयों की संख्या 1,040 हो गयी। स्त्रियों के लिए भी सन् 1940 में 40 पुस्तकालय खोले गये। इसी वर्ष फैजाबाद में स्त्रियों की हित-कारिता के 50 केन्द्रों को 500 रुपये प्रति केन्द्र के हिसाब से धन दिया गया। साथ ही सरकार ने प्रौढ़ों के उपयोग के लिए हिन्दी, उर्दू, गणित, इतिहास तथा भूगोल की पुस्तकों की रचना करायी।

इन प्रान्तों के अतिरिक्त सिन्ध प्रान्त तथा अन्य देशी रियासतों से भी शिक्षा के लिए कार्य हुआ। मैसूर में 'मैसूर राज्य साक्षरता परिषद' ने अत्यन्त ही उत्साह से कार्य किया है। इसके अतिरिक्त मैसूर विश्वविद्यालय ने भी समाज शिक्षा में अद्वितीय योग दिया है। जम्मू तथा काश्मीर राज्य में सन् 1942-43 में 4,050 प्रौढ़ शिक्षा-केन्द्र खोले गये तथा 28 हजार व्यक्तियों को साक्षर किया गया। उसी वर्ष वहाँ 480 प्रौढ़ शिक्षा पुस्तकालय भी खोले गये जिनमें 300 पुस्तकालय गाँवों में स्थित थे। इन राज्यों के अतिरिक्त बड़ौदा तथा त्रिवांकुर अन्य राज्य हैं जहाँ साक्षरता का प्रतिशत ब्रिटिश भारत के प्रान्तों से भी अधिक था। पहाड़ी क्षेत्रों, हरिजनों तथा आदिवासियों में भी साक्षरता-प्रसार की चेष्टा की गयी।

इस प्रयत्न के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत जनसेवी संस्थाओं, जैसे तरुण ईसाई संघ (Y. M. C. A.), सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी, बम्बई साक्षरता संघ, साक्षरता प्रसार मण्डल एवं जामिया मिलिया, दिल्ली इत्यादि संस्थाओं ने भी प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन को प्रगति दी। सार्जेण्ट शिक्षा योजना के प्रकाशन ने युद्धोत्तर शिक्षा विकास योजना में प्रौढ़ शिक्षा के लिए एक अत्यन्त प्रभावोत्पादक योजना रखी, किन्तु वह नियोजित न हो सकी। भारतीय साक्षरता आन्दोलन का कोई भी विवरण डॉ० फ्रैंक लॉबाक का उल्लेख किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता। डॉ० लॉबाक अमरीका निवासी एक परमार्थी सज्जन थे। फिलीपाइन द्वीपसमूह में प्रौढ़ शिक्षा-क्षेत्र में इन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया था। सन् 1935 तथा सन् 1937 में यह भारत आये। उन्होंने मराठी, हिन्दी, तमिल, तेलुगु, बंगाली तथा गुजराती भाषाओं में सुविधाजनक चार्ट तैयार किये। डॉ० लॉबाक ने इन भाषाओं को प्रथमतः चार या पाँच स्वरों तथा तेरह व्यंजनों में छाँट लिया। फिर पाँच ऐसे मूल अक्षरों को ज्ञात किया जिनसे वर्णमाला के सभी अन्य अक्षर बन जाते थे। इस प्रकार इन्होंने अल्प समय में ही प्रौढ़ों को साक्षर बनाने की विधि ज्ञात कर ली। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ उपयोगी पुस्तकें तथा

समाचारपत्र भी वयस्कों की शिक्षा के लिए निकाले। डॉ० लॉबाक की पद्धति का कई प्रान्तों में अनुकरण किया गया।

इस प्रकार भारतीय प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में दूसरा युग समाप्त होता है। भारत के स्वतन्त्र होने पर इस क्षेत्र में और अधिक प्रगति हुई है। सन् 1921-47 तक के अनुभव ने प्रौढ़ शिक्षा की बहुत-सी समस्याओं को स्पष्ट रूप से सम्मुख रख दिया। इस काल में यह भलीभाँति विदित हो गया कि प्रौढ़ों की शिक्षा का क्या गुरुत्व है, उनके लिए कैसे साहित्य तथा साधनों की आवश्यकता है तथा किस विधि का अनुकरण उपादेय होगा इत्यादि। यह बात भी ठीक प्रकार से विदित हो गयी कि प्रौढ़ शिक्षा के लिए केवल साक्षरता ही पर्याप्त नहीं है, अपितु साक्षरों के ज्ञान को बनाये रखना भी आवश्यक है, जिससे साक्षर को अपने ज्ञान को बढ़ाने का सुअवसर उपलब्ध हो सके।

**स्वतन्त्रता के उपरान्त सामाजिक शिक्षा**

भारत के स्वाधीन होने पर जहाँ सम्पूर्ण शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति हुई वहाँ प्रौढ़ शिक्षा ने भी आशाजनक उन्नति की। प्रौढ़ शिक्षा को सामाजिक शिक्षा (social education) का रूप दे दिया गया जिसका उद्देश्य प्रौढ़ नर-नारियों को योग्य नागरिक बनाना तथा उनके जीवन को हर प्रकार से पूर्ण बनाना है। आज मताधिकार के महत्त्व को देखते हुए भारत में प्रौढ़ शिक्षा की समस्या एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या बन गयी है, जिस पर देश की वर्तमान प्रगति तथा भविष्य का निर्माण अवलम्बित है। भारत के पच्चीस करोड़ लोगों की निरक्षरता देश के लिए एक ऐसी चुनौती है जिसका यदि शीघ्र ही हल न हुआ तो भारत का जनतन्त्र विश्व के समक्ष अपने महत्त्व को खो बैठेगा।

भारत सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा को निम्नलिखित रूपों में स्वीकार किया है :

(अ) वयस्क निरक्षरों में साक्षरता का प्रसार;

(ब) साहित्यिक शिक्षा के अभाव में जनसमूह में एक शिक्षित मस्तिष्क उत्पन्न करना; तथा

(स) व्यक्तिगत रूप से एवं एक शक्तिशाली राष्ट्र के सदस्य के रूप से प्रौढ़ में नागरिकता के अधिकार और कर्तव्यों का जागृत-ज्ञान उत्पन्न करना।

प्रौढ़ शिक्षा को ही दूसरा नाम सामाजिक शिक्षा दे दिया गया है किन्तु इसमें उपर्युक्त (ब) और (स) पर अधिक जोर दिया जाता है। प्रौढ़ों में नागरिकता के गुणों का विकास करने के लिए तथा उनमें शिक्षित मस्तिष्क उत्पन्न करने के लिए निम्नलिखित शिक्षा-विधि को अपनाने की सिफारिश की गयी है :

(1) देश के इतिहास तथा भूगोल का ज्ञान तथा यहाँ की प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों से परिचय कराना।

(2) व्यक्तिगत स्वच्छता, जनता के स्वास्थ्य-सिद्धान्तों का ज्ञान तथा स्वच्छता और स्वास्थ्य के महत्त्व को बताना।

(3) प्रौढ़ के आर्थिक मानदण्ड को ऊँचा उठाने के लिए शिक्षा व सूचना प्रदान करना, जिससे उसकी शिक्षा उसके आर्थिक जीवन से सम्बन्धित हो सके।

(4) कला, साहित्य, संगीत, नृत्य तथा अन्य सृजनात्मक क्रियाओं द्वारा भावना तथा विचारों का उत्थान व परिष्करण।

(5) मानव-भ्रातृत्व तथा विश्व-नैतिकता (universal ethics) के सिद्धान्तों का ज्ञान तथा जनतन्त्र के लिए एक-दूसरे की विचार-विभिन्नता को सहन करने तथा समझने की आवश्यकता पर जोर देना है।

उपर्युक्त कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री ने 31 मई, 1948 को प्रेस सम्मेलन के समक्ष एक बारहसूत्री कार्यक्रम रखा था, जिसे जनवरी 1949 में केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने भी स्वीकार कर लिया था। वह कार्यक्रम निम्नलिखित है :[5]

(1) गाँव का स्कूल सम्पूर्ण गाँव के लिए शिक्षा, जनहितकारी कार्य (welfare work), खेल-कूद तथा मनोरंजन का केन्द्र होगा।

(2) बच्चों, किशोरों तथा वयस्कों के लिए अलग-अलग समय निश्चत कर दिये जायेंगे।

(3) सप्ताह में कुछ दिन मात्र लड़कियों तथा स्त्रियों के लिए सुरक्षित कर दिये जायेंगे।

(4) पर्याप्त मात्रा में ऐसी मोटरों की व्यवस्था हो रही है जिसमें प्रोजेक्टर तथा लाउडस्पीकर लगे होंगे। चित्रपट तथा मैजिक लालटेन और ग्रामोफोन भी प्रयोग किये जायेंगे। साथ ही यह भी प्रस्तावित किया गया है कि प्रत्येक स्कूल का कम से कम सप्ताह में एक बार निरीक्षण अवश्य होना चाहिए।

(5) स्कूलों में रेडियो लगा दिये जायेंगे तथा स्कूल के बच्चों के लिए विशेष कार्यक्रमों को विस्तारित करने की व्यवस्था कर दी जायगी। उपर्युक्त ढाँचे के अनुरूप ही किशोरों तथा वयस्कों को भी सामाजिक शिक्षा देने के लिए विशेष प्रसारण किये जायेंगे।

(6) स्कूलों में जनप्रिय अभिनय भी रंगमंच पर खेले जायेंगे तथा अच्छे लिखे नाटकों को पारितोषिक दिया जायगा।

(7) राष्ट्रीय तथा देशी गीतों के गाने की व्यवस्था होगी।

(8) स्थानीय आवश्यकता के अनुसार किसी दस्तकारी तथा उद्योग में भी साधारण प्रशिक्षण दिया जायगा।

(9) स्वास्थ्य-विभाग, कृषि-विभाग और श्रम-विभाग के पारस्परिक सहयोग द्वारा गाँवों की सामाजिक स्वास्थ्य-रक्षा, कृषि-प्रणाली, कुटीर उद्योग तथा सहकारिता के विषय में भाषणों का प्रबन्ध किया जायगा।

(10) सूचना तथा प्रसारण-विभाग की सहायता से समय-समय पर अच्छे सिनेमाओं के प्रदर्शन का भी आयोजन किया जायगा। राष्ट्रीय समस्याओं पर गाँव वालों के समक्ष भाषण देने के लिए विद्वानों को निमन्त्रित किया जायगा। सामाजिक

[5] *Basic and Social Education Pamphlet*, No. 58, Ministry of Education, Government of India

शिक्षा के कार्यक्रम को प्रभावशाली तथा वास्तविक बनाने के लिए ऐसी जन-संस्थाओं की सहायता भी ली जायेगी जो रचनात्मक कार्य में विश्वास रखती हों।

(11) दलों के आधार पर खेल-कूद (group games) का प्रबन्ध किया जायगा; तथा

(12) सामजिक प्रदर्शनी और मेलों का भी संगठन किया जायगा।

उपर्युक्त योजना अपने में पर्याप्तत: पूर्ण है। इसको कार्यान्वित करने के लिए फरवरी 1949 में हुए प्रान्तीय शिक्षा मन्त्रियों के सम्मेलन में इस पर चिन्तन किया गया और आगमी तीन वर्षों के लिए एक कार्यक्रम तैयार किया गया था जिसके अनुसार अनुमान लगाया गया था कि बारह वर्ष से पचास वर्ष तक की अवस्था के वयस्कों में कम से कम पचास प्रतिशत साक्षरता इस अवधि के अन्तर्गत अवश्य आ जानी चाहिए। अब यह अवधि तो समाप्त हो गयी है, किन्तु यह योजना केवल एक पवित्र विचार के रूप में ही बनी रही। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के समक्ष आर्थिक संकट होने के कारण उस पर ठीक कार्य न हो सका।

भारत सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा के लिए यूनेस्को द्वारा संचालित कार्य-शिविरों (works camps) के आदर्श पर भारत में भी कार्य-शिविर खोले थे। इस योजना में थोड़ा-बहुत संशोधन करके इसे भारतीय ग्रामों में लागू किया जाना था। इसके प्रमुख तीन उद्देश्य थे—साक्षरता, नागरिकता तथा मनोरंजन के द्वारा विचार-संशोधन।

साक्षरता के लिए प्रौढ़ को निम्नलिखित कार्यक्रम द्वारा शिक्षित किया जायगा :

(अ) साधारण छपे हुए विषय को पढ़ना और अन्तिम अवस्था में यथासम्भव साप्ताहिक समाचारपत्र तथा पत्रिका पढ़ना।

(ब) अपना व सम्बन्धियों का नाम तथा उनके गाँवों, तहसीलों, जिलों के नाम और साधारण व्यावहारिक पत्र लिखना।

(स) सौ तक संख्या लिखना तथा सादा जोड़, बाकी, गुणा और भाग के प्रश्न हल करना, एवं साथ ही सिक्कों, वजन और नाप आदि के विषय में जानकारी रखना, इत्यादि।

इसके अतिरिक्त अन्य दो उद्देश्यों, नागरिकता तथा विचार-संशोधन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन, जैसे नाटक, गीत, नृत्य, खेल-कूद, रेडियो, चित्रपट, समाचार-पत्र तथा पर्यटन अपनाया जायगा।

**योजना-काल में प्रगति**

सन् 1952 से देश में पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सामाजिक शिक्षा के प्रसार के लिए कुछ प्रयत्न किये गये हैं। देश के विभिन्न भागों में जो सामुदायिक विकास व प्रसार योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं, उनमें सामाजिक शिक्षा को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इन योजनाओं में गाँवों में ग्रामीणों के पुस्तकीय ज्ञान में वृद्धि करने, साथ ही उन्हें वर्तमान राजनीति, नागरिकता, स्वास्थ्य व सफाई, मनोरंजन व खेल-कूद तथा अन्य इसी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध की जाती हैं जिससे

उनके जीवन का सर्वांगीण विकास हो सके, किन्तु इतना अवश्य है कि अधिकांश में ये उपयोगी योजनाएँ अभी सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं हो पायी हैं और इनकी प्रगति बड़ी मन्द है ।

योजना-काल में सामाजिक शिक्षा के लिए जो विशेष कार्यक्रम अपनाये गये थे उनमें देश में समाज-केन्द्रों (community centres) की स्थापना, सघन-पुस्तकालय सेवा का प्रारम्भ करना, जनता कालेजों की स्थापना, ग्रामीणों में शिक्षा-प्रचार के लिए शिक्षा काफिलों का संगठन करना तथा प्रौढ़ों के लिए उपयोगी साहित्य की रचना व उसके वितरण को प्रोत्साहन देना आदि प्रमुख हैं ।

इन कार्यक्रमों के अतिरिक्त सहकारिता, ग्रामीण उद्योग, अधिक अन्न उत्पादन, स्वास्थ्य-रक्षा, पंचायतों की कार्य-प्रणाली तथा कुछ स्थानीय सांस्कृतिक कार्यक्रम इत्यादि में लोगों का ज्ञानवर्द्धन भी इस योजना का उद्देश्य है ।

सरकार का विचार है कि विकास कार्यों में ग्रामीण शिक्षकों का पूरा सहयोग वांछनीय है । ग्रामसेवक तथा ग्रामीण शिक्षक पारस्परिक सहयोग द्वारा इन कार्यों को कार्यान्वित करेंगे ।

जो लोग तत्काल ही साक्षर हुए हैं उनकी साक्षरता को बनाये रखने के लिए सरकार जामिया मिलिया इस्लामिया के सहयोग से उपयुक्त साहित्य की भी रचना करा रही है । वहाँ एक 'रिसर्च, ट्रेनिंग व प्रोडक्शन सेण्टर' स्थापित कर दिया गया है । सन् 1950 से साहित्यकारों व लेखकों को प्रौढ़ों के लिए साहित्य-उत्पादन करने के लिए पारितोषिक देकर प्रोत्साहित किया जाता है । विभिन्न जिलों में पुस्तकालय स्थापित किये जा रहे हैं जहाँ से ग्रामीण जनता पढ़ने को साहित्य प्राप्त कर सके । इन पुस्तकालयों को पुस्तकें देने के लिए प्रत्येक राज्य में एक केन्द्रीय पुस्तकालय भी स्थापित किया जाता है । 'नेशनल बुक ट्रस्ट' की स्थापना से प्रौढ़ साहित्य के उत्पादन में पर्याप्त सहायता मिली है । यह ट्रस्ट न केवल पुस्तकालयों को ही अपितु सामान्य जनता को भी सस्ते मूल्यों पर पुस्तकें उपलब्ध करायेगा ।

गत वर्षों से केन्द्रीय फिल्म लाइब्रेरी का विकास श्रव्य-दृश्य (audio-visual) सामग्री उत्पन्न करने के उद्देश्य से किया जा रहा है । श्रव्य-दृश्य शिक्षा में विभिन्न राज्यों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से 'नेशनल बोर्ड ऑफ ऑडियो-विजुअल एजूकेशन' स्थापित किया जा चुका है । अप्रैल 1957 से 'ऑडियो-विजुअल-एजूकेशन' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया गया था । 'टेकनीकल मिशन कॉरपोरेशन' की सहायता से एक राष्ट्रीय इन्स्टीट्यूट की भी स्थापना जनवरी 1959 में की गयी थी, जिसका उद्देश्य श्रव्य-दृश्य साधनों, जैसे चार्ट, फिल्म व अन्य सामग्री उत्पन्न करना तथा अनुसन्धान करना है ।

सामाजिक शिक्षा के कार्य को सम्पादित करने के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति तैयार करने के लिए दिल्ली में 'नेशनल सेण्टर फॉर फण्डामेण्टल एजूकेशन' स्थापित कर दिया गया है । यह केन्द्र सामाजिक शिक्षा की प्रणाली में सानुकूल परिवर्तन करने

तथा अनुसन्धान करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया है । दिल्ली विश्वविद्यालय में एक लाइब्रेरी इन्स्टीट्यूट स्थापित कर दिया गया है जो पुस्तकालयों के सम्बन्ध में अनुसन्धान की सुविधाएँ प्रदान करता है । इन्दौर में एक 'सोशल एजूकेशन इन्स्टीट्यूट' की भी स्थापना की गयी है । इनके अतिरिक्त देश भर में असंख्य जनता कॉलेज तथा विद्यापीठ साक्षरता में योग दे रहे हैं ।

उपर्युक्त प्रयासों की अपेक्षाकृत भी अभी देश निरक्षरता के अन्धकार में डूबा हुआ है। सन् 1955 की अपेक्षा सन् 1961 में साक्षरता 17% के स्थान पर 20% हो गयी है अर्थात् अभी भी देश की 73% जनता घोर निरक्षर है । स्त्रियों में केवल $\frac{1}{8}$ तथा पुरुषों में $\frac{10}{3}$% साक्षर हैं । ग्रामीण क्षेत्रों में निरक्षरता 81% तथा नागरिक क्षेत्रों में 53% है।

सन् 1962 में प्रौढ़ साक्षरता के कार्यक्रम का पुनर्निरीक्षण किया गया था। उसमें यह सिफारिश की गयी है कि शिक्षा-विभाग को चाहिए कि इस कार्यक्रम को प्राथमिकता प्रदान करे और जो वित्तीय व्यवस्था सामुदायिक विकास मन्त्रालय के अन्तर्गत की गयी है उसके अतिरिक्त अपने बजटों में राज्य सरकारों को प्रौढ़ शिक्षा के लिए पृथक व्यवस्था करनी चाहिए । सी० ओ० पी० पी० की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि केन्द्र तथा राज्य सरकारों को चाहिए कि वे 45 वर्ष तक की आयु के अपने कर्मचारियों को कम से कम प्राइमरी स्तर तक की शिक्षा-सुविधा प्रदान करें। वैयक्तिक तथा सार्वजनिक औद्योगिक क्षेत्रों में भी इस योजना को लागू किया जाय । स्कूलों तथा प्रौढ़ शिक्षा का एक ऐसा समन्वित कार्यक्रम बनाया जाय जिसके द्वारा सन् 1975 अथवा 1980 तक कोई भी प्रौढ़ निरक्षर न रहे ।

चतुर्थ आयोजन में निरक्षरता-निवारण के लिए विशेष यत्न किये जा रहे हैं । प्रौढ़ शिक्षा का अर्थ अब क्रियात्मक साक्षरता (functional literacy) से लिया जा रहा है जिसके अन्तर्गत प्रौढ़ों को कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रों में लोगों के व्यावसायिक ज्ञान से सम्बद्ध करके उनकी उत्पादकता में वृद्धि करने का लक्ष्य है ।

**समस्या की गम्भीरता**

भारतीय शिक्षा-प्रणाली के क्षेत्र में प्रौढ़ों की शिक्षा का विषय अभी तक अवहेलना का विषय बना हुआ है। इस समस्या को सुलझाने के अधिकांश प्रयास यहाँ असमन्वित तथा अनियोजित रहे हैं । इधर सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के प्रसंग में भी जो प्रयास किये गये हैं वे अधिकांश में असफल माने जा सकते हैं । महाराष्ट्र में 'ग्राम शिक्षण मुहिम' जैसे कार्यक्रमों को यदि हम अपवाद मात्र मान लें तो कहना पड़ेगा कि शेष अन्य सभी राज्य सरकारें निरक्षता-निवारण के अपने प्रयासों में असफल रही हैं ; और यदि सच कहा जाय तो यह कहने में भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राज्य सरकारें इस समस्या के प्रति एक प्रकार से पूर्णतः अनभिज्ञ और उदासीन ही रही हैं ।

दुर्भाग्य की बात है कि भारत की जो संसार में जनतन्त्रीय परम्पराओं को आगे बढ़ाने का दम भरता है, आज भी तीन-चौथाई जनसंख्या घोर निरक्षरता के अन्धकार

में फँसी हुई है। सन् 1961 को जनगणना के अनुसार 20% जनसंख्या साक्षर है। 15–44 वर्ष के आयु-वर्ग में, जिसमें देश की अधिकांश कार्यशील जनसंख्या सम्मिलित है, 144 मिलियन अर्थात् 67·4% लोग निरक्षर हैं, जबकि इसी वर्ग में यह प्रतिशत अमरीका में 17; यूरोप और रूस में पुरुषों के लिए 2% तथा स्त्रियों के लिए 5% है। सन् 1961 की जनगणना के आधार पर तैयार की गयी निम्न तालिका से भारत में निरक्षरता की गम्भीरता का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है :

(संख्या हजारों में)

| आयु-वर्ग | पुरुष | | स्त्री | |
|---|---|---|---|---|
| | संख्या | प्रतिशत | संख्या | प्रतिशत |
| **10+** | **90208** | **56** | **125260** | **85** |
| **15+** | **78233** | **59** | **108773** | **87** |
| 10-14 | 11975 | 46 | 16487 | 72 |
| 15-19 | 8920 | 48 | 13173 | 76 |
| 20-24 | 9140 | 50 | 15650 | 82 |
| 25-34 | 19855 | 58 | 28332 | 86 |
| 35-44 | 15692 | 61 | 20336 | 90 |
| 45-54 | 15795 | 65 | 19381 | 93 |
| 55-65 | 8751 | 71 | 11823 | 96 |
| अज्ञात आयु | 80 | 84 | 78 | 96 |

SOURCE : UNESCO, *Statistics of Illiteracy*, 1965, p. 89.

उपर्युक्त तालिका में हम देखते हैं कि 15+ वर्ष के आयु वर्ग में 59% पुरुष तथा 87% स्त्रियाँ भारत में निरक्षर हैं। इस दृष्टि से भारत अन्य अल्पविकसित देशों, जैसे ब्रह्मा, लंका, तैवान, कोरिया, इजराइल, थाईलैण्ड, फिलीपाइन्स, साइप्रस तथा टर्की इत्यादि से भी पीछे रह जाता है जहाँ साक्षरता का प्रतिशत भारत से ऊँचा है। वस्तुत: अन्य कारणों के साथ ही साथ भारत की निरक्षरता यहाँ के आर्थिक तथा सामाजिक अवरोधन का एक मुख्य कारण है।

ग्रामीण क्षेत्रों में निरक्षरता का भार और भी अधिक है। उदाहरण के लिए, सन् 1961 में 15+ के आयु-वर्ग में शहरों में निरक्षरों की संख्या 22 मिलियन थी तो ग्रामीण क्षेत्रों में यह 165 मिलियन थी। 20 से 60+ के आयु-वर्ग में संख्याएँ शहरों तथा गाँवों के लिए क्रमश: 19 तथा 145 मिलियन थीं। उद्यमों के आधार पर जनसंख्या का वर्गीकरण करने पर हम पाते हैं कि अधिकांश निरक्षर प्राथमिक क्षेत्र अर्थात् कृषि में थे।

## प्रौढ़ शिक्षा और आर्थिक विकास

प्रौढ़ शिक्षा जनसंख्या के उस महत्त्वपूर्ण अंग से सम्बन्ध रखती है जो खेतों,

खानों और कारखानों में उत्पादन-कार्यों में लगा हुआ है, अतः इस वर्ग की मानसिक, नैतिक तथा तकनीकी क्षमता का उत्पादकता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जनसमूहों की निरक्षरता और उनकी दरिद्रता साथ-साथ चलती है। यह सत्य है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि उसी समय होती है जबकि भौतिक साधनों का उत्पादन की दिशाओं में विनियोग होता है, तथापि यह भी सत्य है कि भौतिक विनियोग ही उत्पादन-वृद्धि के लिए पूर्णतः उत्तरदायी नहीं है। अर्थशास्त्र में जिसे बचा हुआ साधन (residual factor) कहा जाता है जिसे प्रायः मानवगत-साधन (human factor) कहा जा सकता है, उसका भी आर्थिक वृद्धि में भारी महत्त्व है। मानवगत साधन के अन्य तत्त्वों के साथ शिक्षा या तकनीकी ज्ञान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्य तत्त्वों में हम अनुसन्धान, वैज्ञानिक तथा तकनीकी सूक्ष्मता, आविष्कार तथा प्रबन्ध-कौशल इत्यादि को सम्मिलित कर सकते हैं। किन्तु अन्ततः ये सभी तत्त्व भी शिक्षा पर आधारित हैं, अतः कहा जा सकता है कि उन लोगों की शिक्षा का उत्पादन तथा आर्थिक विकास में बुनियादी महत्त्व है, जो उत्पादन-क्रियाओं में लगे हुए हैं। इस शिक्षा पर होने वाला विनियोग भी उत्पादक विनियोग माना जायगा। दुर्भाग्य से भारत में श्रमिकों तथा उत्पादन में लगे हुए अन्य व्यक्तियों का ही यह वह वर्ग है जो अधिकांश में निरक्षर और अकुशल है। भारत में औद्योगिक श्रमिकों की सापेक्षिक निम्न उत्पादकता उनकी निरक्षरता का ही प्रत्यक्ष परिणाम है। भारतीय कृषक सुधारों तथा परिवर्तन से डरता है, वैज्ञानिक प्रणालियों में उसे विश्वास नहीं, वह रूढ़ियों का भक्त है। इन सभी मनोवृत्तियों की जड़ में उसकी निरक्षरता तथा तकनीकी अज्ञान है। यही बात उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में लगे हुए श्रमिकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इतना ही नहीं, भारत में सहकारिता पंचायती राज, सामुदायिक विकास तथा परिवार नियोजन जैसी योजनाओं की असफलता का कारण भी अधिकांश में भारतीय जनसमूहों की निरक्षरता को माना जा सकता है। लगातार अवहेलना से यह समस्या और भी अधिक गम्भीर बन गयी है। प्रथम तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार के लिए किये गये प्रयत्न अत्यन्त अल्प रहे हैं। चतुर्थ आयोजन में यह अनुभव किया गया है कि सर्वव्यापी निरक्षरता देश के आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है। यह भी स्वीकृत किया जा रहा है कि अतीत में प्रौढ़ शिक्षा की अवहेलना की गयी है किन्तु आगे इस पर ध्यान देना है। चतुर्थ आयोजन में 64 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है ताकि निरक्षरता-निवारण द्वारा खेतों और कारखानों में उत्पादन वृद्धि की जा सके। कोठारी शिक्षा आयोग ने भी आगामी तीस वर्षों में निरक्षरता-उन्मूलन के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट किया है।

**क्रियात्मक साक्षरता[6]**

एक दीर्घकाल तक साक्षरता का अर्थ परम्परागत 'थ्री आर्स' (3 Rs) रहा है

Functional literacy.

जिसके अन्तर्गत पढ़ना, लिखना तथा गणित सम्मिलित हैं। साक्षरता की यह परिभाषा आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। लिखना-पढ़ना अपने आप में एक लक्ष्य न होकर उत्पादकता-वृद्धि का साधन होना चाहिए। निरक्षरता-उन्मूलन की इस सरल परिभाषा की अपर्याप्तता के देखते हुए ही शिक्षा-शास्त्रियों ने 'सामाजिक शिक्षा' की शब्दावली को अपनाया था, जिसका उद्देश्य है एक प्रौढ़ के व्यक्तित्व का पूर्ण तथा बहु-मुखी विकास ताकि वह समाज का एक अधिक उपयोगी सदस्य बन सके। सामाजिक शिक्षा के अन्तर्गत लिखना-पढ़ना तथा गणित (3 Rs) के अतिरिक्त प्राथमिक तकनीकी तथा व्यावसायिक हुनर, घरेलू हुनर, सांस्कृतिक तथा मनोरंजनात्मक कलाएँ, वातावरण को समझने की शक्ति, सरकार की कार्य-प्रणाली, नागरिकता की शिक्षा तथा अन्य समाजों के विषय में जानकारी इत्यादि सम्मिलित हैं। किन्तु भारत जैसे अल्प-विकसित राष्ट्र के सन्दर्भ में, जहाँ समस्या अत्यन्त गम्भीर है और साधन अल्प हैं, प्रौढ़ शिक्षा के किसी उलझे हुए तथा अत्यन्त विस्तृत कार्यक्रम को नहीं अपनाया जा सकता। अतः यहाँ जो व्यावहारिक तथा उपयोगी नीति है वह है 'क्रियात्मक साक्षरता' जिसका अर्थ होता है प्रौढ़ों को उनके सम्बन्धित आर्थिक क्रियाकलापों में शिक्षित एवं प्रशिक्षित करना ताकि कार्य करने में उनकी क्षमता का सुधार हो जिससे अन्ततः उत्पादकता में वृद्धि हो। हमारे मतानुसार आर्थिक वृद्धि तथा उत्पादकता में सहायता करना प्रौढ़ शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को लेकर प्रौढ़ शिक्षा-कार्य विकास-कार्यों में सम्मिलित कर लेना चाहिए। प्रौढ़ शिक्षा हमारी कृषि के नवीनीकरण तथा औद्योगिक उत्पादकता-वृद्धि में महान योग दे सकती है। अतः सरकार, राजनीतिक दलों एवं वैयक्तिक एजेन्सियों को चाहिए कि सभी मिलकर क्रियात्मक साक्षरता के कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप प्रदान करें। वस्तुतः यह एक ऐसा अभियान होगा जिसमें हम नयी मान्यताओं की स्थापना और नवीन मानव का निर्माण करेंगे। प्रौढ़ शिक्षा को हमें अपने आर्थिक विकास का एक आवश्यक अंग मानना पड़ेगा और इसे देश के आर्थिक तथा सामाजिक उत्थान एवं देश की वर्तमान एवं भावी जन-शक्ति की माँग से सम्बद्ध करना होगा। जो लोग घटनावश अपने प्रारम्भिक जीवन में अशिक्षित रहने के कारण कम उत्पादन करते हैं तथा आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, उन्हें अच्छा नागरिक एवं अधिक सक्षम उत्पादक इकाई बनाने के उद्देश्य से शिक्षित करना होगा, ताकि देश के आर्थिक निर्माण और अपने स्वयं के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में वे क्रियात्मक एवं अधिक सक्षम सहयोग प्रदान कर सकें।[7]

*Cf.* "Literacy instruction must enable illiterates, left behind by the course of events and producing too little, to become socially and economically integrated in a new world where scientific and technological process calls for ever more knowledge and special specialisation."—UNESCO, *Final Report of World Conference of Ministers of Education on the Eradication of Illiteracy*, 1965, p. 29.

**नियोजित कार्य-विधि**

भारत में निरक्षरता के उन्मूलन के लिए नियोजित कार्य-विधि आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक समुचित योजना बनाकर देशव्यापी अभियान के रूप में उसे कार्यान्वित करना होगा। यह सम्पूर्ण कार्य केवल सरकार द्वारा सम्पादित नहीं किया जा सकता। इसके लिए गैर-सरकारी संगठनों, विश्वविद्यालयों एवं अन्य शिक्षा संस्थाओं, सांस्कृतिक एवं धार्मिक संस्थाओं तथा सबसे अधिक उपयोगी वर्ग—राजनीतिक दलों का क्रियात्मक सहयोग मिलना चाहिए। हमें इसमें किंचित भी सन्देह नहीं है कि जब तक देश के राजनीतिक दल इस कार्य को अपने हाथ में नहीं लेंगे, हम इस समस्या का हल शीघ्र नहीं कर पायेंगे। इन दलों को चाहिए कि अपने सदस्यों को सरकार अथवा विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण देकर जनता में साक्षरता प्रसार के लिए एक बड़े पैमाने पर भेज दें। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान करे, जहाँ लोग प्रशिक्षण लेकर प्रौढ़ शिक्षाशिक्षक के रूप में अपने को तैयार कर सकें।

निरक्षरता-निवारण की एक दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एजेन्सी हो सकती है हमारे लाखों तरुण जो कालेजों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा रहे हैं। इस सम्बन्ध में हमें ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों के शिक्षकों की सेवाएँ भी प्राप्त कर लेनी चाहिए। दुर्भाग्य से किसी रचनात्मक कार्यक्रम तथा समाज-सेवा के अभाव में हमारे छात्र-वर्ग में विभिन्न विध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। यदि हम उनकी अतिरिक्त शक्ति एवं समय को रचनात्मक कार्यों में मोड़ने में सफल हो सकें तो इससे छात्र वर्ग, देश तथा समाज सभी का कल्याण हो सकता है। विश्वविद्यालय इस दिशा में बहुत योग दे सकते हैं। अतः हमारा मत है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में प्रौढ़ शिक्षा-विभाग की स्थापना एक प्रोफेसर के अन्तर्गत की जाय और जब तक विभाग स्थापित करना सम्भव न हो सके, शिक्षा-विभाग, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान विभागों के सम्मिलित तत्त्वाधान के अन्तर्गत निरक्षरता-निवारण तथा इस सम्बन्ध में अनुसन्धान इत्यादि का कार्य चलाया जाय।

कभी-कभी कुछ लोगों को यह तर्क करते सुना जाता है कि भारत में अब सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्य को स्वीकार कर लेने के उपरान्त प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता नहीं रह जाती। वस्तुतः ऐसे लोग न तो प्रौढ़ शिक्षा के वास्तविक अर्थ को समझते हैं और न यह समझते हैं कि जब तक भारत प्राथमिक शिक्षा के उपयुक्त लक्ष्य तक पहुँच पायेगा तब तक निरक्षरों की भी संख्या देश में और अधिक बढ़ लेगी। ऐसी स्थिति में प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम को स्थगित करने का अर्थ होगा निरक्षरों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि करना और देश के मानवगत साधनों को अधिक उपयोगी और उत्पादक बनाने के कार्यक्रम को ही स्थगित कर डालना। यह प्रवृत्ति हमारे आर्थिक विकास के लिए घातक सिद्ध होगी। हमारे मतानुसार प्रौढ़ शिक्षा और

प्राथमिक शिक्षा में कोई पारस्परिक स्पर्द्धा नहीं है, वरन् प्राथमिक शिक्षा प्रौढ़ शिक्षा की पूरक है। केवल प्राथमिक शिक्षा पाने वाले छात्र कुछ दिनों में अपनी पढ़ाई भूल जाते हैं। उनके लिए प्रौढ़ शिक्षा का क्रम आवश्यक है ताकि वे अपने ज्ञान को न केवल बनाये ही रखें वरन् उसे आगे बढ़ाकर अपनी उत्पादकता और तकनीकी तथा व्यावसायिक ज्ञान में वृद्धि करें।

इसके अतिरिक्त भारत में प्रौढ़ शिक्षा की कार्य-विधि उस समय तक अपूर्ण मानी जायगी जब तक कि हम स्त्रियों की निरक्षरता के उन्मूलन के लिए विशेष प्रयत्न करने में सफल नहीं हो जाते। परिवार की शिक्षा और सांस्कृतिक स्तर के उत्थान में स्त्रियों का बड़ा हाथ होता है। साथ ही परिवार की और अन्ततः देश की प्रगति में वे महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं। अतः उनका साक्षर होना बड़ा मौलिक महत्त्व रखता है। शिशुपालन, गृह-प्रबन्ध, पोषण के समुचित वितरण तथा श्रमिकों की कार्यक्षमता को बढ़ाने में माताओं का भारी महत्त्व है। इन सभी कार्यों को शिक्षित माताएँ अधिक क्षमतापूर्वक सम्पादित कर सकती हैं। अतः उनके लिए विशेष प्रबन्ध करना होगा और उन्हें अधिकाधिक साक्षरता-कार्यक्रमों में सम्मिलित होकर योगदान करने का सुअवसर देना होगा।

प्रौढ़ शिक्षा के अन्य कार्यक्रमों में किसानों तथा श्रमिकों की शिक्षा, शिक्षकों का प्रशिक्षण तथा भर्ती, देश को साक्षरता-कार्यक्रम के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार करना, मानव-साधनों की माँग के सम्बन्ध में सर्वेक्षण, प्रति निरक्षर को साक्षर करने का व्यय, नये साक्षरों के लिए पाठ्य-पुस्तकों तथा उपयुक्त साहित्य की रचना एवं जनसंवादवाहन (mass communication) के अन्य साधन उपलब्ध करना तथा अन्त में अनुसन्धान एवं मूल्यांकन करना, इत्यादि को सम्मिलित किया जा सकता है।

यह कार्य अत्यन्त विशाल है और इसके लिए राष्ट्रीय प्रयास अपर्याप्त भी हो सकते हैं। अतः हमें अन्तरराष्ट्रीय सहयोग, विशेषतः यूनेस्को से, लेने में कभी परहेज नहीं करना चाहिए। कुछ मित्र देश भी सहयोग दे सकते हैं।

**उपसंहार**

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि भारत में साक्षरता तथा प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन यद्यपि देर से प्रारम्भ हुआ, तथापि अब कार्यशील दृष्टिगोचर होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत की भयंकर निरक्षरता को देखते हुए वर्तमान प्रयत्न बहुत अपर्याप्त हैं। इस देश में प्रौढ़ शिक्षा की समस्या केवल साक्षरता की ही नहीं है, अपितु प्रौढ़ नर-नारियों के जीवन को पूर्ण बनाने की है। कुछ ऐसे कालेजों की भी आवश्यकता है जहाँ ऐसे शिक्षित प्रौढ़ों को उस उच्च शिक्षा की सुविधा मिल सके जिससे वे अपने जीवन में वंचित रहे थे।

इसके अतिरिक्त प्रौढ़ों की रुचि तथा ज्ञान को जीवित रखने के लिए अधिक वाचनालय तथा पुस्तकालयों की भी आवश्यकता है। देश के शिक्षित कहलवाने वाले वर्ग के दृष्टिकोण में परिवर्तन, उनके हृदयों में रचनात्मक समाज-सेवा की भावना,

राजनीतिक, सामाजिक नेताओं को अपने विशाल भवनों से निकलकर जनता की सच्ची सेवा के क्षेत्र में उतर आना, सरकारी अफसरों के दृष्टिकोण में शासन की भावना में कमी होकर सच्ची सेवा की भावना उद्भूत होना तथा पर्याप्त धनराशि इत्यादि अन्य आवश्यकताएँ हैं जिनका पूरा होना देश में प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन के लिए जीवनदायक है। लेनिन के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "निरक्षरता का निराकरण एक राजनीतिक समस्या नहीं है। यह वह अवस्था है जिसकी पूर्ति के बिना राजनीति की बात करना भी असम्भव है। एक अशिक्षित व्यक्ति राजनीति के बाहर की वस्तु है और यदि उसे किसी भी रूप में राजनीति के भीतर लाना है तो इससे पहले उसे वर्णमाला सिखा देनी होगी। बिना इसके राजनीति का कोई अस्तित्व नहीं है—उस समय तक राजनीति केवल गल्प, अफवाह, कहानी तथा अन्धविश्वास है।"

अन्त में, देश की वर्तमान आर्थिक व तकनीकी आवश्यकताओं को देखते हुए भी हम कह सकते हैं कि शिक्षित व जागरूक प्रौढ़ नर-नारी देश के नियोजित विकास में अधिक सहायता प्रदान कर सकते हैं अपेक्षाकृत अपढ़ व अज्ञानी लोगों के। उन्नत कृषि व कुटीर-उद्योग एवं आधुनिक वृहत् उद्योग, सभी के लिए शिक्षित लोगों की आवश्यकता है। इस शिक्षा का परिणाम होगा राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि तथा सर्वसाधारण के लिए जीवन की सुविधाओं की अधिकाधिक पूर्ति, जिनके फलस्वरूप रहन-सहन का मानदण्ड ऊँचा उठेगा। इसके अतिरिक्त शिक्षा के द्वारा लोगों के मस्तिष्क का विकास तथा चरित्र का उत्थान होगा जिसकी सहायता से वे अपने समय का सदुपयोग अधिक उत्तम ढंग से कर सकेंगे। इस प्रकार सामाजिक शिक्षा देश के जनसमूह के लिए एक ऐसा धरातल है जिसके ऊपर हम एक समृद्ध, स्वतन्त्र तथा प्रगतिशील समाजवादी भारत का भवन-निर्माण कर सकते हैं।

## सारांश

**एक दीर्घकाल तक भारत में सामाजिक शिक्षा का अर्थ केवल प्रौढ़ों को थोड़ा-बहुत साक्षर कर देने तक ही सीमित था। वर्तमान भारत की बदलती हुई परिस्थितियों में उसका वास्तविक अर्थ एक नागरिक के व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएँ उपलब्ध करने से है। भारत में जनतन्त्र के परीक्षण को सफल बनाने के लिए यहाँ की 83% निरक्षर जनता को न केवल साक्षर ही बनाना होगा अपितु उसे इस जनतन्त्र के सभी उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने योग्य तथा उसके अधिकारों से परिचित कराना होगा।**

**प्रौढ़ शिक्षा का आन्दोलन भारत में देर से प्रारम्भ हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निरक्षर प्रौढ़ों को साक्षर करने के लिए कुछ स्थानों पर रात्रि पाठशालाएँ खोली गयीं, किन्तु वे सभी समय-समय पर बन्द होती गयीं। सन् 1921 में कुछ प्रयत्न विभिन्न राज्यों में इस दिशा में किये गये। इनमें बम्बई प्रमुख रहा। वहाँ समाज-सेवियों तथा शिक्षा-प्रेमियों ने कई संस्थाएँ समाजिक शिक्षा के प्रसार के लिए खोल दीं।**

**सन् 1937 के उपरान्त देश में नया शासन-विधान लागू होने पर इस समस्या**

की ओर विशेष ध्यान गया। नये मन्त्रिमण्डलों ने प्रौढ़ शिक्षा तथा साक्षरता सम्बन्धी आन्दोलन चलाये। इनमें बम्बई व बिहार के प्रयत्न अधिक सराहनीय हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त यह अनुभव किया जाने लगा कि प्रौढ़ों को केवल अक्षर-ज्ञान करा देना ही पर्याप्त नहीं अपितु उस ज्ञान को अधिक दिनों तक बनाये रखना भी आवश्यक है और साथ ही साथ यह वांछनीय है कि नागरिक के व्यक्तित्व के विकास में पूर्ण योग दिया जाय। पंचवर्षीय योजनाओं के सूत्रपात तथा विकास-कार्यों के प्रारम्भ होने के कारण अब यह भी आवश्यक हो गया है कि भारतीय नागरिक, विशेषतः गांवों के निवासी, उन कार्यक्रमों को समझें और उन्हें कार्यान्वित करें, अतः विकास योजनाओं के अन्तर्गत विशेष अधिकारी नियुक्त किये गये हैं जो सामाजिक शिक्षा का प्रचार करते हैं।

विभिन्न राज्यों में समाज केन्द्रों, सघन पुस्तकालयों तथा जनता कालेजों की स्थापना की जा रही है जो सामाजिक शिक्षा के विकास में अपना योगदान देंगे। अब सामाजिक शिक्षा में अनुसन्धान कराने के अतिरिक्त नव-साक्षरों के लिए उपयुक्त साहित्य का भी उत्पादन करना आवश्यक हो गया है। श्रव्य-दृश्य साधनों का विकास भी शिक्षा-प्रचार में सहायक होगा। हर्ष की बात है कि सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत सामाजिक शिक्षा के लिए प्रयास किये जा रहे हैं, किन्तु अधिकांश में ये कार्य-क्रम कागजी कार्यवाही के रूप में रह जाते हैं और सच्चे अर्थ में कार्यान्वित नहीं हो पाते हैं।

# 24

# उत्तर प्रदेश में शिक्षा-प्रगति

### भूमिका

उत्तर प्रदेश की सामान्य शिक्षा-प्रगति का वर्णन प्रसंगानुसार पिछले अध्यायों में किया जा चुका है । इस अध्याय में हम इसका कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे । उत्तर प्रदेश में आधुनिक शिक्षा का आन्दोलन बंगाल, मद्रास एवं बम्बई की अपेक्षा कुछ देर में प्रारम्भ हुआ, क्योंकि वहाँ अंग्रेजी राज्य की स्थापना ही उन प्रान्तों के अपेक्षाकृत कुछ देर बाद हुई थी । प्राचीन तथा मध्यकाल में तो यह प्रदेश शिक्षा का एक प्रमुख क्षेत्र रहा था । यद्यपि आधुनिक शिक्षा की प्रगति यहाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में प्रारम्भ हो गयी थी, तथापि इसकी वास्तविक प्रगति तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हुई । इस शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में उत्तर प्रदेश में प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। औद्योगिक तथा तकनीकी शिक्षा के लिए भी यहाँ शिक्षालय स्थापित हो चुके थे । सन् 1913 में 'पिगट कमेटी' के सुझावों के अनुसार प्राथमिक शिक्षा में सुधार किये गये । इसके अनुसार लड़के तथा लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा के लिए नवीन स्कूल खुले, पाठ्यक्रम में सुधार हुआ और उसे प्रान्त की आवश्यकताओं तथा वातावरण के अनुकूल बना दिया गया। सन् 1919 में नगरपालिकाओं में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करने के लिए कानून बना। सन् 1926 में प्रान्तीय सरकार ने ग्रामीण प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए जिला बोर्डों के लिए भी एक ऐसा कानून बनाया । सन् 1927 में उत्तर प्रदेश में प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन का सूत्रपात हो गया और इसके लिए प्रान्त में रात्रि पाठशालाएँ खोली गयीं। सन् 1923 में 'वियर समिति' की रिपोर्ट के अनुसार ऐसे स्कूलों को भंग करने की सिफारिश की गयी, जो आर्थिक दृष्टि व योग्य अध्यापकों, पर्याप्त सज्जा तथा उपयुक्त भवन की दृष्टि से दुर्बल थे । 'हर्टोग समिति' ने भी ऐसी ही रिपोर्ट दी थी । अतः इसे लागू करके शिक्षा की श्रेष्ठता के प्रसार पर जोर दिया गया । माध्यमिक विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में भी इसी प्रकार विभिन्न परिवर्तन हुए ।

सन् 1939 में आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की पुनर्व्यवस्था के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। सन् 1948 में प्रान्त के माध्यमिक

स्कूलों को उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में परिवर्तित करने की योजना कार्यान्वित की गयी। सन् 1953 में पुनः एक दूसरी आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दी। विश्वविद्यालयों की दृष्टि से सन् 1948 में टॉमसन इंजीनियरिंग कॉलेज, रुड़की को एक विश्वविद्यालय का रूप दिया गया। आगरा, इलाहाबाद तथा लखनऊ के विश्वविद्यालयों के विधान में संशोधन किये गये। जुलाई 1957 तथा मार्च 1958 में क्रमशः गोरखपुर विश्वविद्यालय तथा संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की स्थापना की गयी। जुलाई 1960 में रुद्रपुर में एक कृषि-विश्वविद्यालय खोला गया। मेरठ तथा कानपुर में भी विश्वविद्यालयों की स्थापना कर दी गयी है और वहाँ कार्य आरम्भ हो गया है।

इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में प्रदेश की शिक्षा प्रगति-पथ पर है। आगे हम संक्षेप में इसी प्रगति का वर्णन करेंगे।

**प्राथमिक एवं बेसिक शिक्षा**

सन् 1936 में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल की स्थापना के साथ ही 'वर्धा शिक्षा योजना' को लागू कर दिया गया जिसके अनुसार प्राथमिक स्कूलों में बेसिक शिक्षा को लागू करना प्रारम्भ कर दिया गया था। अगस्त 1938 में ग्रेजुएट शिक्षकों को बेसिक शिक्षा-प्रणाली में प्रशिक्षण देने के लिए एक बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज की स्थापना की गयी। उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा के स्वावलम्बन वाले पक्ष को नहीं अपनाया गया यद्यपि विद्यार्थियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री द्वारा कुछ आय की कल्पना अवश्य की गयी थी। कला तथा उसके प्रयोगात्मक अंग को विशेष महत्त्व दिया गया और विषयों का समन्वय केवल हस्तकलाओं तक ही सीमित न रखकर विद्यार्थियों के सामाजिक स्तर तक विस्तृत कर दिया गया। नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों द्वारा संचालित सभी प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों को तथा शिक्षा-विभाग के निरीक्षण अधिकारियों के लिए बेसिक शिक्षा में प्रशिक्षण के लिए 'रिफ्रेशर कोर्स' की व्यवस्था की गयी। सन् 1939 में आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने जो सिफारिशें प्राथमिक शिक्षा की पुनर्व्यवस्था तथा सुधार के लिए की थीं, उनको सरकार ने कार्यान्वित करना प्रारम्भ किया ही था कि लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। उसके उपरान्त युद्ध की कठिनाइयों के कारण सरकार ने शिक्षा-प्रसार पर अधिक ध्यान नहीं दिया। फलतः प्राथमिक शिक्षा के विकास को इससे बड़ा आघात लगा। बेसिक शिक्षा-प्रणाली की भी ऐसी स्थिति में अधिक प्रगति नहीं हो सकी।

सन 1944 में सार्जेण्ट योजना के प्रकाशित होने पर उसके आधार पर प्रान्त में पूर्व-प्राथमिक स्कूलों का विकास करने की योजना सरकार ने बनायी। प्राथमिक स्कूलों के लिए सार्जेण्ट योजना में भी बेसिक पद्धति को अपनाने की बात कही गयी थी किन्तु इस दृष्टि से वास्तविक प्रगति तो 1946 में ही प्रारम्भ हुई जबकि केन्द्र में अन्तरिम सरकार तथा प्रान्तों में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल बन गया। इसके बाद 1947 में भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त प्राथमिक शिक्षा में और भी अधिक प्रगति हुई।

सन् 1947 में प्रदेश में स्कूल जाने योग्य बालकों की संख्या लगभग 58 लाख थी जिनमें से केवल 15 लाख के लिए ही शिक्षा-व्यवस्था उपलब्ध थी। शेष 43 लाख की प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध करना था। ऐसी स्थिति में राज्य सरकार ने राज्य के प्रत्येक गाँव में एक प्राथमिक स्कूल खोलने की योजना बनायी। प्रारम्भ में सरकार ने 22,000 स्कूल खोलने का निश्चय किया था जिसके अनुसार दस वर्ष के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के 2,200 गाँवों में एक-एक स्कूल हो सका। सन् 1947 में राज्य सरकार ने शिक्षा-विकास का एक पंचवर्षीय कार्यक्रम अपनाया। इसके अन्तर्गत उन्होंने पाँच वर्ष के अन्तर्गत ही सम्पूर्ण स्कूल खोलने का निश्चय किया और तदनुसार प्रति वर्ष 4,400 स्कूल खोलने की योजना बनायी। किन्तु आर्थिक संकट तथा उचित नियोजन के अभाव में यह योजना उस समय केवल एक पवित्र आशा मात्र ही बनी रही। सन् 1946 से 1952 तक प्रदेश में 15,000 स्कूल खुल सके। सन् 1951-52 में केवल 550, उसके उपरान्त 1952-53 में 250 तथा 1953-54 में केवल 225 प्राथमिक स्कूल खोले जा सके।

इसके उपरान्त द्वितीय योजना-काल में क्रमशः प्राथमिक शिक्षा का विकास एवं सुधार किया गया। सभी प्राथमिक पाठशालाओं को जूनियर बेसिक स्कूलों में परिवर्तित कर दिया गया। कुल मिलाकर द्वितीय योजना-काल में 6,075 जूनियर बेसिक स्कूल खोले गये थे। सन् 1960-61 में लड़कों के लिए प्रदेश में 35,156 और लड़कियों के लिए 4,927 स्कूल थे। तृतीय आयोजन में 16,500 मिश्रित स्कूल तथा 5,000 स्कूल गाँवों में लड़कियों के लिए और 2,370 बड़े स्कूल नगरों में और खोलने का लक्ष्य था। सन् 1964-65 तक इनमें से 11,775 मिश्रित स्कूल तथा 4,423 स्कूल लड़कियों के लिए गाँवों में और 1,154 स्कूल नगरों में स्थापित किये जा चुके हैं। सन् 1965-66 में 725 मिश्रित स्कूल तथा 500 बालिकाओं के लिए गाँवों में और 153 स्कूल नगरों में और खोले गये। सन् 1964-65 में 6-11 वर्ष के आयु-वर्ग में 98% लड़के और 54% लड़कियाँ स्कूली शिक्षा पाने लगे। इन प्रतिशतों में और अधिक वृद्धि करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रदेश में सभी प्राथमिक स्कूल बेसिक स्कूल हैं। बेसिक शिक्षा की व्याख्या बाल-केन्द्रित शिक्षा से की जाती है जिससे शिल्प के क्रिया-शीलनों, भौतिक पर्यावरण और सामाजिक स्थिति के समन्वय पर उचित बल देते हुए सक्रिय विधि द्वारा शिक्षा देने का विधान है। विविध शैक्षिक सक्रियताओं द्वारा हाथ, आँख और बुद्धि का प्रशिक्षण इस पद्धति की विशेषता है। जूनियर बेसिक स्कूलों के पाठ्यक्रम का निर्धारण शिक्षा-विभाग द्वारा किया जाता है। मातृभाषा, गणित, सामाजिक विषय, सामान्य विज्ञान और हाइजीन, शास्त्रीय और प्राथमिक कृषि और उद्यान विज्ञान, कताई और सम्बन्धित कला व्यावहारिक विषयों के रूप में सिखाये जाते हैं। कताई, कृषि-उद्यान और अन्य स्थानीय शिल्पों को उत्पादक क्रियाशीलनों का माध्यम बनाया जाता है। उत्पादन के महत्त्व की अवहेलना न करते हुए जूनियर

बेसिक स्तर पर क्रियाशीलनों के शैक्षिक पक्ष पर विशेष बल दिया जा रहा है। जूनियर बेसिक स्कूलों में सन् 1962 से कक्षा तीन से अंग्रेजी विषय वैकल्पिक रूप से पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया गया है।

जूनियर बेसिक शिक्षा के स्तर पर पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण प्रगति हो चुकी है। इस स्तर की पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभाग के निर्देशन में तैयार की जाती हैं और विभाग द्वारा ही उनका प्रकाशन किया जाता है। कक्षा 1 से 5 तक की हिन्दी और गणित की पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जा चुकी हैं। इतना अवश्य है कि पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में अभी काफी कुप्रबन्ध है। मुद्रकों को छापने के लिए पुस्तकों के वितरण में भी पक्षपात एवं दुर्व्यवस्था देखने को मिलती है।

उत्तर प्रदेश में प्राथमिक अध्यापकों की दशा तथा योग्यता में सुधार करने का भी थोड़ा-बहुत प्रयास किया गया है, यद्यपि इस दृष्टि से इस राज्य में स्थिति बड़ी असन्तोषजनक है। गत वर्षों में प्राथमिक शिक्षकों के वेतम-क्रमों में कुछ वृद्धि हुई है। प्रशिक्षण की दृष्टि से हम देखते हैं कि सुविधाएँ सन्तोषजनक एवं पर्याप्त हैं। द्वितीय योजना के अन्त में प्रदेश में जूनियर बेसिक अध्यापकों की संख्या लगभग 98 हजार थी जिनमें लगभग 87 हजार पुरुष थे। तृतीय योजना के अन्त तक अध्यापकों की संख्या 1·60 लाख हो गयी। तृतीय योजना के प्रारम्भ में प्रदेश में 117 नॉर्मल स्कूल थे जिनमें 95 पुरुषों और 22 महिलाओं के थे। उनमें 5,300 शिक्षक प्रति वर्ष प्रशिक्षण पाते थे। तृतीय योजना के अन्तर्गत 32 नॉर्मल स्कूल और खोले गये हैं। इस प्रकार 149 नॉर्मल स्कूलों में 111 बालकों के लिए हैं। जो शिक्षक पहले से ही प्रशिक्षित हैं, उन्हें पुनर्बोधात्मक प्रशिक्षण (refresher courses) देने की भी सुविधा कई केन्द्रों में दी जाती है। जूनियर और सीनियर बेसिक अध्यापकों के पथ-प्रदर्शन के लिए मार्गोपदेशिकाएँ भी तैयार की गयी हैं। सेवा-रत अध्यापकों के लिए 12 प्रशिक्षण केन्द्र भी स्थापित किये गये हैं।

जूनियर बेसिक स्कूलों का प्रबन्ध स्थानीय निकायों द्वारा होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में इस प्रबन्ध का उत्तरदायित्व जिला परिषदों पर है। जिला परिषद् का अध्यक्ष इस उत्तरदायित्व का निर्वाह शिक्षा समिति, प्रमुख एक्जीक्यूटिव अधिकारी, उपविद्यालय निरीक्षक तथा प्रति-उपविद्यालय निरीक्षकों की सहायता से करता है। नगरों में नगरपालिकाएँ प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध करती हैं। उनके अपने शिक्षा अधीक्षक तथा उपस्थिति अधिकारी होते। लड़कियों हैं के स्कूलों के निरीक्षण के लिए निरीक्षि-काएँ होती हैं। राज्य में कुछ बेसिक स्कूल राज्य द्वारा भी संचालित होते हैं। वे या तो राजकीय प्रशिक्षण संस्थाओं के साथ मॉडल स्कूलों के रूप में संलग्न हैं अथवा राज्यों के विलीनीकरण के उपरान्त शासन द्वारा अपने प्रबन्ध में ले लिये गये हैं। लड़कियों के हाई स्कूलों के साथ भी कुछ प्राथमिक कक्षाएँ जुड़ी हुई हैं। कुछ व्यक्तिगत संस्थाएँ भी सरकारी सहायता अथवा बिना सहायता के भी प्राथमिक स्कूल संचालित करती हैं।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि से उत्तर प्रदेश अभी काफी पिछड़ा हुआ

है। उत्तर प्रदेश जिला परिषद प्राइमरी शिक्षा एक्ट, 1926 के अन्तर्गत अनिवार्य शिक्षा लगभग दो हजार चुने हुए ग्रामों में लागू है। तीन ग्रामों में लड़कियों के लिए भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य है। ग्रामीण क्षेत्रों में उपस्थिति का प्रतिशत 81·3 है। नागरिक क्षेत्रों में सन् 1919 के अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम के अधीन लड़कों के लिए प्राथमिक शिक्षा महापालिकाओं को लेकर 95 नगरपालिकाओं के पूर्ण क्षेत्रों में तथा लड़कियों के लिए आठ नगरपालिकाओं में पूर्ण रूप से और दो नगर-पालिकाओं के चुने हुए क्षेत्रों में लागू है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक 98% बालकों और 54% बालिकाओं के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की सुविधा उपलब्ध हो सकी है।

व्यय की दृष्टि से प्राथमिक शिक्षा पर पहले की अपेक्षा अधिक धन व्यय किया जा रहा है। सन् 1945-46 में कुल 9 लाख रुपये इस प्रदेश में प्राथमिक शिक्षा पर व्यय होता था। प्रथम योजना के प्रारम्भ में सन् 1950-51 में यह बढ़कर 3·32 करोड़ रुपये द्वितीय योजना के अन्त में 5·7 करोड़ रुपये तथा सन् 1961-62 में 7·52 करोड़ रुपये, हो गया। सन् 1965-66 में लगभग 10·3 करोड़ रुपये प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया गया। इसके अतिरिक्त इसी वर्ष 6·75 करोड़ रुपये प्रारम्भिक शिक्षा-नियोजन पर व्यय हुआ है। नियोजित व्यय-राशि का 59% उत्तर प्रदेश में प्राथमिक शिक्षा पर व्यय होता है। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में होने वाले विकास का अनुमान इस बात से भी लग सकता है कि सन् 1946-47 की अपेक्षा 1960-61 में स्कूलों की संख्या में 197·9%, छात्रों की संख्या में 248·0% तथा अध्यापकों की संख्या में 212·0% की वृद्धि हुई थी। इधर चतुर्थ योजना के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा का प्रसार अधिक तेजी के साथ करने का प्रयास किया जा रहा है तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी प्रयासों की अपेक्षाकृत भी उत्तर प्रदेश प्राथमिक शिक्षा तथा साक्षरता की दृष्टि से भारत के सबसे पिछड़े हुए क्षेत्रों में माना जा सकता है।

इस प्रकार हम राज्य में प्राथमिक शिक्षा को प्रगति-पथ पर पाते हैं, यद्यपि इसकी गति मन्द है। जब हम उत्तर प्रदेश में सम्पूर्ण शिक्षा के विकास पर दृष्टिपात करते हैं तो यह बात स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि यहाँ विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा के लिए प्राथमिक शिक्षा का बलिदान किया जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो राज्य सरकार को प्रति वर्ष नये विश्वविद्यालय खोलने का रोग हो गया है। विश्वविद्यालयों की स्थापना अपने आप में कोई बुरी बात नहीं है, लेकिन यदि इनकी स्थापना राज्य के प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के मौलिक अधिकार में बाधक होती है तो निश्चय ही यह आपत्तिजनक है और किसी भी स्थिति में हम इसे शैक्षिक नियोजन व दूरदर्शिता नहीं कह सकते। यद्यपि गत वर्षों में प्राथमिक शिक्षा का बजट एक करोड़ के स्थान पर दस करोड़ रुपया हो गया है, तथापि प्रदेश की जनसंख्या व क्षेत्र की विशालता एवं समस्या की दुरूहता को देखते हुए यह धनराशि अधिक नहीं कही जा सकती।

दूसरे, लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था विशेषत: ग्रामीण क्षेत्रों में न केवल अपर्याप्त ही है, अपितु घोर असन्तोषजनक है। जो कुछ थोड़े-बहुत स्कूल देहातों में हैं, उनके पास न तो अपने भवन, न फर्नीचर, न लड़कियों के बैठने की समुचित व्यवस्था, न प्रशिक्षित अध्यापिकाएँ ही हैं। निरीक्षण की दृष्टि से इन स्कूलों की स्थिति पर्याप्ततः असन्तोषजनक है। गाँवों में सुविधाओं के अभाव में योग्य अध्यापिकाएँ नहीं पहुँच पातीं। परिणामत: स्थिति दिन-पर-दिन गिरती जाती है। राज्य के बहुत-से जिलों में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि लड़कियाँ अपने स्कूलों को छोड़कर लड़कों की पाठशालाओं में प्रवेश लेती हैं। अत: सरकार को चाहिए कि तुरन्त ही लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा पर, विशेषत: गाँवों में, ध्यान दे।

तीसरे, इस राज्य में सभी प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूल मान लिया गया है, जबकि उनमें पाठ्यक्रम, सज्जा, शिक्षण-पद्धति इत्यादि की दृष्टि से कोई भी उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया गया। इससे एक भ्रान्ति फैल गयी है। शिक्षक अधिकांश में ही पुराने, अप्रशिक्षित तथा बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों एवं प्रयोगों से लगभग पूर्णत: अनभिज्ञ, सज्जा में सिवाय तकलो, टूटे-फूटे श्यामपट, टूटी हुई एक या दो कुर्सी के इन तथाकथित बेसिक पाठशालाओं में कुछ भी नहीं मिलता। ऐसी परिस्थितियों में यदि प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्तर गिरता जा रहा है तो आश्चर्य ही क्या है? स्वयं बेसिक शिक्षा मूल्यांकन समिति की भी धारणा उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध में ऐसी ही है।[1]

बेसिक शिक्षा का मूल सिद्धान्त विभिन्न विषयों में अनुबन्धन स्थापित करना है। यह बात सभी जानते हैं कि हमारे अधिकांश वर्तमान प्राथमिक शिक्षक ऐसा करने में असमर्थ हैं। वास्तव में, इन बेसिक स्कूलों में सिवाय रीडरों के और कुछ भी बेसिक नहीं है। कई अर्थों में वे सामान्य परम्परागत पाठशालाओं से भी गिरे हुए हैं।

उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त राज्य की प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में अन्य समस्याएँ हैं—शिक्षक की दुर्दशा व उनके अल्प-वेतन, अपर्याप्त प्रशिक्षण, विद्यार्थियों व शिक्षकों के लिए चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का पूर्ण अभाव, भवन व सज्जा की अपर्याप्तता, खेल-कूद व स्वास्थ्य-रक्षा के साधनों का पूर्ण अभाव, अनियमित व त्रुटिपूर्ण निरीक्षण इत्यादि। अत: यह आवश्यक है कि नियोजन की सभी योजनाओं में

---

1 *Cf.* "In one State (U. P. indeed) all schools are rather indiscriminately called Basic Schools! The result is that many of them are anything but Basic Craft work is ill-organised and neglected. Agriculture is emphasised in Basic Schools in theory. but in practice even this is not often efficient. We saw some poor Primary Schools of old type continuing as such but renamed Basic Schools........... What is happening in the field of elementary education is that there is not so much that schools have become Basic or are becoming Basic well and quickly, but that there is a big push for some kind of improved education without clearly perceived goals or tangible results."—*Report of the Assessment Committee on Basic Education, op. cit.*, p. 20.

प्राथमिक शिक्षा को उचित स्थान प्रदान करके इसके दोषों का अविलम्ब उन्मूलन किया जाय ताकि राज्य के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का मौलिक अधिकार प्राप्त हो सके, शिक्षा व शिक्षकों का स्तर उठ सके और प्राथमिक शिक्षा वास्तविक रूप में सार्थक हो सके।

**राज्य शिक्षा संस्थान**

फरवरी 1964 में राज्य शिक्षा संस्थान की स्थापना की गयी है जिसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

(1) निरीक्षक वर्ग को सेवाकालीन प्रशिक्षण प्रदान करना;

(2) प्राथमिक कक्षाओं को पढ़ाने वाले अध्यापकों के प्रशिक्षण कार्यक्रम में अनुसन्धान कार्य करना;

(3) प्रदेश के प्राथमिक स्तर के अध्यापकों के लिए प्रसार-सेवाओं का आयोजन;

(4) प्राथमिक छात्रों एवं अध्यापकों के लिए साहित्य की रचना ; और

(5) निरीक्षक वर्ग एवं प्राथमिक अध्यापकों के लिए नवीन पाठ्यक्रम का आयोजन।

**पूर्व-माध्यमिक शिक्षा**

प्राथमिक शिक्षा का प्रसार होने से प्रदेश में पूर्व-माध्यमिक शिक्षा के आकार में वृद्धि हुई है। इस स्तर के स्कूलों को जूनियर हाई स्कूल कहा जाता है। इन्हें सीनियर बेसिक स्कूलों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। तृतीय योजना के आरम्भ में उत्तर प्रदेश में इन स्कूलों की संख्या 4,335 थी। इनमें 661 सीनियर बेसिक स्कूल लड़कियों के लिए थे। इन स्कूलों में 11–14 आयु-वर्ग के 7·0 लाख लड़के और 1·22 लाख लड़कियाँ शिक्षा पाते थे। लड़कों की छात्र-संख्या का प्रतिशत 29·5 तथा लड़कियों की छात्र-संख्या का प्रतिशत केवल 4·9 था। दोनों का औसत प्रतिशत 18 था। तृतीय योजना के अन्त में यह प्रतिशत 25·4 हो गया है। सन् 1965-66 में सीनियर बेसिक स्कूलों की संख्या 5358 थी।

ग्रामीण तथा पिछड़े क्षेत्रों में जहाँ जूनियर स्तर की शिक्षा की सुविधा नहीं थी, बालिकाओं की शिक्षा में बाधा पड़ती थी। तृतीय योजना में 300 चुने हुए जूनियर बेसिक स्कूलों में क्रमोत्तर कक्षाओं का प्रावधान किया गया जिनमें एक सघन पाठ्यक्रम द्वारा बालिकाओं को जूनियर हाई स्कूल परीक्षा की तैयारी करायी जा रही है।

बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में संगठित बेसिक स्कूल[2] नामक एक प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रयोग का मूल सिद्धान्त यह है कि बेसिक शिक्षा का वास्तविक विकास उसको कक्षा 1 से 8 तक संघटित रूप में देखने में ही हो सकता है। इस प्रयोग के लिए 250 स्कूल चुने गये थे। चुनाव के समय यह ध्यान रखा गया है कि जूनियर और सीनियर बेसिक स्कूल एक ही भवन में अथवा एक ही बाउण्डरी के अन्तर्गत हों। ये स्कूल

Integrated Basic Schools.

पुनर्व्यवस्थित शिक्षा योजना (Reorientation Scheme) के अन्तर्गत हों और उनके भवन सन्तोषजनक हों, उनमें पर्याप्त स्थान हो। स्कूल के निकट अच्छा फार्म हो, सिंचाई की सुविधा हो, शिल्प-शिक्षण के लिए पर्याप्त स्थान हो तथा छात्र-संख्या कम न हो। इन स्कूलों को विज्ञान के उपकरण तथा अध्यापक इत्यादि की सुविधाएँ दी जा रही हैं। शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण दिया जा रहा है। कताई-बुनाई के लक्ष्य निर्धारित कर दिये गये हैं और सघन निरीक्षण के लिए प्रत्येक जिले में दो सब-डिप्टी-इन्सपेक्टरों का एक पैनल बना दिया गया है जिससे वे प्रभावपूर्ण निरीक्षण कर सकें।

प्रदेश में बेसिक शिक्षा के स्तर को उठाने के लिए शिक्षा मन्त्री की अध्यक्षता में सन् 1961-62 में एक 'उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा परिषद' स्थापित की गयी थी। इसके निम्नलिखित कर्तव्य हैं :

(1) इस बात की जाँच करना कि जूनियर बेसिक स्कूलों के अध्यापक तथा इन अध्यापकों को प्रशिक्षण देने वाले अध्यापक पर्याप्त योग्यता प्राप्त हैं और इन्हें बेसिक शिक्षा की विधियों तथा टेकनीकों का पर्याप्त ज्ञान है; तथा उनकी निपुणता के मानदण्ड को उन्नत करने के उपायों को सुझाव देना।

(2) जूनियर और सीनियर बेसिक स्कूलों तथा प्रशिक्षण संस्थाओं के पाठ्य-क्रम की जाँच करना और उनके सुधार सम्बन्धी सुझाव देना।

(3) बेसिक शिक्षा तथा स्थानीय निगमों के अनुदानों के नमूनों की जाँच करना और धन के अविलम्ब और उचित उपयोग के सम्बन्ध में सुझाव देना।

(4) बेसिक स्कूलों में उत्पादन पर पर्याप्त बल दिया जा रहा है अथवा नहीं इसकी जाँच करना और 'उत्पादन' को अर्थकर बनाने के उपायों के सम्बन्ध में सुझाव देना।

(5) बेसिक स्कूलों की छात्र-संख्या की जाँच करना और उसकी वृद्धि के सम्बन्ध में सुझाव देना।

(6) जूनियर और सीनियर बेसिक स्कूलों की वर्तमान प्रबन्ध-प्रणाली और निरीक्षण-व्यवस्था की जाँच करना तथा जहाँ कहीं परिवर्तनों की आवश्यकता हो उसके सम्बन्ध में सुझाव देना।

(7) स्थानीय निकायों के अधीन बेसिक शिक्षा के प्रशासन की जाँच करना और निपुणता लाने के सम्बन्ध में आवश्यक सुझाव देना।

(8) बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में पूछे गये विषयों पर शासन को परामर्श देना अथवा जिन विषयों को स्वयं परिषद बेसिक शिक्षा के लिए हितकर समझे उनका शासन को उल्लेख करना।

**शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना[3]**

उत्तर प्रदेश सरकार ने जुलाई 1954 से प्राथमिक बेसिक शिक्षा के उपरान्त जूनियर हाई स्कूलों में 'शिक्षा पुनर्व्यवस्था' की योजना लागू की थी। भारत एक कृषि-

[3] Reorientation of Education Scheme.

प्रधान देश है । यहाँ सम्पूर्ण जनसंख्या का 69·4% केवल कृषि के द्वारा ही जीविका उत्पन्न करता है । अत: देश की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली, जिसमें बालकों के पुस्तकीय ज्ञान तथा मानसिक उन्नति पर ही अधिक बल दिया जाता है, प्राय: देश के अधिकांश बालकों के लिए अनुपयुक्त रहती है । जो कुछ भी ज्ञान बालक स्कूल में प्राप्त करता है वह उसके जीवन की वास्तविकताओं से मेल नहीं खाता है । किसी प्रकार के औद्योगिक आधार के अभाव में उसकी शिक्षा नितान्त अनुत्पादक रहती है। शिक्षितों में देशव्यापी बेकारी में हमारी इस पुस्तक-प्रधान शिक्षा-पद्धति का बहुत हाथ है । ऐसी स्थिति में शिक्षा-पद्धति में प्रत्यक्ष रूप से कृषि या उद्योगों व हस्तकालाओं का शिक्षण एक विशेष महत्त्व रखता है ।

इसके अतिरिक्त प्राथमिक स्तर पर बेसिक शिक्षा-पद्धति की शिक्षा का रूप सारे देश के लिए स्वीकार किया जा चुका है । अत: प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा में अधिक साम्य उत्पन्न करने तथा प्राथमिक स्तर पर प्राप्त की हुई शिक्षा के आधारभूत तत्त्वों को आगे भी जारी रखने के लिए यह आवश्यक है कि जूनियर हाई स्कूल-स्तर पर भी ऐसी ही शिक्षा-पद्धति को जारी रखा जाय । जब भारत में एक जनतन्त्रीय व्यवस्था का परीक्षण किया जा रहा है और देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए विशाल विकास योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है तो नितान्त आवश्यक है कि हमारे युवकों को ऐसी ही शिक्षा दी जाय तो उनके सर्वांगीण विकास के साथ ही देश के आर्थिक पुनर्निर्माण में भी सहायक हो ।

इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश सरकार ने शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना को लागू किया । कृषि ग्रामीण जीवन का आधार है, अत: बालक की शिक्षा का केन्द्र कृषि ही रखा गया है । शिक्षा पुनर्व्यवस्था की यह योजना यद्यपि वर्तमान में जूनियर हाई स्कूलों में ही लागू की गयी है, अन्यथा यह प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक सभी स्तरों पर लागू की जा सकती है । बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत कक्षा 5 तक के प्रदेश के बालक 6–11 की आयु तक किसी हस्तकला को केन्द्र मानकर शिक्षा प्राप्त करते ही हैं। अत: इस योजना को ग्यारह वर्ष की आयु के उपरान्त किशोरों की शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लागू किया जा रहा है । एक प्रकार से यह बेसिक शिक्षा को ही आगे बढ़ाने का एक कदम है ।

इस योजना के अन्तर्गत प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक जूनियर हाई स्कूल अथवा हायर सेकेण्डरी स्कूल को जिसमें जूनियर हाई स्कूल कक्षाएँ भी हैं, पाँच से दस एकड़ तक का एक फार्म बनाना होगा । यह भूमि इन स्कूलों ने गाँववालों से दान में प्राप्त की है । जहाँ यह भूमि उपलब्ध न हो सके अथवा जहाँ कृषि की अपेक्षा लोग हस्तकलाओं या किसी अन्य कुटीर उद्योग को करते हों और वह उनका प्रमुख उद्योग हो, तो वहाँ स्थानीय आवश्यकताओं और विशेषताओं के अनुसार वह हस्तकला या उद्योग ही शिक्षा का आधार होगा।

कृषि के अन्तर्गत पशुपालन, उद्यानकला तथा वन-विज्ञान भी सम्मिलित हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में उद्यानकला और मधुमक्खी-पालन प्रधान विषय रखे गये हैं।

स्कूल का यह फार्म शिक्षक की सहायता तथा पथ-प्रदर्शन से स्कूल के विद्यार्थियों द्वारा निर्मित किया जाता है। प्रत्येक बालक दिन में दो घण्टे खेत पर कार्य करता है। स्कूल ही विद्यार्थियों के लिए एक प्रमुख क्रिया-क्षेत्र है जहाँ वे शारीरिक श्रम, सामाजिक जीवन तथा स्वावलम्बन का आदर्श पाठ पढ़ते हैं। इन फार्मों पर कृषि की आधुनिक विधियों का परीक्षण करके कृषि की जाती है। गाँव वाले अन्य कृषकों को भी इन फार्मों पर प्रदर्शन करके, आधुनिक कृषि-विधियों को काम में लाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। गाँव के बालक भी, जो आगे चलकर प्राय: कृषि करके जीविकोपार्जन करते हैं, प्रारम्भ से ही कृषि की उन्नत विधियों में प्रशिक्षण पा लेते हैं।

इस योजना के अन्तर्गत ऐसी आशा की जाती है कि प्रत्येक स्कूल निकटवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों के लिए सामाजिक जीवन का एक केन्द्र होगा। यहाँ प्रत्येक वस्तु का प्रबन्ध शिक्षक व विद्यार्थियों के पारस्परिक सहयोग द्वारा किया जायेगा। प्रत्यक्ष रूप से कृषि करने के अतिरिक्त विद्यार्थी स्कूल के चारों ओर उद्यान लगाने तथा उसे आकर्षक व स्वच्छ बनाने का कार्य भी अपने हाथों से करेंगे। कृषि में प्रयोग होने वाले औजारों की मरम्मत इत्यादि के लिए एक छोटा-सा कारखाना (workshop) भी स्कूल में स्थापित कर दिया जायेगा। इसमें लकड़ी, लोहा तथा अन्य इसी प्रकार के कार्यों को भी विद्यार्थी सीख सकेंगे।

इस योजना का उद्देश्य केवल यही नहीं है कि विद्यार्थियों को कुशल कृषक बना दिया जाय, अपितु उनके सांस्कृतिक व सामाजिक जीवन को विकसित करने के लिए भी स्कूल में व्यवस्था होती है। विद्यार्थियों के लिए पुस्तकालय, वाचनालय, क्रीड़ा-स्थल तथा रंगमंच इत्यादि की भी व्यवस्था होती है। यहाँ लोक-गीत, लोक-नृत्य, अभिनय तथा स्थानीय विशेषताओं के अनुसार मनोरंजन के अन्य साधनों के द्वारा विद्यार्थी न केवल अपना ही मनोरंजन करते हैं, अपितु अन्य ग्रामीणों को भी इनमें भाग लेने की सुविधा उपलब्ध करके उनका सांस्कृतिक उत्थान करने में सहायक होते हैं। इस प्रकार विद्यार्थी और ग्रामीण भली-भाँति एक-दूसरे के पारस्परिक सम्पर्क में आ सकेंगे।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नेतृत्व प्राप्त करने के गुणों का विकास करने के लिए प्रत्येक गाँव में एक 'युवक दल' की स्थापना की जाती है। इस दल का नेता विद्यार्थियों द्वारा चुना जाता है। शिक्षक उनका सलाहकार होता है। किसी ग्रामीण व्यक्ति को भी दल में सलाहकार की हैसियत से सम्मिलित किया जा सकता है। इस दल की सदस्यता के लिए केवल वे ही विद्यार्थी अधिकारी होंगे जो कुछ वैयक्तिक कार्य, जैसे कताई, सफाई, एक वृक्ष का आरोपण व रक्षा, एक पशु की देखभाल अथवा मधुमक्खियों के एक छत्ते की देखभाल इत्यादि कर सकेंगे। वैयक्तिक कार्य के अतिरिक्त दल के कुछ सामूहिक कार्यक्रम भी होंगे। यह आवश्यक होगा कि एक दल वर्ष में कम से कम चार ऐसे कार्यक्रमों को पूर्ण कर दे। इन कार्य-

क्रमों में गाँव की नाली बनाना, सड़क बनाना और उस पर वृक्षों की पंक्ति लगाना, एक अभिनय खेलना अथवा अन्य इसी प्रकार के कुछ कार्य सम्मिलित होंगे। अन्य फार्मों की सैर अथवा खुली वायु में वायु-विहार के लिए जाना भी इस दल के कार्यक्रमों में सम्मिलित होगा। इस दल का उद्देश्य सामाजिक हित के कार्य करना, जैसे कहीं आग लगने पर बुझाने जाना, टिड्डियों को नष्ट करना अथवा खेतों में फसलों में लगने वाले कीड़ों का नष्ट करना इत्यादि भी होगा। इसकी विशेष बैठकें भी होती हैं जिसमें खेल-कूद तथा अन्य मनोरंजन के कार्यक्रम भी रखे जाते हैं। इस मनोरंजन में स्कूल के बालकों के अतिरिक्त गाँव के अन्य बालक भी भाग ले सकते है।

इस प्रकार 'शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना' के अन्तर्गत स्कूल सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन के क्रिया-कलापों का केन्द्र होगा। किन्तु यह योजना बिना ग्रामीण लोगों के क्रियात्मक सहयोग व सच्ची सहानुभूति के सफल नहीं हो सकती। वस्तुतः उन लोगों की सहानुभूति ही इसका प्राण होगी।

ग्रामीण लोगों की क्रियात्मक सहानुभूति के अतिरिक्त शिक्षा की प्रमुख धुरी के रूप में होगा शिक्षक। वस्तुतः उसी के मार्गदर्शन व संगठन-शक्ति पर योजना की सफलता या असफलता निर्भर है। वैसे तो शिक्षा की किसी भी योजना में शिक्षक का महान् महत्त्व होता है, किन्तु इस शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना में उसका विशेष महत्त्व है। अपने विद्यार्थियों को कृषि की व्यावहारिक शिक्षा देने के अतिरिक्त एक सामाजिक व पूर्ण जीवन के लिए उनके समक्ष आदर्श रखना तथा उस आदर्श की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा का संचार करना उसी शिक्षक का कार्य है। अतः इसके लिए यह भी आवश्यक है कि शिक्षक को न केवल कृषि, हस्तकला, उद्यानकला व पशुपालन में स्वयं दक्ष ही होना चाहिए, अपितु इस व्यावसायिक ज्ञान के अतिरिक्त उसे स्कूल के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन को संचालित करके उसे योजना के आदर्शों के अनुरूप ढालने के लिए एक मार्गदर्शक व नेता का कार्य करना होगा। यह तब तक सम्भव नहीं हो सकेगा, जब तक कि शिक्षक इस कार्य को अपना एक पवित्र कर्तव्य व हेतु समझकर अपने आपको बिना शर्त समर्पण नहीं कर देता।

**योजना की प्रगति**

जुलाई 1954 में उत्तर प्रदेश सरकार ने इस योजना को सारे प्रदेश में लागू कर दिया था। लागू करने से पूर्व इस सम्बन्ध में 10 जनवरी, 1952 को लखनऊ में शिक्षा मन्त्री के सभापतित्व में एक सम्मेलन किया गया था जिसमें राज्य भर से जिला बोर्डों के अध्यक्ष, शिक्षा निरीक्षक तथा शिक्षा-विभाग के अन्य अधिकारियों ने भाग लिया था। तभी से इस दिशा में रचनात्मक कदम उठाये जा रहे हैं। राज्य के लगभग 5,000 जूनियर स्कूलों तथा कुछ हायर सेकेण्डरी स्कूलों में यह योजना लागू की जा चुकी है। सरकार ने प्रारम्भिक आवश्यकता के कुछ औजार इन स्कूलों को दे दिये हैं। प्रत्येक फार्म का क्षेत्र लगभग दस एकड़ रखा गया है। प्रारम्भिक कुछ महीनों के उपरान्त ही यह अनुभव किया जाने लगा था कि योजना क्रमशः न केवल स्वावलम्बी ही

हो जायगी, अपितु कुछ लाभ भी प्रदान करने लगेगी, यहाँ तक कि फार्म पर कार्य करने वाले शिक्षक और विद्यार्थियों को कुछ पारिश्रमिक भी दे सकेगी।

सीनियर बेसिक स्कूलों के पाठ्‌क्रम में सुधार करके यह व्यवस्था की गयी है कि उनमें कृषि या शिल्प की अनिवार्य शिक्षा दी जाय। प्रति स्कूल के साथ दस एकड़ भूमि रखने का नियम है। इसके लिए बीस हजार एकड़ भूमि संग्रह की गयी है। दान में प्राप्त भूमि उपजाऊ नहीं थी, किन्तु चकबन्दी में स्कूलों को उसके बदले में अच्छी भूमि दी जा रही है। चौदह हजार एकड़ भूमि को उपजाऊ भी कर लिया गया है। सन् 1963-64 में छात्रों द्वारा तेरह लाख रुपये की उपज उत्पन्न की गयी।

पुनर्व्यवस्था के अन्तर्गत 428 स्कूलों में शिल्प-शिक्षा भी दी जा रही है। इसमें कताई, बुनाई, काष्ठकला, धातुकला, चर्मकला, सिलाई, गृह-शिल्प (लड़कियों के लिए) का विधान है। पुनर्व्यवस्था सीनियर बेसिक स्कूलों को सामुदायिक केन्द्र बनाया जा रहा है। अतः अब तक 2,200 युवक मंगल दलों और 500 सामुदायिक केन्द्रों का संगठन किया गया है।

जहाँ तक योजना के विषय में सलाह देने व नीतियों को निर्धारित व कार्यान्वित करने का प्रश्न है, राज्य में एक 'राज्य शिक्षा परिषद' की स्थापना की जा चुकी है। राज्य के मुख्य मन्त्री इसके अध्यक्ष तथा शिक्षा मन्त्री उपाध्यक्ष होंगे एवं अन्य सम्बन्धित मन्त्री अन्य सदस्यों के रूप में रहेंगे।

शिक्षा-स्तर पर भी प्रत्येक जिले में एक ऐसी ही 'जिला नियोजन समिति' बन गयी है। यह समिति की योजना को कार्यान्वित करने का दायित्व अपने ऊपर लेगी। जिलाधीश इसका अध्यक्ष तथा जिला बोर्ड का अध्यक्ष इस समिति का उपाध्यक्ष होगा। साथ ही जिले की विधानसभाओं के सदस्य व योजना अधिकारी, कृषि अधिकारी तथा जिला शिक्षा निरीक्षक अन्य सदस्यों में होंगे।

इसी प्रकार गाँवों के स्तर पर भी एक ऐसी ही परिषद की स्थापना की जा रही है। प्रत्येक स्कूल में स्थापित होने वाली इस परिषद का अध्यक्ष होगा ग्राम सभा का प्रधान तथा अन्य किसान इसमें सदस्यों के रूप में और प्रसार शिक्षक इसका मन्त्री होगा। यह परिषद ही इस बात का निर्णय करेगी कि खेत से उत्पन्न होने वाली धनराशि किस प्रकार से व्यय की जाय।

**आलोचना**

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा पुनर्व्यवस्था की योजना उत्तर प्रदेश में अब एक जीवित सत्य व वास्तविकता के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी शिक्षा-पद्धति के बहुत-से दोषों को दूर करने, बालक का सर्वांगीण विकास करने, देश की बेकारी की समस्या को दूर करने, बालक को समाज का एक उत्पादक अंग बनाने, बालकों को शारीरिक श्रम का गौरव पाठ पढ़ाने, जनतन्त्र व नेतृत्व का प्रशिक्षण देने और स्कूल व ग्रामीण जनता को अधिक से अधिक प्रत्यक्ष सम्पर्क में लाने में इस योजना को पर्याप्त सफलता मिलेगी। अपने स्वाभाविक और

परम्परागत वातावरण में बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण व समुचित विकास हो सकेगा। स्कूल में अपने हाथ से कार्य करता हुआ वह शारीरिक श्रम के महत्त्व को समझने के साथ ही एक स्वस्थ व स्वावलम्बी नागरिक के रूप में विकसित होगा। बहुधा यह देखा जाता है कि अधिकांश ग्रामीण बालक जूनियर हाई स्कूल पास करने के उपरान्त खेती में लग जाते हैं। अब तक ऐसे बालकों को किसी प्रकार से कृषि का व्यावहारिक प्रशिक्षण न मिलने के कारण प्रायः वे भी जीवन में कृषि की पुरानी परम्परागत विधियों का ही अनुसरण करते थे। किन्तु अब वे इन स्कूलों में पर्याप्ततः नवीन कृषि-विधियों में प्रशिक्षित होकर निकलेंगे।

इसके अतिरिक्त इस योजना से एक लाभ यह भी हुआ है कि गाँव की प्रायः ऐसी भूमि जो बिलकुल बेकार या बंजर पड़ी हुई थी, वह अपने शिक्षक के सहयोग से हमारे बालकों ने दिन-रात श्रम करके उपजाऊ बना ली है और भविष्य में आशा है कि भूमि और भी अधिक उपजाऊ कर ली जायगी। इस प्रकार बेकार भूमि को उत्पादक बनाकर राष्ट्रीय आय को और भी अधिक बढ़ाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त हमारी आधुनिक शिक्षा-पद्धति का यह एक भयानक दोष रहा है कि हमारे नवयुवक गाँव में शिक्षा पाकर नौकरी की खोज में नगरों की ओर भागा करते हैं और इस प्रकार गाँव योग्य व्यक्तियों के बिना ही रह जाते हैं। इस योजना का लाभ होगा कि हमारे नवयुवक प्रशिक्षण के उपरान्त गाँवों की कृषि की उन्नति करने में ही जुट जायेंगे। साथ ही योजना से आंशिक रूप से शिक्षकों व छात्रों को आय होने की भी सम्भावना है। इससे राज्य के ऊपर से शिक्षा का भार हलका हो जायगा और इस बची हुई धनराशि को सरकार शिक्षा-सुधार के अन्य कार्यों के अपनाने में लगा सकेगी।

नवीन शिक्षा योजना का एक लाभ यह भी होगा कि स्थानीय जनता इन विद्यालयों के समीप आ जायगी और संस्थाएँ वास्तविक अर्थों में सामुदायिक केन्द्र बन सकेंगी। हमारे स्कूल ऐसे केन्द्रों के रूप में विकसित हो जायेंगे जो ग्रामीण संस्कृति, सामाजिक जीवन तथा आर्थिक उत्थान के आधार होंगे।

यहाँ तक तो रही योजना के गुणों की बात। इन गुणों की अपेक्षाकृत इसे हम पूर्णतः निर्दोष भी नहीं कह सकते। इसके आलोचकों का कहना यह है कि इसके लागू होने से शिक्षा का सामान्य मानदण्ड गिर जायगा। लड़के अधिकांश में खेती करने में लगे रहेंगे। इससे उनके अन्य विषयों की पढ़ाई-लिखाई भली-भाँति न हो सकेगी। इसका परिणाम यह निकलेगा कि जब ये बालक नगरों में उच्च शिक्षा के लिए आयेंगे तो नगर के बालकों की अपेक्षा इनके सामान्य ज्ञान का स्तर बहुत नीचा होगा। इससे उच्च शिक्षा का मानदण्ड भी गिर जायगा। साथ ही स्वयं ये बालक भी उच्च पदों के लिए प्रतिस्पर्द्धा में नगर के बालकों की अपेक्षा बहुत पीछे रह जायेंगे। कुछ उग्रवादी तो यहाँ तक कहते हैं कि ग्रामीणों को सदा पिछड़ा हुआ रखने तथा उन्हें खेती करने

तक के लिए सीमित रखने की यह सरकारी चाल है । इतना तो हम नहीं कह सकते; किन्तु हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि ग्रामीण बालकों के जूनियर-स्तर पर अधिकांश में कृषि में ही लगे रहने पर उच्च शिक्षा का मानदण्ड अवश्य गिर जायगा। इतना ही नहीं, समाज दो विभिन्न व स्पष्ट वर्गों में बँट जायगा और ऐसी स्थिति में वर्ग-विहीन समाज स्थापित करने की हमारी आशाओं पर तुषारापात हो जायगा ।

दूसरे, गाँव वालों का कहना है कि यदि कृषि के लिए ही उन्हें अपने बालकों को स्कूल भेजना है तो यह कार्य तो वे अपने घरों पर ही कर लेंगे । फिर स्कूल भेजने से क्या लाभ ? वास्तव में, यह तर्क बड़ा सारहीन है। देखा यह जाता है कि किसान स्वयं बड़ी ही प्राचीन व अवैज्ञानिक कृषि-विधियों को अपनाते हैं जबकि इन स्कूलों में उन्नत व वैज्ञानिक विधि से कृषि करना सिखाया जायगा । इसके अतिरिक्त भी कितने ऐसे बालक हैं जो स्कूलों में पढ़ते हुए भी खेत पर अपने माँ-बाप के कार्य में हाथ बँटाने में गौरव समझते हैं ? यहाँ तक देखा जाता है कि स्वयं माँ-बाप भी इस बात को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते हैं कि पढ़-लिखकर भी उनका पुत्र खेती करे । इसे केवल एक दूषित व अप्रगतिशील मनोवृत्ति ही कहना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त अन्य दोष यह बताये जा रहे हैं कि योजना में पूर्व-नियोजन का अभाव है । इसे भलीभाँति समझाया नहीं गया है । यहाँ तक कि बहुत-से उत्तरदायी जिला शिक्षा अधिकारी भी अपने आपको अन्धकार में समझते हैं और किसी एक स्पष्ट चित्र को उपस्थित करने मे अपने को असमर्थ पाते हैं । यह बात सत्य है कि सरकार के प्रयत्न इस योजना को लोकप्रिय बनाने तथा इसका स्पष्ट चित्र उपस्थित करने में बड़े अधूरे व अपर्याप्त रहे हैं । योजना में पूर्व-नियोजन का अभाव इस बात से जाना जा सकता है कि जब इसे लागू किया गया; तो उसके बहुत दिनों वाद तक भी प्रसार शिक्षकों को यह नहीं मालूम हो पाया कि उन्हें क्या करना है । कहाँ से उन्हें बीज व औजार इत्यादि मिलेंगे ? सरकार ने न तो बैलों की कोई व्यवस्था की और न सिंचाई की । यह बात कहना व्यर्थ है कि भारत जैसे देश में सिंचाई व हल-बैलों की व्यवस्था न करके नये तरीकों से स्कूलों में कृषि का प्रशिक्षण देने की कल्पना करना हास्यास्पद है। इसके अतिरिक्त यह कहा जाता है कि शिक्षा अधिकारियों द्वारा 'शिक्षा कोष' के लिए बलपूर्वक शिक्षकों तथा विद्यार्थियों से रुपया वसूल किया गया । इससे ग्रामीण जनता का एक बड़ा भाग योजना के विरुद्ध हो गया है । कुछ ग्रामीण इसलिए भी विरुद्ध हो गये हैं कि जो भूमि स्कूलों को दे दी गयी है, वह अब तक उनके पशुओं के चराने अथवा स्वयं उनके लिए धीरे-धीरे नौतोड़ करके कृषि-योग्य बनाने के काम में आती थी। अब वह लाभ जाता रहा । इसके साथ ही कुछ ग्रामीण यह भी डर रहे हैं कि चकबन्दी की योजना में स्कूल का फार्म स्कूल के निकट ही रखने की चेष्टा की जायगी और ऐसी स्थिति में सम्भवतः उनकी अच्छी भूमि छिनकर उन्हें बंजर भूमि मिल जायेगी । अन्त में, यह भी देखा गया है कि प्रसार अध्यापकों को भी अपने कार्य में अधिक रुचि नहीं है । अध्यापकों में ऐसे लोगों का चुनाव अधिक हो गया है जिन्होंने स्वयं कृषि का अध्ययन

नहीं किया है। फिर वे कृषि का वैज्ञानिक प्रशिक्षण तीन माह की ट्रेनिंग पाकर कैसे दे सकते हैं ? नगरों से भर्ती किये हुए शिक्षक गाँवों में अपने को अकेला पाते हैं। उन्हें अभी तक ग्रामीणों का सहयोग भी प्राप्त नहीं हो सका है।

उपर्युक्त सभी आलोचनाओं के निष्पक्ष अध्ययन से प्रतीत होता है कि जो दोष 'शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना' में बताये गये हैं वे इतने इस योजना के दोष नहीं हैं जितने कि उनको कार्यान्वित करने की प्रणाली के हैं। यदि भलीभाँति नियोजन किया जाय तो सम्भवतः प्रशासन सम्बन्धी सभी दोषों का निवारण किया जा सकता है। जहाँ तक गाँव वालों की प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है, उसे कदापि प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। यदि भारत में जनतन्त्र को सफल होना है तो यहाँ के नागरिक को उत्तरोत्तर इस बात के लिए सन्नद्ध होना पड़ेगा कि स्वार्थ के समक्ष लोकहित को प्राथमिकता दें। इन सब बातों की अपेक्षाकृत भी इस महान परीक्षण की प्रगति को शिक्षा जगत अभी कुछ समय तक बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखते हुए इसकी सफलता की प्रतीक्षा करेगा।

**उच्चतर माध्यमिक शिक्षा**

माध्यमिक शिक्षा का विकास उत्तर प्रदेश में अंग्रेजी शासन-काल में हुआ। इस शिक्षा का उद्देश्य मध्यम वर्ग के कुछ लोगों को प्रदेश के कतिपय सरकारी या वैय-क्तिक स्कूल में शिक्षा देना था जिससे स्कूल पास करने के उपरान्त वे लोग सरकारी कार्यालयों में क्लर्क इत्यादि का कार्य सँभाल सकें। यथासम्भव माध्यमिक शिक्षा का लाभ थोड़े से थोड़े व्यक्तियों को ही दिया जाता था, जिससे बेकारी इत्यादि न फैलने पाये। कुछ लोग उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों में भी जाते थे। उत्तर प्रदेश में सन् 1948 से पूर्व माध्यमिक शिक्षा कक्षा 8 से प्रारम्भ होती थी। दसवीं कक्षा में विद्यार्थी हाई स्कूल परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उपरान्त दो वर्ष तक इण्टर कक्षाओं का अध्ययन करता था। सन् 1948 में माध्यमिक शिक्षा कक्षा 9 से प्रारम्भ होने लगी। एक प्रकार से छठवीं कक्षा से ही जूनियर माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भ हो जाती है।

सन् 1937 में प्राथमिक स्कूलों की संख्या बढ़ने के कारण माध्यमिक स्कूलों की भी संख्या बढ़ने लगी थी। इधर शिक्षा-विशारदों का यह मत था कि उत्तर प्रदेश में बारह वर्ष तक अध्ययन करने के उपरान्त भी माध्यमिक शिक्षा विद्यार्थी को जीवन में अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य नहीं बना पाती। इसके उपरान्त विद्यार्थी को या तो कहीं पेट भरने के लिए क्लर्की इत्यादि मिलने का अवसर मिल जाता है अथवा वह विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए प्रवेश करा लेता है और अधिकांश विद्यार्थी तो उच्च अध्ययन को भी नौकरी मिलने अथवा आर्थिक कठिनाइयों के कारण छोड़ बैठते हैं।[4]

[4] "Secondary Education was merely regarded as subsidiary to University Education; it does not provide varied forms of training for life and employment to suit the varied interests and abilities of large numbers of pupils.........The system must be a complete, self-sufficient and integrated whole.

—*The First Acharya Narendra Dev Committee Report* (1939).

अतः माध्यमिक शिक्षा की पूरी जाँच करने तथा उसका पुनर्संगठन करने के उद्देश्य से उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् 1939 में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इसकी सिफारिशों का संक्षेप में वर्णन अध्याय सोलह में दिया जा चुका है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त माध्यमिक शिक्षा के आकार में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। सन् 1948 में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा योजना प्रदेश में लागू कर दी गयी। इसके उपरान्त माध्यमिक शिक्षा का और भी अधिक प्रसार हुआ। नगरों की अपेक्षा गाँवों में इधर माध्यमिक शिक्षा का प्रसार अधिक हुआ है। आजकल ग्रामीण लोग हाई स्कूलों की स्थापना करा रहे हैं। जूनियर स्कूल उच्चतर माध्यमिक स्कूल बनते जा रहे हैं और इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा को प्रदेश में पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता जा रहा है।

इस समय राज्य में 2,358 उच्चतर माध्यमिक विद्यालय हैं जिनमें लगभग 13·9 लाख विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त माध्यमिक शिक्षा के आकार में यहाँ पर्याप्त वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, सन् 1946-47 में यहाँ 506 हाई स्कूल थे जिनमें 2 लाख विद्यार्थी शिक्षा पाते थे और 9,187 शिक्षक थे। 1960-61 में 1,771 उच्चतर माध्यमिक स्कूल, 9·12 लाख विद्यार्थी तथा 35,153 शिक्षक हो गये। इसके उपरान्त इन सभी संख्याओं में वृद्धि हुई है। अतः 1965-66 में 1358 स्कूल, 13·9 लाख छात्र और 40 हजार शिक्षक इस स्तर पर थे।

**उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की संरचना**

सन् 1948 में उत्तर प्रदेश में एक नयी माध्यमिक शिक्षा योजना को अपनाया गया। इसके अनुसार इसका ढाँचा इस प्रकार हो गया :

(1) जूनियर हाई स्कूल, जिनमें 6, 7 व 8 कक्षाएँ हैं।

(2) उच्चतर माध्यमिक स्कूल, जिनमें 9 से 12 तक कक्षाएँ हैं।

(1) **जूनियर हाई स्कूल-स्तर**—प्रदेश में पहले दो प्रकार के जूनियर हाई स्कूल थे—हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूल, और एंग्लो हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूल। सन् 1948 में जब माध्यमिक शिक्षा की योजना कार्यान्वित की गयी, तो उसमें हिन्दुस्तानी और एंग्लो हिन्दुस्तानी शिक्षा का भेद मिटा दिया गया। फलतः आज केवल एक ही प्रकार के जूनियर हाई स्कूल हैं और इनमें एक ही प्रकार के पाठ्यक्रम की व्यवस्था है। पहले हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूल से एंग्लो हिन्दुस्तानी स्कूल में जाने के लिए दो वर्ष का समय लगता था, किन्तु अब विद्यार्थियों के ये दो वर्ष नष्ट नहीं होते। जूनियर हाई स्कूलों के लिए शिक्षक प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सन् 1948 में जे० टी० सी० नामक एक नवीन प्रशिक्षण पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया गया था और आठ राजकीय नॉर्मल स्कूल जूनियर ट्रेनिंग संस्थाओं में परिवर्तित कर दिये गये थे। इसके अतिरिक्त कुछ वैयक्तिक संस्थाओं को भी जे० टी० सी० कक्षाएँ खोलने की अनुमति दे दी गयी। पुराना सी० टी० पाठ्यक्रम लड़कों के लिए समाप्त कर दिया गया है।

(2) **उच्चतर माध्यमिक स्तर**—इस स्तर के अन्तर्गत 9, 10, 11 और 12 कक्षाएं रखी गयी हैं। इस योजना की प्रमुख विशेषता आचार्य नरेन्द्रदेव समिति (सन् 1939) की रिपोर्ट में निर्धारित चार विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम की व्यवस्था करना है। यह नितान्त आवश्यक था कि छात्रों की योग्यता के विभिन्न स्तरों और रुचियों के अनुसार उसके लिए पाठ्यक्रमों में भी विविधता का सन्निवेश किया जाय।

इस योजना के अनुसार पाठ्यक्रम के क, ख, ग, घ नामक चार वर्ग कर दिये गये जिनमें क्रमशः साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक और कलात्मक वर्ग सम्मिलित थे। बाद में इनमें कृषि, वाणिज्य तथा प्राविधिक नामक तीन वर्ग और जोड़ दिये गये। दसवीं कक्षा के अन्त में शिक्षा-विभाग की ओर से परीक्षा होती है। लड़कियों के लिए भी माध्यमिक शिक्षा लड़कों की-सी ही रखी गयी। केवल जूनियर-स्तर पर लड़कियों के लिए गृह-हस्तकला अनिवार्य कर दी गयी और उच्चतर स्तर पर गृह-हस्तकला के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला व मातृत्व-शिक्षा भी सम्मिलित कर दी गयी।

**आलोचना**

उपर्युक्त योजना के कारण जूनियर व उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के स्तरों में एक तारतम्य स्थापित हो गया है। विभिन्न प्रकार की रुचि व प्रतिभाएँ रखने वाले छात्रों के लिए एक विस्तीर्ण व विविध प्रकार के पाठ्यक्रम की व्यवस्था होने से प्रत्येक छात्र अपनी रुचि व आवश्यकतानुसार उपयुक्त पाठ्यक्रम ले सकता है।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में चला आने वाला एक प्रमुख दोष पुस्तकीय अध्ययन की प्रमुखता था। वह पर्याप्ततः समाप्त हो सकेगा और इस प्रकार शिक्षा व्यावहारिक जीवन के अनुकूल बन जायगी। साथ ही अब विद्यार्थियों का उद्देश्य माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करके विश्वविद्यालयों को भरना भी नहीं रहेगा। उच्चतर माध्यमिक स्तर अपने आप में एक पूर्ण स्तर होगा जिसे उत्तीर्ण करने के उपरान्त विद्यार्थी समाज का एक उत्पादक व स्वावलम्बी अंग बन सकेगा।

किन्तु यह तो इसका सैद्धान्तिक स्वरूप रहा। वास्तव में, जहाँ तक इसका व्यावहारिक पक्ष है, इसकी बड़ी कटु आलोचना हुई है और इसे प्रदेश में समर्थन नहीं मिल सका है। इसको कार्यान्वित करने में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हुई हैं।

एक तो अधिकांश में विद्यार्थियों ने साहित्यिक वर्ग को ही अपने पाठ्यक्रम का विषय चुना। 'ग' वर्ग जिसे सम्पूर्ण योजना की कुंजी बताया गया है, वास्तव में देखा जाय तो, इस योजना की सबसे बड़ी कमजोरी है। वैज्ञानिक वर्ग में स्थिति यथा-वत् ही रही है। इस वर्ग में प्रवेश बहुधा रहता ही है, किन्तु इसमें प्रवेश न मिलने पर ही विद्यार्थी रचनात्मक वर्ग में जाता है अथवा कलात्मक वर्ग को चुनता है। इन वर्गों में कुल विद्यार्थियों के केवल दस प्रतिशत ही प्रवेश लेते हैं। वास्तव में, इन विषयों में योग्य व प्रशिक्षित अध्यापक ही नहीं मिलते हैं। विशेषतः गाँवों में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है। दूसरी बात यह है कि इन विषयों के लिए जितनी सामग्री व सज्जा की आवश्यकता है वह अधिकांश में स्कूलों के पास नहीं है और फिर दो वर्ष तक कोई

भी हस्तकला या ललितकला स्कूल में सीखकर कोई भी विद्यार्थी अपने ज्ञान को उनमें पूर्ण नहीं समझता है और न उनकी समाप्ति पर उसे कहीं कोई धन्धा या नौकरी ही मिलती है। अतः अधिकांश विद्यार्थी इन विषयों को नहीं लेते हैं।[5]

इसके अतिरिक्त विषयों का विभाजन व उप-विभाजन 'प्रमुख' व 'सहायक' विषयों में कर दिया गया है। इससे विद्यार्थियों के मस्तिष्क में बड़ी अस्पष्टता व उलझन उत्पन्न होती है। इस विभाजन के कारण शिक्षकों, प्रबन्धकों और सरकार को भी कुछ शिक्षक व प्रशासन तथा वित्त सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वास्तव में, जब प्रमुख व सहायक (main and subsidiary) विषयों का विभाजन किया गया था, तब सरकार का उद्देश्य यह था कि प्रमुख विषयों पर अधिक बल दिया जाय और जिस विद्यार्थी ने किसी विषय को यदि 'प्रमुख' करके लिया है तो वह उन विद्यार्थियों से भिन्न समझा जाय जिन्होंने उस विषय को 'सहायक' विषय के रूप में लिया है। किन्तु व्यवहार में क्या हुआ ? क्या यह सम्भव हो सका कि किसी विषय को 'प्रमुख' करके लेने वाले विद्यार्थियों को उसका कोई विशेष शिक्षण दिया जा सका हो ? वास्तव में, ऐसा नही हो सका क्योंकि आर्थिक अभाव में स्कूलों के लिए यह बात सम्भव न हो सकी कि किसी विषय को 'प्रमुख' और 'सहायक' के रूप में विद्यार्थियों के विभिन्न समूहों को पृथक-पृथक पढ़ाया जा सके। दोनों ही प्रकार के विद्यार्थियों की कक्षा एक ही साथ लगती है। इस प्रकार व्यवहार में तो यह भेद बिलकुल ही निर्मूल रहा। वास्तव में, यदि योजना का पहले सरकारी स्कूलों अथवा आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ स्कूलों में परीक्षण करके देख लिया जाता तो अच्छा रहता। जाँच करने पर ज्ञात हुआ है कि सरकारी स्कूलों में भी स्थिति प्रायः ऐसी ही है।

संक्षेप में, आचार्य नरेन्द्रदेव समिति की जाँच के आधार पर हम कह सकते हैं कि :[6]

(1) योजना को पर्याप्त निरीक्षण करने के उपरान्त नहीं चालू किया गया था;

(2) इसे केवल आंशिक सफलता मिली है;

(3) इससे कार्य-प्रणाली तथा विद्यार्थियों को अपने प्रश्नपत्र चुनने में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो गयी है;

(4) विषयों का अनिवार्य, प्रमुख तथा सहायक के नाम से उपविभाजन होने के कारण शिक्षण पर बुरा प्रभाव पड़ा है;

*Cf*. "It is always doubtful if a student after passing the High School or Intermediate examination with a main craft subject in Constructive Group can earn his living. No clear picture of the economic set up of the future as a whole has yet emerged and parents and boys cannot be blamed if they hesitate to take the grave risk of following a course which does not lead to assured employment."—*Acharya Narendra Dev Committee Report* (1953), p. 15.

*Ibid*, p. 16.

(5) सामान्य ज्ञान (general knowledge) जैसे विषय के अनिवार्य हो जाने का कोई लाभ नहीं हुआ है;

(6) हिन्दी को 'प्रारम्भिक हिन्दी' के नाम से अनिवार्य विषय तो बना दिया गया है, किन्तु अन्य विषयों के साथ इसके अंक नहीं जोड़े जाते । इससे इस योजना के अन्तर्गत हिन्दी को अधूरा समर्थन ही मिला है; तथा

(7) इस योजना के अन्तर्गत व्यवस्था की गयी है कि विद्यार्थियों को उनके विषयों को चुनने में मार्गदर्शन प्रदान किया जाना चाहिए । किन्तु इसको कार्यान्वित करने के लिए किसी ऐसी ठोस योजना का निर्माण नहीं किया गया है जिसके द्वारा सारे राज्य के स्कूलों में विद्यार्थियों की रुचियों के अनुसार मार्गदर्शन करके उन्हें सहायता दी जा सके ।

उपर्युक्त सभी कारणों की वजह से उच्चतर माध्यमिक शिक्षा योजना सफल नहीं हो पा रही है । इधर स्कूलों की संख्या इतनी तीव्रता से बढ़ी है कि उससे शिक्षा का मानदण्ड पर्याप्ततः गिर गया है । एक तो शिक्षा के विस्तार के कारण अधिक प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता हुई । सरकार ने इस अभाव की पूर्ति के लिए बहुत-से ट्रेनिंग कॉलेज खोल डाले हैं जहाँ अर्द्ध-प्रशिक्षित शिक्षकों को बड़ी तेजी से दीक्षित कर करके भेजा गया । ऐसे शिक्षकों के कारण शिक्षा का स्तर गिर गया । साथ ही ये स्कूल इतनी तेजी से बने कि उनकी आर्थिक स्थिति तथा अन्य साधन ठोस नहीं हो पाते । ऐसे स्कूलों में शिक्षकों को अल्प वेतन देना, वेतन देर से देना, प्रति वर्ष अनुभवी व पुराने शिक्षकों को निकालकर कम वेतन पर नये शिक्षकों की नियुक्ति करना, स्कूलों में अच्छे पुस्तकालय, विज्ञान सामग्री व उपयुक्त भवन इत्यादि का अभाव एवं अधिकांश में अयोग्य और कहीं-कहीं पर स्वयं निरक्षर लोगों के हाथों में प्रबन्ध के चले जाने से भी शिक्षा का स्तर पर्याप्ततः गिर गया है । इसके अतिरिक्त प्रदेश में ही नहीं, अपितु सारे देश में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संक्रमण के साथ ही साथ शिक्षा भी एक संक्रमण काल में होकर गुजर रही है । सम्पूर्ण समाज में आज गिरती हुई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं । जीवन के मानदण्ड गिरते जा रहे हैं । आज हमारे सामान्य वर्ग के एक विद्यार्थी व शिक्षक पर बहुत-से भार आकर पड़ गये हैं । ये सभी बाधाएँ शिक्षा के मानदण्ड को गिराने में सहायक हो रही हैं । इधर कक्षा 3, 4 व 5 के हाई स्कूलों में से हट जाने के कारण बहुत-से अभिभावकों की यह मनोवृत्ति हो गयी है कि वे अपने बच्चों को सीधे कक्षा 6 में प्रविष्ट कराते हैं और अब तक उसे बिलकुल प्राइवेट बनाकर ही रखते हैं । प्राथमिक स्कूलों में मानदण्ड पहले से ही बेसिक शिक्षा के नाम पर गिरा हुआ है । ये स्कूल उन अभिभावकों को उनके बच्चों की समुचित प्राथमिक शिक्षा के लिए सन्तुष्ट नहीं कर पाते; वे अपने बच्चों को सीधे छठवीं कक्षा में ही प्रवेश कराते हैं । नगरों में प्राय: ऐसा हो रहा है । इससे माध्यमिक शिक्षा के स्तर व मूल्य गिरते जा रहे हैं । यही कारण था कि उत्तर प्रदेश सरकार ने अनुभव किया कि यह आवश्यक है कि प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा की अवस्था की पुन: जाँच

हो और परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों की बदलती हुई स्थिति के अनुकूल ही माध्यमिक शिक्षा को भी ढाला जाय। अत: मार्च 1942 में उत्तर प्रदेश सरकार ने माध्यमिक शिक्षा की प्रगति के परीक्षण तथा वांछित विकास सम्बन्धी सुझाव देने के उद्देश्य ये आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक दूसरी समिति की नियुक्ति की। समिति ने सन् 1953 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इसकी सिफारिशों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

**माध्यमिक शिक्षा पुनर्संगठन समिति (1953)**

**नियुक्ति**—18 मार्च, 1952 को एक सरकारी आदेश के द्वारा उत्तर प्रदेश सरकार ने इस समिति की नियुक्ति की। आचार्य नरेन्द्रदेव इसके अध्यक्ष बनाये गये, अत: इसको बहुधा आचार्य नरेन्द्रदेव समिति भी कहा जाता है। सन् 1948 से 1952 तक प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा की नवीन योजना के चलने के उपरान्त यह अनुभव किया गया कि उस योजना की पुन: जाँच की जाय और देखा जाय कि उसे कहाँ तक सफलता मिली है तथा बदलती हुई परिस्थितियों में उस योजना में क्या-क्या परिवर्तन आदि किये जा सकते हैं। अत: इस समिति की नियुक्ति की गयी।

**जाँच-क्षेत्र**—(1) सन् 1948 में लागू होने वाली उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की जाँच करके यह देखना कि उसे कहाँ तक सफलता मिली है। (2) 'क', 'ख', 'ग', व 'घ' नामक पाठ्यक्रम के चारों वर्गों पर विचार करना। (3) यह देखना कि विद्यार्थियों ने अपनी रुचियों के अनुसार किस-किस पाठ्यक्रम को किस सीमा तक चुना है। (4) रचनात्मक व कलात्मक वर्गों की सफलता के विषय में जाँच करना और देखना कि वे कहाँ तक उपयोगी व पर्याप्त हैं तथा विभिन्न स्कूलों में उनके पढ़ने की कितनी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। (5) व्यावहारिक व औद्योगिक विषय लेने वाले विद्यार्थियों की रोजगार की समस्या कहाँ तक हल हो जाती है। (6) सुधार के उपाय बताना। (7) सामान्य शिक्षा व तकनीकी शिक्षा का समन्वय किस प्रकार हो सकता है ?

आगे चलकर इस समिति का जाँच-क्षेत्र और भी अधिक बढ़ा दिया गया और इसमें अवकाश व कार्य के घण्टों पर विचार, पाठ्य-पुस्तकों, परीक्षा तथा प्रबन्ध समितियों इत्यादि के विषय में भी सुझाव माँगे गये। साथ ही तत्कालीन शिक्षा मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द ने अपने एक भाषण में बोलते हुए समिति के कार्य-क्षेत्र को और भी अधिक विस्तीर्ण करते हुए उसमें इलाहाबाद के मनोविज्ञान केन्द्र तथा गृह विज्ञान कॉलेज, विद्यार्थियों के अनुशासन, धार्मिक व नैतिक शिक्षा तथा अंग्रेजी को अनिवार्य विषयों में सम्मिलित करने इत्यादि के विषयों को भी सम्मिलित कर दिया।

समिति ने उपर्युक्त समस्याओं का अध्ययन करने के उपरान्त 7 मई, 1953 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी।

**सिफारिशें**

(1) हिन्दी के साथ संस्कृत कर दी जाय। सामान्य विज्ञान को हटा दिया जाय। गणित प्रथम दो वर्षों में अनिवार्य विषय बना दिया जाय। कक्षा 9 व 10 में

छह विषय तथा 11 व 12 में पाँच विषय पढ़ाये जायँ। प्रमुख तथा सहायक (main and subsidiary) उपविभाजन को समाप्त कर दिया जाय। माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का सुधार करने के लिए प्राथमिक, बेसिक तथा जूनियर हाई स्कूलों के पाठ्यक्रम में सुधार आवश्यक है।

(2) सामान्य व तकनीकी शिक्षा में पर्याप्त समन्वय हो। तकनीकी स्कूलों को शिक्षा के अन्तर्गत ही होना चाहिए। ऐसे स्कूलों की स्थापना करने से पूर्व स्थान की भौगोलिक उपयुक्तता का अध्ययन कर लेना चाहिए। यह शिक्षा निःशुल्क दी जानी चाहिए। तकनीकी शिक्षा देने वाले शिक्षकों के लिए ट्रेनिंग कालेजों का पुनर्संगठन होना चाहिए।

(3) विषयों के चुनने में विद्यार्थियों का उचित मार्गदर्शन होना चाहिए और इसके लिए प्रत्येक जिले में मनोवैज्ञानिक केन्द्र की स्थापना होनी चाहिए। प्रत्येक स्कूल में कम से कम एक शिक्षक को ऐसी ट्रेनिंग दी जाय कि वह बच्चों की मनोवैज्ञानिक जाँच कर सके। वर्तमान प्रशिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रम, मनोवैज्ञानिक जाँच व मार्गदर्शन को अधिक महत्त्व देना चाहिए। प्रदेश में एक 'मनोवैज्ञानिक शिक्षा अनुसन्धान परिषद'[7] की स्थापना कर देनी चाहिए।

(4) उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम में 9, 10 व 11वीं कक्षाएँ सम्मिलित हों। 12वीं कक्षा को विश्वविद्यालय की डिग्री कक्षा में सम्मिलित करके उसका कोर्स भी तीन वर्ष का कर दिया जाय। 11वीं कक्षा के उपरान्त ही एक परीक्षा हो। सोलह वर्ष से कम आयु वाला विद्यार्थी इस परीक्षा में सम्मिलित नहीं होना चाहिए। जूनियर-स्तर पर ऑब्जेक्टिव जाँच के अनुसार विद्यार्थियों की परीक्षा होनी चाहिए। परीक्षण के लिए लगभग 100 स्कूलों को चुनकर ऑब्जेक्टिव जाँच-प्रणाली को हाई स्कूल परीक्षा में भी प्रयोग किया जाना चाहिए।

(5) इलाहाबाद का सरकारी मनोविज्ञान शिक्षा-केन्द्र जारी रहना चाहिए। साथ ही उसका सुधार आवश्यक है।

(6) प्रत्येक स्कूल को वर्ष में 200 दिन अथवा 400 बैठकों में पढ़ाना चाहिए। 235 दिन से अधिक कोई स्कूल नहीं खुलना चाहिए। वर्ष में 31 दिन की विभिन्न स्वीकृत छुट्टियों के अतिरिक्त शीत व ग्रीष्मकाल में क्रमशः पहाड़ी व मैदानी क्षेत्रों में छह या सात सप्ताह का अवकाश मिलना चाहिए।

(7) नैतिक तथा मानव शिक्षा हमारी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग होना चाहिए। विद्यार्थियों को सभी धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों की शिक्षा दी जानी चाहिए। स्कूल कार्य प्रारम्भ होने से पूर्व कम से कम दस मिनट तक ईश-प्रार्थना होनी चाहिए। समय-समय पर महापुरुषों के जीवन-चरित्र के विषय में स्कूलों में वार्ता होनी चाहिए।

(8) अनुशासन सुधारने की दृष्टि से शिक्षक, विद्यार्थी तथा अभिभावकों में अधिक पारस्परिक सम्पर्क होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को अनुशासन सुधारने के लिए

Council of Psychological Research in Education.

सभी अधिकार दे देने चाहिए। साथ ही विद्यार्थियों के मनोरंजन व शारीरिक शिक्षा इत्यादि की सुविधाओं की व्यवस्था के द्वारा भी अनुशासन में सुधार होना चाहिए। बुरे सिनेमा चित्रों का देखना पन्द्रह वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिकाओं के लिए निषिद्ध होना चाहिए। प्रत्येक स्कूल में एक रेडियो अवश्य हो।

(9) प्रबन्ध समितियों में सुधार करने के लिए समिति ने कहा कि जिन स्कूलों का प्रबन्ध खराब है, वहाँ प्रबन्ध समिति को समाप्त करके सरकार को एक प्रशासक नियुक्त कर देना चाहिए। प्रत्येक सहायता-प्राप्त स्कूल की प्रबन्ध समिति में प्रधानाध्यापक व शिक्षकों के एक प्रनिनिधि को सम्मिलित करना चाहिए। शिक्षकों को उनकी वरिष्ठता व अनुभव के आधार पर क्रम के अनुसार (by rotation) समिति में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। प्रबन्ध समितियों के विधानों में उपयुक्त परिवर्तन हो जाना चाहिए। समितियों के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक बारह होनी चाहिए। शिक्षकों की नियुक्ति के लिए पाँच सदस्यों की एक उप-समिति होनी चाहिए, जिसमें प्रधानाध्यापक अवश्य हो। शिक्षक की नियुक्ति के उपरान्त तत्काल इसकी सूचना जिला शिक्षा निरीक्षक के पास पहुँच जानी चाहिए और उसकी स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए। जो प्रबन्धक ऐसा न करे उसे तत्काल हटा देना चाहिए। शिक्षा-संहिता में उचित संशोधन हो जाना चाहिए। शिक्षक की नियुक्ति के चार माह के भीतर ही उसे संविदा-पत्र (agreement form) भर देना चाहिए। जो प्रबन्ध समितियाँ धर्म व जाति के आधार पर बनी हैं उनमें कम से कम चौथाई सदस्य अन्य धर्म या जाति के होने चाहिए। पंचफैसला बोर्ड (Arbitration Board) का फैसला अन्तिम माना जायगा तथा दो माह के अन्तर्गत ही उस पर कार्यवाही होना आवश्यक है। ऐसा न करने पर स्कूल की अनुदान-सहायता में से शिक्षक को दी जाने वाली धनराशि को काट लेना चाहिए और यदि बोर्ड के फैसले के विरुद्ध किसी शिक्षक को नौकरी पर वापस नहीं लिया जा रहा है, तो शिक्षा-विभाग को चाहिए कि वह स्कूल के मिलने वाले अनुदान में से प्रतिमाह रुपया काटकर उस शिक्षक को वेतन देता रहे। साथ ही स्कूलों को मिलने वाले अनुदानों में भी सरकार को उचित व उदार परिवर्तन या वृद्धि कर देनी चाहिए। विद्यार्थियों से प्रवेश शुल्क नहीं लिया जाना चाहिए। साथ ही समिति ने शिक्षकों के वेतन व तबादला सम्बन्धी बातों पर भी अपनी सिफारिशें करके उन्हें सुधारने के लिए सुझाव दिये हैं। तबादला के लिए 'तबादला बोर्ड' होना चाहिए।

(10) अन्त में, पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में भी समिति ने अपने सुझाव दिये हैं। उसका मत है कि पाठ्य-पुस्तकों को स्वीकार करने की वर्तमान विधि को तत्काल समाप्त कर देना चाहिए। कक्षा 9 से 12 तक कोई भी विशेष पाठ्य-पुस्तक स्वीकार नहीं की जायगी, केवल विस्तृत पाठ्यक्रम निर्धारित किया जायगा। उसी के अनुसार प्रधानाध्यापक को विषय शिक्षक की राय से कोई भी पुस्तक चुनने का पूर्ण अधिकार होगा। शिक्षा-विभाग कुछ सर्वोत्तम पुस्तकों की सूची प्रकाशित कर देगा ताकि

पुस्तकों के चुनने में सहायता मिल सके। ये पुस्तकें पाठ्यक्रम के अनुसार ही लिखी हुई होनी चाहिए।

समिति का मत है कि श्रेष्ठ पुस्तकों की रचना व प्रकाशन के लिए इंगलैण्ड व अमरीका की भाँति विशेष संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिए। कोई भी पुस्तक एक बार चुनी जाने के बाद कम से कम तीन वर्ष तक नहीं बदलनी चाहिए। यदि पाठ्यक्रम में परिवर्तन हो जाय तो बात दूसरी है। सरकार को चाहिए कि वह प्रत्येक विषय पर प्रसिद्ध व अनुभवी लेखकों की लिखी हुई श्रेष्ठतम पुस्तकें उपलब्ध बाजार में पहुँचाये। उनके लिए विभिन्न विषयों पर अच्छे लेखकों से पुस्तकें जमा करने के लिए कहा जाय और उनमें से सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों को चुना जाय। पुस्तकों की छपाई व कागज इत्यादि की श्रेष्ठता पर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए। श्रेष्ठ लेखकों को पारितोषिक देकर प्रोत्साहित भी किया जाना चाहिए। अन्त में समिति का मत है कि स्वयं सरकार को पुस्तकें नहीं छापनी चाहिए, "क्योंकि लेखकों को अच्छे प्रकाशक मिलना कठिन नहीं होगा।"

**आलोचना**

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के विषय में उत्तर प्रदेश में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण देश में यह रिपोर्ट अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। वास्तव में, शिक्षा समस्याएँ सभी प्रान्तों में प्रायः एकसी ही हैं।

माध्यमिक शिक्षा के लगभग सभी पक्षों पर विचार करके समिति ने अपने व्यावहारिक सुझाव दिये हैं। पाठ्यक्रम के पूर्व-स्थित दोषों को दूर करने का प्रयास करके उसे विद्यार्थी की रुचियों व आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया गया है। तकनीकी शिक्षा को वास्तविक रूप से उपयोगी बनाने के सुझाव भी बड़े ठोस है। यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को उनके विषयों के चुनने में पर्याप्त मार्गदर्शन होना चाहिए तथा उनकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा करके उनकी मानसिक क्षमताओं व रुचियों का पता लगाया जाय। वास्तव में यह सुधार अत्यन्त आवश्यक है।

प्रबन्ध समितियाँ उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के मस्तिष्क पर लगे हुए कलंक हैं। उनका सुधार न केवल शिक्षकों के हित में ही, वरन् स्वयं शिक्षा के हित में भी अनिवार्य है। यह बात सर्वविदित है कि वैयक्तिक प्रबन्ध समितियाँ प्रदेश में शिक्षा का स्तर गिराने तथा शिक्षकों के दुर्भाग्य के लिए अधिकांश में उत्तरदायी हैं। अतः आचार्य नरेन्द्रदेव समिति के सुझाव प्रबन्ध समितियों के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। अन्त में, पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में फैले हुए भ्रष्टाचार की ओर समिति का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। यह बात आज सभी जान गये हैं कि प्रकाशकों तथा शिक्षा बोर्ड के सदस्यों ने मिलकर इस क्षेत्र में एक अत्यन्त ही गन्दा वातावरण उत्पन्न कर रखा है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि आज स्कूलों में जो पाठ्य-पुस्तकें देखने को मिलती हैं वे अत्यन्त निम्न कोटि की, अशुद्धियों से भरी हुई तथा गन्दी छपाई की हैं। प्रकाशकों के षड्यन्त्रों के द्वारा वे प्रति वर्ष बदल दी जाती हैं। इस प्रकार प्रदेश के निर्धन विद्यार्थियों पर प्रति वर्ष और भी अधिक व्यय

लाद दिया जाता है। समिति की सिफारिशें इस दृष्टि से अधिक क्रान्तिकारी न होते हुए भी उपयोगी हैं।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त समिति के सुझावों में कुछ दोष भी हैं। उदाहरण के लिए, पाठ्यक्रम में कोई विशेष परिवर्तन देखने को नहीं मिलता, 'क' 'ख' 'ग' और 'घ' वर्गों के नाम से जो पाठ्यक्रम का वर्गीकरण सन् 1948 में किया था वह यथावत् रखा गया है, जबकि स्वयं समिति की यह राय है कि उपर्युक्त वर्गीकरण में 'ग' व 'घ' अर्थात् रचनात्मक व कलात्मक वर्गों में कोई भी पर्याप्त शिक्षण नहीं दिया जा रहा है।

प्रबन्ध में सुधार की दृष्टि से भी समिति ने कोई अधिक मौलिक सुझाव नहीं दिये हैं। वास्तव में, ये लगभग वही सुझाव हैं जो 'रघुकुल तिलक समिति' ने पहले ही दे रखे हैं। किन्तु उनका प्रबन्धकों या सरकार ने पालन नहीं किया। शिक्षकों को समितियों में प्रतिनिधित्व नही मिला। प्रबन्धकों के विरोध करने पर स्वयं सरकार ही कच्ची पड़ गयी और इस अति वांछनीय सुधार को टाल दिया गया। ऐसी स्थिति में क्या आशा की जा सकती है कि आचार्य नरेन्द्रदेव समिति के द्वारा कहने पर उसी सिफारिश को सरकार कार्यान्वित करेगी ? जहाँ तक 'पंचफैसला बोर्ड' का सम्बन्ध है, उत्तर प्रदेश में यह बोर्ड अब तक बिलकुल निकम्मा सिद्ध हुआ है और शिक्षकों के अधिकारों की रक्षा करने में पूर्णतः असफल रहा है। इसके निर्णयों को प्रबन्धक लोग सरलता से टाल देते हैं। समिति ने इसके निर्णयों को अनिवार्य बनाने की जो सिफारिशें की हैं वे अपर्याप्त हैं।

साथ ही समिति ने शिक्षकों के वेतन के सुधार के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा है। उसने यह मान लिया प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह बात उसके जाँच-क्षेत्र से बाहर है। वस्तुतः यह सुधार सभी सुधारों की आधारशिला है। इसके अतिरिक्त सरकारी स्कूलों और प्राइवेट स्कूलों के शिक्षकों के वेतन-क्रमों में एक ही प्रकार से कार्य करने पर भी अन्तर होना न केवल अत्यन्त अनुचित ही है, अपितु भारत के संविधान की आत्मा के प्रतिकूल भी है। समिति ने इस पर कुछ भी नहीं कहा है। इतना ही नहीं इधर तो समिति चाहती है कि हस्तकलाओं तथा तकनीकी शिक्षा का प्रसार व सुधार हो; उधर आर्ट व क्राफ्ट के शिक्षकों के निम्न वेतन-क्रमों की ओर उसका ध्यान भी नहीं गया है। जब उपर्युक्त विषय हाई स्कूल कक्षाओं में पढ़ाये जाते हैं और संगीत, संस्कृत तथा हिन्दी के शिक्षकों को ट्रेण्ड ग्रेजुएट का ग्रेड मिला हुआ है तो फिर आर्ट व क्राफ्ट के शिक्षकों को भी वही वेतन-क्रम न देने से हम किस प्रकार से हस्तकलाओं की उन्नति की बात सोच सकते हैं ? वास्तव में, यह हास्यास्पद है।

निरीक्षण व नियन्त्रण की दृष्टि से भी समिति ने निरीक्षण विभाग में फैली हुई अक्षमता व सुस्ती और रिश्वतखोरी के विषय में कुछ नहीं कहा है। यह बात निर्भय होकर कही जा सकती है कि हमारे अधिकांश जिला शिक्षा निरीक्षक शिक्षकों के अधिकारों की रक्षा करने में असफल रहे हैं। उनमें से अधिकांश तो स्कूल मैनेजरों के प्रति कृतज्ञ रहते हैं और उनके लिए निरीह शिक्षकों का आखेट करने में सम्भवतः

कभी सुस्ती नहीं दिखाते। उधर प्रबन्धक लोग इतने सर्वशक्तिमान बने हुए हैं कि कभी-कभी निरीक्षकों के आदेशों की परवाह तक नहीं करते। ऐसी स्थिति में हम माध्यमिक शिक्षा के सुधार की कल्पना तक नहीं कर सकते।

अन्त में पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में जो सुझाव समिति ने दिये हैं वे भी मूलत: पूर्व-स्थित प्रणाली से कोई खास भिन्न नहीं हैं। पुस्तकों के विषय में प्रधानाध्यापक को सम्पूर्ण अधिकार देने से उसके दुरुपयोग की सम्भावना है। प्रकाशक लोग इस दृष्टि से प्रधानाध्यापकों को उचित व अनुचित रूप से प्रभावित करने में कोई भी कमी नहीं छोड़ेंगे। दूसरे, शिक्षा-विभाग के द्वारा जो अच्छी पुस्तकों की सूची प्रकाशित की जायगी उसमें भी प्रकाशकों का प्रभाव काम कर सकता है। इसके अतिरिक्त समिति का यह कहना कि सरकार को पुस्तकें छापने का कार्य नहीं लेना चाहिए क्योंकि "लेखकों को अच्छे प्रकाशक मिलना कठिन नहीं है" वास्तव में, वास्तविकता को ठुकरा देना है। शिक्षा जैसे आवश्यक व बुनियादी महत्त्व के विषय में पूंजीवाद को खुली छूट देने के बड़े भयंकर परिणाम हो सकते हैं। लेखकों को अच्छे प्रकाशक मिलना आज बड़ा कठिन हो रहा है जबकि प्रत्येक पुस्तक-विक्रेता एक प्रकाशक बन बैठा है। पाठ्य-पुस्तकों के छापने का उत्तरदायित्व क्रमश: अवश्य ही सरकार तक सीमित रखा जाना चाहिए और इनका राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त समिति ने उन तथाकथित पुस्तकों के विरोध में कुछ नहीं कहा है जो विभिन्न प्रकार के नोट्स, प्रश्न-उत्तर तथा अन्य इसी प्रकार के सस्ते व व्यर्थ साहित्य के रूप में शिक्षा के मानदण्ड को गिरा रही हैं।

इन सभी दोषों की अपेक्षाकृत भी समिति के सुझाव अत्यन्त मूल्यवान व व्यावहारिक हैं। उत्तर प्रदेश सरकार को चाहिए कि शीघ्रातिशीघ्र उन्हें कार्यान्वित करे।

**शिक्षकों की दशा में सुधार**

किसी भी शिक्षा योजना की सफलता तथा राष्ट्र का निर्माण शिक्षकों का उत्तरदायित्व है। अत: इस उद्देश्य के लिए पूर्ण प्रशिक्षित, सन्तुष्ट तथा स्वस्थ व योग्य शिक्षकों की आवश्यकता है। शिक्षक के लिए प्रशिक्षण उतना ही आवश्यक है जितना कि भोजन। एक से उसके मस्तिष्क का पोषण होता है तो दूसरे से शरीर का। शिक्षक को निम्न कोटि की आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त रखना एक बड़ी दूरदर्शिता है। इधर उन्हें कुछ महँगाई दी गयी है और सन् 1964 से एक त्रिलाभ योजना (Triple Benefit Scheme) को भी लागू किया गया है।

यहाँ जो एक बात विशेष उल्लेखनीय है, वह है सरकारी तथा गैर-सरकारी शिक्षकों के वेतन-क्रम में भेद रखना। यह व्यवहार न्याय, सत्य तथा भारतीय संविधान के अनुसार भी अनुचित है। इसके अतिरिक्त कुछ दिनों से उत्तर प्रदेश में महँगाई के प्रश्न को लेकर भी माध्यमिक शिक्षकों में बड़ा असन्तोष फैला हुआ है। दिसम्बर 1968 में शिक्षकों की प्रदेशव्यापी सफल हड़ताल ने सारे देश का ध्यान इस गम्भीर समस्या की ओर आकर्षित कर दिया है।

शिक्षकों के वेतन की समस्या के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक और बड़ी भारी समस्या है स्कूलों के कुप्रबन्ध की। अधिकांश में शिक्षा-विभाग की उदासीनता तथा समस्या को हल करने की क्षमता के कारण यह समस्या और भी अधिक दुरूह हो गयी है। माध्यमिक शिक्षक संघ के निरन्तर संघर्ष के फलस्वरूप कुछ प्रयास सरकार ने प्रबन्ध समितियों के दोषों का उन्मूलन करने के लिए किये थे किन्तु अभी तक उनका कोई प्रत्यक्ष फल नहीं निकला है। यहाँ सरकार के द्वारा इस दिशा में किये गये अन्तिम प्रयास का उल्लेख करना असंगत न होगा।

सितम्बर 1958 में राज्य विधान सभा ने एक बिल पास करके सन् 1912 के यू० पी० इण्टरमीडिएट एक्ट का संशोधन कर दिया था। इस संशोधन का प्रमुख उद्देश्य था वैयक्तिक प्रबन्ध समितियों का नियमन करना एवं शिक्षकों को वेतन तथा सेवा इत्यादि की सुरक्षा प्रदान करना। यद्यपि यह संशोधन अपने आप में राज्य की माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रबन्ध सम्बन्धी दोषों का उन्मूलन करने के लिए पर्याप्त नहीं है, तथापि इस दिशा में इसे एक प्रगतिशील कदम अवश्य माना जा सकता है। उदाहरणत: इस अधिनियम के द्वारा सरकार को यह अधिकार मिल गया है कि वह शिक्षकों के वेतन तथा अन्य भत्ते एवं छुट्टी के नियमों इत्यादि का निर्धारण कर सकती है। कुछ ऐसी धाराएँ भी हैं जिनके द्वारा स्कूल मैनेजरों की असीमित शक्तियों पर कुछ अंकुश लग गये हैं। कुप्रबन्ध होने पर सरकार इन स्कूलों को अपने सीधे प्रबन्ध में भी ले सकती है।

यद्यपि इस सुधार से माध्यमिक शिक्षक अधिकांश में सन्तुष्ट दिखायी देते हैं, किन्तु सबसे अधिक विरोध स्वयं स्कूलों के प्रबन्धकों की ओर से हुआ है। सबसे अधिक विवादास्पद धारा वह है जिसका सम्बन्ध शिक्षकों को सेवा से पृथक करने से है। अब कोई भी माध्यमिक शिक्षक बिना जिला शिक्षा निरीक्षक की पूर्व-अनुमति लिये हुए सेवा से नहीं हटाया जा सकेगा। प्रबन्ध तथा शिक्षक दोनों को अपील का अधिकार होगा।

वास्तव में, प्रदेश में माध्यमिक स्कूलों की अधिकांश प्रबन्ध समितियाँ अब तक विभिन्न प्रकार के अनियमित कार्य करती रही हैं, जिससे जहाँ एक ओर शिक्षकों की हानि हुई है वहाँ प्रदेश में शिक्षा का मानदण्ड भी बहुत गिर गया है। दुर्भाग्य से राज्य सरकार इस सुधार को अत्यन्त ही मन्द गति से कार्यान्वित कर रही है।

**माध्यमिक शिक्षकों का प्रशिक्षण**

राज्य में माध्यमिक शिक्षा के प्रसार के साथ ही साथ यह आवश्यक है कि प्रशिक्षित शिक्षकों की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति करने के लिए, उनके समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय। राज्य में पहले केवल दो ट्रेनिंग कॉलेज थे किन्तु इधर उनकी संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है। प्राय: सभी विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग स्थापित कर दिये गये हैं जहाँ से भावी शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इनके अतिरिक्त अनेक सम्बन्धित कालेजों में एल० टी० या बी० टी० के विभाग खोल दिये गये हैं। राज्य सरकार भी राजकीय रचनात्मक प्रशिक्षण कॉलेज, लखनऊ; राजकीय

महिला प्रशिक्षण कॉलेज, लखनऊ व इलाहाबाद; केन्द्रीय पैडागॉजिकल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद; राजकीय गृह विज्ञान प्रशिक्षण कॉलेज, इलाहाबाद एवं फिजिकल ट्रेनिंग कॉलेज, रामपुर का संचालन कर रही है। प्रशिक्षण की सुविधाओं का प्रसार करने के साथ ही साथ उसका मानदण्ड उठाने के प्रयास भी किये जा रहे हैं।

मई 1958 में सरकार ने विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के सुधार के लिए जो चार समितियाँ स्थापित की थीं उनमें से एक माध्यमिक शिक्षा के लिए थी। यह समिति ऐसे कानूनी तरीके विकसित करती है जिनके द्वारा न केवल माध्यमिक स्कूलों का ही विकास हो अपितु शिक्षकों की स्थिति में भी सुधार हो। सहायता-अनुदान के नियम, परीक्षाओं का उपयुक्त समय, अनुशासन की समस्या, छुट्टियों में कटौती तथा शिक्षकों के वेतन भुगतान के नियमों में सुधार इत्यादि अन्य कार्य इस समिति की सीमा के अन्तर्गत है। परीक्षा भवनों में निरीक्षण करने वाले शिक्षकों की सुरक्षा के लिए राज्य सरकार ने फरवरी 1959 में एक अध्यादेश के द्वारा उन्हें उस काल के लिए सरकारी कर्मचारी घोषित कर दिया। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा के विकास व सुधार को दृष्टिगत रखते हुए कई स्कीमों पर कार्य किया जा रहा है। विज्ञान के शिक्षकों को तैयार करने के लिए तथा उनकी कमी देखते हुए भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र एवं जीव-विज्ञान के शिक्षकों के लिए एक वर्ष का कंडेंस्ड कोर्स कई विश्वविद्यालयों में खोल दिया गया है।

**विशेष संस्थाएँ**

इधर प्रदेश में शिक्षा सम्बन्धी कुछ विशेष संस्थाओं की स्थापना भी की जा चुकी है। इनमें मनोवैज्ञानिक केन्द्र, इलाहाबाद[8]; शिक्षा-विज्ञान केन्द्र, इलाहाबाद[9]; रचनात्मक प्रशिक्षण महाविद्यालय, लखनऊ[10]; शारीरिक शिक्षण महाविद्यालय, लखनऊ[11] तथा नर्सरी ट्रेनिंग कॉलेज, इलाहाबाद प्रमुख हैं। मनोवैज्ञानिक केन्द्र की स्थापना प्रथम आचार्य नरेन्द्रदेव समिति की रिपोर्ट की सिफारिशों के आधार पर हुई थी। अपनी-अपनी योग्यता व रुचि-भेद के अनुसार शिक्षा के विविध पाठ्यक्रमों के ग्रहण करने की दिशा में विद्यार्थियों के उचित मार्गदर्शन की दृष्टि से इस संस्था की अत्यन्त आवश्यकता थी। अत: सन् 1947 में इसकी स्थापना कर दी गयी। मार्च 1952 में मेरठ, बनारस, लखनऊ, कानपुर और बरेली इन पाँचों स्थानों में इसके क्षेत्रीय केन्द्रों की स्थापना कर दी गयी। भविष्य में प्रत्येक जिले में ऐसे ही केन्द्र स्थापित करने की योजना है।

इस केन्द्र में विभिन्न विधियों द्वारा विद्यार्थियों की बुद्धि तथा रुचियों की परीक्षा लेकर उन्हें शिक्षा, पाठ्यक्रम तथा व्यवसायों के चुनने में सहायता दी जाती है।

शिक्षा-विज्ञान केन्द्र नामक संस्था भी इलाहाबाद में सन् 1948 में स्थापित

[8] The Psychological Bureau, Allahabad.
[9] The Pedagogical Institute, Allahabad.
[10] The Constructive Training College, Lucknow.
[11] The Physical Training College, Lucknow.

की गयी थी। शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए पाठ्यक्रम तैयार करना, शिक्षा-क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं की जाँच करना तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के लिए नये-नये प्रयोग करना इस संस्था का कर्तव्य है। इस संस्था ने विभिन्न विषयों पर प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार की हैं।

इनके अतिरिक्त इलाहाबाद में जुलाई 1951 में एक नर्सरी ट्रेनिंग कॉलेज की स्थापना की जा चुकी है। यद्यपि राज्य में सरकार के अन्तर्गत एक भी उल्लेखनीय नर्सरी या माण्टेसरी स्कूल नहीं है, तथापि कुछ वैयक्तिक स्कूलों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। ऐसे स्कूलों में काम करने के लिए प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता की पूर्ति करने के उद्देश्य से ही यह संस्था खोली गयी है। इसमें अण्डर-ग्रेजुएट छात्राएँ प्रवेश पाती हैं और दो वर्ष का पाठ्यक्रम समाप्त करने के उपरान्त उन्हें सी० टी० का प्रमाणपत्र दिया जाता है।

इनके अतिरिक्त लखनऊ में रचनात्मक प्रशिक्षण कॉलेज तथा शारीरिक शिक्षा कॉलेज हैं। उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में बहुमुखी पाठ्यक्रम की योजना को कार्यान्वित करने तथा रचनात्मक वर्ग के विषयों में प्रशिक्षण देने के लिए सन् 1948 में एक रचनात्मक प्रशिक्षण कॉलेज खोला गया था। अब कई वर्षों से यह लखनऊ में आ गया है। शिक्षकों को विभिन्न हस्तकलाओं में प्रशिक्षण देने के अतिरिक्त इसमें एक उत्पादन केन्द्र भी है जिसका उद्देश्य व्यावसायिक है। शारीरिक प्रशिक्षण कॉलेज में ग्रेजुएट तथा अण्डर-ग्रेजुएट पुरुष व स्त्री शिक्षकों को शारीरिक शिक्षण के विषय में दीक्षित करने के उद्देश्य से शिक्षा-विभाग की विकास योजनाओं के अन्तर्गत प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गयी है। यहाँ पर विभिन्न शारीरिक व्यायामों के साथ ही साथ लाठी प्रयोग, लोक-नृत्य तथा तैरने इत्यादि का प्रशिक्षण दिया जाता है।

शिक्षा की अन्य योजनाओं में हम समाज-सेवा तथा सैनिक शिक्षा को भी सम्मिलित कर सकते हैं। अब ये दोनों योजनाएँ मिला दी गयी हैं। समाज-सेवा कई जिलों में लागू की गयी थी। प्रादेशिक सेना शिक्षा ग्यारह जिलों में इण्टर कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य थी। दोनों योजनाओं को मिलाकर अब यह बीस जिलों में कार्यान्वित कर दी गयी है। सैनिक शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या इस समय राज्य में लगभग 40 हजार है। कक्षा 9 व 11 के विद्यार्थियों के लिए नेशनल कैडेट कोर (N.C.C.) के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है। सन् 1955 में महिलाओं के लिए भी एक गर्ल्स डिवीजन खोल दिया गया है।

इसी प्रकार बालिकाओं के लिए शिक्षा-व्यवस्था, शारीरिक दृष्टि से पीड़ितों के लिए शिक्षा-व्यवस्था तथा सामाजिक शिक्षा-व्यवस्था इत्यादि अन्य योजनाएँ हैं जिन्हें राज्य में कार्यान्वित किया जा रहा है। हिन्दी के प्रसार व प्रोत्साहन के लिए राज्य सरकार ने विशेष प्रबन्ध किये हैं। प्रति वर्ष हिन्दी की उत्तम पाठ्य-पुस्तकों पर सरकार लेखकों को पारितोषिक देकर प्रोत्साहन कर रही है। हिन्दी को सरकारी कार्यों के लिए राज्य-भाषा भी स्वीकार किया जा चुका है।

**उच्च शिक्षा**

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उत्तर प्रदेश बहुत आगे बढ़ा हुआ है। यहाँ अन्य प्रान्तों की अपेक्षा सबसे अधिक विश्वविद्यालय हैं। उत्तर प्रदेश में विश्वविद्यालयों की संख्या ग्यारह है—इलाहाबाद; लखनऊ; बनारस; अलीगढ़; आगरा; रुड़की; गोरखपुर; संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस; कृषि विश्वविद्यालय, बनारस; कृषि विश्वविद्यालय, रुद्रपुर (कानपुर) तथा मेरठ विश्वविद्यालय। इनके अतिरिक्त प्रान्त में बहुत-से कला, विज्ञान तथा वाणिज्य के कॉलेज हैं जो विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित हैं।

इसके अतिरिक्त ज्ञानपुर (बनारस), नैनीताल, रामपुर तथा श्रीनगर (गढ़वाल) में राजकीय डिग्री कॉलेज भी हैं। प्रदेश के ग्यारह विश्वविद्यालयों में से अलीगढ़ व बनारस दो विश्वविद्यालय केन्द्र के अधीन हैं। रुड़की का इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय तथा पन्तनगर का कृषि विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश सरकार के सीधे नियन्त्रण में है। शेष विश्वविद्यालय स्वायत्त-सत्ता प्राप्त संस्थाएँ हैं। प्रायः ये विश्वविद्यालय पीड़ित है। निम्न कोटि की दलबन्दी, जातीय या प्रान्तीय पक्षपात, अनुचित नियुक्तियाँ, रुपये का दुरुपयोग, गिरते हुए शिक्षा-स्तर, पाठ्य-पुस्तकों एवं परीक्षकों की नियुक्ति इत्यादि के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार और राजनीतिक हस्तक्षेप इत्यादि इन विश्वविद्यालयों की विशेषता हो गयी थी। अतः विवश होकर सरकार को इनके विधानों में संशोधन करने के लिए कदम उठाने पड़े हैं, तथापि अधिकांश दोष यथावत् हैं।

आगरा विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में सन् 1953 में एक विधेयक विधान सभा में प्रस्तुत किया गया था। इसके स्वीकृत हो जाने पर विश्वविद्यालय के अधिनियम में उचित संशोधन कर दिये गये हैं। इसके अनुसार विश्वविद्यालय का उपकुलपति अब चुना न जाकर नियुक्त किया जाता है। उसी प्रकार कार्यकारिणी व सीनेट में चुनाव के सिद्धान्त को कम से कम कर दिया गया है। जहाँ चुनाव अनिवार्य है, वहाँ एक-हस्तान्तरणीय मत (single transferable vote) के द्वारा चुनाव हुआ करेंगे। परीक्षकों की कुल संख्या के आधे परीक्षक अन्य विश्वविद्यालयों से लिये जायेंगे। किसी व्यक्ति को विश्वविद्यालय से विभिन्न रूप से होने वाली आय का अधिकतम निश्चित कर दिया गया है। शिक्षकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में सुधार हुआ है। इसके अतिरिक्त नौकरी-पेशा लोगों के लिए तीन वर्ष का डिग्री पाठ्यक्रम प्रारम्भ करना, सभी सम्बन्धित कॉलेजों में पारस्परिक सहकारिता के द्वारा कार्य करने की पद्धति का प्रारम्भ तथा विश्वविद्यालय में धीरे-धीरे शिक्षण कक्षाएँ प्रारम्भ करना इत्यादि कुछ प्रमुख सुधार हैं जो इस विश्वविद्यालय में किये गये हैं। इधर हिन्दी महाविद्यालय तथा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्स की स्थापना होने से शिक्षण कार्य प्रारम्भ हो गया है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भी प्रायः इसी प्रकार की गन्दी राजनीति ने जन्म ले लिया था। अतः राज्य सरकार ने 17 दिसम्बर, 1951 को जस्टिस मूथम की अध्यक्षता में 'इलाहाबाद विश्वविद्यालय जाँच समिति' की नियुक्ति की। इस समिति का उद्देश्य

विश्वविद्यालय के आन्तरिक मामलों की जाँच करके "विश्वविद्यालय को विभिन्न उद्देश्यों तथा कर्तव्यों का भलीभाँति पालन करने के योग्य बनाने के लिए" अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करना था। समिति ने 22 फरवरी, 1953 को अपनी रिपोर्ट सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर दी। इस रिपोर्ट में मूथम समिति ने विश्वविद्यालय के सभी आन्तरिक मामलों, जैसे विद्यार्थी और उनके हितकारी कार्य, छात्रावास, शिक्षण-स्तर, अनुसंन्धान, शिक्षकों की नियुक्ति तथा उनके वेतन इत्यादि, विश्वविद्यालय का विधान,आर्थिक अवस्था, परीक्षाएँ, प्रशासन तथा राजकीय अनुदान इत्यादि का अध्ययन करके अपने विस्तृत विचार प्रस्तुत किये हैं।

इन्हीं सिफारिशों के आधार पर उत्तर प्रदेश सरकार ने विश्वविद्यालय के विधान में संशोधन कर दिया है। इन संशोधनों के सम्बन्ध में भी प्रदेश में एक ऊँचे स्तर का वाद-विवाद उपस्थित हो गया था। विश्वविद्यालय की स्वायत्त-सत्ता के भंग होने के तर्क को लेकर पर्याप्त तर्क-वितर्क चलता रहा। इस संशोधन के अनुसार इलाहाबाद नगर में स्थित अन्य डिग्री कालेजों को 'एसोशिएट' कालेजों के नाम से विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दिया गया है। इससे पूर्व भी इलाहाबाद के तीन कॉलेज—कायस्थ पाठशाला कॉलेज, इर्विन क्रिश्चियन कॉलेज तथा नैनी कृषि कॉलेज—तो इससे सम्बन्धित थे ही, यद्यपि विधान में इसके सम्बन्ध की व्यवस्था नहीं थी। इधर विश्वविद्यालय के अधिकारियों को यह भय हो गया कि यदि सरकार ने नवीन संशोधन के आधार पर इन कालेजों को 'एसोशिएट' कॉलेज बना दिया तो भविष्य में नगर के बाहर के अन्य कॉलेज भी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दिये जायेंगे और इस प्रकार विश्वविद्यालय का शिक्षण-स्तर गिर जायगा तथा उनका जो एकमात्र शिक्षण-संस्था का स्वरूप है वह भी भंग हो जायगा। किन्तु सरकार का ऐसा कोई इरादा नहीं था जिसके अनुसार इलाहाबाद से बाहर के कालेजों को विश्वविद्यालय से सम्बन्धित किया जाता।

इसके अतिरिक्त उपकुलपति की नियुक्ति, कार्यकारिणी व सीनेट के अधिकारों की समीक्षा, शिक्षकों के कर्तव्यों का निर्देशन, शिक्षण व अनुसन्धान के स्तर को ऊँचा उठाने की व्यवस्था तथा विश्वविद्यालय की वित्तीय समस्या को सुलझाने के लिए उपाय इत्यादि अन्य बातें हैं जिन्हें वर्तमान संशोधनों के द्वारा हल करने की चेष्टा की गयी है।

इसी प्रकार का एक संशोधन लखनऊ विश्वविद्यालय की समस्याओं को सुलझाने के लिए किया गया है। हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस के दोषों का उन्मूलन केन्द्रीय सरकार करने की चेष्टा कर रही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उच्च शिक्षा की दृष्टि से उत्तर प्रदेश पर्याप्ततः प्रगतिशील है। सरकार भी प्रति वर्ष उच्च शिक्षा के लिए अधिक रुपया देने का प्रयास कर रही है।

विश्वविद्यालय के सुधार के अतिरिक्त सम्बन्धित कालेजों की स्थिति के सुधार का भी प्रयास किया जा रहा है। इन कालेजों के शिक्षकों की आर्थिक स्थिति में सुधार करने के उद्देश्य से अप्रैल 1967 में राज्य सरकार ने नये यू० जी० सी० वेतन-क्रमों की घोषणा की है। इधर छात्रावासों, पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं एवं क्रीड़ास्थलों

के लिए विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन की ओर से उदारतापूर्वक इन कालेजों को अनुदान दिये जा रहे हैं। अन्य राज्यों की भाँति उत्तर प्रदेश को भी आदेश दे दिया गया था कि यहाँ द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तिम दो वर्षों में तीन वर्ष के डिग्री कोर्स का सूत्रपात कर दिया जाय। किन्तु आर्थिक कारणों तथा दूरदर्शिता के अभाव में राज्य सरकार इस सुधार को अभी तक कार्यान्वित नहीं कर सकी है।

**उपसंहार**

इस प्रकार उत्तर प्रदेश शिक्षा में प्रगति तो कर रहा है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उचित व पर्याप्त दिशा में नियोजन का अभाव और प्रशासन की शिथिलता है। ज्यों-ज्यों शिक्षा का आकार बढ़ रहा है, उसका स्तर गिरता जा रहा है। शिक्षा में विभिन्न स्तरों के समान विकास पर भी जोर नहीं दिया जा रहा है। उदाहरणतः पूर्व-प्राथमिक या नर्सरी शिक्षा के लिए प्रदेश में कोई भी सराहनीय प्रयास नहीं किये गये हैं जबकि रूस, इंगलैण्ड व अमरीका जैसे देशों में पूर्व-प्राथमिक स्तर पर सरकारें बहुत व्यय करती हैं, हमारे देश में सम्भवतः इधर कोई ध्यान ही नहीं दिया जा रहा है। जो कुछ फुटकर प्रयास कही हुए भी हैं, वहाँ शिक्षा इतनी महँगी है कि सामान्यतः प्रत्येक वर्ग के बालकों के लिए उनमें प्रवेश भी पाना असम्भव है। प्राथमिक शिक्षा का स्तर भी इतना गिरता जा रहा है कि उन स्कूलों में सामान्यतः मध्यम वर्ग के लोग अपने बच्चों को नही भेजते हैं। बेसिक शिक्षा के नाम पर तो मानदण्ड को और भी अधिक गिरा दिया गया है ; वस्तुतः मानदण्ड के गिरने की समस्या तो माध्यमिक व विश्वविद्यालय-स्तर पर भी वैसे ही है। सम्भवतः जब प्रदेश में शिक्षा का प्रसार हो रहा है तो कुछ सीमा तक तो मानदण्ड गिर जाना स्वाभाविक भी है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसको उठाने के प्रयास न किये जायँ। आशा है, भविष्य में अवश्य ही इस दिशा में कुछ प्रयास किये जायेंगे। इधर पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अन्य राज्यों की भाँति उत्तर प्रदेश में भी सामूहिक विकास योजनाओं के साथ सामाजिक तथा प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के यत्न किये जा रहे हैं। जूनियर हाई स्कूल तथा माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर कृषि शिक्षा की पुनर्व्यवस्था के महान परीक्षण की सफलता की ओर शेष भारत प्रेरणा के लिए देख रहा है। माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम का वर्गीकरण साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक तथा कलात्मक वर्गों के रूप में एक नूतन योजना है। स्त्री शिक्षा की दृष्टि से उत्तर प्रदेश, बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र तथा केरल राज्यों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में साधारणतः हम उत्तर प्रदेश को बहुत आगे पाते हैं। साक्षरता की दृष्टि से यह दक्षिणी भारत के कुछ राज्यों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है। आशा है भविष्य में समस्त दोषों को दूर करके उत्तर प्रदेश शिक्षा-क्षेत्र में भी अन्य बातों की भाँति अग्रसर होगा।

## सारांश

**आधुनिक शिक्षा का विकास उत्तर प्रदेश में अन्य राज्यों की अपेक्षा देर से हुआ है। किन्तु इधर लगभग बीस वर्षों से इस राज्य में भी शिक्षा-प्रसार तेजी से हो रहा है।**

इस समय यहाँ लगभग 41 हजार प्राथमिक बेसिक स्कूल, 4335 सीनियर बेसिक, 2358 उच्चतर माध्यमिक स्कूल तथा 19 विश्वविद्यालय हैं। प्राथमिक शिक्षा को उत्तर प्रदेश में जूनियर बेसिक शिक्षा का रूप दे दिया गया है। अब यह शिक्षा जिला परिषदों के अधीन है। समय-समय पर सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में सुधार, शिक्षकों की दशा में सुधार, उनके प्रशिक्षण की अधिक सुविधाएँ तथा भवन व सज्जा इत्यादि की व्यवस्था करने का प्रयास किया है, तथापि वह अत्यन्त अल्प है।

जुलाई 1954 से राज्य में जूनियर हाई स्कूल-स्तर पर शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना लागू कर दी गयी है। इसके अन्तर्गत विद्यार्थी को कृषि की सैद्धान्तिक व व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक स्कूल के पास पाँच से दस एकड़ तक भूमि तथा बैल व औजार आदि की व्यवस्था की जाती है। कृषि के अतिरिक्त पाठ्यक्रम में पशुपालन, उद्यानकला तथा वन-विज्ञान भी सम्मिलित हैं। इन विषयों को पढ़ाने के लिए प्रत्येक स्कूल में एक प्रसाराध्यापक रखा गया है जो शिक्षण व व्यावहारिक कृषि के अतिरिक्त कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम भी अपने विद्यार्थियों की सहायता से सम्पादित करता है। प्रत्येक स्कूल को निकटवर्ती गाँवों के सामाजिक जीवन का एक केन्द्र बनाया गया है। अब तक लगभग 4000 स्कूलों में यह योजना लागू हो चुकी है।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस राज्य में स्वतन्त्रता के उपरान्त बहुत रुचि दिखायी गयी है। वैसे तो सन् 1939 में ही आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्ति की गयी थी, किन्तु सन् 1953 में पुनः एक समिति आचार्यजी की ही अध्यक्षता में नियुक्त की गयी। उसने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन के लिए लाभदायक सिफारिशें कीं। सन् 1948 में ही प्रदेश में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा योजना लागू कर दी गयी थी जिसके अनुसार पाठ्यक्रम को अधिक जीवनोपयोगी बना दिया गया। इसके अनुसार ग्यारहवीं कक्षा तक माध्यमिक शिक्षा मानी जायगी और बारहवीं कक्षा डिग्री-पाठ्यक्रम में मिला दी जायगी। किन्तु अभी तक इस राज्य में ऐसा नहीं हो सका है। इधर शिक्षकों के प्रशिक्षण व उनकी वेतन-सुरक्षा के लिए राज्य सरकार ने अच्छे प्रयत्न किये हैं।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में यह राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा आगे है। यहाँ ग्यारह विश्वविद्यालय हैं; भविष्य में और भी खुलने की सम्भावना है। तकनीकी एवं सामाजिक शिक्षा की भी पर्याप्त व्यवस्था की जा रही है।

चतुर्थ आयोजन में प्राथमिक शिक्षा, बालिकाओं की शिक्षा तथा विज्ञान की शिक्षा के विकास पर विशेष बल दिया जायगा। तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में नवीन संस्थाएं स्थापित करने के अतिरिक्त पूर्व-स्थित संस्थाओं का विकास करके उनसे उत्पन्न होने वाले इंजीनियरों व कारीगरों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि करने का लक्ष्य है।

# 25

# भारतीय शिक्षा की कुछ समस्याएँ

**भूमिका**

शिक्षा के विकास के साथ ही साथ अनेक प्रकार की शिक्षा-समस्याओं का जन्म लेना एकदम स्वाभाविक है। हमारे देश में कुछ समस्याएँ तो अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ से लेकर आज तक विद्यमान हैं और निरन्तर दुरूह से दुरूहतर होती चली जा रही हैं। उदाहरण के लिए, पाठ्यक्रम, पाठ्यविधि, परीक्षा-प्रणाली, शिक्षकों की दशा, शिक्षा का नियन्त्रण, लोकव्यापी सामाजिक शिक्षा, वित्त-समस्या, निःशुल्क व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, स्त्री-शिक्षा तथा अनुशासन की समस्या इत्यादि कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं जो भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में लगभग डेढ़ सौ वर्ष से चली आ रही हैं और आज भी न्यूनाधिक मात्रा में शिक्षा विशारदों के लिए विवाद का विषय बनी हुई हैं। भारतीय शिक्षा के निर्बाध विकास के लिए यह आवश्यक है कि इन समस्याओं का उपयुक्त हल निकालकर उनका अविलम्ब निराकरण किया जाय। यद्यपि समय-समय पर विभिन्न आयोगों व विशेषज्ञ समितियों ने इन समस्याओं के सुलझाने के लिए सुझाव दिये हैं, तथापि हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि उन सुझावों के आधार पर भारतीय शिक्षा-प्रणाणी में अब तक कितना सुधार हुआ। शिक्षा-सुधार की बात करते हुए आज बहुत-से लोगों को पाया जाता है ; कुछ विशेषज्ञ उसके आमूल परिवर्तन की बात करते हैं तो कुछ शिक्षा को भारतीय पृष्ठभूमि के आधार पर नवनिर्मित करना चाहते हैं। परन्तु इन सभी आलोचनाओं के बावजूद आज भी इन समस्याओं का समाधान सफलतापूर्वक नहीं हो सका है। इस देश में शिक्षा-पद्धति की जो सबसे बड़ी आलोचना की जाती है, वह यह है कि यह पद्धति अंग्रेजों ने अपनी सहायता के लिए कुछ क्लर्क एवं प्रशासक उत्पन्न करने के लिए चलायी थी और इसका उद्देश्य विदेशी शासन को अक्षुण्ण बनाये रखना था, अथवा यह पद्धति नवयुवकों को जीवन के लिए तैयार नहीं करती; इत्यादि, इत्यादि। किन्तु बावजूद इसके कि अब भारत को स्वतन्त्र हुए बीस वर्ष हो गये हैं और देश के भावी निर्माण के लिए शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होना चाहिए, बुनियादी रूप से अभी परिवर्तन नहीं हुआ है। केवल पूर्व-स्थित ढाँचे को ही विस्तार प्रदान किया जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो देश में शिक्षा के नियोजकों तथा विचारकों एवं संगठनकर्ताओं का अभाव है। देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा

शैक्षिक नेतागण मानो लाचारी-सी प्रकट करते हुए देखे जाते हैं। वे उसी तटस्थता तथा अकर्मण्यता से शिक्षा-समस्याओं की आलोचना करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जिस प्रकार वे स्वतन्त्रता से पूर्व करते थे, जबकि देश की शिक्षा पर विदेशी शासकों का नियन्त्रण था। वास्तविक बात तो यह है कि शिक्षा को देश की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुकूल ढालने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-समस्याओं पर भारतीय अवस्थाओं की पृष्ठभूमि के आधार पर विचार किया जाय और ऐसी पद्धति को जन्म दिया जाय जो नवोदित भारत की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। हाँ, इतना अवश्य सच है कि देश की शिक्षा के विकास के साथ कुछ समस्याओं ने अभी हाल में ही नया जन्म लिया है, जबकि कुछ प्रश्न पहले से ही बिना हल किये पड़े हैं। जैसे, शिक्षा के प्रसार के कारण वित्त की समस्या जटिलतर हो गयी है। स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या इस प्रकार बढ़ती जा रही है कि शिक्षकों और विद्यार्थियों के अनुपात में पहले से बहुत वृद्धि हो गयी है, स्थान का अभाव हो गया है तथा शिक्षकों का विद्यार्थियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क प्रायः समाप्त हो गया है। इस समस्या ने स्वयं अनुशासनहीनता की एक अन्य समस्या को जन्म दिया है। देश में पंचवर्षीय विकास योजनाओं के लागू हो जाने से अब अधिक से अधिक ऐसे नवयुवकों की आवश्यकता बढ़ गयी है जो किसी विशेष उद्यम व तकनीकी कार्य में प्रशिक्षित हों। अतः ऐसे लोगों को उत्पन्न करने के लिए असंख्य तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षालय खोलने की समस्या उत्पन्न हो गयी है। जीवनयापन के व्यय में अभिवृद्धि के कारण शिक्षकों की दशा दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही है। अन्त में, देश में जनतन्त्र स्थापित होने तथा उसके समाजवाद की ओर बढ़ने के उद्देश्य ने भारतीय जनसमूह के विचारों में एक संक्रमण उत्पन्न कर दिया है। अतः समाजवादी जनतन्त्र की स्थापना एवं विकास के लिए देश की शिक्षा को भी उसी के अनुरूप मोड़ा जाना चाहिए।

भारतीय शिक्षा की समस्याओं पर प्रसंगवश इस पुस्तक में अन्यत्र विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है, तथापि यह अधिक वांछनीय एवं उपयोगी होगा कि यहाँ एक स्वतन्त्र अध्याय में पुनः उनका कुछ सैद्धान्तिक विवेचन किया जाय।

## 1. शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक व नैतिक विकास तथा उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक हो सके। शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य वह है जिसमें व्यक्ति को एक सुखी, सम्पन्न व कल्याणकारी समाज की रचना के लिए तैयार किया जाता है अर्थात् जो शिक्षा व्यक्ति-केन्द्रित न होकर समाज-केन्द्रित होती है। किन्तु अन्ततोगत्वा व्यक्ति ही समाज का अंग होता है। अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के निर्माण के द्वारा ही समाज का निर्माण करना है। "पूर्व तथा पाश्चात्य सभी देशों के विद्वान अब इससे सहमत हैं कि सम्पूर्ण प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य विश्व-ज्ञान का एक सम्बद्ध चित्र प्रदान करना तथा जीवन की एक व्यव-

स्थित विधि प्रस्तुत करना है ।"[1] शिक्षा के द्वारा हमें ज्ञान के विभिन्न अंगों में एक समन्वय स्थापित करना है । प्राचीन भारत में भी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में ज्ञान के व्यवस्थित विकास के साथ बुद्धिमत्ता का विकास करना था, जैसा कि गीता में कहा गया है, "ज्ञान विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्"[2] अर्थात् संसार के कष्टों से मुक्ति पाने के लिए बुद्धि सहित ज्ञानार्जन करना ही शिक्षा का आदर्श है ।

इस प्रकार शिक्षा मनुष्य का एकांगी विकास न करके 'सम्पूर्ण मानव' का विकास करती है । कार्ल मार्क्स के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य 'पूर्ण विकसित मानव' उत्पन्न करना है ।[3] महात्मा गांधी का विचार है कि "शिक्षा का उद्देश्य मानव की उन सभी शक्तियों—शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक—का विकास करना है जो उसके भीतर नैसर्गिक रूप से निहित हैं ।" संसार में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई समाज-कल्याण व समाजवाद की विचारधारा ने शिक्षा के उद्देश्य में भी परिवर्तन कर दिया है और अब व्यक्ति के विकास के द्वारा समाज-हित की स्थापना ही शिक्षा का उद्देश्य होता जा रहा है।

ऐसी स्थिति में वर्तमान भारतीय शिक्षा के उद्देश्य की अस्थिरता का निवारण करने के लिए आवश्यक है कि देश की बदलती हुई राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा मे परिवर्तन किये जायँ । स्वतन्त्र भारत की शिक्षा का उद्देश्य कदापि वह नहीं हो सकता जो एक विदेशी शासनकाल में साम्राज्यवाद की जड़ें दृढ़ करने के लिए रहा था । इसके लिए हमें शिक्षा में संरचनात्मक परिवर्तन (structural change) करना होगा । पूर्व-स्थिति का प्रसार एवं विकास किसी भी भाँति शिक्षा-सुधार नहीं माना जा सकता । यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षा का कुछ भी लक्ष्य हो और उसकी एक दिशा हो ।[4] दुर्भाग्य से आज भी देश के असंख्य नवयुवक स्कूलों तथा कालेजों में एक निरुद्देश्य शिक्षा पा रहे है । उनका कोई निश्चित लक्ष्य नहीं, उनकी कोई दिशा नहीं । वे नहीं जानते कि उनके भावी जीवन की योजना क्या है और यह शिक्षा उन्हें उसके लिए तैयार भी कर रही है अथवा नहीं । कोई नौकरी पा जाना अथवा नौकरी न मिले तो फिर जीवन भर इधर-उधर ठोकरें खाते फिरना, शिक्षा का यही उद्देश्य गत शताब्दी से चला आ रहा है और आज भी विद्यमान है ।

1 *Report of the University Education Commission*, p. 34.

2 *Bhagavadgita*, ix, I.

3 "The education of the future will in the case of every child over a certain age, combine productive labour with education and athletics not merely as one of the methods of raising social production but as the only method of producing fully developed human beings." —*The Capital*, 8th ed. (1928), I, p. 425.

4 *Cf.* "Our educational system must find its guiding principle in the aims of the social order for which it prepares, in the nature of the civilisation it hopes to build. Unless we know whither we are tending, we cannot decide what we should do and how we should do. Societies like men need a clear purpose to keep them stable in a world of bewildering change."—*Report of the University Education Commission*, p. 35.

दुर्भाग्य से विदेशी शासन-काल में देश के आर्थिक विकास की गति बड़ी मन्द रही। उधर जनसंख्या तथा पढ़े-लिखे लोगों की संख्या में निरन्तर अभिवृद्धि होती रही। सेवाओं के पद व अवसर लगभग निश्चित रहने तथा प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का उद्देश्य किसी ऐसे ही स्थान को पा जाने के कारण उनमें बेकारी फैलनी प्रारम्भ हो गयी जो आज भी भीषण रूप धारण किये हुए है।

इसके अतिरिक्त वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं किया। इसने पुस्तकों के रटने पर बल दिया। परीक्षा-प्रणाली ने इस रटने को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया। इससे ज्ञान, बुद्धि व चिन्तनशक्ति का स्थायी विकास न होकर केवल मस्तिष्क का एकांगी विकास हुआ। शारीरिक श्रम के सुअवसरों के अभाव में हमारे नवयुवकों का शारीरिक विकास अवरुद्ध हो गया। वे दुर्बल, पीले व साहस-हीन होने लगे। इस शारीरिक ह्रास ने उनके जीवन से उल्लास, महत्त्वाकांक्षा तथा साहसिक कार्यों की भावना का ही अपहरण कर दिया जिसका उनके नैतिक व आध्यात्मिक विकास पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। प्राथमिक पाठशालाओं में तो इन प्रवृत्तियों का प्रभाव इतना स्पष्ट दिखायी नहीं पड़ता जितना कि माध्यमिक शिक्षालयों तथा कालेजों व विश्वविद्यालयों में। माध्यमिक व उच्च शिक्षा-काल ही वह समय होता है जबकि भावी नागरिकों का निर्माण होता है। किसी भी देश में कृशकाय व हतवीर्य तरुण निराशा व अस्थिरता के थपेड़े खाते हुए न जीवन की आकांक्षाओं से स्पन्दित हो सकते हैं और न वे आत्म-कल्याण के साथ ही साथ समाज व देश का कल्याण ही कर सकते हैं। दुर्भाग्य से हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अधिकांश में ऐसे ही नवयुवकों को जन्म दे रही है। वे इसलिए पढ़ते हैं कि परीक्षा पास कर लें और परीक्षा इसलिए पास करते हैं कि उसके उपरान्त कोई नौकरी मिल जाय। ऐसी स्थिति में हम कदापि उन्नत राष्ट्रों की दौड़ में आगे नहीं बढ़ सकते, यहाँ तक कि उनसे कदम मिलाकर भी नहीं चल सकते। यह बात नहीं कि हमारे नवयुवकों पर ही इस प्रणाली का घातक प्रभाव पड़ता हो, शिक्षकों पर भी इसका कुप्रभाव दृष्टिगोचर होता है। शिक्षा के निरुद्देश्य होने से शिक्षण-कार्य भी निरुद्देश्य व प्रभावहीन हो जाता है। शिक्षक अपने को समाज का एक अंग न समझकर समाज से परे अथवा पृथक एक अन्य लोक का प्राणी समझने लगता है। जीवन के प्रवाह से उसका सम्बन्ध एक प्रकार से टूट ही जाता है। वह पुस्तकीय दुनिया में रहने वाला एक स्वप्नद्रष्टा हो जाता है।[5] उसकी जीवन की प्रेरणाएँ कुण्ठित व महत्त्वाकांक्षाएँ लुप्त हो जाती हैं और कभी-कभी वह अपनी उच्च नैतिक मान्यताओं को खो बैठता है।

[5] *Cf*. "A university teacher cannot be in the running stream of life in which youthful spirits bathe, he stands on the shore; and he becomes an introvert, an 'academic person' with funny ideas, or a teacher politician. The process is one of continuous severance, prolonged alienation and consequent dehumanisation, whereas the destiny of human beings is to be engaged, involved in living."
—D. P. Mukerji, *The Future of Education in India*, 1954, p. 52.

किसी भी राष्ट्र में शिक्षा के उद्देश्य को निर्धारित करना बड़ा सरल है। हमें यह देखना होगा कि उस देश के बहुसंख्यक लोगों के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक विचार क्या हैं और वह राष्ट्र किस प्रकार के समाज की रचना के लिए प्रतिश्रुत है। भारत में अब तक अंग्रेजों ने ऐसी शिक्षा-पद्धति का ही पोषण किया जो उनके साम्राज्यवादी विचारों की पोषक थी। आज हम देश में एक वर्गहीन, जातिहीन व समाजवादी जनतन्त्रीय समाज की स्थापना करने में जुटे हैं, जो समानता, न्याय, स्वतन्त्रता तथा जनतन्त्र के मौलिक स्तम्भों पर आधारित हो। भारतीय गणतन्त्र में संविधान का लक्ष्य भी ऐसे ही समाज की स्थापना करना है। अतः यह स्पष्ट है कि हमें अपनी शिक्षा-प्रणाली को भी इन्हीं पथ-प्रदर्शक आदर्शों के अनुरूप ढालना होगा; हमें सर्वांगीण विकसित मानव को जन्म देना होगा जो लोक-कल्याणकारी समाज को जन्म देकर उसकी रक्षा तथा पोषण कर सके। देश ने सैकड़ों वर्षों की परतन्त्रता के उपरान्त अभी हाल में ही स्वतन्त्रता पायी है। उस स्वाधीनता की रक्षा करना तथा देश का आर्थिक व औद्योगिक विकास करना भी देश के नागरिकों का कर्तव्य है। अतः सर्वप्रथम हमें ऐसे नागरिकों का निर्माण करना होगा जो नवीन भारत का निर्माण कर सकें। आज भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ है, यह बात नहीं कि अपनी स्वाधीनता की इस दशाब्दी में उसने उन्नति नहीं की। किन्तु वास्तविक सत्य तो यह है कि जो कुछ भी उन्नति विभिन्न क्षेत्रों में हुई वह इतनी अपर्याप्त व मन्द हुई है कि हम उस दौड़ में अन्य देशों से और भी अधिक पिछड़ गये। तुलनात्मक दृष्टि से हमारी प्रगति कम रही। यद्यपि देश में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है, तथापि भारत एक अत्यन्त निर्धन देश है जहाँ असंख्य व्यक्त पशुओं से भी बुरा जीवन बिता रहे हैं। अतः देश की वर्तमान महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है आवश्यक जीवनयापन की सामग्री के उत्पादन में अभिवृद्धि करना, उत्पादन-क्षमता बढ़ाना तथा देश के करोड़ों लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठाना। यह कार्य तभी सम्पादित हो सकता है जब हम शिक्षा को उसी के अनुरूप ढालें; जब हम कोरे पुस्तकीय ज्ञान के स्थान पर तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा का विकास करें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम शिक्षा में इस प्रकार के परिवर्तन करें जिससे रुचियों तथा नैसर्गिक मूल प्रवृत्तियों के आधार पर हम अपने नागरिकों का सांस्कृतिक व नैतिक उत्थान कर सकें। संक्षेप में, भारतीय शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य नागरिकों की व्यावसायिक कार्यक्षमता में विकास, उनके व्यक्तित्व का विकास, नेतृत्व के लिए शिक्षा प्रदान करना तथा जनतन्त्रीय नागरिकता की भावनाओं का विकास करके शोषण-विहीन, सुखी व समृद्ध समाज की रचना करना है। भारतीय शिक्षा के राष्ट्रीय उद्देश्यों को संक्षेप में लिखते हुए कोठारी शिक्षा आयोग ने कहा है कि "भारत में शिक्षा के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार है उसे बदल डालना, अर्थात् इस बात का प्रयास करना कि उसका सम्बन्ध जीवन से, लोगों की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं से स्थापित हो जाय और इस प्रकार इसे आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए एक शक्तिशाली यन्त्र के रूप में विकसित करना होगा जो

हमारे राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इस उद्देश्य के अनुसार शिक्षा का विकास इस प्रकार किया जाना चाहिए कि इससे उत्पादकता में वृद्धि हो, सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता स्थापित हो, आधुनीकरण की प्रवृत्तियाँ गतिशील हों तथा सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना हो सके।"[6]

## 2. पाठ्यक्रम की विभिन्नता तथा बहुमुखी विद्यालय

अब तक भारतीय शिक्षा का एक भारी दोष यह रहा है कि उसका जीवन की वास्तविकताओं से सम्बन्ध नहीं रहा है। प्रारम्भ से ही विद्यार्थी को एक ऐसे पाठ्यक्रम को पढ़ना होता है जो केवल पुस्तकीय ज्ञान अर्जित करने पर ही बल देता है। इससे बालक की जीवन-दर्शन की झाँकी लेने की क्षमता तथा बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। जिस जगत में वह रहता है उससे उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इस कोरे सैद्धान्तिक ज्ञान को लेकर शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त वह एकाएक समाज के सम्मुख आ खड़ा होता है। उस समय उसके समक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न होता है भविष्य का। किस प्रकार वह अपना भावी जीवनयापन करे? विद्यार्थी जीवन में उसने जीवन के किसी विशेष रूप की तैयारी नहीं की थी। उसने सामान्य शिक्षा पायी थी। विशेषज्ञता के अभाव में उसके सम्मुख केवल यही मार्ग रह जाता है कि वह कहीं क्लर्की कर ले, अध्यापक हो जाय, ट्यूशन करने लगे अथवा किसी व्यापारिक कम्पनी अथवा दुकान पर काम करने लगे। उच्च पदों तथा सरकारी सेवाओं के लिए नवयुवकों को इतनी दुरूह प्रतियोगिता करनी पड़ती है कि उसमें सभी का चुना जाना असम्भव होता है। बहुत-से तरुण, जिन्होंने कला-कौशल, उद्योग-धन्धों तथा इसी प्रकार के उत्पादन कार्यों में प्रशिक्षण नहीं पाया था, बेकारी की अवस्था में अनेक दुख झेलने के लिए लाचार हो जाते हैं। यह दोष हमारे स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले पाठ्यक्रम तथा एक परम्परागत चली आने वाली शिक्षण-प्रणाली का है। यह पाठ्यक्रम उन्हें जीवन के किसी विशेष उद्यम में प्रशिक्षण नहीं देता, यह एकांगी व पुस्तकीय होता है, यह अन्य प्रौढ़ द्वारा तैयार की गयी पुस्तकों में से केवल सूचना देना तथा लिखना व पढ़ना सिखाता है; यह बालक की अभिरुचियों, प्रवृत्तियों तथा उसके मानसिक संवेगों का ध्यान नहीं रखता; यह उसके शरीर व स्नायुओं के विकास तथा नैतिक व सांस्कृतिक उत्थान की अवहेलना करता है; तथा अन्त में, वर्तमान पाठ्यक्रम समाज-सेवा एवं नेतृत्व के लिए तैयार नहीं करता। इन सभी त्रुटियों के अतिरिक्त अब तक हमारी शिक्षा-प्रणाली में अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व रहा है। पहले तो माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में पढ़ाये जाने वाले सभी विषयों का माध्यम ही अंग्रेजी था। इसका परिणाम यह होता था कि विद्यार्थी की अधिकांश प्रतिभा भाषा की दुरूहताओं में ही उलझ जाती थी और वह विषय को भलीभाँति न तो समझ ही पाता था और न उसकी सराहना ही कर सकता था। अब माध्यम के लिए क्षेत्रीय भाषाओं तथा राष्ट्रभाषा को

*Report, op. cit.*, p. 613.

प्रमुखता दी जाने लगी है; तथापि उच्च स्तर पर, विशेषतः विज्ञानों के अध्ययन के लिए, शिक्षण के माध्यम का प्रश्न विवादास्पद बना हुआ है ।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने पाठ्यक्रम के दोषों को संक्षेप में निम्न प्रकार सूची-बद्ध किया :

(1) वर्तमान पाठ्यक्रम का दृष्टिकोण संकीर्ण है;

(2) यह पुस्तकीय व सैद्धान्तिक (theoretical) है;

(3) इसमें आवश्यकता से अधिक विषय हैं, जिनमें बहुत-से निरर्थक व अनावश्यक हैं;

(4) बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रायोगिक विषय तथा अन्य प्रकार की क्रियाओं से सीखने के लिए व्यवस्था अपर्याप्त है ;

(5) किशोरों की विभिन्न आवश्यकताओं तथा अभिरुचियों की पूर्ति नहीं करता;

(6) परीक्षाओं का प्रभुत्व है ; तथा

(7) पाठ्यक्रम में ऐसे तकनीकी व व्यावसायिक विषयों का अभाव है जो विद्यार्थी को देश के औद्योगिक तथा आर्थिक विकास में भाग लेने के लिए नितान्त आवश्यक हैं ।[7]

उपर्युक्त सभी तर्क न्यायसंगत व स्वयंसिद्ध है । जो बुनियादी दोष माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में हैं, प्रायः वे ही उच्च शिक्षा में भी हैं । हमारे देश की विश्वविद्यालय शिक्षा भी अधिकांश में साहित्यिक व सैद्धान्तिक है । अब तक हिन्दी, अंग्रेजी, इतिहास, दर्शन, राजनीति तथा संस्कृत इत्यादि कला-विषयों पर अधिक बल दिया जाता रहा है अपेक्षाकृत भौतिकशास्त्र, रसायन-शास्त्र, गणित, जीव विज्ञान, इंजीनियरी, कृषि तथा अन्य कला-कौशल एवं विज्ञान सम्बन्धी विषयों के । भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त शिक्षाशास्त्रियों के दृष्टिकोण में तीव्रता से परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया है। अब यह अनुभव किया जा रहा है कि हमारी शिक्षा की सामग्री अधिकाधिक जीवन तथा उसकी पार्थिव आवश्यकताओं पर आधारित होनी चाहिए। उसके लिए कोरे साहित्यिक विषयों के स्थान पर अधिक से अधिक मात्रा में तकनीकी व व्यावसायिक विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाना चाहिए । यही कारण है कि देश की प्राथमिक व जूनियर-माध्यमिक शिक्षा को क्रमशः बेसिक शिक्षा का रूप दिया जा रहा है । यह शिक्षा कला-कौशल को ही माध्यम बनाकर दी जाती है ।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्यक्रम में गत शताब्दी में बहुत परिवर्तन किया जा चुका है । माध्यमिक शिक्षा कमीशन तथा उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा पुनर्गठन समिति की रिपोर्ट के आधार पर अब हाई स्कूल तक की शिक्षा को स्वयं पूर्ण बनाया जा रहा है । देश के अधिकांश बालकों के लिए हाई स्कूल परीक्षा ही अन्तिम होती है और इसके उपरान्त ही वे जीवन में प्रवेश कर जाते हैं । ऐसी स्थिति में यह नितान्त आवश्यक है कि इस स्तर तक शिक्षा को एक अन्तिमता का रूप दे दिया जाय अर्थात्

*Report of the Secondary Education Commission*, 1953, p. 79.

माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त विद्यार्थी किसी न किसी ऐसे उद्यम के योग्य हो जाय जो उसे जीवनयापन में मदद दे। इसी की पूर्ति के लिए देश भर में अब बहु-उद्देशीय माध्यमिक स्कूल खोले जा रहे हैं। इन स्कूलों के पाठ्यक्रम में साहित्यिक विषयों के साथ विभिन्न कला-कौशल, उद्योग एवं व्यवसायों में प्रशिक्षण को भी सम्मिलित किया गया है। देश के औद्योगिक व आर्थिक विकास की असंख्य योजनाओं को जो पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत प्रारम्भ की गयी हैं, पूरा करने के लिए असंख्य प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता है। अतः सामान्य माध्यमिक स्कूलों का बहु-उद्देशीय स्कूलों में परिवर्तित किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त देश में प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थियों की संख्या में भारी वृद्धि हो गयी है। अतः माध्यमिक शिक्षा का भी प्रसार हो गया है। यदि माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में तकनीकी विषयों का समावेश नहीं किया जाता तो देश में बेकारी की समस्या भीषण से भीषणतर हो जायेगी।

भारत कृषि-प्रधान देश है। अब तक ऐसी परम्परा रही है कि भारतीय कृषकों के लड़के आधुनिक शिक्षा पाकर नगरों में बस जाते हैं। उनकी शिक्षा से कृषि को कोई लाभ नहीं होता, अतः यह भी आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में कृषि विषय को सम्मिलित किया जाय। इसके लिए या तो सामान्य ग्रामीण स्कूलों में कृषि में प्रशिक्षण दिया जाय अथवा फिर ग्रामीण वातावरण में स्वतन्त्र कृषि विद्यालय खोले जायें। उत्तर प्रदेश में नवीन पुनर्संगठन योजना ने इस दिशा में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। वर्तमान भारत में देश की विभिन्न विकास-योजनाओं की पूर्ति के लिए ऐसे कुशल कारीगर, तकनीशियन तथा विशेषज्ञ चाहिए, जिन्होंने प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की पृष्ठभूमि के उपरान्त किसी विशेष उद्यम में प्रशिक्षण पाया हो। इस प्रकार शिक्षकों, सामुदायिक विकास क्षेत्रों तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं में काम करने वाले कुशल कारीगरों, सहकारिता आन्दोलन के लिए प्रशिक्षित व्यक्तियों तथा उद्योगों व कृषि तथा विकास के अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति अधिकांश में 14-17 वर्ष के आयु-समूह के हाई स्कूल पास तरुणों में से करनी होगी। अतः देश के शिक्षाशास्त्री इस बात पर एकमत हैं कि माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में विविधता (diversification) उत्पन्न की जाय जिससे विद्यार्थी अपनी रुचियों, आवश्यकताओं तथा क्षमताओं के अनुसार कोई भी विषय अध्ययन के लिए चुन लें। "इसके लिए पाठ्यक्रम में विभिन्न हस्तकलाओं (क्राफ्टों) का समावेश, बहुमुखी पाठ्य-सामग्री का सूत्रपात, विज्ञान-शिक्षण के लिए अधिक सुविधाएँ, बहु-उद्देशीय स्कूलों तथा जूनियर तकनीकी स्कूलों की स्थापना तथा माध्यमिक स्कूलों को उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में परिवर्तित करने की आवश्यकता है।[8]

कोठारी शिक्षा आयोग का मत है कि न केवल भारत में ही वरन् संसार के अन्य देशों में भी स्कूलों का पाठ्यक्रम आज बड़ी अनिश्चित स्थित में है। अल्प-विकसित

*Second Five Year Plan*, p. 509.

देशों में तो पाठ्यक्रम की आलोचना इसलिए की जाती है कि वह अपर्याप्त तथा समयातीत है और आधुनिक युग की माँगों की पूर्ति नहीं करता। किन्तु अमरीका जैसे शिक्षा की दृष्टि से उन्नत राष्ट्र में भी जहाँ परम्परागत पाठ्यक्रम को प्रगतिशील शैक्षिक विचारधाराओं के प्रभाव के अन्तर्गत बहुत पहले ही बदल डाला गया है, बहुत से विद्वान तथा विश्वविद्यालयों के लोग स्कूल-पाठ्क्रम तथा पाठ्य-सामग्री को अनुपयुक्त समझते हैं। वहाँ एक आन्दोलन स्कूल पाठ्यक्रम-सुधार का चल पड़ा है जो स्कूली शिक्षा में आमूल परिवर्तन चाहता है। पाठ्यक्रम के प्रति इस संसारव्यापी असन्तोष के विभिन्न कारण हैं। प्रथमतः गत वर्षों में ज्ञान-क्षेत्र में होने वाले शक्तिशाली विस्फोट तथा भौतिक, जीवशास्त्रीय एवं सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में मौलिक परिभाषाओं के परिवर्तन ने वर्तमान पाठ्यक्रम के अभावों को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। स्कूल तथा विश्वविद्यालय के बीच की खाई जो पहले से ही चौड़ी थी, विज्ञानों के तीव्र विकास के कारण और अधिक चौड़ी हो गयी है। दूसरे, शैक्षिक क्षेत्रों में सामान्य माध्यमिक स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा के स्वभाव तथा अवधि के सम्बन्ध में पुनर्चिन्तन शुरू हो गया है। अब अधिकांश विशेषज्ञों का मत है कि सामान्य शिक्षा की अवधि को बढ़ा दिया जाय और विशेष शिक्षा की अवधि को स्थगित करके आगे बढ़ा दिया जाय। स्कूल पाठ्यक्रम में जो कुछ भी कूड़ा भरा हुआ है उसकी सफाई करके उसमें अधिक गतिशील तथा उपयोगी विषयों का समावेश करके शिक्षण-प्रणाली को अधिक उद्दीपक बनाया जाय।

भारत में पाठ्यक्रम में अनुकूल सुधार करने के सम्बन्ध में कोठारी शिक्षा आयोग की धारणा है कि "विदेशों में पाठ्यक्रम के विकास के लिए जो महत्त्वपूर्ण प्रयास किये जा रहे हैं उसकी पृष्ठभूमि में देखने से प्रतीत होता है कि भारत में पाठ्यक्रम का आधार बड़ा संकीर्ण तथा समयातीत है। शिक्षा के तीन अंग हैं—ज्ञान प्रदान करना, कौशलों की अभिवृद्धि करना तथा उचित अभिरुचियों, प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं का समावेश करना। हमारे स्कूल (और कॉलेज भी) इस प्रणाली के प्रथम अंग अर्थात् ज्ञान प्रदान करने तक ही अधिकांश में सीमित हैं—और इस कार्य को भी अत्यन्त असन्तोषजनक रूप से करते हैं। पाठ्यक्रम पुस्तकीय ज्ञान एवं रटने पर बल देता है, प्रयोगात्मक क्रियाओं तथा अनुभवों का उसमें अपर्याप्त प्रावधान है और बाहरी एवं भीतरी परीक्षाओं का उसमें प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त चूँकि लाभदायक हुनरों के विकास, उचित अभिरुचियों, प्रवृत्तियों और मान्यताओं के शोषण को इसमें अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया जाता, इसलिए यह पाठ्यक्रम न केवल आधुनिक ज्ञान से कदम ही नहीं मिला पाता वरन् लोगों के जीवन-स्तरों से स्वर भी नहीं मिला पाता। अतः स्कूल पाठ्यक्रम को ऊँचा उठाने, उसका स्तर बढ़ाने तथा सुधार करने की तात्कालिक आवश्यकता है।"[9]

*Report*, *op. cit.*, p. 184.

इसी प्रकार विश्वविद्यालय शिक्षा की पाठ्य-सामग्री में हमें काल व आवश्यकता के अनुसार आवश्यक परिवर्तन करने होंगे। भारत की उच्च शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य देश के विभिन्न विभागों में प्रशासकों की पूर्ति करना ही रहा है। वस्तुतः विश्वविद्यालय वे स्थान हैं जहाँ से देश या जाति प्रेरणा व जीवन पाते हैं। वे किसी भी राष्ट्र के भावी निर्माण व उत्थान में उपयुक्त मानव-सामग्री (human material) प्रदान करने के पूर्ति-केन्द्र हैं। इन्हीं केन्द्रों से हमें प्रशासक, शिक्षक, चिकित्सक, अभियन्ता (engineers), अर्थशास्त्री व वैज्ञानिक मिलते हैं जो राष्ट्र के निर्माणक होते हैं। दुर्भाग्य से भारतीय विश्वविद्यालय ऐसे लोगों के उत्पन्न करने की केवल आंशिक पूर्ति ही करने में सफल हो सके हैं। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि उच्च शिक्षा की पाठ्य-सामग्री ही एकांगी रही है। उसने शासन संचालन के पुर्जों का उत्पादन वैज्ञानिकों, अभियन्ताओं तथा कुशल विशेषज्ञों की अपेक्षा अधिक किया है। यही कारण है कि भारत में शिक्षितों में हम भारी बेकारी पाते हैं। माध्यमिक शिक्षा की भाँति उच्च शिक्षा भी विद्यार्थी को जीवन के लिए तैयार करने में असफल रही है। इसकी पाठ्य-सामग्री जीवन के लिए इतनी अनुपयुक्त रही है कि शिक्षा की समाप्ति पर उच्च शिक्षा प्राप्त स्नातक समाज में रहने तथा उसकी विभिन्न समस्याओं में क्रियात्मक सहयोग देने के लिए अपने को अयोग्य पाता है। उसके शरीर तथा मस्तिष्क का समन्वित विकास नहीं हो पाता है। वास्तव में, समय-समय पर नियुक्त किये जाने वाले शिक्षा आयोगों ने इस समस्या का विस्तारपूर्वक अध्ययन करके समस्या के सुलझाने के लिए व्यावहारिक हल प्रस्तुत किये हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस पुस्तक में यथास्थान किया जा चुका है। यहाँ हम राधाकृष्णन कमीशन के द्वारा दिये गये पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचारों को पर्याप्ततः उपयुक्त समझकर संक्षेप में वर्णित करते हैं।[10] इस कमीशन के मतानुसार उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में सामान्य शिक्षा (General Education), उदार शिक्षा (Liberal Education) तथा व्यावसायिक शिक्षा (Occupational Education सम्मिलित होनी चाहिए।

विद्यार्थियों के सामान्य ज्ञानवर्द्धन के लिए सामान्य शिक्षा प्रदान करना आवश्यक है। जीवन तथा जीवन सम्बन्धी विविध सूचनाओं के ज्ञान के अभाव में हमारे विद्यार्थियों में संकीर्णता, कूपमण्डूकता तथा अति-विशेषज्ञता (over-specialisation) आ जाती है। उच्च शिक्षा के उपरान्त भी वे पाते हैं कि वे केवल उतना ही जानते हैं जितना उन्होंने पुस्तकों में सैद्धान्तिक रूप से पढ़ा है। केवल अपने विषय का ही एक दीर्घकाल तक अध्ययन करने के कारण उन्हें संसार की अन्य आवश्यक बातों का ज्ञान नहीं हो पाता। यही कारण है कि उनके निर्णय व क्रियाकलाप संकीर्ण एवं बहुधा दोषपूर्ण होते हैं। "सामान्य शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को तथ्यों तथा सिद्धान्तों के विषय में

For a detailed study, consult the *Report of the University Education Commission*, Vol. I, Chap. V, p. 11.

बुद्धिमत्तापूर्ण चुनी हुई सूचना प्रदान करना तथा उस शिक्षा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना है, जिससे उसे अपने विचार, निर्णय व कार्यों को आधारित करने के लिए सच्ची सूचना प्राप्त हो सके और वह अपने लाभ तथा अपने लिए महत्त्वपूर्ण बातों से अवगत हो सके।"[11] आधुनिक युग में ज्ञान व विज्ञान का आकार इतना विशाल होता जा रहा है कि कोई भी व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र में से अपने लिए पर्याप्त आवश्यक सामग्री का चयन नहीं कर सकता। अत: सामान्य शिक्षा के अन्तर्गत सभी आवश्यक व जीवनोपयोगी ज्ञान का निचोड़ सम्मिलित किया जाता है और ज्ञान की विविध शाखाओं में से सैद्धान्तिक व व्यावहारिक सामग्री का संकलन करके इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि विद्यार्थी को अधिक से अधिक विषयों का न्यूनतम व बुनियादी ज्ञान प्राप्त हो सके। इस पाठ्यक्रम से विद्यार्थी का व्यक्तित्व अधिक पूर्ण होगा। अपने प्रमुख विषय में वह विशेषज्ञता प्राप्त करने के साथ ही साथ अन्य विषयों से भी परिचित हो सकेगा। भारत में उच्च शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों में प्राय: देखा जाता है कि सार्वजनिक सेवाओं में प्रविष्ट करने वाली परीक्षाओं में वे अपने सामान्य ज्ञान के विषय में बड़ी ही हास्यास्पद किन्तु दयनीय स्थिति का परिचय देते हैं। यहाँ तक कि अपने विषय पर अधिकार होने के बावजूद भी वे अपने देश सम्बन्धी उन साधारण व प्रारम्भिक बातों को भी नहीं जानते जिनका जानना उनके लिए नितान्त आवश्यक है, अत: उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में अविलम्ब सामान्य शिक्षा का समावेश कर लेना चाहिए। राधाकृष्णन कमीशन की सिफारिशों के आधार पर उच्च शिक्षा में सामान्य शिक्षा का शिक्षण प्रारम्भ करने की दशाओं का अध्ययन करने एवं अन्य देशों की स्थिति के प्रकाश में सुझाव देने के उद्देश्य से भारत सरकार ने सन् 1956-57 में एक शिष्टमण्डल अमरीका तथा यूरोप के अन्य देशों में भेजा था। इस शिष्टमण्डल ने अपनी रिपोर्ट में भी इस बात का सुझाव दिया है कि सामान्य शिक्षा अण्डर-ग्रेजुएट कक्षाओं में ही प्रारम्भ कर देनी चाहिए और भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम का यह एक अनिवार्य अंग होना चाहिए।

उदार शिक्षा के पाठ्यक्रम से विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन का अभिप्राय उस शिक्षा से है जो व्यक्ति में स्वतन्त्र चिन्तन, आलोचनात्मक विवेचन तथा रचनात्मक विचारधारा को जागृत कर सके।[12] इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, कानून तथा इसी प्रकार के अन्य मानवशास्त्रों का अध्ययन सम्मिलित किया जा सकता है। इनके शिक्षण के अतिरिक्त इन विषयों

[11] *University Education Commission*, pp. 117-18.

[12] *Cf.* "The second objective of courses of study, Liberal Education, is preparation of the student for independent thinking for critical inquiry and appraisal, and for creative and constructive thought and action." —*Report of the University Education Commission*, Vol. I, p. 118.

में रिसर्च, सेमीनार व गोष्ठियाँ तथा सम्मेलनों आदि का आयोजन इत्यादि भी विद्यार्थियों में स्वतन्त्र चिन्तन एवं दार्शनिक व आलोचनात्मक विवेचना की भावनाओं को जागृत करने के लिए आवश्यक है।

उच्च शिक्षा पाठ्यक्रम का तृतीय स्वरूप है व्यावसायिक शिक्षा अर्थात् वह शिक्षा जो विद्यार्थी को जीवनयापन के लिए किसी विशेष कार्य तथा उद्यम के लिए तैयार करती है।[13] इस शिक्षा का आधार तकनीकी ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं है, अपितु सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना जागृत करना, सामाजिक व मानवीय मान्यताओं की सराहना तथा वास्तविकताओं को द्वेष-विहीन एवं विवेकपूर्ण तरीके से देखने की अनुशासित क्षमता प्राप्त करना भी है। व्यावसायिक शिक्षा राष्ट्र-निर्माण की संरचना (structure) प्रदान करती है, उस संरचना का स्वरूप अधिकांश में इस बात पर भी निर्भर है कि ऐसे व्यक्तियों का पहले से मानसिक व नैतिक स्तर अथवा उनके व्यावसायिक प्रशिक्षण का मानदण्ड क्या है। अत: आवश्यक है कि जनतन्त्रीय समाजवादी भारत के निर्माण के लिए व्यावसायिक शिक्षा के मौलिक उद्देश्य केवल व्यक्ति को उद्यम प्रदान करना ही न होकर देश की आवश्यकताओं एवं द्रुतगति से बदलने वाली परिस्थितियों के अनुरूप उनमें सामाजिक कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों का विकास करना भी है। यह शिक्षा एक उद्यम का प्रशिक्षण मात्र न होकर विद्यार्थी के पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का साधन होगी। भारत के लिए व्यावसायिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में कृषि, वाणिज्य, शिक्षाशास्त्र, इंजीनियरी व तकनीकी, कानून तथा चिकित्साशास्त्र इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। कोठारी आयोग ने भी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में उपयुक्त सुधार करने की आवश्यकता पर बल दिया है।

इस प्रकार भारत में शिक्षा की पाठ्य-सामग्री की समस्या का हल उपर्युक्त विवेचन के आधार पर किया जा सकता है। जब हम पाठ्यक्रम के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन करते हैं तो उसका अभिप्राय यह नहीं होता कि प्रत्येक स्वरूप एक स्वतन्त्र व पृथक (isolated) इकाई है। वास्तव में, ज्ञान एक अजस्र धारा है। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए विभिन्न शाखाओं में समन्वय स्थापित होना आवश्यक है। अत: प्राथमिक, माध्यमिक अथवा उच्च शिक्षा के सभी स्तरों पर पाठ्यक्रम का विकास इस प्रकार होना चाहिए कि विद्यार्थी के व्यक्तित्व के विकास के साथ ही साथ वह समाज व राष्ट्र की एक उपयोगी इकाई के रूप में विकसित हो सके। हर्ष का विषय है कि अब भारतीय शिक्षाशास्त्री पाठ्यक्रम में अधिक रुचि दिखाने लगे हैं। वास्तव में, देखा जाय तो जब हम भारतीय शिक्षा-प्रणाली की आलोचना करते हैं तो दो दोष हमें सबसे

[13] *Cf.* "Professional education is the process by which men and women prepare for exacting, responsible service in the professional spirit. The term may be restricted to preparation for fields requiring well-informed and disciplined insight and skill of a high order. Less exacting preparation may be designated as vocational or technical education." —*Report*, *op. cit.*, p. 174.

अधिक भीषण जान पड़ते हैं—पाठ्यक्रम की अनुपयुक्तता तथा उसके पढ़ाने की परम्परागत विधि। यदि हम यह निर्णय कर लेते हैं कि हमें अपने विद्यार्थियों को 'क्या' पढ़ाना है, 'कैसे' पढ़ाना है और 'क्यों' पढ़ाना है तो इस 'क्या', 'कैसे' एवं क्यों के हल से ही हमारी शिक्षा का ढाँचा बदल जायेगा और वह देश व काल के अधिक उपयुक्त हो सकेगी। इधर स्वतन्त्रता के उपरान्त तथा पंचवर्षीय योजनाओं के लागू होने से पाठ्यक्रम तेजी से बदल रहा है, किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यह परिवर्तन स्वयं योजना-विहीन है। बिना किसी पूर्व-नियोजित एवं पूर्णतः निर्णीत आयोजन के यत्र-तत्र होने वाले पाठ्यक्रम सम्बन्धी परिवर्तनों से तो शिक्षा-क्षेत्र में अराजकता व उद्देश्यहीनता ही बढ़ेगी। अतः यह आवश्यक है कि इस समस्या का हल एक राष्ट्रव्यापी स्तर पर पूर्ण योजना के आधार पर ही होना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त पाठ्य-सामग्री में सुधार करने के लिए यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों को समाज-सेवा तथा सामाजिक कार्यों में प्रशिक्षण देने के लिए उन्हें किसानों के साथ खेतों में कार्य करने, खानों तथा कारखानों में श्रमिकों के साथ रहकर कार्य करने अथवा सड़क कूटने, नालियाँ साफ करने, नल लगाने, गन्दी बस्तियों को साफ करने एवं सामाजिक शिक्षा के विभिन्न कार्यक्रमों में श्रमदान करने का कार्य अनिवार्य कर दिया जाय। दुर्भाग्य से भारत में जातिवाद व वर्गवाद भीषण रूप में समाज की जड़ों में प्रवेश कर गया है जो राष्ट्रीय जीवन की जड़ें खोखली कर रहा है। यहाँ का उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति किसी उच्च पद पर पहुँचने के उपरान्त एक विचित्र प्राणी बन जाता है। वह अपने को एक विशेष व्यक्ति समझने लगता है। जनसमूहों के प्रति उसके हृदय में आदर व सेवा की भावना नहीं होती। ऐसी अभिमानी व दम्भपूर्ण नौकरशाही को जन्म देने में जहाँ हमारे विदेशी शासकों का हाथ रहा था वहाँ शिक्षा का भी हाथ रहा है। उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में हाथ से काम करने की व्यवस्था न होने के कारण हमारे विद्यार्थी समाज की दशा तथा आवश्यकताओं से अवगत नहीं हो पाते, अतः समाज की जीवित व वास्तविक समस्याओं के प्रति एक उदासीन दृष्टिकोण रखते हैं। आज भी यह प्रवृत्ति बहुत सीमा तक विद्यमान है। हमारा समाजवादी समाज स्थापित करने तथा विभिन्न विकास योजनाओं की सफलता का विचार केवल मात्र एक स्वप्न रह जायगा यदि यह अति वांछनीय सुधार तत्काल ही नहीं किया गया। इसके लिए विश्वविद्यालयों से विद्यार्थी एक वर्ष के लिए गाँवों, खानों तथा कारखानों में भेजे जायँ। बिना इस कार्य के उन्हें डिग्री या प्रमाणपत्र नहीं मिलना चाहिए। वे वहाँ सिखाने नहीं अपितु विनयपूर्वक किसानों तथा श्रमिकों से जीवन के दर्शन व कला को सीखने जायँ। इससे जहाँ हमारा समाज अधिक से अधिक वर्गहीन होगा, वहाँ विद्यार्थियों की शिक्षा में भी वास्तविकता आ जायगी।

दूसरी बात है शिक्षा के द्वारा रूढ़ियों व रूढ़िगत मान्यताओं में समय की माँग के अनुसार परिवर्तन लाना। भारतीय समाज एक बन्द डिब्बे के समान है। अतीत में

उसके कुछ भी गुण रहे हों या न रहे हों, यह निर्विवाद सत्य है कि आज इस बात की आवश्यकता है कि समाज की गला घोंटने वाली सामाजिक परम्पराओं का अन्त किया जाय और मानव व्यवहार व मानव के सामाजिक सम्बन्धों में अधिक उदारता का समावेश किया जाय। इसका सूत्रपात करने के लिए हमें स्कूलों तथा कालेजों के पाठ्य-क्रमों में सांस्कृतिक शिक्षा, जैसे संगीत, नृत्य, अभिनय, ललितकलाओं, युवक व युवतियों की सम्मिलित सामाजिक व सांस्कृतिक गोष्ठियों तथा पर्याप्त खेल-कूद, तैरना, नौका-विहार, परिभ्रमण व देशाटन इत्यादि का समावेश भी करना होगा। सांस्कृतिक कार्यक्रम के अभाव में हमारे युवक-युवतियों का व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। उनकी जीवन सम्बन्धी मान्यताएँ भी विकृत व संकीर्ण हो जाती हैं जो अन्ततोगत्वा उनके व्यक्तित्व के उन्मुक्त विकास में बाधक होती हैं। अतः जीवन को एक गति देने, भावनाओं तथा मूल प्रवृत्तियों का परिशोधन करने तथा व्यक्तित्व को अधिक सम्पन्न व पूर्ण बनाने के लिए पाठ्यक्रम में सांस्कृतिक कार्यों को रूस की शिक्षा-प्रणाली की भाँति एक अनिवार्य आधार बनाया जा सकता है। यह संस्कृति पूर्व व पाश्चात्य सभ्यताओं में एक समन्वय स्थापित करेगी।

### 3. परीक्षा प्रणाली

भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में वर्तमान परीक्षा-प्रणाली भी उतनी ही कड़ी उग्र समस्या मानी जाती है जितनी पाठ्यक्रम तथा शिक्षण-पद्धति की समस्या। प्रत्येक स्तर पर हमारी शिक्षा का उद्देश्य कोई विशेष परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना ही हो गया है। वर्ष भर विद्यार्थी किसी पाठ्यक्रम को पढ़ता है, केवल इसीलिए कि उसकी वार्षिक परीक्षा में वह सफल हो जाय। परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कागजी प्रमाणपत्र पा लेना ही उसके अध्ययन का उद्देश्य होता है, वास्तविक रूप से ठोस ज्ञान का संकलन व संचय करना वह अपना उद्देश्य नहीं समझता। इसका परिणाम यह होता है कि वह वर्ष के कुछ भाग में ही—प्रायः परीक्षा के दिनों में—थोड़े-बहुत चुने हुए प्रश्नों के उत्तर रट डालता है। इससे उसके ज्ञान का आधार दृढ़ व विस्तीर्ण नहीं हो पाता। अपने इस उथले ज्ञान को परीक्षा-भवन में उँडेल आने के उपरान्त वह राहत का अनुभव करता है और उस खाली मस्तिष्क को लेकर समाज में प्रवेश करता है। इस प्रकार हमारी शिक्षा-प्रणाली ज्ञान-प्रधान न होकर परीक्षा-प्रधान हो गयी है।[14]

हमारी परीक्षा-प्रणाली का एक भारी दोष यह भी है कि यह विद्यार्थी की

---

14 *Cf.* "......here suffice it to say that they (examinations) are known to be capricious, invalid, unreliable and inadequate; that they dominate instruction to its detriment by making the syllabus narrow, killing initiative in the teacher and encouraging cramming in the student, that they result in excessive strain and anxiety to students near the examination time and in neglect of work during the school year; and that they tend to have an adverse effect on discipline."—*Report of the Secondary Education Reorganisation Committee*, U.P. (1953), p. 40.

जिसने वर्ष भर किसी निश्चित पाठ्यक्रम का अध्ययन किया है, वास्तविक योग्यता को नापने के लिए अपर्याप्त है । वर्ष के अन्त में केवल एक परीक्षा होती है जिसमें कुछ थोड़े प्रश्नों के उत्तर देखने से ही विद्यार्थी की योग्यता का अनुमान लगाया जाता है । दूसरे, परीक्षकों की संख्या इतनी विशाल होती है कि उनके निर्णयों में कोई समन्वय स्थापित नहीं किया जा सकता । अंक देना बहुधा शिक्षकों की मनोदशा, व्यक्तिगत योग्यता व विषय-ज्ञान एवं उनके वातावरण इत्यादि पर भी निर्भर रहता है ।[15] अतः विभिन्न परीक्षकों के निर्णयों में विभिन्नता होती है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव परीक्षार्थियों पर पड़ता है । वस्तुतः इस परीक्षा-प्रणाली ने भारतीय शिक्षा के सम्पूर्ण कलेवर को ही कलुषित कर रखा है । शिक्षा-सुधार के लिए नियुक्त होने वाली प्रायः सभी कमेटियों व कमीशनों ने इसके दोषों की व्याख्या की है व सुधार के सुझाव प्रस्तुत किये हैं । वास्तव में, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही परीक्षा-प्रणाली की आलोचना हो रही है, किन्तु आज तक उसके दोषों का उन्मूलन नहीं हुआ है । इधर उन दोषों की उग्रता असाध्य हो उठी है । विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन के मतानुसार "जबकि इस समस्या की गम्भीरता व दुरूहता भयानक गति से बढ़ती जा रही है, इसके सुधार के लिए कुछ भी रचनात्मक कार्यवाही नहीं की गयी है ।"[16] प्रति वर्ष इन परीक्षाओं में बैठने वाले परीक्षार्थियों की संख्या में अपार वृद्धि हो रही है, जबकि परीक्षा का स्वरूप वैसा ही बना हुआ है जैसा कि पचास वर्ष पूर्व था । सन् 1902 में विश्वविद्यालय कमीशन तथा सन् 1917-18 में कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने परीक्षार्थियों की बढ़ती हुई संख्या तथा परीक्षा-प्रणाली के ढाँचे की ओर ध्यान आकर्षित किया था और इधर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त राधाकृष्णन कमीशन तथा मुदालियर कमीशन एवं राज्य-स्तर पर बनने वाली विभिन्न शिक्षा-समितियों ने इस प्रणाली की आलोचना की है और इसके स्थान पर अधिक वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं एवं परीक्षकों में बाह्य परीक्षकों के स्थान पर आन्तरिक परीक्षकों को नियुक्त करने के सुझाव दिये हैं । पर इस दृष्टि से कोई भी सैद्धान्तिक अथवा रचनात्मक परिवर्तन इस प्रणाली में नहीं हुआ है । सन् 1953 में उत्तर प्रदेश में आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने अपनी रिपोर्ट में इस समस्या का हल करने के लिए निम्न सुझाव दिये :[17]

*Cf.* "The present system of examinations, which leans exclusively on the vague essay type technique and is subject to all the vagaries and moods of the examiner in the process of evaluation, does not have the reliability that ought to justify such a procedure. It is a common knowledge that many bright students suffer heavily on this account."—*Report of the Committee on the Indian Examinations Reform Project*, U.S.I.S. (1959), p. 36.

16 *Report of the University Education Commission* (1949), p. 327.

17 *Report of the Secondary Education Reorganisation Committee*, U. P. (1953), pp. 40-45; *University Education Commission*, Vol. I, Ch. X; and *Secondary Education Commission*, Ch. XI.

(1) बाह्य परीक्षकों के स्थान पर स्वयं शिक्षकों द्वारा विद्यार्थियों की योग्यता की जाँच करायी जाय।

(2) विद्यार्थी की योग्यता के विषय में दिया जाने वाला अन्तिम निर्णय उन कई निर्णयों पर आधारित हो जो वर्ष में किये गये हों, अर्थात मासिक, त्रैमासिक अथवा अर्द्ध-वार्षिक परीक्षाओं को उतना ही महत्त्व दिया जाय जितना कि वार्षिक परीक्षा को दिया जाता है और उन परीक्षाओं के अंक भी वार्षिक परीक्षा के अंकों में जोड़ जायँ।

(3) किसी एक विषय में एक स्कूल के शिक्षक द्वारा दिये गये अंकों का सन्तोषजनक समन्वय उसी विषय में किसी अन्य स्कूल के शिक्षक के द्वारा दिये गये अंकों से स्थापित कर दिया जाय।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि निबन्धात्मक परीक्षाओं के स्थान पर ऐसी स्पष्ट, विश्वस्त, पर्याप्त रूप से वैज्ञानिक व वस्तुनिष्ठ (objective) तथा सुनिश्चित प्रणाली को जन्म दिया जाय जिसमें परीक्षक की वैयक्तिक विद्वेषात्मक भावना प्रवेश न कर सके। वह विद्यार्थी की योग्यता की नाप, जो परीक्षा का वास्तविक उद्देश्य है, भलीभाँति कर सके। इसका उद्देश्य स्पष्ट हो। पाश्चात्य देशों में परीक्षा-प्रणाली को अधिक से अधिक वैज्ञानिक प्रसाधनों व विधियों पर आधारित किया जा रहा है, विशेषतः अमरीका में। उन्हीं विधियों के आधार पर हम भी ऐसे साधनों का विकास कर सकते है जो विद्यार्थी की बुद्धि, अभिरुचि, सफलता तथा व्यक्तित्व की जाँच वस्तुनिष्ठ विधि से कर सके। मानसिक क्षमताओं को नापने के लिए यन्त्रों तथा संख्या-शास्त्र का उत्तरोत्तर उपयोग अमरीका में किया जा रहा है। अमरीकी शिक्षा परिषद के तत्त्वावधान में नियुक्त की गयी 'माप तथा मार्ग-दर्शन समिति' (Committee on Measurement and Guidance) ने इस क्षेत्र में विचारधारा को बड़े स्पष्ट रूप से प्रभावित किया है। इस समिति के प्रमुख कार्य अमरीकी परिषद की मनोवैज्ञानिक परीक्षा-विधि (American Council's Psychological Examination), सहकारी परीक्षा-सेवा (The Co-operative Test Service) तथा अभिरुचि की नाप (aptitude measurements) एवं प्राथमिक मानसिक क्षमताओं (primary mental abilities) के सम्बन्ध में किया गया अन्वेषण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। माध्यमिक विद्यालयों तथा कालेजों में वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं के सफल परीक्षण अमरीका के आयोवा, ओहायो, मिनेसोटा तथा विस्कौंसिन इत्यादि राज्यों में किये जा रहे हैं। इन्हीं परीक्षणों में भारतीय अवस्थाओं तथा आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन करके यहाँ की परीक्षा-प्रणाली के दोषों का निवारण किया जा सकता है।

हमारी परीक्षा-प्रणाली का एक भीषण दोष यह भी है कि परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर विद्यार्थी का वर्ष नष्ट हो जाता है। सन् 1929 में हर्टोग समिति ने इस अपव्यय (wastage) की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया था। प्रति वर्ष देश में प्राथमिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालय कक्षाओं तक असंख्य विद्यार्थी अनुत्तीर्ण होते हैं। यदि इसके फलस्वरूप होने वाले समय, धन तथा जीवन के लोमहर्षक विनाश व

अपव्यय का हम अनुमान करें तो सहज ही यह बात हमारी समझ में आ जायगी कि वर्तमान परीक्षा-प्रणाली किस सीमा तक देश के लिए अभिशाप बन चुकी है।

प्राथमिक कक्षाओं में अनुत्तीर्ण होने पर बहुत-से बालक पढ़ना छोड़ बैठते हैं और पुनः निरक्षर हो जाते हैं। उनके अध्ययन व प्रगति में एक प्रकार से अवरोध (stagnation) उत्पन्न हो जाता है। अवरोध के सम्बन्ध में भी हर्टोग समिति ने अपने विचार प्रकट किये हैं, जिनका सविस्तार विवेचन इस पुस्तक में यथास्थान किया जा चुका है।

भारत में ऐसे विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती जा रही है जो हाई स्कूल पास करके उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों में जाते हैं। इस स्तर पर वे प्रायः यह नहीं जानते कि उन्हे भावी अध्ययन के लिए किन विषयों को चुनना है। उनके शिक्षक भी यह नहीं जानते कि इस समय विद्यार्थी का वास्तविक ज्ञान-स्तर कितना है और भविष्य में उसके शिक्षण के लिए किस विधि को अपनाना है। इसका परिणाम यह होता है कि शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों ही निरुद्देश्य अन्धकार में बढ़ते जाते हैं। इसके लिए बुद्धि अर्थात् मनोवैज्ञानिक परीक्षा (intelligence or psychological test) एवं ज्ञान परीक्षा (achievement test) के साधनों का उपयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है। बुद्धि परीक्षा से विद्यार्थी की नैसर्गिक बुद्धि-लब्धि का पता लग सकेगा तथा ज्ञान परीक्षा से अब तक के प्राप्त किये हुए ज्ञान-स्तर का पता चल सकेगा, जिस पर विद्यार्थी इस समय खड़ा है। इन परीक्षाओं के उपरान्त उचित दिशा में विद्यार्थी का मार्गदर्शन हो सकेगा। सौभाग्य से बहुत-से व्यापारिक तथा औद्योगिक विभागों में इस देश में उपर्युक्त परीक्षा-विधियों का प्रयोग किया जाने लगा है। सरकारी सेवाओं में, विशेषकर सार्वजनिक सेवा कमीशन एवं पुलिस व सेना इत्यादि की सेवाओं में इनका पर्याप्त प्रयोग किया जा रहा है। किन्तु अभी सर्वव्यापी स्तर पर स्कूलों तथा कालेजों में इनका प्रयोग नगण्य है। वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के भयंकर दोषों को दूर करने के लिए तत्काल ही केन्द्रीय तथा राज्यों में शिक्षा मन्त्रालयों को वैज्ञानिक अध्ययन तथा अन्वेषण प्रारम्भ करा देना चाहिए जिससे भारतीय शिक्षा-विधि में परीक्षा की वैज्ञानिक विधियों का सूत्रपात किया जा सके। इसकी खोज के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति करनी चाहिए। विश्वविद्यालयों में एक परीक्षक बोर्ड की रचना करनी चाहिए जिसमें निपुण व अनुभवी शिक्षक लिये जाने चाहिए। इस बोर्ड का कर्तव्य होगा कि परीक्षाओं में वैज्ञानिक विधियों का आश्रय लेने के साधनों का विकास करे। बुद्धि परीक्षा एवं ज्ञान परीक्षा माध्यमिक शिक्षा के पूर्व तथा बारह वर्ष के माध्यमिक अध्ययन के उपरान्त विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के पूर्व अनिवार्य कर दी जाय ताकि विद्यार्थी का उसकी रुचि तथा क्षमता के अनुसार उचित दिशा में मार्ग-निर्देशन किया जा सके। कक्षा-कार्य की जाँच तथा विद्यार्थी की क्रमिक प्रगति का एक निश्चित रिकॉर्ड रखा जाना चाहिए।

जब तक देश में वैज्ञानिक विधियों पर आधारित वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं का पर्याप्त विकास नहीं होता, तब तक के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रचलित प्रणाली के दोषों

का ही निवारण किया जाय। इन दोनों के निवारण के उपायों पर पीछे आवश्यक प्रकाश डाला जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि हमारी वर्तमान परीक्षा-प्रणाली में सुधार वह प्रमुख प्रकार का कदम होगा जो शिक्षा के क्षेत्र में अन्य सुधारों के पूर्व उठाया जाना चाहिए।[18] बिना इस सुधार के हम शिक्षा के उद्देश्य, उसकी विषय-सामग्री एवं शिक्षण-विधि में पर्याप्त सुधार नहीं कर सकेंगे। आज विद्यार्थियों में फैली हुई निराशा तथा अनुशासनहीनता एवं शिक्षकों में फैली हुई अकर्मण्यता व उदासीनता के लिए वर्तमान परीक्षा-प्रणाली एक बड़ी सीमा तक उत्तरदायी है। शिक्षक वर्ग कुछ न पढ़ाकर कुछ चुने हुए प्रश्नों को रटाकर अथवा उन प्रश्नों के हल एवं अन्य सस्ती पुस्तकों का सुझाव देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है और विद्यार्थी शिक्षक का अनुकरण करके केवल परीक्षा के दिनों में उन हलों एवं सस्ती पुस्तकों को पढ़कर परीक्षा उत्तीर्ण कर लेता है। वर्ष भर घोर श्रम करने वाला विद्यार्थी परीक्षा के चुने हुए प्रश्नों को सफलतापूर्वक हल न कर सकने पर असफल हो जाता है जबकि कुछ दिन पढ़ने वाला विद्यार्थी दैवयोग से उन प्रश्नों को अच्छी प्रकार हल करने पर उत्तीर्ण हो जाता है। इस अनिश्चितता व अन्याय का उत्तरदायित्व हमारी दोषपूर्ण परीक्षा-विधि पर ही है। अतः आवश्यक है कि हम शीघ्र ही इसका सुधार कर डालें। परीक्षा सदा आवश्यक रहेगी, उसकी विधि चाहे कभी कैसी ही हो। हम उसके समूल उन्मूलन की सिफारिश नहीं कर सकते, केवल उसके सुधार के सुझाव ही रख सकते हैं। समय रहते हुए इन सुधारों का लागू होना अनिवार्य है।

परीक्षा-विधि में सुधार तथा परिवर्तन के द्वारा मूल्यांकन की उपादेयता बढ़ाने के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कोठारी शिक्षा आयोग ने कहा है कि "इस बात से अब भी लोग सहमत हो चुके हैं कि मूल्यांकन एक निरन्तर विधि है, वह सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली का एक अभिन्न अंग है और शैक्षिक उद्देश्यों से गहरा सम्बन्ध रखती है। यह विद्यार्थी की अध्ययन सम्बन्धी आदतों और शिक्षक की शिक्षा-विधि पर भारी प्रभाव डालती है और इस प्रकार यह न केवल शैक्षिक सफलताओं का मापन ही करती है, वरन् शिक्षा का सुधार भी करती है। मूल्यांकन प्रणालियों के द्वारा विद्यार्थी के उचित दिशाओं में आगे बढ़ने की स्थिति का अनुमान लगाया जाता है। अतः ये प्रणालियाँ उचित, विश्वस्त, यथार्थ तथा व्यावहारिक होनी चाहिए। आज

[18] *Cf.* "The problem of examinational reform cannot be tackled in isolation. It is inextricably bound up with broader educational issues like those of the nature and purpose of our educational programmes. A consideration of examination reform is justifiable only in so far as it helps to start a chain reaction in the educational philosophies and practices obtaining at present in our universities." —*Report of the Committee on the Indian Examinations Reform Project*, U. S. I. S. (1959), p. 9.

भारत में जो सामान्य और एकमात्र मूल्यांकन विधि प्रयोग में लायी जाती है वह लिखित परीक्षाओं की विधि है। अतः नवीन विधि को स्वीकार करने का स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि लिखित परीक्षा-विधि में इस प्रकार सुधार किया जाय कि यह छात्र की सफलताओं के मापन की उचित तथा विश्वस्त विधि बन सके। तथापि छात्र की सफलता के कई पक्ष ऐसे हैं जिनका ठीक-ठीक मूल्यांकन लिखित परीक्षाओं से नहीं हो सकता, अतः अन्य विधियों, जैसे अवलोकन-प्रणाली (observation technique), मौखिक परीक्षाएँ तथा प्रयोगात्मक परीक्षाओं को अपनाना आवश्यक है, ताकि इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त साक्ष्य एकत्रित किये जा सकें। इन विधियों में भी सुधार करना होगा ताकि ये विद्यार्थी के ज्ञान-मापन और शिक्षा-सुधार के प्रभावक यन्त्र बन सकें।"[19]

## 4. अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या

भारत जैसे अल्प-विकसित तथा दरिद्र देश में जहाँ शिक्षा तथा साक्षरता का प्रतिशत पहले से ही नीचा है तथा जहाँ शिक्षा के लिए आर्थिक साधन अल्प एवं सीमित हैं, शिक्षा-प्रणाली में अपव्यय (wastage) तथा अवरोधन (stagnation) जैसी भीषण बुराइयों का एक दीर्घकाल से चला आना अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। परीक्षा-प्रणाली के दोषपूर्ण होने तथा शिक्षक का मानदण्ड नीचा होने और विद्यार्थियों के लिए अध्ययन की पर्याप्त सुविधाएँ न होने के कारण तथा अन्य कारणों से भी, भारतीय स्कूल और कालेजों में शिक्षा के प्रायः सभी स्तरों पर प्रति वर्ष लाखों विद्यार्थी अनुत्तीर्ण होते हैं। राष्ट्र अपने सीमित साधनों का प्रयोग किसी विद्यार्थी की शिक्षा पर इसलिए करता है कि वह शिक्षित होकर अपनी योग्यता, सामर्थ्य तथा क्षमता के द्वारा राष्ट्र का निर्माण करे। यदि वह छात्र बीच में ही पढ़ना छोड़ बैठता है तो उस पर होने वाले व्यय को हम 'अपव्यय' ही मानेंगे। यदि वह छात्र कक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है और आगे नहीं बढ़ता तो इसे 'अवरोधन' माना जायगा।

यद्यपि अपव्यय तथा अवरोधन की बुराइयों की ओर सन् 1929 में हार्टोग समिति ने देश का ध्यान आकर्षित किया था, किन्तु तब से यह बुराई और भी अधिक बढ़ गयी है। यह बात विशेषतः ध्यान देने योग्य है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त शिक्षा का प्रसार तो बहुत हुआ, जो अपने आप में एक अच्छी बात है, किन्तु तदनुरूप शिक्षा-सुविधाओं का विकास न हो सका। परिणामस्वरूप, शिक्षा का मानदण्ड गिर गया जिसके कारण अवरोधन उत्पन्न होने लगा। यह अनुमान लगाया गया है कि प्राथमिक स्तर पर कक्षा एक में प्रवेश लेने वाले प्रति 100 छात्रों में से केवल 37 ही कक्षा पाँच तक पहुँचते हैं। ये सभी बच्चे आगे बढ़ने के इरादे से यदि कक्षा छह में प्रवेश करा भी लेते हैं जैसा कि प्रायः नहीं होता, तो भी उनमें से केवल 15·8% लड़के कक्षा आठ तक पहुँचते हैं। इसे एक घोर अपव्यय माना जा सकता है जिसमें आर्थिक साधन के साथ ही बच्चों के जीवन, समय और शक्ति का भी दुरुपयोग होता है। दुर्भाग्य

[19] *Report*, *op. cit.*, p. 243.

से यह स्थिति प्रारम्भ से ही हमें प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में मिलती है। माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर भी हाई स्कूल परीक्षा में सम्मिलित होने वाले छात्रों में से लगभग आधे लोग अनुत्तीर्ण हो जाते हैं और कई बार एक ही परीक्षा में बैठते रहते हैं अथवा पढ़ना छोड़ बैठते हैं। इससे शिक्षा-क्षेत्र में भारी अपव्यय हो जाता है।

एक अच्छी शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत सभी कक्षाओं में छात्रों की संख्या यथा-सम्भव एकसी होनी चाहिए, किन्तु कक्षा एक में प्रवेश लेने के उपरान्त या तो बहुत से बच्चे स्कूल छोड़कर चले जाते हैं और बीच में से ही आगामी कक्षाओं में पढ़ना छोड़कर घर बैठ रहते हैं अथवा अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। कोठारी शिक्षा आयोग के मतानुसार प्रथम कक्षा में ही एक तिहाई से लेकर आधा तक अपव्यय हो जाता है। सन् 1965-66 में कक्षा एक में प्रति 100 बालकों में से केवल 27 ही कक्षा पाँच तक पहुँच पाये। इसी प्रकार मिडिल स्कूल-स्तर पर भी कक्षा एक में प्रति 100 छात्रों में से सन् 1911-12 में केवल 4 बालक कक्षा सात तक पहुँच पाते थे। यह अनुपात सन् 1946-47 में 15 तथा 1965-66 में 20 हो गया। इस प्रकार इस स्तर पर थोड़ी प्रगति दिखायी देती है। सम्मुख तालिका में प्राथमिक शिक्षा के स्तर, कक्षा एक से आठ तक होने वाले अपव्यय तथा अवरोधन को सन् 1911-12 से लेकर 1965-66 तक की अवधि में देखा जा सकता है।

उक्त तालिका में अपव्यय तथा अवरोधन की वास्तविक स्थिति का पता प्राथमिक तथा मिडिल-स्तर पर लगता है। यद्यपि प्रत्येक कक्षा-स्थिति में सुधार दिखायी देता है, किन्तु सुधार की प्रगति अत्यन्त मन्द है। कोठारी आयोग ने भारत के 29 जिलों में एक सर्वेक्षण कराकर यह निष्कर्ष निकाला है कि कक्षा 1 में अवरोधन सबसे अधिक रहता है, कक्षा 2 में काफी कम हो जाता है, किन्तु कक्षा 3 और 4 में प्रायः यथावत् रहता है। प्राथमिक कक्षाओं में ऊपर जाकर अवरोधन कम होने लगता है। कुल मिलाकर लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा अवरोधन अधिक रहता है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में अवरोधन की दर में पर्याप्त क्षेत्रीय विषमताएँ हैं। आयोग के अनुसार कक्षा 1 में लड़कों में अवरोधन 40·3 तथा लड़कियों में 47·1 है। कक्षा 5 में यह लड़कों और लड़कियों में क्रमशः 16·4 तथा 19·8 और कक्षा 8 में 13·2 तथा 16·4 है। अपव्यय की दृष्टि से आयोग के अनुमान के आधार पर सन् 1961-62 में कक्षा 1 की तुलना में कक्षा 5 में 44·4 प्रतिशत तथा कक्षा 8 में 36·5 प्रतिशत था। अवरोधन तथा अपव्यय के आयोग ने तीन मुख्य कारण बताये हैं—आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक।

सन् 1947-48 के उपरान्त मैट्रिकुलेशन-स्तर के विद्यार्थियों में सफल छात्रों का प्रतिशत प्रति वर्ष गिरता ही जा रहा है। उदाहरण के लिए, सन् 1947-48 में इस स्तर के सफल छात्रों का प्रतिशत 65·2 था, 1950-51 में यह 48·8 रह गया। सन् 1955-56 में 46·1 प्रतिशत छात्र परीक्षा में सफल हुए। सन् 1960 में यह प्रतिशत 45·0 था। यह कितने दुःख तथा चिन्ता की बात है कि माध्यमिक स्तर पर, जो शिक्षा शृंखला की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी है और जहाँ अधिकांश अपना अध्ययन समाप्त

| वर्ष | कक्षावार-छात्र संख्या (हजार में) | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | 1 | 2 | 3 | 4 | 5 | 6 | 7 | 8 |
| 1911–12 | 2,717 (100·0) | 1,062 (39·1) | 757 (27·9) | 545 (20·1) | 324 (11·9) | 167 (6·1) | 119 (4·4) | 76 (2·8) |
| 1946–47 | 3,570 (100·0) | 2,525 (70·7) | 1,821 (51·0) | 1,404 (39·3) | 1.137 (31·8) | 648 (18·1) | 523 (14·6) | 448 (12·5) |
| 1950–51 | 6,948 (100·0) | 4,332 (62·3) | 3,353 (48·3) | 2,623 (37·8) | 1,898 (27·3) | 1,246 (17·9) | 1,023 (14·7) | 851 (12·2) |
| 1965–66 | 18,843 (100·0) | 10,973 (58·2) | 8,875 (47·1) | 6,924 (36·7) | 5,522 (29·3) | 4,453 (23·6) | 3,680 (19·5) | 2,900 (15·4) |

**नोट**—कोष्ठक में दी हुई संख्याएँ प्रत्येक कक्षा में कक्षा 1 की तुलना में छात्रों का प्रतिशत बताती हैं ।

करके जीवन में प्रवेश करते हैं, 100 में 55 छात्र परीक्षा में असफल हो जायँ। इस दुरुपयोग का अनुमान लगाना सहज कार्य नहीं।

कॉलेज-स्तर पर भी स्थिति उतनी ही भयावह है। यह अनुमान लगाया गया है कि बी० ए० में प्रवेश लेने वाले प्रति 100 विद्यार्थियों में 41 विद्यार्थी ही अन्तिम परीक्षा में सफल होकर निकल पाते हैं। इनमें से भी दुर्भाग्य से 57% तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं। ग्रेजुएट-स्तर पर अपव्यय और अवरोधन प्रति वर्ष बढ़ता ही जा रहा है। उदाहरण के लिए, सन् 1949-50 में बी० ए० में उत्तीर्ण छात्रों का प्रतिशत 50·8 था, सन् 1955-56 में यह 45 6 रह गया और 1958-59 में 44·3%। बी० एस-सी० स्तर पर इन्हीं वर्षों में यह प्रतिशत क्रमशः 44·4, 47·1 तथा 48·7 रहा। बी० कॉम० में यह प्रतिशत इन्हीं वर्षों में 50·3, 46·1 तथा 47·6 रहा। हाँ, इतना अवश्य है कि बी० एस-सी० (कृषि), इंजीनियरी तथा वेटरिनरी में ये प्रतिशत अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषजनक हैं। सन् 1958-59 में इन विषयों में परीक्षाफल क्रमशः 85·0%, 75·1% तथा 75·0% रहा। इसी प्रकार ऑनर्स कोर्स में भी परीक्षाफल पास कोर्स की अपेक्षा अधिक अच्छा रहता है।

गत वर्षों में इस दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन किये गये हैं जिनका यहाँ उल्लेख उपयोगी होगा। बम्बई विश्वविद्यालय के रैक्टर ने एक अध्ययन किया है जिसके अनुसार केवल पच्चीस प्रतिशत विद्यार्थी ही दिये हुए न्यूनतम समय में डिग्री कोर्स समाप्त कर पाते हैं। बड़ौदा विद्यालय में भी अपव्यय और अवरोध की समस्या के सम्बन्ध में एक अनुसन्धान हुआ है। इसकी रिपोर्ट से प्रकट होता है कि ज्यों-ज्यों छात्र एक कक्षा से दूसरी कक्षा में बढ़ते हैं, अवरोधन बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि उनमें से बहुत-से अपना अध्ययन पूर्ण ही नहीं कर पाते। आर्ट्स तथा साइंस की फैकल्टियों में नीचे की कक्षाओं में अपव्यय सबसे अधिक है। सन् 1951-55 की अवधि में सभी फैकल्टियों में मिलाकर तैंतीस प्रतिशत अपव्यय था।

अपव्यय और अवरोधन के प्रमुख कारणों में हम शिक्षण के गिरते हुए मानदण्ड तथा दोषपूर्ण परीक्षा-प्रणाली को प्रमुख मानते हैं। शिक्षा-संस्थाओं में छात्रों की भीड़ बढ़ती जाती है, किन्तु वृद्धि के अनुरूप सुविधाओं में वृद्धि नहीं हो पा रही है। जहाँ प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों पर छात्रों की संख्या में वृद्धि का स्वागत करना चाहिए वहाँ उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में यह बात निर्विवाद नहीं कही जा सकती। दुर्भाग्य से भारत के विश्वविद्यालयों में ऐसे विद्यार्थियों की भीड़ बढ़ती जा रही है जो उच्च शिक्षा के योग्य नहीं हैं। उनमें से अधिकांश नीचे की कक्षाओं में तृतीय श्रेणी के छात्र रहे हैं, इस समय उन्हें कुछ अन्य कार्य नहीं है अर्थात् देश की व्यापक बेकारी में उन्हें रोजगार न मिलने के कारण आगे पढ़ने के लिए विवश होना पड़ता है। इस प्रकार अयोग्यता और विवशता मिलकर अन्यमनस्कता को जन्म देते हैं जिसके फलस्वरूप अपव्यय एवं अवरोधन की भयानक स्थिति पैदा होती है।

इसके अतिरिक्त पाठ्य-पुस्तकों का अभाव, पुस्तकालयों की दुर्दशा, शिक्षकों से

व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव एवं दुर्वह पाठ्यक्रम इत्यादि अन्य कारण हैं जिनकी वजह से छात्र अधिक अनुत्तीर्ण होते हैं ।

एक बात यह भी देखने में आती है कि अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों में, विशेषत: माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय-स्तरों पर, अधिकांश छात्र अंग्रेजी विषय में अनुत्तीर्ण होते हैं जिसकी वजह से भारी अवरोधन पैदा हो जाता है। यह विषय बड़ा विवादग्रस्त है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इस बुराई से मुक्ति पाने के लिए अंग्रेजी भाषा के शिक्षण के मानदण्ड को उठाया जाय और उसे अधिक सघन विधि से पढ़ाया जाय ताकि उसमें कम छात्र अनुत्तीर्ण हों। दूसरे मत के अनुसार अंग्रेजी के भार से छात्र इतने दबे रहते हैं कि उनकी मानसिक शक्तियाँ कुंठित हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त प्रश्न किया जाता है कि अधिकांश छात्र अंग्रेजी में ही अनुत्तीर्ण होकर अवरोधन एवं अपव्यय बढ़ाते हैं तो क्यों इस विषय को पढ़ाया जाय अथवा कम से कम अनिवार्य विषय के रूप में क्यों पढ़ाया जाय ? यहाँ हम भाषा सम्बन्धी विवाद में न पड़कर इतना ही कह सकते हैं कि यह मत सर्वांश में सही है कि अंग्रेजी का शिक्षण तथा अध्ययन-स्तर गिरता जा रहा है और अपव्यय एवं अवरोधन उत्पन्न करने में यह अकेला विषय सबसे बड़ा रोड़ा है। हमारा निश्चित मत इस सम्बन्ध में यह है कि अंग्रेजी भाषा का शिक्षण अन्य आधुनिक यूरोपीय भाषाओं, जैसे फ्रेंच, जर्मन और रशियन की तरह वैकल्पिक कर दिया जाय तथा इसके सघन शिक्षण की सुविधाएँ और विधियों में पर्याप्त सुधार कर दिया जाय। जब तक अंग्रेजी के शिक्षण का मानदण्ड ऊँचा नहीं उठाया जायगा, अवरोधन कम नहीं होगा। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि एक ओर तो हम अंग्रेजी के शिक्षण-मानदण्ड को उन्नत करने के लिए कोई प्रभावक कदम नहीं उठा रहे हैं, दूसरी ओर अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ भारत की दूसरी अनिवार्य भाषा के रूप में देश के ऊपर बलात् लादने की कुचेष्टा कर रहे हैं। तीसरी बात यह है कि इस उधेड़-बुन और चिन्तन की अस्पष्टता में हम अपने छात्रों को मातृभाषाओं में ऊँचे स्तर की पाठ्य-पुस्तकें देने में भी असफल रहे हैं। अत: अंग्रेजी का स्तर नीचा होने के कारण अंग्रेजी पुस्तकें उनकी समझ में नहीं आतीं और मातृभाषा में उन्हें अच्छा साहित्य उपलब्ध नहीं होता। इन सभी परिस्थितियों का अनिवार्य दुष्परिणाम होता है उच्च कक्षाओं में परीक्षा में भारी संख्या में छात्रों का अनुत्तीर्ण होना, शिक्षा का मानदण्ड गिरना और अपव्यय तथा अवरोधन का आवश्यक बुराई के रूप में भारतीय शिक्षा-प्रणाली के कलेवर में घर कर लेना।

अपव्यय और अवरोधन को दूर करने के लिए प्राथमिक स्तर पर शिक्षकों की योग्यता व प्रशिक्षण में सुधार करना, उनके वेतन-क्रमों में वृद्धि करना, छात्रों को—विशेषत: निर्धन छात्रों को—निःशुल्क शिक्षा प्रदान करना, उन्हें पुस्तकें तथा बेसिक क्राफ्टों की सामग्री निःशुल्क प्रदान करना, पाठशालाओं के भवनों का निर्माण इत्यादि विधियों से शिक्षण-कार्य को अधिक कारगर बनाया जा सकता है। ऐसी आशा की जा सकती है कि शिक्षण-स्तर में सुधार तथा अध्ययन की सुविधाओं में वृद्धि एवं

अनिवार्यता के सिद्धान्त को क्रमशः कार्यान्वित करने से प्राथमिक स्तर पर होने वाले अपव्यय को सरलतापूर्वक रोका जा सकता है।

माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का मानदण्ड गिरने से न केवल माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में ही समस्या पैदा हो गयी है, वरन् उच्च शिक्षा पर भी इसका कुप्रभाव पड़ा है। कई-कई प्रयासों से हाई स्कूल में पास होने वाले छात्र तथा तृतीय श्रेणी पाने वाले छात्र जब कालेजों और विश्वविद्यालयों में जाते हैं तो वहाँ भी अवांछनीय रूप से मानदण्ड गिराने में सहायक होते है। इस स्तर पर भी यह आवश्यक है कि शिक्षण के मानदण्ड को उठाया जाय। नीचे की कक्षाओं में कम विद्यार्थी रखे जायँ ताकि शिक्षक प्रत्येक छात्र पर पृथक-पृथक ध्यान दे सके और उनके लिखे हुए अभ्यासों को संशोधित कर सकें। पाठ्यक्रम छात्रों की रुचियों के अनुकूल बनाया जाय। वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं (objective tests) तथा मासिक अथवा त्रैमासिक परीक्षाओं का महत्त्व बढ़ा दिया जाय तथा कक्षा में किये गये कार्य पर अंक दिये जायँ। पाठ्य-पुस्तकों में सुधार, इत्यादि अन्य आवश्यक उपाय हैं जो अपव्यय एवं अवरोधन को रोक सकते हैं।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपव्यय रोकने का सबसे प्रथम उपाय तो यह है कि प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। उच्च शिक्षा की केवल उन्हीं छात्रों को आज्ञा प्रदान की जाय जो उसके योग्य हों और उसे पाने की मानसिक तथा नैतिक क्षमता रखते हों। निर्धन किन्तु मेधावी छात्रों को उच्च शिक्षा निःशुल्क प्रदान की जाय और उन्हें उदारतापूर्वक वित्तीय सहायता प्रदान की जाय। धनी किन्तु दिमागी ठस छात्रों को माध्यमिक स्तर पर ही रोक दिया जाय। इसी वर्ग के छात्र प्रति वर्ष असफल होकर भी कालेजों में पड़े रहते हैं। प्रत्येक विश्वविद्यालय द्वारा नियम बना दिया जाय कि दो बार अनुत्तीर्ण होने पर आगे परीक्षा में बैठने का अधिकार नहीं रहेगा। इस दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि तृतीय श्रेणी को हटा दिया जाय। केवल प्रथम एवं द्वितीय दो ही श्रेणियाँ रखी जायँ।

इन प्रयासों के अतिरिक्त पुस्तकालयों तथा प्रयोगशालाओं की समुचित व्यवस्था, ऊँचे स्तर की किन्तु सस्ती पाठ्य-पुस्तकों की व्यवस्था, ट्यूटोरियल प्रणाली को अनिवार्य, अधिक कारगर एवं अधिक महत्त्वपूर्ण बनाना इत्यादि अन्य उपाय हैं जिनके द्वारा ग्रेजुएट-स्तर पर अपव्यय और अवरोधन रोका जा सकता है।

## 5. शिक्षा का नियन्त्रण व प्रबन्ध

भारत में शिक्षा के नियन्त्रण व प्रबन्ध की समस्या भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ प्राथमिक तथा जूनियर हाई स्कूल अथवा मिडिल स्कूल अधिकांश में स्थानीय जिला बोर्डों तथा नगरपालिकाओं के अन्तर्गत हैं। कुछ स्कूल सीधे राज्य सरकार के अन्तर्गत तथा कुछ वैयक्तिक संस्थाओं व धर्म-प्रचारक संस्थाओं के प्रबन्ध के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार माध्यमिक स्कूल भी स्थानीय बोर्डों, वैयक्तिक संस्थाओं तथा धर्म-प्रचारक मण्डलों के अधीन हैं। प्रारम्भ में प्रान्तीय सरकारों ने लगभग प्रत्येक जिले में एक हाई स्कूल एक आदर्श संस्था के रूप में सरकारी शिक्षा-विभाग के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में भी स्थापित

किया था। अधिकांश माध्यमिक शिक्षा संस्थाएँ तो वैयक्तिक प्रबन्ध समितियों के अन्तर्गत ही हैं। इनके अतिरिक्त रेल व यातायात, श्रम, वाणिज्य, सुरक्षा तथा उद्योग मन्त्रालयों ने भी अपने कर्मचारियों के बालकों की शिक्षा अथवा किसी विशेष उद्योग में टेकनीकल शिक्षा प्रदान करने के लिए भी क्रमशः अपने-अपने नियन्त्रण में स्कूल खोल रखे हैं। प्रत्येक राज्य में एक शिक्षा-मन्त्रालय होता है और शिक्षा मन्त्री की सहायता के लिए एक सेक्रेटरी होता है जो विभिन्न शिक्षा-समस्याओं पर मन्त्री को सलाह देता है। इसके अतिरिक्त राज्य-स्तर पर एक शिक्षा संचालक व उसकी सहायता के लिए विभिन्न क्षेत्रों में उप-शिक्षा संचालक होते हैं। शिक्षा संचालक का कार्य सरकार की शिक्षा-नीतियों को कार्य रूप में परिणत करना तथा शिक्षा का प्रशासन सँभालना है। प्रत्येक राज्य में एक माध्यमिक शिक्षा बोर्ड भी होता है जिसका उत्तरदायित्व माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी पाठ्यक्रम नियत करना, पाठ्य-पुस्तकों को चुनना तथा परीक्षा लेना है। माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न राज्यों की योजनाओं में समन्वय स्थापित करने तथा उसके अखिल भारतीय महत्त्व के प्रश्नों पर सलाह देने के लिए केन्द्र में माध्यमिक शिक्षा सलाहकार परिषद की स्थापना की गयी है।

विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में भारत के चार विश्वविद्यालयों को छोड़कर जो केन्द्र से सम्बन्ध रखते हैं, शेष सभी राज्य सरकारों के अन्तर्गत हैं। केन्द्रीय विश्वविद्यालयों का विजिटर राष्ट्रपति होता है और उसी के समान्तर राज्यों में स्थित विश्वविद्यालयों का चांसलर वहाँ का गवर्नर होता है। प्रत्येक विश्वविद्यालय का प्रशासन चलाने के लिए वाइस-चांसलर होता है जो विभिन्न संस्थाओं, जैसे सीनेट एक्जीक्यूटिव काउन्सिल व एकेडेमिक काउन्सिल, फैकल्टी तथा बोर्ड ऑफ स्टडीज इत्यादि की सहायता से आन्तरिक प्रबन्ध का उत्तरदायी होता है। विश्वविद्यालय स्वायत्त-शासन (autonomy) प्राप्त संस्थाएँ होती हैं जिनमें सरकार अधिक प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं कर सकती। उच्च शिक्षा में वित्त की समस्या को हल करने के लिए राधाकृष्णन कमीशन ने अखिल भारतीय स्तर पर विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन स्थापित करने की सिफारिश सन् 1949 में की थी जिसकी स्थापना कालान्तर में कर दी गयी। यह कमीशन प्रत्येक विश्वविद्यालय की वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए न्यायपूर्वक अनुदान व आवश्यक आर्थिक सहायता देता है।

उपर्युक्त नियन्त्रण भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में एक दीर्घकाल से चला आ रहा है, किन्तु आज इसमें ऐसे भयंकर दोष उत्पन्न हो गये हैं कि उनका तात्कालिक निवारण शिक्षा की प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्राथमिक शिक्षा जो अधिकांश में जिला बोर्डों व नगरपालिकाओं के नियन्त्रण में है, आज बड़ी दयनीय स्थिति में है। प्रायः इन बोर्डों की आर्थिक स्थिति शोचनीय होती है, उनमें आन्तरिक निम्न कोटि की दलबन्दी होती है, उनके सदस्य अधिकांश में अशिक्षित स्थानीय राजनीतिक कार्यकर्ता होते हैं, जो प्राथमिक शिक्षा के महत्त्व को नहीं समझ पाते तथा शिक्षा-कार्यक्रमों का भलीभाँति पालन नहीं किया जाता। इन सब का परिणाम यह होता है कि कहीं-कहीं

छह-छह माह तक शिक्षकों को वेतन नहीं मिलता। स्थानीय दलबन्दी के आधार पर उनके तबादले एक स्थान से दूसरे स्थान को कर दिये जाते हैं। शिक्षक स्थानीय नेताओं से भयभीत रहता है तथा उस निर्धनता व भय के वातावरण में वह अपना कर्तव्यपालन भलीभाँति नहीं कर पाता। दुर्भाग्य से हमारी वर्तमान सरकार केवल सैद्धान्तिक व मौखिक रूप से ही देश के लिए प्राथमिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करती है, वस्तुत: उसके नियन्त्रण में संरचनात्मक सुधार करके शिक्षा तथा शिक्षकों की दशा के सुधार में इस क्षेत्र में कुछ भी सराहनीय कार्य नहीं किया गया। अत: यह आवश्यक है कि गाँवों की प्राथमिक शिक्षा को तो तत्काल ही जिला बोर्डों के अधिकार से निकालकर राज्य के शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत कर देना चाहिए और नगरों में नगरपालिकाओं को विवश किया जाय कि वे शिक्षा की दुर्दशाओं में सुधार करें। जब तक बेसिक शिक्षा जिला बोर्डों के हाथ में रहेगी, उसमें कोई सुधार की आशा नहीं की जा सकती।

नियन्त्रण व प्रबन्ध की समस्या ने जितना भीषण स्वरूप माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में धारण किया है, वैसा अन्य क्षेत्रों में नहीं। जो स्कूल सरकार के नियन्त्रण में प्रत्यक्ष रूप से चल रहे हैं, वहाँ तो स्थिति कुछ सन्तोषजनक है, अन्यथा प्राइवेट हाई स्कूलों व इण्टर कालेजों में स्थिति बड़ी दयनीय है। इन संस्थाओं में शिक्षकों व प्रधानाध्यापक की नियुक्ति, पुष्टीकरण अथवा पृथक्करण सभी कुछ प्रबन्ध समितियों के सदस्यों की सनक व पक्षपातपूर्ण भावनाओं पर निर्भर रहता है। अधिकांश माध्यमिक शिक्षकों की आज जो दुर्दशा है उसका उत्तरदायित्व इन्हीं प्रबन्ध समितियों पर है जो जातीय पक्ष-पात, व्यक्तिगत वैमनस्य व ईर्ष्या, आर्थिक भ्रष्टाचार तथा शिक्षकों के ऊपर शासन करने की दुर्भावना से अभिप्रेरित होती रहती हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं कि कमेटी का मैनेजर स्कूल को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति समझता है और उससे अनुचित तरीके से आर्थिक लाभ उठा रहा है। शिक्षा-विभाग अथवा जिले का शिक्षा निरीक्षक अधिकांश में इतना दुर्बल व्यक्ति होता है कि ऐसी समस्या का बलपूर्वक समाधान नहीं कर पाता। हो सकता है कि प्रबन्ध समितियों अथवा शिक्षा निरीक्षकों में कुछ अच्छे अपवाद हों, किन्तु आज की स्थिति में वे केवल अपवाद-मात्र ही कहे जा सकते हैं। सरकार ने इन दोषों को दूर करने के लिए प्रबन्ध समितियों की रचना व विधानों में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए समय-समय पर प्रयास किये, पर अभी स्थिति अक्षुण्ण बनी हुई है। उत्तर प्रदेश सरकार ने श्री जे० सी० पावल प्राइस की अध्यक्षता में सन् 1937 में ही एक समिति स्थापित की थी। परन्तु उसकी सिफारिशों को युद्ध के कारण कार्यान्वित न किया जा सका। इसके उपरान्त सन् 1946 में दूसरी समिति नियुक्त की गयी जिसने अक्टूबर 1947 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में सिफारिश की गयी थी कि प्रत्येक प्रबन्ध समिति में तीन सरकारी नामजद व्यक्ति तथा एक प्रधानाध्यापक व एक शिक्षक प्रतिनिधि अन्य जनता के प्रतिनिधियों के साथ अवश्य रखे जायँ। शिक्षकों की नियुक्ति, क्षेत्रीय पंचायत बोर्ड[20] व क्षेत्रीय स्थानान्तरण बोर्ड

[20] Regional Arbitration Board.

की स्थापना, छुट्टी के नियम तथा अन्य इसी प्रकार की सिफारिशें की थीं। पर अधिकांश सिफारिशें कार्यान्वित न हो सकीं । प्रबन्ध समितियों ने प्रबन्ध-सुधार तथा सरकारी नामजद सदस्यों व शिक्षक प्रतिनिधियों को प्रबन्ध में सम्मिलित करने का घोर विरोध किया। परिणामस्वरूप, सरकार झुक गयी और यह वांछनीय सुधार न हो सका। प्रबन्धकों ने समझा कि सरकार को इतने आदमी नामजद करने को मिल ही नहीं सकते और न सरकार इस स्थिति में ही है कि प्रबन्धकों की धमकियों का उत्तर शिक्षा को अपने प्रत्यक्ष नियन्त्रण में लेकर करे। अतएव सन् 1953 में नरेन्द्रदेव समिति ने पुनः प्रबन्ध के प्रश्न को लिया और सिफारिश की कि तीन सरकारी नामजद सदस्यों की बात छोड़ दी जाय। केवल प्रधानाध्यापक तथा वरिष्ठता के आधार पर एक वर्ष के लिए एक शिक्षक प्रतिनिधि को प्रबन्ध समिति में सम्मिलित कर लिया जाय। विभिन्न जातियों, धार्मिक संस्थाओं अथवा ट्रस्टों के द्वारा संचालित स्कूलों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में कमेटी ने सिफारिश की कि अन्य जातियों व धर्म के व्यक्तियों को तथा प्रधानाध्यापक व एक शिक्षक प्रतिनिधि को इन समितियों में सदस्यता का अधिकार दिया जाना चाहिए। प्रत्येक समिति में बारह से अधिक सदस्य न हों। चुनाव तीन वर्ष से पूर्व न हो। शिक्षकों की नियुक्ति पाँच विशेषज्ञों की समिति द्वारा प्रधानाध्यापक की सिफारिश के आधार पर होनी चाहिए। शिक्षकों की सेवा-दशाओं में सुधार करने के लिए भी नरेन्द्रदेव समिति ने सुझाव दिये हैं। इसी प्रकार मुदालियर कमीशन ने भी वैयक्तिक प्रबन्ध के लिए व्यावहारिक सुझाव दिये हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन सिफारिशों के होते हुए भी इस स्थिति में सराहनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। यहाँ यह बात स्पष्टतः कह देनी होगी कि यदि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रबन्ध व नियन्त्रण की समस्या को अविलम्ब सुलझाकर सुधार नहीं किया गया, तो शिक्षक की दशा और भी अधिक बिगड़ जायगी और उसके बिगड़ने के साथ ही साथ शिक्षा का स्तर जो देश में तेजी से गिर रहा है, और भी अधिक गिर जायगा। शिक्षक विद्यार्थी तथा उसकी शिक्षा, उसके चरित्र-निर्माण एवं उसके अनुशासन के विषय में और भी अधिक उदासीन एवं समस्याओं को सुलझाने के लिए अयोग्य होता जायगा। न तो वह तथाकथित राष्ट्र-निर्माणक रहेगा और न उसमें समाज के नेता उत्पन्न करने की क्षमता ही रहेगी। हमारे देश में माध्यमिक शिक्षकों में घोर असन्तोष है। वे शिक्षा के राष्ट्रीयकरण की माँग तेजी से कर रहे हैं। केरल राज्य में तो साम्यवादी सरकार ने प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा का राष्ट्रीयकरण करने के लिए एक विधेयक विधान सभा में प्रस्तुत भी कर दिया है। इस राष्ट्रीयकरण से जहाँ वैयक्तिक प्रबन्ध सम्बन्धी दोषों का उन्मूलन होगा और शिक्षकों की दशा में आशातीत सुधार होगा, वहाँ एक बड़ी हानि यह होगी कि इससे शिक्षा में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ जायगा और यह स्थिति भी आ सकती है कि रूस व चीन की भाँति सरकार शिक्षा संस्थाओं को अपने राजनीतिक दर्शन के प्रचार का केन्द्र बना ले। इससे भारत के नवोदित जनतन्त्र को बहुत आघात पहुँच सकता है। समाज के विचारों का नियन्त्रण करने के लिए भी इस सुधार का प्रयोग होने का डर

है। भारत में जनतन्त्र की शिक्षा के लिए शिक्षा के नियन्त्रण व प्रबन्ध में भी हमें जनतन्त्रीय भावनाओं का समावेश करके उसमें संरचनात्मक परिवर्तन तथा विभिन्न प्रकार की प्रबन्ध-संस्थाओं में समन्वय स्थापित करना होगा।

विश्वविद्यालय के प्रबन्ध व नियन्त्रण की समस्या भी इतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कि माध्यमिक शिक्षा की। इस क्षेत्र में तो विश्वविद्यालय की स्वायत्त-सत्ता के प्रश्न को लेकर देश में बड़ा विवाद खड़ा हो गया है। कुछ लोगों की धारणा है कि विश्वविद्यालय अपने प्रबन्ध, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण के विषय में पूर्णत: स्वतन्त्र होने चाहिए और उन पर कोई बाह्य दबाव नहीं होना चाहिए। दूसरा मत इस सम्बन्ध में यह है कि विश्वविद्यालयों का अस्तित्व समाज के हित के लिए है। जनता के धन से सरकार उन्हें वित्तीय सहायता देती है। अत: नियोजन के इस युग में कुछ सीमा तक करदाताओं के प्रति उत्तरदायी सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह यह भी देखे कि शिक्षा अनुदान का उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है तथा विश्वविद्यालय के विभिन्न कार्य अधिक से अधिक सामाजिक हित में उचित दिशा में एवं न्यायपूर्वक हो रहे हैं अथवा नहीं। ऐसी स्थिति में राजकीय हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाता है। यहाँ हम इतना कहना ही आवश्यक समझेंगे कि विश्वविद्यालयों को दलगत राजनीति से दूर रखने तथा उन्हें ज्ञान की खोज करने के लिए उपयुक्त बनाने के लिए उन्हें अधिकाधिक स्वायत्तता प्रदान की जाय। जिस बात को हम राजकीय हस्तक्षेप कहने लगे हैं वह 'हस्तक्षेप' न होकर 'सहयोग' होना चाहिए। आज के युग में देश के सुनियोजित विकास के लिए राजकीय सहयोग आवश्यक है; किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं होना चाहिए कि कुछ षड्यंत्रकारी राजनीतिक विश्वविद्यालयों में प्रवेश करके उनकी नीतियों का निर्धारण करने लगें और उन्हें कलुषित कर दें। यदि विश्वविद्यालयों को विभिन्न राजनीतिक दलों का अखाड़ा बना दिया गया तो उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण हो जायेगा और वे उच्च शिक्षा के स्थान पर भ्रष्टाचार के केन्द्र बन जायेंगे। बाह्य नियन्त्रण के द्वारा हम विश्वविद्यालय शिक्षा में सुधार नहीं कर सकते।[21] सर्वोत्तम विधि तो यह है कि विश्वविद्यालय का एक श्रेष्ठ विधान बना दिया जाय, जिसमें बुद्धिमत्तापूर्वक चुने हुए बाह्य सदस्यों को भी प्रबन्ध में सम्मिलित करने की व्यवस्था कर दी जाय और इसके उपरान्त विश्वविद्यालयों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय।

21 *Cf.* "But we do not believe that more control from outside is the way to achieve reform. On the contrary, a great many of the present evils arise from the fact that most of our universities have no real autonomy, whatever, and have proved incapable of resisting pressure from outside University *should* be sensitive to enlightened public opinion, they should *never* themselves be bullied or bribed into actions that they know to be educationally unsound or, worse still, motivated by nepotism, function and corruption."—*Report of the University Education Commission*, p. 405.

वित्त की समस्या का हल अनुदान कमीशन पर छोड़ दिया जाय जिसमें अखिल भारतीय प्रसिद्धि के विद्वान व निष्पक्ष लोगों को रखा जाय जो वित्त तथा शिक्षा-समस्याओं के विशेषज्ञ हों।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में नियन्त्रण व प्रबन्ध की समस्या की दुरूहता का अनुभव इतना स्थानीय शिक्षण-विश्वविद्यालयों में नहीं होता जितना कि उनसे सम्बन्धित डिग्री या पोस्ट-डिग्री कालेजों में होता है। ये कॉलेज माध्यमिक शिक्षालयों की भाँति बहुधा वैयक्तिक अथवा धार्मिक प्रबन्ध संस्थाओं के अन्तर्गत चलते हैं और प्रायः इनमें वे ही सब दोष विद्यमान हैं जो माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में हैं। इनमें से कुछ कालेजों के प्रबन्धकों में कुछ के उद्देश्य केवल लोकोपकार की भावना व शिक्षा प्रसार है, जैसा कि बहुत से ईसाई कालेजों, रामकृष्ण मिशन तथा दक्षिण एजूकेशन सोसाइटी द्वारा संचालित कालेजों में है। किन्तु ऐसे प्रबन्धक भी हैं जिनका उद्देश्य फीस के द्वारा अपनी निजी आय करना है। ये प्रबन्धक शिक्षकों को अल्प वेतन देते हैं, पुस्तकालय, परीक्षणशाला तथा आवश्यक सज्जा की कोई भी व्यवस्था न करके रुपया लाभ में कमा लेते हैं। ऐसे कालेजों के प्रबन्ध-सुधार के लिए विश्वविद्यालयों को कड़े नियम बनाने चाहिए।

इन वैयक्तिक कालेजों के अतिरिक्त कुछ गवर्नमेण्ट कॉलेज भी हैं जहाँ सरकारी नियन्त्रण के कारण कार्य-दशाएँ अच्छी हैं। परन्तु इन सरकारी कालेजों की पृथक कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है। जैसे, उत्तर प्रदेश में सरकार ने नैनीताल व बनारस के पास ज्ञानपुर में दो कॉलेज शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत स्थापित किये हैं। इन कालेजों में कोई ऐसी विशेष शिक्षा नहीं दी जाती जो अन्य डिग्री कालेजों अथवा विश्वविद्यालयों में उपलब्ध न हो। जो सरकार विश्वविद्यालयों को आर्थिक अनुदान देकर चलती है वही इन कालेजों पर भी धन व्यय करती है। अतीत में तो ये कॉलेज विदेशी शासन के प्रमुख अंग थे और विश्वविद्यालयों से प्रतिस्पर्द्धा रखते थे, पर आज के स्वतन्त्र भारत में इनकी कोई आवश्यकता नहीं। अतः इन कालेजों को किसी विश्वविद्यालय का अंग बनाकर इन्हें उसके प्रशासन के अन्तर्गत ले लेना चाहिए। इतना होने पर ही देश में उच्च शिक्षा के नियन्त्रण व प्रबन्ध की समस्या का निराकरण हो सकेगा। कोठारी आयोग ने सभी स्तरों पर शिक्षा के प्रबन्ध, प्रशासन तथा निरीक्षण के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।

## 6. अनुशासन की समस्या

भारतीय विद्यार्थियों के ऊपर आज एक बड़ा अभियोग यह लगाया जा रहा है कि उनमें अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है और वे अपने क्षेत्र से बाहर निकलकर ऐसे कार्यों में हस्तक्षेप करने लगते हैं जिनसे उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। विद्यार्थियों के समाज में कोई भी हलचल होने पर चारों दिशाओं से यही आवाजें आने लगती हैं कि विद्यार्थी अनुशासनहीन हो उठे। न केवल शिक्षक व शिक्षाशास्त्री ही यह अभियोग लगाते हैं, अपितु राष्ट्रीय नेताओं एवं उच्च सरकारी अधिकारियों को

भी यही शिकायत करते हुए सुना जाता है। सन् 1966-67 की देशव्यापी छात्र-हड़तालों तथा छात्र-असन्तोष ने देश का ध्यान इस समस्या की ओर पहले से अधिक आकर्षित कर दिया है।

प्राथमिक बालकों में अनुशासन की कोई भी समस्या नहीं है। माध्यमिक विद्यालयों तक आते-आते बालक किशोर हो जाते हैं। किशोरावस्था अत्यन्त ही नाजुक समय होता है, जब किशोरों में अतिरिक्त स्फूर्ति, साहसिक कार्यों के लिए उत्कण्ठा एवं नियमों के प्रति विद्रोह की भावना होती है। ऐसे किशोर साधारण-सी प्रतिकूल अवस्थाओं के प्रस्तुत होने पर अथवा कुछ लोगों के भड़काने पर ही क्षुब्ध हो उठते हैं। विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी अधिक समझदार होते हैं और उन पर वातावरण में होने वाले आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तनों की तात्कालिक प्रतिक्रिया होती है। वे कुछ सीमा तक इस योग्य भी हो जाते हैं कि विभिन्न प्रश्नों पर विद्यार्थी समाज को संगठित कर सकें और सामूहिक रूप से अपनी आन्तरिक भावनाओं का प्रकटीकरण कर सकें। अधिकांश में उनकी यह शक्ति किसी अन्य रचनात्मक कार्यक्रम के अभाव में विध्वंसात्मक कार्यों में प्रकट हो उठती है।

माध्यमिक शिक्षा कमीशन ने अनुशासनहीनता के दो स्वरूप बताये हैं—वैयक्तिक स्तर पर सामान्यतः भारतीय विद्यार्थी अनुशासनहीन नहीं होता। वह अपने बड़ों तथा गुरु वर्ग के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा रखता है। नियमों व विनय में उसका विश्वास होता है। इस दृष्टि से वह आज भी प्राचीन भारत की अधिकांश मर्यादाओं का पालन करता है। केवल समूह में आकर ही उसकी मौलिक विनय प्रवृत्ति क्षुब्ध हो उठती है और समूह-सागर की तरंगों पर वह असहाय होकर उतराने लगता है। कुछ अंशों में यह भी कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता होने का प्रचार वास्तविकता से अधिक किया गया है। बहुत-से तथाकथित अनुशासनहीन कार्य करने का वह प्रयास नहीं करता, यदि उसके मनोविज्ञान अथवा उसकी समस्याओं को दूर-दर्शिता तथा सहानुभूतिपूर्वक हल करने की चेष्टा की जाय। अनुशासनहीनता भी व्यक्तित्व का एक स्वरूप है, यद्यपि कुछ सीमा तक वह एक अस्वाभाविक व विकृत स्वरूप है।

भारत में अनुशासन की समस्या का एक संक्षिप्त इतिहास है। विभिन्न राजनीतिक कारणों से अतीत में विद्यार्थियों का उपयोग स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए किया गया। हड़ताल व तोड़-फोड़ की विध्वंसात्मक भावना का बीजारोपण गत पचास वर्षों से किया जा रहा था। आज यद्यपि समय तथा देश की अन्य समस्याओं का रूप बदल गया है, किन्तु जो अस्त्र विद्यार्थी को उस समय मिला, आज उसने अधिक बलपूर्वक उसे अपनी भुजाओं में ग्रहण कर लिया है और इसका प्रयोग सर्वप्रथम वह उन्हीं पर करता है जिन्होंने उसे इस अस्त्र का प्रयोग किसी समय सिखाया था। यदि वास्तविकता की पृष्ठभूमि के आधार पर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि अन्य देशों में भी यह समस्या उग्रतर होती जा रही है। समाज में क्षोभ आज विश्वव्यापी है। प्राचीन आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ढाँचे में विश्व में तेजी के साथ परिवर्तन हो रहे

हैं। उन बदलती हुई स्थितियों ने नवयुवक समाज में असन्तोष की भावना को जागृत कर दिया है। वह इन परिवर्तनों के अनुरूप अपने आपको शीघ्र नहीं ढाल पाता। फलत: वही असन्तोष और असमर्थता किसी संगठित क्षोभ के रूप में फूट पड़ती है। ये विघटन की प्रवृत्तियाँ रचनात्मक सृजन न करके देश व समाज में एक अराजकता व विप्लव को जन्म देती हैं। कुछ अराजकतावादी राजनीतिज्ञ विद्यार्थियों की इन दुर्बलताओं से लाभ उठाते हैं और उन्हें संगठित अनुशासनहीनता के लिए प्रोत्साहित करते हैं। कुछ लोग तो छोटे-छोटे बालकों को चुनावों तक में प्रयोग करने में नहीं चूकते। विभिन्न राष्ट्रीय व स्थानीय चुनावों के अवसर पर इस प्रवृत्ति का नग्न रूप देखने को मिलता है।

इसके अतिरिक्त कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या के आकार में वृद्धि, शिक्षकों से व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव, भारी व अनावश्यक पाठ्यक्रम, दोषपूर्ण परीक्षा-प्रणाली, शिक्षा की उद्देश्यहीनता, खेल-कूद तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का अभाव और अन्त में शिक्षकों में अन्यमनस्कता व कर्तव्यपालन की भावना का उत्तरोत्तर ह्रास इत्यादि वे प्रमुख कारण हैं जिनकी वजह से भारतीय विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है। जब वे देखते हैं कि उनके आसपास के समाज में पक्षपात, अन्याय व भ्रष्टाचार फैला है और उनसे कहा जाता है कि वे चरित्रवान बनें तो उनका कोमल मन विद्रोह कर उठता है। वे अपनी बुद्धि के अनुसार जिस कार्य को अन्यायपूर्ण समझते हैं उसी का विरोध करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। जब वे देखते हैं कि योग्यता तथा नैतिकता में उनसे भी गिरा हुआ व्यक्ति राजनीति की सीढ़ी पर चढ़कर अधिकार व सुख-विलासों का उन्मुक्त भोग कर रहा है तो उनकी भी जिज्ञासा राजनीति में आने की हो उठती है। अपनी इस क्षुब्ध, अपरिपक्व तथा अस्थिर मनोदशा में वे विभिन्न राजनीतिक धूर्तों के शिकार हो जाते हैं, जो उन्हें अनुशासनहीनता के लिए उभाड़ते हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि सभी विषमताओं की अपेक्षाकृत यदि शिक्षक सच्चे हृदय से चाहे और उसके लिए पर्याप्त प्रयास करे तो वह विद्यार्थियों को अनुशासनहीनता से बचा सकता है। इसके लिए शिक्षक के आर्थिक व सामाजिक स्तर में सुधार करना होगा। असन्तुष्ट व क्षुब्ध शिक्षक अपने असन्तोष व क्षोभ को भावी पीढ़ियों में चुपचाप हस्तान्तरित कर सकता है। अत: देश के नवयुवकों के मस्तिष्कों से विद्रोह व अनुशासनहीनता का उन्मूलन करने से पूर्व शिक्षक के मस्तिष्क से उन्हें मिटाना होगा। इसके अतिरिक्त शिक्षकों में भी अब राजनीतिज्ञों की संख्या बढ़ती जाती है। ये शिक्षक अपने राजनीतिक विचारों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से संचारित करते रहते हैं, जिससे विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता की भावना का पोषण होता है। कुछ शिक्षक अपने अनैतिक व अन्यायपूर्ण व्यवहार से भी अनुशासनहीनता की वृद्धि करते हैं।

उपर्युक्त कारणों के निवारण करने से अनुशासन की समस्या का हल स्वयमेव हो जायेगा। इतना अवश्य है कि हम निन्दा व दण्ड के द्वारा नहीं, वरन् सराहना व सहानुभूति के द्वारा इस समस्या का अधिक स्थायी हल निकाल सकते हैं। यदि किसी अवसर पर विद्यार्थी संगठित हड़ताल करते हैं अथवा किसी अन्य प्रकार से अपना

असन्तोष प्रकट करते हैं तो यह आवश्यक है कि अधिकारीगण धमकियों, दण्ड अथवा हठ से काम न लेकर विद्यार्थियों की माँग के औचित्य को जानने की चेष्टा करें, और यदि उनकी माँगें उचित प्रतीत होती हैं तो उन्हें पूरा करें अथवा पूरा न कर सकने की अपनी वास्तविक कठिनाई को तर्कपूर्वक उन्हें समझायें। मुसीबत तो वहाँ पैदा होती है जहाँ हड़ताल करना अथवा उसे तुड़वा देना क्रमशः विद्यार्थियों व अधिकारियों की प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता है। भारतीय विद्यार्थी में ऐसा कोई मौलिक नैतिक दोष नहीं है कि सहानुभूति व सच्चे हृदय से समझाने-बुझाने पर भी वह अनुशासनहीनता का प्रदर्शन करे। अतः जब तक हम विद्यार्थियों में से अनुशासनहीनता सम्बन्धी विचारों का उन्मूलन व परिष्कार नहीं कर देते, तब तक न तो कोई भी शिक्षा-सुधार सम्भव है और न नये भारत का निर्माण ही किया जा सकता है। छात्रों की मनोदशा तथा कठिनाइयों को समझकर उनका निवारण करना अधिकारियों का प्रथम कर्तव्य है।

## 7. शिक्षा के माध्यम की समस्या

भारत में शिक्षा का माध्यम उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही शिक्षाशास्त्रियों के विवाद का कारण बना हुआ है। शताब्दी के प्रारम्भ में ही अंग्रेजी शासकों के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठा था कि शिक्षा का माध्यम अरबी व संस्कृत प्राच्य भाषाएँ रहें या देश की प्रान्तीय भाषाएँ अथवा अंग्रेजी। इस विवाद का विस्तृत विवरण इस पुस्तक में यथास्थान दिया जा चुका है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सन् 1835 में लॉर्ड मैकॉले व विलियम बैंटिक ने अंग्रेजी भाषा को माध्यम स्वीकार करके लगभग सौ वर्ष तक के लिए इस विवाद को शान्त कर दिया था। इस बीच में माध्यमिक व उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेजी ही अनिवार्य माध्यम हो गयी और देश के अधिकांश शिक्षित वर्ग उसमें अपनी योग्यता व पाण्डित्य का प्रमाण देने लगे। बीसवीं शताब्दी में प्रथम युद्ध की समाप्ति पर देश में राष्ट्रीयता की लहर बड़े वेग से उठी। उस समय यह अनुभव किया जाने लगा कि हमें अपनी शिक्षा-पद्धति को भी राष्ट्रीय स्वरूप देना होगा। उसके उपरान्त की घटनाओं ने देश में हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के महत्त्व को स्वीकार करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया। इस शताब्दी के तीसरे दशक में यह विवाद पुनः जोर पकड़ गया कि राष्ट्रभाषा क्या हो, उसकी लिपि क्या हो और देश में शिक्षा का माध्यम क्या रखा जाय? देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त इस ओर क्रियात्मक कदम उठाये गये। विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन, माध्यमिक शिक्षा कमीशन एवं केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार समिति ने इस प्रश्न का वैज्ञानिक अध्ययन किया और आवश्यक सुझाव प्रस्तुत किये। सन् 1956 में राज्य-सीमा निर्धारण कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके अनुसार भारत में विभिन्न राज्यों की सीमा का निर्धारण किया गया। इस सम्बन्ध में देश में बड़े मतभेदों ने जन्म लिया, प्रमुखतः बम्बई-गुजरात विवाद, बंगाल-बिहार विवाद तथा दक्षिण में तमिलनाद व अन्य निकटवर्ती क्षेत्रों में सीमा सम्बन्धी मतभेद पर्याप्त उग्र रहे। इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि के आधार पर भारत सरकार ने यह आवश्यक समझा कि वह अखिल भारतीय स्तर का एक भाषा

कमीशन भी नियुक्त करे। निदान इसकी नियुक्ति कर दी गयी। इस कमीशन ने शिक्षा के माध्यम के विषय में व्यावहारिक व वैज्ञानिक सुझाव प्रस्तुत किये और अगस्त 1957 में अपनी रिपोर्ट में तत्सम्बन्धी सुझावों को देश के समक्ष रखा।

अब माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी का स्थान क्षेत्रीय भाषाओं ने ले लिया है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी के स्थान पर क्रमश: इन क्षेत्रीय भाषाओं तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी का विकास हो रहा है। इस विषय में राधाकृष्णन कमीशन ने सिफारिश की है कि शिक्षा का माध्यम संस्कृत को छोड़कर किसी भारतीय भाषा को ही बनाना चाहिए। माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय-स्तर पर विद्यार्थी को तीन भाषाओं से परिचित होना चाहिए—क्षेत्रीय भाषा, राष्ट्रभाषा तथा अंग्रेजी। उच्च शिक्षा क्षेत्रीय भाषाओं तथा देवनागरी लिपि में राष्ट्रभाषा के माध्यम से ही प्रदान करनी चाहिए। इस कमीशन के विचार से हाई स्कूल तथा विश्वविद्यालय में अंग्रेजी का अध्ययन इसलिए किया जाना चाहिए कि विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली ज्ञानवृद्धि से हमारा सम्पर्क बना रहे। राष्ट्रभाषा तथा क्षेत्रीय भाषाओं के शीघ्र विकास के लिए इसने सिफारिश की कि वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों का एक 'बोर्ड' बनाया जाय, जो सम्पूर्ण देश के लिए वैज्ञानिक शब्दावली तैयार करे तथा अखिल भारतीय महत्त्व का साहित्य व पाठ्य-पुस्तकें तैयार करे। अन्य राज्यों की सरकारों को चाहिए कि माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा संस्थाओं में हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य कर दें। कमीशन की भाषा सम्बन्धी सभी सिफारिशों को केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद ने स्वीकार कर लिया और सन् 1950 में भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को भारतीय भाषाएँ मान लिया गया। संविधान में यह व्यवस्था रखी गयी कि 15 वर्ष में अर्थात् सन् 1965 तक सभी सरकारी कार्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में होने लगेगा और शिक्षा का माध्यम हिन्दी बना दिया जायेगा।

अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद ने, जिसकी स्थापना सितम्बर 1955 में की गयी थी, अपनी द्वितीय वार्षिक बैठक में जनवरी 1956 में यह निर्णय किया था कि माध्यमिक स्कूलों के छात्रों को मातृभाषा पढ़ने का अवसर या तो पृथक रूप से अथवा प्रारम्भिक भाषा के साथ मिलना चाहिए। उसके साथ अंग्रेजी व हिन्दी भी पढ़ायी जायेगी। इस प्रकार तीन भाषाओं की शिक्षा दी जायेगी। वास्तव में, माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में मुदालियर कमीशन ने तो दो भाषाओं के सीखने की सिफारिश की थी—एक मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा और दूसरी हिन्दी (उन विद्यालयों के लिए जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है) अथवा अंग्रेजी; अथवा हिन्दी के अतिरिक्त कोई अन्य आधुनिक भाषा; अथवा अंग्रेजी के अतिरिक्त कोई अन्य आधुनिक विदेशी भाषा; अथवा कोई प्राचीन भाषा। इस सिफारिश का परिणाम यह होता है कि अहिन्दी भाषा वाले क्षेत्रों के विद्यार्थी यदि हिन्दी को छोड़ते तो केवल अंग्रेजी ही पढ़ पाते अथवा अंग्रेजी को छोड़ते तो हिन्दी ही पढ़ पाते। केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों में विद्यार्थी दोनों भाषाओं के पढ़ने का अवसर पाते।

माध्यमिक परिषद ने मुदालियर कमीशन की इन सिफारिशों को दोषपूर्ण समझकर सिफारिश की कि अंग्रेजी तथा हिन्दी दोनों को ही प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। अंग्रेजी को इसलिए कि उसमें वर्तमान विश्व-साहित्य व दर्शन के अध्ययन की क्षमता है और हिन्दी को इसलिए कि वह भारत की राष्ट्रभाषा घोषित की गयी है। हिन्दी भाषी प्रान्तों के विद्यार्थियों को अंग्रेजी, हिन्दी तथा अन्य कोई आधुनिक भाषा; और अहिन्दी भाषी प्रान्तों में मातृभाषा के साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा अंग्रेजी का अध्ययन अनिवार्य करना होगा। इस प्रकार भारत के सभी भागों में माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थियों को तीन भाषाएँ पढ़नी होंगी।

**सरकारी भाषा कमीशन**—जून 1955 में श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में भारत सरकार ने देश की भाषा सम्बन्धी समस्या का अध्ययन करने के लिए एक भाषा कमीशन की नियुक्ति की थी। इसमें इक्कीस स्थायी सदस्य तथा बीस ऐसे अन्य सदस्य थे जो भारतीय संविधान की आठवीं सारणी में वर्णित भारत की अन्य सभी भाषाओं का प्रतिनिधित्व करते थे। कमीशन ने लगभग एक वर्ष तक जाँच करने के उपरान्त 270 पृष्ठों में 6 अगस्त, 1956 को राष्ट्रपति के सम्मुख अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी जो 12 अगस्त, 1957 को संसद के समक्ष रखी गयी।

शिक्षा-क्षेत्र में भाषा की समस्या के सम्बन्ध में इस कमीशन ने सिफारिश की है कि माध्यमिक स्कूलों में अंग्रेजी भाषा को प्रमुखत: एक 'बोध भाषा' (language of comprehension) के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए न कि 'साहित्यिक भाषा' (literary language) के रूप में। सामान्यत: हिन्दी को प्राथमिक स्तर के उपरान्त प्रारम्भ करके हाई स्कूल के अन्त तक पढ़ाया जा सकता है। सम्पूर्ण देश के उन भागों में, जहाँ हिन्दी मातृभाषा नहीं है, इसका अध्ययन माध्यमिक स्कूलों में अनिवार्य किया जा सकता है। यह अनिवार्यता कब प्रारम्भ की जाय, इसका निर्णय राज्य सरकारों पर छोड़ देना चाहिए। हिन्दी भाषी प्रान्तों में भारत की अन्य भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहन अवश्य मिलना चाहिए। किन्तु कमीशन का मत इस सम्बन्ध में यह है कि इन क्षेत्रों में हिन्दी के अतिरिक्त कोई भाषा या दक्षिणी भारत की भाषा को इस उद्देश्य से अनिवार्य नहीं करना है क्योंकि अहिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी अनिवार्य कर दी गयी है।

इसी प्रकार विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में कमीशन ने सिफारिश की है कि सभी विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे परीक्षाएँ हिन्दी के माध्यम से लें। जो सम्बन्धक विश्वविद्यालय (affiliating universities) हैं उन्हें चाहिए कि अपने अन्तर्गत सभी सम्बन्धित विद्यालयों में हिन्दी का माध्यम अनिवार्य कर दें।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा के विषय में, जहाँ देश के विभिन्न भागों से विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले छात्र आते हैं, हिन्दी का सर्वमान्य माध्यम स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु जहाँ सभी विद्यार्थी पूर्णत: किसी एक भाषा के क्षेत्र से ही आये हों, वहाँ उस क्षेत्र की स्थानीय भाषा शिक्षा का माध्यम होगी।

सार्वजनिक प्रतियोगी परीक्षाओं (competitive examinations) के सम्बन्ध में पर्याप्त पूर्व-सूचना के उपरान्त हिन्दी को एक वैकल्पिक माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । कमीशन के मतानुसार क्षेत्रीय भाषाएँ भी जब आवश्यक हों तो परीक्षा का माध्यम बनायी जा सकती हैं, यदि हिन्दी के समान वे भी विश्वविद्यालय में शिक्षण का माध्यम बन चुकी हों। जब तक आवश्यक समझा जाय, इन परीक्षाओं के लिए अंग्रेजी भी एक वैकल्पिक माध्यम के रूप में जारी रह सकती है ।

अखिल भारतीय महत्त्व की सेवाओं के लिए परीक्षार्थियों की जाँच करने के लिए अंग्रेजी भाषा के सम्बन्ध में एक विशेष प्रश्नपत्र दिया जा सकता है, चाहे परीक्षा का माध्यम कोई भारतीय भाषा ही हो ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सरकारी भाषा कमीशन ने भाषा तथा शिक्षा के माध्यम की समस्या का बड़ा विशद व वास्तविक अध्ययन करके अत्यन्त व्यावहारिक सुझाव दिये हैं । अब तक नियुक्त की जाने वाली सभी समितियों अथवा कमीशनों की सिफारिशों की तुलना में भाषा कमीशन के सुझाव अधिक प्रगतिशील व उपयोगी हैं । इन सुझावों ने माध्यम की समस्या का हल कर दिया है; परन्तु सच्चा हल तो तभी होगा जबकि इन सिफारिशों को कार्यान्वित किया जायेगा । जुलाई 1963 में लोकसभा ने सरकार की एक नयी भाषा-नीति को स्वीकृति दी है जिसके अनुसार सन् 1965 के उपरान्त भी हिन्दी के साथ ही साथ अंग्रेजी भी द्वितीय भाषा के रूप में अनिश्चित काल तक चलती रहेगी । ऐसी आशंका है कि सरकार की इस नीति से राष्ट्रभाषा को भारी धक्का लगेगा ।

सन् 1965 में दक्षिण भारत में अंग्रेजी को बनाये रखने तथा हिन्दी को बलपूर्वक थोपने के विरुद्ध भयंकर हिंसात्मक आन्दोलन हुआ था । तब से सरकार हिन्दी के प्रति और भी अधिक उदासीन हो गयी है । तीन भाषाएँ पढ़ाये जाने वाला फार्मूला भी राज्यों में ठीक प्रकार से कार्यान्वित नहीं हो पाया है । अब कोठारी आयोग ने शिक्षा के माध्यम के लिए प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों पर क्षेत्रीय भाषा को माना है और उच्च स्तर पर भी इन भाषाओं को माध्यम के रूप में ग्रहण करने की सिफारिश की है । हिन्दी को सम्पर्क भाषा के रूप में अन्ततः विकसित करने तथा उस समय तक अंग्रेजी को रखने की सिफारिश भी आयोग ने की है । अखिल भारतीय महत्त्व की शिक्षा संस्थाओं में उस समय तक अंग्रेजी रहे जब तक हिन्दी पूर्णतः समर्थ नहीं हो जाती । अंग्रेजी को प्रारम्भ से ही पढ़ाये जाने के पक्ष में आयोग ने सुझाव दिया है ।

## 8. तकनीकी प्रगति का शिक्षा पर प्रभाव

वर्तमान युग में भारत तकनीकी प्रगति में विश्व के कुछ उन्नत राष्ट्रों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है । इंगलैण्ड इत्यादि कुछ यूरोपीय देशों में टेकनोलॉजी का विकास उन्नीसवीं शताब्दी में ही पर्याप्ततः हो गया था । बीसवीं शताब्दी में उन देशों ने अपने तकनीकी विकास को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा दिया । किन्तु भारत में तो जो कुछ भी तकनीकी विकास हुआ है वह अपेक्षाकृत एक नवीन घटना ही है । बीसवीं शताब्दी के

प्रारम्भ से ही यहाँ इस बात पर बल दिया जा रहा था कि देश में तकनीकी शिक्षा का विकास किया जाय।

आधुनिक युग वैज्ञानिक विकास तथा टेकनोलॉजी की प्रगति का युग है। जब विज्ञान ने उन्नति की है, संसार में लोगों की चिन्तन-प्रणाली, शिक्षा-पद्धति, जीवनयापन की विधि तथा कार्य की दशाओं में महान परिवर्तन हो गया है। वैज्ञानिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप प्रगति के रहस्य दिन-प्रतिदिन मानव के समक्ष खुलते जा रहे हैं और जो बातें अब तक केवल दैवी शक्ति का प्रतीक मानी जाती थीं, उन पर मानव का अधिकार बढ़ता जा रहा है। मानव ने विज्ञान की सहायता से न केवल भौतिक शक्तियों पर विजय ही प्राप्त की है, अपितु आज वह प्रकृति का स्वामित्व प्राप्त करने की दिशा में अपना कदम उठा चुका है। उसने पृथ्वी, पाताल, सागर, पर्वत और सरिताओं पर विजय प्राप्त कर ली है और वह अब सूर्य, चन्द्र तथा विश्वमण्डल के अन्य दृश्य और अदृश्य लोकों की विजय करने चल पड़ा है। पृथ्वीमण्डल पर विज्ञान के प्रसाधनों ने आज उसके जीवन की सम्पूर्ण धारा ही बदल दी है। ऐसी स्थिति में इन सभी परिवर्तनों का प्रभाव उसकी परम्परागत शिक्षा-प्रणाली पर पड़ना नितान्त स्वाभाविक है। एक समय था जबकि भारत में विद्यार्थी केवल सादा जीवन व्यतीत करने के लिए कुछ पौराणिक ग्रन्थों का अवलोकन तथा कुछ साधारण हस्तकलाओं में प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। किन्तु आज विज्ञान व टेकनोलॉजी के विकास ने विद्यार्थियों के समक्ष जीवन की विभिन्न विशाल व सूक्ष्म समस्याएँ उपस्थित कर दी हैं। ज्यों-ज्यो जीवन में विज्ञान व टेकनोलॉजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा है, शिक्षा-प्रणाली व उसके पाठ्यक्रम में उत्तरोत्तर व तदनुरूप परिवर्तन होता जा रहा है।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, पिछले पृष्ठों में हम इस बात का अध्ययन कर चुके हैं कि किस प्रकार प्राचीन व मध्यकाल में हमारी शिक्षा-पद्धति अपेक्षाकृत एक साधारण व सरल पद्धति थी। आधुनिक युग में भी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए। हाँ, इतना अवश्य हो गया कि भारतीय शिक्षा के पाठ्यक्रम में पाश्चात्य शिक्षा का समावेश हो जाने से पाठ्य-वस्तु में परिवर्तन हो गया। किन्तु पाश्चात्य देशों में ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक विकास हुआ और वहाँ शिक्षा-क्षेत्र में पाठ्य-वस्तु तथा शिक्षण-प्रणाली के सम्बन्ध में परिवर्तन हुए, उनका प्रभाव भारतीय शिक्षा पर भी पड़ा। देश की दयनीय आर्थिक स्थिति ने लोगों का ध्यान देश के आर्थिक व औद्योगिक विकास की ओर आकर्षित किया। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही देश में राजनीतिक चेतना भी बढ़ रही थी जिसके फलस्वरूप दिन-प्रतिदिन देश के आर्थिक उद्धार की बात बल पकड़ने लगी। लोगों का यह विश्वास बढ़ने लगा कि तकनीकी व औद्योगिक शिक्षा के विकास से ही भारत निर्धनता से मुक्त हो सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में तकनीकी व व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति होने लगी।

प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त इस दिशा में प्रगति अधिक तीव्र हो गयी और द्वितीय युद्ध की समाप्ति तक भारत में असंख्य स्कूल व कॉलेज तकनीकी व व्याव-

सायिक शिक्षा के खुल गये जहाँ इंजीनियरी, कृषि, चिकित्सा तथा अन्य भौतिक विज्ञानों में शिक्षा प्रदान की जाने लगी। इस शिक्षा के फलस्वरूप देश में मशीनों का विकास हुआ, नये-नये उद्योगों की स्थापना हुई तथा देशी-विदेशी व्यापार, सिंचाई, यातायात, संवादवाहन, कृषि, स्वास्थ्य व सफाई की दशाओं का विकास हुआ। वस्तुतः इस प्रगति ने जीवन को पूर्णतः प्रभावित किया। जब-जब जीवन की आवश्यकताओं में परिवर्तन होता है, उस जीवन के लिए उपयुक्त शिक्षा में भी अनायास परिवर्तन हो जाया करता है। फलतः भारत में भी तकनीकी प्रगति ने शिक्षा के पाठ्य-पदार्थ व पाठ्यविधि में आवश्यक परिवर्तन करना आरम्भ कर दिया।

भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त तो इस दृष्टि से महान परिवर्तन हुए हैं। यद्यपि देश में तकनीकी शिक्षा की प्रगति पर सविस्तार विवेचन इस पुस्तक के एक अध्याय में स्वतन्त्र रूप से किया जा चुका है, तथापि यहाँ इतना कह देना तो आवश्यक ही होगा कि इस तकनीकी प्रगति ने वर्तमान काल में किस सीमा तक हमारी शिक्षा को प्रभावित किया है।

एक तो तकनीकी प्रगति से शिक्षा का कलेवर बदल गया। जहाँ पाठ्यक्रम में साहित्य, इतिहास, दर्शन तथा अन्य मानवशास्त्रों का प्रभुत्व था, वहाँ अब भौतिक विज्ञानों, रसायनशास्त्र, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कृषि तथा अन्य प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा का प्रभाव बढ़ने लगा है।

दूसरे, तकनीकी प्रगति के कारण लोगों के जीवन-दर्शन तथा जीवनयापन-विधि में परिवर्तन हुआ है। भौतिक सुखों की माँग बढ़ने तथा लोगों का दृष्टिकोण भौतिकवादी होने से इस बात की आवश्यकता को अधिकाधिक महसूस किया जा रहा है कि अब शिक्षा केवल शिक्षा के लिए नहीं अपितु शिक्षा जीवन के लिए है।

तीसरे, तकनीकी प्रगति ने पिछड़े वर्गों में भी शिक्षा की माँग व जिज्ञासा जागृत कर दी है। जो लोग भूमि व सम्पत्ति-विहीन एक दरिद्र जीवन बिताते थे, आज नगरों में जाकर कारखानों में काम करते हैं और वहाँ अपने बच्चों को शिक्षा देने का यत्न करते हैं। कुछ लोगों का स्तर अधिक ऊँचा हो जाने से अब वे अपने बच्चों को शिक्षा देने में समर्थ हैं। इससे साक्षरता का प्रतिशत बढ़ता है।

चौथे, तकनीकी प्रगति के कारण रेल, सड़क, वायु तथा समुद्री यातायात के साधनों में आशातीत विकास हुआ है। इस कारण देश के जो भाग अब तक सभ्यता की पहुँच से परे और दुर्गम थे, वहाँ आज शिक्षा की ज्योति जगमगा रही है। सुदूर स्थानों में स्कूल तथा कालेजों का खोला जाना सम्भव हो सका है तथा साथ ही दुर्गम स्थानों के विद्यार्थी नगरों में आकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सके हैं। देश के विभिन्न भागों से विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए सुदूर विदेशों में भी जाते हैं जिसके फलस्वरूप न केवल ज्ञान का आदान-प्रदान ही होता है, वरन् अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण का भी विकास होता है।

इनके अतिरिक्त तकनीकी तथा वैज्ञानिक प्रगति का एक बड़ा प्रभाव शिक्षा-

प्रणाली पर भी पड़ा है। दृश्य-श्रव्य साधनों, जैसे चित्रपट, रेडियो, कैमरा, दूरबीन, अणुवीक्षण यन्त्र, राडार तथा उसी प्रकार के असंख्य यन्त्रों की सहायता से शिक्षा की दुरूहता कम हो गयी है और शिक्षण-पद्धति अधिक साकार, सरल व सफल हो गयी है। प्रकृति के जो रहस्य केवल अन्धकार में परिवेष्ठित रहते थे, आज विद्यार्थियों के लिए वे साकार वास्तविकताएँ हैं। यन्त्रों की सहायता से शिक्षकों का कार्य भी अधिक सुलभ हो गया है।

इस प्रकार तकनीकी प्रगति ने भारत में शिक्षा के विकास में सहायता की है, शिक्षा को अधिक जीवनोपयोगी बनाया है, पाठ्यक्रम के आधारभूत दोषों का निवारण करने में सहायता की है और शिक्षा-पद्धति को अधिक सरल व सुगम बनाकर शिक्षा को जनसमूहों तक पहुँचाने का कार्य किया है। इधर देश में होने वाली योजनाबद्ध शैक्षिक प्रगति में विज्ञानों व टेकनोलॉजी के विकास को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही तकनीकी प्रगति व विकास के प्रभाव के अन्तर्गत भारतीय शिक्षा के स्तर, सार तथा पद्धति में आवश्यक परिवर्तन होकर वह विश्व के अन्य उन्नत राष्ट्रों की शिक्षा के समकक्ष पहुँच सकेगी।

## 9. राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों का शिक्षा पर प्रभाव

भारत एक अति प्राचीन देश है। यहाँ परम्परागत रूप से शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य तथा समाज पर रहा है। जब कभी भी देश में राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं, शिक्षा को सभी राजनीतिक शक्तियों ने अपना एक पवित्र कर्तव्य माना। यहाँ तक कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में जब देश में अंग्रेजी राज्य की स्थापना व प्रसार हुआ, उन्हें भी भारतीय शिक्षा के अपने कर्तव्य को स्वीकार करना पड़ा। जिस प्रकार मध्यकाल में देश में मुसलमानों का शासन होने से इस्लाम धर्म, दर्शन, इतिहास व अरबी और फारसी भाषाओं का शिक्षा में समावेश हुआ, उसी प्रकार अंग्रेजी राज्य की स्थापना होने पर भी अंग्रेजी भाषा व विज्ञानों, दर्शन व इतिहास का समावेश भारतीय शिक्षा में हो गया। जिस प्रकार प्राचीन आश्रमों, गुरुकुलों, टोल व अग्रहारों के स्थान पर मुसलमानों ने मकतब व मदरसों की स्थापना कर दी, उसी प्रकार अंग्रेजों ने भी परम्परागत पाठशालाओं, मकतबों तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं के स्थान पर पाश्चात्य ढंग के स्कूल व कॉलेज स्थापित कर दिये।

जैसा कि पीछे वर्णन किया जा चुका है, जब भारत में अंग्रेजी राज्य दृढ़ता से स्थापित हो गया तो उन्हें इस बात की आवश्यकता हुई कि वे अपने राज्य के संचालन के लिए कुछ भारतीय कर्मचारी तथा अधिकारी उत्पन्न करें। मैकॉले की यह इच्छा थी कि भारत में ऐसे लोग पैदा होने लगें जो केवल रंग-रूप से ही भारतीय हों अन्यथा और सभी आचार-विचारों में वे अंग्रेज हों। अपनी इसी अभिलाषा की पूर्ति के लिए उसने देश में अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य विषयों का पढ़ाया जाना भारतीय शिक्षा संस्थाओं के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दिया।

बीसवीं शताब्दी तक आते-आते भारतीय शिक्षा पूर्णतः पाश्चात्य हो गयी। किन्तु इस शिक्षा में एक महान् त्रुटि यह थी कि पाश्चात्य शिक्षा की भाँति यहाँ पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक, तकनीकी व औद्योगिक शिक्षा सम्बन्धी विषयों का अभाव रखा गया। फलतः हमारी आधुनिक शिक्षा प्रधानतः साहित्यिक व सैद्धान्तिक हो गयी। इसने ब्रिटिश शासकों की इच्छा व आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए सरकारी अधिकारियों व कर्मचारियों को तो उत्पन्न किया किन्तु देश का आर्थिक निर्माण करने के लिए प्रशिक्षित जनशक्ति को जन्म नहीं दिया। इससे निर्धन भारत औद्योगिक विकास की दौड़ में विश्व के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा पिछड़ जाने के कारण और भी अधिक निर्धन हो गया। उधर देश का सामाजिक ढाँचा भी मूलतः परम्परागत ही बना रहा। अतः इस राजनीतिक विवशता, आर्थिक विषमता और सामाजिक दुरूहता का घातक परिणाम शिक्षा के लिए यह हुआ कि भारतीय शिक्षा केवल उच्च वर्ग के कुछ मुट्ठी भर लोगों के लिए ही सुरक्षित हो गयी, जो उच्च पदों पर पहुँच कर विभिन्न प्रकार की अन्य सामाजिक व आर्थिक विषमताओं को जन्म देने लगे।

इन विषमताओं से एक महान लाभ भी हुआ। देश में राजनीतिक विवशता तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध क्रमशः एक जनमत बनने लगा। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जो राजनीतिक चेतना एक उदार भावना के रूप में जागृत हुई थी वह बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में ही एक लोकव्यापी उग्र रूप धारण करने लगी। लोकमान्य तिलक तथा गोखले जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने तत्कालीन शिक्षा की अनुपादेयता को स्वीकार किया और देश में राष्ट्रीय शिक्षा की माँग की। स्वदेशी आन्दोलन के परिणामस्वरूप लोगों की यह धारणा बढ़ने लगी कि हमें देश के आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिए विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना है। फलतः देश में औद्योगिक विकास को सम्भव करने के लिए तकनीकी शिक्षा के प्रसार पर बल दिया गया। यहाँ तक कि परम्परागत सामान्य प्रकार के अंग्रेजी स्कूलों व कालेजों का बहिष्कार करके जादवपुर इत्यादि स्थानों पर तकनीकी शिक्षा संस्थाएँ खोली गयीं। आगे चलकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में ज्यों-ज्यों राजनीतिक आन्दोलन बल पकड़ता गया, राष्ट्रीय शिक्षा की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। फलतः सरकार भी इस बात के लिए विवश हो गयी कि वह तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा की अधिकाधिक व्यवस्था करे।

राजनीतिक चेतना में वृद्धि होने का एक प्रभाव शिक्षा पर यह भी पड़ा कि देशभक्त भारतीय शिक्षा के प्रबन्ध में आगे बढ़ने लगे। अब तक वैयक्तिक क्षेत्र में ईसाई धर्म-प्रचारकों के प्रबन्ध के अन्तर्गत ही अधिकांश शिक्षा संस्थाएँ चलती थीं। किन्तु सभी प्रान्तों में भारतीय धनिक व शिक्षित वर्ग शिक्षा-प्रसार में अधिकाधिक योग देने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के नगरों तथा ग्रामों में नये कालेजों तथा स्कूलों की स्थापना होने लगी और शिक्षा का आशातीत प्रसार हुआ।

देश में अंग्रेजी शिक्षा संस्थाओं के स्थान पर कुछ राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाएँ भी खुलीं। देशभक्ति तथा समाज-सेवा की भावना का उदय होने से ऐसे समाजसेवी भी

अधिक संख्या में तैयार हो गये जो साक्षरता-आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेकर शिक्षा-विकास करने लगे । साथ ही देश के उद्योगपतियों व मिल मालिकों का ध्यान भी इस ओर गया कि देश में शिक्षा का प्रसार, विशेषत: तकनीकी व औद्योगिक शिक्षा का प्रसार उनके अपने हित में ही है । अत: उन्होंने उदार आर्थिक सहायता द्वारा शिक्षा-विकास में योग दिया ।

इस राजनीतिक व सामाजिक क्रान्ति का परिणाम यह भी हुआ कि अब जाति-भेद व छुआछूत की भावना का लोप होने से अब तक चली आने वाली तथा-कथित निम्न जातियों को भी शिक्षा उपलब्ध होने लगी । आज देश में पिछड़े वर्गों व पिछड़ी जातियों व कबाइलियों इत्यादि के लिए जो शिक्षा की विपुल सुविधाएँ उपलब्ध की जा रही हैं वे इसी राजनीतिक व सामाजिक चेतना का प्रभाव हैं । शिक्षा का आलोक फैलने से बहुत-से सामाजिक दोषों का उन्मूलन हुआ, जिनके कारण शिक्षा-प्रसार में और भी अधिक सहायता मिली । इसी चेतना का प्रभाव यह भी पड़ा कि देश में स्त्री शिक्षा का प्रचार बड़ी तेजी से होने लगा और उसके लिए सामान्य तथा विशेष शिक्षा की सुविधाओं में आशातीत विकास हो गया ।

सन् 1947 में भारत की स्वतन्त्रता देश के इतिहास में एक अत्यन्त महान, महत्त्वपूर्ण व क्रान्तिकारी राजनीतिक घटना है । इसका प्रभाव शिक्षा पर अत्यन्त ही विशाल है । अब देश की शिक्षा को अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने, उसका प्रसार व नियोजन करने का पूर्ण सुअवसर व उत्तरदायित्व भारत की राष्ट्रीय सरकार को ही उपलब्ध हुआ है । अत: अब हम अपनी भावी आर्थिक व औद्योगिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए सभी स्तरों पर सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा का नियोजन कर रहे हैं । इससे जहाँ सामाजिक विषमताओं का उन्मूलन हो रहा है वहाँ आर्थिक शोषण व विषमता के विनाश का भी शिलान्यास हो रहा है।

इसी प्रकार सामाजिक परिवर्तनों, जैसे जाति-पाँति व छुआछूत की भावना का उन्मूलन, स्त्रियों की स्वतन्त्रता, वैवाहिक नियमों में सुधार इत्यादि के कारण भी सभी वर्ग के लोगों में शिक्षा का प्रचार तीव्रता से हो रहा है ।

जहाँ तक आर्थिक परिवर्तनों का प्रश्न है, हम देखते हैं कि वर्तमान युग में कृषि तथा उद्योगों के क्रमश: मशीनीकरण के कारण देश में आर्थिक विषमताएँ टूटती जा रही हैं । एक समय था जब शिक्षा केवल जमींदारों, पूँजीपतियों तथा उच्च सरकारी अफसरों के बालकों को ही उपलब्ध होती थी । आज देश में महान आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं। जमींदारियों का उन्मूलन कर दिया गया है। कृषक अपनी भूमि का स्वामी है । अब पहले की अपेक्षा वह अपने बच्चों को शिक्षा देने की स्थिति में अधिक है । पूंजीपतियों के स्थान पर अब देश में उद्योगों तथा व्यापार के क्षेत्र में सार्वजनिक नियन्त्रण बढ़ रहा है और हम एक योजनाबद्ध समाजवादी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में अग्रसर हो चुके हैं । अत: श्रमिकों तथा निम्न वर्ग के कर्मचारियों को भी अपने बालकों को अच्छी से अच्छी शिक्षा देने के सुअवसर उपलब्ध हो रहे हैं।

साथ ही भारतीय सरकार द्वारा इस बात की घोषणा की जा चुकी है और भारतीय संविधान इस घोषणा की पूर्ति की गारण्टी देता है कि कोई भी भारतीय अपनी जाति, निर्धनता तथा किसी अन्य प्रकार की अशक्तता के कारण शिक्षा पाने के अपने मौलिक व जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित नहीं किया जायगा। यह एक अत्यन्त ही क्रान्तिकारी घोषणा है जो देश में शिक्षा के विविध विकास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत में होने वाले राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों का देश की शिक्षा के स्वरूप, पद्धति, संरचना तथा विकास पर भारी प्रभाव पड़ा है। यहाँ यह कह देना भी ठीक होगा कि जहाँ राजनीतिक प्रभाव के अन्तर्गत देश में राष्ट्रीय व तकनीकी शिक्षा के विकास को प्रगति मिली और देश के हर वर्ग में शिक्षा प्राप्त करने की एक लालसा जागृत हुई वहाँ विद्यार्थी वर्ग में अनुचित व अवांछनीय अनुशासनहीनता का भी उदय हुआ। सन् 1920 के उपरान्त जो भी राजनीतिक घटनाएँ देश में हुईं और विद्यार्थियों ने उन घटनाओं में जो कुछ भी योग दिया अथवा योग देने के लिए देश के राजनीतिक नेताओं द्वारा उन्हें उभाड़ा गया, दुर्भाग्य से वह प्रवृत्ति इतनी गहरी हो गयी कि देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त जब हम देश का आर्थिक पुनर्निर्माण करने में संलग्न हैं, यह स्वच्छन्द स्प्रवृत्ति समय-समय पर अपना भद्दा रूप देश के समक्ष प्रस्तुत करती है। खेद की बात तो यह है कि आज भी देश में ऐसे उथले व अगम्भीर राजनीतिक नेताओं का अभाव नहीं है जो विद्यार्थियों की भावनाओं का शोषण करके उन्हें अनुशासनहीनता के लिए प्रोत्साहित न करते हों।

### 10. अशक्तों की शिक्षा[21]

दुर्भाग्य से प्रत्येक देश में ऐसे बालक होते हैं जो शारीरिक, मानसिक अथवा सामाजिक दृष्टि से अशक्त, विकलांग अथवा पिछड़े हुए होते हैं, जैसे मूक, बधिर, अन्धे, विकालांग दुर्बल-मस्तिष्क तथा अन्य संवेगात्मक रोगों से पीड़ित इत्यादि। भारत में भी ऐसे अशक्त बालक व प्रौढ़ भारी संख्या में हैं। पाश्चात्य देशों में ऐसे बालकों की विशेष शिक्षा के लिए ऐसे विद्यालय खोले गये हैं जहाँ वे अपनी अशक्तता के अनुकूल शिक्षा पाते हैं। भारत में भी ऐसे अभागे लोगों की व्यवस्था होना आवश्यक है। कोठारी आयोग के अनुसार भारत में अशक्त बालकों की संख्या पच्चीस लाख आँकी गयी है जिसमें चौदह लाख से लेकर अठारह लाख तक मानसिक अशक्त (mentally retarded) बच्चे होंगे।

मानसिक दृष्टि से अशक्त बालक वे होते हैं जिनकी बुद्धि लब्धि (I. Q.) 55 से भी नीची हो। भारत में स्कूल जाने वाले बालकों में से लगभग 33% बालकों के मानसिक दृष्टि से अशक्तता के प्रमुख कारण नैसर्गिक व मानसिक दौर्बल्य, निर्धनता, गलत शिक्षा तथा असन्तुलित आहार इत्यादि होते हैं। इसके अतिरिक्त चिन्ता, दुख, मानसिक

[21] Education of the handicapped.

संघर्ष, शारीरिक दौर्बल्य, सदा बीमार रहना अथवा कोई प्रमुख शारीरिक दोष, घर का अनुपयुक्त वातावरण एवं माँ-बाप का क्रूर व असहानुभूतिपूर्ण व्यवहार भी बालक की कोमल मानसिक शक्तियों पर बुरा प्रभाव डालते हैं, जिससे वह मानसिक दृष्टि से पिछड़ जाता है। इसी प्रकार शारीरिक दृष्टि से अशक्त बालक वे होते हैं जिनकी कोई विशेष इन्द्रिय आंशिक रूप से अथवा पूरी बेकार हो गयी हो, जैसे अन्धे, गूँगे, बहरे अथवा किसी विशेष रोग, जैसे क्षय अथवा हृदय रोग से पीड़ित हों, अथवा अन्य प्रकार से विकलांग हों। सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए बालक वे होते हैं जो निर्धनता, बुरी संगत, शिक्षा के अवसरों के अभाव तथा अन्य सामाजिक बुराई के कारण बाल-अपराधी (juvenile delinquent) हो गये हों।

हमारे देश में ऐसे बालकों की शिक्षा अथवा चिकित्सा के अवसरों की कमी के कारण वे जीवन भर एक करुणाजनक तथा पशुवत् जीवन व्यतीत करते हैं और इस प्रकार जनसंख्या का एक पर्याप्त भाग जो अन्यथा देश व समाज का एक स्वस्थ व उत्पादक अंग हो सकता था, न केवल स्वयं ही दुखी व निरादृत जीवन व्यतीत करता है, अपितु वह समाज के ऊपर एक अनुत्पादक भार के रूप में जीवित रहता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व देश में अशक्तों की शिक्षा की व्यवस्था नगण्य थी। अन्धों के लिए कलकत्ता में दो बिहार में दो, बम्बई में चार, नागपुर में एक, मद्रास में नौ, पंजाब में दो तथा उत्तर प्रदेश में छह स्कूल, थे। इन स्कूलों में अन्धे बालकों को लिखना, पढ़ना तथा संगीत एवं कताई-बुनाई व टोकरी बनाना, सुतली बटना इत्यादि कुछ कार्य सिखाये जाते थे। मूक-बधिरों के लिए आसाम राज्य में एक स्कूल था जहाँ होठों से पढ़ना व लिखना एवं दर्जीगीरी सिखायी जाती थी। बंगाल में ऐसे कई स्कूल विभिन्न नगरों में ईसाई धर्म-प्रचारकों एवं अन्य धार्मिक समाज-सुधारक संस्थाओं अथवा नगरपालिकाओं ने खोल रखे थे, जिनमें आठ या दस वर्ष तक के पाठ्यक्रम में होठों से पढ़ना, सिलाई, गणित, इतिहास, छपाई, बाँस का कार्य तथा बुनाई इत्यादि विषय सम्मिलित थे। कलकत्ता में मूक-बधिरों के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए एक विभाग अलग था। इनके अतिरिक्त राँची, पटना, बम्बई, नागपुर, कोयम्बटूर, कराई-कुडी, कटक, इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर एवं दिल्ली इत्यादि नगरों में मूक-बधिरों के लिए कुछ स्कूल स्थापित थे, जहाँ सीमित संख्या में बालकों की चिकित्सा तथा शिक्षण की व्यवस्था थी।

इसी प्रकार दो-चार स्कूल क्षय-पीड़ित एवं कोढ़ी बालकों के लिए तथा मानसिक दौर्बल्य से पीड़ित व बाल-अपराधी बालकों के लिए देश में स्थित थे। बाल-अपराधियों के सुधार के लिए तथा उन्हें जीवन में किसी उद्यम के योग्य बनाने के लिए मद्रास, बंगाल, पंजाब, बिहार तथा बम्बई प्रान्तों में लगभग तेरह स्कूल थे।

सन् 1941 में अन्धों की शिक्षा के लिए एक 'ब्रैल संहिता' तैयार की गयी थी जिसके अनुसार भारत की सभी प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं में ब्रैल लिपि तैयार करने की व्यवस्था की गयी।

भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त केन्द्रीय राज्य तथा शिक्षा मन्त्रालयों का ध्यान इस भीषण समस्या की ओर गया और अशक्त बालकों की शिक्षा के लिए अधिकाधिक व्यवस्था करने पर विचार किया गया। सन् 1949 में ब्रैल लिपि को देश में अन्धे बालकों के सभी स्कूलों में ग्रहण कर लिया गया। देहरादून में भारत सरकार ने सभी प्रकार के अन्धों की शिक्षा के लिए एक विशेष स्कूल खोला। आगामी वर्षों में इस स्कूल का पर्याप्त विकास किया गया। नई दिल्ली में जो लेडी नोयस स्कूल मूक-बधिरों के लिए था, सरकार ने उसे अपने अन्तर्गत लेकर इसका पर्याप्त विकास किया। सन् 1951 में यूनेस्को के तत्वावधान में 'भारती ब्रैल' नामक लिपि का विकास किया गया। इसके लिए भारत सरकार ने केन्द्रीय ब्रैल प्रिंटिंग प्रेस भी स्थापित कर दिया है।

मानसिक रूप से पिछड़े बालकों के लिए पश्चिमी बंगाल में स्थित बोधना (झार ग्राम) स्कूल तथा बाल-भवन, कुरस्यौंग विशेषत: उल्लेखनीय हैं। भारत में कुछ ऐसे शिक्षा केन्द्रों की भी आवश्यकता है जहाँ बालक की मनोवैज्ञानिक स्थिति का अध्ययन वस्तुनिष्ठ व वैज्ञानिक विधि से किया जा सके। उत्तर प्रदेश में ब्यूरों ऑफ साइकोलॉजी, इलाहाबाद, जिसकी राज्य में पाँच अन्य शाखाएँ हैं, सन्तोषजनक कार्य कर रहा है। इस समय भारत में मानसिक दृष्टि से मन्द बच्चों की संख्या एक लाख पिचासी हजार है, जिनमें से तीस हजार केवल उत्तर प्रदेश में हैं।

जो बालक मानसिक अशक्तता से पीड़ित हैं उनके लिए विशेष स्कूल स्थापित करने चाहिए, कुशाग्र बुद्धि बालकों के साथ उन्हें नही पढ़ाना चाहिए। इसी प्रकार मूक-बधिर बालकों की भी शिक्षा-व्यवस्था पृथक होनी चाहिए। जो बालक विकलांग हैं, उन्हें खुली वायु में रखा जाय तथा उनकी कुशल चिकित्सकों से चिकित्सा कराने के साथ ही उनके लिए अनुकूल पाठ्यक्रम भी निर्धारित किया जाना चाहिए।

पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार ने अशक्त बालकों की शिक्षा में बहुत रुचि दिखायी है। इसके लिए प्रति वर्ष बजट में धन की व्यवस्था की जाती है, छात्रों को वजीफे दिये जाते हैं तथा विशेषज्ञों की सेमिनारें आयोजित की जाती हैं, जहाँ समस्या का विशेष अध्ययन किया जा सके।

सन् 1955-56 में अन्य प्रौढ़ों के लिए एक शिक्षण केन्द्र खोलने की व्यवस्था की गयी थी। इस केन्द्र में देश के सभी भागों के 150 प्रौढ़ प्रवेश पाते हैं। इन्हें किसी उद्यम में प्रशिक्षित करके नौकरी के उपयुक्त बनाया जाता है। इन लोगों को काम दिलाने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इससे सम्बन्धित एक आश्रयी कारखाना भी खोल रखा है।

सन् 1955 में सरकार ने देहरादून में केन्द्रीय ब्रैल छापेखाने के विकास की व्यवस्था की थी। यह छापाखाना देश में पहली प्रकार का है। इसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं में अन्धों के लिए साहित्य व पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन होता है। इसमें हिन्दी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी और तेलुगु भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं। इसी छापेखाने से सम्बन्धित एक छोटा कारखाना खोला गया है जहाँ अन्धों के लिए विशेष रूप से प्रयोग होने वाले अन्य उपकरण तैयार किये जाते हैं। इस कारखाने में

आजकल उभरे अक्षरों वाली स्लेटें तैयार की जाती हैं, जो अन्धों तथा उनकी संस्थाओं को बेची जाती हैं। इस छापेखाने तथा कारखाने के भावी विकास के लिए सरकार ने उदारतापूर्वक सहायता प्रदान की है।

अन्धों को उच्च व्यावसायिक शिक्षा देने के उद्देश्य से वजीफों की व्यवस्था की गयी है जो सभी राज्यों के विद्यार्थियों को दिये जाते हैं। 'दीपावली' नामक पत्रिका भी ब्रैल लिपि में अन्धों के लिए प्रकाशित की जाती है। 'भारतीय ब्रैल' में पुस्तकों के अनुलेखन के लिए सरकार अनुदान देती है। इस योजना का ध्येय है अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में बसे अन्धों के स्कूलों के लिए सहायता देने के लिए प्रादेशिक भाषाओं में पुस्तकों का अनुलेखन। इस समय देश में 115 स्कूल हैं जहाँ 5000 अन्धे बालक शिक्षा पाते हैं, जो सम्पूर्ण अन्धे बालकों की संख्या का केवल 1·0 प्रतिशत हैं। अधिकांश बच्चे प्राथमिक शिक्षा के साथ कोई दस्तकारी या संगीत सीखते हैं।

बहरे बालकों की शिक्षा के लिए भी सरकार व्यवस्था कर रही है। उन्हें विशेष रूप से तकनीकी शिक्षा देने की योजना है। इसके लिए वजीफे दिये जाते हैं। बहरों के लाभ के लिए 'भारत में बहरे' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का भी प्रकाशन किया जाता है। इस समय देश में बहरों के लिए 70 स्कूल हैं जहाँ 46 हजार बालक शिक्षा पाते हैं।

बुद्धि-अशक्त बालकों की स्थिति तथा शिक्षा-आवश्यकताओं का अध्ययन करने के लिए सन् 1956 में एक रैण्डम सैम्पुल सर्वे किया गया था जिसका उद्देश्य यह जानना था कि कितने ऐसे बुद्धि-अशक्त बालक हैं जिन्हें विशेष स्कूलों में शिक्षा देने की आवश्यकता है। इस समय भारत में केवल 27 स्कूल हैं जहाँ 200 बच्चे शिक्षा पाते हैं।

विकलांग बच्चों की शिक्षा में सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से सरकार उन्हें वजीफे देती है। इससे निर्धन माँ-बाप अपने विकलांग बच्चों को स्कूलों में भेजने के लिए प्रोत्साहित हों। इस समय देश में पच्चीस स्कूल हैं जहाँ एक हजार से ऊपर ऐसे बच्चे शिक्षा पाते हैं।

उपर्युक्त सभी कार्यों के अतिरिक्त बाल-भवनों की स्थापना, अशक्त बच्चों की संस्थाओं के लिए उपकरण, जैसे सामूहिक श्रवण-सहायक यन्त्र इत्यादि की खरीद की व्यवस्था, सामाजिक कार्यों में प्रशिक्षण और अनुसन्धान करने वाली संस्थाओं को सहायता अनुदान देना, अन्धे बच्चों के लिए आदर्श भावना का निर्माण, प्रौढ़ अन्धी महिलाओं की शिक्षा की व्यवस्था, अन्धे बच्चों के लिए किण्डरगार्टन, प्राथमिक व माध्यमिक स्कूल खोलना, अशक्तों के लिए आश्रम खोलना तथा बाल-अपराधियों के लिए कारा-गृहों में नैतिक व व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था इत्यादि अन्य प्रमुख कार्य हैं जो भारत के विभिन्न राज्यों में किये जाने प्रारम्भ हो गये हैं।

शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अशक्त लोगों को शिक्षा, प्रशिक्षण तथा रोजगार के सभी मामलों के सम्बन्ध में एक राष्ट्रीय सलाहकार परिषद सरकार को सलाह देती है। देहरादून में स्थित अन्धे लोगों का जो राष्ट्रीय केन्द्र है, वह उन्हें हर

प्रकार की संघटित सेवाएँ प्रदान करता है। इस केन्द्र पर तैयार किये गये साहित्य से एक विशाल पुस्तकालय का विकास किया जा रहा है। हैदराबाद में बहरे प्रौढ़ों के लिए एक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया है। बम्बई, दिल्ली, हैदराबाद तथा मद्रास में अशक्त लोगों को उचित रोजगार प्रदान करने वाले रोजगार के एक्सचेंज स्थापित किये गये हैं। देहरादून में नेत्रहीन बच्चों के लिए सन् 1959 में एक किण्डरगार्टन प्राथमिक स्कूल भी स्थापित किया गया था।

उपर्युक्त सभी कार्यक्रमों का केवल प्रारम्भ मात्र किया गया है। अभी भारत में अशक्तों की संख्या तथा उनकी समस्या की गम्भीरता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ये सभी प्रयत्न अत्यन्त अल्प व अपर्याप्त हैं। आशा है शीघ्र ही देश इस दृष्टि से प्रगति करेगा।

कोठारी आयोग ने यह स्वीकार किया है कि इस समय भारत में विभिन्न प्रकार से अशक्त बच्चों की शिक्षा की सुविधाएँ केवल नाममात्र को हैं। अतः उन्होंने इस शिक्षा में एक योजना प्रस्तुत की है, जिसके अनुरूप सन् 1986 तक लगभग 15% अन्धे, गूंगे तथा विकलांग बच्चों को और 5% मानसिक रूप से अशक्त बच्चों को अर्थात् कुल मिलाकर सभी प्रकार के 10% अशक्त बच्चों को शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध कर देनी चाहिए। इसके लिए प्रत्येक जिले में कम से कम एक अच्छा स्कूल अवश्य स्थापित हो जाना चाहिए। कुछ स्कूल विशेष प्रकार के अशक्त बच्चों के लिए ही हों और कुछ ऐसे स्कूल भी खोले जायँ जहाँ सामान्य प्रकार के बच्चों का एकीकरण कर दिया जाय। दूसरे प्रकार के स्कूलों के लाभ तथा हानियाँ दोनों ही हैं क्योंकि जहाँ अशक्त बच्चा सामान्य बच्चों को देखकर सुधरने की चेष्टा करेगा वहाँ उसमें हीन भावना भी आ सकती है। अतः विशेष प्रकार के स्कूलों की स्थापना ही अधिक लाभदायक है। चतुर्थ आयोजन में अशक्त बच्चों की शिक्षा पर सहानुभूतिपूर्वक अमल करने का लक्ष्य है। कोठारी आयोग ने अशक्त बालकों के स्कूलों के लिए विशिष्ट दीक्षा पाये हुए शिक्षकों को पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित करने, इस क्षेत्र में काम करने वाली सभी एजेंसियों के क्रिया-कलापों के समन्वय करने तथा सम्बन्धित समस्याओं पर अनुसन्धान करने का सुझाव दिया है। "इस शिक्षा का विकास हमें केवल मानवीय विचार के आधार पर ही नहीं वरन् उपयोगिता के आधार पर भी करना चाहिए। अशक्त बालक की उचित शिक्षा प्रायः उसे अपनी कमी को पूरा करने में सहायक होती है, और उसे एक उपयोगी नागरिक बनाती है। सामाजिक न्याय की भी यही माँग है।"[22]

## 11. स्त्री शिक्षा

भारत में स्त्री शिक्षा की समस्या बड़ी गम्भीर है। भारतीय समाज की रूढ़िगत मान्यताओं के कारण यहाँ स्त्री का स्थान सदा से हेय माना जाता रहा है। प्राचीन

[22] *Report of the Education Commission, op. cit.*, p. 123.

आर्यों ने स्त्रियों के लिए विद्याध्ययन का निषेध करके जनसंख्या के लगभग आधे अंग को सदा के लिए मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया था। समय की गति से स्त्रियों में पर्दा प्रथा के प्रचलन से उनकी दशा और भी अधिक गिर गयी। स्त्री पुरुष की दासी समझी जाने लगी। परिवार में पुरुष के आर्थिक महत्त्व तथा स्त्री की पुरुष पर निर्भरता ने भी स्त्रियों के महत्त्व पर कुठाराघात किया। यही स्थिति देश में अनन्त काल से चली आ रही है और आज के युग में, जबकि स्त्रियों के महत्त्व को पुरुषों के समकक्ष ही स्वीकार कर लिया गया है, देश की अधिकांश स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त करुणाजनक है। निरक्षरता तथा अज्ञानता पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक है। ग्रामीण क्षेत्रों में तथा नगरों के निम्न वर्ग अथवा पिछड़ी हुई जातियों में स्त्रियों में आज भी अखण्ड निरक्षरता व अज्ञान व्याप्त है। यह बात आज निर्विवाद रूप से स्वीकार की जाने लगी है कि राष्ट्र के भावी नागरिकों के चरित्र-निर्माण एवं देश के आर्थिक निर्माण तथा समाज-सुधार के क्षेत्र में स्त्रियों का बहुत उच्च स्थान है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि शिक्षा के द्वारा उन्हें इस योग्य बना दिया जाय कि वे अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए भलीभाँति समर्थ हो सकें। अतः स्त्री शिक्ष हमारी सम्पूर्ण राष्ट्रीय शिक्षा का एक अनिवार्य व महत्त्वपूर्ण अंग है।

आज देश की बदलती हुई परिस्थितियों में स्त्री शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। उनकी शिक्षा के लिए देश के विभिन्न भागों में प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के केन्द्र उत्तरोत्तर बड़ी संख्या में खोले जा रहे हैं। प्रायः नगरों में ही हमें लड़कियों के स्कूल व कॉलेज मिलते हैं। कुछ विद्यालय लड़कियों की शिक्षा के लिए पृथक से हैं तो कुछ में सहशिक्षा प्रचलित है। भारत के सभी विश्वविद्यालयों में सहशिक्षा है। बम्बई में केवल लड़कियों के लिए ही एक विश्वविद्यालय है। अब तो देश में सहस्रों की संख्या में लड़कियों के लिए पृथक शिक्षा संस्थाएँ हैं जिनमें लाखों की संख्या में लड़कियाँ अध्ययन करती हैं।

भारत में स्त्री शिक्षा के विकास का यदि ऐतिहासिक विवेचन किया जाय तो हम कह सकते हैं कि देश में अंग्रेजी शिक्षा के सूत्रपात के साथ ही अधिकारियों व शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान इस समस्या की ओर गया। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व भारत में स्त्री शिक्षा का पूर्ण अभाव था। उनके लिए कोई भी संगठित प्रयास विशेष रूप से इस दिशा में नहीं किया गया था। स्वयं एडम स्मिथ ने बंगाल में पाँच लाख की जनसंख्या में केवल चार स्त्रियों को साक्षर पाया। थोड़ी-बहुत जो कुछ भी शिक्षा बालिकाओं को उस समय दी जाती थी वह घरों पर ही उनके पिता, भाई अथवा किसी वृद्ध गुरु द्वारा दी जाती थी। बम्बई व मद्रास में उस समय जो शिक्षा सम्बन्धी सर्वेक्षण हुए थे, उनके आधार पर वहाँ स्थिति कुछ अच्छी थी। मुसलमानों में भयंकर पर्दा प्रथा तथा हिन्दुओं में बाल विवाह के प्रचलित होने के कारण उस समय स्त्री शिक्षा बहुत पिछड़ी हुई स्थिति में थी। स्त्री शिक्षा को लोग अनैतिक प्रथा समझते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने स्त्री शिक्षा के लिए कोई भी प्रयास नहीं किया। लॉर्ड विलियम बैण्टिक व डलहौजी ने उस

समय कुछ प्रयास किये । भारत में उस समय शिक्षा के क्षेत्र में ईसाई धर्म-प्रचारकों के अधीन बहुत-सी शिक्षा संस्थाएँ खुलती जा रही थीं । उन्होंने स्त्री शिक्षा को आधुनिक शिक्षा का रूप दिया । सन् 1854 में शिक्षा-घोषणापत्र में कुछ व्यवस्था लड़कियों की शिक्षा के लिए की गयी । उसके अनुसार लड़कियों के लिए स्कूल खोले गये और उन्हें उदारतापूर्वक सहायता-अनुदान दिये गये । सरकार ने स्त्री शिक्षा का भार प्रत्यक्ष रूप से अपने ऊपर ले लिया । सन् 1882 तक देश में एक लाख सत्ताईस हजार लड़कियाँ शिक्षा पाने लगीं । उनके विद्यालयों की संख्या लगभग ढाई हजार हो गयी ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लॉर्ड कर्जन ने भी स्त्री शिक्षा में रुचि दिखायी। उसने योग्य अध्यापिकाओं की नियुक्ति, आदर्श नारी विद्यालयों की स्थापना तथा उनके लिए अधिक आर्थिक सहायता की व्यवस्था की । उसके उपरान्त कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने सिफारिश की कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में स्त्री शिक्षा के लिए एक'स्पेशल बोर्ड' की स्थापना की जाय । कमीशन ने लड़कियों के लिए विशेष पाठ्य-क्रम प्रारम्भ करने की भी सिफारिश की । सन् 1905-21 के दौरान लड़कियों की शिक्षा ने पर्याप्त प्रगति की । उस समय स्त्री शिक्षा के लिए आदर्श स्थापित किये गये थे—लड़कियों की शिक्षा व्यावहारिक व लड़कों की शिक्षा से पृथक हो । उनकी स्वास्थ्य-रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय । स्त्री शिक्षा के निरीक्षण तथा शिक्षण के लिए शिक्षित नारियों को अधिक से अधिक अवसर दिया जाय । वास्तव में, उस समय अध्यापिकाओं का मिलना एक बड़ी कठिनाई थी, जो स्त्री शिक्षा के प्रसार में बाधक थी । स्त्रियों के मार्ग में आने वाली सामाजिक रूढ़ियों के लिए भी लोगों में विचार-परिवर्तन होने लगा था ।

सन् 1921 के उपरान्त तो देश में महान् राजनीतिक व सामाजिक चेतना उत्पन्न हो गयी थी । उनका सामाजिक स्तर ऊँचा उठने लगा था तथा देश के राजनीतिक जीवन में भी उनके महत्त्व को स्वीकार किया जाने लगा था । देश की बहुत-सी नारियाँ समाज-सेवा व राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़कर काम करने लगी थीं । इन कार्यों से नारी शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन मिला । कालेजों व विश्वविद्यालयों में उनकी संख्या में बहुत वृद्धि हो गयी । सन् 1926 में अखिल भारतीय स्त्री सम्मेलन की स्थापना हो गयी थी जिसने अपना प्रथम शिक्षा सम्मेलन सन् 1927 में बुलाया । इस युग में महात्मा गांधी ने भी स्त्री शिक्षा के प्रसार व सुधार की आवाज उठायी । उन्होंने कहा कि "समाज में पुरुष व नारी का समान स्थान है ।" उन्होंने पर्दा प्रथा, विधवा प्रथा, देवदासी प्रथा, वेश्यावृत्ति आदि का विरोध करते हुए इस बात का प्रचार किया कि जब तक स्त्री को सामाजिक दासता से मुक्त नहीं किया जायगा, उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है । इसके लिए उन्होंने स्त्री शिक्षा के प्रसार पर बहुत बल दिया । इससे भी भारत की नारियों को शिक्षा प्राप्त करके समाज में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली । फलत: सन् 1937 तक विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में लड़कियों की संख्या बहुत बढ़ गयी। यह प्रगति वास्तव में बड़ी सन्तोषजनक थी ।

इसके उपरान्त देश तथा विभिन्न प्रान्तों में नियुक्त होने वाले लगभग सभी शिक्षा कमीशनों व समितियों ने स्त्री शिक्षा पर अपने विचार प्रकट किये और सुधार के उपाय बताये। सन् 1937 के उपरान्त भी यही प्रगति जारी रही। इस काल में उच्च शिक्षा का बहुत विकास हुआ। स्त्रियों के लिए अस्पतालों, स्कूलों व दफ्तरों में बहुत-सी जगहें मिलने लगीं। अब तक चली आने वाली स्त्री शिक्षा के विरुद्ध जो लोगों की उपेक्षा की भावना थी, वह बहुत कुछ दूर हो गयी। सन् 1947 तक देश में सभी प्रकार के स्त्री शिक्षा सम्बन्धी विशेष स्कूलों की संख्या 17,485 हो गयी। इनके अतिरिक्त कुछ कॉलेज व विश्वविद्यालयों में सहशिक्षा प्रचलित थी जहाँ लड़कियाँ लड़कों के साथ शिक्षा पाती थीं।

भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त तो इस क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई है। राधाकृष्णन कमीशन, माध्यमिक शिक्षा कमीशन तथा पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर भारत में स्त्री शिक्षा की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की जा रही है। इन सभी प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ है कि देश में स्त्री शिक्षा का आकार पर्याप्त बढ़ गया है।

इतना होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि भारत में स्त्री शिक्षा का विकास अपने चरम को पहुँच गया है। वास्तव में, अभी विकास के लिए बहुत गुँजाइश है। वर्तमान स्त्री शिक्षा की समस्याएँ ये हैं कि एक तो प्रशिक्षित अध्यापिकाओं का अभाव है। दूसरे, उनके पाठ्यक्रम उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं हैं। आँख मींचकर लड़कों के पाठ्यक्रम की नकल लड़कियों के लिए भी की जा रही है। तीसरे, अभी सामाजिक चेतना देश में इतनी नहीं बढ़ी है कि स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक पुरुषों से मिल सकें अथवा समाज में जाते हुए अपने आपको पूर्णतः सुरक्षित समझें। इनके अतिरिक्त माँ-बाप की निर्धनता व निरक्षरता भी उनकी शिक्षा के मार्ग में बाधक है। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री शिक्षा की स्थिति बड़ी दयनीय और लगभग पूर्ववत् ही है। कुछ बड़े गाँवों में उनकी प्राथमिक शिक्षा के लिए पाठशालाएँ खुल गयी हैं जिनका प्रबन्ध, शिक्षण व निरीक्षण बहुधा असन्तोषजनक है। अन्यथा वहाँ माध्यमिक व उच्च शिक्षा एवं व्यवसायिक शिक्षा की कोई भी व्यवस्था नहीं है। ग्रामीण लड़के तो नगरों में उच्च शिक्षा के लिए आ सकते हैं परन्तु लड़कियों के लिए यह सम्भव नहीं। भारतीय जनसमूहों की दयनीय निर्धनता भी इस मार्ग में बहुत बाधक है। जब उनके लड़के ही अशिक्षित रह जाते हैं तो फिर लड़कियों की शिक्षा की वे कल्पना तक नहीं कर पाते।

अतः यह आवश्यक है कि स्त्री शिक्षा की प्रगति के मार्ग के इन सभी रोड़ों को हटाया जाय। इसके लिए पर्याप्त संख्या में अध्यापिकाओं को प्रशिक्षण देकर उन्हें विभिन्न स्कूलों में भेजा जाय। ग्रामीण क्षेत्रों में लड़कियों की माध्यमिक व उच्च शिक्षा के लिए शिक्षालय खोले जायँ। वहाँ उनकी अध्यापिकाओं के सुख तथा सम्मानपूर्वक रहने की व्यवस्था की जाय। बालिकाओं को आगे पढ़ने के लिए अधिक छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की जाय। उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कियों को सरकारी पदों पर नियुक्त होने

की पुरुषों के समान ही सुविधा दी जाय । लड़कियों के स्कूलों के प्रबन्ध तथा निरीक्षण में सुधार करके उनकी कार्यक्षमता बढ़ायी जाय तथा उन्हें सरकार की ओर से अधिक उदारतापूर्वक अनुदान दिया जाय। अन्त में, सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव है लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन तथा उन सामाजिक रूढ़ियों का उन्मूलन जो हमने भारतीय नारी के मार्ग में उत्पन्न कर रखी हैं और जिनके कारण युग-युग से उनका सामाजिक व मानसिक पतन होता आया है ।[23] इन सभी सुधारों के होने पर हम विश्वास कर सकते हैं कि देश में स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में भारी सफलता मिलेगी । भारत सरकार इन सभी बातों की ओर यथोचित ध्यान दे रही है । जुलाई 1959 से देश में स्त्री शिक्षा परिषद की स्थापना की जा चुकी है, जो स्त्री शिक्षा सम्बन्धी सभी समस्याओं पर अध्ययन करके उनके निवारण के उपाय करेगी ।

गत डेढ़ सौ वर्षों में भारत में स्त्री शिक्षा की सुविधाओं में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है । उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लड़कियों की शिक्षा के लिए मुश्किल से ही कोई व्यवस्था थी । सन् 1901 में स्त्रियों में केवल 0·8 प्रतिशत साक्षरता थी । उस समय प्राथमिक स्कूलों में प्रति सौ लड़कों के पीछे बारह लड़कियाँ तथा माध्यमिक स्कूलों में दो लड़कियाँ थीं । उच्च शिक्षा में केवल 264 छात्र थे जिनमें 76 लड़कियाँ मेडीकल कालेजों और ग्यारह लड़कियाँ शिक्षा के कालेजों में थीं। किन्तु शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर अब तक स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में भारी प्रगति हो चुकी है । वस्तुत: लड़कियों की शिक्षा-सुविधाओं में वृद्धि की दर लड़कों की शिक्षा की अपेक्षा अधिक तीव्र रही है । लोअर प्रायमरी स्तर पर लड़कियों की प्रवेश-संख्या सन् 1901 में प्रति सौ लड़कों के पीछे बारह से बढ़कर सन् 1950 में उन्तालीस तथा सन् 1965 में पचपन हो गयी है । माध्यमिक स्तर पर ये संख्याएँ सन् 1901 में चार, सन् 1950 में पन्द्रह तथा 1965 में छब्बीस हैं । उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उनकी संख्या सन् 1901 में 264 से बढ़कर सन् 1950 में चालीस हजार और 1965 में 2·4 लाख हो गयी है । मिश्रित स्कूलों में लड़कों के साथ लड़कियों का प्रतिशत दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है ।

भारत के नियोजन के प्रसंग में यह बात अनुभव में आयी है कि विभिन्न कार्यों को सम्पादित करने के लिए देश में शिक्षित स्त्रियों का अभाव है। अत: यह आवश्यक है कि उनके लिए कालेजों एवं विश्वविद्यालयों में अधिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय। सन् 1955-56 में भारतीय विश्वविद्यालयों में लड़कियों का प्रतिशत सम्पूर्ण

[23] *Cf.* "But we shall not be, educated till the average woman of India is educated, and this hangs upon the wisdom and department of the educated who are not average women. Upon the dignity and competence with which their day-to-day work is executed will depend the speed of the revolution in women's education.........upon their determination, compactness, good sense and efficiency rests the future of the education of women in India."—Muriel Wasi : *Women of India*, Publications Jan. 1958, Division, p. 160.

विद्यार्थियों का तेरह प्रतिशत था। सन् 1960-61 में यह सत्रह प्रतिशत और 1965-66 में यह इक्कीस प्रतिशत हो गया। योजना-काल में स्त्री शिक्षा को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने के साथ ही साथ उनके लिए गृह-विज्ञान, संगीत, चित्रकला, नर्सिंग इत्यादि के अध्ययन को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं।

अब तक कई विशिष्ट समितियों ने स्त्री शिक्षा पर अपने सुझाव दिये हैं। इनमें 'स्त्री शिक्षा पर राष्ट्रीय समिति' ने विचार प्रकट किया है, जिससे कोठारी शिक्षा आयोग भी पूर्णतः सहमत है कि इस शिक्षा के दो पहलू हैं—एक तो 'विशेष' कार्यक्रमों का विकास और दूसरे स्त्री शिक्षा का सभी स्तरों पर सामान्य शिक्षा के साथ में विकास। विशेष शिक्षा के लिए सुझाव दिया गया है कि कुछ समय तक शिक्षा-प्रणाली में स्त्री शिक्षा को प्राथमिकता देनी चाहिए और पुरुषों तथा स्त्रियों की शिक्षा-सुविधाओं के बीच की खाई को पूरा करना चाहिए। इसके लिए विशेष कार्यक्रम बनने चाहिए और वित्तीय व्यवस्था में इन्हें प्राथमिकता दी जानी चाहिए। केन्द्र तथा राज्य-स्तरों पर स्त्री शिक्षा की देखभाल करने के लिए विशेष मशीनरी होनी चाहिए।

किन्तु कोठारी आयोग का मत है कि ये विशेष कार्यक्रम अस्थायी होंगे और आगे चलकर पुरुषों और स्त्रियों की सुविधाओं की खाई की पूर्ति होने के उपरान्त स्त्री शिक्षा का पुरुषों की शिक्षा के साथ ही एकीकरण कर देना चाहिए। देश की सामाजिक तथा आर्थिक क्रियाओं में महिलाओं का महत्त्व काफी बढ़ गया है तथा भविष्य में इससे भी अधिक बढ़ने की सम्भावना है। अतः उनके प्रशिक्षण एवं रोजगार के प्रश्न पर अधिक ध्यान देना आवश्यक होगा।

इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण समस्या तो यह है कि स्त्रियों को इस योग्य बनाया जाय कि वे गृह-कार्यों के साथ ही साथ कुछ उद्यम भी कर सकें। सन् 1961 की जनगणना के अनुसार भारत में चौबीस वर्ष की आयु तक की दस लाख से भी अधिक लड़कियाँ हैं जो मैट्रिक पास हैं और घरों में केवल गृहणियों की तरह जुटी हुई हैं। आगे इनकी संख्या और भी अधिक बढ़ती जा रही है। अतः यह आवश्यक है कि ऐसी महिलाओं को राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में अधिकाधिक सम्मिलित होने का अवसर पार्ट-टाइम रोजगार के रूप में अथवा अवैतनिक रूप में दिया जाय। इसके अतिरिक्त पूर्ण-समय के रोजगार की सुविधाएँ भी इन्हें अधिकाधिक प्रदान की जायँ। इन प्रयत्नों का उनकी शिक्षा पाने की जिज्ञासा तथा प्रयासों पर अत्यन्त प्रेरणादायक प्रभाव पड़ेगा और इस प्रकार स्त्री शिक्षा का प्रसार होगा।

**उपसंहार**

इस प्रकार, संक्षेप में भारतीय शिक्षा की कुछ प्रमुख समस्याओं का विवेचन यहाँ किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ और समस्याएँ भी हैं, जैसे नर्सरी स्कूल, वित्त की समस्या, शिक्षकों की दशा, शिक्षा में नियोजन की समस्या, औद्योगिक व व्यावसायिक शिक्षा तथा सामाजिक शिक्षा इत्यादि। इन समस्याओं की पुस्तक में विस्तार-पूर्वक आलोचना की गयी है। नियोजन, औद्योगिक शिक्षा तथा सामाजिक शिक्षा पर

तो स्वतन्त्र अध्यायों में विचार किया गया है, अतः इनका यहाँ विशेष रूप से विवरण देना केवल पुनरावृत्ति मात्र होगा। वैसे अन्य समस्याओं की व्याख्या करते समय प्रसंग-वश उन पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश यहाँ डाला गया है। देश की शिक्षा में निरन्तर गुण तथा आकार में वृद्धि होती जा रही है और भविष्य के लिए अच्छी योजनाएँ तैयार हो रही हैं, किन्तु शिक्षा के प्रसार के साथ ही साथ हमें उन समस्याओं को भी हल करना होगा जो प्रगति के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रही हैं। यद्यपि हमें देश में करोड़ों की जनसंख्या को शिक्षित करना व उनके जीवन को किसी आर्थिक व लाभकारी उद्यम के लिए तैयार करना है, तथापि आकार व प्रसार के साथ ही साथ हमें शिक्षा की क्वालिटी में भी सुधार करना होगा। बिना इसके शिक्षा-प्राप्ति का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा। भारतीय शिक्षा-पद्धति में हमें देश की आवश्यकताओं व आकांक्षाओं के अनुरूप एक मोड़ देना होगा जिससे भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि के आधार पर पाश्चात्य व पूर्वी दोनों प्रकार की विचारधाराओं का समावेश हमारी शिक्षा-पद्धति में हो जाय। समस्याओं का अध्ययन सूक्ष्म वैज्ञानिक व व्यावहारिक दृष्टि से करके हमें उनके लिए उपयुक्त हल निकालने हैं; तभी हमारी शिक्षा-पद्धति में व्याप्त दोषों का निवारण होकर निर्बाध प्रगति हो सकेगी। भारत में इन दिशाओं में चिन्तन व विचार-विनिमय प्रारम्भ कर दिये गये हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा का भविष्य अवश्य ही उज्ज्वल है, केवल समय की बात है।

## सारांश

**भारतीय शिक्षा के प्रसार के साथ ही साथ बहुत-सी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। शिक्षा के निर्बाध विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन सभी समस्याओं को हल किया जाय जो शिक्षा के मार्ग में बाधक हैं। शिक्षा-क्षेत्र में प्रमुख समस्याएँ हैं—शिक्षा का उद्देश्य, पाठ्यक्रम की विभिन्नता तथा बहुमुखी विद्यालय, परीक्षा प्रणाली, अपव्यय एवं अवरोधन, शिक्षा का नियन्त्रण व प्रबन्ध, अनुशासन की समस्या, शिक्षा के माध्यम की समस्या, तकनीकी प्रगति का शिक्षा पर प्रभाव, राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों का शिक्षा पर प्रभाव, अशक्तों की शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा इत्यादि।**

(1) **भारत में अब तक आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य कुछ सरकारी कर्मचारी उत्पन्न करना रहा था। किन्तु अब युग की माँग के साथ ही साथ इस उद्देश्य में परि· वर्तन हो रहा है। शिक्षा जीवन के लिए तैयार करती है। उसका उद्देश्य बालक के शरीर, मन और आत्मा का विकास करना है। भारतीय शिक्षा का यही उद्देश्य होना चाहिए।**

(2) **हमारा पाठ्यक्रम अब तक अधिकांश में एकांगी रहा है, अर्थात् उसमें साहित्यिक विषयों का प्राधान्य रहा है। अब देश आर्थिक विकास के द्वार पर खड़ा है, अतः हमें ऐसे युवकों की आवश्यकता है जो देश की विभिन्न आर्थिक निर्माण व विकास योजनाओं में हाथ बँटा सकें। इसके लिए हमें स्कूलों तथा कालेजों में तकनीकी व व्यावसायिक विषयों को अधिक संख्या में सम्मिलित करके पाठ्यक्रम को बहुमुखी बनाना होगा। इधर सरकार ने निर्णय किया है कि देश के सभी माध्यमिक विद्यालयों को**

क्रमशः बहुमुखी विद्यालय बना दिया जाय। पाठ्यक्रम में जीवनोपयोगी विषयों का समावेश होना आवश्यक है।

(3) भारत में परीक्षा-प्रणाली भी अधिकांश में दोषपूर्ण रही है। शिक्षा के पुस्तक प्रधान होने के कारण परीक्षाएँ भी निबन्धात्मक हो गयीं। परीक्षा की जो विधि भारत में काम में लायी जा रही है उससे विद्यार्थी की वास्तविक योग्यता की जाँच नहीं हो पाती। अतः यह आवश्यक है कि परीक्षा में अधिकांश आन्तरिक शिक्षकों को परीक्षक नियुक्त किया जाय, वर्ष भर के कार्य को देखकर विद्यार्थी को तरक्की दी जाय और वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं की व्यवस्था की जाय। अपव्यय व अवरोधन को रोकने के लिए भी यह आवश्यक है कि परीक्षा-प्रणाली में सुधार किया जाय।

(4) शिक्षा का नियन्त्रण व प्रबन्ध भी एक दुरूह समस्या है। भारत में प्रबन्ध समितियों के अन्दर इतने दोषों का समावेश हो गया है कि अविलम्ब राजकीय हस्त-क्षेप की आवश्यकता है। प्राथमिक शिक्षा पूर्णतः स्थानीय बोर्डों के अधिकार में रहनी चाहिए। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में क्रमशः राजकीय नियन्त्रण आरम्भ करके राष्ट्रीय-करण करना चाहिए और जब तक ऐसा न हो सके, वर्तमान प्रबन्ध के दोषों का उन्मू-लन करना चाहिए। विश्वविद्यालयों को अधिकाधिक आन्तरिक व साहित्यिक स्वायत्तता प्रदान करनी चाहिए, किन्तु कुप्रबन्ध की स्थिति में राजकीय हस्तक्षेप आवश्यक है।

(5) अनुशासन की समस्या आज भारतीय शिक्षा विशारदों के लिए एक चुनौती बनी हुई है। अनुशासनहीनता के विभिन्न कारण हैं। अधिकांश में अधिकारियों में दूरदर्शिता, सहानुभूति तथा कौशल का अभाव, विद्यार्थियों के कल्याण व सुविधाओं के सम्बन्ध में लापरवाही, कक्षाओं, पुस्तकालयों तथा अनुसन्धानशालाओं का अभाव, दोष-पूर्ण परीक्षा-प्रणाली एवं राजनीतिक दलों द्वारा विद्यार्थियों को भड़काया जाना इत्यादि अनुशासनहीनता के प्रमुख कारण हैं। इन सभी कारणों को मूल रूप से हल करने पर ही समस्या का समाधान हो सकता है।

(6) जहाँ तक शिक्षा के माध्यम की समस्या का प्रश्न है, यह अत्यन्त विवा-दास्पद बनी हुई है। अंग्रेजी के माध्यम को माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से हटा दिया गया है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र से यह क्रमशः हटायी जा रही है। माध्यम के प्रश्न को लेकर भारत सरकार ने देश में पर्याप्त चर्चा चलायी है। सभी कमीशन इस बात पर एकमत हैं कि अंग्रेजी को माध्यम से क्रमशः हटाकर क्षेत्रीय भाषाओं तथा राष्ट्रभाषा को प्रोत्साहन देना चाहिए। जब तक ये भाषाएँ पूर्णतः अंग्रेजी का स्थान नहीं ले लेतीं, अंग्रेजी माध्यम को उच्च स्तर पर, विशेषतः विज्ञान के अध्ययन के लिए बना रहने दिया जाय।

(7) देश में ज्यों-ज्यों तकनीकी प्रगति गत एक शताब्दी में हुई है, त्यों-त्यों उससे देश में शिक्षा पर भारी प्रभाव पड़ा है। आवागमन व सम्वादवाहन के साधनों का विकास होने से अब शिक्षा सुदूर गाँवों में भी पहुँच गयी। देश में शिक्षा का रूप अधिक से अधिक व्यावसायिक होता जा रहा है तथा जीवनोपयोगी विषयों का पाठ्य-

क्रम में समावेश हो रहा है। निर्धन लोगों को भी शिक्षा उपलब्ध हो रही है। विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक अनुसन्धानों व यन्त्रों के आविष्कार के कारण शिक्षा-प्रणाली की दुरूहता कम होकर वह सुगम, सरल तथा जनसाधारण को सुलभ हो रही है।

(8) राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों का भी देश की शिक्षा पर भारी प्रभाव पड़ा है। राजनीतिक आन्दोलनों ने देश में राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति के प्राण फूंक दिये। इससे लोगों में शिक्षा-प्रसार हुआ और बहुत-से देशभक्त धनिकों ने शिक्षा-प्रचार के लिए उदारतापूर्वक दान दिये। हर वर्ग व जाति के स्त्री-पुरुषों में शिक्षा के लिए जिज्ञासा उत्पन्न होने से साक्षरता का प्रतिशत बढ़ा। सामाजिक जाति-पाँति के बन्धन शिथिल होने, स्त्रियों को स्वतन्त्रता मिलने तथा इसी प्रकार के अन्य सामाजिक परिवर्तनों से भी शिक्षा का प्रसार हुआ। आर्थिक परिवर्तनों में औद्योगीकरण, देशी व विदेशी व्यापार के विस्तार, भूमि-सुधार इत्यादि के कारण जनसमूह के जीवन-स्तर में उत्थान हुआ है, अतः सभी वर्गों में शिक्षा की माँग बढ़ गयी है। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप पाठ्यक्रम तथा शिक्षा-पद्धति पर भी प्रभाव पड़ा है।

(9) अशक्तों तथा विकलांग बालकों की शिक्षा के लिए देश में बहुत ही अपर्याप्त व्यवस्था है। देश में ऐसे बालकों की कमी नहीं जो अन्धे, बहरे, गूंगे, विकलांग अथवा दुर्बल-मस्तिष्क हैं। सामान्यतः ऐसे बालक बिना शिक्षा के ही रह जाते हैं। कुछ पाश्चात्य देशों में इनकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था है। भारत में भी इसका सूत्रपात हो गया है। गत वर्षों में सरकार का ध्यान इस ओर गया है और इनकी शिक्षा की अधिकाधिक व्यवस्था करने का प्रयास किया जा रहा है।

(10) स्त्री शिक्षा का अति प्राचीन काल में देश में पर्याप्त प्रचार था। समय की गति के साथ इसकी अवहेलना हो गयी। सामाजिक कुरीतियों के कारण स्त्री का दर्जा गिर गया और वह शिक्षा के लिए अयोग्य समझी जाने लगी। किन्तु आधुनिक शिक्षा के प्रभाव तथा अन्य राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव के अन्तर्गत नारी का समाज में स्थान उठने से स्त्री शिक्षा का भी देश में प्रचार हो रहा है। सरकार स्त्री शिक्षा के प्रसार के लिए भरसक प्रयत्न कर रही है। स्थान-स्थान पर लड़कियों के लिए स्कूल व कॉलेज खोले जा रहे हैं, जहाँ उनके लिए सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा का प्रबन्ध है। विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा के अन्य केन्द्रों में सह-शिक्षा की व्यवस्था है। अब इस बात की आवश्यकता है कि इस दिशा में प्रगति में बाधा पहुँचाने वाले कारणों को दूर किया जाय और स्त्री शिक्षा को सर्वसाधारण के लिए सुलभ तथा सम्भव बनाया जाय।

# 26

# भारतीय शिक्षा में कुछ परीक्षण

**भूमिका**

आर्थिक शोषण से मुक्त होने के लिए जहाँ भारतीयों ने स्वदेशी आन्दोलन तथा देश के उद्योग-धन्धों के विकास के कार्यक्रम को अपनाया, सामाजिक विषमताओं का उन्मूलन करने के लिए जातिभेद-उन्मूलन, अछूतोद्धार जैसे आन्दोलनों का सूत्रपात किया, वहाँ अंग्रेजों की मानसिक दासता से मुक्त होने के लिए उन्होंने देश में अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का बहिष्कार किया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में शिक्षा-क्षेत्र में परीक्षण किये गये और राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की गयी। प्रसंगवश इस पुस्तक में ऐसी प्रमुख सस्थाओं का उल्लेख संक्षेप में किया जा चुका है। यहाँ हम उनमें से कुछ का थोड़ा विस्तार से वर्णन करेंगे। इन परीक्षणों में प्रमुख हैं वर्धा योजना (बेसिक शिक्षा); विश्वभारती, शान्तिनिकेतन; अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी; जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली; वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान तथा गुरुकुल काँगड़ी इत्यादि। इनमें से वर्धा शिक्षा योजना का सविस्तार वर्णन पीछे एक स्वतन्त्र अध्याय में किया जा चुका है, अतः यहाँ उसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। शेष का वर्णन करना उपयोगी होगा।

## 1. विश्वभारती

भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में यह परीक्षण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। इसकी स्थापना महर्षि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कलकत्ता से लगभग सौ मील की दूरी पर बोलपुर नामक स्थान में की। प्रकृति के उन्मुक्त व स्वच्छ वातावरण में इस शिक्षा केन्द्र की स्थापना टैगोर ने एक प्रकार से वर्तमान शिक्षा-पद्धति की दुरूहता, अवास्तविकता तथा अनुपयोगिता के प्रति एक विद्रोह-भावना के फलस्वरूप की थी।

अपने प्रारम्भिक विद्यार्थी जीवन में ही रवीन्द्रनाथ टैगोर ने वर्तमान शिक्षा-पद्धति की दुरूहता का अनुभव कर लिया था। उनका विश्वास हो गया था कि इस शिक्षा से बालक की अधिकांश नैसर्गिक शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। उसके शरीर, मन और आत्मा का सन्तुलित विकास नहीं हो पाता और वह जीवन व लोक तथा प्रकृति की वास्तविकताओं से बहुत दूर भटक जाता है। टैगोर कृत्रिम वातावरण के

विरोधी थे। वे स्वयं उच्च कोटि के कवि, दार्शनिक, कलाकार व शिक्षाशास्त्री थे। वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता में विश्वास करते थे। उनका कथन था कि बालक को अपने सर्वांगीण विकास के लिए समुचित व स्वच्छन्द वातावरण मिलना चाहिए। वे उस अस्वाभाविक नियन्त्रण के विरोधी थे जिसमें बालक की नैसर्गिक प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है।

टैगोर प्रकृति के अनन्य पुजारी थे। प्रकृति के कण-कण में उन्हें सृष्टिकर्ता की ही झलक दृष्टिगोचर होती थी। वे विश्व-मानवता के भी मानने वाले थे। जाति, वर्ग, राष्ट्रीयता इत्यादि के भेदों को वे कृत्रिम व अनावश्यक मानते थे। उनका विश्वास था कि प्रकृति के माध्यम से मनुष्य निरन्तर सत्य के दर्शन कर सकता है। प्रकृति के तादात्म्य के द्वारा ही वे ब्रह्म से तादात्म्य को सम्भव समझते थे। मानवों तथा राष्ट्रों में विभिन्नता होते हुए भी एक बुनियादी एकरूपता है और आध्यात्मिक स्तर पर सभी मानव, सभी संस्कृतियाँ एवं सभी दर्शन एक हैं, ऐसा टैगोर का विचार था। वे शिक्षा, साधन एवं कला के द्वारा 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की अनुभूति करने में विश्वास रखते थे।

इसी शैक्षिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि को लेकर टैगोर ने शिक्षा के क्षेत्र में एक परीक्षण करने का प्रयास किया। वे केवल दस विद्यार्थियों को लेकर परीक्षण करने निकल पड़े। उन्होंने बोलपुर में एक पाठशाला स्थापित की और तन-मन-धन से अपने शैक्षिक व दार्शनिक विचारों को मूर्त रूप देने में रत हो गये। इस स्थान को टैगोर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने ईश्वर-आराधना के लिए चुना था। टैगोर ने भी अपने महान परीक्षण के लिए इसी स्थान को चुना और इसका नाम 'शान्तिनिकेतन' रख दिया। सन् 1922 तक इसकी ख्याति संसार के विभिन्न भागों में फैल गयी और यह प्राच्य व पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति व सभ्यता का एक मिलन-केन्द्र बन गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त राष्ट्रीय सरकार ने इसे केन्द्रीय विश्वविद्यालय की सूची में सम्मिलित करके इसके विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया, किन्तु इसका प्रबन्ध व प्रशासन स्वायत्त-सत्ता प्राप्त व राजकीय हस्तक्षेप से मुक्त है।

विश्वभारती विश्वविद्यालय की स्थापना के समय इसके निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किये गये :

(1) सत्य के विभिन्न रूपों की अनुभूति के उद्देश्य से मानव के मस्तिष्क का अध्ययन करना;

(2) पूर्वी देशों की विभिन्न संस्कृति में उनकी आन्तरिक एकता के आधार पर धैर्यपूर्वक अध्ययन व अनुसन्धान करके पारस्परिक निकट सम्बन्ध स्थापित करना;

(3) एशिया में व्याप्त इसी जीवन-दर्शन के ऐक्य के आधार पर पाश्चात्य देशों से सम्पर्क बढ़ाना;

(4) अध्ययन की एकता के आधार पर प्राच्य-पाश्चात्य सद्भावना में वृद्धि करके अन्ततोगत्वा दोनों गोलार्द्धों में विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए मुक्त विचार-विनिमय करना; और

(5) इन्हीं आदर्शों को दृष्टिगत रखते हुए शान्तिनिकेतन में ऐसे सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना करना जहाँ धर्म, साहित्य, इतिहास, विज्ञान तथा हिन्दू, बौद्ध, जैन, मुसलमान, सिख, ईसाई और अन्य सभ्यताओं की कला में अध्ययन व अनुसन्धान हो सके, जहाँ इन कलाओं का पाश्चात्य कलाओं से मेल स्थापित किया जा सके, जहाँ आध्यात्मिक अनुभूति के उपयुक्त सात्विक बाह्य वातावरण में रहकर विभिन्न विचारकों व दार्शनिकों के बीच एकीकरण स्थापित किया जा सके तथा जहाँ प्राच्य व पाश्चात्य देशों के बीच की जाति, वर्ग, राष्ट्रीयता, धर्म इत्यादि की खाई उस महान परमात्मा के नाम पर पाटी जा सके जो सत्य है, शिव है एवं अद्वैत है ।

सम्पूर्ण विश्वविद्यालय कई विशिष्ट संस्थाओं में विभाजित है जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है :

शिक्षा भवन अर्थात् कॉलेज में विश्वविद्यालय स्तर की पढ़ाई होती है और यह कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है ।

विद्या भवन में संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिन्दी, अरबी, फारसी, उर्दू, बंगला इत्यादि साहित्य तथा भारतीय दर्शन एवं बौद्ध धर्म इत्यादि में अनुसन्धान होता है ।

कला भवन में चित्रकला एवं शिल्पकला इत्यादि ललितकलाओं में प्रशिक्षण दिया जाता है । उसी प्रकार संगीत भवन में संगीत, नृत्य एवं अभिनय कला इत्यादि में शिक्षण दिया जाता है ।

चीनी भवन में भारत तथा चीन देशों के पारस्परिक सम्बन्धों को बढ़ाने के उद्देश्य से एक-दूसरे के साहित्य, दर्शन तथा संस्कृति के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाता है ।

इन संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य सांस्कृतिक व दार्शनिक है । इनके अतिरिक्त लौकिक समृद्धि को दृष्टिगत रखते हुए विश्वभारती में कृषि तथा उद्योगों के विकास के लिए शिल्प भवन (School of Industries) तथा ग्राम पुनर्संगठन संस्था (Institute of Rural Reconstruction) की भी स्थापना की गयी है । शिल्प भवन का उद्देश्य स्थानीय कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देना है । ग्राम पुनर्संगठन संस्था का उद्देश्य ग्रामीण, आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी एवं सांस्कृतिक समस्याओं का अध्ययन करके वहाँ की विभिन्न समस्याओं का निराकरण करना है । इस संस्था में कृषि, डेरी, कुटीर उद्योग, ग्रामीण कल्याण, सफाई तथा शिक्षा एवं ग्रामीण सांस्कृतिक उत्थान सम्मिलित हैं । इन सभी कार्यों में विद्यार्थियों को योग्य शिक्षकों द्वारा प्रशिक्षण दिया जाता है तथा विद्यार्थी व शिक्षक दल मिलकर गाँवों में जाकर समाज-सेवा का कार्य भी संगठित करते हैं ।

## 2. अरविन्द आश्रम

*इंगलैण्ड से आने के पश्चात् श्री अरविन्द ने बड़ौदा के एक कॉलेज में अध्यापन* का कार्य किया । इस काल में उन्होंने संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं और भारतीय दर्शन का गहन अध्ययन किया । *बंगाल के विभाजन के समय सन् 1905 में*

उन्होंने कॉलेज की सेवा से त्यागपत्र दे दिया और राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लगे। उनमें उच्च कोटि की देशभक्ति की भावनाएँ कूट-कूटकर भरी हुई थीं। उन्होंने घोषणा की कि भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अपना ध्येय निश्चित कर लेना चाहिए। इसी दौरान श्री अरविन्द अपने राजनीतिक कार्यों के लिए कई बार जेल भी गये। सन् 1908 में जब वे अलीपुर जेल में थे, तभी उन्होंने अपने जीवन की धारा को बदल देने का निश्चय किया। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि उनका क्षेत्र आध्यात्मिक है और उन्हें विश्व को भारतीय आध्यात्मिकता का सन्देश देना है अतः सार्वजनिक जीवन से मुक्त होकर उन्होंने सन् 1910 में पाण्डिचेरी में अपने आश्रम की स्थापना की, जहाँ वे जीवनपर्यन्त रहे और अन्त में सन् 1950 में स्वर्गवासी हुए।

**श्री अरविन्द का जीवन-दर्शन**—श्री अरविन्द एक महान योगी थे। उन्होंने जीवन भर योग की साधना की और जीवन के गूढ़तम रहस्यों का पता लगाया। उनका दर्शन प्रधानतः उपनिषदों के वेदान्त पर आधारित है। आधुनिक विकासवाद की भावनाओं ने भी उनके विचारों को प्रभावित किया था। उनका विश्वास था कि मनुष्य तो एक क्षणिक एवं परिवर्तनशील प्राणी है। वह अन्तिम स्वरूप नहीं है। मनुष्य से भी ऊपर कई सीढ़ियाँ चढ़कर महामानवता (supermanhood) का स्थान है जो दिव्य है। यही हमारा अन्तिम गन्तव्य है जो हमें संसार के भौतिक जीवन से मुक्त करेगा।

श्री अरविन्द मानते हैं कि मनुष्य का मन तो शरीर के कारागृह में बन्द है। यह मन उच्चतम चेतना की एकमात्र शक्ति नहीं है, क्योंकि इस मन को सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। यह तो केवल उस सत्य का पता लगाने वाला एक अज्ञानी जिज्ञासु है। इस मन से भी परे एक महामानस शक्ति (supramental power) है, जो सत्य का चिरन्तन स्वामी है। विकास के क्रम में मनुष्य निश्चित रूप से ही किसी दिन इस महामानव दिव्य-शक्ति को प्राप्त कर लेगा। यह प्रकृति का नियम है। महामानस एक असीम चेतना है जो भौतिक मन से बहुत परे है। वास्तव में, महामानस ही श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन का मूल मन्त्र है। आन्तरिक प्रकाश व चेतना की झलक प्राप्त करके आत्मा को उद्दीप्त करना ही मानव-जीवन का ध्येय है। इसी आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त करना श्री अरविन्द के मतानुसार विकास की पराकाष्ठा या सम्पूर्णता है। ज्यों-ज्यों इस चेतना का विकास होगा, वह अधिक से अधिक सूक्ष्मतर जीवन की ओर अग्रसर होती जायगी। मानव-जीवन का लक्ष्य है कि वह संवेदना, आत्मानुभूति तथा भावना, इत्यादि मन की दशाओं से भी ऊँचा उठकर उस चिरन्तन व सत्य आत्मा के दर्शन करे जो अमर सत्य का आधार है। इसी सत्य तक अन्ततोगत्वा मानव को पहुँचना है।

श्री अरविन्द स्वयं महान योगी थे, किन्तु उनके योग का उद्देश्य समाज, राष्ट्र अथवा संसार के प्रति विरक्ति नहीं था। विश्व तथा मानव के कल्याण का ही उन्होंने सदा सन्देश दिया। व्यक्ति के विकास से ही वे मानव जाति व विश्व के कल्याण की कल्पना करते थे। उनका विश्वास था कि जब तक मनुष्य स्वयं अपना कल्याण नहीं

कर लेता तब तक उसमें विश्व-कल्याण की क्षमता उत्पन्न नहीं हो सकती। यह विकास 'योग' के द्वारा ही सम्भव है। जिस प्रकार पशु और मनुष्य में दूरी है, उसी प्रकार वर्तमान मानव और महामानव में दूरी है। यह दूरी इसी जीवन में योग के द्वारा पाटी जा सकती है और हम 'महामानस चेतना' (supramental consciousness) को प्राप्त कर सकते हैं। जिन साधनों के द्वारा यह महान परिवर्तन हो सकता है उन्हें श्री अरविन्द 'पूर्ण योग' (integral yoga) के नाम से पुकारते हैं। वे इसे पूर्ण योग इसलिए कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा पूर्णता को प्राप्त हुआ जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन को सर्वस्व महान व दिव्य परिवर्तन को प्राप्त करने के लिए समर्पित कर देना चाहिए।

'पूर्ण योग' के अन्तर्गत साधक अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को ईश्वर की अनुभूति करने में लगा देता है। इस 'पूर्ण योग' का उद्देश्य स्वयं श्री अरविन्द के शब्दों में "इसी पृथ्वी पर एक चेतनता, शक्ति, प्रकाश और सत्य को लाना" है। इसी योग के द्वारा श्री अरविन्द वैयक्तिक अहभाव को नष्ट करके आत्मोन्नति की चरम सीमा पर साधक को पहुँचाकर घट-घटवासी ईश्वर का साक्षात्कार कराने में विश्वास करते थे।

**श्री अरविन्द का शिक्षा-दर्शन**—जहाँ तक श्री अरविन्द के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का सम्बन्ध है, हम कह सकते हैं कि वे मूलतः आध्यात्मिक शिक्षा के द्वारा मानव के पूर्ण विकास में विश्वास रखते थे। उनका कथन था कि "केवल वही शिक्षा सच्ची व वास्तविक है जो व्यक्ति की अन्तर्निहित सभी शक्तियों का इस प्रकार विकास करती है जिससे वह उनसे पूर्णतः लाभान्वित होता है। मानव जीवन को सफल बनाने में यह शिक्षा उसकी सहायता करती है। साथ ही उसे जीवन तथा मानव जाति के मन व आत्मा से एवं उस सम्पूर्ण मानवता के मन व आत्मा से जिसका वह स्वयं एक अंश है तथा अन्य मनुष्य या राष्ट्र एक जीवित पृथक किन्तु अभिन्न अंग हैं, सच्चा सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होती है।"

वे अन्तःकरण या मानस को शिक्षा का प्रमुख अंग मानते हैं। उनके अनुसार अन्तःकरण के चार पर्त हैं—चित्त, मानस, बुद्धि और ज्ञान। उनका कथन है कि मनुष्य की ये शक्तियाँ क्रमशः विकसित होती आ रही हैं। अतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो मन की इन शक्तियों का विकास करे। केवल ज्ञान प्राप्त करने को ही वे शिक्षा नहीं मानते थे। शिक्षा ऐसी हो जो मनुष्य के मानस का सभी स्तरों पर, चाहे वह बालक हो, किशोर हो अथवा प्रौढ़, विकास करे।

श्री अरविन्द बालक की स्वतन्त्रता में विश्वास करते थे। उनका कथन था कि शिक्षा बालक के स्वभाव तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति पर निर्भर होनी चाहिए। बालक एक पदार्थ नहीं है जो माँ-बाप या शिक्षक के द्वारा चाहे जैसा ढाला जा सके। प्रत्येक व्यक्ति एक स्वयं विकसित होने वाली आत्मा है। शिक्षा का कर्तव्य तो केवल इतना है कि वह बालक को स्वयं अपने प्रयत्न से शिक्षा प्राप्त करने तथा अपनी मानसिक, आध्यात्मिक व सृजनात्मक शक्तियों के विकसित करने में सहायता प्रदान करे।"

श्री अरविन्द का यह भी कथन था कि "व्यक्ति के विकास का तात्पर्य उसके अहंबुद्धि, प्राण शक्ति और शारीरिक स्वास्थ्य के पूर्ण विकास तथा उसकी मानसिक, भावात्मक एवं शारीरिक वासनाओं की पूर्ण सन्तुष्टि से नहीं है, अपितु इसका उद्देश्य तो उसके अन्दर उसकी प्रतिभा, शक्ति, प्रेम एवं सार्वभौमिकता की पूर्ण क्षमता के अनुसार उसकी दिव्यता के कुसुमित होने से है। इसी दिव्यता के कुसुमित होने से वह सृष्टि के सम्पूर्ण सौन्दर्य व आनन्द की अनुभूति करता है।" इस प्रकार श्री अरविन्द 'पूर्ण योग' की भाँति 'पूर्ण शिक्षा' (integral education) देने में विश्वास करते थे। 'पूर्ण शिक्षा' का अभिप्राय सम्पूर्ण मानव की शिक्षा से है। वस्तुत: मानव का वह केन्द्रीय भाग जो मूलत: एक सम्पूर्ण व एक सार सत्य है जो मानव के व्यक्तित्व अर्थात् शरीर, इन्द्रियों एवं मानस में एक ऐक्य उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, हमारे व्यक्तित्व का केन्द्रीय तथ्य है। इस प्रकार सम्पूर्ण मानव का विकास ही श्री अरविन्द की 'पूर्ण शिक्षा' का केन्द्रीय सत्य है।

**आश्रम**—श्री अरविन्द ने अपने इसी जीवन-दर्शन व शिक्षा-दर्शन को एक साकार व मूर्त रूप देने के लिए पाण्डिचेरी में सन् 1910 में एक आश्रम की स्थापना की थी। वे न केवल एक प्रगतिशील शिक्षा में सिद्धान्तत: ही विश्वास करते थे, अपितु उसे क्रियात्मक व साकार रूप देने के भी समर्थक थे। श्री अरविन्द आश्रम न केवल भारतीय शिक्षा में ही एक उत्तम परीक्षण है, अपितु वह जीवन के रहन-सहन की विधि का भी एक आदर्श प्रयोग है।

यह आश्रम श्री अरविन्द के व्यक्तित्व का एक जीवंत उदाहरण है। इसे हम एक प्रकार से कोई सुसंगठित व सुनियोजित शिक्षा-संस्था नहीं कह सकते। जब लगभग अर्द्ध-शताब्दी पूर्व श्री अरविन्द पाण्डिचेरी में आये तो उनके साथ उनके मत के कुछ अनुयायी भी आये। वे उनके साथ एक परिवार के सदस्य की भाँति रहने लगे। सन् 1920 में एक फ्रांसीसी महिला, जिन्हें अब 'दि मदर' कहा जाता है, आश्रम में आकर बस गयीं। 'मदर' के आगमन के उपरान्त ही इस आश्रम का विकास हुआ और आश्रम-वासियों की संख्या प्रारम्भ में आठ से लेकर अब आठ सौ से भी अधिक हो गयी है। यह आश्रम एक मठ नहीं है जहाँ पीत वस्त्रधारी साधु या शिशु समाज रहता हो। यह तो साधकों व आध्यात्मिक शक्ति चाहने वाले जिज्ञासुओं का एक परिवार है जहाँ स्थायी निवासियों के अतिरिक्त प्रति वर्ष संसार भर के विभिन्न राष्ट्रों से दर्शक लोग भी आकर रहते हैं और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करते हैं।

केवल ऐसे ही व्यक्तियों को आश्रम में भर्ती किया जाता है जिन्हें 'मदर' के मतानुसार आध्यात्मिक जीवन की आन्तरिक प्रेरणा मिल चुकी हो। प्रवेश के लिए जाति-पाँति, वर्ग, धर्म, लिंग, वर्ण व राष्ट्रीयता इत्यादि का कोई भी भेद नहीं है। यही कारण है कि आश्रम में सभी राष्ट्रों व जातियों के स्त्री-पुरुष, बालक, तरुण व वृद्ध रहते हैं। ये सभी आश्रमवासी 'मदर' के पथ-प्रदर्शन में श्री अरविन्द के आदर्शों पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

आश्रम में सभी लोग अपने हाथों से अपना कार्य करते हैं। सबको अपनी रुचि,

*क्षमता तथा योग्यता के अनुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है।* वैसे कार्य का वितरण भी कर लिया जाता है। निःस्वार्थ सेवा-भावना कार्य का मूल मन्त्र है। सभी कार्य भगवत् समर्पित माना जाता है।

यह आश्रम सब प्रकार से प्राचीन ऋषियों के आश्रमों की मूल विशेषताओं से युक्त एक आधुनिक आश्रम है। आश्रम के केन्द्रीय भवन में 'मदर' तथा कुछ प्रमुख साधक रहते हैं। इसके भवन दूर तक अलग-अलग बिखरे हुए हैं जहाँ स्वास्थ्य व सफाई तथा शान्ति का वातावरण है। आश्रम के अन्दर पुस्तकालय, वाचनालय, आश्रम, बैंक, प्रार्थना-भवन तथा मैदान इत्यादि सभी बने हुए हैं। साथ ही भोजनालयों, चिकित्सालय, डेरी, इंजीनियरी वर्कशॉप, धोबी-घर, अन्न-कोष, प्रेस, आश्रम, स्कूल इत्यादि भी हैं जिन सब का प्रबन्ध 'मदर' की देख-रेख में साधक-गण करते हैं। कुल मिलाकर लगभग सौ से भी अधिक भवन इस आश्रम में हैं।

आश्रम में भारत, यूरोप, अमरीका इत्यादि देशों के लगभग 800 साधक हैं जिनमें कवि, संगीतज्ञ, कलाकार, रिटायर्ड सरकारी उच्च अफसर, जज, प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, साधु सभी छोटे-बड़े आध्यात्मिक साधना में रत रहते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि जहाँ आश्रम में उच्च कोटि के आध्यात्मिक चिन्तन किये जाते हैं, वहाँ सांसारिक जीवन की भी उपेक्षा नहीं की जाती। उदाहरण के लिए, आश्रम में अपनी फाउण्ड्री, डेरी, धोबीखाना, छापाखाना, खेत, बाग, कताई-बुनाई इत्यादि कुटीर उद्योग तथा काष्ठकला आदि की भी व्यवस्था है। ये सभी उद्योग स्वेच्छा से साधकों द्वारा संचालित किये जाते हैं। सब प्रकार की स्वतन्त्रता होते हुए भी आश्रम में एक आध्यात्मिक तथा संयम-नियम व अनुशासन का वातावरण है। वहाँ के जीवन की विविधता में भी एक सार्वभौम एकता है।

**आश्रम-स्कूल**—इस स्कूल की स्थापना सन् 1943 में श्री अरविन्द आश्रम के सदस्यों के बच्चों के लिए की गयी थी। प्रारम्भ में यह केवल बत्तीस बालकों को लेकर स्थापित किया गया था, किन्तु आज इसमें विभिन्न देशों, जातियों और धर्मों के लगभग 300 विद्यार्थी हैं। इनमें बंगाली तथा गुजराती बालकों की संख्या सबसे अधिक है।

स्कूल के दो भाग हैं—जूनियर तथा माध्यमिक। इनके अतिरिक्त बहुत-से अर्द्ध-सामयिक भाषाएँ पढ़ने वाले विद्यार्थी भी हैं। प्रौढ़ों के लिए भी स्कूल में फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, संस्कृत तथा तमिल इत्यादि भाषाएँ सीखने की व्यवस्था की गयी है। स्कूल में मौलिक विषय, जैसे गणित, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, भूगोल, इतिहास, इत्यादि के साथ ही साथ विभिन्न भाषाएँ तथा उनके साहित्य पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये गये हैं। मौलिक विषय क्रमशः जूनियर से लेकर माध्यमिक स्तर तक प्रत्येक कक्षा में ग्रेड के अनुसार पढ़ाये जाते हैं। ये विषय फ्रेंच के माध्यम से पढ़ाये जाते हैं। भाषा के लिए विद्यार्थियों को उनके ज्ञान-स्तर के अनुसार विभिन्न ग्रुपों में विभाजित कर लिया जाता है। विद्यार्थियों की पृष्ठभूमि की विभिन्नता के कारण यहाँ शिक्षकों में भी विभिन्नता रखना आवश्यक हो जाता है। फलतः अधिक संख्या में शिक्षक रखे

जाते हैं। माध्यमिक स्कूल का स्तर सामान्यतः भारत के अन्य भागों के मैट्रिकुलेशन तथा फ्रांस के 'बैंकालौरियेट' स्तर तक होता है।

विज्ञानों में प्रैक्टिकल कराने के लिए सुसज्जित प्रयोगशाला का प्रबन्ध है। कला तथा संगीत को भी उचित स्थान दिया गया है।

इस स्कूल की विशेषता यह है कि यहाँ परम्परागत परीक्षाएँ नहीं होतीं। यहाँ की शिक्षा परीक्षाओं से मुक्त है। केवल कक्षा में होने वाले टैस्टों तथा शिक्षक की रिपोर्ट पर बालक को उत्तीर्ण घोषित कर दिया जाता है। यदि कोई बालक स्वेच्छा से फ्रांस के 'बैंकालौरियेट' अथवा भारत, इंगलैण्ड अथवा अमरीका के 'मैट्रिकुलेशन' की परीक्षा देना चाहता है तो उसके पाठ्यक्रम में यथोचित संशोधन करके उसके अध्ययन की व्यवस्था कर दी जाती है।

सभी बच्चों को सामूहिक स्वतन्त्र जीवन की शिक्षा दी जाती है। आश्रम के नियमों के अन्तर्गत सभी बालकों को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण सुअवसर दिया जाता है। श्री अरविन्द स्वयं ही बालकों के पूर्ण स्वातंत्र्य में विश्वास रखते थे, अतः इस स्कूल में विद्यार्थियों को उन्हीं आदर्शों के अनुसार आत्म-विकास के सुअवसर प्रदान किये जाते हैं। अधिकांश बालक तो आश्रम में अपने माँ-बाप के साथ ही रहते हैं, कुछ पाण्डिचेरी में अपने सम्बन्धियों के यहाँ रहते हैं। यदि इसके उपरान्त भी कुछ बालक ऐसे होते हैं जिनके निवास का अपना कोई प्रबन्ध नहीं है, तो उनकी सामूहिक व्यवस्था बालकों के एक उपनिवेश में कर दी जाती है। शिशुओं के लिए मॉण्टेसरी तथा अन्य प्रगतिशील शिक्षा-पद्धतियों को भी अपनाया जाता है। सभी बच्चों को 'मदर' का पथ-प्रदर्शन, सम्पर्क तथा स्नेह प्राप्त होता है। वे स्वयं भी शिक्षण का कार्य करती हैं और उन्हें फ्रैंच पढ़ाती हैं। आश्रम किसी विशेष धर्म को नहीं मानता, अतः वहाँ किसी भी विशेष धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती। इतना ही नहीं, धर्म के उन सभी बाह्य कर्म-काण्डों को बालकों के लिए वर्जित किया जाता है जिनसे उनकी प्रगति व विकास में बाधा पहुँचती है। आश्रम-स्कूल की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ शारीरिक विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है और सभी प्रकार के व्यायाम, खेल-कूद इत्यादि सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य हैं।

आश्रम-स्कूल के सभी शिक्षक आश्रमवासी साधक हैं जो श्री अरविन्द के शिष्य हैं। शिक्षकों को वेतन नहीं दिया जाता। उनके परिवार की सभी आवश्यकताओं को आश्रम की ओर से पूरा किया जाता है। इस प्रकार आश्रम-स्कूल भारत की प्राचीन व अर्वाचीन संस्कृति का एक प्रशिक्षण केन्द्र है।

**श्री अरविन्द अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र**—दिसम्बर 1950 में श्री अरविन्द के देहावसान के उपरान्त उनके शिक्षा सम्बन्धी स्वप्न को साकार रूप देने के लिए पाण्डिचेरी आश्रम में एक अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र की स्थापना की गयी। यह केन्द्र वास्तव में योगी अरविन्द की पवित्र स्मृति का मूर्त स्वरूप है।

सन् 1951 में एक विशेष कन्वेंशन में इस केन्द्र की स्थापना पर विचार किया गया और 6 जनवरी, 1952 को विश्वविद्यालय केन्द्र का उद्घाटन कर दिया गया। तब से निरन्तर इस केन्द्र का संगठन तथा विकास हो रहा है। वस्तुतः यह केन्द्र आश्रम-स्कूल का ही एक परिवर्द्धित व प्रसारित रूप है। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में पूर्ण दर्शन, भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन, गणित, अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध तथा समाजशास्त्र इत्यादि विषय पढ़ाये जाते हैं। शारीरिक शिक्षा तथा योगासन इत्यादि पर विशेष बल दिया जाता है।

अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र विभिन्न देशों, जातियों, धर्मों तथा वर्गों के विद्यार्थियों के लिए खुला है। इसका मूल उद्देश्य आध्यात्मिक तथा दार्शनिक जीवन में गूढ़ अध्ययन तथा अनुसन्धान की सुविधाएँ प्रदान करना है। श्री अरविन्द के 'पूर्ण शिक्षा' तथा 'पूर्ण योग' के सिद्धान्तों को यहाँ साकार रूप प्रदान किया जायगा। वह केन्द्र विश्वबन्धुत्ववाद का प्रचार करने का भी प्रयास करता है।

### 3. जामिया मिलिया इस्लामिया

राष्ट्रीय मुसलमानों द्वारा संचालित यह शिक्षा-संस्था भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में एक महान परीक्षण माना जा सकता है। सर्वप्रथम इसकी स्थापना सन् 1920 में अलीगढ़ में राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप हुई थी। सन् 1955 में इस संस्था को उठाकर दिल्ली ले जाया गया जहाँ यह आज तक फल-फूल रही है। सन् 1928 में जामिया मिलिया के शिक्षकों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे इसके सभी प्रबन्ध को स्वयं करेंगे और तीस वर्ष तक 150 रु० मासिक वेतन से अधिक नहीं स्वीकार करेंगे। उसी समय स्टाफ के सदस्यों ने 'अन्जुमन तालीमे मिल्ली' नामक एक संघ बनाकर संस्था का प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दिया। सन् 1938 में इस संघ ने अपना नाम बदलकर जामिया मिलिया इस्लामिया सोसाइटी रख लिया।

जामिया मिलिया शिक्षा के क्षेत्र में गांधीजी के विचारों को मूर्त रूप देने के उद्देश्य से स्थापित की गयी थी। इसके प्रमुख उद्देश्य थे "भारतीयों, विशेषतः मुसलमानों के लिए ऐसी धार्मिक तथा सेक्यूलर शिक्षा प्रदान करना जिसका आधार राष्ट्रीय भावना हो, उच्च अध्ययन तथा अनुसन्धान एवं शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न परीक्षण करना भी इस संस्था ने अपना एक लक्ष्य निर्धारित किया। यह एक स्वायत्त-सत्ता प्राप्त संस्था है और अपना प्रबन्ध स्वयं करती है। जामिया की उच्चतम अभिलाषा यह होगी कि वह भारतीय मुसलमानों के लिए जीवन का एक ऐसा स्वरूप विकसित करे जिसका केन्द्र-बिन्दु इस्लाम धर्म हो और हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का इस प्रकार विकास करे कि उसका मानव जाति की विश्व-संस्कृति से तादात्म्य हो जाय। यह इस सिद्धान्त को मानकर चलती है कि सच्ची धार्मिक शिक्षा मुसलमानों में देशभक्ति तथा एकता की भावना को जागृत करेगी तथा उनमें वास्तविक राष्ट्रीय हितों की उन्नति एवं सेवा की महत्वाकांक्षा को जन्म देगी जिससे अन्ततोगत्वा भारत मानव जाति की सेवा में अपना पूर्ण योग दे सके तथा प्रगति, शान्ति एवं न्याय की भावना का उत्थान कर सके।"

इन आदर्शों को लेकर जामिया की स्थापना की गयी थी। अपने जीवन-काल में यह संस्था यथासम्भव इन्हीं आदर्शों एवं लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयास करती रही है। जामिया मिलिया एक ही स्कूल या कॉलेज नहीं है, वरन् इसमें बहुत-सी शिक्षण संस्थाओं को सम्मिलित कर लिया गया है और सबको मिलाकर ही जामिया मिलिया की रचना हुई है। इसमें निम्नलिखित शिक्षा संस्थाएँ सम्मिलित हैं :

(1) एक रेजीडेंशियल कॉलेज, जहाँ कला तथा सामाजिक विज्ञानों की उच्च शिक्षा प्रदान की जाती है। कॉलेज में कृषि, सामाजिक शिक्षा तथा सामुदायिक विकास सम्बन्धी प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है।

(2) एक बहुधन्धी रेजीडेंशियल हाई स्कूल, जहाँ सामान्य माध्यमिक स्कूल सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त हस्तकलाओं तथा उद्योगों में भी प्रशिक्षण दिया जाता है।

(3) एक रेजीडेंशियल प्राथमिक पाठशाला, जो प्रोजेक्ट विधि से चलायी जाती है और जहाँ शिक्षक व विद्यार्थियों के पारस्परिक सहयोग पर अधिक बल दिया जाता है। यह एक प्रकार से आदर्श प्राथमिक पाठशाला है।

(4) टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, जहाँ शिक्षकों को बेसिक शिक्षा-प्रणाली के आधार पर प्रशिक्षण दिया जाता है। जूनियर कोर्स में डिप्लोमा तथा सीनियर कोर्स में बी० एड० की उपाधि यहाँ दी जाती है।

(5) प्रौढ़ शिक्षा संस्था, जहाँ सामाजिक शिक्षा में प्रयोग होने के साथ ही साथ साक्षरों के लिए हिन्दी-उर्दू में साहित्य भी प्रकाशित किया जाता है।

(6) कला शिक्षा संस्था, जहाँ कला तथा कारीगरी में प्रशिक्षण दिया जाता है।

(7) ग्राम्य अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के लिए एक इंस्टीट्यूट, जहाँ पोस्ट-ग्रेजुएट स्तर का अध्ययन तथा ग्रामीण समस्याओं में अनुसन्धान किया जाता है।

(8) इतिहास तथा राजनीति का इंस्टीट्यूट।

(9) ग्रामीण शिक्षा का इंस्टीट्यूट।

(10) बच्चों की बिरादरी।

(11) मकतब जामिया लिमिटेड, जहाँ से उच्च स्तर की पुस्तकों तथा साहित्य का प्रकाशन होता है।

बेसिक शिक्षकों को प्रशिक्षण देना तथा ग्रामीण, आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक समस्याओं के अध्ययन एवं उनमें विशेष अनुसन्धान तथा सामाजिक शिक्षा-प्रसार एवं सामुदायिक विकास योजनाओं में कार्यान्वित करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा के विशेष परीक्षण तथा तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन जामिया मिलिया के विशेष कार्यक्रम हैं। देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त केन्द्रीय सरकार ने इस संस्था की बहुत उदारतापूर्वक सहायता की है, अतः इसका पर्याप्त विकास हो चुका है। भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में जामिया मिलिया अपना कर्तव्य पूरी तरह से पालन कर रही है। वास्तव में, हम इसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शैक्षिक प्रयास मान सकते हैं। आशा है कि इसका प्रयास निकट

भविष्य में और भी अधिक होगा ताकि राष्ट्रीय विकास में यह अपना पूर्ण योगदान कर सके।

## 4. वनस्थली विद्यापीठ

वनस्थली विद्यापीठ राजस्थान में स्त्री शिक्षा का एक केन्द्र है। प्राचीन भारतीय आदर्शों एवं संस्कृति को आधार मानकर किस प्रकार से भारतीय नारी को आधुनिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है, इसका वनस्थली विद्यापीठ एक सुन्दर उदाहरण है। वस्तुतः इस दिशा में इसे एक प्रकार से परीक्षण का नाम भी दिया जा सकता है।

यह विद्यापीठ राजस्थान में जयपुर से पैंतालीस मील दूर पर एक गाँव के पार्श्व में स्थापित किया गया है। यह गाँव निर्धन खेतिहरों, मजदूरों, ग्वालों तथा कुछ हरिजनों द्वारा बसा हुआ है। विद्यापीठ की स्थापना होने से बहुत-से लोगों के खेत छिन गये। अतः वे आज तक विद्यापीठ के प्रति विद्रोह की भावना रखते हैं। वस्तुतः विद्यापीठ के खुलने से स्थानीय जनता को कुछ लाभ ही हुआ है।

सन् 1929 में राजस्थान के एक कांग्रेसी कार्यकर्ता श्री हीरालाल शास्त्री कुछ लोगों को लेकर इसी गाँव में समाज-सेवा का कार्य करने के उद्देश्य से ठहर गये थे। वहाँ उन्होंने अपना एक छोटा-सा आश्रम भी बना लिया था जो आज भी विद्यापीठ के जन्मस्थान के रूप में सुरक्षित रखा गया है। इस आश्रम का नाम जीवन-कुटीर रखा गया। शास्त्रीजी की एकमात्र पुत्री शान्ताबाई ने किशोरावस्था में ही यह इच्छा प्रकट की थी कि वहाँ एक स्कूल बनायेगी। दुर्भाग्य से बालिका का देहान्त सन् 1935 में हो गया। शास्त्रीजी ने अपनी पुत्री की इस अपूर्ण अभिलाषा को पूर्ण करने के उद्देश्य से वनस्थली विद्यापीठ की स्थापना की। प्रारम्भ में वहाँ एक छोटी-सी बालिका पाठ-शाला खोली गयी जो सन् 1942 में वनस्थली विद्यापीठ के नाम से विकसित हुई।

वनस्थली विद्यापीठ में आज लगभग 1000 छात्राएँ देश के विभिन्न भागों तथा वर्ग व जातियों से आकर प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च विश्वविद्यालय शिक्षा तक प्राप्त करती हैं। विद्यापीठ के प्रारम्भिक भवन तो सभी कच्ची मिट्टी के बने हैं किन्तु इधर छात्रावास, बहुधन्धी हाई स्कूल, कला भवन, शिक्षा भवन तथा प्रधानाचार्य व दो-एक अन्य शिक्षकों के लिए वहाँ पक्के भवनों का निर्माण हो गया है। प्रति वर्ष कुछ निर्माण होता रहता है। अधिकांश शिक्षक पुराने, कच्चे व कष्टदायक मिट्टी के घरोंदों में रहते हैं।

वनस्थली विद्यापीठ में बालिकाओं के लिए शिशु कक्षा से लेकर कुछ विषयों में एम० ए० तक के निःशुल्क अध्ययन की व्यवस्था है। इस विद्यापीठ का उद्देश्य भारतीय संस्कृति के आधार पर बालिकाओं को आधुनिक शिक्षा प्रदान करके उनका सर्वतोमुखी विकास करना है। उनके चरित्र, शरीर व मन का विकास करना भी शिक्षा के साथ आवश्यक समझा गया है। बालिकाओं को स्वावलम्बी बनाने के लिए उन्हें विभिन्न प्रकार के गृहकार्यों में शिक्षण दिया जाता है। छात्रावास का प्रबन्ध सभी बालिकाएँ मिलकर करती हैं। उनके शारीरिक विकास का यहाँ विशेष ध्यान रखा जाता है।

इसके लिए उन्हें अन्य खेल-कूद, लाठी व तलवार चलाना, घुड़सवारी करना आदि अन्य प्रचलित व्यायामों व खेल-कूद के साथ ही साथ सिखाते हैं।

बालिकाओं के चरित्र-निर्माण पर भी यहाँ बल दिया जाता है। प्रत्येक बालिका को सामाजिक स्वतन्त्रता का पाठ तो पढ़ाया जाता है, किन्तु यह ध्यान रखा जाता है कि यह स्वतन्त्रता अवांछनीय स्वच्छन्दता में परिवर्तित न हो जाय। साथ ही बालिकाओं में समाज-सेवा, स्वावलम्बन व देशप्रेम की भावनाओं का भी समावेश किया जाता है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विद्यापीठ ने 'पंचमुखी शिक्षा' की व्यवस्था की है। इस व्यवस्था के अनुसार शारीरिक शिक्षा, व्यावहारिक शिक्षा, कलाओं में प्रशिक्षण, नैतिक शिक्षा तथा बौद्धिक शिक्षा प्रदान करने का आयोजन किया है।

विद्यापीठ में कोई भी लड़का नहीं पढ़ सकता, यह पूर्णत: बालिकाओं का विद्यालय है। यहाँ तक कि वहाँ के शिक्षकों एवं कार्यकर्ताओं को भी अपने लड़के पढ़ाने की कोई व्यवस्था वनस्थली में नहीं है। शिक्षकों में स्त्री व पुरुष दोनों ही हैं। योग्य शिक्षिकाओं के अभाव में अधिकांश पुरुष ही वहाँ सभी स्तर की बालिकाओं का शिक्षण करते हैं।

विद्यापीठ में एक प्राथमिक पाठशाला है जिसमें एक शिशु कक्षा भी है। दूसरा एक हाई स्कूल है। इस हाई स्कूल के आठवीं कक्षा के उपरान्त दो विभाग हो गये हैं। एक तो सामान्य हाई स्कूल जिसमें नवीं और दसवीं कक्षाएँ हैं, दूसरा भारत सरकार द्वारा संचालित बहु-उद्देशीय स्कूल। वहु-बद्देशीय शिक्षा के पाठ्यक्रय में कला, संगीत, गृह विज्ञान तथा हस्तकलाओं को सम्मिलित किया गया है। इसमें नवीं से ग्यारहवीं कक्षा तक उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम है। इसके उपरान्त छात्राएँ सीधे बी० ए० में प्रवेश ले सकती हैं। इसके अतिरिक्त इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० के अध्ययन की जो व्यवस्था है उसकी मान्यता राजस्थान विश्वविद्यालय से है।

इस प्रकार वनस्थली विद्यापीठ में लड़कियों के सामान्य विषयों को ही एक नया वातावरण देकर पढ़ाया जाता है। इस विद्यापीठ की विशेषता यह है कि यह एक तो शुद्ध बालिकाओं की शिक्षा संस्था है; दूसरे, बालिकाओं के शारीरिक विकास व चारित्रिक उत्थान पर विशेष बल दिया जाता है और तलवार, लाठी चलाना व घुड़सवारी इत्यादि में शिक्षण देकर उनमें साहस व निर्भीकता का संचार किया जाता है। सभी प्रान्तों से आयी हुई विभिन्न वर्ग व जातियों की लड़कियों को सामूहिक जीवन की शिक्षा का एक पदार्थ-पाठ पढ़ने का सुअवसर यहाँ प्रदान किया जाता है। शिक्षकों तथा छात्राओं, सभी को खद्दर पहनना व सादा जीवन व्यतीत करना एवं कक्षा में कुर्सी इत्यादि के स्थान पर भूमि पर बैठना अनिवार्य है। इससे उनमें मितव्ययता व सात्विकता की भावना उद्भूत होती है। इस प्रकार विद्यापीठ बालिकाओं के बौद्धिक उत्थान के साथ ही साथ उनके शरीर व चरित्र का भी निर्माण करता है।

यहाँ इतना कह देना आवश्यक होगा कि वनस्थली विद्यापीठ में जीवन, विशेषत:

शिक्षकों का जीवन, बहुत दुरूह है। उनके लिए जो रहने के मकान हैं वे न केवल कष्ट-दायक ही हैं अपितु एक आधुनिक व सभ्य जीवन व्यतीत करने के लिए अपर्याप्त तथा कुछ अर्थों में अपमानजनक प्रतीत होते हैं। बालिकाओं की संस्था होने के कारण कुछ अनुशासन व मर्यादाओं का पालन तो आवश्यक है ही, किन्तु जब यह अनुशासन अति दुरूह व कृत्रिम हो जाता है तो इससे शिक्षकों का आत्म-विश्वास अवरुद्ध होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि विद्यापीठ को अपने स्टाफ में पुरुषों की नियुक्ति ही नहीं करनी चाहिए। यदि अनुशासन के नाम पर समय-असमय में शिक्षकों को बदला जायगा तो इससे विद्यापीठ के अबाध विकास को आघात लगेगा। इसके अतिरिक्त वनस्थली अभी तक वीरान व सुनसान उजाड़ स्थान पर बसा है, जहाँ जीवन की आवश्यक सामग्री उपलब्ध नहीं होती है। यह हर्ष की बात है कि विद्यापीठ की ओर से एक सहकारी उपभोक्ता भण्डार खोलकर इस कष्ट का निवारण करने का प्रयास किया जाता है। अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि सभी त्रुटियों के बावजूद भी वनस्थली विद्यापीठ भारत में लड़कियों की शिक्षा के क्षेत्र में एक सराहनीय प्रयास है। ऐसी सम्भावना है कि भविष्य में यह संस्था और भी अधिक विकसित हो सकती है।

## 5. गुरुकुल

गुरुकुल तथा आश्रमों की परम्परा भारत में अति प्राचीन है। प्राचीन काल में तो गुरु-गृह व आश्रम ही विद्या के केन्द्र होते थे, जहाँ विभिन्न भागों से आकर विद्यार्थी गुरु के परिवार के साथ निवास करते थे और विद्याध्ययन समाप्त करने पर ही अपने गृहों को वापस जाते थे। इन गुरु-गृहों व आश्रमों का वातावरण अधिकांश में नगर से बाहर निर्जन वनों में होता था और वहाँ का जीवन दुरूह मर्यादाओं एवं अनुशासनों से पूर्ण होता था।

बीसवीं शताब्दी में जब देश में राष्ट्रीयता व प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान की भावनाओं ने जोर पकड़ा तो जहाँ विश्वभारती, अरविन्द आश्रम, काशी विद्यापीठ तथा जादवपुर तकनीकी कॉलेज जैसी संस्थाओं का जन्म हुआ वहाँ विशेषत: आर्य समाज के आन्दोलन के फलस्वरूप देश में दो-एक गुरुकुलों की भी स्थापना हुई। इनमें गुरुकुल वृन्दावन तथा गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुरुकुल वृन्दावन का सूत्रपात तो सन् 1902 में सिकन्दराबाद नामक स्थान में ही कर दिया गया था किन्तु सन् 1911 में इसे वृन्दावन में स्थापित कर दिया गया। इसके प्रबन्ध व संचालन का उत्तरदायित्व उत्तर प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा करती है।

गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार को सन् 1903 में स्वामी श्रद्धानन्द ने स्थापित किया था। इसका प्रबन्ध-भार पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा पर है। इन गुरुकुलों में भारत के विभिन्न भागों से ब्रह्मचारी विशेषत: संस्कृत तथा आयुर्वेद का अध्ययन करने आते हैं।

इन गुरुकुलों में लगभग छह से आठ वर्ष तक की आयु के लड़कों का प्रवेश होता है। चौदह वर्ष के अध्ययन के उपरान्त ये वहाँ से स्नातक होकर निकलते हैं। गुरुकुल कांगड़ी में इस समय लगभग 1,600 विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। वैदिक अनुसन्धान,

आयुर्वेद अनुसन्धान तथा प्राचीन भारतीय साहित्य व इतिहास के ऊपर उच्च ग्रन्थों का अध्ययन इन गुरुकुलों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित है। संस्कृत भाषा का अध्ययन यहाँ अनिवार्य है।

गुरुकुलों के द्वारा प्राचीन वैदिक आर्य सभ्यता का पुनरुत्थान करने का प्रयास किया गया है। अतः यहाँ विद्यार्थियों की जीवनचर्या प्रायः वैसी ही है जैसी कि प्राचीन काल में आश्रमों में होती थी। विद्यार्थी को लगभग पच्चीस वर्ष तक कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा अविवाहित रहना होता है। जीवन सादा, सात्विक व कठोर होता है। मांस-मदिरा व धूम्रपान का विद्यार्थी के लिए पूर्ण निषेध है। दैनिक कार्यों में प्रार्थना, यज्ञ, सन्ध्या-वन्दन इत्यादि आवश्यक होते हैं। गुरुकुलों में विद्यार्थी का दृष्टिकोण प्रधानतः आस्तिक व धार्मिक एवं नैतिक स्तर ऊँचा रखने का प्रयास किया जाता है।

वृन्दावन तथा हरिद्वार के ये गुरुकुल केवल लड़कों के लिए हैं। इस शिक्षा-पद्धति के समर्थक सहशिक्षा के विरोधी हैं। अतः इन गुरुकुलों में लड़कियों का प्रवेश नहीं हो सकता। उनके लिए पृथक गुरुकुल स्थापित किये गये हैं। इनमें कन्या गुरुकुल, देहरादून तथा कन्या गुरुकुल, सासनी, उत्तर प्रदेश में और आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ भारतीय नारी के आदर्श को समक्ष रखकर लड़कियों को सामान्य शिक्षा एवं भाषाएँ तथा गृह-कला इत्यादि की शिक्षा दी जाती है। जीवनयापन व नैतिकता सम्बन्धी नियम लड़कियों के लिए भी उतने ही कठोर हैं जितने लड़कों के लिए।

इस प्रकार ये गुरुकुल भी भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन वैदिक शिक्षा-पद्धति व संस्कृति का पुनरुत्थान करने के लिए परीक्षणस्वरूप हैं। ये गुरुकुल भारतीय ज्ञान-विज्ञानों के संरक्षण व प्रसार में अपना प्रशंसनीय योग दे रहे हैं। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि पाश्चात्य विज्ञानों की चकाचौंध में हमारा भारतीय आयुर्वेद अब तक मर गया होता, यदि इन गुरुकुलों ने इस चिकित्सा-प्रणाली का उद्धार न किया होता। संस्कृत भाषा के प्रचार में भी गुरुकुलों का बड़ा हाथ रहा है। निश्चय ही ये परीक्षण श्लाघ्य कहे जा सकते हैं।

भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में किये गये आधुनिक परीक्षणों का संक्षिप्त विवेचन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये परीक्षण वास्तव में भारतीय शिक्षा के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखते हैं। सबकी अपनी-अपनी विशेषता है और प्रत्येक अपने अनूठे ढंग से भारतीय प्राचीन संस्कृति व दर्शन को जीवित रखने व उनका प्रसार करने में सहायक हो रहा है। आशा है, भविष्य में इनका और भी अधिक विकास होगा तथा भारतीय शिक्षा-पद्धति के प्रचलित दोषों को दूर करने में ये परीक्षण यथासम्भव अपना योग देंगे।

# 27

# कोठारी शिक्षा आयोग

## नियुक्ति

शिक्षा आयोग की नियुक्ति भारत सरकार ने 14 जुलाई, 1966 को एक प्रस्ताव के द्वारा की। इसकी नियुक्ति का प्रमुख उद्देश्य "सरकार को शिक्षा के राष्ट्रीय स्वरूप और शिक्षा के सभी स्तरों तथा सभी पक्षों के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्तों एवं नीतियों के विषय में सरकार को सलाह देना" था। भारतीय शिक्षा के इतिहास में समय-समय पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने शिक्षा के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में इससे पूर्व भी कई बार इसी प्रकार के आयोग अथवा समितियों की नियुक्ति के द्वारा विभिन्न समस्याओं का अध्ययन कराया है और उनके द्वारा की गयी सिफारिशों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया है। किन्तु अपेक्षाकृत इन सभी सिफारिशों के यह अनुभव किया गया कि जहाँ देश की शिक्षा-प्रणाली की कुछ समस्याएँ आज भी अक्षुण्ण बनी हुई हैं, वहाँ देश के नियोजित आर्थिक विकास के अन्तर्गत कृषि तथा उद्योगों के विकास, साथ ही बढ़ती हुई जनसंख्या और कल्याणकारी राज्य एवं जनतन्त्रीय समाज-वाद की स्थापना इत्यादि नई परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण यह आवश्यक हो गया है कि देश की सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली के सभी पक्षों पर विशद विचार-विनिमय के द्वारा भावी राष्ट्रीय शिक्षा के वांछित स्वरूप का निरूपण किया जाय। वस्तुत: इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपर्युक्त शिक्षा आयोग की नियुक्ति की गयी। आयोग ने लग-भग दो वर्ष तक भारतीय शिक्षा के सभी अंगों से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करके 29 जून, 1966 को अपनी रिपोर्ट केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री को प्रस्तुत कर दी। आयोग के अध्यक्ष विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डॉ० दौलतसिंह कोठारी थे। कुल मिलाकर इस आयोग में सत्तरह सदस्य थे, जिनमें भारतीय विशेषज्ञों के अतिरिक्त कुछ विदेशी विशेषज्ञ, जैसे श्री एलविन, लन्दन विश्वविद्यालय के इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन के निर्देशक, प्रोफेसर सदातोर्श, इहारा वासेदा विश्वविद्यालय, टोकियो; प्रोफेसर रोजर रिवेले, हारवर्ड विश्वविद्यालय, अमरीका; प्रोफेसर शुमोवस्की, मास्को विश्वविद्यालय, रूस; एम० जीन टामस, पेरिस स्थित यूनेस्को के भूतपूर्व सहायक डायरेक्टर जनरल और यूनेस्को, पेरिस के वर्तमान सहायक डायरेक्टर श्री मैकडुगल

सम्मिलित थे। भारतीय विशेषज्ञों में श्री ए० आर० दाऊद, श्री ए० आर० गोपालास्वामी, श्री वी० एस० झा, प्रोफेसर एम० वी० माथुर, डॉ० बी० पी० पाल, कुमारी एस० पनान्दीकर, डॉ० के० जी० सैयदेन, डॉ० टी० सेन तथा श्री० जे० पी० नाइक सम्मिलित थे। शिक्षा आयोग का लोकप्रिय नाम कोठारी शिक्षा आयोग पड़ गया है।

**आयोग का अध्ययन-क्षेत्र**

आयोग ने भारतीय शिक्षा की समस्याओं पर कानून तथा चिकित्सा क्षेत्रों को छोड़कर शेष सभी अंगों के सर्वांगीण विकास पर सविस्तार अध्ययन किया है। आयोग की रिपोर्ट चार भागों में विभक्त की गयी है—(1) सामान्य समस्याएँ, (2) विभिन्न स्तरों पर तथा विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षा, (3) कार्यान्वयन (implementation), तथा (4) सहायक प्रपत्र (supplementary papers)। प्रथम खण्ड में सामान्य समस्याओं के अन्तर्गत शिक्षा तथा राष्ट्रीय उद्देश्य, शिक्षा की प्रणाली, ढाँचा तथा मानदण्ड, अध्यापकों का स्तर, अध्यापकों की शिक्षा, प्रवेश व मानव-शक्ति तथा शिक्षा-सुअवसरों की समानता पर विचार किया गया है।

द्वितीय खण्ड में स्कूली शिक्षा की समस्याएँ तथा प्रसार स्कूलों का पाठ्यक्रम, शिक्षा-विधि, मार्गदर्शन और मूल्यांकन, स्कूली शिक्षा का प्रशासन एवं निरीक्षण, उच्च शिक्षा के उद्देश्य एवं सुधार, उच्च शिक्षा में प्रवेश एवं कार्यक्रम, विश्वविद्यालयों की शिक्षा, कृषि-शिक्षा, व्यावसायिक, तकनीकी एवं इंजीनियरी शिक्षा, विज्ञान-शिक्षा तथा अनुसन्धान और प्रौढ़ शिक्षा सम्मिलित हैं।

तृतीय खण्ड में शैक्षिक नियोजन और प्रशासन, शिक्षा-वित्त तथा कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने सम्बन्धी सिफारिशें दी गयी हैं। चतुर्थ खण्ड के अन्तर्गत श्री गोपालास्वामी के कुछ विचारों के अतिरिक्त विभिन्न अनुक्रमणिकाएँ और रिपोर्ट का सारांश दिया गया है। इस प्रकार 691 पृष्ठों की यह रिपोर्ट प्रायः हमारी सभी सम्भव शिक्षा-समस्याओं का अध्ययन करके उनके हल के सम्बन्ध में सिफारिशें प्रस्तुत करती है। अब हम रिपोर्ट में दी गयी सभी समस्याओं और सिफारिशों की संक्षिप्त एवं आलोचनात्मक समीक्षा करेंगे।

## 1. शिक्षा तथा राष्ट्रीय उद्देश्य

आयोग के मतानुसार भारतीय शिक्षा-प्रणाली का सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार यह होगा कि इस प्रणाली में परिवर्तन करके इसे जीवन तथा लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से सम्बद्ध कर दिया जाय और इस प्रकार उसे उस सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति से सम्बन्धित कर दिया जाय जो हमारे राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए नितान्त आवश्यक है। "इस लक्ष्य की पूर्ति उसी समय सम्भव है जबकि शिक्षा को इस प्रकार विकसित किया जाय कि उससे उत्पादकता-वृद्धि हो, सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता की स्थापना हो, भारत में आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियाँ जाग उठें और सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना हो। भारत के भाग्य का निर्माण इस समय उसकी कक्षाओं में हो रहा है। एक ऐसे संसार

में जो विज्ञापन तथा टेकनोलॉजी पर आधारित है, शिक्षा ही लोगों की समृद्धि, कल्याण तथा सुरक्षा के स्तर का निर्धारण करती है। हमारे स्कूलों और कालेजों से निकलने वाले व्यक्तियों की श्रेष्ठता एवं संख्या पर ही राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के हमारे प्रयासों की सफलता निर्भर होगी जिसका प्रमुख उद्देश्य हमारे नागरिकों के जीवन-स्तर का उत्थान करना है।

राष्ट्रीय विकास के लिए हमारे समक्ष कुछ चुनौतियाँ हैं। खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भरता, आर्थिक वृद्धि तथा पूर्ण रोजगार की अवस्थाएँ, सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता और जनतन्त्र के विकास एवं पोषण के लिए राजनीतिक परिपक्वता इत्यादि ऐसे विषय हैं जिनके सम्बन्ध में हमें देश को तैयार करना है। इनके अतिरिक्त अनेक जातियों, धर्मों, भाषाओं तथा आर्थिक विषमताओं के इस देश में वर्तमान पीढ़ी के समक्ष अनेक दुरूह समस्याएँ हैं जिनके हल करने के लिए हमें भावी नागरिक का निर्माण सुशिक्षा के द्वारा करना होगा। देश के भौतिक तथा मानवगत साधनों का विकास करने के लिए शिक्षा को क्रान्ति के एक यन्त्र के रूप में प्रयोग करना होगा। वस्तुतः शिक्षा-क्षेत्र में ही क्रान्ति करनी होगी। देश का आर्थिक निर्माण और सामाजिक परिवर्तन बिना अच्छी शिक्षा-प्रणाली के सम्भव नहीं है। स्वयं शिक्षा को भी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना होगा।

इन सब बातों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली जिसका विकास सामन्तवाद और परम्परागत समाज की पृष्ठभूमि में एक साम्राज्यवादी शासन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया था उसे आमूल बदल डालने की तुरन्त आवश्यकता है, यदि इसे जनतन्त्रीय तथा समाजवादी आधुनिक समाज की स्थापना के लिए प्रयोग करना है। "इन परिवर्तनों के लाने का अर्थ होगा शिक्षा के उद्देश्यों, विषय-सामग्री, शिक्षण-विधियों, कार्यक्रमों, विद्यार्थी समाज के आकार और प्रकार, अध्यापकों के चयन तथा उनकी व्यावसायिक क्षमता एवं शिक्षा के संगठन इत्यादि सभी को बदल डालना। वस्तुतः जिस वस्तु की आवश्यकता है वह है शिक्षा में क्रान्ति, जो देश में अति वांछनीय सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति की गति को तीव्रतर करेगी।"[2]

शिक्षा को जीवन तथा लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से सम्बन्धित करने के प्रसंग में आयोग की धारणा है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का जीवन से सम्बन्ध नहीं है। प्रथमतः हमारी शिक्षा-प्रणाली में कृषि की अवहेलना की गयी है, जो राष्ट्रीय जीवन का आधार है। अतः कृषि शिक्षा पर बल देना चाहिए। आर्थिक विकास को प्राथमिकता, विद्यार्थियों और शिक्षकों को राष्ट्र-निर्माणक कार्यों से सम्बन्धित करना, राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करना तथा विद्यार्थियों में नैतिक व सामाजिक

---

1 *Report*, *op. cit.*, p. 6.

2 *Ibid.*, p. 5.

उत्तरदायित्वों की भावना उत्पन्न करना हमारी शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य होंगे। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि जो शिक्षा हमें आधुनिक भारत के लिए चाहिए वह (1) उत्पादकता से सम्बन्धित हो; (2) सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकीकरण को दृढ़ बनाये; (3) जनतन्त्रीय सरकार की स्थापना करे और जनतन्त्र को जीवनयापन की विधि बना दे; (4) आधुनिकीकरण की पद्धतियों को तीव्रगामी करे; तथा (5) सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का पोषण करके चरित्र-निर्माण करे।

(1) **शिक्षा तथा उत्पादकता**—शिक्षा को उत्पादकता से सम्बन्धित करने के लिए निम्नलिखित अवस्थाएँ आवश्यक हैं :

(i) शिक्षा तथा संस्कृति के आधारभूत तत्त्व के रूप में विज्ञान का विकास;

(ii) कार्य-अनुभव (work-experience) को सामान्य शिक्षा का आवश्यक अंग बनाना;

(iii) उद्योगों, कृषि तथा व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा का व्यवसायीकरण (vocationalisation), प्रमुखत: माध्यमिक स्तर पर; तथा

(iv) विश्वविद्यालय स्तर पर वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा तथा अनुसन्धान का विकास, जिसमें कृषि तथा सम्बन्धित विज्ञानों पर विशेष बल दिया जाय।

(2) **शिक्षा तथा सामाजिक-राष्ट्रीय एकीकरण**—इसके लिए आयोग का मत है कि हमें राष्ट्र के भविष्य में विश्वास उत्पन्न करने, लोगों के जीवन-स्तर में निरन्तर वृद्धि करने, राष्ट्रीय उद्देश्यों से व्यक्ति का आत्मसात् करने, निष्पक्षता एवं समानता पर आधारित शासन की स्थापना करने तथा राष्ट्र के विभिन्न वर्गों, संस्कृतियों एवं रहन-सहन की विभिन्न विधियों के प्रति पारस्परिक सहिष्णुता एवं सम्मान की भावनाओं को उत्पन्न करने के विशेष प्रयत्न करने होंगे। इस दृष्टि से आयोग के मतानुसार शिक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है। आयोग ने इसकी चार विधियाँ बतायी हैं :

(i) सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में एक सामान्य स्कूल प्रणाली (Common Sohool System) का सूत्रपात करना;

(ii) शिक्षा के सभी स्तरों पर समाज और राष्ट्र-सेवा को शिक्षा का एक अनिवार्य अंग बनाना;

(iii) सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास करना और हिन्दी को सम्पन्न बनाने के लिए विशेष प्रयत्न करना ताकि यह शीघ्रातिशीघ्र भारत संघ की सरकारी भाषा बन जाय; तथा

(iv) राष्ट्रीय चेतना में वृद्धि करना।

'सामान्य स्कूल प्रणाली' के सम्बन्ध में आयोग का मत है कि इस कार्य को एक राष्ट्रीय नीति मान लेना चाहिए और आगामी बीस वर्षों में धीरे-धीरे इस कार्य को पूर्ण कर डालना चाहिए।

सामाजिक एवं राष्ट्रीय सेवा के लिए आयोग का मत है कि इसे सभी स्तर के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य कर देना चाहिए। प्राथमिक पाठशालाओं में इस कार्यक्रम

को बेसिक शिक्षा के साथ कार्यान्वित किया जा सकता है। माध्यमिक स्तर पर नीचे की कक्षाओं के लिए कुल तीस दिन और ऊँची कक्षाओं के लिए बीस दिन की समाज-सेवा का कार्यक्रम चालू कर देना चाहिए। ग्रेजुएट-स्तर पर साठ दिन की समाज-सेवा अनिवार्य कर दी जाय। एन० सी० सी० कार्यक्रम इसी प्रकार चतुर्थ आयोजन के अन्त तक चलता रहे। आगे चलकर जब सामाजिक सेवा का कार्यक्रम भलीभाँति बन जाय उस समय एन० सी० सी० को वैकल्पिक कर दिया जाय। प्रत्येक शिक्षा संस्था को सामाजिक सेवा और सामुदायिक विकास कार्यक्रम का विकास करना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रमिक-शिविर लगाये जायँ जिनमें विद्यार्थियों को सम्मिलित किया जाय।

**भाषा-नीति**—राष्ट्रीय एकीकरण के लिए आयोग ने उचित भाषा नीति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए सिफारिश की है कि स्कूल तथा कॉलेज-स्तर पर मातृ-भाषाओं का विशेषाधिकार है। इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि सामान्यत: स्कूल शिक्षा और उच्च शिक्षा-स्तरों पर माध्यम एक ही हो। अत: क्षेत्रीय भाषाओं को स्कूल तथा उच्च स्तरों पर माध्यम बना देना चाहिए।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा विश्वविद्यालयों को चाहिए कि इन सिफारिशों को विभिन्न विश्वविद्यालयों के लिए उपयुक्त रूप से ग्रहण करके आगामी दस वर्षों में कार्यान्वित कर दिया जाय। साथ ही सभी विषयों, विशेषत: वैज्ञानिक एवं तकनीकी विषयों में पुस्तकों तथा साहित्य की रचना करने में शीघ्रता से काम लिया जाय। इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का विशेष उत्तरदायित्व है।

शिक्षा आयोग का कहना है कि फिलहाल अखिल भारतीय महत्त्व की संस्थाओं में शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी ही बना रहने दिया जाय तथापि कुछ विशेष बातों को ध्यान में रखते हुए यहाँ अन्तत: हिन्दी को माध्यम बनाने पर विचार किया जाय। क्षेत्रीय भाषाओं को तुरन्त क्षेत्रीय प्रशासन के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए जिससे ऊँची नौकरियाँ उन लोगों को भी मिल सकें जो क्षेत्रीय भाषाएँ पढ़ते हैं।

अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई ठीक स्कूल-स्तर पर से ही प्रारम्भ कर देनी चाहिए। साथ ही अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व की भाषाओं, विशेषत: रूसी भाषा को भी प्रोत्साहन दिया जाय। इसके लिए स्कूल तथा विश्वविद्यालय दोनों ही स्तरों पर कुछ ऐसी संस्थाएँ स्थापित करना वांछनीय होगा जहाँ संसार की कुछ महत्त्वपूर्ण भाषाएँ शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग की जायँ।

इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा के क्षेत्र में एकेडेमिक कार्यों और बौद्धिक अन्त:-सम्बन्धों (intellectual inter-communication) के लिए अंग्रेजी एक सम्पर्क भाषा (link language) के रूप में जारी रहेगी। तथापि आयोग ने चेतावनी दी है कि देश के बहुसंख्यक लोगों के लिए अंग्रेजी सम्पर्क-भाषा नहीं बनी रह सकती। अत: हिन्दी ही जो राज्य भाषा है और लोगों की सम्पर्क-भाषा भी है, उचित समय पर

अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करे। इसे अहिन्दी क्षेत्रों में फैलाने के लिए सभी उपाय किये जाने चाहिए।

हिन्दी के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का विकास भी आवश्यक है। प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे बहुत-से लोग होने चाहिए जो अन्य क्षेत्रों की भाषा के विद्वान हों। इसके लिए विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों में सभी प्रमुख आधुनिक भारतीय भाषाओं के सीखने की स्कूलों और कालेजों में समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। विश्वविद्यालयों में इनके विभाग खोले जायँ। बी० ए० तथा एम० ए० स्तरों पर दो आधुनिक भारतीय भाषाएँ पढ़ायी जा सकती हैं।

उचित भाषा नीति के अतिरिक्त आयोग ने राष्ट्रीय एकीकरण के लिए जो चौथी बात आवश्यक बतायी है वह है राष्ट्रीय चेतना का विकास। स्कूलों के द्वारा हम अपनी राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत कर सकते हैं। भारत में साहित्य तथा भाषा, दर्शन, धर्म-शास्त्र, इतिहास आदि के द्वारा जिसमें देश का स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला, संगीत, नृत्य तथा अभिनय इत्यादि सम्मिलित किये जा सकते हैं, राष्ट्रीय एकीकरण सम्भव है। पाठ्यक्रम में एक-दूसरे क्षेत्रों की बातों को सम्मिलित करके, अध्यापकों के आदान-प्रदान के द्वारा शिक्षा संस्थाओं में पारस्परिक भ्रातृत्व भावना की वृद्धि तथा दूसरे भाषा-भाषी क्षेत्रों में ग्रीष्म स्कूल अथवा अवकाश-शिविर लगाकर हम राष्ट्रीय एकीकरण में वृद्धि कर सकते हैं। भविष्य में विश्वास, नागरिकता, अन्तरराष्ट्रीय सद्भावना तथा स्कूली कार्यक्रम में जनतन्त्रात्मक मूल्यों की स्थापना के द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण को स्वस्थ पोषण मिल सकता है।

(3) **शिक्षा तथा आधुनिकीकरण**—आधुनिक युग में ज्ञान की परिधियाँ तेजी से बढ़ती जा रही हैं। अतः शिक्षा में भी आधारभूत परिवर्तनों की आवश्यकता है। जिज्ञासा ही उचित अभिरुचियों, मनोवृत्तियों, मूल्यों और कौशल को विकसित करने का एक शक्तिशाली साधन है। यदि कोई समाज अपने को आधुनिक बनाना चाहता है तो उसे अपने आपको शिक्षित करना होगा। सामान्य नागरिकों के शैक्षिक स्तर को ऊँचा उठाने के साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि समाज के विभिन्न स्तरों में से छाँटकर उच्च कोटि के विद्वानों का भी एक ऐसा वर्ग बनाया जाय जिसकी योग्यता उच्च कोटि की हो और जिसके विश्वासों और आकांक्षाओं की जड़ भारत की मिट्टी में हो।

(4) **सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मान्यताएँ**—शिक्षा-प्रणाली में सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों पर बल देना चाहिए। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा संस्थाओं के पढ़ाये जाने पर बल दे सकती हैं। प्रायवेट संस्थाओं में भी इसका सूत्रपात करना चाहिए। प्रत्येक कक्षा में कुछ घण्टे इस शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम में शामिल कर देने चाहिए। विश्वविद्यालयों को तुलनात्मक धर्म (comparative religion) पर अनुसन्धान तथा साहित्य तैयार कराने का कार्य सौंप देना चाहिए। वस्तुतः भारत जैसे देश में जहाँ अनेक धर्म प्रचलित

हैं, सभी धर्मों का एक अधिक उदार एवं सहिष्णुतापूर्ण अध्ययन आवश्यक है, ताकि नागरिक एक दूसरे के धर्म को समझें और अधिक उदार दृष्टिकोण अपना सकें।

इस प्रकार कोठारी शिक्षा आयोग ने देश के आर्थिक विकास, सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक उत्थान को दृष्टिगत रखते हुए भारती शिक्षा-प्रणाली के उद्देश्यों को निर्धारित किया है। जहाँ एक ओर हमें नागरिकों की उचित शिक्षा द्वारा उत्पादकता में वृद्धि करनी है, ताकि शिक्षा में किया विनियोग अधिक उत्पादक होकर हमारे जीवन-स्तर को ऊँचा कर सके, वहाँ सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक क्रान्ति तथा चरित्र-निर्माण पर बल देकर शिक्षा को अधिक जीवनोपयोगी बनाने का प्रयास किया है। चरित्र-निर्माण, नैतिक मूल्य एवं आध्यात्मिक और धार्मिक शिक्षा पर बल देना इस आयोग की अत्यन्त मूल्यवान सिफारिशों में माना जा सकता है।

## 2. शिक्षा-प्रणाली : संरचना एवं मानदण्ड

**संरचना एवं अवधि**

आयोग के मतानुसार किसी भी-शिक्षा-प्रणाली में उसका मानदण्ड चार प्रमुख तत्त्वों पर निर्भर रहता है।

(अ) शिक्षा रूपी पिरामिड की विभिन्न स्तरों पर संरचना (structure) अथवा विभाजन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध;

(ब) इन स्तरों पर लगने वाला कुल समय अर्थात् प्रत्येक स्तर की अवधि;

(स) अध्यापकों, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि, मूल्यांकन, सज्जा तथा भवन इत्यादि की किस्म का मानदण्ड; तथा

(द) उपलब्ध सुविधाओं का उचित उपयोग।

उपर्युक्त सभी तत्त्व एक दूसरे से सम्बन्धित हैं तथापि शिक्षा में उसका समान महत्त्व नहीं है। उदाहरण के लिए, संरचना का कोई विशेष महत्त्व नहीं क्योंकि यह तो केवल शिक्षा का ढाँचा मात्र है। इसकी तुलना में तो अवधि (duration) का महत्त्व अधिक है अर्थात् वह सम्पूर्ण काल जिसमें किसी छात्र ने शिक्षा पायी वह कितनी अवधि तक रहा। किन्तु इस अवधि में उपलब्ध साधनों का पूर्णतम उपयोग आवश्यक है। अवधि से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है विभिन्न लागतों (inputs), जैसे अध्यापक, पाठ्यक्रम, शिक्षण तथा परीक्षा-विधियों की श्रेष्ठता का स्तर। यदि इन लागतों का मानदण्ड उठा दिया जाय तो सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली का मानदण्ड बिना संरचनात्मक परिववर्तन के ही ऊँचा उठाया जा सकता है। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो इस सम्बन्ध में यह है कि सभी उपलब्ध सुविधाओं का अधिकतम उपयोग किया जाय और उनकी वर्तमान मात्रा से ही अधिकतम लाभ उठाया जाय।

अतएव स्कूलों में शिक्षा का मानदण्ड ऊँचा करने की हमारी तात्कालिक आवश्यकताएँ दो हैं—एक तो उपलब्ध सुविधाओं का अधिकतम उपयोग और दूसरा शिक्षा की विभिन्न लागतों (inputs) की किस्म में सुधार। ऐसा होने पर हम स्कूल-पाठ्यक्रम में एक वर्ष की पाठ्य-वस्तु और बढ़ा सकते हैं; साथ ही माध्यमिक स्तर पर दो

वर्ष की अवधि भी बढ़ायी जा सकती है । इस क्रिया का आरम्भ पाँचवें आयोजन से करके सन् 1985 तक उसे क्रमशः पूर्ण किया जा सकता है ।

**स्कूली शिक्षा का पुनर्गठन**

ऐसी स्थिति में आयोग का मत है कि स्कूली शिक्षा का नवीन ढाँचा निम्न प्रकार होगा :

(1) एक वर्ष से तीन वर्ष तक की अवधि की पूर्व-स्कूल शिक्षा;

(2) दस वर्ष की अवधि की सामान्य शिक्षा जिसमें सात से आठ वर्ष की प्राथमिक शिक्षा होगी । इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—चार या पाँच वर्ष की निम्न प्राथमिक (lower primary) अर्थात् कक्षा एक से चार या पाँच तक; और दूसरे दो या तीन वर्ष तक उच्च-प्राथमिक अर्थात् कक्षा छह से सात या आठ तक । इसके उपरान्त तीन या दो वर्ष की निम्न माध्यमिक सामान्य शिक्षा (कक्षा नौ से दस या ग्यारह तक), अथवा इसके बदले में एक वर्ष से लेकर तीन वर्ष की व्यावसायिक शिक्षा (व्यावसायिक शिक्षा में प्रवेश संख्या सम्पूर्ण प्रवेश की बीस प्रतिशत रखी जा सकती है ।)

(3) उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की अवधि या तो दो वर्ष की सामान्य शिक्षा रखी जा सकती है अथवा एक वर्ष से लेकर तीन वर्ष तक व्यावसायिक शिक्षा । व्यावसायिक शिक्षा में प्रवेश-संख्या पचास प्रतिशत तक की जा सकती है ।

(4) इसके उपरान्त उच्च शिक्षा-स्तर पर प्रथम डिग्री पाठ्यक्रम तीन या अधिक वर्षों का होना चाहिए । तदुपरान्त पोस्ट-डिग्री अथवा अनुसन्धान के लिए विभिन्न अवधि का पाठ्यक्रम होना चाहिए ।

कक्षा एक में प्रवेश होते समय बालक की आयु सामान्यतः 6+ से कम नहीं होनी चाहिए । दस वर्ष तक स्कूल में शिक्षा पाने के उपरान्त ही छात्र की पहली सार्वजनिक परीक्षा होनी चाहिए । माध्यमिक स्कूल दो प्रकार के रखे जायँ—एक तो दस वर्ष तक की शिक्षा देने वाले हाई स्कूल और दूसरे ग्यारह से बारह वर्ष तक की अवधि वाले उच्चतर माध्यमिक अर्थात् हायर सेकण्डरी स्कूल । आयोग का मत है कि प्रत्येक हाई स्कूल को उच्चतर माध्यमिक बनाने का प्रयास छोड़ देना चाहिए । केवल बड़े और अच्छे स्कूलों को ही उच्चतर बनाया जाय । वर्तमान उच्चतर स्कूलों में जो इस योग्य न पाये जायें, उनका स्तर पुनः घटा देना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त ग्यारहवीं कक्षा से आगे एक नया पाठ्यक्रम खोला जाना चाहिए । कक्षा ग्यारह तथा बारह में विशेष पाठ्यक्रम की व्यवस्था विभिन्न विषयों में की जाय । जहाँ कक्षा नौ से ग्यारह तक पहले से ही संगठित (integrated) पाठ्यक्रम अच्छी तरह चल रहा है, वहाँ बारहवीं कक्षा जुड़ने तक यही व्यवस्था चलती रहे ।

इस स्तर पर आयोग ने दो महत्त्वपूर्ण सुधारों का सुझाव दिया है : (1) विश्वविद्यालयों तथा कालेजों से पूर्व-विश्वविद्यालय (Pre-University) पाठ्यक्रम को हस्तांतरित करके स्कूलों में जोड़ दिया जाय ; और (2) सामान्य शिक्षा की अवधि बढ़ाकर सभी जगहों पर दो वर्ष की कर दी जाय । पूर्व-विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम का

हस्तांतरण कार्य सन् 1975-76 तक तथा सामान्य पाठ्यक्रम की अवधि को लम्बा करने का कार्य सन् 1985-86 तक सम्पादित किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में यू० जी० सी० को चाहिए कि जहाँ-जहाँ पर पूर्व-विश्वविद्यालय अथवा इण्टर कक्षाएँ कालेजों या विश्वविद्यालयों से जुड़ी हुई हैं, उन्हें हटाने की व्यवस्था करे। साथ ही राज्य शिक्षा-विभागों को चाहिए कि वे चुने हुए स्कूलों में उच्चतर माध्यमिक कक्षाएँ आत्म-निर्भर (self-contained) इकाइयों के रूप में खुलवा कर उनके लिए पर्याप्त अनुदान की व्यवस्था करें। माध्यमिक शिक्षा बोर्डों का पुनर्गठन करके उन्हें माध्यमिक शिक्षा के विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को लम्बा करने का कार्य अग्रिम योजनाओं के रूप में चतुर्थ आयोजन में प्रारम्भ करके पाँचवीं योजना की समाप्ति तक पूर्ण कर देना चाहिए। आयोग का मत है कि माध्यमिक शिक्षा का व्यवसायीकरण (vocationalisation) होना चाहिए।

**विश्वविद्यालय-स्तर पर पुनर्गठन**

सन् 1947 से पहले सभी विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम की अवधि एक प्रकार से समान थी अर्थात् दो वर्ष की ग्रेजुएट शिक्षा के उपरान्त दो वर्ष की पोस्ट-ग्रेजुएट शिक्षा दी जाती थी। इसके उपरान्त ज्यों-ज्यों देश में नये विश्वविद्यालय खुलते गये, पाठ्यक्रम की अवधि में असमानता आती गयी। इस समय उत्तर प्रदेश के सभी विश्वविद्यालयों में तथा बम्बई विश्वविद्यालय में तो दो वर्ष की इण्टरमीडियेट शिक्षा के उपरान्त आर्ट्स, साइन्स तथा कॉमर्स में पाठ्यक्रम की अवधि पूर्ववत् ही है। किन्तु शेष अन्य सभी विश्वविद्यालयों में यह डिग्री-पाठ्यक्रम तीन वर्ष का हो गया है। दो-एक विश्वविद्यालय में ऑनर्स कोर्स का परीक्षण भी किया गया है। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक उच्च शिक्षा-क्षेत्र में तो भारी विषमता है। उदाहरण के लिए, कृषि, इंजीनियरी तथा मेडीकल शिक्षा के पाठ्यक्रमों की अवधि विभिन्न स्थानों पर तीन से छह वर्ष तक की है। इन्हीं विषमताओं को मिटाने के लिए शिक्षा आयोग ने उच्च शिक्षा के पुनर्गठन की सिफारिश की है। तथापि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में आयोग के मतानुसार जो सबसे बड़ा दोष है वह अवधि की विभिन्नता का नहीं, वरन् बहुत-से विश्वविद्यालयों में डिग्री पाठ्यक्रम के नीचे मानदण्ड का है।

विश्वविद्यालय शिक्षा में संरचनात्मक परिवर्तन के सम्बन्ध में आयोग ने सिफारिश की है कि प्रथम डिग्री-पाठ्यक्रम प्रत्येक स्थान पर तीन वर्ष से कम अवधि का नहीं होना चाहिए। पोस्ट-ग्रेजुएट-स्तर अर्थात् द्वितीय डिग्री-पाठ्यक्रम की अवधि दो या तीन वर्ष की हो सकती है। कुल विश्वविद्यालय चुने हुए विषयों में मास्टर डिग्री-पाठ्यक्रम के लिए ग्रेजुएट-स्कूलों की स्थापना कर सकते हैं। प्रथम डिग्री के लिए तीन वर्ष के विशेष पाठ्यक्रम का सूत्रपात वर्तमान त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष के उपरान्त चुने हुए विषयों में चुनी हुई शिक्षा-संस्थाओं में प्रारम्भ कर देना चाहिए। जो छात्र लम्बी अवधि का पाठ्यक्रम लें उन्हें छात्रवृत्ति इत्यादि के द्वारा प्रोत्साहित करना

चाहिए । उत्तर प्रदेश में जहाँ अभी त्रिवर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम को वित्तीय तथा स्टाफ की कठिनाइयों के कारण कार्यान्वित नहीं किया जा सका है, शिक्षा आयोग ने विशेष सुझाव दिया है कि यहाँ कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत कुछ विशेष विषयों में त्रिवर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम का तुरन्त सूत्रपात कर देना चाहिए और शनै: शनै: आगामी पन्द्रह-बीस वर्षों में इसे सभी विश्वविद्यालयों में लागू कर देना चाहिए ।

**सुविधाओं का उपयोग**

शिक्षा के सभी स्तरों पर उपलब्ध वर्तमान सुविधाओं के अधिकतम उपयोग की सिफारिश शिक्षा आयोग ने की है । इसके लिए समय के अतिरिक्त लागतों (inputs), जैसे अध्यापकों, पाठ्क्रम, शिक्षण-विधि तथा परीक्षा-विधि इत्यादि की किस्म में सुधार करना होगा । इसके तात्कालिक परिणाम निकलेंगे । यह अनुभव किया जा रहा है कि यद्यपि शिक्षा-संस्थाओं में वर्तमान सुविधाएँ अत्यन्त अल्प हैं, किन्तु जितनी सुविधाएँ हैं उनका भी पूर्णतम सदुपयोग नहीं हो पा रहा है । आयोग का मत है कि काम करने के घण्टों में वृद्धि करके, काम करने के दिनों की संख्या बढ़ाकर अर्थात् छुट्टियों में कटौती करके, लम्बी छुट्टियों के सदुपयोग के द्वारा अर्थात् हर प्रकार से कठोर परिश्रम के द्वारा शिक्षा का स्तर उठाया जा सकता है । राष्ट्र का उत्थान बिना घोर श्रम के सम्भव नहीं । इस दिशा में शिक्षा-संस्थाएँ अपने ही क्षेत्र में परिश्रम के द्वारा आदर्श उपस्थित कर सकती हैं । इस सम्बन्ध में शिक्षा आयोग ने स्पष्ट सिफारिशें की हैं कि वर्ष में पढ़ाई के दिनों को संख्या स्कूलों के लिए उन्तालीस सप्ताह और कालेजों एवं पूर्व-प्राथमिक स्कूलों के लिए छत्तीस सप्ताह कर देनी चाहिए । इस सम्बन्ध में शिक्षा मन्त्रालय और यू० जी० सी० को चाहिए कि विश्वविद्यालयों और राज्य सरकारों की सलाह से एक स्टैण्डर्ड कलैण्डर तैयार कराकर सभी स्थानों पर लागू करे । शेष छुट्टियों को काटकर दस तक कर देना चाहिए । परीक्षाओं के कारण स्कूलों में इक्कीस दिन और कालेजों में सत्ताईस दिन से अधिक पढ़ाई का नुकसान न होने पाये । लम्बी छुट्टियाँ भी व्यर्थ न जायँ, उनमें स्वाध्याय कैम्प, सामाजिक सेवा, उत्पादन-कार्य तथा साक्षरता अभियान जैसे कार्य करने चाहिए । विश्वविद्यालयों में स्वाध्याय को प्रोत्साहन देना चाहिए । पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं तथा वर्कशाप इत्यादि की जो भी सुविधाएँ हैं उनका पूर्ण उपयोग होना चाहिए ।

आयोग का विचार है कि मानदण्ड क्रमश: विकसित तथा उच्चतर होते जाने चाहिए । राज्य तथा राष्ट्रीय स्तरों पर ऐसी मशीनरी की स्थापना की जानी चाहिए जो निरन्तर शिक्षा के मानदण्ड की माप और जाँच करती रहे । शिक्षा के सभी स्तरों में समन्वय आवश्यक है । विश्वविद्यालय माध्यमिक स्कूलों की कार्यक्षमता बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं । विभिन्न क्षेत्रों में पड़ोस के स्कूलों का एक ऐसा समूह (school complex) बन सकता है जहाँ पारस्परिक सहयोग के द्वारा शैक्षिक स्तर को उठाने के प्रयास किये जा सकते हैं । आयोग का मत है कि पार्ट-टाइम शिक्षा तथा स्वाध्याय

की सुविधाएँ अधिकाधिक दी जायँ तथा राष्ट्र-भार में सभी स्तरों के लिए उचित नामकरण किया जाय। इस समय शिक्षा-स्तरों को देश के विभिन्न राज्यों में पृथक-पृथक नामों से पुकारा जाता है। अतः इन नामों की विविधता हटाकर सम्पूर्ण देश में सभी स्तरों का नाम एकसा ही कर दिया जाय। आयोग ने तीन स्तरों का सुझाव दिया है—(1) पूर्व-स्कूल-स्तर, (2) स्कूल-स्तर, और (3) उच्च शिक्षा-स्तर। यह सात भागों में विभाजित हैं :

**स्कूली शिक्षा—**

(1) पूर्व-प्राथमिक।

(2) प्राथमिक (कक्षा 1 से 7 या 1 से 8) :

(अ) निम्नतर प्राथमिक (Lower Primary)—(कक्षा 1 से 4 या 1 से 5)

(ब) उच्चतर प्राथमिक (High Primary)—(कक्षा 6 से 7 या 6 से 8)।

(3) माध्यमिक (कक्षा 8 से 11 या 9 से 12) :

(अ) निम्नतर माध्यमिक शिक्षा (कक्षा 8 से 10 या 9 से 10);

(ब) उच्चतर माध्यमिक शिक्षा (कक्षा 9 से 12 तक)।

**उच्च शिक्षा—**

(4) व्यावसायिक डिग्री (Professional Degree)— इसमें वर्तमान एम०ए०, एम० एस-सी०, एम० कॉम०, बी० ई०, एम० बी० बी० एस०, बी० टी०, एल-एल० बी०, बी० एस-सी० एजी० इत्यादि की डिग्रियाँ सम्मिलित हैं।

(5) सामान्य डिग्री (General Degree)।

(6) अण्डर-ग्रेजुएट।

(7) पोस्ट-ग्रेजुएट।

## 3. अध्यापक का स्थान

शिक्षा आयोग का मत है कि शिक्षा को प्रभावित करने वाले सभी तत्त्वों में अध्यापक का स्थान बहुत ऊँचा है। उच्च कोटि की शिक्षा पाये हुए चरित्रवान, योग्य, सन्तुष्ट तथा सम्मानित अध्यापक भारत में शिक्षा के मानदण्ड को उठाने और भविष्य में भी शिक्षा के प्रसार तथा मानदण्ड की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए निश्चय ही सर्वोपरि महत्त्व रखते हैं। योग्य तथा मेधावी पुरुषों और स्त्रियों को शिक्षा-क्षेत्र की ओर आकृष्ट करने के लिए उनके आर्थिक, सामाजिक तथा व्यावसायिक स्तरों का उत्थान करना आवश्यक है। आयोग का यह स्पष्ट मत है कि केवल आदर्शवाद की दुहाई देने अथवा छात्र-प्रेम, विद्या, शिक्षण या अनुसन्धान से प्रेम इत्यादि भावनाओं की बात करने से अब अधिक लाभ की आशा नहीं की जा सकती। जब तक अध्यापकों के वेतन-क्रम और उनकी कार्य-दशाओं में सुधार नहीं होगा, हम योग्य लोगों को अध्यापन कार्य में श्रद्धापूर्वक लगाने में सफल नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में आयोग वेतन-वृद्धि को, विशेषतः-स्कूल-स्तर पर, सबसे प्रथम उपाय मानता है।

**वेतन-क्रम**—वेतन-वृद्धि की दृष्टि से आयोग का मत है कि केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि उच्च वेतन-क्रम निर्धारित करके राज्य सरकारों की सहायता करे। आयोग ने सभी स्तरों के अध्यापकों को देश भर में निम्न वेतन-क्रमों की सिफारिश की है :

| | | |
|---|---|---|
| (1) प्राथमिक स्कूल अध्यापक जिसने माध्यमिक स्तर तक शिक्षा पाने के अतिरिक्त 2 वर्ष की ट्रेनिंग पाई हो | | रुपये 150—250 |
| इनमें से 15% को सेलेक्शन ग्रेड | | 250—300 |
| (अप्रशिक्षित प्राथमिक अध्यापक को न्यूनतम वेतन 100) | | |
| (2) ट्रेण्ड ग्रेजुएट | | 200—400 |
| (सेलेक्शन ग्रेड 15% के लिए) | | 400—500 |
| केवल ग्रेजुएट अध्यापक | | 200 न्यूनतम |
| (3) पोस्ट-ग्रेजुएट माध्यमिक अध्यापक | | 300—600 |
| (4) प्रधानाध्यापक (माध्यमिक) | (i) | 300—25—600 |
| | (ii) | 400—30—640—40—800 (स्कूल के आकार व प्रधानाध्यापक की योग्यता के आधार पर विभिन्न स्तर) |
| (5) सम्बद्ध कॉलेज : | | |
| (i) जूनियर स्केल | | 300—25—600 |
| (ii) सीनियर स्केल | | 400—30—640—40—800 |
| (iii) सीनियर लेक्चरर या रीडर | | 700—40—1100 |
| (iv) प्रिंसिपल : | (i) | 700—40—1100 |
| | (ii) | 800—50—1250 |
| | (iii) | 1000—50—1500 |
| (6) विश्वविद्यालयों के अध्यापक | | |
| (i) लेक्चरर | | 500—40—800—50—950 |
| (ii) रीडर | | 750—50—1250 |
| (iii) प्रोफेसर | | 1100—50—1300—60—1600 (विशेषत: योग्य प्रोफेसरों को 1500—1800 रु० मिलना चाहिए।) |

आयोग ने सुझाव दिया है कि सरकारी, गैर-सरकारी अथवा स्थानीय सत्ताओं के विभिन्न प्रबन्धों के अन्तर्गत चलने वाले सभी प्रकार के स्कूलों में समान कार्य के लिए समान वेतन-क्रम होने चाहिए। समानता (parity) के इस सिद्धान्त को तुरन्त ही मानकर आगामी पाँच वर्षों में कार्यान्वित कर देना चाहिए।

प्राथमिक स्कूलों में हाई स्कूल पास से कम शिक्षा का अध्यापक नहीं रखना

चाहिए। दो वर्ष का अतिरिक्त प्रशिक्षण उसके लिए अनिवार्य है। प्राथमिक स्कूलों के हैडमास्टर ट्रेण्ड ग्रेजुएट होने चाहिए। उसी के अनुसार उन्हें वेतन भी मिलना चाहिए।

माध्यमिक स्कूलों के प्रधान अध्यापकों के वेतन कॉलेज या विश्वविद्यालयों के लेक्चररों, रीडरों तथा प्रोफेसरों के वेतन-क्रमों के अनुरूप होने चाहिए। किन्तु यह बात स्कूल के आकार तथा प्रधान अध्यापक की योग्यता पर निर्भर करेगी। माध्यमिक अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण अनिवार्य है। राज्य माध्यमिक शिक्षा-बोर्डों को चाहिए कि अध्यापकों की भर्ती के सम्बन्ध में नियम बनायें।

आयोग ने माध्यमिक स्कूलों के प्रबन्ध की वर्तमान बुराइयों को दूर करने के लिए प्रबन्ध-समितियों में शिक्षा-विभाग का प्रतिनिधि रखने पर बल दिया है। अध्यापकों के चुनाव की विधि में सुधार तथा नियमों को न मानने पर सहायता-अनुदान न देने की सिफारिशें भी आयोग ने की हैं।

विश्वविद्यालयों के लिए आयोग का मत है कि नये वेतन-क्रमों के लागू करने का अस्सी प्रतिशत व्यय केन्द्र तथा दस प्रतिशत राज्य सरकार को देना चाहिए। सम्बद्ध कालेजों में शत-प्रतिशत केन्द्र को देना चाहिए। विश्वविद्यालयों के लिए एक आदर्श अधिनियम होना चाहिए। विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में शिक्षकों की योग्यताएँ समान रखी जायँ। भर्ती के नियमों तथा विधियों में सुधार की भारी आवश्यकता है। विश्वविद्यालय आदर्श अधिनियम इस सम्बन्ध में आधार माना जा सकता है। अध्यापकों की योग्यता-वृद्धि पर उन्हें उच्च वेतन मिलना चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय में उच्च स्तर के अध्यापकों की संख्या निम्न स्तर के अध्यापकों की संख्या की कम से कम आधी हो अर्थात् 2 : 1 का अनुपात होना चाहिए। योग्य अध्यापकों के लिए उच्च स्तर पर स्थायी पद रिक्त न होने पर भी तुरन्त अस्थायी नियुक्ति कर देनी चाहिए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से सलाह लेकर कोई विश्वविद्यालय किसी अत्यन्त योग्य प्रोफेसर को 1600—1800 रु० के वेतन-क्रम से भी कोई ऊँचा ग्रेड दे सकता है। आयोग का स्पष्ट मत है कि सभी स्तर के अध्यापकों के वेतन-क्रमों पर प्रति पाँच वर्ष के उपरान्त विचार करके जीवनयापन-व्यय में वृद्धि के अनुसार वृद्धि कर देनी चाहिए।

**कल्याण-सेवाएँ**—अध्यापकों के लिए कल्याण-सेवाओं पर आयोग ने बहुत बल दिया है। इसके लिए उसने सिफारिश की है कि स्कूलों के अध्यापकों के लिए प्रत्येक राज्य में एक सामान्य कल्याण-कार्यक्रम को लागू करना चाहिए, जिसके अन्तर्गत अध्यापक अपने वेतन का डेढ़ प्रतिशत कोष में जमा करें। इतना ही अंशदान सरकार का हो। इस कोष का प्रबन्ध अध्यापकों तथा राज्य सरकार के प्रतिनिधि मिलकर करें और रुपये का उपयोग विभिन्न कल्याण-सेवाओं के लिए किया जाय।

इसके अतिरिक्त रिटायरमेण्ट-लाभ सरकार अध्यापकों को उसी प्रकार देना प्रारम्भ कर दे जैसे वह अन्य सरकारी कर्मचारियों को देती है। इसका आरम्भ फिलहाल राजकीय स्कूलों के अध्यापकों से करके धीरे-धीरे अन्य प्रबन्धों के अन्तर्गत चलने वाले स्कूलों के अध्यापकों को क्रमशः इसका लाभ प्रदान किया जा सकता है।

आयोग ने सिफारिश की है कि सभी स्तरों के अध्यापकों को त्रिलाभ परियोजना (Triple-benefit Scheme) के अन्तर्गत तुरन्त ले आना चाहिए। रिटायर होने की आयु सभी स्तर के अध्यापकों के लिए साठ वर्ष कर दी जाय, जिसे बढ़ाकर पैंसठ तक कर देना चाहिए। अध्यापकों के प्रॉवीडेण्ट फण्ड पर ब्याज-दर में वृद्धि कर दी जाय और इस कोष की विनियोग-विधि को अधिक लाभदायक बना दिया जाय।

**कार्य तथा सेवा-दशाएँ**—कार्य तथा सेवा-दशाओं में अविलम्ब सुधार की आवश्यकता बताते हुए आयोग ने कहा है कि ये अवस्थाएँ ऐसी हों जिनमें काम करके अध्यापक अपनी कार्यक्षमता के उच्चतम स्तर तक पहुँच सकें। इसके लिए आयोग ने सुझाव दिया है कि काम करने की न्यूनतम उपयुक्त सुविधाएँ सभी अध्यापकों को दी जानी चाहिए। पढ़ाने के अतिरिक्त स्कूल या कॉलेज में अन्य कार्यों पर अध्यापक का जो समय लगे उसे भी अध्यापन-घण्टों में मान लेना चाहिए। उन्हें प्रति पाँच वर्ष में कम से कम एक बार भारत-भ्रमण के लिए रेल-किराये में उपयुक्त रियायत दी जाय। सेवा के नियम सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं में समान हों। आयोग ने शिक्षकों के रहने के लिए मकानों की व्यवस्था पर विशेष बल दिया है। उसका सुझाव है कि ग्रामीण क्षेत्रों में उनके लिए मकान बनाने को राज्य सरकार आर्थिक सहायता प्रदान करे। बड़े शहरों में उन्हें अलाउन्स दिया जाय। सहकारी भवन समितियाँ बनाकर उन्हें गृह-निर्माण के लिए धन दिया जाय। विश्वविद्यालयों में पचास प्रतिशत तथा कालेजों में बीस प्रतिशत अध्यापकों को संस्था की ओर से रहने के लिए घर मिलना चाहिए।

जहाँ तक हो सके, स्कूल अध्यापकों को प्राइवेट ट्यूशन नहीं करने देना चाहिए। विश्वविद्यालय-स्तर पर उन्हें अन्य अनुसन्धान संस्थाओं में अनुसन्धान अथवा सलाह प्रदान करने की अनुमति दी जाय। किन्तु इस कार्य से होने वाली अतिरिक्त आय उनके वेतन के पचास प्रतिशत से अधिक न हो।

गत कई वर्षों से भारत में अध्यापकों के विधान सभाओं अथवा संसद के लिए चुनाव लड़ने के प्रश्न पर विवाद चल पड़ा है। कुछ लोगों का भ्रम है कि यदि अध्यापकों को यह अधिकार दिया जायगा तो इससे शिक्षा-क्षेत्र में राजनीति का समावेश हो जायगा और इससे अनुशासन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। किन्तु शिक्षा आयोग ने अपनी सिफारिश के द्वारा इस विवाद का अन्त ही कर दिया है। उसने यह स्पष्टतः कहा है कि अध्यापक को अधिकार होना चाहिए कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने सभी नागरिक अधिकारों का प्रयोग करे तथा स्थानीय, राज्य अथवा राष्ट्रीय स्तर पर किसी भी सार्वजनिक पद को ग्रहण करे। चुनाव में भाग लेने में उसे कोई कानूनी बाधा न दी जाय। हाँ, इतना अवश्य है कि जब वे ऐसा करें उस समय उन्हें छुट्टी ले लेनी चाहिए।

अन्त में, आयोग ने अध्यापिकाओं को विशेष सुविधाएँ प्रदान करने, कबाइली क्षेत्रों के अध्यापकों को विशेष अलाउन्स देने, शिक्षकों के संगठनों को मान्यता प्रदान करने और उनके महत्त्व में वृद्धि करने, उनकी विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के

लिए संयुक्त परिषदों (joint councils) की रचना तथा सरकार द्वारा अधिक संख्या में अध्यापकों को राष्ट्रीय पारितोषक प्रदान करने की सिफारिशें की हैं।

## 4. अध्यापकों की शिक्षा

अध्यापकों को प्रशिक्षण प्रदान करने के कार्यक्रम को शिक्षा आयोग शिक्षा-स्तर ऊँचा करने के लिए आधारभूत महत्त्व की बात मानता है। स्वतन्त्रता के उपरान्त अध्यापकों की शिक्षा की अवहेलना की गयी है। अब तक सभी आयोगों ने इसके महत्त्व को स्वीकार किया है, तथापि ट्रेनिंग शिक्षा-संस्थाओं का स्तर अत्यन्त नीचा बना हुआ है। प्रशिक्षण की वर्तमान प्रणाली के दोषों की ओर संकेत करते हुए शिक्षा आयोग ने कहा है कि इन दोषों का निवारण करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रशिक्षण-संस्थाओं का शिक्षा की प्रमुख धारा से पृथकत्व (*isolation*) समाप्त करके उन्हें शिक्षा प्रणाली का प्रमुख अंग बना दिया जाय। उनके कार्यक्रम की किस्म के सुधार, सुविधाओं के विस्तार, प्रशिक्षण की निरन्तरता की व्यवस्था तथा स्तरों में सुधार करने के लिए केन्द्र एवं राज्य-स्तरों पर उचित एजेन्सियों की व्यवस्था इत्यादि अन्य उपायों की सिफारिशें आयोग ने की हैं।

**पृथकत्व का अन्त**—प्रशिक्षण संस्थाओं को सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली की धारा के मध्य में लाने के लिए अन्य शिक्षा-संस्थाओं से उनका पृथकत्व समाप्त कर देना चाहिए। यह तीन स्तरों पर करना होगा—विश्वविद्यालय शिक्षा से, स्कूली शिक्षा से तथा विभिन्न प्रकार की प्रशिक्षण-संस्थाओं में पारस्परिक एवं आन्तरिक दूरी को समाप्त करके।

विश्वविद्यालय-स्तर पर यह आवश्यक होगा कि शिक्षा को डिग्री तथा पोस्ट-डिग्री स्तर पर अध्यापन का विषय बना दिया जाय तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में अन्य विषयों के सम्पर्क से शिक्षा-समस्याओं पर अनुसन्धान किया जाय और वहाँ 'स्कूल ऑफ एजूकेशन' स्थापित किये जायँ।

स्कूलों से अध्यापक-शिक्षा के पृथकत्व को दूर करने के लिए आयोग का सुझाव है कि प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों में प्रसार सेवा-विभाग स्थापित किया जाय और प्रशिक्षण-संस्थाओं में प्रसार-कार्य को अनिवार्य कर दिया जाय। पुराने प्रशिक्षित अध्यापकों के संघों की स्थापना, 'प्रैक्टिस टीचिंग' के लिए अच्छे स्कूलों का चयन तथा उन स्कूलों के शिक्षकों का समय-समय पर आदान-प्रदान इत्यादि उपायों से प्रशिक्षण-संस्थाओं का अन्य स्कूलों से पृथकत्व समाप्त किया जा सकता है।

प्रशिक्षण-संस्थाओं की पारस्परिक दूरी का अन्त करने के लिए सभी प्रशिक्षण संस्थाओं का मानदण्ड उठाकर उन्हें कॉलेज-स्तर पर और अन्ततः विश्वविद्यालय शिक्षा के अन्तर्गत ले आना प्रत्येक राज्य में एक नियोजित विधि से शिक्षा-कालेजों और अध्यापक-प्रशिक्षण की सभी समस्याओं पर विचार करने के लिए अध्यापक-शिक्षा राज्य बोर्ड (State Board of Teacher Education) की स्थापना की सिफारिश आयोग ने की है।

**प्रशिक्षण-स्तर का उत्थान**—आयोग के मतानुसार यदि अध्यापक-शिक्षा में

किस्म (quality) का अभाव है तो वह न केवल धन का दुरुपयोग ही है, वरन् सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली के स्तर को नीचे गिराने का प्रमुख कारण बन जाती है। अतः इसकी किस्म में सुधार करना अध्यापक-शिक्षा कार्यक्रम में सर्वोच्च महत्त्व रखता है। इसके लिए आयोग ने पाठ्यक्रम के सुधार, विश्वविद्यालयों में सामान्य तथा व्यावसायिक शिक्षा पाठ्यक्रम के एकीकरण, अनुसन्धान, स्वाध्याय पर अधिक बल, प्रैक्टिस टीचिंग की किस्म में सुधार तथा शिक्षा की एक विकासशील प्रणाली को ध्यान में रखते हुए प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम में समय-समय पर संशोधन करते रहना इत्यादि का सुझाव आयोग ने दिया है।

प्रशिक्षण-काल की अवधि प्राथमिक अध्यापकों के लिए हाई स्कूल के उपरान्त दो वर्ष के प्रशिक्षण तथा माध्यमिक शिक्षकों के लिए ग्रेजुएट होने के उपरान्त एक वर्ष की सिफारिश की गयी है। प्रधान अध्यापकों तथा शिक्षकों को प्रशिक्षण देने वाले शिक्षकों की शिक्षा की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। माध्यमिक स्कूलों में पढ़ाने वाले अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण-संस्थाओं के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए आयोग का मत है कि वहाँ शिक्षण देने वाले अध्यापकों के पास दो पोस्ट-ग्रेजुएट डिग्रियाँ—एक प्रमुख विषय में तथा दूसरी शिक्षा में होनी चहिए। कुछ लोगों के पास डॉक्टरेट की उपाधि भी होनी चाहिए। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, गणित तथा विज्ञान जैसे विषयों में ऐसे विशेषज्ञों को भी नियुक्त किया जा सकता है जिन्होंने इस पेशे की दीक्षा नहीं ली है। सर्विस में लगे हुए अध्यापकों के लिए ग्रीष्म संस्थाएँ संगठित की जानी चाहिए। ऐसे नियम बना दिये जायँ कि अध्यापकों को उन्हीं विषयों को माध्यमिक स्कूलों में पढ़ाने की आज्ञा दी जाय जो उन्होंने विश्वविश्द्यालय-डिग्री के लिए पढे थे।

प्राथमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण-स्तर को ऊँचा करने के लिए आयोग का सुझाव है कि इन प्रशिक्षण-संस्थाओं के अध्यापकों के पास किसी विषय में पोस्ट-ग्रेजुएट डिग्री के अतिरिक्त बी० एड० इत्यादि की डिग्री भी होनी चाहिए। सामान्यतः हाई स्कूल पास लोग ही प्राथमिक पाठशालाओं में अध्यापक बनाये जायँ। लड़कियों की पाठशालाओं के लिए अपवाद हो सकता है। जो अध्यापक प्रशिक्षित नहीं हैं उन्हें डाक-पाठ्यक्रमों या छुट्टी देकर प्रशिक्षण-सुविधाएँ प्रदान की जायँ जिसकी प्रशिक्षण अवधि दो वर्ष की हो।

आयोग का मत है कि प्रशिक्षण-संस्थाओं में कोई शुल्क नहीं लिया जाय। उदार छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की जाय। प्रयोगात्मक सुविधाओं, छात्रावास, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, वर्कशाप तथा शिक्षकों के निवासस्थान इत्यादि सुविधाओं को पर्याप्त मात्रा में तुरन्त प्रदान किया जाय। प्रत्येक राज्य में प्रशिक्षण की वर्तमान सुविधाओं के विस्तार की आवश्यकता पर आयोग ने बल दिया है।

आयोग ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी अध्यापकों के प्रशिक्षण की आवश्यकता बतायी है। विशेषतः नये लेक्चररों को कुछ ओरियेन्टेशन भाषण इत्यादि की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि नये लोग अपने को विश्वविद्यालय में अध्यापन के अधिक अनुकूल बना लें। बड़े विश्वविद्यालयों में ओरियेन्टेशन-कार्य के लिए स्थायी स्टाफ की नियुक्ति

की जा सकती है । यू० जी० सी० उदार आर्थिक सहायता के द्वारा इस कार्य में सहायक हो सकता है । जो कॉलेज विश्वविद्यालय क्षेत्र से बाहर हैं केन्द्रीय सरकार उन्हें सहायता देकर वहाँ प्रशिक्षण की अवस्थाओं में सुधार कर सकती है ।

## 5. प्रवेश तथा मानव-शक्ति

आयोग का मत है कि भारत जैसे देश में जहाँ साधन अल्प हैं और लक्ष्य उच्च हैं, शिक्षा-क्षेत्र में छात्रों के विभिन्न स्तरों पर प्रवेश (enrolment) को देश की भावी मानव-शक्ति (man-power) आवश्यकताओं से सम्बन्धित करना होगा अर्थात् हमें उतने ही लोगों को शिक्षा देनी होगी जितनी विभिन्न उद्यमों में काम करने वालों की आवश्यकता पड़ेगी । इस सम्बन्ध में प्रवेश-संख्या का नियमन करना होगा । प्रवेश की राष्ट्रीय नीति के प्रमुख उद्देश्यों को बताते हुए आयोग ने कहा है कि आगामी बीस वर्षों में हमें सभी बच्चों को सात वर्ष की निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, अधिकांश बच्चों को जूनियर माध्यमिक शिक्षा तथा देश में प्रशिक्षित मानव-शक्ति की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा उन सभी छात्रों के लिए जो उसे पाने के योग्य तथा इच्छुक हैं, व्यवस्था करनी होगी । कुशल कारीगर प्रदान करने के लिए व्यावसायिक शिक्षा पर बल देना होगा तथा निरक्षरता का उन्मूलन करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा की निरन्तर व्यवस्था करनी पड़ेगी । हमारा लक्ष्य एक सामान्य नागरिक के शैक्षिक स्तर को उठाना भी है ।

माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में प्रवेश नीति की चार कसौटियाँ होंगी : जनता की माँग, नैसर्गिक योग्यता का पूर्ण विकास, एक वांछित स्तर की शिक्षा दे सकने की समाज की क्षमता, तथा मानव-शक्ति की आवश्यकताएँ । माध्यमिक शिक्षा का आकार बहुत बढ़ गया है, किन्तु उच्च शिक्षा-क्षेत्र में प्रवेश चयन के आधार पर होना चाहिए। योग्य छात्रों में से पाँच से पन्द्रह प्रतिशत ही फिलहाल उच्चतर माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश के लिए चुने जायँ । शिक्षा-सुविधाओं का विस्तार उसी हिसाब से किया जाय जितनी नौकरियाँ प्रदान करने की हमारी आवश्यकता हो । आँकड़ों के संकलन के द्वारा इन आवश्यकताओं का सदा अनुमान लगाते रहना चाहिए ।

भावी शिक्षा-सुविधाओं के विकास के सम्बन्ध में आयोग का मत है कि उन्हीं दिशाओं में विकास वांछनीय होगा जिनमें देश की भावी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जरूरी है । इसके अनियोजित सामान्य प्रकार को माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के विकास की अधिक आवश्यकता नहीं । इसके स्थान पर विशिष्ट तथा व्यावसायिक शिक्षा को प्राथमिकता देनी होगी । राष्ट्रीय तथा राज्य-स्तरों पर ऐसी मशीनरी का संगठन करना होगा जो इस बात का अनुमान लगाती रहे कि भविष्य में विभिन्न नौकरियों के लिए कितने शिक्षित लोगों की आवश्यकता पड़ेगी, ताकि प्रत्येक काम के लिए शिक्षित व्यक्ति मिल सकें और प्रत्येक शिक्षित को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिल सके । सामान्य शिक्षा केवल उन्हीं स्थानों पर विकसित की जाय जहाँ अभी विकसित नहीं हो पायी है अथवा राष्ट्रीय औसत से नीचे है । शिक्षा

और रोजगार का सम्बन्ध होना चाहिए। इसके लिए विस्तृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

## 6. शिक्षा-सुअवसरों की समानता

आयोग का विश्वास है कि शिक्षा-सुअवसरों की असमानता के कारण आर्थिक असमानताएँ उत्पन्न होती हैं। अत: शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक उद्देश्य शिक्षा-सुअवसरों की समानता प्रदान करना है । प्रत्येक समाज जो सामाजिक न्याय में विश्वास रखता है, अपने सभी वर्गों को शिक्षा की न्यायोचित सुविधाएँ प्रदान करता है । भारत में विभिन्न वर्गों, स्त्री तथा पुरुषों, विभिन्न जातीय वर्गों तथा क्षेत्रों में भारी शैक्षिक विषमताएँ हैं । अत: आयोग उन्हें कम करने के पक्ष में है ।

इसके लिए शिक्षा नि:शुल्क करना एक उपाय है। आयोग का मत है कि चतुर्थ आयोग की समाप्ति से पूर्व सभी प्राथमिक शिक्षा को नि:शुल्क बना देना चाहिए । निम्नतर माध्यमिक शिक्षा को सभी प्रकार के स्कूलों में पाँचवीं योजना के अन्त तक नि:शुल्क बना दिया जाय । उच्च शिक्षा के क्षेत्र में आगामी दस वर्षों के लिए लक्ष्य यह रखा जा सकता है कि सभी योग्य तथा मेधावी छात्रों को नि:शुल्क कर दिया जाय । कम से कम तीस प्रतिशत छात्रों को पूर्णत: नि:शुल्क करने के लक्ष्य से शुरूआत की जानी चाहिए ।

इसके अतिरिक्त पुस्तकों तथा अन्य सामग्री की सहायता, पुस्तक-बैंकों की स्थापना, पुस्तकालयों की सुविधाओं का विस्तार, पाठ्य-पुस्तकों की संख्या में वृद्धि, अधिक छात्र-वृत्तियाँ इत्यादि अन्य उपाय हैं जिनके द्वारा सभी वर्गों को शिक्षा सुलभ की जा सकती है । छात्रवृत्ति के लिए आयोग का सुझाव है कि उच्चतर प्राथमिक स्तर पर पढ़ने वाले छात्रों के 2·5% को 1975-76 तक और 5% को 1985-86 तक पर्याप्त मात्रा में छात्रवृत्ति दी जानी चाहिए । माध्यमिक स्तर पर 15% छात्रों को छात्रवृत्ति दी जानी चाहिए । उच्च स्तर पर यह प्रतिशत पन्द्रह से पच्चीस तक होना चाहिए । सन् 1986 तक पचास प्रतिशत छात्रों को उच्च शिक्षा-क्षेत्र में छात्रवृत्ति मिलनी चाहिए । छात्रवृत्ति की राशि इतनी हो कि छात्र का पूरा खर्चा चल सके । आयोग ने सिफारिश की है कि चोटी के पांच प्रतिशत से दस प्रतिशत तक के योग्य छात्रों को राष्ट्रीय छात्रवृत्ति प्रदान की जानी चाहिए । इस लक्ष्य की पूर्ति सन् 1985-86 तक हो जाय । विश्वविद्यालयों को चाहिए कि यू० जी० सी० के द्वारा दस प्रतिशत अण्डर-ग्रेजुएटों और बीस प्रतिशत पोस्ट-ग्रेजुएटों को छात्रवृत्ति दें । अनुसन्धान के लिए विशेष छात्रवृत्तियों की व्यवस्था होनी चाहिए । आयोग ने विदेशों में अध्ययन करने के लिए छात्रवृत्तियों, ऋण-छात्रवृत्तियों, अशक्त छात्रों को विशेष सहायता प्रदान करने, क्षेत्रीय शैक्षिक विषमताओं को दूर करने, स्त्री शिक्षा की विशेष सुविधाएँ प्रदान करने तथा पिछड़े वर्गों और इलाकों के छात्रों को अधिक सहायता देने की आवश्यकता के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं ।

## 7. स्कूली शिक्षा-विस्तार की समस्या

शिक्षा आयोग के अनुसार विश्वविद्यालय से पहले की सम्पूर्ण शिक्षा को एक इकाई मानकर चलना चाहिए जिसे विभिन्न स्तरों, जैसे पूर्व-प्राथमिक, प्राथमिक तथा माध्यमिक में विभाजित किया गया हो। किन्तु इन सभी स्तरों में एक साम्य रहना चाहिए।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए आयोग का मत है कि आगामी बीस वर्षों में इसका इतना विस्तार हो जाय कि तीन-पाँच वर्ष के आयु-वर्ग के सभी बच्चों के पाँच प्रतिशत तथा पाँच-छह वर्ष के वर्ग में पचास प्रतिशत बच्चे इस स्तर पर प्रवेश पा सकें। राज्य तथा जिला-स्तरों पर पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के केन्द्र स्थापित किये जायँ। वैयक्तिक प्रयास के अन्तर्गत इस शिक्षा को अनुदान द्वारा अधिक प्रोत्साहन दिया जाय। वर्तमान प्राथमिक पाठशालाओं में क्रीड़ा-केन्द्रों की स्थापना, पूर्व-प्राथमिक शिक्षा में परीक्षण, शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण तथा कार्यक्रम को अधिक लोचदार बनाकर इस शिक्षा को अधिक उपयोगी तथा विस्तीर्ण बनाया जाना चाहिए।

प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के विषय में आयोग का सुझाव है कि भारतीय संविधान में चौदह वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए जो अनिवार्य शिक्षा का विधान है उसकी पूर्ति देश के सभी भागों में होनी चाहिए। सन् 1974-76 तक पाँच वर्ष की अच्छी प्राथमिक शिक्षा सभी बच्चों को उपलब्ध की जाय। सन् 1985-86 तक सात वर्ष की शिक्षा सभी को मिलने लगे।

अपव्यय तथा अवरोधन को रोकने के सभी सम्भव उपाय किये जायँ। आगामी सात वर्षों की अवधि में यह सम्भव हो जाना चाहिए कि कम से कम अस्सी प्रतिशत ऐसे बच्चे जिन्होंने कक्षा एक में प्रवेश लिया है, कक्षा सात तक पहुँच जायँ। कक्षा सात तक आने पर भी जिन बच्चों की आयु चौदह वर्ष न हुई हो और आगे नहीं पढ़ना चाहते हों उन्हें उस समय कोई व्यावसायिक कार्य सिखा देना चाहिए। सभी राज्यों तथा जिलों में इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए योजना बनाकर उन्हें पूरा कर डालना चाहिए। पाठशालाओं की स्थापना इस प्रकार से हो कि लोअर प्रायमरी स्कूल घर से एक मील और अपर प्रायमरी स्कूल एक से तीन मील तक की परिधि से अधिक दूर न हों। प्रवेश का अधिकार तथा सुविधाएँ सार्वभौम होनी चाहिए। इस क्षेत्र में आगामी दस वर्षों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाना। अपव्यय तथा अवरोधन का पूर्णतः उन्मूलन सन् 1985 तक हो जाना चाहिए। इसके लिए कक्षा एक से चार तक की इकाई को एक मानना, पढ़ाई में सुधार, शिक्षा की क्रीड़ा-प्रणाली का प्रयोग, पार्ट-टाइम शिक्षा की व्यवस्था तथा माँ-बाप की शिक्षा इत्यादि उपायों का सुझाव आयोग ने दिया है। उन सभी बच्चों के लिए जो ग्यारह-चौबीस वर्ष के आयु-वर्ग में हैं और किसी स्कूल में नहीं पढ़ रहे, साक्षरता-कक्षाएँ प्राथमिक पाठशालाओं में चलायी जायँ जहाँ प्रारम्भ में स्वेच्छा से किन्तु अन्ततः अनिवार्य रूप से ऐसे बच्चों को शिक्षित किया जाय। लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा पर आयोग ने अधिक बल दिया है।

माध्यमिक स्तर पर शिक्षा-सुविधाओं के विस्तार के सम्बन्ध में सुझाव दिया गया है कि माध्यमिक शिक्षा में आगामी बीस वर्षों में प्रवेशों का नियमन कर देना चाहिए। इसके लिए स्कूल कहाँ स्थापित किया जाय इसका पूर्व-नियोजन आवश्यक है। जितनी सुविधाएँ उपलब्ध हों उन्हीं के अनुसार सर्वोत्तम छात्रों को चयन करके प्रविष्ट किया जाय।

प्रत्येक जिले के लिए माध्यमिक स्कूलों की स्थापना की विकास-योजना बनाकर आगामी दस वर्षों में उसे कार्यान्वित कर दिया जाय। नये तथा पुराने सभी स्कूलों के स्तर ऊँचे कर दिये जायँ। आयोग का मत है कि माध्यमिक शिक्षा को अधिक जीवनोपयोगी बनाने के लिए उसका व्यवसायीकरण (vocationalisation) कर डालना चाहिए। निम्नतर माध्यमिक स्तर के छात्रों में से बीस प्रतिशत तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर में से पचास प्रतिशत छात्रों को आगामी बीस वर्षों में व्यावसायिक शिक्षा मिलनी चाहिए। आयोग ने माध्यमिक स्तर पर भी पार्ट-टाइम शिक्षण तथा लड़कियों की शिक्षा-सुविधाओं में वृद्धि करने की सिफारिश की है। किसी स्थान पर स्कूल स्थापित करने के सम्बन्ध में आयोग का मत है कि अत्यन्त उचित स्थानों पर ही स्कूल स्थापित किये जायँ। एक राष्ट्रीय नीति इस सम्बन्ध में यह हो कि अनावश्यक स्थानों पर स्कूल बनाकर साधनों का दुरुपयोग न किया जाय। व्यावसायिक स्कूलों को सम्बन्धित उद्योग के समीपवर्ती क्षेत्र में ही स्थापित किया जाय।

## 8. स्कूल पाठ्यक्रम

भारतीय स्कूलों के पाठ्यक्रम को सुधारने के विषय में आयोग अधिक चिन्तित है। वर्तमान पाठ्यक्रम को वह अपर्याप्त, समयातीत तथा देश की आधुनिक आवश्यकताओं के प्रतिकूल समझता है। वर्तमान युग में विभिन्न शाखाओं में ज्ञान के विस्फोट तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के कारण स्कूली पाठ्यक्रम समय की माँग की पूर्ति नहीं करते। अतः आयोग का मत है कि पाठ्यक्रम में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। इसके लिए सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को एक एकीकृत इकाई मानकर सामान्य शिक्षा की नवीन परिभाषा करनी होगी और साथ ही विशिष्टीकरण के सम्बन्ध में नवीन विधियों को अपनाना होगा।

**प्रमुख सुधार**—स्कूल-पाठ्यक्रम-सुधार के आवश्यक तत्त्वों का उल्लेख करते हुए आयोग ने निम्नलिखित प्रमुख सुधारों पर बल दिया है :

(1) विश्वविद्यालयों, ट्रेनिंग कालेजों तथा राज्यों के शिक्षा-विभागों द्वारा पाठ्यक्रम के विभिन्न पहलुओं में अनुसन्धान करना चाहिए और इस अनुसन्धान के परिणामस्वरूप समय-समय पर पाठ्यक्रम का स्तर ऊँचा उठाते रहना चाहिए।

(2) स्कूलों को स्वतन्त्रता हो कि वे नया पाठ्यक्रम बनायें तथा उसका परीक्षण करें। ट्रेनिंग कालेजों से लगे हुए जो प्रयोगात्मक स्कूल हों उनमें इस पाठ्यक्रम का परीक्षण करके देखा जाय।

(3) राज्य शिक्षा-विभाग द्वारा सामान्य तथा विशिष्ट पाठ्यक्रमों को तैयार करके स्कूलों की क्षमतानुसार उन्हें लागू किया जाय।

(4) विभिन्न विषयों को पढ़ाने वाले अध्यापकों के संघों का निर्माण करके उन्हें परीक्षण के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

**संगठन**—पाठ्यक्रम के संगठन के सम्बन्ध में आयोग का मत है कि गैर-व्यावसायिक स्कूलों में प्रथम दस वर्ष तक सामान्य शिक्षा पाठ्यक्रम पढ़ाया जाय। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर ही जाकर विशिष्टीकरण तथा अध्ययन का बहुमुखीकरण प्रारम्भ किया जाय।

लोअर प्रायमरी-स्तर पर भाषा, प्रारम्भिक गणित तथा वातावरण का अध्ययन कराया जाय। पुस्तकों के पढ़ने पर विशेष बल दिया जाय। अपर प्रायमरी-स्तर पर पाठ्यक्रम को विस्तृत एवं गहरा कर दिया जाय तथा शिक्षण अधिक व्यवस्थित होना चाहिए। निम्न माध्यमिक स्तर पर अध्ययन और अधिक गहरा कर जाय दिया।

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रमों को बहुमुखी कर दिया जाय ताकि छात्र स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी वर्ग में से अपनी रुचि के अनुसार तीन विषयों के किसी पाठ्यक्रम को गहराई तथा लोच के साथ पढ़ सकें। किशोर के अधिक सन्तुलित व्यक्तित्व के विकास के हित में यह आवश्यक है कि आधा समय तो इस चुने हुए पाठ्यक्रम के अध्ययन में लगायें, चौथाई समय भाषाओं के अध्ययन में तथा शेष समय शारीरिक शिक्षा, कला तथा दस्तकारी, नैतिक अथवा आध्यात्मिक शिक्षा के अध्ययन में लगायें। गणित, विज्ञान तथा भाषाओं का उन्नत पाठ्यक्रम निम्न माध्यमिक स्तर पर तथा अन्य विशिष्ट विषयों का उन्नत पाठ्यक्रम उच्चतर माध्यमिक स्तर पर प्रारम्भ किया जा सकता है।

**भाषाओं का अध्ययन**—स्कूल-स्तर पर आयोग ने अध्ययन के लिए एक नवीन भाषा-नीति की सिफारिश की है। इसके निम्नांकित सिद्धान्त बताये गये हैं :

(अ) मातृभाषा के उपरान्त हिन्दी ही संघ की राज्य भाषा के रूप में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(ब) अंग्रेजी का सामान्य ज्ञान छात्रों के सर्वदा हित में बना रहेगा और अंग्रेजी बहुत दिनों तक 'पुस्तकालय-भाषा' बनी रहेगी ;

(स) किसी भी भाषा में क्षमता प्राप्त करना शिक्षक की योग्यता और शिक्षक की सुविधाओं के साथ ही साथ इस बात पर भी निर्भर करता है कि उसकी पढ़ाई कितनी अवधि तक की गयी है ;

(द) तीन भाषाओं का अध्ययन प्रारम्भ करने का सबसे अधिक उपयुक्त स्तर निम्न माध्यमिक स्तर अर्थात् कक्षा 8 से 10 तक है ;

(य) तीन भाषाओं में से जो दो अतिरिक्त भाषाएँ हों उनके अध्ययन के सम्बन्ध में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए, वरन् एक भाषा की शुरूआत उच्चतर प्राथमिक स्तर पर तथा दूसरी की शुरूआत निम्न माध्यमिक स्तर पर करनी चाहिए। किसी भी अच्छे स्कूल में एक भाषा का काम-चलाऊ ज्ञान तीन वर्ष में हो सकता है।

(र) हिन्दी अथवा अंग्रेजी को अनिवार्य भाषा के रूप में उसी समय पढ़ाना प्रारम्भ करना चाहिए जबकि उसके लिए स्थानीय प्रेरणा (motivation) एवं आवश्यकता हो।

(ल) चार भाषाओं का अध्ययन किसी भी स्तर पर अनिवार्य न किया जाय।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर आयोग ने एक नया भाषा-फार्मूला प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार तीन भाषाएँ ही पढ़ायी जायँगी, किन्तु वह अब तक चले आने वाले त्रिभाषा-फार्मूला से थोड़ा भिन्न होगा। इसके अन्तर्गत मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा, संघ की राज्य-भाषा अर्थात् हिन्दी जब तक चलती रहे उस समय तक सहायक राज्य-भाषा अर्थात् अंग्रेजी तथा तीसरी कोई भी आधुनिक भारतीय अथवा विदेशी भाषा जो ऊपर की दो भाषाओं से भिन्न होगी तथा जो शिक्षा का माध्यम नहीं रही हो।

इस नये फार्मूले का व्यावहारिक रूप यह होगा कि कक्षा 4 तक एक भाषा अर्थात् क्षेत्रीय या मातृभाषा ही पढ़ायी जायगी। भाषा की दृष्टि से अल्पसंख्यकों को मातृभाषा में ही प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ अनिवार्यतः दी जायँ।

उच्चतर प्राथमिक स्तर पर कक्षा 5 से आगे दो भाषाएँ अनिवार्य हों, अर्थात् (1) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा, तथा (2) हिन्दी या अंग्रेजी। साथ ही एक तीसरी भाषा का वैकल्पिक रूप से अध्ययन करने की सुविधा भी प्रदान की जा सकती है ताकि गैर-हिन्दी क्षेत्रों में जो बालक हिन्दी नहीं पढ़ रहे हों वे पढ़ सकें।

निम्न माध्यमिक स्तर पर कक्षा 8 से 10 तक तीन भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य कर दिया जाय। इस प्रकार मातृभाषा, अंग्रेजी तथा कोई आधुनिक भारतीय भाषा हिन्दी-क्षेत्रों में और मातृभाषा, अंग्रेजी तथा हिन्दी गैर-हिन्दी क्षेत्रों में अनिवार्यतः पढ़ायी जायगी। आयोग ने अपने एक सदस्य का यह सुझाव अस्वीकार कर दिया कि अंग्रेजी तथा हिन्दी का शिक्षण कक्षा 5 के बजाय कक्षा 3 से ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। रूसी भाषा, जर्मन, फ्रेंच, चीनी तथा जापानी भाषाओं के पढ़ाने की सुविधा भी कुछ चुने हुए स्कूलों में प्रदान की जाय।

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में छात्रों को स्वतन्त्रता हो कि उपर्युक्त तीन भाषाओं में से कोई भी दो भाषाएँ चुन लें अथवा आधुनिक भारतीय और विदेशी भाषाओं तथा देशी एवं विदेशी शास्त्रीय (classical) भाषाओं में से दो भाषाएँ चुन लें। विश्वविद्यालय-स्तर पर त्रिभाषा फार्मूला को लागू करने के पक्ष में आयोग नहीं है। इस फार्मूले को लागू करने अथवा संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित करने का भी आयोग ने विरोध किया है। आयोग का मत है कि हिन्दी के विकास के लिए एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम अपनाना चाहिए, किन्तु किसी पर भी इसका अध्ययन थोपा नहीं जाना चाहिए। लिपि के सम्बन्ध में आयोग ने देश भर में देवनागरी तथा रोमन लिपियों के प्रयोग का सुझाव दिया है।

**विज्ञान तथा गणित**—प्रथम दस वर्ष के स्कूली अध्ययन-काल में विज्ञान तथा गणित के अनिवार्यतः पढ़ाने का सुझाव आयोग ने दिया है। विज्ञान का अध्ययन

बच्चे को लोअर प्राइमरी-स्तर पर ही आरम्भ करके आगे इसका ज्ञान बढ़ाते चलना चाहिए। कक्षा 4 में ही रोमन लिपि का ज्ञान करा देना हितकर होगा। प्राथमिक पाठशालाशों में विज्ञान-कक्ष तथा छोटी-सी प्रयोगशाला अनिवार्यतः होनी चाहिए। निम्न माध्यमिक स्तर पर इसका अध्ययन अधिक होना चाहिए और उच्चतर स्तर पर भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा जीवविज्ञान का सैद्धान्तिक ज्ञान करा देना आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्रों में विज्ञान को कृषि से तथा शहरी क्षेत्रों में टेकनोलॉजी से सम्बद्ध कर देना चाहिए। गणित पाठ्यक्रम का सभी कक्षाओं में आधुनिकीकरण कर देना चाहिए। दोनों विषयों की शिक्षण-विधि में भी सुधार आवश्यक है।

**अन्य**—उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त आयोग ने नागरिकता के गुणों का छात्रों में विकास करने के लिए सामाजिक अध्ययन की सिफारिश की है। भावात्मक एकता तथा राष्ट्रीय एकता सम्बन्धी बातों का इस पाठ्यक्रम में समावेश करना चाहिए। कार्य-अनुभव (work experience) स्कूली शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग होना चाहिए हाथ से काम करने की पर्याप्त सुविधाएँ प्राथमिक तथा माध्यमिक छात्रों को प्रदान करनी चाहिए। उन्हें समाज-सेवा तथा सामुदायिक विकास-कार्यक्रम अथवा श्रमिक-शिविरों में भाग लेने का समुचित सुअवसर मिलना चाहिए। शरीर-निर्माण के लिए शारीरिक शिक्षा और नैतिक निर्माण के लिए नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था सभी स्कूलों में प्रदान करने का आयोग का सुझाव है। अन्य क्रियात्मक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों की पाठ्यक्रम में पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। लड़के तथा लड़कियों की शिक्षा में कोई भी अन्तर न रखने के सम्बन्ध में आयोग ने हंसा मेहता समिति की सिफारिशों को यथावत् स्वीकार करते हुए उनके लिए गृह-विज्ञान को वैकल्पिक रूप से पढ़ाये जाने तथा ललितकलाओं की अधिक सुविधाएं प्रदान करने पर बल दिया है।

बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग का स्पष्ट मत है कि किसी विशेष स्तर पर शिक्षा-प्रणाली का नाम 'बेसिक शिक्षा' रखने की कोई आवश्यकता नहीं, वरन् इस प्रणाली के जो आधारभूत सिद्धान्त हैं, जैसे—उत्पादक क्रिया तथा वातावरण और पाठ्यक्रम से उसका सम्बन्ध, समाज से सम्पर्क इत्यादि, वे आयोग की राय में इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनका समावेश शिक्षा के सभी स्तरों पर कर देना चाहिए।

## 9. शिक्षण-विधियाँ, निर्देशन एवं मूल्यांकन

पाठ्यक्रम में सुधार के प्रश्न से ही जुड़ा हुआ प्रश्न शिक्षण-विधि तथा मूल्यांकन विधि के सुधार का है। गत वर्षों में शिक्षण तथा परीक्षा विधियों के सुधार के सम्बन्ध में मुदालियर आयोग एवं अन्य समितियों ने महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं तथा उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयास भी किया गया है, किन्तु सभी प्रयासों के बावजूद स्थिति में अभी कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। कोठारी शिक्षा आयोग ने इस सुधार के मार्ग में चार प्रमुख बाधाएँ बतायी हैं—(1) शिक्षकों की दुर्बलताएँ; (2) शिक्षण-विधियों के विषय में उचित अनुसन्धान करने की असफलता, (3) वर्त-

मान शिक्षा-प्रणाली की दुरूहता, और (4) नवीन तथा गतिशील शिक्षा-विधियों के प्रचार के सम्बन्ध में प्रशासन की असफलता।

इनमें तृतीय तथा चतुर्थ कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की दुरूहता समाप्त करने के लिए उसे पर्याप्त लोचदार (elastic) तथा गतिशील (dynamic) होना चाहिए। यह उसी समय सम्भव है जबकि छात्र तथा अध्यापक दोनों को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिले। उनमें नई सूझ, रचनात्मक चिन्तन तथा परीक्षण करने की क्षमताओं का विकास करने में प्रशासन तथा निरीक्षक वर्ग प्रत्यक्ष रूप से सहायक होना चाहिए। यदि शिक्षण-विधि में सुधार करने की सराहना हो तो एक शिक्षक वैयक्तिक रूप से नई विधियों का परीक्षण करने के लिए प्रोत्साहित हो सकता है। कक्षा में शिक्षण-विधि के सुधार की कुंजी निरीक्षक ही है। यदि वह अध्यापक का उचित रूप से पथ-प्रदर्शन करता है और उसकी सराहना करता है तो अध्यापक को इससे भारी प्रोत्साहन मिलेगा। इसी प्रकार प्रधानाध्यापक के द्वारा भी नये प्रयोग करने वाले अध्यापक की सराहना महत्त्वपूर्ण है। नवीन उद्योगों में अध्यापक को पूर्णतः सुरक्षा की भावना भी रहनी चाहिए। किन्तु नवीन विधि का प्रयोग समर्थता-पूर्वक वही अध्यापक कर सकता है जो अपने विषय का पण्डित है, अन्यथा इससे बड़ी हानि होगी। आयोग के मतानुसार नवीन विधि का प्रयोग कक्षा एक से ही कर देना चाहिए। वही विद्यालय नवीन विधियों का आविष्कार करने में अधिक सफल हो सकता है जहाँ छात्रों के अभिभावक भी इस बात को समझते हैं और अध्यापकों को सहयोग प्रदान करते हैं। जो अध्यापक नवीन विधि की खोज करें उन्हें उच्च पद देकर प्रोत्साहित किया जाय। आयोग का विश्वास है कि नवीन विधियों के प्रयोग उसी समय सफल हो सकते हैं जब पाठ्य-पुस्तकें तथा अन्य सहायक सज्जा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध की जा सकती है। इन्हीं उपायों से वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की दुरूहता समाप्त होकर उसमें लोच तथा गतिशीलता उत्पन्न हो सकती है।

जहाँ तक नवीन विधियों के प्रचार का प्रश्न है, आयोग का विश्वास है कि नवीन विधियों का आविष्कार उस समय तक कोई अर्थ नहीं रखता जब तक उस ज्ञान का विकीर्णन (diffusion) अर्थात् प्रचार नहीं किया जाता। इसमें वर्षों ही नहीं कई दशक लग सकते हैं। इसकी सफलता इस बात पर निर्भर होगी कि प्रशासन अन्य अध्यापकों को उन नवीन विधियों को स्वीकार कराने में उन्हें कितना विश्वस्त कर सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक होगा कि विभिन्न स्कूलों की सामर्थ्य के अनुसार ही नवीन विधियों का सूत्रपात वहाँ शनैः शनैः किया जाय। अध्यापकों को सेवा-कालीन प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था हो ताकि वे नवीन विधियों में प्रशिक्षण पा सकें और अन्त में पर्याप्त मात्रा में निर्देशांक सज्जा (guide material) की व्यवस्था स्कूलों में की जानी चाहिए और समय-समय पर उसमें सुधार करते रहना चाहिए। इस बात के सम्बन्ध में सजग रहने की आवश्यकता है कि नवीन शिक्षण-विधि कालान्तर में एक पुरानी लकीर बनकर ही न रह जाय।

**पाठ्य-पुस्तकें, अध्यापकों की निर्देशिकाएँ तथा सज्जा**—आयोग का मत है कि स्कूलों में शिक्षण का स्तर उठाने के लिए अच्छी पाठ्य-पुस्तकें तथा अध्यापकों के लिए निर्देशिकाएँ (guides) एवं अन्य सज्जा अत्यन्त आवश्यक हैं। पाठ्य-पुस्तकों की रचना का प्रश्न राष्ट्रीय स्तर पर लेना चाहिए। इसमें 'राष्ट्रीय शिक्षा अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण परिषद' (National Council of Educational Research and Training) तथा केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। पुस्तकों की श्रेष्ठता की जाँच राज्य शिक्षा-विभागों को करते रहना आवश्यक है। राज्य शिक्षा-विभाग स्वयं भी पुस्तकें प्रकाशित करा सकता है। यह कार्य किसी स्वायत्तता सम्पन्न संस्था को राज्य द्वारा सौंप देना चाहिए। पुस्तकों का सदा संशोधन होता रहे और एक-एक विषय पर तीन-चार पुस्तकें होनी चाहिए। लेखकों को उदारतापूर्वक पारिश्रमिक दिया जाय। अध्यापकों की निर्देशिकाओं तथा अन्य सज्जा के द्वारा शिक्षण-कार्य में सहायता प्रदान की जानी चाहिए। इन सभी वस्तुओं की एक न्यूनतम सूची बनाकर प्रत्येक स्कूल को उन्हें उपलब्ध करने का नियम बना दिया जाय। शिक्षा-विभाग को चाहिए कि निकट के रेडियो स्टेशनों से सम्पर्क स्थापित करके नवीन विधियों के अनुसार पाठों का प्रसारण कराये। प्रसारण का समय ऐसा हो जिससे विद्यार्थी पूर्ण लाभ उठा सके। अध्यापकों को इसमें सहयोग प्रदान करना चाहिए। ऐसी शिक्षण-सज्जा जो स्थानीय रूप से ही उपलब्ध हो तथा सस्ती हो, प्रदान करने में अध्यापकों की सहायता की जानी चाहिए।

**कक्षा का आकार**—कक्षा के आकार के विषय में आयोग का मत है कि लोअर प्रायमरी कक्षाओं में अधिक से अधिक 50, हायर प्रायमरी तथा लोअर सेकेण्डरी कक्षाओं में 45 तथा हायर सेकेण्डरी अर्थात् उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में अधिक से अधिक 40 छात्रोंको प्रवेश दिया जाय। बहु-कक्षा शिक्षा (multiple-class teaching) के सम्बन्ध में विभिन्न समस्याओं पर अनुसन्धान प्रशिक्षण कालेजों में होना चाहिए।

**विद्यालय-भवन**—विद्यालय-भवनों की वर्तमान दशा के सम्बन्ध में आयोग ने भारी चिन्ता प्रकट की हैं। उसका मत है जिन स्कूलों के भवन अधूरे पड़े हैं पहले उन्हें पूर्ण कराया जाय, तदुपरान्त नये प्रवेश की सुविधाएँ बढ़ायी जायँ। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बजटों में इस कार्य के लिए धन-राशि बढ़ायी जाय। निर्माण-व्यय में कमी, कच्चे अस्थायी भवनों का निर्माण, ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय लोगों तथा पंचायतों की सहायता, शहरों में सस्ते भवनों का निर्माण तथा निर्माण कार्य के निरीक्षण एवं सलाह के लिए सरकार के सार्वजनिक निर्माण-विभाग का सहयोग इत्यादि के सुझाव आयोग ने दिये हैं।

**निर्देशन एवं परामर्श**—निर्देशन (guidance) तथा परामर्श (counselling) को आयोग ने शिक्षा-प्रणाली का आवश्यक अंग बताया है। उसका मत है कि यह प्राथमिक शिक्षा के स्तर से ही आरम्भ हो जाना चाहिए। इसके लिए प्रशिक्षण के समय ही अध्यापकों को निदानात्मक परीक्षाओं (diagnostic testing) से परिचित

करा दिया जाय; उनके लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय; पेशे सम्बन्धी साहित्य का उत्पादन किया जाय तथा छात्रों और उनके अभिभावकों को भावी शिक्षा के विषय में परामर्श दिया जाय।

माध्यमिक स्तर पर प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा यह कार्य सम्पादित किया जाय। यद्यपि ये सुविधाएँ प्रत्येक विद्यालय में प्रदान की जायँ, किन्तु कुछ चुने हुए विद्यालयों में अधिक सघनता के साथ की जायँ। आयोग का सुझाव है कि 'राज्य निर्देशन ब्यूरो' तथा निरीक्षकों की सहायता से यह कार्य अधिक प्रभावक रूप से चलाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त आयोग का सुझाव है कि माध्यमिक स्तर पर प्रतिभावान बालकों की छाँट हो जानी चाहिए और उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए। पिछड़े बालकों की शिक्षा विशेष पाठ्यक्रम के अनुसार होनी चाहिए।

**मूल्यांकन**—नवीन तथा अधिक प्रभावक परीक्षा-विधि द्वारा छात्र की शिक्षा-प्रगति का मूल्यांकन करने के सम्बन्ध में आयोग ने कई रचनात्मक सुझाव दिये हैं। आयोग का कहना है कि लिखित परीक्षाओं में सुधार तो आवश्यक है ही, यह भी आवश्यक है कि अन्य उपायों द्वारा भी छात्र की योग्यता का मूल्यांकन किया जाय। नीचे की कक्षाओं में कक्षा 1 से 4 तक एक श्रेणीहीन इकाई मानी जाय, जिसमें बच्चों को उनके ज्ञान के अनुसार तरक्की देते चले जाना चाहिए।

हायर प्रायमरी-स्तर पर लिखित परीक्षाओं के अतिरिक्त मौखिक परीक्षा भी हो। प्रगति-पत्र द्वारा प्रत्येक छात्र की प्रगति का लेखा रखा जाना चाहिए। प्राथमिक स्तर के अन्त में एक बाह्य परीक्षा रखी जा सकती है, किन्तु उसकी विधि दुरूह नहीं होनी चाहिए। जिले भर के स्कूलों की पारस्परिक क्षमता की जाँच करने के लिए एक सामान्य अन्तर्विद्यालय परीक्षा निरीक्षक के द्वारा ली जा सकती है। प्राथमिक शिक्षा के उपरान्त स्कूल के द्वारा छात्र को प्रमाणपत्र उसकी उत्तरोत्तर प्रगति के रिकार्ड के साथ मिलना चाहिए। छात्रवृत्ति प्रदान करने के लिए विशेष परीक्षा ली जानी चाहिए। बाह्य परीक्षा के सुधार पर आयोग ने बल दिया है। उसका कहना है कि बाह्य परीक्षा के आधार पर जो प्रमाणपत्र छात्र को दिया जाय उसमें सभी विषयों में उसकी प्रगति का उल्लेख हो किन्तु पूरे इम्तहान में पास या फेल का कोई जिक्र न हो। यदि छात्र चाहे तो पूरे इम्तहान में अथवा विभिन्न विषयों में अपनी सफलता की मात्रा में सुधार करने की दृष्टि से पुनः बैठ सकता है। कुछ ऐसे प्रयोगात्मक स्कूल खोले जायँ जो अपने छात्रों की अन्तिम परीक्षा स्वयं ही लेकर अपना प्रमाणपत्र प्रदान करें और कक्षा 10 के उपरान्त उन छात्रों की अन्य बाह्य परीक्षा लेने की कोई आवश्यकता न रहे। इन स्कूलों को पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकों तथा परीक्षा-विधि के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता हो, किन्तु इनका चुनाव सावधानी से किया जाय। आयोग ने आन्तरिक परीक्षाओं को भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक बताया है।

उच्चतर माध्यमिक परीक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने सुझाव दिया है कि

संक्रमण काल में उच्चतर माध्यमिक छात्रों को दो लगातार बाह्य परीक्षाओं में एक ही वर्ष में सम्मिलित होना पड़ेगा—कक्षा 10 तथा 11 में। किन्तु जहाँ कक्षा 9 से 11 तक का कोर्स एकीकृत है वहाँ कक्षा 10 में परीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं।

## 10. स्कूल-शिक्षा : प्रशासन एवं निरीक्षण

शिक्षा-सुधारों की गति तीव्रतर करने के लिए आयोग के मतानुसार सहानुभूतिपूर्ण तथा कल्पनाशील प्रशासन एवं परीक्षण की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में आयोग ने सार्वजानिक शिक्षा के लिए वर्तमान प्रणाली के स्थान पर एक सामान्य स्कूल प्रणाली का विकास करने का सुझाव दिया है। इस समय स्कूलों का विभाजन विभिन्न प्रकार के प्रबन्धों के अन्तर्गत किया गया है, किन्तु इस नवीन प्रणाली के अनुसार सभी प्रकार के स्कूलों को चाहे वे सरकारी हों और चाहे स्थानीय संस्थाओं अथवा वैयक्तिक प्रबन्ध समितियों के अन्तर्गत हों, एक ही प्रकार की प्रणाली के अन्तर्गत आगामी बीस वर्षों में ले आया जायगा। इससे देश के सभी भागों में एक ही प्रकार के स्कूल होंगे और उनका भेद मिट जायगा। इसके लिए अध्यापकों के स्तरों में आज जो अन्तर है, उसे समाप्त करना आवश्यक होगा। शिक्षा निःशुल्क कर दी जायगी। सरकारी तथा स्थानीय संस्थाओं के अन्तर्गत चलने वाले स्कूलों का मानदण्ड इस समय आयोग की राय में नीचा है। वहाँ के अध्यापकों का न तो जनता से सम्पर्क रहता है और न इन अध्यापकों में स्थायी स्वामिभक्ति की भावना का ही विकास हो पाता है। अतः प्रबन्ध-प्रणाली में सुधार करके आयोग इनके स्तर को उठाने के पक्ष में है। इसी प्रकार वैयक्तिक स्कूलों के अन्तर को भी समाप्त करने का सुझाव दिया गया है।

आयोग का मत है कि स्कूलों के सुधार का एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम अपनाया जाय जिसके तीन उद्देश्य हों—(1) सभी स्कूलों को एक न्यूनतम स्तर तक उठाना, (2) प्रत्येक स्कूल को उच्चतम स्तर तक आने में सहायता करना, तथा (3) आगामी दस वर्षों में कम से कम 10% स्कूलों को अधिकतम स्तर तक विकसित कर देना।

तीसरी सिफारिश है राज्य शिक्षा-विभागों का पुनर्गठन करके उनकी स्थिति को दृढ़ करना। इसके लिए प्रत्येक राज्य में एक स्टेट इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन खोलने तथा जिला-स्तर पर शिक्षा-विभागों की कार्यक्षमता में सुधार करने का सुझाव दिया गया है। जिला निरीक्षकों के स्तर तथा वेतन में सुधार, उनके अधिकारों में वृद्धि, जिला-स्तर पर निरीक्षण-स्टाफ में विशेषज्ञों की नियुक्ति, महिला-निरीक्षिकाओं के स्तर में सुधार तथा योग्य एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों को छाँटकर प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त करना इत्यादि अन्य सुझाव हैं जो प्रशासन एवं निरीक्षण के स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं।

एक अन्य सुझाव के अनुसार इस बात के लिए विश्वस्त होने के लिए कि शिक्षा का मानदण्ड उत्तरोत्तर ऊँचा उठता चला जाय तथा उसका समय-समय पर मूल्यांकन भी होता रहे, आयोग ने सुझाव दिया है कि राज्य-स्तर पर स्टेट बोर्ड ऑफ स्कूल एजूकेशन' तथा राज्य मूल्यांकन संगठन (State Evaluation

Organisation) की स्थापना की जाय और उन्हीं के समानान्तर संस्थाएँ राष्ट्रीय स्तर पर भी खोली जायँ।

आयोग का मत है कि केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत जिन क्षेत्रों में स्कूल चल रहे हैं उनके विकास तथा सुधार का उत्तरदायित्व स्वयं केन्द्रीय सरकार ले।

अन्त में एक महत्त्वपूर्ण सुझाव ऐसे स्कूलों के लिए दिया गया है जो सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त अथवा रजिस्टर्ड नहीं हैं। ऐसे स्कूलों को या तो शीघ्र मान्यता दी जाय अथवा उन्हें कानून बनाकर समाप्त कर दिया जाय। जो स्कूल नियमों का पालन न करे, उसके लिए दण्ड-व्यवस्था होनी चाहिए। इस प्रकार प्रशासन तथा निरीक्षण में सुधार करके और उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि करके स्कूलों के प्रबन्ध एवं उनके स्तर में सुधार करने के लिए आयोग ने व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

## 11. उच्च शिक्षा : उद्देश्य तथा सुधार

उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने सर्वप्रथम विश्वविद्यालयों के उद्देश्य दिये हैं और इस प्रसंग में भारतीय विश्वविद्यालयों के विशेष उत्तरदायित्वों की व्याख्या की है। ज्ञान तथा सत्य की खोज, उचित नेतृत्व के विकास, विभिन्न विज्ञानों के विकास, समानता तथा न्याय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा विद्यार्थियों एवं शिक्षकों और उनके द्वारा सम्पूर्ण समाज में श्रेष्ठ जीवन के सिद्धान्तों एवं मूल्यों का विकास विश्वविद्यालयों के सामान्य उद्देश्य बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त राष्ट्र की अन्तरात्मा की रक्षा, प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार के लिए पार्ट-टाइम अथवा डाक-शिक्षा की व्यवस्था, स्कूली शिक्षा के स्तर को उठाने में सहायता, परीक्षा-प्रणाली में सुधार करके परम्परागत परीक्षा-भार को कम करना और उच्च शिक्षा के कुछ महत्त्वपूर्ण केन्द्रों की स्थापना करके देश के भीतर ही शैक्षिक जीवन की गरिमा को पुनः वापस लाने का प्रयास करना कुछेक वे उद्देश्य हैं जिनकी पूर्ति भारतीय विश्वविद्यालयों का विशिष्ट कर्तव्य है।

**प्रमुख विश्वविद्यालय**—आयोग ने सिफारिश की है कि देश में कुछ ऐसे प्रमुख विश्वविद्यालयों की स्थापना सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार है, जहाँ पोस्ट-ग्रेजुएट एवं अनुसन्धान के मानदण्ड संसार के किसी भी श्रेष्ठतम विश्वविद्यालय के समकक्ष हों। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को चाहिए कि वह देश के वर्तमान विश्वविद्यालयों में से, जिनमें एक आई० आई० टी० तथा एक कृषि विश्वविद्यालय भी सम्मिलित हों, सन् 1966-67 से आगे ऐसे छह विश्वविद्यालयों को छाँट लें जिन्हें प्रमुख विश्वविद्यालय बना दिया जाय। प्रत्येक ऐसे विश्वविद्यालय में अत्यन्त मेधावी छात्र तथा अत्यन्त योग्य शिक्षक रखे जायँ। प्रत्येक प्रमुख विश्वविद्यालय में पर्याप्त संख्या में छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जायँ जो अण्डर-ग्रेजुएट स्तर के छात्रों को दी जायँ, ताकि पोस्ट-ग्रेजुएट-स्तर पर पर्याप्त संख्या में प्रतिभावान छात्र उपलब्ध हो सकें। प्रत्येक विभाग अथवा फैकल्टी में शिक्षकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए एक समिति स्थापित की जाय जो विश्वविद्यालय अधिकारियों के सम्पर्क में भी रहे। अच्छे अध्यापकों की खोज केवल राज्य अथवा क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर देश, यहाँ तक कि विश्वव्यापी हो। योग्य

अध्यापकों को ऊँचे वेतन देकर भी रखा जाय और उन्हें अनुसन्धान, अध्ययन-अवकाश तथा योग्यता बढ़ाने के पूर्ण सुअवसर प्रदान किये जायँ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को चाहिए कि योग्य अध्यापकों की नियुक्ति ऊँचे वेतन पर सम्भव करने के लिए एक विशेष कोष की स्थापना प्रत्येक प्रमुख विश्वविद्यालय में करे।

प्रत्येक प्रमुख विश्वविद्यालय में उच्च केन्द्रों की स्थापना करे। इन केन्द्रों का एक मण्डल (cluster) बन जाय जिनके द्वारा अन्तर्शास्त्रीय (inter-disciplinary) अनुसन्धान को प्रोत्साहन दिया जा सके। भाषाओं, कृषि, इंजीनियरी तथा औषधिशास्त्र के लिए ऐसे केन्द्र शीघ्र खोले जायँ। किसी भी प्रमुख विश्वविद्यालय के किसी भी विभाग का चुनाव केन्द्र की स्थापना के लिए विभाग द्वारा किये गये कार्य की मात्रा तथा श्रेष्ठता, अनुसन्धान, शिक्षक-स्तर तथा भावी विकास की सम्भावनाओं के आधार पर करना चाहिए। जिन विभागों को यह सम्मान दिया जाय उन्हें अपने कार्य द्वारा उसकी रक्षा करनी चाहिए। समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा इन केन्द्रों की प्रगति का पुनर्निरीक्षण करा लेना चाहिए। इन केन्द्रों को चाहिए कि अन्य विभागों के केन्द्रों से सम्पर्क रखें और धीरे-धीरे सभी अध्यापकों को अपनी परिधि में खींच लें।

प्रमुख विश्वविद्यालयों को चाहिए कि अपनी श्रेष्ठता की परिधि का उत्तरोत्तर प्रसार करते चले जायँ। विभिन्न विभागों तथा केन्द्रों का स्तर उठाने के लिए उन्हें विशेष अनुदान दिया जा सकता है। उच्च केन्द्रों को चाहिए कि अपने विषय से सम्बन्धित सम्बद्धक कालेजों के अध्यापकों को भी अपने सम्पर्क में ले आयें। प्रमुख विश्वविद्यालयों का व्यय यू० जी० सी० को वहन करना चाहिए।

**अन्य विश्वविद्यालयों का सुधार**—प्रमुख विश्वविद्यालयों से उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियों को अन्य विश्वविद्यालयों में अध्यापन-कार्य के लिए रखना चाहिए। यू० जी० सी० को चाहिए कि वह लेक्चरर, रीडर तथा प्रोफेसर के तीनों स्तरों पर विशेष फैलोशिप की व्यवस्था करके ऐसे योग्य व्यक्तियों को अध्यापन-कार्य के लिए आकर्षित करे जो अन्यथा इसमें नहीं आना चाह रहे थे। कालान्तर में इन्हें स्थायी पदों पर नियुक्त कर दिया जाय। स्टाफ के चुनाव में योग्यता प्रमुख माननी चाहिए। सभी विश्वविद्यालयों के विभिन्न विभागों को पारस्परिक सम्पर्क अनुसन्धान-कार्यों के लिए बनाये रखना चाहिए। अन्य विश्वविद्यालयों तथा कालेजों से अध्यापकों को अनुसन्धान कार्य के लिए आमन्त्रित करना चाहिए। इन विश्वविद्यालयों में कुछ चुने हुए विभागों में स्तर को उठाकर उन्हें उच्च केन्द्रों की कोटि में लाया जा सकता है।

शिक्षा आयोग ने सम्बद्ध कालेजों की स्थिति के सुधार पर भी बल दिया है। देश में निश्चय ही कुछ अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि के कॉलेज हैं जिन्हें प्रोत्साहित करना आवश्यक है। कुछ अच्छे कालेजों को स्वायत्त स्तर (autonomous status) देने की भी आयोग ने सिफारिश की है। विश्वविद्यालयों के विधान में आवश्यक परिवर्तन के द्वारा यह कार्य किया जा सकता है। पाँचवीं योजना के अन्त तक ऐसे 50 अच्छे कालेजों को इस श्रेणी में लाया जा सकता है।

**शिक्षण तथा मूल्यांकन**—शिक्षा में सुधार करने के विषय में आयोग का कहना है कि औपचारिक भाषाओं तथा प्रयोगशाला में काम करने के घण्टों में कुछ कमी करके बचे हुए समय में छात्र को स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। रटने की प्रवृत्ति के स्थान पर मौलिकता को प्राथमिकता दी जाय। पुस्तकालयों को सभी जगह सम्पन्न किया जाय। कोशिश की जाय कि एक घण्टा की कक्षा की पढ़ाई के पीछे 3–4 घण्टे छात्र को उस ज्ञान को पचाने के लिए मिल सकें। यह नियम बना दिया जाय कि कोई भी अध्यापक एक सत्र के मध्य में एक सप्ताह से अधिक बाहर न जाय और न सत्र के मध्य में नौकरी छोड़कर अन्यत्र जाय। नये अध्यापकों की नियुक्तियाँ गर्मी की छुट्टियों में हों। रिसर्च छात्रों को आंशिक रूप से शिक्षण का कार्य सौंपा जा सकता है। विश्वविद्यालय-स्तर पर भी शिक्षण-विधियों की जाँच करा कर अधिक प्रभावक विधि को अपनाया जा सकता है। सभी शिक्षण-विश्वविद्यालयों में बाह्य परीक्षाओं को धीरे-धीरे समाप्त करके उनके स्थान पर आन्तरिक तथा निरन्तर मूल्यांकन की प्रतिस्थापना कर देनी चाहिए। यू० जी० सी० की ओर से एक केन्द्रीय परीक्षा सुधार-केन्द्र स्थापित होना चाहिए। नवीन परीक्षा-विधियों से अध्यापकों को परिचित कराते रहना, परीक्षकों को पारिश्रमिक देना बन्द करना तथा अन्य परीक्षा सम्बन्धी सुधारों का सुझाव आयोग ने दिया है।

**शिक्षा का माध्यम**—आगामी दस वर्षों में धीरे-धीरे क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा का माध्यम विश्वविद्यालय-स्तर पर बना देना चाहिए। ग्रेजुएट कक्षाओं में क्षेत्रीय भाषा तथा पोस्ट-ग्रेजुएट-स्तर पर अंग्रेजी भाषा में शिक्षण किया जाय। धीरे-धीरे सभी उच्च शिक्षा के अध्यापकों को द्विभाषिया बना दिया जाय। गैर-हिन्दी क्षेत्रों में कालेजों को जहाँ शिक्षण हिन्दी में होता है, बना रहने दिया जाय। यही बात उर्दू के सम्बन्ध में भी लागू होती है। उर्दू तथा अन्य आधुनिक देशी भाषाओं के विकास के लिए उच्च केन्द्रों की स्थापना की जाय। किसी भी भारतीय भाषा या क्लासिकल भाषा को अनिवार्यतः न पढ़ाया जाय किन्तु अंग्रेजी सभी जगह पढ़ाई जाय और उसके लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान की जायें तथा शिक्षण-विधि में सुधार किया जाय। अन्य पुस्तकालय भाषाओं में रूसी भाषा को चुना जा सकता है।

**छात्र-समस्याएँ**—इसमें छात्र-सेवाओं, उनकी यूनियन तथा अनुशासन की समस्या को लिया गया है। छात्र-सेवाएँ न केवल कल्याण-कार्य ही हैं, वरन् शिक्षा का आवश्यक अंग हैं। अतः उनके स्वास्थ्य, चिकित्सा, आवास, निर्देशन तथा परामर्श, भावी उद्यम तथा आर्थिक सहायता इत्यादि के सम्बन्ध में पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की जायें। स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना तथा एक स्थायी 'डीन ऑफ स्टूडेण्ट वैलफेयर' की नियुक्ति की सिफारिश आयोग ने की है।

छात्र यूनियन के सम्बन्ध में आयोग ने सलाह दी है कि सभी छात्र स्वयं ही इसके सदस्य माने जायँ, पदाधिकारियों का चुनाव विभिन्न छात्र संगठनों द्वारा परोक्ष रूप से किया जाय, छात्रों की कठिनाइयों का निवारण करने के लिए अध्यापकों तथा

छात्रों की संयुक्त समितियाँ बनायी जायें। यू० जी० सी० के द्वारा छात्र यूनियनों को वार्षिक सम्मेलन करने के लिए आर्थिक सहायता भी प्रदान करनी चाहिए।

अनुशासन के सम्बन्ध में आयोग का मत है कि अनुशासनहीनता का उत्तरदायित्व छात्रों, अध्यापकों, अभिभावकों, अधिकारियों, सरकार व राजनीतिक दलों को मिला-जुला उत्तरदायित्व है। अतः सभी को उसके निवारण में सहयोग देना है। शिक्षा-स्तर में सुधार, अनुशासनहीनता को रोकने के पर्याप्त परामर्श एवं प्रशासन सम्बन्धी मशीनरी की स्थापना, छात्रों के लिए समाज-सेवा का सुअवसर प्रदान करना इत्यादि का सुझाव आयोग ने दिया है। उसके मतानुसार सम्पूर्ण विश्वविद्यालय एक इकाई है अतः छात्रों, अध्यापकों एवं अधिकारियों के बीच में पृथकत्व अथवा ध्रुवीकरण से बचना चाहिए।

## 12. उच्च शिक्षा : प्रवेश तथा कार्यक्रम

उच्च शिक्षा की वर्तमान सुविधाओं के प्रसार के पक्ष में आयोग का कथन है कि देश की भावी मानव-शक्ति आवश्यकताओं (man-power needs) को देखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि आगामी बीस वर्षों में दस लाख के स्थान पर चालीस लाख प्रवेश-सुविधाएँ हमें ग्रेजुएट तथा पोस्ट-ग्रेजुएट स्तरों पर करनी पड़ेंगी। पेशे सम्बन्धी पाठ्यक्रम, विशेषतः कृषि, इंजीनियरी तथा चिकित्सा में अधिक प्रसार आवश्यक है।

विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में प्रवेश योग्यता के आधार पर छाँट करके सीमित कर दिया जाय। विभिन्न संस्थाओं में प्रवेश स्थानों तथा अध्यापकों की संख्या को भी ध्यान में रखना होगा उससे अधिक छात्रों को प्रवेश न दिया जाय। छात्रों की योग्यता की कसौटी पिछड़ा परीक्षाफल तो रहेगा ही, किन्तु इसके साथ उनकी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि, अन्य योग्यताएँ या रुचियाँ भी ध्यान में रखी जानी चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय प्रवेश के लिए योग्यता की जाँच के अपने स्वतन्त्र नियम बना सकता है। वहाँ एक 'विश्वविद्यालय-प्रवेश-बोर्ड' की स्थापना महत्त्वपूर्ण है। यू० जी० सी० एक केन्द्रीय परीक्षण संगठन की स्थापना द्वारा उचित कसौटियों का प्रतिपादन कर सकता है।

शिक्षा आयोग का मत है कि विश्वविद्यालयों में पार्ट-टाइम अध्ययन तथा डाक-कोर्सों की पर्याप्त व्यवस्था कर देनी चाहिए। कॉलेज के आकार के सम्बन्ध में आयोग का सुझाव है कि यह पाँच सौ से एक हजार छात्रों के लिए होना चाहिए। विश्वविद्यालय से सम्बद्ध करने के नियमों का पालन कड़ाई से किया जाय। आयोग ने अनुसन्धान तथा स्त्री शिक्षा में प्रसार तथा सुधार करने की जोरदार सिफारिश की है।

नये विश्वविद्यालयों की स्थापना को अनिवार्य बताते हुए आयोग ने बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा दिल्ली में चतुर्थ आयोजन के अन्त तक दो विश्वविद्यालय स्थापित करने, केरल, उड़ीसा तथा उत्तरी-पूर्वी पहाड़ी क्षेत्रों में नवीन विश्वविद्यालयों की सिफारिश की है। शेष स्थानों के लिए उसने कहा है कि नया विश्वविद्यालय उसी समय स्थापित किया जाय, जब इसकी स्थापना से अनुसन्धान की मात्रा तथा स्तर में निश्चित सुधार होने की आशा हो। बिना यू० जी० सी० की आज्ञा तथा पर्याप्त

वित्तीय प्रबन्ध के ऐसा न किया जाय। राज्य-स्तर के सभी विश्वविद्यालयों का एक 'कंसोर्टियम' बना देना चाहिए।

विश्वविद्यालयों के पारस्परिक सम्बन्धों में घनिष्ठता, पाठ्यक्रम का पुनर्गठन, समाज-विज्ञानों, मानवशास्त्रों (humanities) तथा शिक्षा-समस्याओं में अनुसन्धान कराने की भी आयोग ने सिफारिश की है।

## 13. विश्वविद्यालयों का शासन

शिक्षा आयोग के मतानुसार विश्वविद्यालयों के प्रबन्ध तथा शासन पर उनके शिक्षा-स्तर तथा कार्यक्षमता अधिकांश में निर्भर रहते हैं। अतः उन्हें प्रबन्ध की गतिशील विधियों का विकास करना चाहिए। विश्वविद्यालय प्रशासन सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

विश्वविद्यालय स्वायत्तता (autonomy) की व्याख्या करते हुए आयोग ने कहा है कि इसका वास्तविक क्षेत्र छात्रों के चयन, अध्यापकों की नियुक्ति तथा उन्नति, पाठ्यक्रम का निर्धारण, शिक्षण-विधि तथा अनुसन्धान की समस्याओं और क्षेत्रों का चयन करना है। गैर-शिक्षा सम्बन्धी तत्त्वों का प्रबन्ध में प्रतिनिधित्व एक सीमित महत्त्व रखता है। विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे अपने विभागों को पर्याप्त स्वतन्त्रता दें। विभाग अध्यक्ष के अन्तर्गत एक प्रबन्ध के प्रश्नों को उसके अन्तर्गत हस्तान्तरित कर देना चाहिए। आयोग का मत है कि छात्रों के प्रतिनिधियों को विश्वविद्यालयों की विभिन्न शैक्षिक परिषदों (academic councils) तथा कोर्टों में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। देश में विश्वविद्यालय-स्वायत्तता के लिए पहले से ही अनुकूल वातावरण है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड और सरकार मिलकर यह निश्चय करें कि इसे और सुदृढ़ कैसे बनाया जा सकता है।

विश्वविद्यालयों की वित्तीय स्थिति के सुधार के लिए आयोग ने सुझाव दिया है कि राज्य सरकारों को विश्वविद्यालयों को पर्याप्त वित्त देना चाहिए। यू० जी० सी० से उन्हें विकास-कार्यों के लिए सहयोग करना चाहिए। पहले से वायदा किये गये व्यय के लिए जहाँ राज्य सरकारें रुपया नहीं दे रहीं वहाँ यू० जी० सी० को सहायता के लिए आगे बढ़ना चाहिए। राज्यों द्वारा अनुदान के नियमों में सुधार की आवश्यकता है। राजकीय हस्तक्षेप तथा व्यय के सम्बन्ध में जवाबदेही से विश्वविद्यालयों को मुक्त रहना चाहिए।

उपकुलपति की नियुक्ति के प्रश्न को आयोग ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है।[12]

[12] The person who is expected, above all, to embody the spirit of academic freedom and the principles of good management in a university is the vice-chancellor. He stands for the commitment of the university to scholarship and pursuit of truth and can ensure that executive wing of the university is used to assist the academic community in all its activities. His selection should therefore, be governed by this over all consideration." —*Report*, p 334.

आयोग का विचार है कि यद्यपि किसे उपकुलपति नियुक्त करना है यह विश्वविद्यालय को स्वयं तय करना है, तथापि फिलहाल दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा अपनायी गयी विधि का प्रयोग किया जाना चाहिए। उपकुलपति को चुनने के लिए बनायी जाने वाली समिति के सदस्य प्रसिद्ध तथा ईमानदार व्यक्ति होने चाहिए। जो व्यक्ति उपकुलपति नियुक्त किया जाय वह एक ऐसा उच्च कोटि का शिक्षाशास्त्री या विद्वान होना चाहिए जिसे प्रशासन का भी पर्याप्त अनुभव हो। उपकुलपति की नियुक्ति पाँच वर्ष के लिए हो और वह दो बार से अधिक इस पद के लिए न चुना जाय। यह पूर्णकालीन तथा वैतनिक पद हो। उपकुलपति के रिटायर होने की आयु पैंसठ वर्ष रखी जाय। केवल अत्यन्त योग्य तथा अखिल भारतीय ख्याति के व्यक्ति के लिए इसमें अपवाद भी हो सकता है। उसके उत्तराधिकारी को एक वर्ष पूर्व मनोनीत कर देना लाभदायक रहेगा। उपकुलपति को विश्वविद्यालय के कार्यों को समुचित रूप से चलाने के लिए पर्याप्त अधिकारों से विभूषित करना आवश्यक है।

आयोग ने विश्वविद्यालयों के संविधानों में सुधार करने के लिए भी महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। उनका विचार है कि 'कोर्ट' में 100 से कम तथा कार्यकारिणी-परिषद् में पन्द्रह-बीस सदस्य हों जिनके आधे बाहरी सदस्य हों। पाठ्यक्रम तथा शिक्षा-स्तर का निर्धारण करने का एकमात्र अधिकार शैक्षिक परिषद् (Academic Council) को ही होना चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक शैक्षिक नियोजन बोर्ड (Academic Planning Board) अवश्य स्थापित हो जाना चाहिए। प्रत्येक राज्य का राज्यपाल विश्वविद्यालय का 'विजिटर' हो, जिसे सभी मामलों में जाँच या निरीक्षण करने का अधिकार हो। शिक्षा मंत्रालय तथा यू० जी० सी० मिलकर विश्वविद्यालयों के विधानों में आवश्यक संशोधन करा दें। भारत सरकार को चाहिए कि वह सुप्रीम कोर्ट से निवेदन करे कि विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता एवं उच्च शिक्षा के विकास के सम्बन्ध में उचित नीति का निर्धारण कर दे।

इसके अतिरिक्त शिक्षा आयोग ने सम्बद्ध कालेजों, सरकारी तथा वैयक्तिक कालेजों के प्रशासन-सुधार, अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थिति को दृढ़ करने के भी सुझाव दिये हैं। यू० जी० सी० के अन्तर्गत सभी उच्च शिक्षा रहनी चाहिए, तथापि आयोग का मत है कि इसी स्तर की संस्थाएँ कृषि, इंजीनियरिंग तथा मेडीसिन के लिए पृथक रूप से बना देनी चाहिए। यू० जी० सी० में दस से पन्द्रह तक सदस्य हों जिनके अधिक से अधिक $\frac{1}{3}$ सरकारी अफसर और कम से कम $\frac{1}{3}$ विश्वविद्यालयों में से हों। आयोग की राय में सरकार का विश्वविद्यालयों से सीधा सम्पर्क रखना अनुचित है। यू० जी० सी० द्वारा निरीक्षण अधिक प्रभावक बना दिया जाय तथा सरकार को चाहिए कि यू० जी० सी० को पर्याप्त कोष प्रदान करें ताकि वह अधिक क्षमतापूर्वक काम कर सके।

## 14. कृषि-शिक्षा

देश की कृषि की वर्तमान दुर्दशा तथा कृषि-उत्पादन, विशेषतः खाद्यान्न के

उत्पादन में वृद्धि की अविलम्ब आवश्यकता को देखते हुए शिक्षा आयोग ने देश में शिक्षा के सभी स्तरों पर कृषि-शिक्षा के विकास की विशेष रूप से सिफारिश की है। कृषि-शिक्षा के क्षेत्र में आयोग के विचार से तीन बातें प्रमुख हैं–शिक्षण, अनुसन्धान तथा प्रसार-कार्य। आयोग के मतानुसार प्रत्येक राज्य में एक कृषि-विश्वविद्यालय अवश्य होना चाहिए जहाँ आधुनिक आवश्यकताओं को देखते हुए विशिष्ट पाठ्यक्रम की शिक्षा दी जाय। योग्य अध्यापकों द्वारा पोस्ट-ग्रेजुएट-शिक्षण पर बल दिया जाय। भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्था (I.A.R.I.) भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसन्धान संस्था (I.V.R.I.) तथा राष्ट्रीय डेरी अनुसन्धान संस्था (N.D.R.I.) जैसी केन्द्रीय अनुसन्धान संस्थाओं को कृषि-विश्वविद्यालयों के सहयोग से पोस्ट-ग्रेजुएट शिक्षा के केन्द्र खोलने चाहिए जिसमें भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद (I.C.A.R.) जैसी संस्थाएँ भी सहयोग दे सकती हैं।

आयोग का मत है कि पोस्ट-ग्रेजुएट कक्षाओं में केवल कृषि-ग्रेजुएट ही नहीं वरन् अन्य विषयों के छात्रों को भी प्रवेश देना चाहिए। प्रथम डिग्री का कोर्स हाई स्कूल के उपरान्त पाँच वर्ष का होना चाहिए। शिक्षकों की योग्यता तथा वेतन में सुधार, अनुसन्धान की सुविधाएँ, छात्रों को पर्याप्त छात्रवृत्तियाँ, प्रत्येक विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कम से कम 1000 एकड़ 404·6 हेक्टेयर का फार्म तथा बाह्य परीक्षाओं के महत्त्व में कमी इत्यादि की भी आयोग ने सिफारिश की है और अधिक नये कृषि-कॉलेज खोलने के पक्ष में आयोग नहीं है। वर्तमान कृषि-कालेजों की स्थिति में सुधार होना चाहिए। बहुमुखी स्कूलों के रूप में कृषि-पॉलिटेकिनल तथा कृषि-स्कूल खोलने का सुझाव भी आयोग ने दिया है। यहाँ तक कि प्राथमिक पाठशालाओं के स्तर पर भी कृषि से बच्चों का परिचय अवश्य ही करा दिया जाय।

प्रसार-कार्य के सुधार तथा ग्रामसेवक और अन्य प्रसार अधिकारियों को प्रशिक्षित करने में कृषि-पॉलिटेकनिकों तथा विश्वविद्यालयों का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व होना चाहिए। आयोग का विचार है कि गाँव के किसानों को भी कृषि-शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। कृषि-विकास के लिए जितने प्रशिक्षित लोगों की देश को आवश्यकता इस समय है या भविष्य में होगी, कृषि-शिक्षा को उसी आवश्यकता के अनुमान के आधार पर विकसित करना चाहिए।

## 15. व्यावसायिक, तकनीकी एवं इंजीनियरी शिक्षा

व्यावसायिक शिक्षा के लक्ष्य बताते हुए आयोग ने आशा प्रकट की है कि सन् 1986 तक 20% छात्र निम्न माध्यमिक स्तर तक और 50% कक्षा 10 के बाद आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से व्यावसायिक शिक्षा के अन्तर्गत होने चाहिए। व्यावसायिक शिक्षा स्कूल के स्तर पर अपने आप में पूर्ण हो।

तकनीकी शिक्षा के लिए तकनीकी हाईस्कूल तथा आई० टी० आई० अधिक संख्या में खोले जायँ जहाँ अर्द्ध-कुशल या कुशल कारीगर तैयार किये जायँ। व्यावसायिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण की सुविधाएँ पार्ट-टाइम या डाक-कोर्सों द्वारा अन्य

प्रौढ़ कारीगरों को भी दी जायं जो अपनी कार्य-कुशलता तथा उत्पादकता बढ़ाना चाहते हैं। देश में टेकनीशियनों की बढ़ती हुई माँग को देखते हुए उनके प्रशिक्षण के लिए डिप्लोमा स्तर के कोर्स खोले जायँ और पॉलिटेकनिकों की संख्या में वृद्धि की जाय।

इंजीनियरों की देश में माँग तेजी से बढ़ती जा रही है। अतः उनमें कोर्सों में सुधार, प्रवेश की सुविधाओं में वृद्धि, अध्यापकों के वेतन-क्रमों की अनियमितताओं का निवारण, व्यावहारिक प्रशिक्षण की सुविधाओं में प्रसार, पोस्ट-ग्रेजुएट तथा अनुसन्धान की सुविधाएँ प्रदान करने, इंजीनियरी शिक्षा को देश की मानव-शक्ति की माँग से सम्बन्धित करने, इंजीनियरी शिक्षा तथा उद्योगों के घनिष्ठ सम्बन्धों पर बल देने तथा इंजीनियरी कालेजों के संगठन एवं प्रशासन में सुधार करने की आयोग ने विशेष रूप से सिफारिशें की हैं।

## 16. विज्ञान, शिक्षा तथा अनुसन्धान

विज्ञान की शिक्षा तथा अनुसन्धान के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए आयोग ने कहा है कि देश की प्रगति कल्याण तथा सुरक्षा विज्ञान, टेकनोलॉजी की शिक्षा एवं अनुसन्धान के स्तर और प्रगति पर निर्भर है। अतः इस सम्बन्ध में गम्भीर प्रयत्नों की आवश्यकता है। पोस्ट-ग्रेजुएट अध्ययन तथा अनुसन्धान में हमारा स्तर अन्तरराष्ट्रीय कोटि का होना चाहिए। इसके लिए पाठ्यक्रम, अध्या- पकों एवं विद्यार्थियों के चयन के सिद्धान्त को अपनाना होगा। स्वदेशी चिन्तन-प्रणाली का अनुसरण करना एवं विदेशों के अन्धानुकरण से बचना भी आवश्यक है। हमारे वैज्ञा-निक विकास का पोषण हमारी सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से होना चाहिए जिसकी हम अवहेलना नहीं कर सकते। यह भी आवश्यक है कि विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों की शिक्षा आरम्भ से ही दी जाय।

विज्ञान की शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग का मत है कि पोस्ट-ग्रेजुएट वैज्ञानिक शिक्षा का स्तर उठाने के साथ ही साथ यह भी आवश्यक होगा कि आगामी दशकों में माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा, अनुसन्धान एवं उद्योगों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति को देखते हुए पोस्ट-ग्रेजुएट-स्तर पर प्रवेश-क्षमता में भी तदनुकूल वृद्धि की जाय। विज्ञान एवं गणित में उच्च अध्ययन-केन्द्रों की स्थापना की जाय जहाँ यू० जी० सी० की सहायता से देश अथवा विदेशों के विश्वविख्यात वैज्ञानिकों को कार्य करने के लिए आमन्त्रित किया जाय। विज्ञान और टेकनोलॉजी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध देश के विभिन्न क्षेत्रों की आर्थिक वृद्धि से स्थापित किया जाना आवश्यक है।

विज्ञान के अध्ययन में क्षेत्रीय विषमताओं का उन्मूलन, पाठ्यक्रम में क्रान्तिकारी परिवर्तन, सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक ज्ञान में साम्य स्थापित करना, प्रत्येक कॉलेज तथा विश्वविद्यालय में पूर्णतः सज्जित वर्कशाप एवं प्रयोगशालाओं की स्थापना, प्रसार, मूल्यांकन विधि में सुधार तथा ग्रीष्मकालीन विज्ञान-संस्थाओं की स्थापना इत्यादि अन्य महत्त्वपूर्ण सुझाव इस सम्बन्ध में आयोग ने दिये हैं। उनका विचार है कि एम० एस-सी० के उपरान्त छह माह का एक सघन तथा विशिष्ट अध्ययन सम्बन्धित विषय में रखा जाना चाहिए। एम० एस-सी० से भी किसी एक ऊँची डिग्री की स्थापना

का भी सुझाव दिया गया है । देश को क्षेत्रीय भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दावली के विकास के जो प्रयास इधर किये जा रहे हैं उनका शिक्षा आयोग ने स्वागत किया है और उनकी गति को तीव्रतर करने की सिफारिश की है ।

आयोग ने अनुमान लगाया है कि भारत के राष्ट्रीय कुल उत्पादन (G.N.P.) का केवल 0·3% अनुसन्धान तथा विकास पर व्यय किया जा रहा है जबकि अमरीका में यह 2·8%, रूस में 2 3% तथा इंगलैण्ड में 2·7% है । अतः वैज्ञानिक अनुसन्धान पर हमारे राष्ट्रीय विनियोग में पर्याप्त वृद्धि की जानी चाहिए ।

विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक अनुसन्धान को प्रोत्साहित करने के लिए आयोग ने सुझाव दिया है कि अब समय आ गया है जबकि अधिक से अधिक अध्यापकों और छात्रों को उच्च कोटि का उपयोगी अनुसन्धान करने में जुट जाना चाहिए । अन्ततः अध्यापक और अनुसन्धानकर्ता का भेद समाप्त कर देना चाहिए । अध्यापकों की योग्यता की कसौटी उनके अच्छे शिक्षक होने के साथ ही साथ यह भी होनी चाहिए कि उनका प्रकाशित अनुसन्धान-कार्य कितना है । विश्वविद्यालयों में केन्द्रीय प्रयोग-शालाओं से लोगों को अनुसन्धान-कार्य में सहयोग देने के लिए आमन्त्रित करना चाहिए । विभाग-अध्यक्ष तथा सीनियर अध्यापकों के अन्तर्गत अनुसन्धान करने वाले छात्रों की संख्या सीमित करके जूनियर अध्यापकों को भी अनुसन्धान गाइड करने का अवसर दिया जाना चाहिए । पी-एच० डी० में आने के लिए न्यूनतम योग्यता को और बढ़ा दिया जाय । अनुसन्धान में रुचि रखने वाले इंजीनियरिंग के ग्रेजुएटों को सीधे गणित, भौतिकशास्त्र अथवा अन्य विज्ञान सम्बन्धी विषयों में अनुसन्धान करने चले जाना चाहिए । आयोग ने गणित के पोस्ट-ग्रेजुएट अध्ययन तथा अनुसन्धान को प्रोत्साहित करना भारत के लिए अत्यन्त आवश्यक बताते हुए उसके विकास के सुझाव दिए हैं ।

आयोग का यह भी मत है कि विश्वविद्यालयों अथवा अन्य अनुसन्धान संस्थाओं को एकमात्र आधारभूत सैद्धान्तिक विषयों में ही नहीं उलझे रहना चाहिए वरन् व्यावहारिक (applied) विषयों पर भी काम करना चाहिए । इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों को अनुसन्धान के लिए वित्तीय सहायता, विश्वविद्यालयों के बाहर अन्य संस्थाओं में बुनियादी अनुसन्धान की सुविधाएँ प्रदान करना, विदेशों में अनु-सन्धान करने के लिए फैलोशिप देना तथा उपयुक्त राष्ट्रीय विज्ञान-नीति का विकास करना इत्यादि अन्य सुझाव हैं जिन पर आयोग ने बल दिया है ।

## 17. प्रौढ़ शिक्षा

आयोग का मत है कि आगामी 20 वर्षों में भारत से निरक्षरता का उन्मूलन कर डालना चाहिए । निरक्षरता को रोकने के लिए आयोग ने तीन सुझाव दिये हैं :

(1) 6–11 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए 5 वर्ष की अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रसार;

(2) 11–14 वर्ष की आयु के ऐसे बालकों के लिए पार्ट-टाइम शिक्षा की व्यवस्था जो या तो शुरू में पढ़ नहीं पाये अथवा थोड़ा पढ़कर पढ़ना छोड़ बैठे; तथा

(3) 15–30 वर्ष की आयु के तरुण प्रौढ़ों के लिए सामान्य तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करना ।

निरक्षरता के उन्मूलन के लिए दो प्रणालियों—चयन-पद्धति (selective approach) तथा समूह-पद्धति (mass approach) को कार्यान्वित करने का सुझाव दिया गया है । चयन-पद्धति के अन्तर्गत विशेष प्रकार के ऐसे प्रौढ़-वर्ग को शिक्षा देनी चाहिए जो सरलता से पहचाना जा सकता है, नियन्त्रित तथा अभिप्रेरित किया जा सकता है । उदाहरण के लिए, बड़ी फर्मों या कारखानों इत्यादि के श्रमिकों से साक्षरता तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए अधिक सरलता से सम्पर्क बनाया जा सकता है । सरकार की जितनी विकास-योजनाएं चल रही हैं उनमें अपने श्रमिकों तथा कर्मचारियों को शिक्षित करने में चयन-पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

समूह-पद्धति के अन्तर्गत देश के शिक्षित सभी पुरुषों को जनसमूहों की निरक्षरता का निवारण करने के लिए एक अभियान में सम्मिलित करके एक बड़े पैमाने पर कार्य किया जा सकता है । शिक्षा-संस्थाएँ अर्थात् स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों के अध्यापक एवं छात्र मिलकर इन अभियानों को चला सकते हैं । स्कूलों को सामुदायिक जीवन के केन्द्रों के रूप में परिवर्तित करना चाहिए । प्रत्येक शिक्षा-संस्था को एक क्षेत्र दे देना चाहिए जिसमें उसे कार्य करके निरक्षरता-निवारण करना है । आयोग ने स्त्रियों में साक्षरता आन्दोलन चलाने, साक्षरता के अनुगामी कार्यक्रम (follow up programmes) चलाने, डाक द्वारा सामान्य, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करके श्रमिकों तथा कृषकों की उत्पादकता में वृद्धि करने और क्रियात्मक (functional) साक्षरता पर बल देने, पुस्तकालयों एवं संवादवाहन के समूह-साधनों (mass-media) का प्रयोग करने और विश्वविद्यालयों में प्रौढ़ शिक्षा विभागों की स्थापना द्वारा साहित्य रचना तथा अनुसन्धान कराने की विशेष रूप से सिफारिशें की हैं । संगठन तथा प्रशासन को अधिक प्रभावक बनाने के लिए 'राष्ट्रीय शिक्षा बोर्ड' की स्थापना का सुझाव आयोग ने दिया है ।

## 18. शैक्षिक नियोजन तथा प्रशासन

शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न स्तरों पर तथा विभिन्न प्रकार की प्रबन्ध-सत्ताओं के अन्तर्गत चलने वाली शिक्षा-संस्थाओं में कार्यक्रम के नियोजन तथा प्रशासन की समस्या को आयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और देशव्यापी समझता है । इस सम्बन्ध में समस्या के बुनियादी स्वरूप का उल्लेख करते हुए उसने कहा है कि "भारत में शिक्षा-नियोजन की प्रमुख समस्या है एक राष्ट्रीय नीति का विकास करना, अपेक्षाकृत इस बात के कि संविधान में शिक्षा एक राजकीय विषय है और सभी प्रकार की समस्याओं पर विभिन्न स्तरों पर विभिन्न सत्ताओं द्वारा निर्णय लिये जाते हैं ।"[4] अतः आयोग ने शिक्षा-नियोजन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं ।

---

4 *Report, op. cit.*, p. 443.

आयोग का विचार है कि अब तक प्रवेश तथा व्यय के सम्बन्ध में लक्ष्य-प्राप्ति पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। किन्तु अब शिक्षा की किस्म में सुधार करने के सम्बन्ध में नीति का विकास किया जाना चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र में कुछ न कुछ कर डालने की बजाय कुछ चुने हुए क्षेत्रों में विकास किया जाय, क्योंकि हमारे साधन सीमित हैं। जिन कार्यक्रमों में अधिक वित्त के बजाय अधिक कठोर श्रम, योग्यता, संगठन-क्षमता तथा दृढ़ निश्चय की आवश्यकता हो उन्हें प्राथमिकता देनी चाहिए। विश्वविद्यालय तथा अन्य व्यावसायिक संस्थाओं को चाहिए कि पंचवर्षीय आयोजनों में उनके लिए जो कार्यक्रम निर्धारित किया गया है उसे कार्यान्वित करें। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय तथा "एशियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशनल प्लानिंग" को मिल कर सभी स्तरों पर शिक्षा-नियोजन के कार्यक्रम का विकास करना चाहिए। यू० जी० सी० को भी चाहिए कि वह शिक्षा-नियोजन, प्रशासन तथा वित्त के सम्बन्ध में एक उच्च अध्ययन-केन्द्र स्थापित करे।

आयोग का कहना है कि एक संघीय जनतन्त्र में प्रशासन की एक उचित राष्ट्रीय नीति का निर्माण आवश्यक है तथा राष्ट्रीय, राज्यीय एवं स्थानीय स्तरों पर प्राथमिकताओं की एक उचित प्रणाली अपनानी चाहिए। स्कूल-शिक्षा तो राज्य तथा स्थानीय सत्ताओं के अन्तर्गत है और उच्च शिक्षा-केन्द्र एवं राज्य की साझीदारी में है। अत: देखना यह है कि हमारी नियोजन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किस प्रकार हम केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण में सन्तुलन स्थापित करने के सिद्धान्त का विकास करते हैं।

वैयक्तिक प्रयास के कर्तव्य के सम्बन्ध में आयोग ने स्पष्ट कहा है कि अब तक वैयक्तिक प्रयास ने शिक्षा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, किन्तु अब राज्य के द्वारा शिक्षा-उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने के कारण वैयक्तिक प्रयास के लिए अधिक गुंजायश नहीं है जो आयोग के विचार से उचित ही है।

स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में आयोग ने कहा है कि इन्हें शिक्षा का उत्तर-दायित्व दो प्रमुख शर्तों—सुप्रबन्ध तथा शिक्षा के प्रसार—पर प्रदान किया गया है। अत: जहाँ पर स्थानीय सत्ताएँ इन उत्तरदायित्वों को ठीक तरह नहीं निभा पा रहीं, उन्हें इस अधिकार से वंचित कर देना चाहिए। स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में अन्तिम लक्ष्य यह है कि स्कूल तथा स्थानीय जनता में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाना चाहिए; किन्तु जब तक ऐसा नहीं हो पा रहा तब तक सभी राज्यों में एक राष्ट्रीय नीति यह अपनायी जाय कि गाँवों में गाँव पंचायतें तथा नगरों में नगरपालिकाएँ राज्य-अनुदान की सहायता से स्थानीय विद्यालयों के गैर-अध्यापक व्यय (non-teacher expenditure) को स्वयं चलाती रहें। अन्ततः जिला-स्तर पर एक जिला शिक्षा बोर्ड की स्थापना के अन्तर्गत विश्वविद्यालय से नीचे की सम्पूर्ण शिक्षा को ले आना चाहिए। यह अवश्य देखना पड़ेगा कि अध्यापक स्थानीय दलबन्दी या राजनीति में न फँस जायँ। आयोग ने जिला परिषदों तथा नगरपालिकाओं के अन्तर्गत जिले की ग्रामीण

तथा शहरी शिक्षा के समुचित रूप से विकास और संचालन करने की आवश्यकता पर भी बल दिया है।

केन्द्रीय सरकार के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए आयोग ने सुझाव दिया है कि उसे वैज्ञानिक एवं तकनीकी संस्थाओं के अतिरिक्त समाज तथा मानवविज्ञानों के विकास के उत्तरदायित्व को भी सम्हालना चाहिए। ऐसी संस्थाएँ विश्वविद्यालयों के निकटतम सम्पर्क एवं सहयोग से स्थापित की जानी चाहिए। केन्द्रीय शासित क्षेत्रों में शिक्षा के विकास, राज्य सरकारों को सर्वोत्तम सेवाएँ देश के अन्य भागों से प्राप्त करके प्रदान करना, जिन विशेष कार्यों के लिए राज्य-नियोजन में वित्त की व्यवस्था नहीं है, उनके लिए वित्त प्रदान करना तथा केन्द्रीय क्षेत्र में सम्मिलित कार्यक्रमों को अच्छी तरह कार्यान्वित करना इत्यादि केन्द्रीय सरकार के अन्य कर्तव्य हैं।

आयोग ने तत्कालीन शिक्षा मन्त्री द्वारा उच्च शिक्षा को संगामी सूची (Concurrent List) में ले आने और विधान में संशोधन वाले विवाद को देश में खड़ा कर देने के सम्बन्ध में अपना विचार विरोध में प्रकट करते हुए इस विवाद को प्राय: समाप्त ही कर दिया है। उसका कहना है कि शिक्षा को खण्डित नहीं करना चाहिए। भारतीय संविधान में हमारे जैसे वृहत् देश के लिए जो क्षेत्रों का वितरण किया गया है, वह सर्वोत्तम है क्योंकि इसमें एक ऐसे केन्द्रीय नेतृत्व के मिलने की व्यवस्था है जो प्रेरक है और जिसमें दबाव डालने की गुंजायश नहीं। "यदि शिक्षा को संगामी सूची में सम्मिलित कर दिया गया तो इससे शिक्षा-प्रणाली में, जहाँ अधिकतम लोच तथा परीक्षण करने की स्वतन्त्रता की आवश्यकता है वहाँ एक अवांछनीय केन्द्रीकरण तथा दुरूहता उत्पन्न हो जायगी। हमें विश्वास है कि वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था में एक कामचलाऊ केन्द्र-राज्य सहयोग के लिए पर्याप्त क्षेत्र है और अभी तक इसे पूरी तरह प्रयोग में नहीं लाया गया है। अत: संविधान में संशोधन करने की बात तो तभी उठ सकती है जब पहले इस क्षेत्र का पूर्णतम प्रयोग कर लिया जाय और इसे अपर्याप्त समझा जाय।"[5] आयोग का विचार है कि केन्द्र-राज्य सहयोग के इस क्षेत्र के पूर्णतम उपयोग के उपरान्त एक राष्ट्रीय शिक्षा-नीति का विकास किया जाय और इस समस्या पर दस वर्ष उपरान्त पुन: विचार किया जा सकता है।

आयोग ने केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के प्रशासन के सुधार के सम्बन्ध में भी सुझाव दिये हैं। शिक्षा सचिव, जो केन्द्रीय सरकार का शिक्षा सलाहकार भी होता है, के पद को बना रहने देने और उस पर अत्यन्त योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति की नियुक्ति की सिफारिश की गयी है। शैक्षिक नियोजन, नीति-निर्माण तथा मूल्यांकन की सेवाओं में सुधार करने के उद्देश्य से आयोग ने केन्द्रीय तथा राज्य शिक्षा मन्त्रालयों की सांख्यिकी शाखा के सुधार का सुझाव दिया है।

आयोग ने शैक्षिक अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण की राष्ट्रीय परिषद (N.C.E.R.T.)

*Report, op. cit.*, p. 453.

के सुधार तथा राज्य-स्तर पर प्रशासन को अधिक सूक्ष्म बनाने पर बल दिया है। भारतीय शिक्षा-सेवा (Indian Educational Service) के विषय में आयोग का सुझाव है कि इसे शिक्षण तथा अनुसन्धान से ही सम्बन्धित रहना चाहिए और योग्य तथा अनुभवी लोगों को ही इसमें लिया जाय। केवल $\frac{1}{3}$ स्थानों की पूर्ति ही प्रत्यक्ष भर्ती के द्वारा की जाय और उन नये लोगों को पर्याप्त अनुभव प्राप्त करने के उपरान्त ही प्रशासन-कार्यों का उत्तरदायित्व सौंपा जाय। शेष $\frac{2}{3}$ स्थानों को आंशिक रूप से प्रत्यक्ष भर्ती और अंशतः पुराने लोगों के पदों में उन्नति (promotion) के द्वारा भरा जाय। इसी प्रकार राज्य शिक्षा-सेवा में सुधार के उपाय बताये गये हैं। आयोग के मतानुसार राज्य शिक्षा-विभाग का सुधार एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुधार माना जा सकता है।

शिक्षा सम्बन्धी प्रशासकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, शिक्षा-प्रशासन के लिए एक राष्ट्रीय स्टाफ कॉलेज की स्थापना करना तथा शिक्षा के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में अधिनियम (Acts) पास करना इत्यादि अन्य सुझाव आयोग ने दिये हैं। उसका विचार है कि एक राष्ट्रीय शिक्षा अधिनियम के निर्माण करने की सम्भावनाओं की भी जाँच हो जानी चाहिए।

## 19. शिक्षा की वित्तीय व्यवस्था

आयोग का विचार है कि यदि देश में शिक्षा का पर्याप्त विकास करना है तो सन् 1965-66 में प्रति व्यक्ति शिक्षा-व्यय 12 रुपये से बढ़कर आगामी 20 वर्षों में सन् 1985-86 तक वर्तमान कीमतों पर 54 रुपये हो जाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि सन् 1950-51 में जो व्यय 1,114 मिलियन रुपये से बढ़कर 1965-66 में 6,000 मिलियन रुपये हो गया है वह 1985-86 में 40,264 मिलियन रुपये हो जायगा।

आगामी दो या तीन दशकों में शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों पर व्यय का स्वरूप इस प्रकार से रहेगा कि $\frac{2}{3}$ भाग स्कूली शिक्षा और $\frac{1}{3}$ भाग उच्च शिक्षा पर व्यय किया जाय, तथापि इनके सापेक्षिक महत्त्व में समय-समय पर परिवर्तन होता रहना चाहिए। उदाहरण के लिए, सन् 1965-75 के दशक में स्कूली शिक्षा को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। उसके उपरान्त उच्च शिक्षा के महत्त्व में वृद्धि की जानी चाहिए। स्कूली शिक्षा का अतिरिक्त व्यय अध्यापकों की वेतन-वृद्धि तथा शिक्षा के ढाँचे में अनुकूल परिवर्तन करने पर किया जायगा।

शिक्षा-वित्त के साधनों का उल्लेख करते हुए आयोग ने कहा है कि यद्यपि सरकार अब अधिकाधिक वित्तीय उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती चली जायगी तथापि वित्तीय अधिकारों को पूर्णतः सरकार के हाथों में केन्द्रित करना अनुचित है। वैयक्तिक, स्थानीय तथा स्वैच्छिक संस्थाओं को भी वित्त-संग्रह में सहयोग देते रहना चाहिए। जिला परिषदों को चाहिए कि मालगुजारी पर शिक्षा के लिए उपकर लगा दें। उपकर से होने वाली आय के अनुपात से ही राज्य सरकार को अनुदान देना चाहिए। जिला परिषदों को अनुदान देने के विषय में कुछ नियमों का सुझाव आयोग ने दिया है, जिनके

अनुसार अध्यापकों के वेतन का 100% राज्य सरकार को देना चाहिए। वेतन के अतिरिक्त खर्चों के लिए प्रति बच्चे के हिसाब से एक ब्लौक ग्रान्ट परिषदों को दी जाय जिसकी दरों में प्रति तीन से पाँच वर्ष उपरान्त संशोधन कर देना चाहिए। अपने सभी कोषों को शिक्षा पर व्यय करने की जिला परिषद को पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। अनावर्त्तक व्यय के लिए पृथक से अतिरिक्त अनुदान दिया जाना चाहिए। अनुदान की राशि वित्तीय वर्ष के अन्त में मारी न जाकर, एकत्रित होती जानी चाहिए।

नगरों में नगरपालिकाओं को शिक्षा-व्यय में हाथ बँटाना चाहिए। वे भूमि-भवन उपकर लगाकर शिक्षा के लिए वित्त जुटा सकती हैं। अनुदान के लिए नगर-पालिकाओं का उनकी सम्पत्ति के आधार पर वर्गीकरण कर देना चाहिए और निर्धन नगरपालिकाओं को ऊँची दर से अनुदान मिलना चाहिए। नगर महापालिकाओं को अपने क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा पर व्यय स्वयं करना चाहिए। केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों में तथा केन्द्रीय शिक्षा कार्यक्रमों पर केन्द्र सरकार को वित्तीय उत्तरदायित्व उठाना चाहिए। आयोग ने वित्त के दुरुपयोग को रोककर मितव्ययता से काम लेने और वित्तीय प्रश्न के विभिन्न पहलुओं पर अनुसन्धान कराने का भी सुझाव दिया है।

इस प्रकार शिक्षा आयोग की सिफारिशों को हम अत्यन्त विस्तृत, सूक्ष्म, व्यापक और प्रगतिशील पाते हैं। शिक्षा के सभी पहलुओं पर इसने विचार करके अपने ऐति-हासिक विचार प्रकट किये हैं।

**शिक्षा आयोग की आलोचना**

कोठारी शिक्षा आयोग भारतीय शिक्षा के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखता है। एक ऐसे समय में जब हम देश का नियोजित विकास करके राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि, जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने तथा अन्य सभी क्षेत्रों में बहुमुखी प्रगति करने के यत्न कर रहे हैं, उस समय देश की शिक्षा-प्रणाली के उद्देश्यों की आधुनिक समस्याओं के प्रसंग में व्याख्या करके शिक्षा को जीवन तथा मानव-शक्ति की आवश्यकताओं से सम्बन्धित करने की सिफारिश करके आयोग ने शिक्षा को एक अत्यन्त ही व्यावहारिक एवं उपयोगी मोड़ देने का प्रयास किया है। किन्तु आयोग की रिपोर्ट पूर्णतः निर्दोष नहीं है। कई महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में आयोग की भारी आलोचना की गयी है। नीचे हम इसके गुण-दोषों का संक्षेप में आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

**गुण :**

(1) **उद्देश्यों की सार्वभौमिकता**—आयोग ने जो भी सिफारिशें दी हैं उनमें दृष्टिकोण व्यापक, उदार तथा अन्तरराष्ट्रीय रखा है। संकीर्ण स्थानीयता से देश की शिक्षा का विकास अवरुद्ध हो सकता है। अतः जहाँ आयोग ने राष्ट्र की विशेष समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया है, वहाँ उसने उन समस्याओं को एक व्यापक प्रसंग में भी देखने का प्रयास किया है। कुछ प्रमुख देशों से तुलनात्मक समीक्षा करके आयोग ने भारतीय स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

(2) **वर्तमान दोषों की निर्भय आलोचना** -भारतीय शिक्षा-प्रणाली के वर्तमान दोषों की आयोग ने अत्यन्त निर्भीक आलोचना की है, जो अत्यन्त वांछनीय है। इस आलोचना के कारण हमारी शिक्षा-प्रणाली के प्राय: सभी प्रमुख दोषों का उसने निदान करके उपाय प्रस्तुत किये हैं।

(3) **शिक्षा का जीवन से सम्बन्ध स्थापित करना**—आयोग का विचार है कि प्राय: सभी स्तरों पर हमारा पाठ्यक्रम दोषपूर्ण, अपर्याप्त तथा जीवन की आवश्यकताओं से असम्बद्ध है। अत: उसे अधिक उपयोगी बनाने के लिए उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन आवश्यक हैं। माध्यमिक तथा उच्च स्तरों पर विशेष रूप से वह शिक्षा को देश की आर्थिक वृद्धि तथा मानव-शक्ति की आवश्यकताओं (man-power needs) से सम्बन्धित करने के लिए चिन्तित प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि हम पाठ्यक्रम में उचित परिवर्तन करके उसे जीवनोपयोगी बनाने में सफल नहीं हो पाये तो हम आर्थिक तथा भौतिक समृद्धि की दौड़ में विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा और भी अधिक पिछड़ जायेंगे।

(4) **विशिष्ट शिक्षाओं पर बल**—आयोग ने शिक्षा के कुछ आवश्यक विशेष अंगों, जैसे– स्त्री-शिक्षा, विकलांग बालकों की शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा इत्यादि पर विशेष बल दिया है जो अत्यन्त वांछनीय है। भारतीय शिक्षा के ये सभी अंग अल्प-विकसित हैं और इन्हें प्राथमिकता अवश्य ही मिलनी चाहिए थी।

(5) **मानदण्ड का उत्थान**—आयोग शिक्षा के गिरते हुए मानदण्ड से भारी चिन्तित दिखायी देता है। यही कारण है कि अपनी सारी रिपोर्ट में जो कुछ भी सुझाव दिये हैं, उसमें सदा इस बात को ध्यान में रखा प्रतीत होता है कि शिक्षा-स्तर उत्तरोत्तर ऊँचा उठता जाय।

(6) **अध्यापकों की दशा में सुधार**—अध्यापकों की शैक्षिक, व्यावसायिक तथा आर्थिक स्थितियों के सुधार के सम्बन्ध में आयोग की सिफारिशें पर्याप्तत: प्रगतिशील हैं। वह केवल यही नहीं चाहता कि अध्यापक परिश्रम करें तथा अपनी व्यावसायिक योग्यता में वृद्धि करें वरन् वह उन्हें समाज में उचित स्थान दिलाने के सम्बन्ध में चिन्तित है। इसके लिए वह उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने तथा उनके लिए सुरक्षा, कल्याण-कार्यों, राजकीय सम्मान इत्यादि के विषय में व्यावहारिक तथा उदार सुझाव प्रस्तुत करता है।

(7) **अन्य सुधार**—शिक्षा आयोग की सिफारिशों की अन्य विशेषताओं में हम विज्ञान तथा अनुसन्धान पर बल, उच्च शिक्षा में प्रवेश पर नियन्त्रण, शिक्षा के प्रशासन में सुधार, कृषि-शिक्षा पर बल, शिक्षा-व्यय में वृद्धि तथा पर्याप्त वित्त की व्यवस्था, विद्यालयों की स्वायत्तता की रक्षा, छात्र-समस्याओं इत्यादि का उल्लेख कर सकते हैं। विज्ञान तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान को आयोग देश की आर्थिक उन्नति के लिए अनिवार्य समझता है, यही कारण है कि विज्ञान-शिक्षा में सभी स्तरों पर वह

पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान करने के पक्ष में है। भारत के प्रसंग में अनुसन्धान की व्यावहारिक उपयोगिता पर बल देना भी एक उचित नीति है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश पर नियन्त्रण रखने का स्वस्थ प्रभाव यह पड़ेगा कि केवल योग्य तथा इच्छुक विद्यार्थी ही इधर आयेंगे। इससे हमारे दुर्लभ साधनों का दुरुपयोग होने से बच जायगा। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए कृषि-शिक्षा को इतनी ऊँची प्राथमिकता देना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुझाव है। प्रशासन में सुधार तथा शिक्षा के लिए अधिक वित्त प्रदान करने के विपरीत तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। विश्वविद्यालय-स्वायत्तता की रक्षा करके भी आयोग ने एक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। छात्र-समस्याओं पर आयोग ने उनके कल्याण, वित्तीय सहायता तथा अनुशासन की समस्या के विषय में व्यावहारिक सुझाव दिये हैं।

इस प्रकार आयोग की सिफारिशों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। यदि इन्हें कार्यान्वित करने के लिए सक्रिय कदम उठाये जाते हैं तो निश्चय ही भारत शिक्षा के क्षेत्र में संसार में आगे बढ़ सकता है। तथापि आयोग की सिफारिशों में कुछ दोष भी माने जा सकते हैं।

**दोष :**

(1) **अव्यावहारिकता**—आयोग की सिफारिशें इतनी विस्तृत, आदर्शवादी तथा सूक्ष्म हैं कि कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः आयोग सब कुछ कह डालना व कर डालना चाहता है। कहीं-कहीं यह प्रयास अव्यावहारिकता की सीमाओं को छूने लगता है। यह सत्य है कि हमें अपनी शिक्षा-प्रणाली के दोषों का उन्मूलन करना है, किन्तु उसके लिए हमें अपने साधनों और अपनी सीमाओं को भी तो देखना होगा। आदर्श स्थितियाँ और लक्ष्यों की प्राप्ति सब कुछ अच्छा ही कर डालने की मात्र सिफारिशों से ही तो नहीं हो जाती है। अतः यह उचित होता यदि आयोग विभिन्न समस्याओं पर इतना सूक्ष्म तथा विस्तृत विश्लेषण न करके अत्यन्त आवश्यक समस्याओं को ही प्राथमिकता देकर उनके हल करने के लिए व्यावहारिक सुझाव देता।

(2) **नवीन उलझनों की उत्पत्ति**—आयोग ने जहाँ कुछ समस्याओं को हल करने के सुझाव दिये हैं वहाँ कुछ नवीन समस्याओं को जन्म भी दे दिया है। उदाहरण के लिए, मुख्य विश्वविद्यालयों की स्थापना, अंग्रेजी भाषा की अनिवार्यता, असंख्य प्रकार की संस्थाओं की राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर पर स्थापना, रोमन लिपि के विवाद को खड़ा कर देना इत्यादि ऐसे प्रश्न हैं जो विवाद से खाली नहीं हैं। अतः शिक्षा-क्षेत्र में भ्रान्तियों में वृद्धि होने में इससे सहायता मिली है।

(3) **दोषपूर्ण भाषा-नीति**—आयोग की भाषा-नीति की देश में बहुत आलोचना हुई है। प्रत्यक्ष रूप में आयोग ने क्षेत्रीय भाषाओं तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रसार की बात कही है किन्तु प्रत्येक स्तर पर अंग्रेजी को अनिवार्य बना दिया है। अंग्रेजी का अध्ययन तो वह कक्षा 5 से ही अनिवार्य कर देता है, किन्तु हिन्दी को वैकल्पिक रखता है। जूनियर माध्यमिक स्तर पर भी अंग्रेजी अनिवार्य रहेगी। उच्चतर माध्यमिक

स्तर पर उसने छात्रों को स्वतन्त्रता दी है कि मातृभाषा अंग्रेजी तथा हिन्दी इन तीनों में से कोई दो भाषाएँ चुन लें । इसमें व्यवहारतः अंग्रेजी के चुने जाने की सम्भावनाएँ अधिक हैं । विश्वविद्यालय-स्तर पर वह क्षेत्रीय भाषा को प्रथम डिग्री-स्तर पर माध्यम बनाता है किन्तु द्वितीय डिग्री-स्तर पर अंग्रेजी की हिमायत करता है । उसकी इन सिफारिशों का शुद्ध परिणाम यह होगा कि हमेशा के लिए ही अंग्रेजी सम्पर्क भाषा बनी रहेगी और विशेषकर अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी के अत्यन्त अल्प ज्ञान से आगे लोग बढ़ ही नहीं पायेंगे । इसके अतिरिक्त रोमन लिपि द्वारा भारतीय भाषाओं को पढ़ाने की हिमायत करके तो आयोग ने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है जो अंग्रेजी के ही हित में है । हिन्दी को भी वह देवनागरी के बजाय अहिन्दी क्षेत्रों में रोमन लिपि से ही पढ़ाने के पक्ष में है । अतः कहा जा सकता है कि आयोग ने भाषा-नीति के सम्बन्ध में देश में समस्या को और भी अधिक उलझा दिया है ।

(4) **मुख्य विश्वविद्यालय**—मुख्य विश्वविद्यालयों की स्थापना का सुझाव देकर आयोग ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विष-बीज बो दिये हैं । इनसे उच्च शिक्षा के क्षेत्र में पक्षपात, भेद-भाव, ईर्ष्या, अहंकार भावना, हीन भावना तथा अस्वस्थ स्पर्द्धा जैसी भयंकर प्रवृत्तियों का जन्म होगा । मुख्य विश्वविद्यालयों पर देश के वित्तीय साधनों का व्यय सामान्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा अधिक होगा । अच्छे अध्यापक अन्य विश्वविद्यालयों को छोड़कर मुख्य विश्वविद्यालयों में चले जायेंगे । अतः सामान्य विश्वविद्यालयों में शैक्षिक मानदण्ड और भी अधिक नीचे गिर जायेंगे । इससे उच्च शिक्षा के क्षेत्र में साम्य के स्थान पर भयंकर विषमताएँ उत्पन हो जायेंगी ।

**उपसंहार**

उपर्युक्त दोषों के बावजूद भी यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि शिक्षा आयोग भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नवीन अध्याय जोड़ता है । इसकी सिफारिशें तथा सुझाव हमारी शैक्षिक समस्याओं के प्रमुख दोषों के निवारण में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं । शिक्षा के सभी पक्षों पर इतनी बड़ी समीक्षा यहाँ पहले कभी नहीं की गयी । आयोग ने शिक्षा का एक व्यापक तथा एकीकृत दृष्टिकोण अपने समक्ष रखा है । आर्थिक विकास तथा शिक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध आयोग ने अत्यन्त विशद् रूप से प्रस्तुत किया है । जिस समस्या को आयोग ने उठाया है उसे तर्कपूर्ण विश्लेषण की चरम सीमा तक पहुँचा दिया है । यदि हम अपनी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के सुधार की दिशा में शिक्षा आयोग के बताये हुए मार्ग पर चलने में सफल हो सके तो निश्चय ही भारत शिक्षा-प्रगति के एक नये युग में प्रवेश करने में सफल हो सकेगा ।

# सहायक पुस्तकें

PART FIRST :

*Altekar, A. S.*, Education in Ancient India (1948).

*Balmiki*, Ramayan.

Chhandogya Upanishad.

*Keay, F. E.*, History of Indian Education : Ancient and in Later Times (1942).

*Kautilya*, Arthshastra.

Manusmriti.

Mahabharat, Adi Parva.

*Max Mullar*, Lectures on Vedanta Philosophy.

Mundak Upanishad.

*Mukerjee, R. K., Dr.*, Ancient Education in India (1947).

Padma Puran

Panini.

Shatpath Brahman.

Subhashit Ratna Bhandar.

Yajnavalkya.

PART SECOND :

*Bernier*, Travels.

Cambridge History of India, Vol. IV.

*Ishwari Prasad, Dr.*, History of Medieval India.

*Jaffar*, Education in Muslim India.

*Keay, F. E.*, History of Indian Education, Ancient and in Later Times.

*Law, N. N.*, Promotion of Learning in India during Mohammedan Rule.

*Moreland, W. H.*, From Akbar to Aurangzeb.

*Nadavi*, Muslim Thought and its Source.

*Sen, J., M.* History of Elementary Education in India.

*Sharma, S. R.*, Moghul Empire in India.

*Shrivastava, A. L., Dr.*, Sultanate of Delhi.

*Vakil, K. S.*, Education in India.

PART THIRD :

Adam's Report on Vernacular Education in Bengal and Bihar.
Administration of Basic Education, Govt. of India (1960).
*Altekar*, Education in Ancient India.
A Brief Review of Progress : Five Year Plan 1955, Government of India, Ministry of Education.
Agra University (Amendment) Act, 1954.
Aims and Objects of University Education in India : Ministry of Education, Government of India.
A Selection of Questions and Answers in Lok Sabha (1957).
*Basu, A. N.*, University Education in India.
——Education in Modern India.
Basic and Social Education, Pamphlet No. 586, Ministry of Education, Government of India.
Basic Education Assessment Committee Report (1957), Government of India.
Better Teacher Education : Ministry of Education, Government of India (1954).
*Bhatia, Hans Raj*, What Basic Education Means ? (1954).
*Bramwell, R. D.*, Integrated Courses in Social Studies (1957).
Estimates Committee Reports (1959-60), Lok Sabha, From First to Fifteenth Report.
*Chakravarti, Atulanand*, Thoughts on Indian Education : Ministry of Education, Government of India (1958).
Experiments in Teachers Training : Ministry of Education, Government of India (1954).
Thirteenth Year of Freedom (1960-61), A. I. C. C.
Five Year Plans : Government of India, Report of First, Second and Third Plans.
Future of Education in India : Publication Division (1954). Gokhale's Speeches.
*Humayun Kabir*, A Programme of National Education for India : Eastern Economist Pamphlet.
——Education in New India (Second Edn., 1959).
Harijan : 2-10-37, 30-10-37.
*Sharp, H.*, Selections from Educational Records.
Hartog Committee Report.
Handbook for Teachers of Basic Schools, Miinstry of Education, Government of India (1958).
*Lawrence, H. S. S.*, In Service Teacher Education (1956).

*Howell* : Education in India.
India Today, Vol. I, June 1952.
India (1964), Publication Division, Governmnt of India.
*Mathew, A.*, Christianity and the Government of India.
*Mudaliar, A. L.*, Education in India (1960).
*Mukerjee. S. N.*, Education in India, Today and Tomorrow.
——Education in India in the 20th Century.
——Education in Modern India.
My Idea of a University : Symposium, Govt. of India (1957).
Narendra Deva Committee Report, 1939 (For the Reorganisation of Primary and Secondary Education in U. P.).
*Nurullah and Naik*, A History of Education in India (1951).
A New Deal for Secondary Education, Ministry of Education, Government of India (1954).
*Paul Bergivin*, Philosophy of Adult Education.
*Pires, E. A.*, The Rural Primary Teachers, 1955, Government of India.
Progress of Pre-Primary and Elementary Education in India (1959).
Progress of Education in India (Reports, Government of India) 1930-31, 1936-37, 1938-39, 1937-47, 1959-60.
*Paranjpe, M. R*, Source Book of Indian Education.
Proceedings of the Indian National Commission (1954).
Quinquennial Review of the Progress of Education in India, 1912-17
,, ,, ,, ,, ,, ,, 1917-22
,, ,, ,, ,, ,, ,, 1922-27
1927-32
,, ,, ,, ,, ,, ,, 1932-37
,, ,, ,, ,, ,, ,, 1947-52
,, ,, ,, ,, ,, ,, 1948-49
A Review of Education in India (Humavun Kabir)
*Ritcher, J.*, History of Missions in India.
Report of the University Education Commission (Radhakrishnan Commission, Vol. I, 1949).
Report of Indian University Commission (1902).
Report of the Assessment Committee on Basic Education.
Report of the Committee on the Indian Examinations, Reform Project, U. S. I. S. (1959).
Report of Progress of Education in U. P. (Ministry of Education, U. P.)

Report of the Three-Years Degree Course (1958).
Report of the Kothari Education Commission (1964-66), Government of India.
Report on Technical Education in India (1943).
Report of the Allahabad University Enquiry Committee (1953).
Report of the Secondary Education Reorganisation Committee, U. P. (1953).
Report of the Secondary Education Commission, Government of India (1953).
Research and Experiment in Rural Education, Ministry of Education, Government of India (1964).
*Sen, J. M.*, History of Elementary Education in India.
*Shah, Lalit Kumar*, Education and National Consciousness.
*Singh, R K., Dr.*, Our Universities and Our Vice-Chancellors.
SargeantScheme, Post-war Educational Development Scheme.
*Sequeria*, Education in India.
*Sayed Mahmud*, History of English Education in India (1781-1793).
*Saiyidain and Gupta* : Access to Higher Education in India, New Delhi (1962).
Social Education, A Work of Student for Students.
Social Education, Ministry of Education, Government of India, 1953.
Third Five Year Plan of U. P. (Draft 1960).
The Indian National Commission for Co-operation with UNESCO (1954), Government of India.
The Twelfth Year.
*Trevelyan* : On the Education of the People of India, 1838. Life and Works of Macaulay.
UNESCO : Adult Education Towards Social and Political Responsibility (1953).
UNESCO : Project in India : Ministry of Education, Government of India (1953).
UNESCO : Aims and Activities, Lok Sabha Secretariate, New Delhi, 1956.
UNESCO : Compulsory Education in India.
*Vakil, K. S.*, Education in India (1948).
Woman of India : Publication Division (1959).
Wardha Scheme.
Wood-Abbot Report on Vocational Education in India.
Zakir Hussain Committee Report on Basic Education in India.
*Zellner Aubrey, Dr.*, Education in India.